

“ श्वेताश्वतरोपनिषद् ”

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

[पं. खेमचन्द शर्मा द्वारा व्याख्याकृत]

[आधुनिक विज्ञान की मार्गदर्शक]

वैदिक ग्रन्थावली ।

[आणविक विज्ञान,
जीव विज्ञान,
परा विज्ञान]

2010-11-15

11/15/2010

11/15/2010

11/15/2010

11/15/2010

11/15/2010

11/15/2010

11/15/2010

“ श्वेताश्वतरोपनिषद् ”

की

आधुनिक विज्ञान आधारित टीका ।

आणविक संरचना

का

पूर्ण सचित्र वर्णन ।

सद्-ब्रह्म से उद्भूत हो कर बने अणु (Atom) की
तथा उसमें प्रविष्ट होने वाली आत्मा का पूर्ण विवरण ।
नई जानकारीयाँ = (1) आणविक संरचना में क्वार्क से पहले क्या बनता है?

(2) आत्मा सद्-ब्रह्म से कैसे उदित होती है और कैसे पुनः उसी
सद्-ब्रह्म में विलीन हो कर निर्वाण प्राप्त करती है ?

(3) आत्मा का स्वरूप क्या है ? मैं क्या हूँ ? प्रश्न का उत्तर ।

(4) ब्रह्म, जीवात्मा, प्रकृति का ग्रहण कैसे होता है ?

(5) अणु कैसे बनता है ? इसके अवयव कैसे कार्य करते हैं ?

“ ŚVETĀŚVATAROPANISAD ”

Explained

according to the modern scientific system

having
full atomic structure with figures of the nucleons.

The system of the Nuclear growth and Life
grown up from the

only one initial element - The “SAD-BRAHMA.”

New informations :—

(1) How the full atomic growth is grown up from the basic
one element “The-SAD-BRAHMA?”

(2) What is beyond the quarks ?

(3) What is life and how it makes the atom alive ? what am I ?

(4) How the soul comes out from the one Basic Element - the SAD-BRAHMA
and how it again dissolves in the same SAD-BRAHMA after
getting salvation ?

(5) How the supreme God - The SAD-BRAHMA, the soul and the Nature are

ADMINISTRATIVE

1

1. The purpose of this document is to provide a summary of the administrative procedures for the project.

2. SCOPE

2

2.1 This document applies to all administrative procedures for the project.

2.2 The document is intended for use by all project team members.

2.3 The document is subject to review and revision as needed.

2.4 The document is to be maintained in a central location.

2.5 The document is to be updated as the project progresses.

2.6 The document is to be reviewed and approved by the project manager.

2.7 The document is to be distributed to all project team members.

3. PROJECT MANAGEMENT

3

3.1 The project manager is responsible for the overall management of the project.

3.2 The project manager is responsible for the development and maintenance of the project plan.

3.3 The project manager is responsible for the coordination of project activities.

3.4 The project manager is responsible for the communication of project information.

3.5 The project manager is responsible for the monitoring and control of project progress.

3.6 The project manager is responsible for the closure of the project.

3.7 The project manager is responsible for the evaluation of project performance.

4. PROJECT TEAM

4

4.1 The project team is responsible for the execution of project activities.

4.2 The project team is responsible for the development and maintenance of project deliverables.

4.3 The project team is responsible for the communication of project information.

4.4 The project team is responsible for the monitoring and control of project progress.

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
	ग्रामुरव	उपनिषद् तथा वेदान्त का अर्थ। श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा ऋग्वेद के अस्य वागीय सूक्त का समान्तर रूप। आणविक रचना से सम्बन्ध बताना। आणविक विज्ञान का बीच के काल में - महाभारत काल के बाद लुप्त होना बताना। शान्ति यज्ञ का वर्णन तथा श्री आदि गौड़ ब्राह्मणों द्वारा शान्ति यज्ञ को सफल करना। वेद, उपनिषद् तथा पुराणों के ज्ञान की तारतम्यता बताना।	आ ① से आ ④३ तक
1. 1	प्रथमः अध्यायः। क्षीरः ॐ ब्रह्म वादिनो वदन्ति - किम् कारणम् ब्रह्म कुतः स्मज्जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा। अधिष्ठाताः केन सुखे तरेषु वर्तमाने ब्रह्म विदो व्यवस्थाम्॥	श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित की जाने वाली विषय वस्तु का पूर्व परिचय देना।	①
2. 1	कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि यौनिः पुरुष इति चिन्त्या। संयोग एषां न त्वात्मभावात् आत्माप्यनीशः सुखदुःख हेतौः॥	विषय वस्तु का ही पूर्व परिचय।	⑤
3. 1	ते च्याजयोगा जुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिम् स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निरिवलानि तानि कालात्म युक्तानि अधिष्ठित्यैकः॥	ऋषियों द्वारा च्यान तथा योग साधना के द्वारा श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित विषय वस्तु की अनुभूति करना। क्षीर, अर्णु का सीचित्र वर्णन। संवत्सर का वर्णन।	⑨

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
4. 1	तमेकनेमिम् त्रिवृतं षोडशान्तम् शतार्धारम् विंशति प्रत्यराभिः । अष्टकैः षडभिर्विश्वरूपैकपात्राम् त्रिमार्गं भेदम् द्विनिमित्तैकमौहम् ॥	आणविक संरचना का वर्णन सप्तपरावृत्तों, अष्टापरावृत्तों तक का परावृत्तों का वर्णन । सप्तलोकों का दैवीनकारों सहित वर्णन । वरुण, मित्र, अर्यमा का स्वरूप तथा सत्यलोक के सप्तपरावृत से तापः लोक का अष्टापरावृत बनना । सप्तलोकों द्वारा छः अन्तरिक्षों का बनना । पञ्चावर्त के स्वरूप का वर्णन । पौराणिक कथन के अनुसार विष्णु, शेषनाग, कमलनाल, ब्रह्मा के स्वरूप का वर्णन । टंगास्टन के अणु का फोटो । पलित, अश्न, धृतपृष्ठ का अलग-अलग फोटो में स्वरूप । अणु के पूरे मेरुदण्ड का चित्रण । आणविक संरचना के स्वरूप का वर्णन । स्वर्क क्षीर की रचना का चित्र । अदिति, 'क' कण का चित्र अश्विनो, षड्वृन्दारकों का चित्र अणिमादि आठ सिद्धियों का वर्णन । 'अश्व' की रचना की चित्र सहित वर्णन । $E = mc^2$ (3.35 x 10 ⁸) ² की निवृत्ति । 'क' कण, अश्विनो, फोटोन, वृन्दारक के चित्र । त्रिवर्तमानों के चित्र । 'न', 'चिक्', 'इल्' की रचना का चित्र । पीरियडिक टेबल । 110 अणुओं की कुल संख्या की गणना । magic number 2, 8, 8, 18, 18, 32, 24 का कारण । सम्भूति, विनाश के चक्र का चित्र । अणु की नाभि में आठ 'चिक्' कणों के गण X^{300} के अणु का चित्र 110	(17) (23-24) (27) (37) (38) (41) (42-4) (43) (44) (45) (47) (48) (49) (52) (52-A) (54) (76) से (80) तक (82) (83) (84) (86) (87) (88) (93)
5. 1	पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्च प्राणीर्मि पञ्च बुद्ध्यादिमूलाम् । पञ्चावर्तो पञ्चदुःखौघवेगाम् । पञ्चाशद्भेदाम् पञ्चपर्वाम् अधीमः ।		

मन्त्र संख्या	पात्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
		हाइड्रोजन के एक अणु (Atom) का रेखाचित्र	(104)
		अणु की नाभिक के अन्दर स्थित परमाणुओं (Nucleons) के आबन्धों (Bonds) का वर्णन	
		पञ्चावर्ती की त्रुटि की धाराओं के द्वारा अणु (Atom) की नाभिक (Nucleus) के अन्दर बने तथा एक अणु (Atom) का दूसरे अणु के साथ मिल कर बने मूल (Molecule) में बाह्य आबन्धों का सचित्र वर्णन।	(106)
		octave rule के फल होने पर वैदिक सिद्धान्त पूर्ण स्वरा उतरने का वर्णन।	(110-111)
		'प्रोटीन' (Proteins) के आठ शृंखले के आकार के अर्धगोले के द्वारा बने पञ्चावर्ती के नाभिक में बने बाह्य धारों का सचित्र वर्णन।	(112)
		हीरे के क्रिस्टल का सचित्र वर्णन।	(116)
		ग्रेफाइट में कार्बन के अणुओं द्वारा बना आवन्ध का सचित्र वर्णन।	(117)
		orbital filling diagram का सुधार विधा गया रूप का वर्णन।	(119)
		अणु में आधुनिक विज्ञान तथा वैदिक विज्ञान दोनों के अनुसार 'इलेक्ट्रॉनों' (Blocks of Electrons and orbitals) का गणना बना बना Quantum Numbers के सहित सचित्र वर्णन। गणेश तथा कर्तिकेश का विस्तार।	(121)
		मृणात्मक, चनात्मक आवेश का कारण।	(129)
		शिव स्वरूप का वर्णन।	(132)
		सार्वभ्य शास्त्र के पञ्चविंशति तत्त्व-समास के बर्हिस सूत्रों की विज्ञान-सम्मत व्याख्या।	(137)
6.	सर्वाजीवे सर्व संस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो ब्रह्म चक्रे। प्रथमात्मानम् प्रेरितारम् च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥	सभी जीवों के सभी पञ्चावर्ती, जोकों के ब्रह्मचक्रों के संस्थानों में आत्मा का हंस द्युमता है। आत्मा, प्रेरित की अलग मान कर तप का यज्ञ करने से ही अमृतत्व प्राप्त होता है।	(159)
7.	उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म, तस्मिन् स्त्रायं सुप्रतिष्ठाक्षरम् च। अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मीण तत्परा मोनि भवताः॥	यह ब्रह्म का उद्गायन किया गया है जिसमें पञ्चावर्ती, सप्तलौक, तथा दोनों का गूढ़न करने वाला आत्मा का स्वरूप ये तीनों अक्षर रूप में सुप्रतिष्ठित हैं। इन्हें जानकर ही ब्रह्मवेत्ता अपनी परामोनि से भक्त होते हैं।	(161)

गन्त्र संख्या	गन्त्र	गन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
8. 1	संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरम् च व्यक्ताव्यक्तम् भरते विश्वभीशः। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्व पाशैः ॥	कैवल्य के धारण करके बना जीवात्मा का विशुद्ध रूप सत् के अक्षर, असत् के क्षर रूपों से संयुक्त होकर बना है। सर्वनिधना ईश जीवात्मा को व्यक्त, अव्यक्त दोनों में भर देता है। भोक्तृ भाव से बंधने वाले आत्मा के देव-स्वरूप को जानकर ज्ञानी सब पाशों से मुक्त हो जाता है। आत्मा का देव स्वरूप अनीश है।	165
9. 1	ज्ञातो ह्यावजीवीशनीशावजाह्येका भोक्तृ भोग्यार्थ मुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयम् यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥	अच्छ (अ) की भाँति ज्ञा, अज्ञा दोनों ईश, अनीश हैं। वह स्वयं अज्ञा ही भोक्तृ भाव तथा भोग विधे जाने वाले पदार्थ के अर्थों से मुक्त होती है। इस प्रकार अनन्त ब्रह्म में स्थित यह आत्मा अनन्त रूपों को बनाने वाली बनती है, जब यह पलित, अज्ञ, द्यूतपृष्ठ के तीन रूपों को प्राप्त करती है। यह आत्मा अनन्त रूपों को तब बनाती है जब यह सद्-ब्रह्म अपने सत्, असत् और रजस् के तीनों रूपों को प्राप्त कर लेता है।	169
10. 1	क्षरम् प्रधानं अमृताक्षरं हरः क्षारात्माजीवीशते देव स्वयः। तस्याभिध्यानाद्योजनान्तत्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।	नाभि (Nucleus) के अन्दर चलने वाली श्रुत की तरंगों की चारा के रूपपदी, द्विपदी, त्र्युपदी, अष्टापदी, नवपदी स्वरूपों द्वारा बने हुए रचनाओं के अवयवों का चित्रण। 'क्षर' प्रक्रिया से सृष्टि का सृजन करने में असत् प्रधान है तथा सृजन के संकल्पों को अपने में पितीन करके हरण करने वाला अक्षर सत् कभी न मरने वाला अमृत है। वही हर है। अमृत, अक्षर, हर, ब्रह्म के बाला स्वयं ही देव 'सत्' से अवतीरित विष्णु आत्मा में स्थित सत्-असत् दोनों को शासित करता है। उसने सत् में अभिध्यान के भोजन से सारी माया की निवृत्ति हो जाती है।	182
11. 1	ज्ञात्वा देवम् सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणिः। तस्याभिध्यानान्तृतीयम् देह भेदे विश्वेश्वर्यम् केवल आप्त क्रमः।	अमृत, अक्षर, हर, सत् तथा सत् से क्षीरित असत् में बने विष्णु देव को जानकर सब पाशों की हानि हो जाती है तथा पाशों के क्षीण होने पर जन्म, मृत्यु के कारण भूत क्लेशों की भी हानि हो जाती है। उस विष्णु के अभिध्यान से तीसरे कारण शरीर की देह के भेदन से कामनाओं को समाप्त करने वाला ज्ञानी केवल आत्मा के शुद्ध रूप में स्थित होने पर सद्-ब्रह्म के सार से ब्रह्मरूपों को प्राप्त कर लेता है। इसे प्राप्त वक्ष्ये वर सम्बन्ध है, जो इसकी तीव्र कामना से मुक्त हो।	187

अ.सं. संख्या	अ.सं.	अ.सं. में वर्णित विषय वस्तु	पृ.सं. संख्या
12. 1	सतज्योयं नित्यमैवात्मसंस्थम् नातः परम् वेदितव्यं हि किञ्चित् । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च भत्वा सर्वभूतैर्लोकं त्रिविधम् ब्रह्ममेतत् ॥	आत्मा में स्थित इस सत् के स्वरूप को चित्स्वरूप से ही जानना चाहिए, इससे आगे जानने योग्य कुछ भी नहीं है। भोक्ता, भोग्यम्, प्रेरिता के तीनों रूपों को इसमें मान कर तीनों प्रकार से इस ब्रह्म के विषय में सब कुछ कह दिया गया है। असद्-ब्रह्म का स्वरूप जनकर रुक् 'क्षीर' की रचना का चित्र। क्षीरों के बने सप्तपरावृत में भोक्ता, भोग्यम् तथा प्रेरितातरम् क्षीरों का चित्र। अग्नि जिस प्रकार अपनी अग्नि को प्रीति में स्थित दिखाई नहीं देती और न उसको लिंग का नाश होता है, वह अपने ईंधन में पुनः प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को जानो जो शरीर रूपी ईंधन के मिलने पर पुनः प्रणव के प्रयास के द्वारा प्रकट हो जाती है। अपने शरीर को निम्न अरीण बना कर और प्रणव को उत्तर अरीण बना कर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से द्विपे हुए आत्मा के देव स्वरूप को देखें।	194 197 198 200
13. 1	वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर- न दृश्यते नैव च लिङ्गं नाशः । स भूय स्वैन्धनयोनिगृह्यस्- तद्बैदोभयं नै प्रणवेन देहे ॥	अग्नि के सप्तपरावृत में भोक्ता, भोग्यम् तथा प्रेरितातरम् क्षीरों का चित्र। अग्नि जिस प्रकार अपनी अग्नि को प्रीति में स्थित दिखाई नहीं देती और न उसको लिंग का नाश होता है, वह अपने ईंधन में पुनः प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को जानो जो शरीर रूपी ईंधन के मिलने पर पुनः प्रणव के प्रयास के द्वारा प्रकट हो जाती है। अपने शरीर को निम्न अरीण बना कर और प्रणव को उत्तर अरीण बना कर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से द्विपे हुए आत्मा के देव स्वरूप को देखें।	201
14. 1	स्वदेहमरीणम् कृत्वा प्रणवम् चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवम् पश्येन्निगूढवत् ॥	अग्नि के सप्तपरावृत में भोक्ता, भोग्यम् तथा प्रेरितातरम् क्षीरों का चित्र। अग्नि जिस प्रकार अपनी अग्नि को प्रीति में स्थित दिखाई नहीं देती और न उसको लिंग का नाश होता है, वह अपने ईंधन में पुनः प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को जानो जो शरीर रूपी ईंधन के मिलने पर पुनः प्रणव के प्रयास के द्वारा प्रकट हो जाती है। अपने शरीर को निम्न अरीण बना कर और प्रणव को उत्तर अरीण बना कर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से द्विपे हुए आत्मा के देव स्वरूप को देखें।	214
15. 1	तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिर्- आपः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः । स्वमात्मात्मनि गृह्यते ऽसौ सत्येनैनं तपसा यो ऽनुपश्यति ॥	अग्नि के सप्तपरावृत में भोक्ता, भोग्यम् तथा प्रेरितातरम् क्षीरों का चित्र। अग्नि जिस प्रकार अपनी अग्नि को प्रीति में स्थित दिखाई नहीं देती और न उसको लिंग का नाश होता है, वह अपने ईंधन में पुनः प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को जानो जो शरीर रूपी ईंधन के मिलने पर पुनः प्रणव के प्रयास के द्वारा प्रकट हो जाती है। अपने शरीर को निम्न अरीण बना कर और प्रणव को उत्तर अरीण बना कर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से द्विपे हुए आत्मा के देव स्वरूप को देखें।	216
16. 1	सर्वव्यापिनमात्मानम् क्षीरे सर्पिरेव अर्पितम् । आत्मविद्या तपोमूलम् तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥	अग्नि के सप्तपरावृत में भोक्ता, भोग्यम् तथा प्रेरितातरम् क्षीरों का चित्र। अग्नि जिस प्रकार अपनी अग्नि को प्रीति में स्थित दिखाई नहीं देती और न उसको लिंग का नाश होता है, वह अपने ईंधन में पुनः प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को जानो जो शरीर रूपी ईंधन के मिलने पर पुनः प्रणव के प्रयास के द्वारा प्रकट हो जाती है। अपने शरीर को निम्न अरीण बना कर और प्रणव को उत्तर अरीण बना कर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से द्विपे हुए आत्मा के देव स्वरूप को देखें।	216

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
11. 2	नीहार धूमाकी नैलाननानां स्वद्यौत विद्युत स्फटिक शशीनाम् । रुतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिभव्यन्ति कराणि योगे ।	कुहरा, चूँडा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगुन, स्फटिक मणि और चन्द्रमा - ये रूप हैं जो योग के अभ्यास में 'पुर' के 'पुरुष' की सरण गति कराने में ब्रह्म के अन्दर गति की अभिभव्यन्ति करते हैं । (सरण गति = Linear motion.)	266
12. 2	पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगे गुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥	पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश - इन पञ्चमहाभूतों के सृजित हो कर अनग-अलग खंडे होने पर उन पाँचों का एक सूत्र में ग्राहित होकर, जुड़ कर योग के गुण में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इस योग के गुण में प्रवृत्त होने पर जो योगाग्निमय शरीर किसी अर्धपिण्ड को प्राप्त होता है, उराको न रोग लगता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु होती है । शरीर का हल्कापन, निरोगता, अलोलुपता, शरीरिक शोभा की वृद्धि, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध और मलमूत्र की न्यूनता - इन सभी गुणों को अपने शरीर में प्राप्त करना योग की प्रथम प्रवृत्ति सभी योगीजन कहते हैं ।	284
13. 2	लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च । गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥	जिस प्रकार मिट्टी से बना हुआ बिम्ब (कौई चमकदार सोने चाँदी का टुकड़ा) धो कर माँजने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव (भाषा के आवरण को हटा कर) आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतार्थ होकर शोक रहित हो जाता है । (जो आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाला साधक योगी) आत्मा के तत्त्व के साथ ब्रह्म के तत्त्व को दीपक की बत्ती, तेल की उपमा के समान जुड़ा हुआ अपने योगाभ्यास के प्रयत्न में देखता है, वही शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करता है । वह जानी इस 'अ' से उत्पन्न हुई आत्मा के 'अज' स्वरूप को जो 'अ' की सत्याभावन कर सत्यलोक से सदैव प्रकाशित होती रहती है और जो सदैव अच्युत बन कर सत्य लोक में सदा स्थिर रह कर 'ध्रुव' बनी रहती है, जिस में ब्रह्म का सभी तत्त्वों के द्वारा विशुद्ध रूप से	291
14. 2	यथैव बिम्बम् मृदयोपलिप्तम् तेजोमयञ् जायते तत्सुधान्तम् । तद्भात्मतत्त्वम् प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।		296
15. 2	यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह मुक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं जात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
15/2		निवास है, जो ज्ञान के संज्ञा सांकेतिक स्वरूप से चेतना युक्त है, उस आत्म तत्त्व के सत्यलोक के देव (स्व क्षीर) को जान कर वह ज्ञानी आविद्या के सभी पाशों से मुक्त हो जाता है। (ये पाश कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर को आत्मा के साथ बांधते हैं।) इस प्रक्रिया को दिखाने वाला स्व क्षीर का चित्र।	301
16/2	एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनां तिष्ठति सर्वतोमुखः।	स्व क्षीर में निश्चय पूर्वक यही वह स्व देव विष्णु है जो सभी दिशाओं में सर्व व्यापी है और वह निश्चय से ही रुद्र की ऊर्जा के गर्भ में ही सब से पहले उत्पन्न हुआ है। वह विष्णु ही उत्पन्न हुआ है और वही विष्णु सृष्टि को उत्पन्न करने वाला है। (उसी के रेत के प्रसार द्वारा) प्रत्येक देव तथा प्रत्येक पिण्ड अलग-अलग द्वारों में बँट कर स्थित होता है। यह विभाजन सभी दिशाओं में होने वाला 'सर्वतोमुखी' है। विष्णु का रेत ही सविता देव बनता है जो सविता देव अग्नि में है, जो जल में है, जो सारे भुवनों में प्रविष्ट है और उन भुवनों को अपने आवेश से आवेशित कर रहा है। जो सविता देव औषधीयों में है, जो वनस्पतियों में है, उस सविता देव के लिए नमस्कार।	303
17/2	यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥	जो सविता देव अग्नि में है, जो जल में है, जो सारे भुवनों में प्रविष्ट है और उन भुवनों को अपने आवेश से आवेशित कर रहा है। जो सविता देव औषधीयों में है, जो वनस्पतियों में है, उस सविता देव के लिए नमस्कार।	306
1/3	तृतीयोऽध्यायः य एको जालवाजीशत ईशनीभिः सर्वां लोकांशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवै सम्भवै च य सतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥	तीसरा अध्याय जो स्व ही रुद्र अपनी ईशानी कहलाने वाली श्रुत की धाराओं के द्वारा अपनी इन ईशानी श्रुत की धाराओं का सम्पूर्ण सृष्टि में जाल फैलाता हुआ जालवाज अर्थात् जाल का स्वामी-अधिष्ठाता बन कर सारी सृष्टि को शासित करता है। जो अणु (Atom) की संरचना में तथा ब्रह्माण्ड की संरचना में बने सभी लोकों को ईशानी कहलाने वाली श्रुत की धाराओं के द्वारा शासित करता है। जो रुद्र सृष्टि के उद्भव काल, सम्भव काल में भी स्वरूप रहता है, उस रुद्र को जो जिज्ञासु जानते हैं, वे जिज्ञासु अमर हो जाते हैं।	308 315

अंश	अध्याय	अंश में वर्णित विषयवस्तु	पृष्ठ संख्या
2. 3	सलो हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर् य इमाँल्लोका नीवात ईशानीभिः । प्रत्यङ् जनां तिष्ठति सञ्चुकोचान्त- काले संसृज्य विश्वा भुवनीज गोपाः ॥	वह रुद्र ही उदरता है जो इन सभी लोकों-भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य-लोकों को अपनी ईशानी नाम की श्रुत की धाराओं के द्वारा शासित करता है। उस रुद्र के अतिरिक्त इन लोकों को शासित करने वाला कोई भी नहीं है। (इसी लिए रुद्र को महेश्वर कहा जाता है।) वह रुद्र ही अपनी ईशानी श्रुत की धाराओं के श्रुत से सारे भुवनों का सृजन करके धाराओं के सञ्चुकोचान्त काल में उन भुवनों को रहने वाले जनों को अलग-अलग करके रखने वाला है। वही उनका रक्षण बन कर बैठा है। ईशान रुद्र द्वारा ईशानी श्रुत की धाराओं द्वारा सत्य लोक का सृजन तथा उसमें विष्णु के स्वयं जन की स्थापना का चित्रण। रुद्र इसमें रक्षण बन कर बैठा है।	319
3. 3	विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखौ विश्वतो बाहुस्त विश्वतास्पात् । सं बाहुभ्याम् असीति संपतत्रैर् द्यावा भूमिं जनयन् देव रुक् ॥	वह रुद्र सब ओर आँखों वाला है, सब ओर मुखों वाला है, सब ओर भुजाओं वाला और सब ओर पादों वाला है। वह अकेला ही द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ अपनी दोनों भुजाओं को पटकाता हुआ (फड़फड़ाता हुआ) उनका संघमन करता है। अर्थात् वह अपनी भुजाओं को प्राणों की ऊर्जा से मुक्त करता है। जो रुद्र देव सभी देवताओं के उद्भव तथा सैश्वर्य का कारण है, जो रुद्र देव सारे संसार का स्वामी और महर्षि है, उसे सब से पहले द्विपयगर्भ को जन्म दिया। वह रुद्र सभी देवताओं को और हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।	324
4. 3	यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वामिषो रुद्रो महर्षि । द्विपयगर्भम् जनयामास पूर्वम् सजो बुद्ध्या शुभया संयुज्जतु ।	वह रुद्र देव सभी देवताओं के उद्भव तथा सैश्वर्य का कारण है, जो रुद्र देव सारे संसार का स्वामी और महर्षि है, उसे सब से पहले द्विपयगर्भ को जन्म दिया। वह रुद्र सभी देवताओं को और हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।	332
5. 3	या ते रुद्र शिवा तनूरधोरा पापकाशिनी । तया नस्तनुवाशान्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ।	हे रुद्र! आपका जो कल्याणकारी शिव रूप है, जो भयानकता से शून्य शरीर है और जो पापों को काटने वाला रूप है, उस रूप के शरीर में वास करते हुए आप हमारी ओर देखें। हे गिरिशन्त! आप उस शान्त मूर्ति रूप से हमको देखें। क्षीर के अन्दर रुद्र के गिरिशन्त रूप का चित्र।	339
6. 3	मामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तेव शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥	हे गिरिशन्त! आप फेंकने के लिए शाय में बाण चारण करते हो। हे गिरित्र! उसे आप मंगलकारी करो। पुरुष तथा जगत की हिंसा मत करो।	345
			346

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
7. 3	ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निष्काशं सर्व भूतेषु गूढम्। विश्वस्थैकं परिवेष्टितारम् इष्टं तां ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥	उस क्षीर में पीछे बताये गये संरचना के काप्रि करने के उपरान्त उस क्षीर के ब्रह्मतत्त्व के बाहर की ओर पैर जाते हुए रचना के आकार को बृहद् रूप प्रदान करते हुए सभी लोकों में यथायोग्य देव निष्काशों की रचना करते हुए वैश्वानराग्नि के सम्पूर्ण रूप को एक इकाई की रचना में लपेटने वाले उस एक रुद्र को जो अबैला ही सारी सृष्टि का एक ईश ब्रह्मन्ता है, उसको जान कर ब्रह्मवेत्ता अमर हो जाते हैं। इस व्याख्या को वर्णित करने वाला चित्र।	352
8. 3	वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति ज्ञानम् यन्था विद्यते ऽयनाय ॥	में (मृषि) आदित्य वर्ण के इस 'पुरुष' को जानता है जो महलोक के अन्त में स्थित है और जो 'पर' क्षेत्र से 'अवर' क्षेत्र की ओर गतिगान होता हुआ माया का अन्धकार मभी आवरण ओढ़ कर 'तमस' का रूप बन जाता है। उस 'पुरुष' को जान कर ब्रह्मवेत्ता अतिमृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। 'पुरुष' के आवेश से मुक्त अग्रजों के लिए अतिमृत्यु को प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है, (जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकें।) यह वही 'पुरुष' है जिसका वर्णन ऋग्वेद में पुरुष सूक्तों में हुआ है।	353 354
9. 3	यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नणीयौ न ज्यायौ ऽस्ति कीञ्चित् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस् तैनेदम् पूर्णम् पुरुषेण सर्वम् ॥	'परा' शक्ति के 'पर' क्षेत्र में जिससे बड़ा अधिक 'परा' शक्ति वाला और कोई नहीं है। सूक्ष्मता में जिससे अधिक सूक्ष्म छोटे आकार का और कोई उत्पन्न नहीं हुआ है। जो 'पुरुष' द्यौ में वृक्ष की भाँति स्तब्ध होकर खड़ा है, उस 'पुरुष' से यह सारा जगत परिपूर्ण हो कर भरा हुआ है। पुरुष की वृक्ष की भाँति रचना का चित्र।	362
10. 3	ततो यदुत्तरतरं तदरूपम् अनामयम्। य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्त्य- धैतरे दुःखमैवापियन्ति ॥	उस 'पुरुष' की रचना से पूर्व का जो अपर का श्रेष्ठ 'ब्रह्मतत्त्व' है, वह बिना किसी रूप वाला तथा बिना किसी नाम वाला है। जो इस अरूप और अनामय ब्रह्मतत्त्व को जान लेते हैं और उसे प्राप्त कर लेते हैं, वे ही अमर हो जाते हैं। दूसरे अन्य लोग दुःख ही पाते हैं।	365 366
11. 3	सर्वान्न शिशोः ग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः सर्व व्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः।	[वह पुरुष से उत्तरतर ब्रह्मतत्त्व जो एक क्षीर के अण्ड में स्थित है] वह 'भग' देवता से युक्त होकर बना भगवान सब ओर मुख वाला, सब ओर शिर वाला, सब ओर ग्रीवा वाला है। वह प्रत्येक भूत के रजःकण की गुफा में बैठा हुआ है। वह सर्वव्यापी है। इस कारण शिव भगवान सब जगह गये हुए हैं और वहाँ विद्यमान हैं।	369

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
12. 3	महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः । सुनिर्मलासिगाम् प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥	वह 'पुरुष' महान् प्रभु है । यह 'पुरुष' संकल्पों को आबद्ध करने वाली बुद्धि के अन्तःकरण की श्रुत की चाराओं का प्रवर्तक है । इस 'पुरुष' की श्रुत की चारायें रुद्र की ईशानी श्रुत की चाराओं से बनती हैं और ईशानी श्रुत की चाराओं के सुनिर्मल, ज्योतिरूप और आविष्कारी रूप को प्राप्त करती हैं ।	380
13. 3	अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानाम् हृदये संनिविष्टः । हृदा गन्वीशो मनसा भिक्लृप्तो य सदा विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥	सृष्टि सृजन के अंगों को सृजित तथा पोषित करके केवल मात्रा रूप में रहने वाला तथा अर्धपिण्डों के बने भूतों की अन्तरात्मा बनने वाला 'पुरुष' सदा उन भूतों के अर्धपिण्डों के जनों के केन्द्र में स्थित उनके हृदय में स्थित केवल अंगुष्ठमात्र बन कर स्थित है । यह पुरुष मन की ऊर्जा के पुञ्ज 'मनु' के स्वामी - 'मन्वीश' की कम्पन के प्रवाह की गति के द्वारा शासित होता है तथा मन के द्वारा अभिरक्षित है । जो इस 'पुरुष' को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं ।	384
14. 3	सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वा - त्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥	यह 'पुरुष' सहस्र अक्षों वाला, सहस्र शीर्षों वाला है तथा सहस्र पादों वाला है । वह दशांगुल पुरुष बन कर अपने प्रभावक्षेत्र की सारी भूमि पर वर्तित हो कर अति रूप से ठहर जाता है ।	391
		$E = m (3.35 \times 10^8)^2$ सूत्र का प्रतिपादन । यह आइनस्टाइन के सूत्र $E = mc^2$ का संशोधित विधा हुआ वैदिक सूत्र का रूप है । इस मन्त्र द्वारा बनने वाला 'पुरुष' का चित्र पुरुष ही यह सब कुछ है जो भूत के पदार्थ रूप में हो गया है या होने वाला है । वह ईशान रुद्र ही श्रुत के अपने अमृतत्व के अन्न के द्वारा भूत के सृजन की वृद्धि करता है ।	400
15. 3	पुरुष स्पेदं सर्वम् यद्भूतं यच्च भव्यम् ।	इस मन्त्र द्वारा बनने वाला 'पुरुष' का चित्र पुरुष ही यह सब कुछ है जो भूत के पदार्थ रूप में हो गया है या होने वाला है । वह ईशान रुद्र ही श्रुत के अपने अमृतत्व के अन्न के द्वारा भूत के सृजन की वृद्धि करता है ।	405 406
16. 3	उतामृत त्वस्यैशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ सर्वतः पाणिपादम् तत् सर्वतोऽङ्गि शिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वतः तिष्ठति ॥	यह 'पुरुष' सभी ओर हाथों वाला तथा सभी ओर पैरों वाला है । वह सभी ओर के अक्ष पर शीर्ष वाला तथा मुख वाला है । वह सभी ओर कानों वाला है । वह अपने लोक में सर्वतः तिष्ठति ॥	409

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
17. 3	सर्वेन्द्रियं गुणाभासं सर्वेन्द्रियं विवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं ब्रूहत् ॥	वह 'पुरुष' सभी इन्द्रियों के रहित होने पर भी उस 'पुरुष' में सभी इन्द्रियों का भास होता है। वह 'पुरुष' सब का स्वामी तथा शासक है। वह 'पुरुष' सब का महान आश्रय है।	412
18. 3	जव ह्योर पुरे देही हंसो लेलायते बहिः । वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥	जो जये-जये सूर्य-क्षरों के पुर में इस 'पुरुष' का आत्मा के रूप में बना हुआ हंस बाहर की ओर बाह्य विषयों को पकड़ने के लिए लालायित होता हुआ आता है। इस प्रकार वह 'पुरुष' सारे स्थावर और चर जगत् को और सारे लोकों को वश में करने वाला - 'वशी' बन जाता है। एक अणु (Atom) में विष्णु का रेत ऊर्जा की एक इकाई (Quatum) को हंस के रूप में धारण करके अणु के केन्द्र से बाहर आता है और जो जये-जये सूर्य-क्षरों से गुजरता है। इसे चित्र द्वारा समझाया गया है। एक क्षीर में 'पुरुष' का प्रथम क्षर का चित्र तपः लोक में भृगु-क्षर आदि सप्तर्षियों की धारा का बबू दूसरे सूर्य-क्षर का चित्र। सत्यलोक के साथ बने तपः लोक का चित्र। तपः लोक में चलने वाली त्रुट की अनस्था धारा। जनः लोक में ब्रह्म-पुरोहित, ब्रह्म-कात्रिक, ब्रह्म-महा-कात्रिक, अजर-अमर इन चार ब्रह्मों के मुक्तों वाली तीसरे सूर्य-क्षर का चित्र। वह 'पुरुष' गति करते समग्र बिना हाथ पैरों के पाणि से रहित पाद की स्फुरण की उत्तरी-चर गति को ग्रहण करने वाला होता है। इस भाव को स्पष्ट करने का चित्र। वह पुरुष बिना आंखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है। वह पुरुष जानने योग्य सब को जानता है, परन्तु उस 'पुरुष' का जानने वाला कोई भी नहीं है। जो परम व्योम में बैठा परम पुरुष इस विसृष्टि का अध्यक्ष है उसी को सब से ओगे का महान पुरुष कहते हैं। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जन्तु के शरीर के पुर की गुफा में यह आत्मा के रूप में पूर्ण रूप से स्थापित है। (उस परम व्योम में बैठे विसृष्टि के अध्यक्ष और उसके निर्माता परम पुरुष विधाता की कृपा के प्रसाद से ही उस मोक्ष से मुक्त 'अ' के क्रतु (= यज्ञ) के ईश को शोक से रहित योगी देखता है।	413
19. 3	अपाणि पादो जव नो ग्रहीता पश्यत्यक्षः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्मास्ति वैता तमाहुरग्यम् पुरुषं महान्तम् ।		415
20. 3	अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्म जन्तोः । तमक्रतुं पश्यति वीतरागी धातुः प्रसादात् मोहमानम् ईशम् ॥		417

मंत्र संख्या	मंत्र	मंत्र में वर्णित विलक्षण बातें	पृष्ठ संख्या
21. 3	वैदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्माजं सर्वगतं विभुत्वात् । जन्मनिरोधं प्रवदीन्ति यस्मै ब्रह्म वादिनो हि प्रवदीन्ति नित्यम् ॥	ब्रह्म वैसा लोग जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं और जिसको नित्य कहते हैं, उस जरा से रहित सर्वात्मा, सर्वगत, पुराण 'पुरुष' को व्यापक होने के कारण मैं (ऋषि) जानता हूँ और अपने अन्दर आत्मा के रूप में उसे प्राप्त करता हूँ। विद्वान् ज्ञान प्राप्ति च ।	453
1. 4	चतुर्थोऽध्यायः यस्मै ऽवर्णो बहुधा शक्तिभोगाद् वर्णानेकाग्निहितार्थो दध्याति । विचैति चान्तो विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुजन्तु ॥	चौथा अध्याय जो वर्ण रहित एक सद-ब्रह्म अपनी बहुत प्रकार की शक्तियों के भोग से प्रारम्भ में अनेक वर्णों की रचनाओं के रूपों को सृष्टि सृजन के निहितार्थ धारण करता है, अन्त में सारी सृष्टि उसी में लीन हो जाती है। वह वर्णों को धारण करने वाला आदि-देव हमको शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। अट्ठाईस अवस्थाओं का वर्णन। विष्णु के चतुर्मुखी मूर्ति के प्रत्येक मुख की रचना करने वाले पञ्चमुखी रुद्र की प्रतिमा का चित्र। आभु में बने ऊर्जा के पाँच कीटवन्धों का चित्र। पाँच प्रीतियों का आभु में बना चित्र। पञ्च प्राणोर्मि का चित्र। आभु के अन्दर चलने वाली पञ्च प्राणोर्मि का चित्र वही एक सद-ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, असद ब्रह्म तथा आर्द्र रूप को धारण करने वाला 'आपः' नाम का त्रुत तथा प्रजापति है। वह एक सद-ब्रह्म ही इन सब रूपों को धारण करता है। हे सद-ब्रह्म तुम्हीं देहधारी पुल्लिंग जाति के पुरुष प्राणी बनते हो, तुम्हीं कुमार और कुमारी की देह को धारण करते हो। तुम्हीं वृद्ध बन कर जीर्ण शरीर धारण करके दण्ड के सहारे से चलते हो। सभी प्राणियों के मुखों के रूपों में तुम्हीं उत्पन्न होते हो। हे सद-ब्रह्म तुम ही वह एक ही जो नीले, हरे और लाल औरों वाले पतंग के रूप में अपने को ढालते हो। तुम्हीं बिजली के गर्भ में रहने वाली वह शक्ति हो जिससे वह तीव्र तरंग बन कर चलती है और धारा का रूप धारण करती हो। तुम्हीं मृतुओं	455 456 460 461 462 463 470
2. 4	तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुतनु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥		481
3. 4	त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वज्रसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।		481
4. 4	नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस् तीक्ष्णगर्भः ऋतवः समुद्राः । अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातांश्च भुवनानि विश्वा ॥		481

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
4. 5. 4	अजामैकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणो ऽनुशेते जहत्येनां भुक्तभोगामजो ऽन्यः ॥	व्यापक हो, जिसके कारण तुम्हीं में तो सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं । 'अ' (=विष्णु) से उत्पन्न होने वाली 'अजा' प्रकृति कहलाती है । उस लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूपों से युक्त बहुत प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करने वाली एक 'अजा' प्रकृति को उत्पन्न करने वाला वह एक ही सद्-ब्रह्म है । उस 'अजा' प्रकृति से उत्पन्न होने वाला एक रूप तो आसक्त होता हुआ उस अजा प्रकृति के भोगों को भोगता है और दूसरा रूप उस भोगी हुई प्रकृति 'अजा' को त्याग कर छोड़ता है । 'अजः' के स्वरूप को बताने वाले चित्र । सदा साद्य रहने वाले दो सरवा, द्यौ में उड़ कर चलने वाले सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी - एक ही वृक्ष पर आश्रित हैं । उन दोनों 'अजा' के स्वरूपों में से एक 'अजा' का स्वरूप सृष्टि के सृजन में आसक्त होता हुआ सुमेरु दण्ड के पीपल के वृक्ष के पीपलों के फलों को खाता है और दूसरा स्वरूप भोगी हुई सृष्टि को छोड़ता हुआ उस पीपल के पीपली फलों को केवल देखता रहता है । मेरु दण्ड के उसी समान वृक्ष पर स्थित 'पुरुष' सृष्टि के सृजन के भोगों में निमग्न होता हुआ सृष्टि को शासित करने में समर्थ नहीं होता हुआ शौक्ल करता है । परन्तु जब यह अपने से अन्य उस परमाध्यक्ष सद्-ब्रह्म के शौक्ल रहित स्वरूप को देखता है, जो इस सृष्टि का ईश्वर है और सब के द्वारा सीवत है और महिमा से युक्त है, तो वह भी शौक्ल रहित हो जाता है । जिस अविनाशी परमव्योम को आधार बना कर उस परम व्योम में सारे देव पूर्ण रूप से बैठे हुए स्थापित हैं, उसी अक्षर परमव्योम में मृत से विभिन्न प्रकार की रचनाओं को बनाने वाली मृचा भी विद्यमान है । जो उस मृचा के विषय में यह नहीं जानता कि यह मृत का क्या करेगी, वह वेद के विज्ञान को नहीं जानता है । उसे जानने के लिए जो 'इत्' है, उसे जानो । वह 'इत्' इस मृचा में तथा 'न' कण में समाहित है । उस 'न' कण को भी जानो ।	482 488 490 491 495
6. 4	द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्पन्नश्च नन्नन्यो अभिचाक्षीति ॥		
7. 4	समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ऽनीशया शौचीत मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥		
8. 4	मृचौ अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः । यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
9. 4	रज्ज्वांसि यज्ञाः क्रतवो ज्ञतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति । अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥	वन्द्य, यज्ञ, क्रतु, ज्ञतं, भूतं, वर्तमानं तथा गविष्य को जो कुछ भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ये चारों वेद उस ऋचा की शक्ति को ही अपने मन्त्रों के द्वारा बताते हैं। उस ऋचा की सम्पूर्ण शक्ति को वह मायावी जो इस विमृष्टि का परमाध्यक्ष परमेश्वर सद्-ब्रह्म है, तथा जो परम व्योम में बैठा है, वह अपनी माया के द्वारा उत्पन्न करता है। उस सद्-ब्रह्म की माया में ही अन्य सभी शक्तियों की माया संनिविष्ट होकर पूर्ण रूप से गली प्रकार से बँधी हुई है। माया को तो उस सद्-ब्रह्म को प्रभल पूर्वक की गई कृति (= प्रकृति) समझो और उस माया को रचने वाला मायावी वह महान ईश्वर-महेश्वर- भगवान्-रुद्र-समझो। उसकी महामाया के अवयव में सारे-भूत-हैं जिनका पञ्चमहाभूतों में वर्गीकरण होता है। उन्हीं भूतों के अवयवों से यह सारा चराचर जगत् व्याप्त है।	497
10. 4	मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिजम् तु महेश्वरम् । तस्मावयव भूतंस्तु व्याप्तम् सर्वमिदम् जगत् ॥	जो सब सद् का ही स्वरूप प्रत्येक योजि में आधार बना कर ठहरता है और जिस रुद्र के स्वरूप में पुनः यह सारा जगत् विलीन हो जाता है। उस स्तुति करने योग्य और वर देने वाले रुद्र के स्वरूप-ईशान-को पूर्ण रूप में जान कर तथा प्राप्त करके ब्रह्म का साधक अन्तःशान्त को प्राप्त करता है। जो 'रुद्र' महर्षि है, सारे देवों के प्रभव और उद्भव का स्वामी है, जिसने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते हुए देखा है, वह ईशान रूप का रुद्र हमें शुभ वृद्धि से संयुक्त करे।	504
11. 4	यो योनिं योनिमधिपतिष्ठत्येको यस्मिन्नदं स च विचैति सर्वम् । तमीशानं वरदं देवमीड्यम् निचायेमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥	जो देवताओं का अधिपति (= स्वामी=राजा) है, जिसमें देवों के लोक आश्रित हैं। जो इस द्विपद चतुष्पद सृष्टि का शासन करता है, उस देवताओं के राजा रुद्र (= 'क') के लिए हम आहुति द्वारा पूजा करें। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कीलक के मध्य में स्थित सारे विश्व की रचना करने वाले तथा अनेक रूप धारण करने वाले, संसार को सब ओर से घेरने वाले- 'शिव'-को जान कर (ब्रह्मजिज्ञासु) परा कौटि की अति-अन्त वाली कल्याणकारी शक्ति को प्राप्त कर लेता है। कीलक का चित्र।	507
12. 4	यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भम् पश्यत जायमानम् स नो बुद्ध्या शुभया संयुजन्तु ।	जो देवताओं का अधिपति (= स्वामी=राजा) है, जिसमें देवों के लोक आश्रित हैं। जो इस द्विपद चतुष्पद सृष्टि का शासन करता है, उस देवताओं के राजा रुद्र (= 'क') के लिए हम आहुति द्वारा पूजा करें। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कीलक के मध्य में स्थित सारे विश्व की रचना करने वाले तथा अनेक रूप धारण करने वाले, संसार को सब ओर से घेरने वाले- 'शिव'-को जान कर (ब्रह्मजिज्ञासु) परा कौटि की अति-अन्त वाली कल्याणकारी शक्ति को प्राप्त कर लेता है। कीलक का चित्र।	510
13. 4	यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिष्ठिताः । य ईशो अस्य द्विपदश्चतुष्पदः । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥	जो देवताओं का अधिपति (= स्वामी=राजा) है, जिसमें देवों के लोक आश्रित हैं। जो इस द्विपद चतुष्पद सृष्टि का शासन करता है, उस देवताओं के राजा रुद्र (= 'क') के लिए हम आहुति द्वारा पूजा करें। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कीलक के मध्य में स्थित सारे विश्व की रचना करने वाले तथा अनेक रूप धारण करने वाले, संसार को सब ओर से घेरने वाले- 'शिव'-को जान कर (ब्रह्मजिज्ञासु) परा कौटि की अति-अन्त वाली कल्याणकारी शक्ति को प्राप्त कर लेता है। कीलक का चित्र।	511
14. 4	सूक्ष्माति सूक्ष्मं कीलकस्य मध्ये विश्वस्य सृष्टारमनेक रूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥	जो देवताओं का अधिपति (= स्वामी=राजा) है, जिसमें देवों के लोक आश्रित हैं। जो इस द्विपद चतुष्पद सृष्टि का शासन करता है, उस देवताओं के राजा रुद्र (= 'क') के लिए हम आहुति द्वारा पूजा करें। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कीलक के मध्य में स्थित सारे विश्व की रचना करने वाले तथा अनेक रूप धारण करने वाले, संसार को सब ओर से घेरने वाले- 'शिव'-को जान कर (ब्रह्मजिज्ञासु) परा कौटि की अति-अन्त वाली कल्याणकारी शक्ति को प्राप्त कर लेता है। कीलक का चित्र।	514
		जो देवताओं का अधिपति (= स्वामी=राजा) है, जिसमें देवों के लोक आश्रित हैं। जो इस द्विपद चतुष्पद सृष्टि का शासन करता है, उस देवताओं के राजा रुद्र (= 'क') के लिए हम आहुति द्वारा पूजा करें। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कीलक के मध्य में स्थित सारे विश्व की रचना करने वाले तथा अनेक रूप धारण करने वाले, संसार को सब ओर से घेरने वाले- 'शिव'-को जान कर (ब्रह्मजिज्ञासु) परा कौटि की अति-अन्त वाली कल्याणकारी शक्ति को प्राप्त कर लेता है। कीलक का चित्र।	515

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
15. 4	स ख्व काले भुवनस्य गोप्ता विश्ववाधपः सर्वभूतेषु गूढः । यस्मिन्नुक्ता ब्रह्मर्षिर्गो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्चिद्वनक्ति।	वह रुद्र ही काल आने पर (लोक के अन्दर) भुवन का रक्षाक बनता है। वह रुद्र ही इस सारे विश्व का अधिपति है और सारे भूतों में निहित गूढ तत्त्व है। उसी रुद्र के स्वरूप में सारे ब्रह्मर्षि और देवता जुड़े हुए हैं। उस रुद्र को जान कर तथा प्राप्त करके साधक मृत्यु के पाशों को तोड़ देता है।	519
16. 4	घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मम् ज्ञात्वा शिवं सर्व भूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥	घृत के ऊपर जिस प्रकार छाछ का मण्ड छा कर उसे ढक कर अपने वेश में अपने पाश के अन्दर रखता है, उसी प्रकार सभी भूतों में निहित उनके गूढ और अत्यन्त सूक्ष्म आत्मतत्त्व के अण्ड को रुद्र का - 'शिव' - कल्याणकारी रूप अपने पाश में (यम का पाश बनकर) बाँध कर ढाँप कर रखता है। किसी भी भूत को रुद्र इकाई के सारे स्वरूप की सभी ओर से घेरने वाले देव रुद्र के इस स्वरूप की जान कर ब्रह्म का जिज्ञासु उसके आत्मतत्त्व के अण्ड को बाँधने वाले सभी पाशों को तोड़ कर त्रिविध बन्धनों से मुक्त हो जाता है। रुद्र का यही स्वरूप 'शिव' नाम से पुकारा जाता है।	522
17. 4	सर्व देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। हृदा मनीषा मनसाभिव्यक्तो यस्तद्विदुर्मृतास्ते भवन्ति ॥	यह रुद्र देव जगत का रचयिता, महान आत्मा, सदैव सृष्टि के प्रत्येक उत्पन्न होने वाले अवयव - 'जन' - के हृदय स्पी केन्द्र में स्थित है। वह ज्ञानाधिपति मन को शासित करने वाला है तथा हृदय स्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो उस 'रुद्र' देव को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।	524
18. 4	यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर् न सन्न चासिद्धिर्व ख केवलः। तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥	जब सत् में संकल्प रहित होने के कारण तमस रहता है, तब न दिन रहता है और न रात्रि होती है। न सत् असत् का चक्र रहता है। एक मात्र कल्याणकारी सत् का शिव स्वरूप ही रहता है। वह सत् का अक्षर स्वरूप सजिता देव के वरण करने योग्य होता है। उसी से सनातन प्रज्ञा उत्पन्न होकर निकली है।	526
19. 4	नैनमूर्ध्वम् न तिर्यञ्च न मध्ये परिजगामत् । न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥	(महः लोक में ऋतु के अन्दर संकल्प उदित हो कर) जिस 'महद्यशः' के स्वरूप की रचना होती है, उसकी कोई प्रतिमा नहीं बनती है। इस महद्यश को कोई न तो ऊपर से, न इधर उधर से, न मध्य से पकड़ सकता है।	528

संज्ञा संख्या	संज्ञा	संज्ञा में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
20. 4	न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चैनम् । हृदा हृदिस्थं मनसा य स्पर्शम् एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥	इस महत्-तत्त्व के महद्यशः नाम वाले रूप की देव-आकृति का स्वरूप किसी भी देवता के रूप के समान नहीं बैठता। इसको कोई अपनी आँखों के द्वारा भी नहीं देख सकता। जो ब्रह्म जिज्ञासु अपने हृदय में स्थित इस महत्-तत्त्व के महद्यशः को अपने हृदय की चेतना और मन की गति के स्वरूप द्वारा इस प्रकार जान लेता है तो ऐसे सभी जिज्ञासु अमर हो जाते हैं। हृदय और मन के द्वारा ही इस महत्-तत्त्व के स्वरूप को जाना जा सकता है।	530
21. 4	अज्ञात इत्येवं कश्चिद् गौरुः प्रपद्यते । रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥	हे रुद्र! आप आजन्मे हो, ऐसा समझ कर कोई भयमुक्त व्यक्ति डरा हुआ आपकी शरण में आता है। आपका जो दक्षिण मुख है, उसके द्वारा मेरी सदैव रक्षा करो।	531
22. 4	मा जस्तौके तनये मा न आयुषि मा नो गौषु मा नो अश्वेषु शीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भूमितो वधीर् हविष्मन्तः सदीमत्वा हवामहे ॥	रुद्र की ऋत की पिण्डी में वने वाम मुखों और दक्षिण मुखों का चित्र। हे रुद्र! आप क्रोधित हो कर (वाममुख द्वारा ऋत को अभिशोषित करके) हमारे पुत्रों, पौत्रों की, हमारी आयु की, हमारी गौओं की और अश्वों की क्षति मत करना तथा हमारे वीरों का वध मत करना। हम सद्-ब्रह्म, अम् (= अ = विष्णु) तथा 'इत' (ऋत की तरंग की धारा) की हवि से युक्त हो कर यज्ञ में आपका आह्वान करें।	532 532
	<u>पञ्चमोऽध्यायः</u>	<u>पाँचवाँ अध्याय</u>	535
1. 5	के अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे । क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥	अक्षर अनन्त ब्रह्म के बने पर 'रूप' में विद्या और अविद्या जहाँ दो गूढ रूप में अन्तर्निहित हैं, वहाँ पर उस 'पर' रूप का 'क्षर' स्वरूप तो अविद्या है तथा उसी 'पर' रूप का 'अक्षर' स्वरूप विद्या है। जो विद्या और अविद्या के इन स्वरूपों को शासित करता है, वह इन से भिन्न है। इस स्वरूप को दर्शाने वाला चित्र।	537 538

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
2. 5	यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः । ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे शाने विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥	[ऋत के सद्यन सञ्च द्वारा बना ऋत की पिण्डों का रुद्र का वाम मुख तथा दाहिण मुख वाला स्वरूप] जो अकेला ही प्रत्येक वर्ण के देव की योनि में मूल रूप से अधिष्ठित है, वही योनि में स्थित उन देवों के दिव्य स्वरूप द्वारा परिवर्तित रजकणों के अर्धपिण्डों के द्वारा धारित सभी रूपों वाले शरीरों के प्राणिमयों की योनियों में अधिष्ठित है, जो पहले 'कपिल' ऋषि के उत्पन्न हुए स्वरूप को ज्ञान की विद्याओं के द्वारा भरता है और उसके पश्चात् अर्धपिण्ड के शरीर के रूप में वही उत्पन्न होता दिखाई देता है। रुद्र ही उस कपिल ऋषि के स्वरूप को अर्धपिण्ड का शरीर धारण करते हुए तथा जन्मते हुए देखता है।	541
3. 5	सकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्मस्मिन् क्षेत्रे संहर्त्येष देवः । भूमः सृष्ट्वा पतयस्तथैव सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥	यह 'रुद्र' देव अपनी ईशानी ऋत की धाराओं के एक-एक जाल को बहुत प्रकार का बनाता हुआ अलग-अलग वर्णों के भूतों की रचना करता है, फिर यही देव इसी ईशानी ऋत की धारा के जाल में उत्पन्न भूत का संहार भी करता है। उन भूतों तथा देवों को वह रुद्र पुनः उसी प्रकार उत्पन्न करके उनका संहार कर देता है। इस प्रकार सृजन तथा संहार की प्रक्रिया पर अधिपत्य करके सब भूतों का अलग-अलग स्वामी बन कर यह उनका इस प्रकार शासित करने वाला ईश बन जाता है तथा महान् आत्मा बन कर सारे जगत् पर अपना सर्वाधिपत्य कर लेता है।	543
4. 5	सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन्भ्राजते मद्भनङ्गवान् । सर्वं स देवो गगवान्वरेण्यौ योनिस्वभावानीधितिष्ठत्येकः ॥	रुद्र की ईशानी ऋत की धाराओं के जाल की शक्ति जब नये-नये देवों, भूतों के सृजन के कामदेव के संकल्पों से युक्त होकर प्रकाशित होती हुई घूर्णित होती है तो वही रुद्र की एक शक्ति अलग-अलग योनियों के अलग-अलग स्वभावों में अधिष्ठित होकर ठहर जाती है। इस प्रकार सभी दिशाओं में ऊपर, नीचे, तिरछी चलने वाली ईशानी ऋत की धाराओं की रुद्र की ऊर्जा जो कामदेव के संकल्पों से युक्त होकर प्रकाशित होती हुई चमकती है, वह वरण करने लगी है।	544

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
5. 5	यच्च स्वभावं पचीत विश्व योनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयैद्यः । सर्वमेतद्भिन्नवर्माधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनिर्गो जयैद्यः ॥	जो रुद्र देव अपनी ईशानी श्रुत की धाराओं में उदित काम के संकल्पों की ऊर्जा से शारी योनि में के भूतों के अलग-अलग स्वभावों को पैदा करता है और पके हुए स्वभाव वाले भूतों को उनकी परिणति के परिणाम (भौगर्वाय भुक्त होने के परिणाम) तक पहुँचाता है, वही एक रुद्र देव भूतों में सारे गुणों को विनिर्गो जित करके इस सारे जगत का नियमन करता है । वह आदि देव रुद्र ही उस गूढ़ सद-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करता है जिसको वेदों के सर्वोच्च ज्ञान भाग कहलाने वाले उपनिषदों में अत्यन्त गुह्य ज्ञान के अमृत स्वरूप विद्या के रूप में बताया गया है । ब्रह्मा की योनि में ब्रह्मा भी उसी रुद्र देव के स्वरूप द्वारा अपनी योनि को अविद्या के द्वारा प्राप्त करते हैं । देवों के सृजन से पूर्व की प्रक्रिया में सत् असत् के एक दूसरे के रूप में परिवर्तित होने के चक्र में सभी श्रुति तथा देव अपने को सद-ब्रह्म में विलीन करते हुए मेरे रुद्र के स्वरूप द्वारा ही सद-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप को प्राप्त करते हुए अमर हुए हैं । सृष्टि के चक्र में सद-ब्रह्म द्वारा चलाया गया सम्भूति और विनाश के चक्र का चित्र । (सत् से सृष्टि सृजन के चक्र में) प्रत्येक रचना अपने-अपने उदित संकल्पों के गुणों और स्वभावों से बद्ध हो कर अन्वित होती चली जाती है । अपने इन स्वभावों के फलों को प्राप्त करके वह अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने लग जाती है । अपने स्वभाव तथा मन की इच्छा के अनुकूल अथवा प्रतिकूल अपने कर्मों का फल प्राप्त करके वह सुख अथवा दुःख की उपभोक्ता बनती है । तीन गुणों वाला वह त्रिवर्त्मा उस रचना के साररूप का प्राणाधिप बन कर उस रचना को अपने कर्मों के द्वारा चलाता है । वही गुणों का अन्वय करने वाला तथा फलकर्मकर्ता है । वही बिम्बे हुए कर्म का उपभोक्ता है । वही त्रिवर्त्मा तीन मार्गों से चलने वाला है । त्रिवर्त्माओं का चित्र । त्रिवर्त्माओं का बना सप्त चक्र । षड्वृन्दारको (Sankhyanaraks) की बनी श्लोकर का चित्र । विष्णु के चक्र का चित्र ।	545 546 549 551 554 555 555 556
6. 5	तद्देद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदो ब्रह्म योनिम् । ये पूर्व देवा ऋषयश्च तद्भिदुस् ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥		
7. 5	गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स योपभोक्ता । स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरीत स्वकर्मभिः ॥		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
8. 5	अङ्गुष्ठमात्रौ रवितुल्य रूपः सङ्कल्पाहङ्कार समन्वितौ यः । बुद्धेर्गुणैर्नात्मगुणैर्न चैव आरागमात्रौ ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥	जो केवल अंगों को अर्जी प्रदान करने वाला तथा पोषित करने वाला है, सूर्य के तुल्य है, संकल्प तथा अहंकार की शक्तियों से युक्त है। जो बुद्धि और आत्मा के गुणों से युक्त है। वह विष्णु के रेत के प्रवाह के बने और का अग्र भाग मात्र भी अपर रूप में देखा गया है। ऐसा वह त्रिवर्त्मा है। विष्णु के रेत के प्रवाह को चारण करने वाली सरस्वती की मृत की चारा के चक्र का चित्र। कृष्ण का निग्राज बन कर धी में उड़ने वाले अश्वों का भी यही चित्र बना हुआ है। कृष्ण का स्वरूप। एक बाल के आगे के शिरे के भाग की भोटार्ई का सौंवाँ भाग करके फिर पुनः उस सौंवेँ एक भाग के सौ भाग करके जो एक भाग प्राप्त होता है, उसके परिमाण के समान वह त्रिवर्त्मा का एक सप्तचक्र है। इसी त्रिवर्त्मा को जीव की चेतना का भाग जानी और यही अनन्त रूपों का निर्माण करता है। यह [अणु (= Atom) का जीव] त्रिवर्त्मा न तो पुल्लिंग की पुरुष जाति का है न स्त्रीलिंग की स्त्री जाति का है और न लिंगरहित नपुंसक जाति का है। यह जिस-जिस लिंग की जाति के शरीर के अर्धपिण्ड को बना कर तैयार करके देता है, उसी-उसी शरीर के द्वारा यह अपने रूप में रक्षित हो जाता है।	559
9. 5	बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्म च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥	संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, ग्राह से तथा गोजन, जल की वर्षा से शरीर की वृद्धि तथा जन्म होते हैं। जीवात्मा भिन्न-भिन्न स्थानों में कर्मों के अनुसार क्रमशः जाना प्रकार के शरीरों के रूपों को चारण करके प्राप्त होती है। यह सारा कार्य रुद्र करता है। आत्मा रुद्र के निग्रजग में कार्य करती है। जीवात्मा अपने गुणों के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म बहुत सारे शरीरों के रूपों का वरण करता है। इस वरण करने की प्रक्रिया में क्रिया-गुण, आत्म गुण तथा अपर गुण भी आत्मा और शरीरों के संयोग के कारण देखे गये हैं। [मृत के अन्दर धी में बने पञ्चावर्त के कलिलवर्त के] एक कलिल के मध्य में विद्यमान उस जीव के भाग त्रिवर्त्मा के देव को जो विश्व की अनेक रूपता को उत्पन्न करने वाला है, जो अनदि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। उसने सारे विश्व को राभी और से घेर कर अपने अन्दर लपेटा हुआ है। उस एक देव को जान कर जाता जीवात्मा और शरीरों को बँधने	568
10. 5	नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥	यह [अणु (= Atom) का जीव] त्रिवर्त्मा न तो पुल्लिंग की पुरुष जाति का है न स्त्रीलिंग की स्त्री जाति का है और न लिंगरहित नपुंसक जाति का है। यह जिस-जिस लिंग की जाति के शरीर के अर्धपिण्ड को बना कर तैयार करके देता है, उसी-उसी शरीर के द्वारा यह अपने रूप में रक्षित हो जाता है।	569
11. 5	संकल्पन स्पर्शन दृष्टिर्ग्राहैर् ग्रासाम्बु वृष्ट्या चात्मविवृद्धजन्म कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभि संप्रपद्यते ॥	संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, ग्राह से तथा गोजन, जल की वर्षा से शरीर की वृद्धि तथा जन्म होते हैं। जीवात्मा भिन्न-भिन्न स्थानों में कर्मों के अनुसार क्रमशः जाना प्रकार के शरीरों के रूपों को चारण करके प्राप्त होती है। यह सारा कार्य रुद्र करता है। आत्मा रुद्र के निग्रजग में कार्य करती है। जीवात्मा अपने गुणों के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म बहुत सारे शरीरों के रूपों का वरण करता है। इस वरण करने की प्रक्रिया में क्रिया-गुण, आत्म गुण तथा अपर गुण भी आत्मा और शरीरों के संयोग के कारण देखे गये हैं। [मृत के अन्दर धी में बने पञ्चावर्त के कलिलवर्त के] एक कलिल के मध्य में विद्यमान उस जीव के भाग त्रिवर्त्मा के देव को जो विश्व की अनेक रूपता को उत्पन्न करने वाला है, जो अनदि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। उसने सारे विश्व को राभी और से घेर कर अपने अन्दर लपेटा हुआ है। उस एक देव को जान कर जाता जीवात्मा और शरीरों को बँधने	572
12. 5	स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति । क्रिया गुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥	स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपानि देही स्वगुणैर्वृणोति। क्रिया गुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥	577
13. 5	अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेक रूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पापैः ॥	अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेक रूपम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पापैः ॥	579

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
14. 5	भावग्राह्यगनीडारव्यं भावाभावकरं शिवम् । कलासर्गकरं दैवम् ये विदुस्ते जह्युस्तनुम् ॥	'शिव' को भावग्राह्य, जीडरीहत तथा भाव और अभाव दोनों को करने वाला कहते हैं। 'दैव' को कला तथा सर्ग की रचना करने वाला कहते हैं। इन दोनों को जो विधिपूर्वक जान लेते हैं, वे शरीर को बन्धन को छोड़ देते हैं।	585
1. 6	<u>षष्ठोऽध्यायः</u> स्वभावमैकै कवयो वदीन्त कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः । देवस्यैष गहिमा तु लोके ये जेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥	<u>छटा अध्याय</u> कुछ एक क्रान्तदृष्टा बुद्धिमान कीव लोग उस स्वभाव को जो सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में एक विशेष दैव 'अणु' (Atom) का उसकी रचना के समय बन जाता है, सृष्टि के संचालन का कारण मानते हैं, तथा दूसरे मोहकास्त लोग काल को सृष्टि संचालन का कारण मानते हैं। परन्तु सृष्टि सृजन के क्रम में जो 'दैवों' के सृजन का अनुक्रम बनता है, उसमें बने आदि-दैव 'रुद्र' की ही गहिमा है जिसके द्वारा यह ब्रह्मा की सृष्टि का ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है। जिस सर्वज्ञ, काल की रचना करने वाले, सर्वगुण सम्पन्न, सभी के लिए जानने योग्य तथा सभी के द्वारा आत्मतत्त्व के रूप में प्राप्त करने योग्य यह (पञ्चावर्त का स्वरूप) सचमुच ही (सप्त लोकों के आवरण से) नित्य रूप में ढका हुआ है। इस से अणु (Atom) बन कर उस अणु के द्वारा पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश के पञ्च महाभूतों का स्वरूप शासित होता है और अपना-अपना तत्सम्बन्धी कर्म करता रहता है। अब उस अणु के आवरण में बने पञ्चावर्त के विषय में चिन्तन करते हैं। पञ्चावर्त, सप्त लोकों का चित्र। सप्त लोकों का आभूषित देवीकायों के साथ बना चित्र। पञ्चावर्त में सप्तलोकों के	596 597 602
2. 6	येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम् ज्ञः कालकारो गुणी सर्व विद्यः । तैर्नेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलरविर्न चिन्त्यम्		604 605 606

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
3/6	तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस् तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् । एकैज द्वाभ्याम् त्रिभिरष्टाभिर्वा काक्षेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥	वह पञ्चावर्त अणु (Atom) की रचना का कर्म करने के उपरान्त पुनः एक इत् (Electron) का अथवा दो इत् का अथवा तीन इत् का अथवा आठ इत् का दो अणुओं में परस्पर विनिवर्तन (अदला-बदली) करके विनिवर्तन आबन्ध (Electrovalent bond) का योग (Molecule) बनाता है, अथवा एक इत् के द्वारा, दो इत् के द्वारा, तीन इत् के द्वारा एक तत्त्व के अणु को दूसरे तत्त्व के अणु के पास सम्बन्ध रूप से लाकर समेत्य आबन्ध (covalent bond) के single bond or double bond or triple bond के द्वारा दो अणुओं का योग (Molecule) बनाता है, अथवा आठ इत् के द्वारा एक अणु को दूसरे अणु के तत्त्व के पास ला कर समेत्य आबन्ध द्वारा योग (Molecular bond) बनाता है। N_2, H_2, K_2, Xe, R_n तत्वों में इसी प्रकार योग बनते हैं। ये योग काल तथा सूक्ष्म आत्मगुणों के द्वारा बनते हैं। अकार (= 'अ') की रचना का चित्र, क्षीर एक अणु (Atom) में ऋत का तरंगों की धारा के बनने वाले एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी तथा सहस्राक्षर रूपों के बनने का चित्रण। अपने रचना काल में एक अणु अपने अन्दर अपने गुणों को समन्वित करने के कार्यों को प्रारम्भ करके जो अपने अन्दर अपने सारे स्वभावों को विनिर्भोजित कर लेता है, उन स्वभावों में से यदि उनके किसी भी स्वभाव का एक अणु में अभाव हो जाये तो वह अणु पूर्व रचित तत्त्व के अन्दर से दूसरे तत्त्व की कोटि के वर्ग में चला जाता है। यह तत्त्वान्तरण (Transmutation) प्रक्रिया है। तत्त्वान्तरण प्रक्रिया को सारणी। U^{238}_{92} से लेकर Pb^{206}_{82} तक। षड् वृन्दारको (Sixquarths) तथा अष्ट सिद्धियों अणिमादि का वर्णन।	613 619 624 625 644 646 649 650
4/6	आरम्भ कर्मणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनिर्भोजयेद्यः । तैषामभावे कृतकर्मजायाः कर्म क्षमे याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
5. 6	आदिः स संयोग निमित्त हेतुः परिस्त्रकालादकलोऽपि दृष्टः । तम् विश्वरूपं भवभूतमीड्यम् देवम् स्वीचिच्छस्थमुपास्य पूर्वम् ॥	अणु (Atom) के आधार में बना भूत का वह पञ्चावर्त योगों के संयोग करने के निमित्त आदि कारण बनता है । परन्तु वह पञ्चावर्त तीनों कालों में - (1) अणुओं के योग बनने के काल में, (2) योगों के बने रहने के स्थिति काल में, (3) योगों के विच्छेदन काल में भी कला विहीन ही अपने 'पर' रूप में देखा गया है । उस योग के पूरे स्वरूप में बने पञ्चावर्तों के पूरे स्वरूप को, जो संसार के सभी भूतों के द्वारा स्तुति करने के योग्य है, उस अपने चित्त की चेतना में स्थित पूर्व-देव की, जो उपासना करने योग्य ईशान का स्वरूप है, उसकी उपासना करो । वह वृक्ष जैसी कालावृत्तियों के द्वारा बना पञ्चावर्तों का 'पर' रूप इस भौतिक रूप से स्थूल दिखाई देने वाली प्रकृति से भिन्न अन्य ही है जिससे वह पञ्च-महाभूतों के द्वारा बना प्रपञ्च का चक्र घूम रहा है । सभी चर्माँ को वहन करने वाले, पापों को नष्ट करने वाले, भगवद्देवता के स्वामी, आत्मा की संरचना के अन्दर स्थित इस पञ्चावर्त के अमृत स्वरूप को जान कर जानी पुरुष सारे विश्व के चाम् राद-ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।	664
6. 6	सवृक्षकालावृत्तिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् । धर्मावहम् पापनुदं भगेशं ज्ञात्वा तमस्थममृतं विश्वधाम् ॥	आभु के ऊपर बनी 'वृक्षकालावृत्ति' का चित्र । [विश्व के चाम् सद-ब्रह्म को प्राप्त करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत] हम पहले ईश्वरों के भी परम ईश्वर भगेश्वर कहते हैं, उनके 'रुद्र' के स्वरूप को प्राप्त करते हैं, फिर देवताओं के भी परम देवता 'विष्णु' भगवान के रूप को प्राप्त करते हैं । विष्णु भगवान सृष्टि के स्वामी (देवों) का भी स्वामी हैं और रुद्र की 'पर' रूप की भूत को पिण्डों के पश्चात् बना, उस पिण्ड के केन्द्र में स्थित रुद्र के 'पर' रूप से भी अधिष्ठान सत्य 'पर' रूप बना हुआ है/वही	665
7. 6	तमीश्वराणाम् परमम् महेश्वरम् तम् देवताणाम् परमम् च दैवतम् । पतिम् पतोजाम् परमम् परस्तात् विदाम् देवम् भुवनेशमीड्यम् ॥	आभु के ऊपर बनी 'वृक्षकालावृत्ति' का चित्र । [विश्व के चाम् सद-ब्रह्म को प्राप्त करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत] हम पहले ईश्वरों के भी परम ईश्वर भगेश्वर कहते हैं, उनके 'रुद्र' के स्वरूप को प्राप्त करते हैं, फिर देवताओं के भी परम देवता 'विष्णु' भगवान के रूप को प्राप्त करते हैं । विष्णु भगवान सृष्टि के स्वामी (देवों) का भी स्वामी हैं और रुद्र की 'पर' रूप की भूत को पिण्डों के पश्चात् बना, उस पिण्ड के केन्द्र में स्थित रुद्र के 'पर' रूप से भी अधिष्ठान सत्य 'पर' रूप बना हुआ है/वही	676 677

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
8. 6	न तस्य कार्यं करणम् च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥	[उस सृष्टि करने योग्य भुवनेश] विष्णु के पास न तो कार्य करने के लिए कोई साधन विद्यमान है, न ही उसके 'पर' रूप की परा-शक्ति में उसके कोई समान है और न ही उससे कोई अधिक है। इस विष्णु की 'स्वाभाविकी पराशक्ति', 'ज्ञान पराशक्ति', 'बल पराशक्ति', 'क्रिया पराशक्ति' - विविध प्रकार की सभी मंड हैं। उस विष्णु भगवान का न तो सत्त्वलोक में कोई स्वामी है और न वह किसी से शासित होता है। उसका कोई लिङ्ग भी नहीं है। [सभी लिंगों के द्वारा रक्षित होने के कारण उसका कोई लिंग नहीं है।] सृष्टि सृजन, तथा पालन की क्रिया में उपकरणों के साधन जुटाने वाले स्वामीयों का भी वह स्वामी है। उसको न कोई उत्पन्न करने वाला है और न कोई उसका स्वामी है। [सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा के काम को चारण करके वे स्वयं अपनी इच्छा से 'सत्' के स्वरूप में अवतीरित होते हैं।]	(679)
9. 6	न तस्य कीदृचत् पतिरस्ति लोके न चेक्षिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणम् करणाध्याधिपौ न चास्य कीदृचज्जीनता न चोधिपः।	प्रधान तत्त्व सद्-ब्रह्म से उत्पन्न हुए असत् के क्षीरों, क्षीरों से बने सप्तचक्रों के अक्षों, पंचाननों, सप्त लोकों, दैवनिवासों के कामिक सृजन से बने तन्तुओं के आवरणों के द्वारा स्वाभाविक रूप से विष्णु देव अपने रुकाकी रूप को आवरणों में लपेट लेता है, जैसे कि रुन्ध मकड़ी अपने द्वारा उत्पन्न किए गये जाल के तन्तुओं के आवरणों से अपने आप को लपेट कर ढक लेती है। यह आवरणों से मुक्त विष्णु का स्वरूप ही ब्रह्मा जी तथा न 'क्षण के रूप में गणेश जी को चारण करता है। वही ब्रह्म का स्वरूप विष्णु भगवान हम को भी हमारी आत्मा के रूप में चारण करे। हमारी आत्मा को अपने स्वरूप में विलीन कर ले।	(681)
10. 6	यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो। देव रुकः स्वभाववृणोत्। स नो दधाद् ब्रह्मा प्ययम् ॥	वह रुक विष्णु देव सृष्टि की प्रत्येक रचना के केन्द्र में अच्युत रूप में स्थित होकर सारे भूतों में गूढ रूप से छिपा हुआ रुक देव है। वह सर्वव्यापी है और सारे भूतों की अन्तरात्मा है। वही सारे भूतों के कर्मों का अध्यक्ष है। वह विष्णु भगवान सभी भूतों के केन्द्र में स्थित होकर उनकी रचना का आधार बन कर उनके अन्दर रहता हुआ वारा करता है। उसके स्वरूप के अवतरण का साक्षी केवल	(684)
11. 6	रुको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चैता केवलो निर्गुणश्च ॥		(687)

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
12. 6	सको वशी निष्क्रियगाम् बहुनाम् सकम् बीजम् बहुधा यः करोति । तमात्मस्थम् प्रेऽनुपश्यन्ति चौरास् तेषाम् सुखम् शाश्वतम् नैतरेषाम् ॥	जो विष्णु देव बहुत से निष्क्रिय, जड़ भूतों को अपने रेत के प्रसार की गति के आवेश से सक्रिय बना कर उनको वश में करने वाला 'वशी' है और जो एक बीज को अपने रेत के प्रसार के द्वारा ही बहुत से उसी प्रकार के बीजों के रूप में बना देता है। उसी विष्णु भगवान के स्वरूप को चौर पुरुष अपनी आत्मा के अन्दर स्थित देखते हैं। उन्होंने चौर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त का शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्तों को नहीं।	691
13. 6	नित्यो नित्यानाम् चैतनश्चैतनानाम् सको बहुनाम् यो विदधाति कामान् । तत्कारणम् सांख्ययोगाधिगम्यम् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः ॥	जो विष्णु भगवान का स्वरूप नित्यों का नित्य है, चेतनों का चैतन स्वरूप है। जो अपने एक रूप में स्थिर रहता हुआ ही अपने रेत में उदित होने की प्रकाश के संकल्पों की कामनाओं को बना देता है। उस विष्णु भगवान के अवतरण का कारण सांख्य और योग के द्वारा जाना जा सकता है। उस विष्णु के देव स्वरूप को जान कर ब्रह्मज्ञानी क्षीर और आत्मा जो बाँधने वाले सभी पाशों से मुक्त हो जाता है।	694
14. 6	न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति ॥	न तो वहाँ पर सत्य लोक के अन्दर स्थित विष्णु देव के वैकुण्ठ लोक में सूर्य का प्रकाश चमकता है न चन्द्र और तारों का प्रकाश चमकता है और न इस विद्युत का प्रकाश चमकता है, तो फिर इस अग्नि का प्रकाश वहाँ पर कैसे चमक सकता है? अर्थात् नहीं चमकता है। विष्णु की सत्याभा से उसी वैकुण्ठ लोक के चमकने पर तथा भाति होने पर सृष्टि की सारी रचनाओं के स्वरूप अनुभासित होकर चमकते हैं। उस वैकुण्ठ लोक की सत्याभा के प्रकाश से सारा यह जगत् प्रकाशित होता है।	696
15. 6	सको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स ख अग्निः सलिले संनिविष्टः । तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति	प्रकाश कण (Photon) का अणुपरावृत के रूप में प्रकाश छोड़ने वाला चित्र। फोटोन का नाम 'सूर्य का चक्र रजस्' बताने वाला ऋग्वेद का मन्त्र, उसकी व्याख्या। इस वैकुण्ठ लोक के भुवन के मध्य में एक विष्णु देव के 'पर' रूप का हंस विद्यमान है। वह ही अग्नि तथा मृत की धारा के सलिल में संनिविष्ट है। उसको जानकर प्राप्त	697 698 700

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
16. 6	स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोगी- र्ज्ञः कालकारो गुणी सर्व विद्यः । प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः संसार मोक्ष स्थिति बन्ध हेतुः ॥	वह विष्णु देव (अपने रेत के प्रसार की शक्ति से) विश्व की रचना करने वाला तथा विश्व की प्रत्येक कृति के विषय में जानने वाला है। वह प्रत्येक आत्मा के द्वारा धारित प्रत्येक शरीर की योगि के विषय में जानने वाला है और सर्वज्ञ है। वह काल की रचना करने वाला, गुणी तथा सबलुक्त का जानकार है। वह प्रत्येक रचना के केन्द्र में स्थित उस रचना का प्रधान अंश, उस रचना के सम्पूर्ण क्षेत्र का ज्ञाता, उस रचना के गुणों का निधन्ता स्वामी है। वह संसार में जन्म पाकर जीव के बन्धन का कारण बनने वाला, संसार में स्थित रहने का कारण बनने वाला और संसार से अतिमृत्यु को प्राप्त करके सर्वदा के लिए मोक्ष प्राप्त करने का कारण भी बनने वाला है।	703
17. 6	स तन्मायो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता । य ईशो अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥	वह विष्णु भगवान् उस सद-ब्रह्म से युक्त है तथा अमर है और महेश रुद्र की मृत की पिण्डी के केन्द्र में स्थित है। वह सर्वज्ञ है, सब जगह गया हुआ और इस जगत् के भुवन का रक्षक है। वह विष्णु भगवान् इस जगत् के शासन करने में नित्य समर्थ है। इस विष्णु भगवान् के अतिरिक्त इस जगत् का शासित रहने का कारण कोई अन्य नहीं है।	712
18. 6	यो ब्रह्माणम् विदधाति पूर्वम् यो वै वेदांश्च प्रीहणीति तस्मै । तम् ह देवात्म बुद्धि प्रकाशम् मुमुक्षुर्वै शरणमहम् प्रपद्ये ॥	जो विष्णु भगवान् अपनी नाभि से निकलने वाले कमलनाल के ऊपर अष्टदल के कमल के पुष्प के ऊपर पहले ब्रह्मा जी के स्वरूप को विशिष्ट रूप से धारण करते हैं और फिर उसके लिए वेदों को प्रदान करते हैं। उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाश करने वाले विष्णु देव की मैं मुमुक्षु शरण में जाता हूँ। वही विष्णु देवों का प्रकाश करता है।	716
19. 6	निष्कलम् निष्क्रियम् शान्तम् निरवद्यम् निरञ्जनम् । अमृतस्य परम् सेतुम् दग्धेन्धनमिवानलम् ॥	[विष्णुदेव जिस सद-ब्रह्म में विलीन होकर अन्तर्धान होते हैं] वह सद-ब्रह्म कलाहीन, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृत का परम रेत और जिसका ईंधन जल चुका है, उस अग्नि के समान है।	722

विषय सूची

मन्त्र संख्या	मन्त्र	मन्त्र में वर्णित विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
20 6	भदा चर्मवदाकाशम् वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।	जब मनुष्य [योग साधना के द्वारा अपने चित्त की वृत्तियों को संकल्पों के बीजों से शून्य करके निर्बीज समाधि को सिद्ध करके अपने सूक्ष्म शरीरों की रचना करने वाले] आकाश महाभूत के आवरण को [अपनी आत्मा के पञ्चावर्तों के ऊपर से हटा कर] चमड़े की तरह लपेट लेगा तब विष्णु देव तथा सद्-ब्रह्म को जाने बिना भी उनके दुःख का अन्त हो जायेगा । उन्हें मोक्ष प्राप्त तब भी भक्ति योग से हो जायेगा ।	725
21 6	तपः प्रभावाद् देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरो ऽथ विद्वान् । अत्याश्रमिभ्यः परमम् पवित्रम् प्रोवाच सम्यगृषि संघजुष्टम् ॥	तप के प्रभाव से और विष्णु देव के द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रसाद से निश्चय पूर्वक श्वेताश्वतर ऋषि ने ब्रह्म के श्वेताश्वतर इस उपनिषद् के ज्ञान को जाना और ऋषि समुदाय से सेवित परम पवित्र ब्रह्म तत्त्व के ज्ञान को सम्यक् प्रकार से परम हंस सन्मासियों को कह कर सुनाया ।	732
22 6	वेदान्ते परमं गुह्यम् पुरा कल्पे प्रचोदितम् । नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राया शिष्याय वा पुनः ॥	वेदान्त में यह 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् का परम गुह्य ब्रह्म ज्ञान पूर्व कल्प में ही भली भाँति (कपिल ऋषि के काल में ही) बताया दिया गया था । यह परम गुह्य ज्ञान न तो अशान्त चित्त वाले व्यक्ति को देना चाहिए, न ऐसे व्यक्ति को देना चाहिए जो उस ज्ञानदाता गुरु का अपना पुत्र न हो अथवा विधिवत बनाया गया अपना शिष्य न हो ।	736
23 6	यस्य देवे परा भक्तिर् यथा देवे तथा गुरौ । तस्मै ते कीर्तिता ह्यर्थाः । प्रव्वाशन्ते महात्मनः । प्रव्वाशन्ते महात्मनः ॥	जिस ब्रह्म जिज्ञासु साधक को विष्णु देव के 'पर' रूप में परमोत्कृष्ट भक्ति का भाव है, और जिस प्रकार की भक्ति का भाव विष्णु देव के प्रति है, उसी प्रकार का भक्ति का भाव अपने सद्-गुरु के प्रति है, उसी लिए इस उपनिषद् में कहे गये इन मन्त्रों के अर्थ स्वयमेव प्रव्वाशित हो जाते हैं । उस महान आत्मा ब्रह्म जिज्ञासु के लिए ये कहे गये मन्त्रों के अर्थ स्वयमेव प्रव्वाशित हो जाते हैं । ॥ ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः ॥	738
			741

चित्र क्रम संख्या	मूल संख्या मूल अध्याय	चित्र का विवरण	पृष्ठ संख्या
1.	$\frac{3}{1}$	क्षीरों के बने एक सप्तपरावृत (seven hypercircle) की रचना का चित्र।	12
2.	$\frac{3}{1}$	एक अणु की रचना का चित्र।	13
3.	$\frac{3}{1}$	अणुव समुद्र में 'संवत्सर' तथा 'पुरुष' की रचना का चित्र।	14.
4.	$\frac{4}{1}$	ब्रह्म, जीवात्मा तथा प्रकृति, तीनों के ग्रथन का चित्रण।	23.
5.	$\frac{4}{1}$	परावृत्तों (Hyper-circles) के मापों को बताने वाला ग्राफ।	24.
6.	$\frac{4}{1}$	परावृत्तों के माप को बताने वाली गणित की गणना।	32
7.	$\frac{4}{1}$	महः लौक तत्त्व की रचना को बताने वाला नाभि की रचना का चित्र।	37
8.	$\frac{4}{1}$	सत्य लौक तथा तपः लौक के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष में 'वरुण' तथा 'मित्र' के ऋतु द्वारा वृद्धि से बने अर्धगा के सात अक्षर।	38
9.	$\frac{4}{1}$	छः अन्तरिक्षों को बताने वाला चित्र।	41
10.	$\frac{4}{1}$	द्यौ में बने ऋतु के पञ्चावर्त की रचना का चित्र।	42-A
11.	$\frac{4}{1}$	शेष-शैल्य पर स्थित विष्णु की नाभि से निकले कमलनाल के कमलपुष्प के अष्टदल पर ब्रह्मा के जन्म लेकर स्थित होने का चित्र।	44
12.	$\frac{4}{1}$	टंगस्टन धातु के एक अणु (Atom) का दस लाख गुणा आवर्धित फोटो।	45
13.	$\frac{4}{1}$	टंगस्टन के एक अणु के फोटो में त्रिवृत-पीलत, अक्षर, धृतपृष्ठ का स्पष्ट रूप दिखाई देना।	47
14.	$\frac{5}{1}$	वेदानुसार अणु की त्रिज्या के मेरु दण्ड (Line spectra) का चित्रण।	49
15.	$\frac{5}{1}$	एक 'क्षीर' की रचना का चित्र।	52.
16.	$\frac{5}{1}$	'देवमाता अदिती' तथा 'क' कण की रचना का चित्र।	52-A
17.	$\frac{5}{1}$	'अश्विनौ' तथा षड् वृन्दारकों (six quarks) की रचना का चित्र।	63-64
18.	$\frac{5}{1}$	अभाव की प्रक्रिया द्वारा U_{92}^{238} में तत्त्वान्तरण प्रक्रिया की सारणी।	68
19.	$\frac{5}{1}$	उत्क्षायणम् (Radio-decay) की प्रक्रिया का चित्रण।	79
20.	$\frac{5}{1}$	'पुरुष' की संरचना, 'अश्व' की संरचना, त्रित द्वारा अश्वों को जोड़ने की प्रक्रिया का चित्रण तथा $E=mc^2$ सूत्र में संशोधन।	82.
21.	$\frac{5}{1}$	'क' कण, 'अश्विनौ', सूर्यचक्षुरज (proton), वृन्दारक (quark) के चित्र।	83.
22.	$\frac{5}{1}$	त्रिवर्त्मियों (The three mesons m^0, m^+, m^-) के चित्र।	84
23.	$\frac{5}{1}$	'न' (neutron), 'चिक्' (proton), 'इत्' (electron) के चित्र।	86
24.	$\frac{5}{1}$	पीरियडिक टेबल (Periodic Table).	93
25.	$\frac{5}{1}$	सम्भूति, विनाश का पदावत क्रम का चक्र।	96
26.	$\frac{5}{1}$	अणु (Atom) की नाभि में शंकु की आकृति में गणों की रचना।	101
		पूर्ण तथा सर्वाधिक बड़े अणु (Atom) X_{110}^{300} का चित्र।	

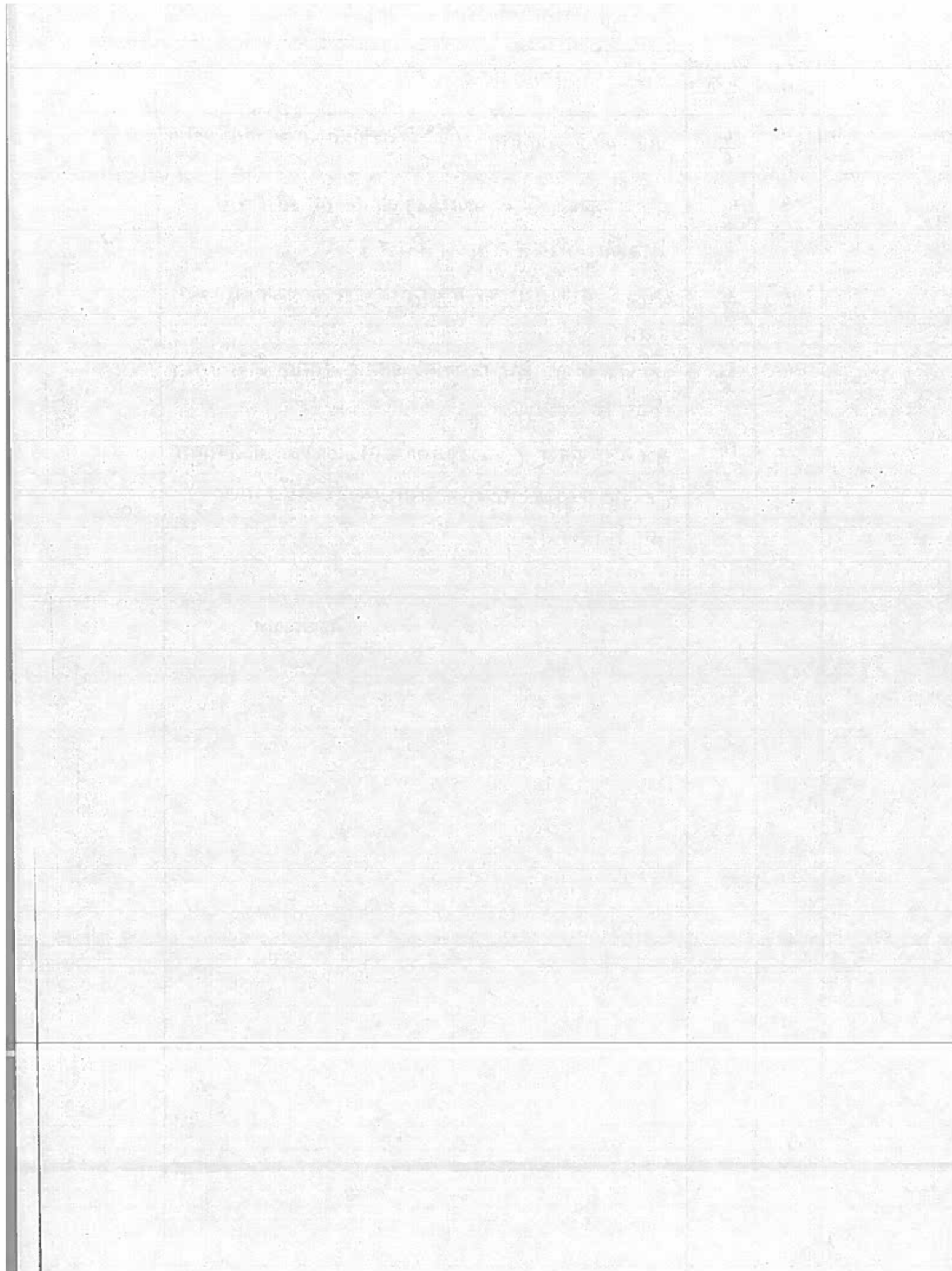
चित्र क्रम संख्या	गणित संख्या मन्त्र अध्याय	चित्र का विवरण	पृष्ठ संख्या
27.	$\frac{5}{1}$	X_{110}^{300} के अणु के चित्र में 'प्रोटॉन' (Proton) तथा 'इलेक्ट्रॉन' (Electron) के परस्पर सम्बन्धों का चित्रण।	102
28.	$\frac{5}{1}$	X_{110}^{300} के अणु (Atom) की रचना के संस्थान में बनी 'गणेश' जी तथा 'कार्तिकेय' के कताई (Spin) वाले रूपों की आकृतियों का चित्रण।	103.
29.	$\frac{5}{1}$	H_1 के सब से छोटे हाइड्रोजन के एक अणु (Atom) का चित्र।	104
30.	$\frac{5}{1}$	अणुओं में बना आन्तरिक आबन्धन तथा बाह्य आबन्धन (Internal bonding and external bonding) का बना चित्र।	106
31.	$\frac{5}{1}$	$EuCl_3$, H_2O , PF_5 , SF_6 के यौगों (Molecules) के आबन्धन बने के चित्र।	111
32.	$\frac{5}{1}$	अणु की नाभ (Nucleus) में बने पदार्थ की मात्रा के कम दबाव के बारह गड्ढों का चित्रण।	112
33.	$\frac{5}{1}$	होरे के यौग (Molecule) की कणी की रचना का चित्र।	116
34.	$\frac{5}{1}$	ग्रेफाइट के यौगों (Molecules) की ठीली परतदार रचना का चित्र।	117
35.	$\frac{5}{1}$	Orbit filling diagram में किया गया सुधार।	119
36.	$\frac{5}{1}$	Electrons के Quantum Numbers का ग्राफ पर चित्रण।	121
37.	$\frac{9}{1}$	भूत की सीलल द्वारा रचना के एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी, नवपदी सहस्राक्षरा स्थूल रूपों की रचना के चित्र।	182
38.	$\frac{12}{1}$	एक क्षीर की रचना में बने भोक्ता, भोग्यम्, प्रेरितारम् के तीन रूप।	197
39.	$\frac{12}{1}$	भूत के क्षीरों के सप्त परावृत में बना भोक्ता, भोग्यम्, प्रेरितारम् क्षीरों के तीन प्रकार के बने स्वरूपों का चित्रण।	198
40.	$\frac{14}{1}$	'पर', 'अवर' के रूप बनाते हुए भूत की चारा द्वारा 'क' कण की रचना का चित्र।	209-A
41.	$\frac{11}{2}$	दीपक की तरह बने एक क्षीर के पुर में ब्रह्मतत्त्व, आत्मतत्त्व का रूप।	267
42.	$\frac{11}{2}$	विष्णु के सप्तार्द्धगर्भा रेत का चित्र।	272
43.	$\frac{11}{2}$	रावितृ की पञ्चारे चक्र की भूत की चाराओं के द्वारा बना ब्रह्म, जीव, प्रकृति के यौग का एक अणु में बना चित्रण।	276
44.	$\frac{15}{2}$	दीपक की आकृति के समान बनी क्षीर की रचना की आकृति का चित्र।	301
45.	$\frac{16}{2}$	रुद्र की ऊर्जा को 'उ' के संकेताक्षर की आकृति द्वारा बताने	304

चित्र क्रमसंख्या	मन्त्रसंख्या मन्त्र अध्याय	चित्र का विवरण	पृष्ठ संख्या
46.	$\frac{0}{3}$	रुद्र के ईशान रूप का चित्रण ।	312
47.	$\frac{0}{3}$	रुद्र की ईशानी ऋत की चारा द्वारा सातों लोकों के देवजिन्माओं की रचना करते हुए शासन करने का चित्र ।	313
48.	$\frac{2}{3}$	रुद्र के 'ईशान' रूप की 'ईशानी' के द्वारा सत्य लोक का, क्षीर में हिरण्यगर्भ का सृजन तथा उसमें विष्णु का रुक्म जन के रूप में अवतरण का चित्र ।	321
49.	$\frac{5}{3}$	रुद्र के 'गिरिशन्त' रूप द्वारा पापकाशिनी ईशानी ऋत की बहती चाराओं के द्वारा पापों के प्रक्षालन का चित्रण तथा हिरण्यगर्भ को जन्म देने का चित्रण । क्षीर के अन्दर रुद्र का गिरिशन्त का स्वरूप जो ईशानी ऋत की चाराओं से युक्त बनता है ।	345
50.	$\frac{7}{3}$	रुद्र के द्वारा परम ब्रह्म में सातों लोकों की रचना द्वारा अपने रूप को वृहत् करते जाने का चित्र ।	353
51.	$\frac{9}{3}$	द्यौ में वृक्ष की भाँति स्तब्ध खड़े 'पुरुष' का चित्र ।	365
52.	$\frac{12}{3}$	संवत्सर में ऋत की चारा में नियम के अनुसार चलने वाले तीन केशधारी रचनायें । Nuclear plant का चित्रण । तीन केशधारी रचनायें हैं—(1) वपन करने वाली, (2) बल पूर्वक तेज दीड़ने वाली, (3) अभिसुरव होकर अपनी ओर खींचने वाली - ये तीन रचनायें हैं ।	380
53.	$\frac{14}{3}$	"सहस्र शीर्षा पुरुषः ----" का आशु सीद्धत चित्र ।	405
54.	$\frac{18}{3}$	विष्णु के वैकुण्ठ लोक से चल कर ऋत की चारा में 'पुरुष' के हंस के बाहर आने के जो सूर्य द्वारों का चित्रण ।	415
55.	$\frac{18}{3}$	सत्यलोक में बने 'पुरुष' के हंस के प्रथम सूर्यद्वार का चित्र ।	417
56.	$\frac{18}{3}$	तपः लोक में बने पुरुष के हंस के दूसरे सूर्यद्वार का चित्र ।	421
57.	$\frac{18}{3}$	तपः लोक के दूसरे सूर्यद्वार का अणु में पूरा चित्र ।	426
58.	$\frac{18}{3}$	तपः लोक में आभास्वरा, महामास्वरा, सत्यमहामास्वरा स्तर की चाराओं का चित्रण ।	428
59.	$\frac{18}{3}$	जनः लोक में पुरुष के हंस के तीसरे सूर्यद्वार पर चतुर्भुवी ब्रह्मा जी के, 'ब्रह्मपुरोहित', ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक, अजर-अमर स्वरूप के चार प्रकार के देवजिन्माओं का रुक्मपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी रूपों का चित्रण ।	431
60.	$\frac{19}{3}$	पुरुष के पाणिपाद् तथा अपाणिपाद् के भेद को बताने वाला चित्र ।	440
61.	$\frac{19}{3}$	"अपाणिपादः जवजः गृहीता" पुरुष का गति का चित्र ।	442

॥ चित्रावली सारणी ॥

चित्र क्रम संख्या	मन्त्र संख्या मन्त्र अध्याय	चित्र का विवरण	पृष्ठ संख्या
62	$\frac{1}{4}$	पञ्चमुखी रुद्र द्वारा बने अम्बु के पाँच स्रोतों का क्षीर में बना चित्र।	460
63	$\frac{1}{4}$	रुद्र के पाँच मुखों की बनी अम्बु के पाँच स्रोतों की पाँच गौणियों।	461
64	$\frac{1}{4}$	क्षीर में रुद्र की ऊर्जा के बने पाँच कीट बन्ध जो अम्बु के पाँच स्रोतों की गौणियों बनती हैं।	462
65	$\frac{1}{4}$	पञ्च प्राणोर्मि की रचना का चित्र।	463
66	$\frac{5}{4}$	आमु के अन्दर बना ऋतु की पञ्च प्राणोर्मियों का बहता स्रोत।	488
67	$\frac{14}{4}$	'अजा' बन कर निकली विष्णु कैरेत की चारा का चित्र।	515
68	$\frac{22}{4}$	अश्व के आगे चलने वाले 'अजः' का चित्र।	532
69	$\frac{1}{5}$	'क' कण के सृजन सहित 'अश्विनौ' के सृजन का चित्र।	538
70	$\frac{6}{5}$	आमु में बने रुद्र के वाम मुख तथा दक्षिण मुख का चित्रण।	549
71	$\frac{7}{5}$	अनन्त अक्षर ब्रह्म के 'पर' रूप में बने दो रूप - 'विद्या' तथा 'अविद्या' का चित्रण।	554
72	$\frac{7}{5}$	सृष्टि में सम्भूति तथा विनाश की प्रक्रियाओं द्वारा बना सृजन का चक्र।	555
73	$\frac{7}{5}$	हो तथा भूमि का एक दूसरे को जिवाने का चित्र।	555
74	$\frac{7}{5}$	त्रिवर्त्माओं में आवेश के भेद का कारण बताते वाला चित्र।	556
75	$\frac{8}{5}$	त्रिवर्त्माओं का बना सप्तचक्र।	568
76	$\frac{2}{6}$	षड् वृन्दारकों की बनी श्लारवा।	604
77	$\frac{2}{6}$	त्रिवर्त्मा के त्रिगुणों के भेदों के बने के कारणों का निरूपण।	605
78	$\frac{2}{6}$	कृष्ण के नियान बने अश्वों का तथा सरस्वती की चारा का चित्र।	606
79	$\frac{2}{6}$	पञ्चावर्त तथा सप्तब्रह्मलोकों का अलग अलग चित्रण।	607
80	$\frac{3}{6}$	सप्तलोकों का तत्सम्बन्धी देवनिवासों सहित चित्र।	619
81	$\frac{3}{6}$	पञ्चावर्त के ऊपर बना सप्तलोकों का देवनिवासों सहित चित्र।	624
82	$\frac{3}{6}$	पञ्चावर्त के ऊपर सप्तलोकों के देवनिवासों के आवरणों से बना षड्विंशत तत्त्व के सब से छोटे अणु में का पूर्ण चित्र।	625
		अकार = 'अ' की रचना का एक क्षीर में बना चित्र।	
		'सलिल' का एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी, रूपों का अलग-अलग चित्रण।	
		'सलिल' का एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी, सहस्राक्षरा रूपों का एक ही चारा में अणु के अन्दर बना रूपों	

चित्र क्रम संख्या	मन्त्रा संख्या अध्याय	चित्र का विवरण	पृष्ठसंख्या
83.	$\frac{4}{6}$	अभाव की प्रक्रिया द्वारा U_{92}^{238} के तत्त्वान्तरणों की सारणी का चित्र।	646
84.	$\frac{4}{6}$	षड् वृन्दारकों (Six quarks) की शलाखा द्वारा बना त्रिवर्ती के सप्तचक्र का चित्र।	657
85.	$\frac{6}{6}$	पीपल के वृक्ष जैसी कालावृत्ति के वृक्ष का पुस्तक द्वारा बना चित्र।	676
86.	$\frac{11}{6}$	सब भूतों में बूढ़ देव विष्णु का क्षीर में बैकुण्ठ लोक में बना चित्र।	690
87	$\frac{14}{6}$	सूर्य चक्षु रजस् (प्रकाश कण = Photon) का अष्टापरावृत्त (Eight hypercircle) में बना प्रकाश छोड़ने वाले रूप का चित्रण।	697
रेमचन्द्र शर्मा			



॥ हरिः ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः ॥

श्रुते ता श्रुतार - उपनिषद्

आमुख

उपनिषद् वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं। वेदान्त का अर्थ हम इस प्रकार करते हैं - " हम पहले पूरे वेद का अध्ययन करते हैं। उसके ऊपर प्रत्येक सूक्त में दिये गये विषय वस्तु के ज्ञान को समझते हैं। एक-एक सूक्त में विषय वस्तु के एक-एक खण्ड को सूक्ष्मता से समझाया जाता है। उसके उपरान्त कई सूक्तों के विषय वस्तु के ज्ञान के खण्डों को मिलाकर एक इकाई में वर्णित एक विशेष ज्ञान की इकाई निर्मित हो जाती है। उस एक इकाई में गृहीत कई सूक्तों के ज्ञान की इकाई को एक सूत्र में बाँध कर समझने के लिए ऋषियों ने वेदान्त की रचना की। वेदान्त में वेदों का ज्ञान प्राप्त कर के अन्त में उन वेदों के अन्तः खण्डों में वर्णित विषय वस्तु की ज्ञान की इकाइयों को उपनिषद् ग्रन्थों में बाँध कर प्रस्तुत किया गया है। चारों वेदों के अन्तः खण्डों को उनसे सम्बन्धित उनके उपनिषदों में बाँटा हुआ है। कुछ उपनिषदों में एक से अधिक वेदों के अन्तः खण्डों को विषय वस्तु को लेकर ज्ञान की एक इकाई में बाँधा है। अतः उपनिषदों को समझना अत्यन्त कठिन विषय है। जब तक वेद के विभिन्न सूक्तों के विषय का पूर्ण ज्ञान न हो - तब तक उपनिषदों को समझना अत्यन्त दूभर हो जाता है। इसी कारण इन उपनिषदों की व्याख्या करते समय बहुत विख्यात प्राचीन विद्वान भी कहीं-कहीं लड़खड़ाते दृष्टिगोचर होते हैं तथा वे एक निश्चित अर्थ न करते हुए झूठ-उधर भटकते नजर आते हैं। वे उस सही दिशा के अर्थ को भी अपनी कल्पना शक्ति के सहारे कहीं-कहीं ले जाते हैं। इसी कारण उन अनेक विद्वानों की व्याख्याओं के द्वारा अनेकों मत प्रस्तुत होने से वेद के द्वारा बताया गया वह एक इकाई का 'सत्य-ज्ञान' एक निश्चित सही दिशा का ज्ञान होते हुए भी, उन के वाक्चातुर्य के द्वारा अनेकों दिशाओं में भ्रमित करा दिया जाता है। इस प्रकार इन उपनिषदों को समझना और अधिक दूभर बना दिया जाता है।

सभी उपनिषदों की प्राचीन टीकाओं में लगभग यही स्थिति है। किसी भी उन प्राचीन विद्वानों में से एक ने भी वेद के उन सूक्तों को लेकर इन उपनिषदों का समानान्तर अर्थ निकाल कर नहीं दिखाया जो उस विशेष उपनिषद् में तथा उसके सम्बन्धित वेद के सूक्तों में प्रकट होता है। ईशोपनिषद् तो पूर्ण रूप से यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को जैसे-जैसे प्रकट करता है। उसको छोड़कर शेष उपनिषदों में अलग-अलग वेदों, अलग-अलग सूक्तों से मन्त्रों को लेकर या उनके द्वारा ग्रथित ज्ञान को प्रकट करने के लिए नये मन्त्र रच कर एक एक विषय वस्तु की ज्ञान की पूर्ण इकाई को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु ऐसा करते समय भी उन उपनिषदों के प्रत्येक मन्त्र की विषय वस्तु का सम्बन्ध वेद के किसी-न-किसी मन्त्र से अवश्य बना हुआ है। जब तक वेद के उस मन्त्र के साथ उन उपनिषदों के मन्त्रों का तारतम्य सही ढंग से जड़ा जाये तब तक उस मन्त्र का या उस उपनिषद् का सही अर्थ नहीं बनता।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी यही सिद्धान्त है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ऋग्वेद के अन्तः खण्डों की व्याख्या करने वाला उपनिषद् है। इस में मूल रूप से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक सौ चौसठवें सूक्त - "विश्वेदेवाः - देवता" को लिया गया है। "अस्य वामस्य पलितस्य ----" - जो इसका प्रथम मन्त्र है, उसमें प्रयुक्त शब्द 'पलित' का अर्थ 'श्वेत' लिया गया है। अतः 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् का 'श्वेत' शब्द "विश्वेदेवाः देवता" की विषय वस्तु को बताने वाला है। इसी प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ही एक सौ बासठ तथा एक सौ तैरसठ सूक्तों में "अश्वः देवता" की विषय वस्तु को समझाया गया है। अतः "श्वेताश्वतर" उपनिषद् का 'अश्व' भाग ऋग्वेद के इन्हीं सूक्तों की विषय वस्तु को बतलाता है।

ये 'पलित' और 'अश्व' दोनों मिल कर जिस देवता को उद्दिष्ट करते हैं, उसे 'भग' देवता कहते हैं। 'भग' देवता हमें श्वेत और अश्व की मिश्रित रचनाओं के द्वारा 'पुरुष' के सामर्थ्य के सहयोग से ज्ञाना प्रकार की अर्थ सम्पदायें प्रदान करता है। अतः 'श्वेत' और 'अश्व' के बाद की होने वाली 'भग' देवता की रचनायें 'तर' शब्द से प्रकट होती हैं, ज्यों कि 'भग' देव की रचनायें उत्तरीतर पदों में होकर पदावत रचनायें कहलाती हैं। इस प्रकार 'श्वेत' शब्द में "विश्वेदेवाः देवता" का सूक्त, 'अश्व' में 'अश्वः देवता' का सूक्त, तथा 'तर' में 'भग' देवता तथा 'पुरुष' के सूक्तों की विषय वस्तु को एक इकाई में ग्रथित करने का

ब्रह्म ज्ञान की तथा 'मोग' की एक इकाई बन गई है उसी का नाम "श्वेत + अश्व + तर" = "श्वेताश्वतर" - उपनिषद् रखा गया है। इस उपनिषद् के ज्ञान के मती इसी उपनिषद् में 'कपिल' ऋषि बताये गये हैं। ये ही इस 'श्वेताश्वतर' ज्ञान के विद्वान् कहे गये हैं।

" यो योनिम् योनिमधि तिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः ।

ऋषिम् प्रसूतम् कपिलम् " यस्तमग्रे ज्ञाने बिभर्ति जायमानम् च पश्येत् ॥"

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से 'कपिल' ऋषि को सब से पहले इस ज्ञान से भरता हुआ बताया गया है। उसी ने सब से पहले इस ज्ञान को अपने जन्म के जीवन काल में उत्पन्न हो कर देखा। इसके अतिरिक्त छठे अध्याय में कहा है-
" तपः प्रभावाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।

अत्याश्रमिभ्यः परमम् पवित्रम् प्रोवाच सम्यगृक्सिंघ जुष्टम् ॥

(श्वेताश्वतर-उपनिषद् - 6, 21)

इस मन्त्र में भी कपिल ऋषि के शिष्य 'श्वेताश्वर' ऋषि को तप के प्रभाव से तथा परमात्मा देव की प्रसन्नता की कृपा के प्रसाद से निश्चय पूर्वक इस 'श्वेताश्वतर' ब्रह्म विद्या का विद्वान् बताया है। उसी 'कपिल' ऋषि से "श्वेताश्वतर ब्रह्म-विद्या का विद्वान् बन कर" 'श्वेताश्वतर' पदवी का नाम धारण करके इस 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् की ब्रह्म विद्या को, जो अत्यन्त पवित्र विद्या है, उस पवित्र विद्या को अपने आश्रम में आये हुए अतिविशिष्ट तथा सम्यक् रूप से जुड़े हुए ऋषियों के समूह को 'श्वेताश्वतर' विद्वान् ऋषि ने सुनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद् का नाम 'श्वेताश्वतर' तो इसकी विषय वस्तु के नाम पर इसको शीर्षक के रूप में पड़ा है तथा इस उपनिषद् का रचयिता 'कपिल' ऋषि हैं। यह वही कपिल ऋषि हैं जिसने "संख्य दर्शन" की रचना की। वही 'संख्य दर्शन' भी आज विशेष ज्ञान को प्रदान कर रहा है। एक ही ऋषि के ज्ञान की उपज यह 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् और 'संख्य दर्शन' होने के कारण इन दोनों ग्रन्थों में ज्ञान की एक विशेष समानता है। "पञ्चाविंशति तत्त्व समास" - जो संख्य दर्शन का निचोड़ बताया जाता है, उससे सभी सूत्रों के विषयों को इस उपनिषद् में ज्यों का त्यों लिया गया है।

इस प्रकार इस उपनिषद् में ऋग्वेद के "विश्वदेवाः देवता" का सूक्त, "अग्नि देवता" के सूक्त, 'महादेवता तथा पुरुष' के सूक्तों का ज्ञान तथा संख्य का 'मोग' -

दर्शन' का शास्त्र विषय वस्तु की रूप रूपाई बना है। इन सब के ज्ञान को एक सूत्र में बाँध कर ज्ञान की रूप रूपाई का रूप बना कर कपिल ऋषि ने इस उपनिषद् को इस रूप में विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

ऋग्वेद के "विश्वेदेवाः देवता" के सूक्त में सभी देवों का वर्णन है। "द्यौतनादेवाः" के अनुसार इस सृष्टि के स्वरूपों को द्यौतन करने वाले अवयवों को देव कहते हैं। सृष्टि के स्वरूप को दो प्रकार की रचनाओं द्यौतित करती है - शुक्ल तथा कृष्ण। इनमें प्रथम प्रकार की शुक्ल-द्यौः की रचनाओं हैं जो सभी पञ्च-आवर्तों में समाहित हैं। इस द्यौः में क्षीर की रचना हो कर क्षीर सागर बनता है। यह अक्षर सत् के क्षर असत् में बदलने पर ऋत की प्रथम रचना है। इस रूप क्षीर के केन्द्र में विष्णु विराज मान हैं। क्षीर सागर, ब्रह्मनाग, विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी, सरस्वती का यह सारा स्वरूप पुराणों में स्पष्ट रूप से वर्णित है। ऋग्वेद के "विश्वेदेवाः देवता" के सूक्त के मन्त्र-१ में भी क्षीर सागर के क्षीरों के पदावत रचना में अपने शीर्षों से पान करने का अर्णवों के बने अर्णवोदक द्वारा बताया है। अर्थात् अर्णव समुद्र के अर्णवोदक में अर्णु अपने पदों की रचना में - रचना के शीर्षों से इन क्षीरों को पीते हैं तब अपना अर्णवोदक का रूप चारण करते हैं। तब अर्णव समुद्र बनता है। अर्थात् पहले द्यौः में क्षीर सागर बनता है, फिर क्षीरों से अर्णु बन कर अर्णव समुद्र बनता है। तब अर्णव समुद्र में पाँच प्रकार के भँवर बन कर उन पाँचों प्रकार के भँवरों का रूप बड़े भँवर के चक्र में ग्राह्य हो कर एक पञ्चावर्त की रचना होती है। उसके बाद उस पञ्चावर्त के ऊपर सात लोको की रचना हो कर स्थूल कृष्ण सृष्टि की रचना होती है। स्थूल सृष्टि में पञ्च महाभूतों पृथिवी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश की रचनाओं हैं। इन पञ्च महाभूतों के विषय में इस पुस्तक में बताया जायेगा। क्षीर के विषय में बताने वाला मन्त्र है -

इह ब्रवीतु ग ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वैः ।

शीर्षाः क्षीरं दुहते गावो अस्य वज्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ (ऋग्वेद-१, १६४, ७)

अक्षर से क्षर रूप बनने के समुद्रों का वर्णन निम्न मन्त्र में है -

तस्या समुद्रा अधिविहारीणा तेन जीवन्ति प्रविशश्चतस्रः ।

ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वम् उपजीवति ॥ (ऋग्वेद-१, १६४, ४२)

ये समुद्र द्यौः रचना में - क्षीर सागर, अर्णव समुद्र तथा भूतरचना में भवसागर हैं। भवसागर की

भूत रचना में सात देवलोकों के तथा सात पताल लोकों की रचनाओं बनती हैं। इन चौदह लोकों में भूत रचना के चौदह भुवन बनते हैं। द्यौः लोक में पुरुष की रचना होती है तथा भूत रचना में अष्टधा प्रकृति की रचना होती है। प्रत्येक ऋषि विद्वान भव सागर में अपना जीवन सुरव पूर्वक बिता कर अन्त में इस भवसागर के

भँवर चक्र से अपनी आत्मा को मुक्त करने की इच्छा रखता है। वह चाहता है कि उसकी आत्मा इस भवसागर के भँवर चक्र से निकल कर द्यौं में स्थापित स्वर्ग को प्राप्त हो। इसके लिए उसे इस सृष्टि की रचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो, जिस से वह अपनी आत्मा को द्यौं में स्वर्ग में स्थापित करके सद्ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर सके। वह अपना जीवन इस संसार में सुख पूर्वक बिता सके। सृष्टि रचना के भौतिक ज्ञान के

आधार पर वह शरीर को भौतिक सुख प्रदान करता हुआ पूरी आयु अपने शरीर को स्वस्थ रख सके तथा वह अपना पूरा जीवन इस प्रकार बिताये कि अन्त समय में जब उसकी आत्मा इस शरीर को छोड़ कर इस शरीर से बाहर निकले तो वह भवसागर से तर जाये और पुनः इस भवसागर के भँवर चक्र में न फँसे। भवसागर का भँवर चक्र भूत रचना का

“भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्” इन सात लोकों का बना भँवर चक्र है जो इस ग्रन्थ में आगे समझाया जायेगा। पञ्चमहाभूतों के भौतिक पदार्थों की रचना इन्हीं के द्वारा होती है। स्पष्ट है शरीर की रचना भी इन्हीं पञ्चमहाभूतों से होती है। पञ्चमहाभूतों के पदार्थ की रचना की इकाई अणु (Atom) है। अतः उस अणु की रचना का सूक्ष्म विज्ञान इस उपनिषद् में विद्यमान है। पञ्च महाभूत आधुनिक विज्ञान में—पृथिवी—Solid, जल—Liquid, वायु—गैस, अग्नि—Nucleons and ions = आकाश = spacious form of matter हैं। दूसरे इन पञ्चमहाभूतों की रचना के पदार्थ का आधार द्यौं लोक

की रचना है। द्यौं लोक के परम व्योम में अक्षर सत् से क्षरित हो कर बना क्षर असत् विद्यमान है। उस में प्रथम रचना का सत्-असत् का बगने का चक्र चलता है। सत् से सृष्टि रचने की इच्छा का काम जागृत हो कर असत् बन जाता है और असत् में काम के दग्ध होकर विलय होने से पुनः असत् क्षर से अक्षर सत् बन जाता है। यह अवस्था द्यौं लोक में अन्य देवों की रचना होने से पूर्व की रचना है। ऋग्वेद में इसे—“देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदा जायत” (ऋग्वेद-1, 72, 2) कह कर बताया है। इस सत् असत् के अक्षर-क्षर के

चक्र से ऋत का बना क्षीर सागर उदित होता है। क्षीर सागर के स्फुट क्षीर की रचना हो कर उस क्षीर के केन्द्र में विष्णु का अवतरण होता है। अतः ‘क्षीर’ की इकाई ‘ऋत’ का बना ब्रह्म का स्फुट अत्यन्त सूक्ष्म अणु है। व्यष्टि रूप में बना यह प्रथम ब्रह्माण्ड है। इसी को सत्य लोक व्यष्टि रूप में कहा जाता है। सत् ब्रह्म जो पहले अक्षर रूप में स्फुट था अब क्षर रूप में इन ‘क्षीर’ की इकाइयों में बँट कर बहुत से रूपों में हो गया। इसे ही ऋग्वेद में, “स्वोऽहम् बहुस्याम्” कह कर बताया है।

इस 'क्षीर' को और क्षीर सागर की रचना के बाद द्यौ में ही इन क्षीरों की गति के आवर्तों से स्रज जैसे आवर्त 'अणु' की रचना होती है। स्रज क्षीर में केन्द्र में स्रज बिन्दु पर पराशक्ति का 'प्राङ्' बिन्दु (point of very high intensity) विष्णु के रूप में स्थापित हो जाता है। जब अक्षर सत् में धारण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो स्रज अण्डाकार सीमित परिमिति के आयाम के व्योम में स्थित क्षीरित ऋत को स्रज केन्द्र बिन्दु पर ला कर अच्युत स्थिर अवात अवस्था (जिस अवस्था में कम्पन की गति भी न हो - वह अवात अवस्था कहलाती है) में स्थिर कर दिया जाता है। ऋग्वेद में इसे, "आनीदवातं स्वधया तदैकम्" - (ऋग्वेद-10, 129, 2)

कह कर बताया है। इस प्रकार उस अण्डाकार आयाम में केन्द्र बिन्दु पर 'प्राङ्' (point of very high intensity) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है तथा उसी अण्डाकार आयाम में उसके बाह्य पृष्ठ तल के क्षेत्र में ऋत के विरल होने के कारण (Field of low intensity) 'अपाङ्' की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्राङ् अपाङ् के स्रज द्विभाई में बने अण्डाकार ऋत के आयाम को ही स्रज 'क्षीर' का नाम दिया जाता है। इस में प्राङ् का बिन्दु विष्णु पराशक्ति से युक्त कहा जाता है तथा उसके अच्युत बिन्दु के क्षेत्र को पर-क्षेत्र तथा वैकुण्ठ कहा जाता है। इसी प्रकार 'अपाङ्' का क्षेत्र 'अपरा' शक्ति से युक्त माना जाता है तथा उसके गतिमान क्षेत्र को अवर क्षेत्र तथा शेष भाग कहा जाता है।

इसी स्रज क्षीर में केन्द्र में जो विष्णु स्थित है, वह असत् की धारण होने पर बहुरूप होने की प्रथम रचना है। इस रचना का साक्षी केवल निर्गुण सद्ब्रह्म ही इस उपनिषद् में कहा गया है। उस विष्णु का सद्ब्रह्म से प्रथम अवतरण होने के कारण उस का नाम भी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से वेद में दिया गया है। नाम तभी दिया जाता है जब सत्य रूप में किसी रचना के रूप की परिमित सत्ता स्थापित हो जाती है। "नाम रूपे सत्यम्" - (सतपथ ब्राह्मण-14, 4, 4, 3)। इस प्राङ् के 'अ' के रूप की सत्य रूप में सत्ता इस को अपाङ् का स्वरूप परिमित आयाम के क्षेत्र में बाँध कर प्रदान कर देता है। प्राङ् और अपाङ् दोनों के सत्य रूप में स्थापित हो कर बनने वाले इस प्रथम स्वरूप को ही सत्यलोक का नाम दिया जाता है। इस प्राङ् की रचना तभी होती है जब इसकी पराशक्ति को जन्म देने वाली ऋत की स्वध्या चल कर अपाङ् क्षेत्र से प्राङ् के क्षेत्र में आ जाती है। अतः अपाङ् के अवर क्षेत्र को अपरा शक्ति इस रूप को जन्म देने वाली उत्पादक शक्ति बन जाती है। यही इस प्राङ् पर स्थित विष्णु की उत्पादक शक्ति

बनती है। अतः यही विष्णु की वामभाग में आयी उसकी वधू बनती है जिसके साथ वह पर-अवर का मिथुन बनाता हुआ अन्ग लोको की पदावत रचना करता चला जाता है तथा उसी से अर्ध के पिण्ड (Mass particle) की रचना हो जाती है। अर्धपिण्ड को ऋग्वेद में 'गौ' कहा जाता है। यह प्रसव प्रक्रिया इस प्रकार ऋग्वेद में बताई है -

अवः परैण पर सनावरेण पदा वत्सं विभ्रति गौरुदस्धात् ।

साक द्रीची कं स्विदच्छे पराडगात् क्व स्वित् सूतेन हि यूथे अन्तः ॥ (ऋग्वेद १-१६५-१७)

अर्थ है - 'अवर' से निम्नली 'पर' के द्वारा महापराशक्ति इसी विधा के द्वारा बने आवरण के पद के द्वारा अपने वत्स 'क' कण को धारण करती हुई अर्ध पिण्ड के रूप में ऊपर उठती हुई 'गौ' नाम, रूप धारण करती है। 'क' कण को जन्म देने के लिए वह 'गौ' कहाँ किस नाम और रूप में जाती है? वह अर्ध गोल में पराशक्ति के क्षेत्र में गति करने वाले ($\frac{1}{2} spin$) 'क' नाम के 'कण' के रूप को प्राप्त करने के लिए गई है। वह अपने निज के प्रसव करने के लिए तथा अपने पुत्र को जन्म देने के लिए गई है। वह अपने वत्स को अपने गोष्ठ (orb) में नहीं रखती अपितु अपने से अगले गोष्ठ (orb) के अन्दर स्थापित करती है।

इस मन्त्र में 'कं स्विदच्छे पराडगात्' में 'कं' का अर्थ - 'क' कण के अर्धपिण्ड को '—' करने में कोई भ्रम उत्पन्न न हो, इसी कारण इससे अगले मन्त्र में इस अर्ध को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है। मन्त्र है -

अवः परैण पितरं प्रो अस्थानुवैद पर सनावरेण ।

कवीयमानः क इह प्रवोचद् देवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥

अर्थ है - अवर क्षेत्र से निम्नल कर ऋतु का पितृ स्वरूप जो पर का रूप धारण करता है, उस 'पर' के द्वारा तथा इस के ऊपर इस पर-अवर के आवरण के द्वारा जो प्रथम रचना 'अ' का स्वरूप सूक्ष्म रूप से बदल कर बाद में स्थूल रूप बनता है, क्रान्त दृष्टा कीव बुद्धिमान लोग इस देव को 'क' नाम से बोलते हैं। 'मन' इस 'क' नाम के देव को ही जड़ रूप में आधार बना कर उत्पन्न होता है। अर्थात् मन जिस शरीर में आधार रूप में वास करता है, जड़ शरीर इस 'क' कण का ही स्थूल शरीर है।

इस प्रकार 'अ' (विष्णु) प्राड् रूप में स्थित हो कर अपने वाम भाग में आयी वधू अंपाड् की अपराशक्ति के साथ मिल कर इस सृष्टि का सृजन करता है। इस वाम भाग में आयी वधू के उत्पादक स्वरूप को ही

ऋग्वेद में - 'अग्नः' देवता का नाम और रूप दिया है। इस 'अग्नः' देव से सुकर उस अग्निकी नी-
ही - 'विश्वेदेवः' देवता - के सूक्त (1-164) के प्रथम मन्त्र में - "अस्य वामस्य -" कहा गया है।
यहाँ ब्रह्म प्रश्न उठता है कि 'विष्णु' शब्द तो स्त्री लिंग है, परन्तु "अस्य वामस्य -" में
पुल्लिंग है। अतः "वामस्य" का अर्थ वाम भाग में आग्री वधू का नहीं हो सकता। इसका उच्चार
ऋग्वेद में उसी सूक्त में सौलहवे मन्त्र में मन्त्रदृष्टा ऋषि ने स्वयं ने मन्त्र रचना करके दिया है -

स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आदूः पश्यदक्ष णवाप्नुविचेतदन्धः ।

कीर्त्यः पुत्रः स ईमचिक्वेत मस्ता विजानात्स पितृपितासत् ॥ (ऋग्वेद-1-164-16)
अर्थ है - स्त्रियों होते हुए भी रुद्र की मेरी देव रचना को गहन रूप में ज्ञान द्वारा देखने
वाले इस अक्षी से युक्त को पुल्लिंग का 'पुरुष' कहते हैं। जा क्रान्तदृष्टा कवि या
शिष्य या पुत्र है और इसको जानता है, वह पुत्र होते हुए भी ज्ञान के अन्दर पिता का भी पिता है।

'रुद्र' शब्द रुद्र धातु से बना है। रुद्र रोधने तथा रुद्र छिपे, इन दोनों
अर्थों में प्रयुक्त होती है। दोनों अर्थों को रख ही रचना में प्रकट करने के कारण ऋत
की रख पिण्डी के रूप को 'रुद्र' कहा जाता है। रुद्र में से च् को द बन जाता
है और 'रुद्र' = 'रुद्र' शब्द बन जाता है। 'सत्' का स्वरूप चारों ओर से रख बिन्दु पर
अपनी स्वधा सहित अवात् अवस्था में लाया जा कर जब उस 'सत्' का ही 'पर'
रूप बना कर रख देव के रूप में 'सत्' की रख पिण्डी बन जाती है तो उसी
आदिदेव को 'रुद्र' कहा जाता है। ऋत में भी इसी प्रकार रख 'सञ्च' बन कर ऋत
की पिण्डी बनती है, वह भी 'रुद्र' - ईशान का रूप है। उस ऋत की पिण्डी में निरन्तर
ऋत के अन्दर आकर रोधित होने से जब ऋत की मात्रा पिण्डी की परिमिति की मात्रा
से अधिक होने लगती है तो उसमें तीन ओरों के रूप में तीन रुद्र बन जाते हैं और
उन से ऋत की धारा फूट कर बह कर निबलने लग जाती है। इस वेग से बहने वाली
बल युक्त ऋत की धारा को ही उस 'ईशान' रुद्र की 'ईशानी' कहा जाता है। इन
'ईशानी' ऋत की धाराओं के जाल से ही जालबान बन कर रुद्र इस सृष्टि को शासित
करने वाले महेश बनते हैं और इन ऋत की धाराओं में ही अनेकों प्रकार के संकल्प
उदित करके इस विविध वर्णों वाली सृष्टि की मात्रा का सृजन करते हैं। अन्त में
इन उदित संकल्पों को उन्ही ईशानी ऋत की धाराओं में विलीन कर के इस सृष्टि का
विसर्जन भी करते हैं। अतः रुद्र देव सृजन तथा संहार दोनों कार्य करते हैं।

ऋत की पिण्डी के अथवा रख क्षीर की सत् की पिण्डी के केन्द्र में आत सधन
गहन रूप का 'पर' रूप का बिन्दु बन जाता है। रुद्र की इस पिण्डी के केन्द्र में बने
उस आत सधन 'पर' रूप को 'विष्णु' कहा जाता है। विष्णु को महेश के अन्दर स्थित
"ईश संस्थः" कहा जाता है। रुद्र की पिण्डी के केन्द्र में बना लोच विष्णु का 'बैकुण्ठ'
लोच कहलाता है। पूरे 'क्षीर' का लोच सत्य लोच कहलाता है। सत्य लोच के केन्द्र में
बैकुण्ठ लोच होता है और बैकुण्ठ लोच के केन्द्र में अच्युत रूप में विष्णु होता है।

रुद्र का 'पर' रूप प्राङ् तथा तथा अवर रूप अपाङ् कहलाता है। रुद्र की ईशानी ऋत की
धारा में रख रूप को काड़ती हुई अनेक रूपों में बनाती है, काड़ कर उनमें नुदन का लम्पन
करती हुई नाद उत्पन्न करके रुलाती भी है। इस कारण भी वह भगवद् रुद्र कहलाता है।

रुद्र के वाम भाग में आर्द्र वामावर्त में चक्कर लगाती हुई वधू 'उमा' या 'पार्वती' है तथा विष्णु
देव के वाम भाग में आर्द्र वामावर्त में चक्कर लगाती हुई वधू 'लक्ष्मी' या 'सरस्वती' है। विष्णु

'सत्यलोक' की रचना करता है। इस सत्य लोक में अपाङ् से प्राङ् तथा प्राङ् से अपाङ् में चलने का जो एक चक्र विष्णु के पैरों में बनता है वह अपरा शक्ति के क्षेत्र में रचना का अपना प्रथम लक्ष्म (चिन्ह) प्रकट करता है। अतः उस अपरा शक्ति के अवर क्षेत्र में बने इस ऋत के चक्र को ही 'लक्ष्मी' कहा जाता है। लक्ष्मी की माया का हिरण्यमय आवरण उस सत्य लोक को धारण करने वाले सत्यधर्मी विष्णु को ढक लेता है। इसी को यजुर्वेद के इस मन्त्र में इस प्रकार कहा है -

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम् ।

तत् त्वम् पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

अर्थात् इसी लक्ष्मी के गतिशील ऋत के चक्र के बने हिरण्यमय पात्र से उस सत्य लोक के वासी सत्य स्वरूप विष्णु का मुख ढका हुआ है। है सृष्टि की रचना का पोषण करने वाली शक्ति 'पूषन्' तुम उस आवरण को उस सत्यधर्म के लिए दैरवने के लिए हटा दो। अर्थात् सत्य लोक के ऊपर बने लक्ष्मी के आवरण को हटा कर ही ज्ञान द्वारा उस प्राङ् सत्य रूप 'विष्णु' भगवान् के सत्यलोक के वासी के दर्शन हो सकते हैं।

रचना को इकाई के चिन्ह को प्राप्त करने वाली तो लक्ष्मी हो गई, परन्तु यदि यह अपने एक ही स्वरूप के लक्षण को प्राप्त करके स्थिर हो जाती है तो आगे की बहुरूप सृष्टि का सृजन सम्भव नहीं होता। अतः विष्णु अपने इस सृजन के लक्षण के स्वरूप को आगे चलने के लिए ऋतम् के रूप में सरस गति प्रदान करता है। इस से एक क्षीर के विप्र का सम्बन्ध दूसरे क्षीर के विप्र से बन कर आगे की सृष्टि की रचना का ताना बनता है। इस ताने में क्षीरों में तन्तु निर्माण की रचना में व्यपन्न गति उत्पन्न हो कर जाद उत्पन्न होता है। एक क्षीर की रचना सप्तपरावृत (seven hypercircle) से होती है। सप्तपरावृत एक बहुआयामीय ज्यामिति (multidimensional geometry) की रचना है। वैदिक ऋषि इस बहुआयामीय ज्यामिति के गणित को बहुत अच्छी तरह जानते थे। इसी कारण वेद के मन्त्रों में बतर्हि बतर्हि सभी रचनायें उस बहुआयामीय ज्यामिति के सिद्धान्तों तथा सूत्रों पर पूरी उतरती हैं। बहुआयामीय ज्यामिति के गणित का विकास आधुनिक विज्ञान के गणित का भी अभी तक उसकी प्रारम्भिक अवस्था तक ही कर पाये हैं। वे अभी इसके अनुसन्धान के कार्य

में लगे हुए हैं। इस वैदिक विज्ञान में प्रयुक्त सप्त परावृत्तों और अष्ट परावृत्तों का गणिता का ज्ञान इस उपनिषद् में उचित स्थान पर मन्त्रों में ज्ञात है। इन सप्त परावृत्तों के अन्दर सरस गति से प्रवृत्त स्वरूप को सरस्वती कहा जाता है। सरस गति प्रवृत्ता स्वरूप या सा सरस्वती। सप्त परावृत्तों के केन्द्रों से निम्नले त्रिज्याओं के सप्त तन्तुओं उस पूरे सप्त परावृत्त के केन्द्र पर तनते हुए मिलते हैं, वे सरस्वती की सात तारों वाली वीणा का स्वरूप प्रकट करते हैं। उन्हीं सात तन्तुओं से सरस्वती के गायन के सामवेद के सात स्वर जाद के रूप में निकलते हैं। इन्हीं तन्तुओं से सब क्षीर का सम्बन्ध दूसरे क्षीर से बनता हुआ चला जाता है तथा उस पुरीष विष्णु से अश्व का उदय हो जाता है। इस प्रकार सारे क्षीर सागर में अश्वों का संचार हो कर सारे क्षीर उस विष्णु के नियन्त्रण शक्ति में आ जाते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सब सौ तैत्तिरीय सूक्त 'अश्वोदैवता' के प्रथम मन्त्र में अश्व का उदय इस प्रकार बताया है-

यदब्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् समुद्रादुतवा पुरीषात् ।

द्वयेनस्य पक्षा हिरणस्य बाहू उपस्तुत्यं महीजातं ते अर्वन् ॥

अर्थ है-

(ऋग्वेद - 1, 163, 1)

सब से प्रथम पुरीष विष्णु से या क्षीर सागर से उत्पन्न हो कर ब्रन्दन करता हुआ जो अश्व उदित हुआ उसने बाज के जैसे तीव्र गति से ले जाने वाले शक्ति के पंख हैं तथा उस शक्ति को चाल की विधा प्रदान करने वाले हिरण के से बाहू हैं। अर्थात् वह अश्व बाज की तरह व्योम में बड़ी तीव्र गति से चलता है, परन्तु उसके चलने की विधा हिरण की तरह कुलों के मर कर झटके के साथ चलने की है। यह व्योम (space) के अन्दर तरंगों (waves) की गति है। अतः वैदिक विज्ञान का अश्व सब पशु छोड़ा नहीं है। यह व्योम में चलने वाली श्रुति की क्षीरों की तरंग (Radio waves) है। अज्ञानी लोग इस अश्व को पशु छोड़ा समझ कर उस की बिल आश्रयों में प्रवेश करते हैं। ऐसा करना महापाप है तथा अनिष्टकारक है। अश्व मेघ पक्ष में दौ की इन तरंगों की मेघ कर प्रकृति की प्राणिमों के अनुकूल या होता के अनुकूल बनाने का विधान है।

इस प्रकार सरस्वती के वीणा वादन के नाद से पुरीष विष्णु अपने द्वारा उदित विद्ये गये उन अश्वों के द्वारा सारे क्षीर सागर को निर्गन्धित करता है।

इस सप्त परावृत के क्षीरों से अष्टापरावृत बनते हैं। अष्टापरावृत के लिए सप्त क्षीरों के अन्दर एक और क्षीर प्रवेश करके अष्टापरावृत बनाता है।

सप्त क्षीरों के सप्तपरावृत का माप गणित की गणनाओं के अनुसार सर्वाधिक होता है। 'सप्तपरावृत' से कम के 'षड्परावृत' का तथा सप्तपरावृत से अधिक 'अष्टापरावृत' का दोनों का माप सप्तपरावृत से कम होता है।

षड्-परावृत का माप (Measurement of the six hypercircle) $= 7^3$ होता है। सप्तपरावृत का माप (Measurement of the seven hypercircle) $= \frac{16}{15} 7^3$ होता है, और अष्टापरावृत का माप (Measurement of the eight hypercircle) $= \frac{1}{3} 7^4$ होता है। इन में $\frac{16}{15} 7^3$ की संख्या सर्वाधिक है। अर्थात् $7^3 < \frac{16}{15} 7^3 > \frac{1}{3} 7^4$ है।

अतः जब ऋत के सप्तपरावृत से अष्टापरावृत बनता है तो उसका माप उसके आयाम में कुछ कम होता है, जिस से उस के अन्दर से कुछ ऋत बाहर आता है। पुनः उस अष्टापरावृत का माप कम होने के कारण उस में से एक क्षीर निकल कर भागता है और वह अष्टापरावृत पुनः सप्तपरावृत बनता हुआ अपने माप को बढ़ाता हुआ ऋत को चूसता है। इस प्रकार सप्तपरावृत की वृत्ति ऋत को चूसने की बन जाती है तथा अष्टापरावृत की वृत्ति एक क्षीर को बाहर फेंक कर ऋत को उगलने की बन जाती है। इस प्रकार यह सप्तपरावृत और अष्टापरावृत का क्षीरों का एक युग्म साध साध जुड़ जाता है।

इस प्रकार - सप्तपरावृत - अष्टापरावृत - सप्तपरावृत - अष्टापरावृत - ... इसी प्रकार चलते हुए चौतीस बन्धों का एक तन्तु बन जाता है। इस में प्रारम्भ का सप्तपरावृत 'पुरीष' कहलाता है तथा अन्तिम अष्टापरावृत 'त्रित' कहलाता है। त्रित के अन्दर अति-अतिष्ठत् रूप में दो अष्टापरावृत तथा एक सप्तपरावृत एक ही बिन्दु पर एकत्रित हो जाते हैं तथा महिजात रूप सद्यनता का प्राप्त कर लेते हैं। इसी को आधुनिक विज्ञान में तरंग की गति का point of high amplitude कहा जाता है। यही चौतीस देव बन्धों से बना एक अश्व है। इन चौतीस परावृतों की पोरियों को अलग अलग बड़-झी कहा जाता है। यही चौतीस देवबन्धों का बना एक तन्तु रुद्र की 'ईशाजी' का रूप कहलाता है। इस चौतीस देवबन्धों के बने अश्व के स्वरूप में कहीं भी कोई ऐसा छिद्र नहीं होता जहाँ से इनके अन्दर चलने वाला ऋत का प्रवाह इस में से निकल कर बाहर चला जाये तथा उस अश्व की तरंग की गति किन्तु-मिन्न हो जाये। इसी कारण Radio wave पूरे ब्रह्माण्ड में गति कर जाती है। इसी कारण

अश्व की गति सातों लोको में मानी जाती है। सातों लोकों में जा कर यह अश्वही
ऋतु के प्रवाह को माना प्रकार की गतिओं के कर सातों लोकों में उनके सम्बन्धित
देवों की रचना करता हुआ सात नामों को चारण करता है। इन भावों को
प्रकट करने वाले ऋग्वेद के मन्त्र हैं—

चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धोर्वङ्गो रश्वस्य स्वधिति समैति।

अचिद्ध्रा गात्रा वयुना कृणोत परुषसनुद्युव्या विशास्त ॥ (ऋग्वेद-1, 162, 18)

सप्ता युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेवो अश्वो वहीत सप्त नामा ।

त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वम् यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 2)

इस प्रकार इस अश्व द्वारा सारे भुवनों की जो रचना 'अश्वतर' की
रचना कहलाती है उसका इस उपनिषद् में विषय वस्तु के रूप में वर्णन है।

सारव्य दर्शन के सारव्य भोग का भी इसमें समावेश है। पञ्चविंशति
तत्त्व समास के बहिस सूत्रों का इसमें समाभोजन किया हुआ है। ये बहिस सूत्र हैं—

(1) अथातस्तत्त्व समासः ।

(2) अष्टौ प्रकृतयः ।

(3) षोडशकस्तु विष्कारः ।

(4) पुरुषः ।

(5) त्रैगुण्यम् ।

(6) सञ्चरः प्रतिसञ्चरः ।

(7) अध्यात्ममधिभूतमधिदैवम् ।

(8) पञ्चाभि बुद्धयः ।

(9) पञ्चकर्म त्रैमयः ।

(10) पञ्चवायवः ।

(11) पञ्चकर्म आत्मानः ।

(12) पञ्चपर्वा विद्या । (आविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश - ये पञ्चकर्म आविद्या के पञ्चपर्व हैं)
ज्यों कि आविद्या ही अन्य चारों की प्रसव भूमि है। (पाराशर्य योगदर्शन (2, 3))

(13) अष्टाविंशति च्छाऽश्विन्ति । $= \frac{8 \times 7}{2 \times 1} = 28$ (पृष्ठ 89 पर व्याख्या देखें) ^(1, 4)

(14) नवधा तुष्टिः ।

(15) अष्टधा सिद्धिः ।

(16) दशमौ शिखार्थाः ।

(17) अनुग्रहः सर्गः ।

- (18) चतुर्दशधा भूत रसः ।
 (19) त्रिविधो बन्धः ।
 (20) त्रिविधो मोक्षः ।
 (21) त्रिविधम् प्रमाणम् ।
 (22) सतत् सम्यक् ज्ञात्वा कृत कृत्यः स्यात् न पुनस्त्रिविधेनाऽनुभूयते ।

इन सूत्रों की व्याख्या इस उपनिषद् में आये मन्त्रों के साथ उचित स्थान पर आगे की जायेगी । (पृष्ठ 137 पर तथा उससे आगे देखें)।

यहाँ हम ने पदार्थ रचना में पदार्थ की रचना की रूप इकाई अणु (Atom) की रचना के ज्ञान का इस उपनिषद् के ज्ञान में समाहित होना कहा है । उस में दो प्रकार की रचना - द्यौ की रचना तथा भूत रचना बताई है । द्यौ की रचना में क्षीर की रचना बता कर क्षीर सागर की रचना बताई है । क्षीरसागर की रचना के बाद द्यौ में अण्व समुद्र की रचना होती है । क्षीर सागर में जैसे रूप क्षीर की रचना होती है, अण्व समुद्र में वैसे ही रूप अणु की रचना होती है । सत्य लोक के ऊपर ऋत का तपः लोक और जनः लोक के दो और नये आवरण चढ़ते हैं । उस के पश्चात् रात्रि की विलय प्रक्रिया द्वारा इस रचना को परिमित कर दिया जाता है । इस प्रकार इन तीन ब्रह्म लोकों "सत्यं, तपः, जनः" की बनी रूप स्वतन्त्र इकाई को 'अणु' का नाम दे दिया जाता है । इन्हीं अणुओं से मिलकर अण्व समुद्र बन जाता है । अण्व समुद्र की रचना का मन्त्र है -

ऋतं च सत्याज्यामीहृदात्तपसोऽध्यजायत ।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अण्वः ॥

अर्थ है - पहले ऋत बना, फिर चारों ओर से रूप स्थान पर ऋत के इकट्ठे हुए सत्य से सत्य लोक बना । ऋत और सत्य लोक को आधार बना कर उसके ऊपर तपस् का तपः लोक पैदा हुआ । उस के पश्चात् रात्रि उत्पन्न हो कर इस संकल्प के विलय की रचना से सीमान्ता प्रदेश में अवर क्षेत्र का जनः लोक उत्पन्न हो कर इसे रूप सीमा में बाँध दिया गया । इस रचना की इकाई का नाम 'अणु' रखा गया और इस प्रकार के अणुओं से अण्व समुद्र उत्पन्न हो गया । [चान रहे यह अणु नहीं हैं, अणु हैं]।

जहाँ भी रात्रि की संकल्प को विलय करने की प्रक्रिया होगी,

वहाँ अवर क्षेत्र अवश्य उत्पन्न होगा । इस अवर क्षेत्र से ही किसी रचना की रूप इकाई को उसकी परिमित में बाँधा जाता है । अतः इस मन्त्र में रात्रि के उत्पन्न होने में ही जनः लोक की उत्पत्ति समाहित है । इस प्रकार सत्यं, तपः, जनः लोकों की ब्रह्म की त्रिलोकी रचना से अणु की रचना हो जाती है ।

ऋग्वेद के विश्वेदेवा-देवता सूक्त के प्रथम मन्त्र 'अस्य वामस्य पलितस्य--' में इसी को 'पलित' नाम से कहा है। जब यह तीन ब्रह्म लोकों की रचना की इकाई स्वतन्त्र रूप में रह कर व्योम में द्यौ में विचरण करती है तो यह अर्णव समुद्र की रूप इकाई की रचना 'अर्णु' है, परन्तु जब यही रचना अपने ऊपर रचना के और नये आवरण चढ़ा कर उसके गर्भ में अन्दर बन्द हो जाती है तो उस का नाम अणु की नाम के अन्दर बने तीन चक्रों में से प्रथम केन्द्रिय चक्र 'पलित' का नाम रख दिया जाता है। जैसे 'अर्णु' तथा 'पलित' रचना की दृष्टि से एक ही स्वरूप है। अन्तर केवल इतना है कि 'अर्णु' में रचना का सामर्थ्य कम होने के कारण उसके ऊपर नये लोकों के आवरण नहीं बन पाते, जिससे अर्णव समुद्र बन जाता है, परन्तु पलित में रचना का सामर्थ्य अधिक होता है, इस लिए वह अपने ऊपर रचना के सभी आवरण चढ़ा कर अणु की नाम की पूर्ण रचना कर देता है। अणु को पूर्ण नाम में पलित के ऊपर 'अश्न' तथा 'वृतपृष्ठ' के दो नये चक्रों के आवरण चढ़ते हैं। इसमें 'सत्यं, तपः, जनः' इन तीन ब्रह्म लोकों से बने 'पलित' में तो द्यौ की रचना का ही स्वरूप समीहित होता है। अतः इस में किसी भी प्रकार के भूत की कोई स्थूल रचना नहीं होती। [It is massless structure] ऋग्वेद में इसे 'अनस्थवन' कहा है। इसी कारण इसको ऋग्वेद में 'पलित' तथा 'श्वेताश्वतरौपीनिषद्' में 'श्वेत' कहा है। 'श्वेत' शब्द ब्रह्म का सूचक है और 'वृष्णा' शब्द समस्त भूत रचना का सूचक है। इसी कारण वेद में "वृष्णाम् नित्यानम्..." (ऋग्वेद-1, 164, 47) में पदार्थ रचना की पूर्ण इकाई अणु (Full atom) को "काला द्यौंसला" कहा है। अतः 'अश्न' और 'वृतपृष्ठ' दोनों 'अस्थवन' (Having mass) कहै गये हैं। मन्त्र है -

को ददर्श प्रथमं जायमानं अस्थवन्तं यद् अनस्थाविमर्ति ।

भूम्या असुर सृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रवृत्तमेतत् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 4)

ये तीन-प्रथम पलित, द्वितीय अश्न तथा तृतीय वृतपृष्ठ इस मन्त्र में बताने हैं।

अस्य वामस्य पलितस्य होतस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्थश्नः ।

तृतीयो भ्राता वृतपृष्ठो अस्थात्रापश्यं विशपतिं सप्तपुत्रम् ॥ [ऋग्वेद-1, 164, 1]

इस में 'अस्य' का 'अ' विष्णु है। 'वामस्य' में वागवर्त में ध्वज की हुई वाम भाग में आई विष्णु की उत्पादक शक्ति 'भगा' है जो भगवती लक्ष्मी और सरस्वती का रूप लेती है। इस विष्णु की रचना के यज्ञ के होता तीन भाई पलित, अश्न, वृतपृष्ठ हैं।

विष्णु द्वारा रचित सप्त लौक्य इस प्रजापति के सप्तपुत्र हैं। स्वर्ग की ओर में
 बने सप्त लौक्य में ऋत के सप्त परावृत्त भी इसलिये सप्तपुत्र कहलाते हैं। परन्तु
 ये सप्त परावृत्त इस के नामनाम के स्थित होने के कारण इस के पुत्र नहीं
 अपितु वधू के सप्तपदी के वरण के सात पदों के स्वरूप हैं। अतः
 सात लौक्य ही उस विष्णु के सप्त पुत्र हैं।

इस प्रकार इन सात लौक्यों का वर्गीकरण 'सत्यं, तपः, जनः' इन
 तीन ब्रह्म लौक्यों का तो पलित में हो गया। इन के ऊपर बने 'महः, स्वः, भुवः'
 इन तीन लौक्यों का समावेश अश्विन में होता है। सबसे ऊपर के 'भूः' लौक्य और
 इस के साथ लगे सप्त पाताल लौक्य 'महातल, सातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल'-
 का समावेश वृत्तपृष्ठ में आता है। इस प्रकार चौदह भुवनों के चौदह लौक्यों का विभाजन
 इन तीन चक्रों में पलित, अश्विन, वृत्तपृष्ठ में कर दिया जाता है।

स्वर्ग लौक्य के ऊपर जब भी दूसरे लौक्य का आवरण चढ़ता है तो वहाँ
 पर अन्दर के लौक्य के बाहर के पृष्ठतल पर स्थित तथा उससे ऊपर चढ़ने वाले
 आवरण के लौक्य के अन्दर के पृष्ठतल पर स्थित - दोनों तलों पर स्थित
 अष्टापरावृत्त ही ऋत के बनते हैं। दोनों और अष्टापरावृत्त बनने से उनमें से
 दोनों और से ऋत बाहर निकलता है जो उन दोनों लौक्यों के आवरण के बीच
 रखे अन्तरिक्ष - (Gap) बना देता है। इस प्रकार सात लौक्यों के बीच
 छः अन्तरिक्ष बन जाते हैं। जो इस प्रकार बनते हैं - [सत्यं ① तपः],
 [तपः ② जनः], [जनः ③ महः], [महः ④ स्वः], [स्वः ⑤ भुवः],
 [भुवः ⑥ भूः]। इस प्रकार ①, ②, ③, ④, ⑤, ⑥ के सात लौक्यों
 के मध्य छः अन्तरिक्ष बन जाते हैं। ऋग्वेद में इन्हें इस प्रकार बताया है -

अचीक त्वाजीञ्च कितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्वानेन विद्वान् ।

विद्यस्तस्तम्भं षोडश रजांस्यजस्य रूपे विमपि सिन्देवम् ॥

[ऋग्वेद-1, 164, 6]

इस मन्त्र में 'विद्यस्तस्तम्भं षड् दश रजांसि' कह कर 'रजांसि'
 शब्द द्वारा इन छः अन्तरिक्षों को बताया है। यह पहले ही बता चुके हैं कि
 इन छः और अन्तरिक्षों की रचना ऋत के बने अष्टापरावृत्तों के 'अष्टको' के
 द्वारा ही होती है। इस 'इवेताश्वतर' उपनिषद् में भी इसे 'षडभिरक्षैः
 विश्वरूपैः पाशम्' (1-4) में कह कर बताया है।

यहाँ 'पलित', 'अश्विन', 'वृत्तपृष्ठ' में मध्य के अश्विन में तीन
 लौक्य महः, स्वः, भुवः लौक्य आते हैं। महः लौक्य और प्रथम आद्या माग

अन्दर वाला स्वरूप; लौकिक का, ये पुरुष की रचना करते हैं। पुरुष की रचना में भी सारा स्वरूप सूक्ष्म रूप के अणुओं से बना होता है। पुरुष की रचना अणु समुद्र की रचना है। पुरुष के सभी अवस्था अणुओं के देव बन्धों से बने होते हैं। परन्तु इस पुरुष के अन्तिम दशांगुल अति-अतिष्ठत् शीर्ष पर अणुओं के प्रवाह द्वारा त्रित की रचना होकर मीहजातं अणु का स्वरूप बन कर रज्जु मीलित अर्थ की रचना हो जाती है। अतः अणुओं के सूक्ष्म रूप को मीलित अर्थ के स्थूल रूप में बदलने का पुरुष का विशेष कार्य है। इस कारण पुरुष की बड़ी महत्ता है। पुरुष ही रज्जु ऐसी ळड़ी है जो द्यौ रचना के सूक्ष्म अणु समुद्र को भूत रचना के भवसागर से जोड़ता है। प्रत्येक मीलित अर्थ में पुरुष से ही चेतना आती है। पुरुष से ही प्राणी की आत्मा का स्वरूप बनता है। "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"- [ईशोपनिषद् - 14]। इसका विस्तार से वर्णन इस ग्रन्थ में अन्दर होगा।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब पूर्व में यह सृष्टि रचना का आणविक विज्ञान इस प्रकार सूक्ष्म रूप से वर्णित हो कर ज्ञात था तो यह हमें सारा आज क्यों नहीं ज्ञात है? यह मध्यान्तर में लुप्त क्यों हो गया? क्यों हमें आज भी इस विश्व में पुनः परमाणु परीक्षण करने पड़ रहे हैं। आज के समय में जब आधुनिक विज्ञान इतना विकसित हो चुका है, तब इस पुराने ज्ञान की क्या आवश्यकता रह गई? हम क्यों व्यर्थ में इस ज्ञान के चक्कर में पड़े? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और आज के युग में प्रत्येक मनुष्य के मन में उठते हैं। इन का उत्तर देना सही विवेचना के साथ आवश्यक है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर तो यह बनता है कि यह आणविक विज्ञान सूक्ष्म रूप से प्राचीन ऋषियों को भारत में ज्ञात था। इसी के आधार पर वे उमोतिष की गणनाओं का तथा पाञ्चांग का सूक्ष्म विवेचन कर पाये जो आज भी उपलब्ध है। जिन सूक्ष्म गणनाओं का ज्ञान आज आधुनिक विज्ञान कम्प्यूटर के उपकरणों तथा अन्तरिक्ष यानों को सहायता से कर रहा है, वह ग्रहों की सूक्ष्म गति का ज्ञान पहले ही पाञ्चांग में बड़ी सूक्ष्मता के साथ बता रहा है। दूसरे जिन ग्रहों का प्रभाव तथा उन की विशेषतायें आज आधुनिक विज्ञान जानने का प्रयास कर रहा है, वह पहले ही कलित

ज्योतिष में बड़े अच्छे ढंग से बताया हुआ है। प्राणीवर्ग पर उनकी गति का पड़ा हुआ प्रभाव आज भी ज्योतिषी विश्व में बताते हैं और वे चटनगें लगभग सही उतरती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक विज्ञान अभी अपनी उच्च कोटि की विवर्धित अवस्था में था।

दूसरे हमें साहित्य में कुछ विशेष यज्ञों का वर्णन मिलता है जिनके द्वारा कुछ विशेष वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त किये गये और वे आज भी विश्व में उपस्थित हैं। आधुनिक विज्ञान आज भी उस स्तर के वैज्ञानिक परिणामों की प्राप्ति नहीं कर सका है। अतः आधुनिक विज्ञान को उस स्तर तक पहुँचने के लिए वैदिक विज्ञान आज भी पथ प्रदर्शित कर रहा है। उस पथ का ज्ञान प्राप्त करना आज भी उतना ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है, जो अभी पहले था और भविष्य में भी यह इतना ही महत्वपूर्ण रहेगा। विज्ञान का ज्ञान स्थायी और निरन्तर चलने वाला होता है। यदि विज्ञान का वह ज्ञान पूर्ण रूप से विशुद्ध है तो वह पूरे ब्रह्माण्ड में सभी स्थानों पर सभी कालों में सर्वदा वैसा ही रहेगा। अतः उस विशेष विशुद्ध विज्ञान का अध्ययन जो वेदों में तथा उपनिषदों में विशेष प्रकार से आज भी उपलब्ध है, मानव जीवन को सुखमय बनाने तथा उसे आगे के लिए सद्गति प्रदान करने के लिए पूरे विश्व में आज भी उतना ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है, जितना अभी पहले था।

आधुनिक विज्ञान को पहुँच भवसागर के भूतरचना विज्ञान तक भी अभी अधूरी है। उसे पूर्णता प्रदान करने के लिए उसके साथ वैदिक विज्ञान का मिलना अत्यावश्यक है, तभी वह पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। वैदिक विज्ञान आधुनिक विज्ञान का पथ प्रदर्शक बनने को आज भी क्षमता रखता है। जिस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक अज्ञान के अन्धकार में इधर-उधर हाथ पैर मारते हुए विभिन्न प्रकार के परीक्षण करते हुए ज्ञान का सही मार्ग ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं, उन्हें सही दिशा वेद का विज्ञान आज भी दिखाने में समर्थ है— यह इस पुस्तक के अध्ययन के उपरान्त बात ही जायेगी। अतः प्रत्येक विज्ञान विशेषज्ञ के लिए तो इस ग्रन्थ का अध्ययन और चिन्तन अपनी विशेष महत्ता रखता है, और सदैव रखता रहेगा।

जहाँ तक प्राचीन यज्ञों के परिणामों के साक्ष्य का वर्णन है तो प्रथम राक्षस जो विश्व विद्धि है वह भागीरथ द्वारा किया गया गंगा के अवतरण का यज्ञ है। गंगा नदी को देवगंगा कहा जाता है तथा यह बताया जाता है कि इस का जो वर्तमान में स्वरूप है, वह इसको भागीरथ ने अपने तप के यज्ञ द्वारा प्रदान किया। स्वर्ग से गंगा को रुद्र की जटाओं में उतार कर पृथिवी पर निवास करने वाले प्राणियों की सर्वाधिक हितकारी बनाया गया। गंगा के जल में वह गुण उत्पन्न किया गया जो विश्व में कहीं भी किसी भी नदी के जल में नहीं है। गंगा के शुद्ध जल को यदि किसी बीबी में भरकर स्वच्छता के साथ रखा जाये तो उस में कभी भी कोई कीड़ा उत्पन्न नहीं होता। वह गन्दगी को नहीं पकड़ता। वह सड़ता नहीं है। इस के साथ-साथ ही जो प्राणी उस जल को पीता है या उस जल में स्नान करता है, उसके शरीर के अन्दर के तथा शरीर पर बाहर स्थित विषाणु भी उसके शरीर से दूर हो कर उस को पुण्य का फल प्राप्त कराते हैं। इसके साथ ही इस जल को पीने वाले के शरीर को विविध प्रकार का पोषण भी प्राप्त होता है जिससे उस में सतोगुणी वृत्ति प्रधान हो कर उस व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास को सद्गति प्राप्त होती है।

शारीरिक विकास में वैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचन को हम स्पष्ट रूप से इस प्रकार देख सकते हैं। आधुनिक विज्ञान वैज्ञा सभी इस बात को जानते हैं कि वनस्पति कोशिका या प्राणी वर्ग की कोशिका (Biological cell or animal cell) की संरचना में प्रोटीन के अन्दर sugar के बने Nucleo-Tide का विशेष महत्त्व है। उसी से शरीर की संरचना पुष्ट होती है। सारे विश्व में आज भी विज्ञान वैज्ञा उस प्रक्रिया को सही रूप से जानने के लिये निरन्तर शोध कार्य में लगे हुए हैं - परन्तु अभी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। कुछ सीमा तक वे इस का ज्ञान प्राप्त कर पाये हैं। इसी Nucleo-Tide

की sugar की विशेषता को बनाने वाले तथा संवर्धित करने वाले गुण को हम गंगाजल में भी देखते हैं। गंगा के जल से सिञ्चित उसके आस पास के क्षेत्र में गन्ने की फसल को देखने से कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस बात का सुगमता से अनुमान लगा सकता है कि इस गंगाजल से सिञ्चित भूमि में गन्ना इतना अधिक पुष्ट और अच्छा क्यों होता है? प्राचीन काल से ही गन्ने का पीया

जितना अधिक पुष्ट गंगाजल से होता आया है, उतना अधिक पुष्ट विश्व में कहीं भी किसी भी नदी के जल से नहीं होता। इस का कारण स्पष्ट रूप से गंगा के जल में छिपी विशेषता है जो गन्ने के Sugar में उसके पीछे के अन्दर बचने वाले Mucilage-Tyde को विशेष रूप से पुष्ट करती है। इसी पुष्टीकारक शक्ति के कारण गंगाजल उस व्यक्ति को भी भारीरिक्त, मानसिक तथा आत्मिक रूप से पुष्ट करता है जो उस गंगा-जल के शुद्ध रूप को पीता है और उस में स्नान करता है। यदि गंगा के पानी को उबाल दिया जाये तो गर्म करने से उसमें से वे सभी गुण निकल जाते हैं और वह साधारण पानी बन जाता है। ये सारी विशेषतायें गंगा के जल में भागीरथ ने अपने तप के यज्ञ के बल पर उत्पन्न कीं, अन्यथा गंगा का जल भी पहले और नदियों के जैसा साधारण जल था। गंगाजल के विशेष गुणों का परीक्षण आधुनिक विज्ञानवेत्ता आज भी कर सकते हैं।

दूसरा साक्ष्य वैदिक विज्ञान की उच्चता का प्रमाण के रूप में दिल्ली के अन्दर कुतुबमीनार के साध में स्थित वह लौहस्तम्भ है जिसे महाभारत काल का बताया जाता है और जिस के चारों ओर खण्डहर बनी किसी मन्दिर की संरचना दिखाई देती है जिस में वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। वैदिक मूर्तियाँ बता रही हैं कि यह लौहस्तम्भ महाभारत काल में ही स्थापित किया गया था। इस लौहस्तम्भ की अपनी एक विशेषता है। इसकी विशेषता यह है कि वायुमण्डल के तथा वर्षा आदि के प्रभाव से तथा भूमि के अन्दर विद्यमान क्षारीय या अम्लीय से इस के अन्दर क्षरण नहीं होता। इसी कारण महाभारत काल से लेकर अब तक इसके आवार के माप में (आयतन) में क्षरण के द्वारा जरा भी कमी नहीं हुई है। अन्यथा इतने लम्बे समय तक कोई प्यात का खण्ड जातावरण में खुले में यदि वैसे ही पड़ा रहे और वर्षा, गर्मी, सर्दी का मौसम का प्रभाव उस पर स्वतन्त्र रूप से पड़ता रहे तथा यदि उसका कुछ भाग भूमि के अन्दर भी निरन्तर दबा रहे, और इस सब प्रभावों को सहन करता हुआ कोई लौहस्तम्भ पाँच हजार या उससे भी अधिक वर्षों तक बिना किसी क्षरण के वैशाक्य वैशा ही खड़ा रहे तो अवश्य ही उसमें भी कोई तो विशेष रूप की विशेषता है, जो उसमें विकृति नहीं होने देती। दूसरे प्राचीन काल से ही अब तक प्रतिदिन पता नहीं चितने आदीमियों का हाथ उस पर फिरता है। हाथों के फिरने के कारण से भी उसमें इतने वर्षों के बाद वह भाग थोड़ा बहुत तो घिसना था, जहाँ उस पर आदीमियों के

होत फिरते हैं। क्योंकि जो भी व्यक्ति प्राचीन काल से अब तक उसे देखने
जाता रहा है वह उस का अपनी बांहों में आलिंगन अवश्य करता है। कहते
हैं इस लोह स्तम्भ की धातु में भी कोई ऐसी विशेषता है कि आलिंगन करने
वाले व्यक्ति में शान्त और समरस होने का गुण उस के मन में अपने प्रभाव से
ग्रह भर देती है। जिस प्रकार क्षरण से विहीन समरस ग्रह स्वयं है, आलिंगन
करने वाले व्यक्ति को भी यह उसी प्रकार का क्षरण से विहीन और समरस
बनाने का प्रयास करती है। इस क्षरण विहीनता के गुण को इस लोह स्तम्भ
में आज भी परखा जा सकता है।

यै इस प्रकार के कुछ चमत्कारिक गुण हैं जो वैदिक विज्ञान के
प्राचीन विचारों के ऐसे साक्षी हैं - जिन की समानता आज का विचारित
विज्ञान भी नहीं कर पा रहा है। अतः वैदिक विज्ञान के अध्ययन को आज के
युग में और भी अधिक आवश्यकता है। हम आधुनिक विज्ञान के तथ्यों और
साक्ष्यों को साक्ष ले कर उस के ज्ञान का प्रयोग करते हुए विज्ञान के विशेष
तथ्यों की तरह तब पहुँच सकते हैं, क्योंकि विज्ञान के तथ्य चाहे किसी
भी भाषा के जानने वालों के द्वारा, किसी भी काल में किसी भी स्थान पर
ज्ञात किये जायें - वे सदैव सत्य जैसे ही रहते हैं। उदाहरण के रूप में
जब हम आणविक रचना (Atomic structure) का अध्ययन करते हैं तो
हम देखते हैं कि जिस प्रकार का विश्लेषण आज आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों
Electron, Proton, Neutron, Mesons, Quarks का दे रहे हैं बिल्कुल
उसी प्रकार का विवरण ऋग्वेद के विश्वेदेवा सूक्त और इस श्रुतिश्रुति
उपनिषद् में दिया हुआ है। Quarks का तो आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों का
अन्तिम ज्ञान है और वह भी अभी अधूरा है। अणु की नाभिक (Nucleus) का
उन्हें अभी इस प्रकार पदावत रचना का ज्ञान नहीं है, जिस प्रकार कि
Electrons का Principal shells में बाँट कर पदावत ज्ञान है। परन्तु वैदिक
विज्ञान में मूलतत्त्व के बने नाभिक के केन्द्र 'अ' से लेकर 'जि' तथा 'न' तक के
पूरी नाभिक के अन्दर बने सात अवरणों का पदावत रचना सही विधिगत ज्ञान
दिया हुआ है। Neutron को वैदिक विज्ञान में 'न', Proton को 'चिक्' त
तथा Electron को 'इत्' कहा जाता है। Mesons को त्रिवर्ती तथा
Six quarks को षड्वृन्दारब्बा कहा जाता है। इस के अगे Nucleus में
विद्यमान कणों को आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक नहीं जानते। आणविक रचना विज्ञान

का यह मुख्य सिद्धान्त समझ लेना चाहिए कि जितने भी परमाणु विच्छेद
 ऊर्जा या अन्य तरंगीय संरचनाओं बनती हैं, वे सभी गति (movements) के
 आधार हैं बनती हैं और वहाँ बन कर उस गति से बाहर निकलती हैं।
 बाहर निकलने के स्वरूप को ही वैदिक विज्ञान में अक्ष कहल जाता है।
 इसी कारण यह अक्ष सात लोकों में सात नाम धारण करता है।
 सप्त भुजिन्तरधमेकचक्रमेवो अक्षो वहति सप्त नामा। त्रिनामि चक्रमजरमुत्तमं यत्रेमाविश्वामुवनाधितस्थः।
 षड्वन्द्यारम्भो (Sankhyas) की रचना वेद में सूर्य चक्षुरजः (ऋग्वेद-1, 64, 2)
 (Photom) से बताई है। सूर्य चक्षु की रचना अश्विनो से बताई है। अश्विनो की
 रचना दो अश्विणों से बताई है - जिन्हें एक एक 'अश्वी' के 'अश्वि' के सप्त परावृत
 से तथा दूसरी के 'अश्वि' के अष्टा परावृत से बनी होती है। सप्त परावृत की अश्वी
 के 'अश्वि' को चूसती है तथा अष्टा परावृत की अश्वी के 'अश्वि' को बाहर फेंकती
 है। सप्त परावृत और अष्टा परावृत के मध्य में एक एक 'अश्वि' गतिमान अवस्था
 में उनके बीच में होता है जो सप्त परावृत की अश्वि से उसकी निरन्तर चूसने
 की प्रक्रिया से बाहर निकल कर अष्टा परावृत की बाहर फेंकने की अश्वी में
 जाता है। इस प्रकार दोनों अश्विओं का एक युग्म बन कर एक अश्विनो की
 रचना होती है। इसमें सौलह के 'अश्वि' होते हैं। सात के 'अश्वि' सप्त परावृत की
 अश्वी में, आठ के 'अश्वि' अष्टा परावृत की अश्वी में और एक के 'अश्वि' उनका
 मोजक बन कर उनके मध्यान्तर में गतिमान होता है। इस प्रकार सौलह
 के 'अश्वि' से निर्मित यह अश्विनो बड़ी तीव्र गति से गतिमान हो कर आगे
 भागता रहता है। चुम्बक की बल रेखाओं में अश्विनो की गति को देखा जा
 सकता है। अश्विनो एक Vector है जिसके एक क्षीर्ष पर धनात्मक आवेश
 तथा दूसरे क्षीर्ष पर ऋणात्मक आवेश है।

अश्विनो की रचना जब के 'अश्वि' से होती है, उन के 'अश्वि' की
 जननी अदिति है - जिसका स्वरूप पञ्च प्राणोर्मियों से बना होता है। इन
 पञ्च प्राणोर्मियों (Matter waves) को ऋग्वेद में आठ वसुओं की वसुपत्नी कहा है। इनकी
 रचना भी पाँच के 'अश्वि' के श्रृंखला बन्धु ऊपर उठते हुए स्वरूप से बनती
 है। जब छटा के 'अश्वि' ऊपर उठता है तो उस में इतना अधिक बल आ जाता
 है कि उस बल से वह अपनी उस श्रृंखला से अलग टूट कर त्वन्तरे रूप
 से विचरण करने लगता है और अश्विनो के अश्विओं के सन्दर्भ में जाता है।
 के 'अश्वि' की रचना पुरुष के दशगुल स्वरूप के अति-अतिष्ठल रूप
 से त्रित के दशमौलि अर्थ बनने से होती है। त्रित में तीन अणु एक ही बिन्दु पर
 ठहर कर अतिसंघनित स्वरूप बना लेते हैं जो महिजात रूप धारण कर के एक
 मौलि अर्थ बन जाता है। इस प्रकार पुरुष द्वारा निर्मित दशमौलि अर्थों से एक
 प्राणोर्मि बन जाती है। यही एक प्राणोर्मि के 'अश्वि' का स्वरूप बनती है।

'क' व्याख्या रचना करने वाले पुरुष में दशगुल स्वयं पाद में लगी होती है, सहस्र पाद स्वयं शीर्ष में लगे होते हैं। स्वयं पुरीष से सहस्र शीर्ष निव्यलते हैं जो अपने-अपने अक्षों पर चलते हैं। इस प्रकार सहस्र शीर्षों के सहस्र अक्ष बन जाते हैं। स्वयं अक्ष स्वयं तन्त्र बन जाता है जो अर्धों के द्वय बन्धों से बना होता है। उस अक्ष पर चौतीस अर्धों के द्वय बन्धों से बना स्वयं अक्ष (vector of force) चलता है। इस प्रकार पुरीष अर्धों से गहरं पुरुष की रचना हो जाती है। इसमें महः लोक् पूरा तथा स्यः लोक् आधा सम्मिलित हो जाता है। स्वः लोक् के पाँच भाग होते हैं। यह विस्तार से सचित्र आगे पुरतन्त्र में उचित स्थान पर समझाया जायेगा।

पुरीष अर्धों जिसे वेद में 'पलित' नाम नाम के अन्दर स्थित होने पर दिया है, उसमें जनः लोक्, तपः लोक्, सत्यं लोक् की रचना में क्षीर के अवयवों से बनी होती है। स्वयं क्षीर विष्णु के निवास का ग्राह होता है जिसमें प्राङ् तथा अपाङ् दो प्रकार की संरचनाएँ होती हैं। प्राङ् में विष्णु तथा अपाङ् में लक्ष्मी तथा सरस्वती का मगवती के रूप में निवास होता है।

इस प्राङ् अपाङ् की रचना 'सत्-असत्' के अक्षर-क्षर के चक्र से बनती है। इस प्रकार मूल तत्त्व सद्-ब्रह्म से लेकर पूर्ण नाम के स्वरूप और पूर्ण अणु (Atom) के स्वरूप Neutron, Proton, Electron तक की पदावत रचना वैदिक विज्ञान में सम्मिलित हुई है। आधुनिक विज्ञान अपनी रोजी-द्वारा जहाँ पहुँच कर पड़ाव डाल कर रुका हुआ है, उससे आगे का पथ भी यह वैदिक विज्ञान दिखा रहा है। अतः इसकी विश्व में आज सर्वोच्च उपादेयता विद्यमान है। इस कारण इसका अध्ययन अत्यन्त सार्थक और महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर विज्ञान वैज्ञानिकों को अपने अनुसंधान की सही दिशा प्राप्त करने के लिए इस वैदिक विज्ञान को जो इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है, अवश्य पढ़ना चाहिए। तभी वे वैदिक ऋषियों द्वारा व्यक्त विज्ञान को इन स्पष्ट रचनाओं को सम्मिलित पायेंगे और अपने अनुसंधान कार्य को आगे बढ़ा पायेंगे।

इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान के परीक्षण भौतिक पदार्थों की क्रियाओं तक सीमित है। वे भौतिक संरचनाओं को तो सम्मिलित करते हैं तथा उन्हें परीक्षणों द्वारा देख भी सकते हैं। परन्तु इन भूतों की रचनाओं का जो आधार द्यौ की रचना का है, उसे इन भौतिक रचनाओं के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वे द्यौ की किस प्रकार की क्रियाओं का भूतों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है तथा द्यौ की क्रियाओं से किस प्रकार वे भूत चिपकाए जाते हैं - इनमें तो कुछ तत्वनीयों को वे अपने परीक्षणों द्वारा पकड़ सकते हैं और उन तत्वनीयों का प्रयोग कर के चमत्कारिक प्रज्ञा भी बना सकते हैं। जैसे कि राडार है, अन्तरिक्ष यान में लगा दूर दर्शन का ट्रांसमीटर है, Radiowaves की तत्वनीय द्वारा प्रसारण की तत्वनीय है, कम्प्यूटर है, इत्यादि बहुत सी तत्वनीय हैं जिनमें हम Remote control द्वारा द्यौ की प्रक्रियाओं से भूतों की

संरचनाओं को नियंत्रित कर लेते हैं। परन्तु द्यौ को किस प्रकार की संरचना है और वह द्यौ किस प्रकार मृत की संरचना को नियंत्रित करता है - इस रोजा में अभी आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों को नहीं पता है। उन को यहाँ इस पुस्तक से पथ प्रदर्शन मिल सकता है।

द्यौ की रचना सूक्ष्म होने के कारण स्कूल भूतों की रचना द्वारा ज्ञात नहीं की जा सकती। अतः वैदिक ऋषियों ने निरन्तर च्छान प्रयोग में बैठ कर हजारों वर्ष तक करके जिस ज्ञान की अनुभूति की उसी ज्ञान के द्वारा द्यौ की संरचना को व्यक्त करके ऋग्वेद के मन्त्रों में आबद्ध कर दिया। 'ऋग्वेद' के पश्चात् वही ज्ञान अन्य वेदों में आबद्ध हो गया। इसी कारण वैदिक विज्ञान में 'आगम' को भी 'साक्षात्' और 'अनुमान' के साथ रखकर प्रमाण माना गया है। 'आगम' में ऐसी ही अनुभूतियों का वर्णन 'प्रमाण' बनता है जिनका न तो साक्षात् रूप में परीक्षण हो सकता है, न तर्क द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है। अपितु उन अनुभूतियों को उसी प्रकार हजारों वर्ष तक करके अनुभूत किया जा सकता है जिस प्रकार उस ज्ञान के मन्त्रद्वारा ऋषि ने किया है, परन्तु वह हमारे सामर्थ्य से बाहर होता है। अतः उस ऋषि द्वारा अनुभूत सत्य को ही 'आगम' का प्रमाण मान लिया जाता है। अतः ऐसी अनुभूतियों के ज्ञान के लिए भी जो आधुनिक विज्ञान की पहुँच की सीमा से बाहर है, इन वैदिक विज्ञान के ग्रन्थों को पढ़ना अति आवश्यक और महत्त्व पूर्ण है।

किसी भी विज्ञान के ज्ञान का किसी काल में विकास होना तथा किसी काल में लुप्त होना यह किसी काल की तात्कालिक घटनाओं पर निर्भर करता है। आज विज्ञान जितना अधिक विकसित और चसत्कारिक लाभ पहुँचाने वाला हमें दिखाई दे रहा है, उतना ही यह अत्यधिक विभत्ता और महाविनाशकारी भी है। यदि आज भी किसी परमाणु शक्ति सम्पन्न और महाशक्तिशाली और महाविनाशाली दो देशों के शासनाध्यक्ष के स्थानों पर कोई महाकुटिल और महाउद्दण्ड तथा दुष्ट वृत्ति के व्यक्ति आसीन हो जायें तो वे अपनी दुष्टवृत्ति के कारण निरंकुश हो कर अपने अहम् के बशीभूत हो कर विश्व मुक्त प्रारम्भ कर देंगे। आज का विश्व मुक्त परमाणु शक्तियों का विश्व मुक्त होगा, जिस में मानवता पूर्ण रूप से समाप्त हो जायेगी। जो कोई मनुष्य अभी जैसे जैसे बचेगा वे भी रुग्ण होंगे। उसके पश्चात् न ज्ञान होगा न विज्ञान होगा। आज का सारा विज्ञान लुप्त हो जायेगा। कालान्तर में जैसे-

जैसे वह परमाणु शक्तों का परमाणवीय विषयज्ञान होता चला जायेगा तो हजारों वर्षों बाद कोई पीढ़ियों गुजरने के बाद कभी स्वस्थ मानव जन्म ले सकेगा तब वह पुनः कभी आज की तरह स्वस्थ चिन्तन कर सकेगा और विज्ञान का विचार पुनः सम्भव हो सकेगा।

यही प्रीति का एक बार महाभारत काल में गुजर चुकी है। महाभारत का युद्ध भी एक विश्व युद्ध था - जिसका कारण औरवों की कुटिल और दुष्ट बुद्धि थी। इस प्रकार के शासक प्रजा के लिए उसी प्रकार महाविनाशकारी होते हैं, जिस प्रकार वे औरव महाभारत काल में हुए, जिन्होंने पूर्ण रूप से धर्म का परित्याग कर दिया था। महाराजा धृतराष्ट्र को इसी कारण अन्धादर्शिताग्रस्त है। महाभारत काल में पूर्व वैदिक विज्ञान पूर्ण रूप से विकसित था। परन्तु

महाभारत के युद्ध में परमाणु शक्ति सम्पन्न दिव्य शक्तों के प्रयोग से महाविनाश उत्पन्न हो गया। उसमें सभी विज्ञान-वेत्ता मारे गये तथा जो विज्ञानवेत्ता उस परमाणु विज्ञान के ज्ञाता बचे, उन्होंने उस युद्ध के विनाश महाविनाश को देखकर आगे इस परमाणु विज्ञान को किसी भी अपने शिष्य को न देने का प्रण लिया। वे इस विज्ञान के ज्ञान को अपने साथ ही लेकर मर गये। परन्तु वेदों के मन्त्रों में मूलरूप से मौटी लाइन का जो ज्ञान है, वह आज भी वेदों के मन्त्रों में देखा जा सकता है। उस विज्ञान को अल्प-काल में समझना तथा समझाना कठिन होता है, परन्तु उसे सुरक्षित रखना भी नितान्त आवश्यक होता है, इसी कारण ऋषियों ने उस ज्ञान को वेद मन्त्रों के छन्दों, मात्राओं, पदों में पदपाठ द्वारा सुनिश्चित रूप से बद्ध कर दिया ताकि उसका बदलकर कोई दूसरा अर्थ न लेना सके और उसका वही अर्थ निकले जो ऋषि समझना चाहता है। अतः जब भी कोई विज्ञान की रुचि का तीव्र बुद्धि का विशेषज्ञ उन मन्त्रों को समझने का प्रयास करे तो वह उस विशेष विज्ञान को समझ सके। इसी आधार पर इस परमाणु विज्ञान के महाभारत से आज तक लुप्त होने के बाद भी आधुनिक विज्ञान द्वारा विज्ञान के ज्ञान के प्रति चेतना जागृत कर के कुछ दूरी का मार्ग दिखाने पर आगे का मार्ग वेदों में तथा उपनिषदों में हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

महाभारत काल में इस वैदिक विज्ञान के लोप होने की कथा को महीष व्यास ने 'भारतसार' नाम की पुस्तक में इस प्रकार दिया है - जिसका

(40)

संक्षेप रूप में सार ग्रहों दिया जा रहा है। इसमें महाभारत के बाद महाराजा परीक्षित के पुत्र जन्मेजय द्वारा 'शान्ति यज्ञ' कराये जाने का वर्णन है।

महाभारत के युद्ध में प्रमुक्त दिव्य परमाणु शक्ति के शस्त्रों के प्रयोग से वातावरण में चहुँ और परमाणु विष (Nuclear poison of the radiation) व्याप्त हो गया। पाण्डव तो उस महाविनाश के दृश्य को देख कर अत्यन्त दुखी हो कर तप करने के लिए हिमालय की गीद में चले गये और वहीं पर स्वर्गीय हो गए। पीछे वे अपने पुत्र परीक्षित को राज्य सौंप कर चले गये। वातावरण में व्याप्त परमाणु विष से राजा और प्रजा अत्यन्त दुखी हो गये। महाराजा परीक्षित के शरीर से भी जोड़ चुचने लगा। तब महाराजा परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने अपने राज्य के स्थानीय ब्राह्मणों को बुलाकर शान्ति यज्ञ का आयोजन कराया। परन्तु महाभारत के युद्ध में परमाणु विज्ञान के वैदधरा ब्राह्मण सभी मारे जा चुके थे। उनके पुत्र उस विज्ञान में इतने अधिष्ठा निपुण नहीं थे। परमाणु विष तो परमाणु विज्ञान के ज्ञाता ही दूर करने में समर्थ हो सकते हैं। अतः वे ब्राह्मण उस यज्ञ को करने में असमर्थ थे। परन्तु राजा का आदेश था तथा यज्ञ कराने से नन्ना करना राजा के आदेश का उल्लंघन माना जाता, इस कारण ढण्ड के भय से उन्होंने जैसा उन से हो सके वैसा यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। दूसरे उन्हें राज्य में उस यज्ञ को करने वाला अन्य कोई समर्थ व्यक्ति दिखाने भी नहीं दे रहा था, अतः उन्होंने स्वयं ही यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। वे ब्राह्मण स्वयं भी अपने वच्चों सहित प्रजा और राजा के साथ उस परमाणु विष से ग्रस्त होकर दुःखी थे। इसी लिए सब ने मिलकर जैसा हो सके अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रसास दिया। दिल्ली में 'सूरज' कुण्ड के स्थान पर पेड़ों की यज्ञ शाला बना कर पहाड़ में रख बड़े बड़े को हवन कुण्ड बना कर उसमें यज्ञ प्रारम्भ किया। अठारह मास तक निरन्तर यज्ञ चलता रहा तथा उसमें घृत और हवन सामग्री की निरन्तर आहुतियाँ डालती रही। उस यज्ञ से वातावरण तो सुगन्धित हो रहा, परन्तु परमाणु विष शान्त नहीं हुआ। परमाणु विष तो नाभिकीय क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होता है तथा नाभिकीय क्रियाओं द्वारा ही शोषा जाता है। जैसे कि Nuclear reactor में ^{238}U द्वारा Radiation का परमाणु विष छोड़ा जाता है तथा उसकी नियन्त्रण ^{92}Cd द्वारा अभिवर्धित

कर लिया जाता है। यूरेनियम परमाणु विघटित होते हैं और कैडमियम उसे चूस लेती है। कैडमियम की इसी नियन्त्रण शक्ति से परमाणु मशीन (Nuclear reactor) की क्रिया को नियंत्रित किया जाता है। मृगयेद में विक्षेपित सूक्ष्म परमाणु के इस Radiation के चूसने को 'शोकाशमय' कहा है। Radiation छोड़ने वाले भूत को अग्नि कहा जाता है। Radiation के निकलने को 'उक्षाणम्' कहा जाता है। 'उक्षाणम्' का स्वरूप 'पृथिवी' बताया गया है। क्योंकि वहाँ यह Radiation पड़ती है वहीं अपना चिकित्सीय वाला चितकबरा प्रभाव छोड़ देती है। मन्त्र इस प्रकार है ---
शोकाशमयं चूममारादपश्यं विधूयतां परसनावरेण ।

उक्षाणम् पृथिवीमपचन्त वीरास्तामि चर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 43)

इस उक्षाणम् के शोकाशमय चूम को चूसने वाले को ऋग्वेद में 'मातीरिश्वा' कहा जाता है। पदार्थ की मात्रा (Mass) को 'अपः' कहा जाता है। 'अपः' शब्द में 'क्षीरसागर', 'अर्णव समुद्र' तथा 'भवसागर' इन तीनों में प्रवाहित होने वाले आदि तत्व को 'अपः' कहा जाता है। आकाश में जब उक्षाणम् का शोकाशमय चूम चलता है तो उसे आकाश में ही चलता हुआ मातीरिश्वा चूस कर अपने गर्भ में धारण कर लेता है। गर्भ में धारण करने के उपरान्त उस मातीरिश्वा के स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है और वह प्रसव करने वाला, उस पूँसे हुँसे शोकाशमय चूम को नये रूप में परिजानित करने वाला 'पर्जन्यः' का स्वरूप बन जाता है। पृथिवी के शुष्क तथा ठोस रूप में स्थित अग्नि इस शोकाशमय चूम को पृथिवी के स्वरूप से निकाल कर द्यौ के अर्णव समुद्र में फेंकती है और द्यौ को उखाड़ा मौजान कराती है। द्यौ में विद्यमान मातीरिश्वा उस शोकाशमय चूम को रवा कर 'पर्जन्यः' के रूप में बदल देते हैं तथा ठोस और स्थूल रूप के पृथिवी के लण बन कर पञ्च महाभूतों के किसी एक भूत का रूप धारण करके पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण बल की सीमा में आकर पृथिवी पर आ जाते हैं। इस प्रकार द्यौ और पृथिवी में इस उक्षाणम् के शोकाशमय चूम द्वारा एक दूसरे को 'जिवोत' (मौजान-

कराने) का चक्र बन जाता है। इसी विधान की विद्या द्वारा वह गोलियाँ सफल हो सकती थी और उस आणीव्य विष की चूसा जा सकता था तथा उसे होमि करके रूप से लाभकारी रूप में बदला जा सकता था। इस प्रक्रिया को चलाने वाला ऋग्वेद का मन्त्र है -

समान मेतदुदम् मुच्येत्यवचाहिमिः ।

भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यवन्तयः ।

इस मन्त्र का पद पाठ है -

समानम् स्तुत उदम् उत च स्तुतिं अव च अहडमिः ।

भूमिम् पर्जन्याः जिन्वन्ति दिवम् जिन्वन्ति अवन्तयः ॥

अर्थ है -

समान रूप से यह भूमि के मवसागर का तथा द्यौ के अर्णवसमुद्र का जल ऊपर द्यौ में जाता है और नीचे भूमि पर नीचे-नीचे संकल्पों के उदय के द्वारा आता है। पुनर्जनित करने वाले पर्जन्य भूमि को इस जल को जिवाँते हैं तथा अग्नि यों इसे द्यौ को जिवाँती हैं। जिवाँना-भोजन कराने को कहते हैं। पर्जन्य द्यौ में रहते हैं और अग्नि यों भूमि में रहती हैं।

इस प्रकार उस क्षान्ति यज्ञ को कराने वाले उन ब्राह्मणों को इस परमाणु प्रक्रिया का ज्ञान नहीं था। अतः वे इस में सफल न हो सके।

अठारह मास बाद राजा ने उन ब्राह्मणों से यज्ञ प्रक्रिया का पुनरावलोकन करने का आदेश दिया, क्योंकि यज्ञ से सफलता का सूचक कोई भी परिणाम नहीं निकल रहा था। राजा के शरीर में तथा प्रजा के अन्दर जोड़ बढ़ता ही जा रहा था।

उन ब्राह्मणों ने इस पुनरावलोकन की प्रक्रिया में यज्ञ की विधा को बदलने का निर्णय किया। वे 'अश्व मेध' यज्ञ करने लगे। यहाँ भी उनकी अज्ञानता प्रकट हुई। वे यहाँ भी 'अश्व' का अर्थ पशु 'दौड़ा' ले कर उसकी बलि अग्नि कुण्ड में देने के लिए विधान रचने लगे। जब कि अश्व ऋत के प्रवाह का वह दिशा युक्त बल (vector) होता है जो सत्य लोको से चल कर भूः लोक तक जाता है और प्रत्येक लोक में रचनाओं को विशेष स्वरूप की गति प्रदान करता हुआ सातों लोकों के देव लिङ्गों में सात प्रकार के अलगा-अलगा काम धारण करता है।

अतः इस राजानता के कारण उन्होंने भी राजा से सब स्वस्थ तथा निरोग अवस्था लाने को कहा तथा सवा वर्ष तक रानी द्वारा उस की पूजा कराई के लिये कहा। सवा वर्ष पश्चात् जब रानी ने उस अश्व की पूजा करने के उपरान्त अन्तिम बार पूजा करते हुए राजा के भरे दरबार के मध्य उस अश्व को ब्राह्मणों के लिये यज्ञ हेतु अर्पित करने की रश्मि अदा की और उस घोड़े का आरता उतार कर तिलक लगाने की प्रक्रिया की तो वह पशु थोड़ा मस्ती में आकर अपना लिंग बाहर निकाल कर हिनीहना पड़ा। इस दृश्य को देख कर वहाँ के ब्राह्मण नवयुवक अपना संग्रम रौं कर हँस पड़े। राजा ने इसे भरे दरबार में अपना अपमान समझा और उन ब्राह्मण नवयुवकों को सभी को जो उस दरबार में वहाँ उपस्थित थे - 'मृत्यु दण्ड' दे दिया। इस प्रकार उस राजा ने क्रोध के वशीभूत हो कर 'ब्रह्म हत्या' कर दी तथा यज्ञ को बन्द करवा दिया।

परन्तु यज्ञ तो उस परमाणु विष को शान्त करने के लिये किया जा रहा था जो परमाणु विष राजा तथा प्रजा के शरीरों में कौट का कारण बना हुआ था और सभी को मृत्यु का ग्रास बनने जा रहा था। अतः जब राजा का क्रोध शान्त हो गया तो रानी ने राजा को समझाया कि आपने क्रोध में आ कर जो ब्रह्म हत्या कर दी, वह बहुत गलत काम कर दिया। वे ब्राह्मण प्रजा के हित के लिये और स्वयं आप के हित के लिये शान्त यज्ञ कर रहे थे। यदि वे एक बार असफल हो गये - तो ही सफल था वे दोबारा के प्रयत्न में सफल हो जाते और आप के शरीर में से तथा प्रजाजनों के शरीरों में से यह कौट शान्त हो जाता। अब जबकि आपने उन सब ब्राह्मणों की हत्या कर दी तो उस यज्ञ को अब कौन सफल बनायेगा। अब आप उतने विद्वान् ब्राह्मण कहां से लाओगे? आप के शरीर का यह कौट शान्त होगा?

राजा ने जब शान्त मन से इस पर विचार किया तो उसे अपने इस कुल्लू का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने ने अब रानी से आगे का कैद उपाय सोचने के लिये कहा। रानी ने अपने कुलगुरु महर्षि व्यास के पास चल कर उपाय पूछने का परामर्श दिया। राजा और रानी दोनों महर्षि व्यास के पास गये। महर्षि व्यास ने तब उन्हें ब्राह्मणों के मूल प्रवेश गौड़ बंगला जाने का परामर्श दिया,

और वहाँ से श्री की उपाधि से युक्त सर्वोच्च कौटि के ब्राह्मणों की
आदर सत्कार सहित लाने के लिए कहा। उन्होंने भी ब्राह्मणों के विषय में
बताया -

आदौ ये ब्राह्मणा जाता ब्रह्म क्षेत्रे तपोधनाः ।

सर्वे वेदधरा लोक सदाचार प्रवर्तकाः ॥

आदि गौड़ाक्षच ते ज्ञेया ब्रह्म क्षेत्रे निवासिनः ।

तेभ्यो विनिर्गता भूम्यां प्रसिद्धा दश ब्राह्मणाः ॥

सारस्वता कान्यकुब्जाः गौड़ाक्षचौत्कला मैथिलाः ।

पञ्चगौड़ा समारव्याता विन्ध्योत्तर वासिनः ॥

कर्णाटकाक्षच तैलंगा द्राविडा गुर्जरस्तथा ।

महाराष्ट्रश्च पञ्चैते विन्ध्य दीक्षण वासिनः ॥

चत्वारो वर्णा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्राः ।

तेषाम् पूर्वः पूर्वतो जन्मतः 'श्री' मान ॥ (आदिस्तम्ब - ॥२, २, २)

आज का जो ब्रह्मा का देहा है उस समय यह ब्रह्म क्षेत्र के
नाम से जाना जाता था। इस क्षेत्र की सीमाएँ आज की सीमाओं से
कुछ बड़ी थी। बंगला देश का गौड़ बंगाला का क्षेत्र इस का केन्द्र
था। वह क्षेत्र पूरे विश्व में ब्रह्म विद्या का केन्द्र माना जाता था और वहाँ
पर सारे विश्व के सदाचार का मार्ग दिखाने वाले, सदाचार के प्रवर्तक,
वेदों के विज्ञान के प्रवीण ज्ञाता वेदाचारी और तपस्वी अर्थात् तप ही जिन
का ध्यन होता था ऐसे वे ब्राह्मण रहते थे जो आदि काल से ही ब्राह्मण
के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

यहाँ "आदौ ये ब्राह्मणा जाता" - का अर्थ "आदि काल से ही जो ब्राह्मण
उत्पन्न हुए हैं" - यह प्रकट कर रहा है कि आदि काल में ब्राह्मण नाम तो
वेदों में है, परन्तु क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम वर्णों के बाद में उपजे हैं।
ब्रह्म विद्या के वेदों के रचयिता, उस ब्रह्म विद्या के ज्ञाता, उस ब्रह्म विद्या के
ध्यान करने वाले तथा तप करने वाले तपस्वी लोग सांसारिक राग-द्वेष से
निस्पृह रहने वाले ब्रह्मर्षि ब्राह्मण तो आदि काल से रहते आये हैं। इनके

अतिरिक्त वेदों में 'पणि' तथा 'दास' या 'दस्युओं' का वर्णन मिलता है, जो ब्राह्मणों की गीतों को लूटकर ले जाया करते थे। उन गीतों को फिर राजा इन्द्र उन्हें वापस दिलवाता था। पणि लोग काफी शक्तिशाली तथा धनाढ्य भी होते थे - यहाँ तक कि राजा भी उन पणिगणों में से ही पाये जाते हैं। 'पणि' शब्द 'पाणि' शब्द से बना है। 'पाणि' का अर्थ हाथ का 'पञ्जा' होता है। पञ्जे का अर्थ किसी भी वस्तु को बलपूर्वक पकड़ कर अपने नियन्त्रण में लेना होता है। ऐसे व्यक्ति इन्द्रियों पर तो संयम रखने वाले सदाचारी संयमी होते हैं, अतः वे बलशाली और वीर्यवान् तेजस्वी तो होते हैं, परन्तु अपने मन को राग-द्वेष से युक्त रख कर वे सासारिक पदार्थों से ब्राह्मणों की तरह विरक्त नहीं होते। वे अधिक से अधिक धन तथा वैभव, सुयश तथा कीर्ति को प्राप्त करने के लिए आतुर होते थे। अतः वे हर पदार्थ को अपने पञ्जे की पकड़ में रखने का प्रयत्न करते रहते थे। ऐसे लोगों को उस समय आदि काल में 'पणि' कहा जाता था। जो पूरे क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा कर सभी को अपने पञ्जे की पकड़ में रख कर अपने नियन्त्रण में रखते थे तथा उस क्षेत्र की मुक्ति करके भी अन्य लोगों से रक्षा करते थे और उस क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों को सुख और शान्ति तथा सुरक्षा प्रदान करते थे, उस क्षेत्र की व्यवस्था का सञ्चालन करते थे - वे 'पणि' कहलाते थे। इन्हीं पणिगणों में 'क्षेत्री' तथा 'वैश्य' होते थे। क्षेत्र विशेष के अधिपति तथा व्यवस्था के सञ्चालक तो 'क्षेत्री' कहलाये। वे सब से अधिक बलशाली, वीर्यवान् प्रौढ़ा होते थे। स्पष्ट है आदि काल में तो जो सब से अधिक शक्तिशाली प्रौढ़ा होगा, वही सब को अपने काबू में रख कर अपने पञ्जे में रख सकेगा और सब का अधिपति बन सकेगा। वही क्षेत्री कहलाता था। दूसरे उसी क्षेत्र में या दूसरे क्षेत्रों में भी रहने वाले लोगों में जो केवल धन सम्पदा को ही अधिक से अधिक किसी भी प्रकार से अपने पञ्जे में पकड़ कर रखना चाहते थे, वे वैश्य कहलाये। उन्हें इस बात की परवाह नहीं होती थी कि किस क्षेत्र का अधिपति कौन क्षेत्री है। वे सभी क्षेत्रों से सम्पर्क बना कर

उन को चौख का कर 'प्रदान करते हुए व्यापार द्वारा सभी क्षत्रियों के क्षेत्र से धन बटोरते चले जाते थे। कभी-कभी जब किसी विशेष क्षेत्र का कोई क्षत्री निर्बल और असमर्थ हो जाता था, तो उसके क्षेत्र को अपने कब्जे में करके अपने पञ्जे की पकड़ में पूर्ण रूप से कर लेते थे, और वे ही उस क्षेत्र के अधिपति बन जाते थे। इस प्रकार 'क्षत्री'

अधिव्य शक्तिशाली और वैश्य उन से कुछ कम शक्तिशाली 'पणि' होते थे। परन्तु विद्या और विज्ञान जो मनुष्य को वास्तविक बुद्धिबल प्रदान करते हैं, उसके लिए वे ब्राह्मणों के ही आश्रित रहते थे। अतः वे सभी ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करते हुए पूर्ण सम्मान के साथ उन्हें अपना 'गुरु' मानते थे और उनसे चरणों में श्रद्धा पूर्वक अपने को अर्पित करके वेद विद्या का और विज्ञान का अध्ययन करते थे। उसी सदाचार की शिक्षा से वे पणि नियन्त्रित होते थे और विज्ञान की विद्या के बल से प्राप्त दिव्य शक्तियों से अपने शत्रुओं को पराजित करते थे। वैश्य अपना व्यापार का शीघ्र सिरक कर व्यापार में निपुण हो जाते थे। इस प्रकार सभी 'पणि' इन ब्राह्मणों को धन सम्पदा का तथा गौओं का दान भी प्रचुर मात्रा में देते थे। सभी पणि ब्राह्मणों के सम्मुख श्रद्धा से उन्हें अपना गुरु मान कर आदि काल से ही नतमस्तक हो जाते थे। परन्तु कुछ उड़पड़ कृति के 'पणि' कभी-कभी उन ब्राह्मणों की गौओं को चुराकर ले जाते थे। उन्हें राजा इन्द्र दण्ड देता था।

इस प्रकार ब्राह्मण और पणियों के पश्चात् तीसरे वर्ग के लोग दास या दस्यु होते थे। ये लोग अपनी इन्द्रियों के दास तथा विद्या से विहीन होते थे। जहाँ भी कोई इन्हें इनकी इन्द्रियों का भोज्य प्रदान करता था, वहीं उन इन्द्रियों के रसास्वादन के परार्थी हो कर वे लोग उन इन्द्रियों का रस प्रदान करने वाले की इच्छानुसार दास बन कर कार्य करने लग जाते थे। जब कभी इन्हें अपनी इन्द्रियों का भोज्य प्राप्त नहीं होता था तो ये समूह बना कर घनाड्य लोगों को लूटने के लिए दस्यु बन कर चल देते थे। जहाँ भी इन्हें अपनी इन्द्रियों का भोज्य प्राप्त होता था और उसे लूटने का इनका दाव लग जाता था, उसे लूट कर ये दस्यु 'डाबू' बन कर लूट कर ले आते थे। इन्हीं दासों में तदा दस्युओं में 'शूद्र'

बने। शूद्रों की वृत्ति इसी प्रकार की होती थी। विद्या अध्ययन में उनकी कोई रुचि नहीं होती थी। अतः ऐसी वृत्ति के लोगों से उन ब्राह्मणों का मेल नहीं हो पाता था। ब्राह्मणों का मेल उन्हीं से होता था जो अंधा पूर्वक उनके पास विद्या-अध्ययन करने के लिए आते थे।

इस प्रकार ब्राह्मण आदि काल से ही 'गुरु' माना गया है। प्रथम गुरु सृष्टि में विष्णु, ब्रह्मा तथा महेश को माना जाता है। कहा है -

गुरुर्विष्णु गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्देवी महेश्वरः।

गुरुं साक्षात् परम्ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

इस प्रकार इन आदि काल के ब्राह्मणों को गुरु कहा जाता था। 'गुरु' की सन्तान को 'गौर' कहा जाता है तथा 'गौर' शब्द से 'गौड़' बन गया। वैदिक व्याकरण में 'र' को 'ड़' हो जाता है। इस प्रकार से जो आदि काल से ही इन ब्राह्मण गुरुओं की सन्तान रहे हैं - वे 'आदि गौड़' ब्राह्मण कहलाये। इस 'ब्रह्मा' देश के ब्रह्म क्षेत्र के निवासी जिसका केन्द्र गौड़ बंगाला का प्रदेश है - वे "आदिगौड़" के नाम से जाने गये। उन्हीं से इस सारी भूमि पर शिष्य बन कर शिक्षा प्राप्त करके वेदाचारी दस प्रकार के ब्राह्मण निकल कर गये हैं। वे ही दस प्रकार के ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। उनमें सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, उत्कल तथा मैथिल ये पाँच प्रकार के गौड़ तो विन्ध्याचल पर्वत के उत्तर में रहने वाले कहे गये हैं, तथा कर्नाटक, तैलंग, द्राविड़, गुजराती और महाराष्ट्री ये पाँच प्रकार के गौड़, विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण के वासी कहे गये हैं।
[यहाँ पर यह साक्ष्य मिलता है कि दक्षिण के द्राविड़, तैलंग, कर्नाटक गुजराती गूजर तथा महाराष्ट्र के मराठा आदि सभी आर्य लोग हैं। जो इतिहास में द्राविड़ों को आर्यों से अलग बता कर पढ़ाया जाता है तथा यह कहा जाता है कि आर्य मध्य एशिया से कहीं से बाहर से भारत में आये - वह विलुप्त गलत पढ़ाया जाता है। यह इतिहास अंग्रेजों द्वारा भारत के लोगों में छूट डालने के लिए उन्हें दो भागों में बाँटने के लिए]

रचा गया था। दुर्भाग्य से उसकी सही छानबीन किये बिना आज भी उनकी तथ्यों को सच मानकर इतिहास के छात्रों को भारतवर्ष के अन्दर स्वतन्त्रता के चव्वन वर्ष बीत जाने के बाद भी वैसा ही पढ़ाया जा रहा है। शिक्षा शास्त्री तथा भारत सरकार किसी ने भी इस और ध्यान आज तक नहीं दिया है। यह भारत का दुर्भाग्य ही है। भारत का यह विशाल भूभाग वैदिक आदि-काल से ही संस्कृति के एक इकाई के स्वरूप में बंधा हुआ है। कुटिल शासक बाहर से भारत में चौहे मुगल आये या अंग्रेज आये - सभी ने अपने शासन की स्वार्थ परता के कारण इस भारत के भूभाग को और यहाँ के जनमानस की संस्कृति को टुकड़ों में बाँट कर छिन्न भिन्न भिन्न करने का प्रयास किया, परन्तु यह सदाचार की वैदिक संस्कृति जो शुद्ध वैज्ञानिक तथ्यों के प्रमाणित सत्यों पर आधारित है तथा प्रकृति के नियमों के अनुपूल जनमानस को प्रवाहित करने वाली है, अपने सत्य ज्ञान के बल पर उन सभी के प्रयासों को विफल करती हुई आज भी भारत के जनमानस को एक सूत्र में बाँधे हुए है। इसी लिए किसी कवि ने कहा है - "यूनान मित्र रोमों सब मिट गये जहाँ से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" भारत के सपूत उस कवि के ये उद्गार इसी सत्य को प्रकट कर रहे हैं।

मन्दिरों में राजपूत क्षीत्रियों के पूर्वज दशरथ पुत्र भगवान राम, यदुवंशी श्री कृष्ण, वैश्यों की आराध्या देवी भगवती लक्ष्मी, ब्राह्मणों की आराध्या देवी भगवती सरस्वती तथा इस के साथ-साथ रामायण के रचयिता भगवान वाल्मिकी की आरती जन समूह के सम्मुख जब पुजारी ब्राह्मण उतारता है और पूरा जन समूह इन देवताओं के सम्मुख अर्घ्य से नतमस्तक होता है तो वहाँ पर चारों वर्णों के लोग पवित्र हृदय के साथ एक हो जाते हैं तथा जब सब मिल कर प्रसाद खाते हैं तो उन में एक अटूट भाई-चारा बन जाता है।

महर्षि व्यास ने राजा और रानी को उस 'ब्रह्म' क्षेत्र के अन्दर रहने वाले चारों वर्णों के विषय में बताते हुए बताया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों में से जो पूर्व के ब्राह्मण हैं और जो जन्म से ही 'श्री मान' हैं - वे ब्राह्मण आप के इस यज्ञ को सफल बना सकते हैं। आप उन्हें लायें। वे 'श्री' की उपाधि से युक्त तथा वहाँ के शासनाध्यक्ष 'श्री मान' भी हैं। वरिष्ठ गृध्र वहाँ के शासनाध्यक्ष 'श्री मान' कहे जाते थे। भारत देश के सभी ब्राह्मण उनका आदेश मानते थे। इस प्रकार भारत के ये दस प्रकार के ब्राह्मण गिनाये हैं जो गौड़ बंगाला में ब्रह्म के

क्षेत्र में शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त इन प्रदेशों में जाया करते थे, तथा तहाँ शिक्षा प्रदान किया करते थे।

जिस प्रकार आजकल पी० रुच० डी०, तथा डी० लिट० आदि की उपाधियाँ शिक्षा के क्षेत्र में दी जाती हैं, वैदिक काल में उसी प्रकार परमविद्वान् ब्राह्मण को "श्री" की उपाधि से सम्मानित किया जाता था। जो भी जिस क्षेत्र में विद्वत्ता ग्रहण करता था, उसे उसी क्षेत्र की विद्या की "श्री" की उपाधि प्रदान की जाती थी। जो प्रकृति में विद्वान् 108 तत्वों का सभी का ज्ञाता बन कर विशेष विज्ञान वैसा बन कर परमत्पर की बन जाता था उसे श्री श्री रुक् सो आठ अमुक महाराज जी के नाम से जाना जाता था। वह उस की उपाधि का नाम बन जाता था तब वह श्री से युक्त 'श्रीमान' कहलाता था। ऐसे गौड़ ब्राह्मणों को "श्री आदि गौड़ ब्राह्मण" कहते थे। इन्हीं में से महर्षि विश्वामित्र माने जाते हैं - जिन के पास 'कामधेनु' गौ का यन्त्र था जो मन में इच्छा मात्र उत्पन्न होने पर ही इच्छित वस्तु उपलब्ध करा देता था। विश्वामित्र राजा की विशाल सेना को तुरन्त तैयार मौजब इसी यन्त्र से इच्छा शक्ति के द्वारा प्राप्त कराया गया था। इसी यन्त्र के बल पर उस की विशाल सेना को भी परास्त कर के भगा दिया गया था। इतना उच्च कोटि का विचारित वह विज्ञान था। उस विज्ञान का बीज हमें आज भी पुरुष की संरचना के वैदिक मन्त्रों में 'पुरुषसूक्त' में मिल रहा है। 'अश्व' सूक्त में तथा विश्वेदेवता सूक्त में भी उस विज्ञान के बीज हमें दिखाई पड़ते हैं - जहाँ पर ही की रचना अर्णव समुद्र के अर्णवों से मीहजात मीलिक अर्थ की संरचना बताई जाती है। यदि इस बिन्दु की रचना की क्रिया को किसी तत्कालिक के द्वारा आज भी हम यदि नियन्त्रित करने में सफल हो जायें तो वह 'कामधेनु' आज भी उपलब्ध हो सकती है। विज्ञान में इन यन्त्रों की रचना के उपकरण यन्त्र उन्हीं पदार्थों से बनते हैं - जिन में वे धर्म पहले ही निदग्गण हैं - जिन धर्मों का साध्य हम प्राप्त करना चाहते हैं। मन्त्र है -

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नावं मीदमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 50)

अर्थ है - रुक् देव के यज्ञ से दूसरा देव अपने यज्ञ की रचना करता है।

इस प्रक्रिया में अपने पूर्व साध्य देवों की प्राप्ति करने के लिए ये उन देवों के यज्ञों को अपने यज्ञ में समाहित करते हैं - जिन में उनके पूर्व साध्य देव के

धर्म पहले ही विद्यमान थे। इस प्रकार वे स्वयं देव की रचना से दूसरे देव की रचना को बड़ा करते हुए स्वर्ग के देवों 'न', 'अ', 'ज' की रचना करते हैं।

(Neutron)

'न' अणु की रचना होने से अणु की नाभि की पूर्ण रचना होने पर स्वयं विशेष तत्व का अणु हमें प्राप्त हो जाता है। उस 'न' अणु का विशेष रूप 'ज' अणु में समाहित पुरुष की विशेष ऊर्जा के विशेष संकल्प स्थापित करते हैं। पुरुष की रचना अणुओं के तन्तुओं से बनती है। वही पुरुष 'देहि' (आत्मा) का स्वरूप धारण करता है। यह 'देहि' सूक्ष्म आत्मगुणों के द्वारा 'ज' अणु का रूप बदल देते हैं। यह परिवर्तन पुरुष में उदित व्यास के संकल्पों द्वारा हो जाता है। इसे आत्मगुणों द्वारा हुआ परिवर्तन कहते हैं। इस परिवर्तन को अपने शरीर में इस प्रकार देखा जा सकता है।

आप शान्त रूप में बैठे हैं। आपका मन और शरीर शान्त अवस्था में पूर्ण रूप से स्वरूप अपनी सामान्य गति कर रहा है। अचानक कोई मन में पुरानी बात याद आ जाती है। उस स्मरण से आप को क्रोध आ जाता है। क्रोध आते ही आपका शरीर के अणुओं के अवयवों में स्वयं विशेष परिवर्तन आ जायेगा। आपका शरीर कांपने लगेगा, आपका चेहरा लाल हो जायेगा। दिल की चड़बड़ तेज हो जायेगी। आप के शरीर के अणुओं में विद्यमान Electrons की गति तीव्र हो कर उन की frequency बढ़ जायेगी। आप के शरीर में से निकलने वाली आभा की Radiation बढ़ जायेगी। यह सारी प्रक्रिया आप के शरीर में बाहर से कोई पदार्थ अन्दर उलने से नहीं। अपितु आपकी आत्मा के पुरुष में उदित नये संकल्पों के कारण हुई है। इसे ही आत्मगुणों द्वारा हुआ परिवर्तन कहते हैं। आपूर्ति विज्ञान के इस प्रकार के परिवर्तन को मस्तिष्क में न्यूरोन्स की प्रक्रिया के कारण बताते हैं। परन्तु उनका यह तथ्य कील नहीं है। क्योंकि न्यूरोन्स के तन्तुओं की रचना पूरे अणुओं के अंतराला बन्धन से होती है। पूरा अणु अपने अवयवों Electrons, Neutrons, Protons आदि को प्रभावित नहीं कर सकता। उसने तो जो धर्म धारण करना था, वह धर्म धारण कर लिया। Radiation में परिवर्तन पूरे अणु से नहीं अपितु अणु के अवयवों Neutrons तथा Protons के भी अवयवों में परिवर्तन करने से होता है। स्पष्ट है - वह पुरुष के अणुओं से

बने अब्ब में परिवर्तन करने से ही ऐसा हो सकता है / अतः यह आत्म गुण का ही परिवर्तन है / पूर्व देव के यज्ञ से पर देव के यज्ञ की रचना होती है / दूसरे प्रकार का प्रकृति में परिवर्तन स्व तत्त्व की दूसरे तत्त्व

के साथ रासायनिक क्रिया करने से या Nuclear reaction करने से होता है / इस प्रकार के परिवर्तन को क्रिया गुण का परिवर्तन कहते हैं / तीसरे प्रकार का परिवर्तन अपर गुण द्वारा हुआ परिवर्तन है / जैसा

पहले बताया गया है कि ऋतु में प्राङ् की पराशक्ति और अपाङ् की अपराशक्ति स्व दूसरे की विरोधी क्रिया करती है / प्राङ् में सत् विद्यमान होता है जो क्षरित असत् को पुनः स्व करके अक्षर सत् में बदलने का प्रयास करता है, तथा अपाङ् में अक्षर क्षेत्र की अपराशक्ति होती है जो स्व अक्षर सत् को क्षरित करके बहुत से क्षर असत् रूपों में बाँटती है / स्व तीड़ती है तो दूसरी जोड़ती है / रुद्र की अपराशक्ति तीड़ती है तो विष्णु के सत् रूप की पराशक्ति जोड़ती है / यही परा-अपराशक्ति की क्रियाओं से रूप बदलना अपर गुण की क्रिया कहलाती है / मन्त्र है -

सूक्ष्मानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।

क्रिया गुणैश्च आत्मगुणैश्च तेषाम् संयोगहेतोरपरोऽपि दृष्टः ॥

इस मन्त्र में उपरोक्त तथ्य ही वर्णित है [श्वेताश्वतरोपनिषद् - 5, 12]

अतः पुरुष के अर्णवों की प्रक्रिया को अर्णवसमुद्र में नियन्त्रित करने से कामधेनु की पुराणों में वर्णित प्रक्रिया सम्भव होती दिखाई देती है / यह विज्ञान के लिए आगे का खोज का विषय बन सकता है / पुरुष की प्रक्रिया का नियन्त्रण आत्म गुण द्वारा सम्भव है / अतः यदि कोई तपस्वी योग साधना के द्वारा अपना आत्मबल बढ़ा लेता है, तो वह अपने आत्मबल से इस प्रक्रिया को पुरुष के अन्तर नियन्त्रित कर सकता है / विशिष्ट ऋषि ने अपने आत्मबल को अपने गैरा की प्रक्रियाओं द्वारा इतना अधिष्ठा बढा रखा था कि वह अपनी इच्छा नात्र से ही कामधेनु से अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेते थे / यों में स्थित अर्णव पुरुष के नियन्त्रण से त्रित के मौलिकार्थों में विशेष साध्य के चर्मों को धारण करते हुए इच्छित पदार्थ की रचना कर देते थे / उनसे ब्रह्म में इष्ट था / इसी कारण तो उनको महर्षि विशिष्ट कहा जाता था / वही ईष्ट ग्रन्थ में विशिष्टः ।

महर्षि व्यास ने महाराजा परीक्षित और उन की रानी को भी इबंगाला

के ब्रह्म क्षेत्र के निवासी उन वैदधरा, तपोधन, श्री आदि गौड़ ब्राह्मणों के विषय में बताया कि आप उन्हें लेकर आएं। वे ही आप के यज्ञ को सफल बना सकते हैं।

महाराजा परीक्षित सम्मान पूर्वक उन ब्राह्मणों को तहों में लेकर आये। प्राणियों के हित के लिए ब्राह्मण अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए सदैव से तत्पर रहते आये हैं। दधिचि ने तो अपनी अस्थियों तक इन्द्र को वज्र बनाने के लिए प्रदान कर दी थी। अतः राजा के ब्रह्म-हत्या के दोषी होते हुए भी मानव कल्याणार्थ उन्होंने यज्ञ को सफल बनाने की स्वीकृति प्रदान कर दी। वे ब्राह्मण इन्द्र प्रस्थ में आये/उन्होंने आकर केवल अठारह दिनों में ही पूरे आणविक विषय को शान्त कर के यज्ञ को सफल बना दिया। एक सौ आठ प्रकार के तत्वों के स्वयं सौ आठ प्रकार के अणुओं (Atoms) से उठने वाले शक्त्वमय चूम (cloud of radiation) को नियन्त्रित करने के लिए उन्होंने सौ आठ यज्ञशाला की वैदियों का तथा यज्ञ श्रद्धिग्रा में कहलाने वाले हवन कुण्डों के स्वयं चक्र का निर्माण किया और अठारह दिन में उस उद्घाटन को सुव्यवस्थित कर के नियन्त्रित कर दिया। आधुनिक विज्ञान वैसा अभी ऐसा करने में असमर्थ है। वे अभी तब उद्घाटन (Radiation) के इस शक्त्वमय चूम में वातावरण में स्वतन्त्र रूप से विचरते हुए को नियन्त्रित करने में असमर्थ है, परन्तु उन वैदिक विज्ञान वैद्यकृतियों ने उस शान्ति यज्ञ को सफल बना कर ऐसा किया। ऐसा उस शान्ति यज्ञ की सफलता के उत्तरव से प्रमाण मिलता है।

शान्ति यज्ञ के सफल होने पर और महाराजा परीक्षित के दरबार में उन श्री आदि गौड़ ब्राह्मणों का पूज्य पुरोहितों के स्थान पर बैठने से वहाँ के उन स्थानीय ब्राह्मणों के मन को अति कष्ट पहुँचा जिन्हें के प्रियजनों की राजा ने पूर्व में हत्या कर दी थी। वे उस राजा के विनाश के विषय में सोचने लगे। इस के लिए प्रथम उन्होंने राजा का स्तुति गान करते हुए राजा का विश्वास अर्जित किया। वे ब्राह्मण राजनीति में निपुण थे। राजा यहाँ पर नीति में उन से मार खा गया। क्योंकि वह जैसे विनीतज्ञों ने नीति के तत्वों को भी लिखा है कि -

न विश्वसैद विश्वस्ते, विश्वस्तेऽपि न विश्वसैत् ।

विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निष्पन्तीति ॥

जिस व्यक्ति पर स्वयं बार अविश्वास पैदा हो जाये उस पर उससे विश्वास दिलाने पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए। उस पर पुनः विश्वास करने से मन में भय उत्पन्न हो जाता है जो सफलता की कुञ्जी आत्म विश्वास

की जड़ों को ही काट देता है।

राजा ने इस नीति के विरुद्ध चल कर उन पर विश्वास कर लिया। उन ब्राह्मणों ने राजा और उन नवागन्तुओं की आदि गौड़ ब्राह्मण पुरोहितों के बीच भेद डाल कर अविश्वास उत्पन्न करने का उपाय सोचा। उन ब्राह्मणों ने सबसे पहले राजा के मन में लालच उत्पन्न करने के लिए कहा कि महाराज आप इन विद्वान तथा परमतपस्वी ब्राह्मण पुरोहितों से कोई ऐसा अनुष्ठान करायें जिससे आपका और आपके बाद आपकी सन्तानों का इस पृथिवी पर राज सदैव बना रहे।

राजा को यह लालच भा गया और उसने उन की आदि गौड़ ब्राह्मणों के सम्मुख अपना आग्रह प्रस्तुत कर दिया। उन पुरोहितों ने राजा के उस आग्रह को भी स्वीकार कर लिया। इस आग्रह की पूर्ति के लिए उन्होंने उस समय हुए महाविनाशकारी दृश्य विदारक सर्वनाश के विश्व मुक्त महाभारत के युद्ध के वीमत्स दृश्य का भी स्मरण करते हुए प्रथम रूप का यह निश्चय कर के प्रण लिया कि अब आगे वे इस आणविक विज्ञान की दिव्य शक्तों की विद्या को किसी भी शिष्य को प्रदान नहीं करेंगे। बस इसी प्रण के साथ उसी समय से यह सारी विद्या लुप्त हो गई। उससे आगे विज्ञान का वह साधारण ज्ञान ही रह गया जो अब तक चलता रहा। युद्ध भी तीर तलवारों और भालों के रह गये।

दूसरा कार्य राजा के राज्य को रक्षाधी बनाने के लिए शेषनाग के फण पर कीली गाड़ने का विद्या। शेष नाग पृथिवी के पिण्ड के केन्द्रिय गर्भ में बना अवर क्षेत्र का वह भाग है जहाँ पृथिवी के रजकण तो विद्यमान नहीं हैं परन्तु द्यौ की रचनाओं का अर्णव समुद्र के अर्णवों का और क्षीर सागर के क्षीरों का बना भाग विद्यमान है। आधुनिक विज्ञान बता उसे पृथिवी के पिण्ड के केन्द्र में स्थित vacuum कहते हैं। 'शेष' बाकी बचे हुए अपाङ् के अवर भाग को कहते हैं और जग 'पृथिवी' को कहते हैं। जग का अवयव जग 'कहलाता है। अतः 'शेषनाग' पृथिवी के केन्द्र में स्थित शेष बचा हुआ वह भाग है जहाँ से पृथिवी के रजकण पृथिवी के घूर्णन के आवर्त के बल द्वारा तान कर व्योम में अधिभूत कर दिये हैं और उस स्थान से निकाल दिये गये हैं तथा उस स्थान पर केवल द्यौ का ही सूक्ष्म अंश बचा है। उस शेष भाग के ऊपर व्योम में तने हुए पृथिवी के रजकणों का बना हुआ तल उस शेष नाग का ऊपर उठा हुआ फण कहलाता है। इसी कारण पुराणों में कहा गया है कि

पृथिवी शेषनाग के फण पर टिकी हुई है।

उन ब्राह्मणों ने नाभिकीय प्रियां करके (Nuclear reactions or transmutations) तत्त्वान्तरण प्रक्रिया द्वारा पृथिवी के ऊपरी पृष्ठ के तल के रण्य छोटें से बू भाग के रजकणों के अणुओं को ऊपरी तल से ले कर शेषनाग के फण तक रण्य उत्तम कोटि के स्पात में बदल दिया, और कहा कि हमने यह शेषनाग के फण पर कोली गाड़ दी है। इस कोली का स्पात इतना उत्तम कोटि का है कि विश्व में ऐसा स्पात अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होगा। अतः आप इस स्पात के बने हुए शस्त्र अपनी सेना को प्रदान करते रहें। अन्य किसी भी देश की सेना के पास विश्व में कहीं भी ऐसी स्पात के बने शक्तिशाली शस्त्र नहीं होंगे अतः वे आपकी सेना का तथा आपके बाद आपके पुत्रों की सेना का मुकाबला नहीं कर सकेंगे। जब तक पृथिवी रहेगी - तब तक यह कोली रहेगी तथा तब तक इस कोली के स्पात में से आपकी और आपके पुत्रों की सेनाएं इस स्पात के बने शस्त्र प्राप्त करती रहेंगी। इस प्रकार आपका और आपके पुत्रों का राज्य पृथिवी पर सदैव बना रहेगा।

जब यह उपाय भी सफल हो गया तो उन विरोधी ब्राह्मणों को और अधिक क्रोध हुआ। उन्होंने उस कोली के विनाश के लिए राजा के मन में भ्रम उत्पन्न किया। राजा से कहा गया कि महाराज आप इस कोली का परीक्षण करा कर देखें कि क्या वास्तव में यह कोली शेषनाग के फण तक है या पृथिवी के ऊपर के थोड़े से ही भाग में गाड़ी हुई है। यदि यह पृथिवी के अन्तर कुछ ही थोड़ी सी दूरी तक गई है तब तो यह विशाल सेना के लिए ही घातक बनने में काम में आने के कारण थोड़े से समय के बाद ही खत्म हो जायेगी। उस समय तक तो मे ब्राह्मण जीवित भी नहीं होंगे और अपनी यह विद्या मैं किसी अन्य शिष्य को प्रदान कर के भी अपने प्राणों का त्याग नहीं करूँगे। उस समय इस विद्या को जानने वाला कोई भी व्यक्ति इस पृथिवी पर नहीं होगा। अतः उचित यही है कि इन्हीं ब्राह्मणों की विद्या के द्वारा इन्हीं से इसका परीक्षण अपने सामने करा कर देख लें कि वास्तव में यह कोली शेषनाग के फण तक गाड़ी हुई है। राजा इस बात को सुन कर मतिभ्रम की स्थिति में पड़ गया और उसने उन नतागन्तुय पुरोहितों को उसको परीक्षण का आदेश दे दिया।

उन श्री आदि गौड़ पुरोहितों ने राजा को बहुत समझाया कि आप परीक्षण का आदेश न दें। हमारी विद्या और हमारे वचनों पर विश्वास करें। जो हमने कहा है, वही हमने किया है। परन्तु राजा ने यह नहीं

माना। सत्त्व बार आदेश देने के बाद राजा भी राजहट के कारण अड़ गया। तब उन ब्राह्मणों ने कहा कि आप परिणाम के सोच लें। हमने सत्त्व बार ऐसा कर दिया है। दोबारा हमारे पास ऐसा करने के लिए साधन नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जिस भूमि में सत्त्व बार विरोधी क्रिया उत्पन्न कर दी जाती है, वहाँ पुनः वैसी क्रिया करना सम्भव नहीं होता। अतः हम पुनः ऐसा नहीं कर पायेंगे तथा आप इस लाभ की प्राप्ति से वञ्चित हो जायेंगे। हम जो परीक्षण करेंगे - उससे पृथिवी का गर्म गर्मी के कारण फटेगा तथा उससे ग्रह सारी कीली जल हो कर पत्थर तथा मिट्टी में बदल कर लावे के साथ पर्वत का रूप धारण कर लेंगी। उसके बाद यह कीली कहीं भी नहीं रहेगी।

राजा इतना सभाओं पर भी जब नहीं माना तो उन ब्राह्मणों ने भी उसका परीक्षण कर के राजा को दिखाने का निश्चय कर लिया। साथ में राजा से कहा कि अब आप को हमारी विद्या और हमारे वचनों में विश्वास नहीं रहा है, अन्यथा आप यह परीक्षण का आदेश न दें। इस लिए जब हमारे में आपका विश्वास ही नहीं रहा तो हमारा आप के राज्य के अन्दर रहना निरर्थक है। दूसरे हम भी इसे अपना और अपनी विद्या का अपमान मानते हैं। अतः हम यह परीक्षण करने के उपरान्त आप से कुछ भी लिये बिना आप के राज्य से बाहर चले जायेंगे। ऐसा कह कर उन्होंने परीक्षण कर के दिखाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु उन ब्राह्मणों ने अपनी इस विद्या के चमत्कार के चिन्ह को इस पृथिवी पर छोड़ने का भी निश्चय किया। अतः उन्होंने उस कीली के स्पात में से कुछ अंश लेकर सत्त्व और स्तम्भ बना कर अलग से सुरक्षित रखा तथा शेष भाग को परीक्षण की प्रक्रिया में काले पहाड़ के रूप में बदल दिया जो दिल्ली से अलवर तक के क्षेत्र में फैला हुआ है। उसी शेष सुरक्षित बचाये स्पात के अंश के लौहस्तम्भ को उन्होंने लुतुब मीनार के पास सत्त्व मन्दिर बनवा कर और उसमें सृष्टिरचना से सम्बन्धित वैदिक देवताओं की प्रतिमाएँ दीवारों, स्तम्भों (स्वूपों) आदि में खुदवा कर तथा कुछ को अँकले - अँकले स्वतन्त्र रूप में स्थापित करके नाम की रचना के अनुरूप 'त्रिनामि चक्रम्' के अनुसार मन्दिर की रचना कर के उस चक्र के अक्ष के केन्द्र में स्थापित करवा दिया। उस मन्दिर के तीन चक्रों के परकोटे के मगनावशेष आज भी वैदिक देवताओं की प्रतिमाओं और ज्योतिष की आकृतियों के साथ देखे जा सकते हैं।

ऐसा करने के उपरान्त जब वैश्री आदि गौड़ ब्राह्मण 'उस राजा के राज्य को छोड़ कर बिना कुछ राजा से लिये चल दिये तो रानी ने राजा को पुनः इस अनर्थ होने के अशुभ परिणाम के विषय में चेतावनी दी। रानी ने राजा से कहा कि महाराज आपने इन ब्राह्मणों की विद्या का बल तथा इनका तप परीक्षण कर के देख लिया है। सारे विश्व में इनके समान कहीं भी कोई इतना तपस्वी और ब्रह्मविद्या का बलशाली व्यक्ति नहीं है। ये पूर्णरूप से शुद्धहृदय ब्राह्मण हैं। यदि ये आपके राज्य से बाहर किसी अन्य के राज्य में चले गये तो वह राज्य इनको पाकर धन्य हो जायेगा। वह इनके तपोबल तथा ब्रह्मविद्या के बल से आपकी तुलना में कई गुणा अधिक बलवान हो जायेगा। फिर वह आपके ऊपर आक्रमण करके आपको तथा आपके राज्य को विन्नीभिन्न कर सकता है। अतः इन ब्राह्मणों का हमारे राज्य से बाहर जाना हमारे लिए आत्महत्या के समान होगा। अतः हमें अपना यदि सर्वस्व भी बलिदान करना पड़े - तब भी हमें इन्हें सब कुछ अर्पित करके भी यही शर्त देने का प्रयास करना चाहिये। इसी में हमारा, हमारे राज्य का तथा हमारी प्रजा का हित है।

यह विचार विमर्श करने के उपरान्त राजा और रानी ने उन ब्राह्मणों से अन्तिम बार राजा और रानी के द्वारा तैयार कराया गया भोजन आतिथ्य सत्कार के रूप में ग्रहण करने का जीवनय अनुरोध किया तथा उसके पश्चात् उनके राज्य से बाहर चले जाने की ब्राह्मणों की इच्छा को पूर्ण करने का राजा ने और रानी ने वचन दे दिया।

इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राजा और रानी ने गुप्त रूप से कचौड़ी में तैयार कराई। वैश्री आदि गौड़ ब्राह्मण संख्या में 1444 थे। अतः 1444 स्वर्ण मुद्राएँ तुरन्त उपलब्ध कराई गई। राजा और रानी ने अपने पूरे राज्य को 1444 उपखण्डों में विभाजित किया और रज्ज-रज्ज उपखण्ड का नाम रज्ज-रज्ज स्वर्ण मुद्रा पर गुदवा दिया। उस के बाद रज्ज-रज्ज स्वर्ण मुद्रा रज्ज-रज्ज उस विक्षेप कचौड़ी में सर दी गई, जो प्रत्येक ब्राह्मण को भोजन के समय अर्पित करनी थी। रज्ज-रज्ज कचौड़ी जब परोस दी गई तो भोजन करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करने को कहा गया और साथ में कहा गया कि और भी भोजन साथ-साथ आ रहा है। जब सभी ब्राह्मणों ने वैदमन्त्रों द्वारा राजा से संकल्प कुड़वा कर उस रज्ज-रज्ज कचौड़ी को विधिवत ग्रहण कर लिया और उसे वे तोड़ कर खाने लगे तो सभी ब्राह्मणों के हाथों में रज्ज-रज्ज स्वर्ण मुद्रा भी आ गई जिसपर राजा के राज्य के रज्ज-रज्ज उपखण्ड का नाम भी खुदा हुआ था।

ब्राह्मणों ने राजा से और रानी से इस सब का रहस्य पूछा तो उन्होंने भी

उत्तर दिया कि यह सब आप जो दिने गये वचन और आपकी इच्छा की पूर्ति के लिए हमने अपना गृहस्थ का धर्म समझ कर किया है। लचौड़ी तथा उसके साथ अन्य भोजन आपके आतिथ्य सत्कार के लिए भोजन दिया गया है। साथ में जो रुख-रुख स्वर्ण मुद्रा दी गई है - वह हमने अपने पूर्ण राज्य को आपकी पूर्ण संरक्षा

1444 के अनुसार - 1444 उपखण्डों में बाँट दिया है। रुख-रुख उपखण्ड का नाम रुख-रुख स्वर्ण मुद्रा में लिख दिया है तथा भोजन के संकल्प के साथ ही 1444 उपखण्डों में बाँट कर हमने अपना सारा राज्य आप लोगों को अर्पित कर दिया है। अब आप हमारे वचनों के अनुसार हमारे राज्य से बाहर अपने राज्य में चले गये हैं। अब आप हमारे राज्य में नहीं हैं, अपितु हम यहाँ आपके राज्य में खड़े हैं। अतः हमने अपने वचन पूरे कर दिये हैं।

इतना सुनकर वे ब्राह्मण राजा की भक्ति तथा त्याग के बल में बँध गये। भक्ति तथा त्याग का बल सर्वोपरि होता है। उसके सामने स्वयं परमात्मा भी झुक जाता है, मानव की तो उसके सामने कुछ भी स्थिति नहीं है। अतः अब वे ब्राह्मण राजा के वशीभूत हो गये। उन ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर कहा कि है राजन! हम आपके त्याग के सम्मुख नतमस्तक हो गये हैं। हम आपको गलत समझ बैठे थे। हमने संकल्प द्वारा यह सब कुछ ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार आपके वचनों की भी पूर्ति हो गई और हमारे द्वारा चारण दिया गया संकल्प भी पूरा हो गया। आपने यह सब बड़ी बुद्धिमत्ता से कर दिया। आप धन्य हैं। आप अब हमारे राज्य में हमारी प्रजा बन कर विद्यमान हैं। अतः अब आप हमारे आदेबा को मानने के लिए भी बाध्य हैं। हम आप को आदेबा देते हैं। कि हमारे सभी ब्राह्मणों के इस राज्य के शासन को शासनाध्यक्ष बन कर आप उसी प्रकार हमारी अनुमति से चलायेंगे जैसे कि पहले चलाते थे। आप उसी महल में उसी प्रकार रहेंगे। सारी सेना आप के विग्रहण में उसी प्रकार रहेगी तथा हम अपने-अपने भूखण्डों में जाकर अपनी-अपनी शासन व्यवस्था को जाकर देखेंगे।

इस प्रकार वे 1444 ब्राह्मण विभिन्न ऋषियों की सन्तान होते हुए 1444 शासकों में बाँट गये। उससे पहले प्रत्येक ब्राह्मण अपने पूर्वज ऋषि की सन्तान के नाम से गोत्रानुसार जन्मे जाते थे। अब वे गोत्र के साथ-साथ शासन के अनुसार भी अपना परिचय देने लगे। वे ही शासन आज तक प्रत्येक ब्राह्मण के गोत्र के साथ आज भी जुड़े हुए हैं।

इन सामाजिक, साहित्यिक तथा प्रत्येक रूप में वर्तमान में भी उपरिचत प्रमाणों के आधार पर हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य के वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, पुराण आदि ग्रन्थों ने गूढ़ रूप से ब्रह्मविद्या का विधिवत विज्ञान दिया हुआ है।

इसी ब्रह्म विद्या के विज्ञान में ही सारा आणविक रचना का विज्ञान भी छिपा हुआ है। आधुनिक विज्ञान वैसा इस विज्ञान की खोज में जो आंधरे में भटक रहे हैं - वेद और उपनिषद् उन्हें उचित दिशा दिखाने की सामर्थ्य रखते हैं। अतः आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन करना ब्राह्मणों के सहयोग द्वारा उनके अन्तर्गत के ज्ञान तक पहुँचना वर्तमान के युग में अत्यावश्यक है, क्योंकि आज विश्व जिस परमाणु बम के बनने से अपने अन्तिम विनाश के छोर पर बैठा है, उससे सुरक्षा इस आणविक विज्ञान का पूर्ण ज्ञान ही कर सकती है। यह वेदों की तथा उपनिषदों के ज्ञान की सहायता से सम्भव हो सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक में इसी प्रकार के वैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचनों के साथ आणविक रचना का ज्ञान तथा उस ज्ञान का प्रयोग साधना में उपयोग - सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह ग्रन्थ पूर्णरूप से विज्ञान आधारित ग्रन्थ है अतः सारे विश्व का हितकारी है। इसमें किसी चर्म या मत का कोई बन्धन नहीं है। विज्ञान का ज्ञान विश्व में सभी के लिए होता है। अतः विश्वहित को ध्यान में रखकर सभी प्राणिमों के हित के लिए यह इस 'वैताश्वतर' उपनिषद् का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा क्लेशचद् दुःख भागभवेत् ॥

ॐ नमः शिवाय ।

दिनांक -

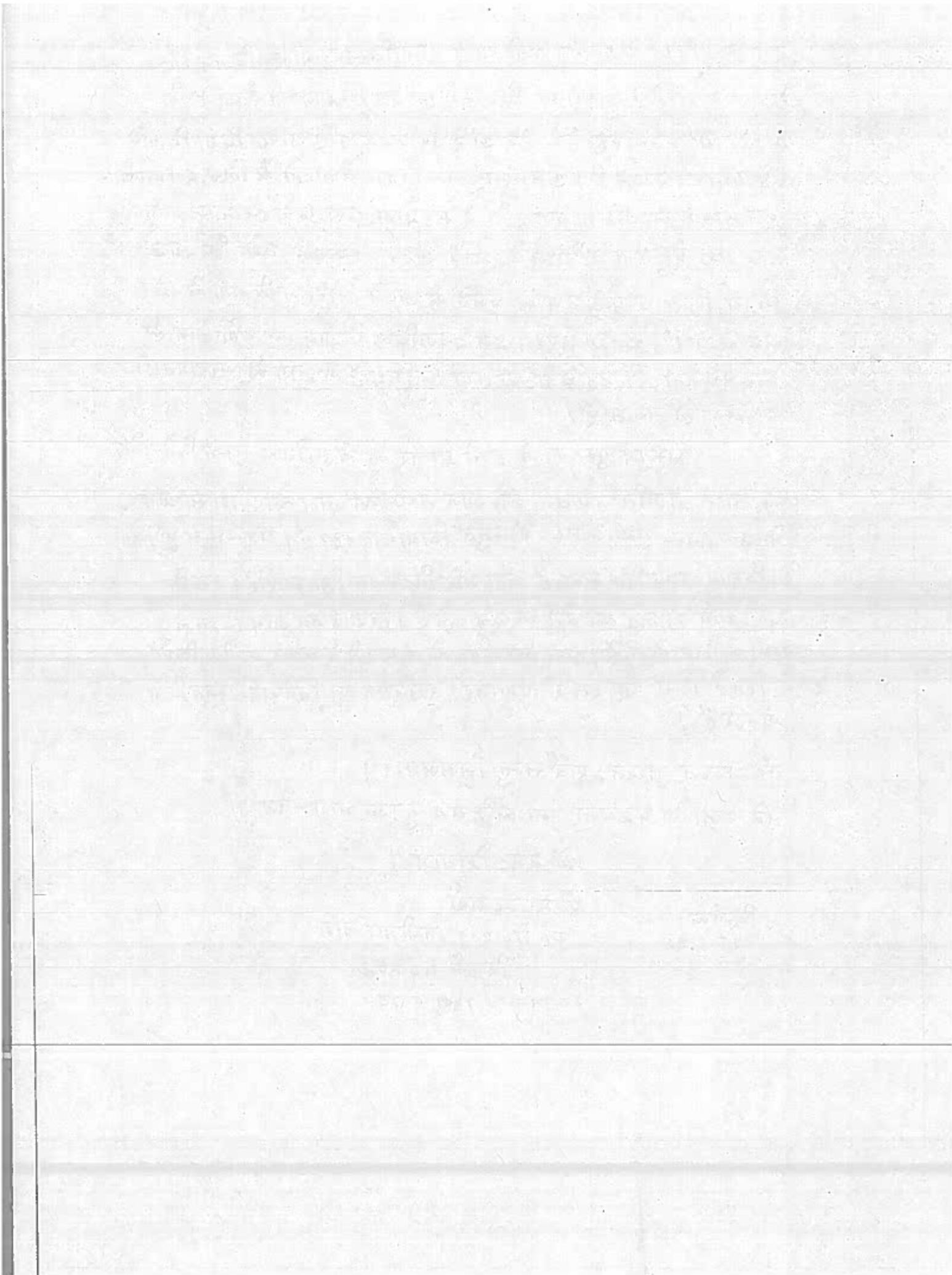
२५-५-९२

रविमचन्द्र शर्मा

रू० बी० २०३, बालीमार बाग

दिल्ली ११००५२.

फोन नं. = ७५४५५७९.



“अथ श्वेताश्वतरोपीनिषद्”

‘प्रथमोऽध्यायः’

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति —

किम् कारणम् ब्रह्म कुतः स्म जाता

जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठाताः केन सुरैतरेषु

वर्तमाने ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ ①

निर्गुण ब्रह्म से अवतीरित सगुण ब्रह्म के प्रथम अवतार विष्णु भगवान् हरि का तथा सद्ब्रह्म के वाचक ॐ का स्मरण करते हुए ब्रह्मवादियों का समूह स्फुटित होकर आपस में वार्ता करता है — हे ब्रह्मवादियो ! हम आपस में इन विषयों पर वार्ता करते हैं कि : —

क्या (संसार का) कारण ब्रह्म है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं ? हम किस के द्वारा जीवित रहते हैं और हमारी अन्तिम परिणति कहाँ है ? हे ब्रह्म वैज्ञानो ! हम किस से प्रेरित होकर सुरवदुःख की व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं । ①

यह श्वेताश्वतरोपीनिषद् किसी एक व्यक्ति के विचारों का मन्थन नहीं है, अपितु आपल ऋषि के आश्रम में संहित ऋषियों के समूह का लम्बे चिन्तन और परीक्षणों के आधार पर प्रमाणीकृत तथ्यों का विवेचन है । इसी कारण प्रारम्भ में विष्णु भगवान् सगुण ब्रह्म ‘हरि’ और निर्गुण अव्यक्त रूप ब्रह्म के प्रतीक ॐ का स्मरण करते हुए ब्रह्मवादियों का समूह सृष्टि की रचना के विषय में वार्तालाप करता है :—

प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ में ही वार्तालाप की विषयवस्तु निर्धारित की गई है । “किम् कारणम् ब्रह्म ?” के प्रश्न से वार्तालाप का प्रारम्भ किया गया है, जिसका अर्थ है कि, “क्या सृष्टि का कारण ब्रह्म है ? अर्थात् क्या वह मूल कारण तत्त्व ब्रह्म है, जिससे यह सारी सृष्टि रची गई है ?

क्या यह सारी सृष्टि ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है ? यहाँ इस प्रश्न में ही इसका उत्तर छिपा हुआ है, क्योंकि कि प्रश्न करने की यह विधा ही इस प्रकार की अपनाई गई है। यहाँ हम सब का कारण ब्रह्म बताया गया है। हम सब का अर्थ यहाँ सम्पूर्ण सृष्टि है। इस बात को अधिक स्पष्ट अगले भाग "कुतः स्म जाता ?" के प्रश्न में कर दिया गया है। हम सब कहाँ से उत्पन्न हुए ?

"हम सब" का अर्थ और अधिक व्यापक लिया जाये तो ब्रह्म भी हम सब के अन्दर आ जाता है। अतः "किम् कारणम् ब्रह्म ?" का अर्थ चिन्तन के लिए यह भी लगाया जा सकता है कि "ब्रह्म का भी क्या कोई कारण है ? अथवा ब्रह्म ही सब का कारण है ? अर्थात् क्या मूल तत्त्व ब्रह्म ही है, जिससे यह संसार बना है ? क्या सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है ? हम सब में जो जीवन (Life) है, वह किसके कारण है ? हम सब कहाँ से उत्पन्न हुए हैं और हमारी सबकी अन्तिम परिणति कहाँ पर होगी ? इस जगत के पदार्थों की और हमारी सबकी अन्तिम अवस्था में कहाँ पर स्थिति होगी ? हम जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, और दुःखों से बचने का तथा सुखों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं, इस अवस्था में हमें कौन प्रेरित करता है ? इस सारी व्यवस्था के विषय में हम सारे ब्रह्मवैता वर्तमान करते हैं।

किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भिक मन्त्र से ही उस ग्रन्थ की विषय-वस्तु निर्धारित हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि इस उपनिषद् में पदार्थ की संरचना, उस पदार्थ से बने पिण्ड में सजीवता के जीवन का समावेश तथा उसकी विनाश प्रक्रिया द्वारा अन्तिम परिणति का विवेचन किया गया है। साथ में दुःखों से निवृत्ति तथा सुखों की प्राप्ति के साधन का भी विवेचन किया गया है। संसार के सभी पदार्थों की सम्भूति और विनाश के चक्र का साथ-साथ ज्ञान प्रदान करने का प्रयास किया गया है। संसार के सभी पदार्थों का मूल पदार्थ भी सोचा गया है। इस मन्त्र के पहले वाक्य "किम् कारणम् ब्रह्म" से ही स्पष्ट है कि विश्व के सभी पदार्थों का मूल कारण और सभी शक्तियों का भी मूल कारण तत्त्व "ब्रह्म" सोचा गया है।

आधुनिक विज्ञान में पदार्थ की मूल इकाई अणु (= Atom) को माना गया है। वैदिक विज्ञान में भी अणु (Atom) को ही पदार्थ की मूल

इकाई माना गया है।

यहाँ एक विशेष बात ध्यान पूर्वक बताने के लिए यह है कि वर्तमान में हिन्दी में एटम (Atom) शब्द के स्थान पर आधुनिक विज्ञान में "परमाणु" शब्द का प्रयोग भारतीय वैज्ञानिक मानक शब्दावली में किया जा रहा है - जो बिल्कुल अशुद्ध (wrong) है। क्योंकि वैदिक साहित्य में पुरातन काल से एटम (Atom) के लिए "अणु" शब्द का प्रयोग होता रहा है। अतः उस पुरातन तारतम्यता में वर्तमान में अज्ञानता के कारण विच्छेद उत्पन्न करना भाषा के निरन्तर सार्वकालिक अर्थबोध की तारतम्यता के गुण के लिए अक्षम्य एक बहुत बड़ा अपराध है। 'अणु' शब्द का अर्थ आधुनिक विज्ञान के मॉलिक्यूल (Molecule) शब्द के लिए लिया जा रहा है। यह भी पूर्ण रूप से अशुद्ध (wrong) है। क्योंकि Molecule (मॉलिक्यूल) शब्द के लिए वैदिक विज्ञान में 'योग' शब्द मिलता है। एक रासायनिक यौगिक (Chemical compound) में जो दो या दो से अधिक एटमों (Atoms) का ग्रहण होकर एक molecule (मॉलिक्यूल) बनता है, उसे वैदिक विज्ञान में 'योग' कहा जाता है। वैद्य लोग विभिन्न तत्वों की रासायनिक क्रिया करा के विभिन्न प्रकार के रसायन योग बनाते हैं। कणाद ने भी दो अणुओं (Atoms) के योग को द्व्यणु तथा तीन अणुओं के योग को त्र्यणु आदि नाम दिये हैं। 'परमाणु' शब्द का अर्थ वैदिक विज्ञान में 'अणु' से भी छोटे कण जो उस 'अणु' के अवयव होते हैं, उनसे लिया जाता है। जैसे कि अणु (Atom) में उसके अवयव प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन आदि कण हैं। उन्हें वैदिक विज्ञान में 'परमाणु' कहा जाता है। क्योंकि पतञ्जलि सूत्र का उनके योगदर्शन में दिया सूत्र - "परमाणु परमहत्वान्तो ऽस्य वशीकारः" - इस अर्थ की ओर भी संकेत करता है कि 'परमाणु' का बहुत बड़ा महत्व है, उसका अन्त वशीकार है। अतः 'परमाणु' अणु के अन्दर विद्यमान एक पदार्थ का कण है जो अपनी अन्तिम परिणति में श्रुत की वशीकार ऊर्जा में बदल जाता है। वश में करने वाला

‘वशीकारः’ कहलाता है। पदार्थ के मौलिक अर्थों को त्रुट की तरंगों ‘अश्व’ का रूप चारण करके वक्ता में करती है, अतः ऋग्वेद में ‘अश्व’ को विजयी कहा गया है।

दूसरे पतञ्जलि त्रुषि ने विभूति पाद में छब्बीसवाँ सूत्र “भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद्”- जो दिया है, उस की व्याख्या व्यास त्रुषि ने की है। उसकी व्याख्या में सप्त दैवलोकों का विस्तार बताया है। यह सप्तलोकों के विस्तार का सुप्रतीष्ठित संस्थान रूप अणु (Atom) के अणु के मध्य स्थित बताया है। लिखा है-

“तदेतत्सर्वं सुप्रतीष्ठित संस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवौ यथाकाशे खद्योत इति।” यहाँ स्पष्ट अर्थ निकल रहा है कि प्रधान प्रकृति के पदार्थ की इच्छा का अण्ड उस प्रधान प्रकृति के पदार्थ का एक छोटा सा अवयव ‘अणु’ ही है जो इस प्रकार विद्यमान है जैसे कि आकाश में एक जुगनु विद्यमान होता है। उसी में सातों लोकों के प्रसार का सुप्रतीष्ठित संस्थान फैला हुआ है। सातों लोकों के प्रसार का वर्गीकरण अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) में बनता है। नाभि के मेरु दण्ड की रचना का वर्णन वृक्ष की मूर्ति बताकर व्यास त्रुषि ने बड़ी सूक्ष्मता से वर्णित किया है।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि, महर्षि व्यास, महर्षि कणाद आदि ने सभी ने ‘अणु’ शब्द का प्रयोग ‘रुटम्’ के लिए ही किया है। ऋग्वेद के प्रथममण्डल के एक सौ चौंसठे सूक्त में विश्वेदेवाः देवता का वर्णन करते हुए भी ‘अणु’ शब्द का प्रयोग Atom (रुटम्) शब्द के लिए ही किया गया है। ‘अणी’ शब्द का प्रयोग ‘परमाणु’ के लिए हुआ है। [अणोरणीयान्-...।] इसी में सप्तलोकों की रचना का वर्णन करते हुए नाभि को तीन चक्रों ‘पीलत’, ‘अश्न’, ‘धृतपृष्ठ’ में बाँटा गया है। व्यास त्रुषि ने पातञ्जल योग में इनका नाम ‘हरिवर्धम्’,

(5)
इन उचित अर्थों में ही प्रयुक्त करेंगे तब वैदिक साहित्य के प्रत्येक ग्रन्थ के संवर्धन का सही अर्थ प्रकट किया जा सके।
अतः प्रत्येक रूपांतर पर इस ग्रन्थ में आगे 'स्टम' के लिए 'अणु', 'मोलिक्यूल' के लिए 'योग' तथा स्टम के अन्दर स्थित कणों (Particles) न्यूट्रॉन, प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन आदि के लिए 'परमाणु' शब्द का प्रयोग किया जायेगा। इन्हीं शुद्ध अर्थों में आगे इन्हें समझें। आधुनिक विज्ञान में जो स्टम के अन्दर particles - Proton, Neutron, Electron, Mesons m^0, m^+, m^- तथा क्वार्क: Quarks आदि कण बताये हैं, वैदिक विज्ञान में ऋग्वेद में तथा अन्य वैदिक साहित्य के ग्रन्थों षड्वेदांगों आदि में इन सब का अलग-अलग वर्णन इनके नाम तथा गुण बता कर दिया हुआ है। साथ में Quarks कणों की तरंगों के आगे किस प्रकार की इनसे भी अधिक सूक्ष्म रचनाएँ हैं? उनका भी बड़ा स्पष्ट वर्णन दिया है। इस ग्रन्थ में आगे उचित मन्त्रों की व्याख्या में उन सब के विषय में बताया जायेगा।

निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म के रूप में अवतरित होकर कितने काल में किस स्वभाव को चारण करके किस प्रकार की रचना करके किस भूत को योनि को चारण करता है और उसमें पुरुष को रूप चारण करके आत्म भाव से सुख-दुःख का हेतु बनता है या नहीं बनता है? इन बातों का इस में आगे विचार किया जायेगा।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।

संयोगं रूपां नत्वात्मभावात् आत्मा व्यनीशः सुखदुःख हेतोः ॥२॥

निर्गुण ब्रह्मर सव ब्रह्म में सृष्टि सृजन की कामना का संकल्प उदित होने के पश्चात् सगुण रूप में बहु रूप बँटने का प्रथम उत्पाद उस की प्रथम कृति है। इस प्रथम कृति को तथा इस प्रथम कृति के द्वारा प्रयत्न पूर्वक की गई आगे की सृष्टि के सृजन की कृति को ही 'प्रकृति' कहा जाता है। 'प्रथमा कृति इति प्रकृति' अर्थात् प्रयत्न पूर्वक कृति इति प्रकृति, के अनुसार प्रकृति शब्द की निष्पत्ति होती है।

इस सृष्टि के सृजन में सृष्टि के प्रत्येक स्वरूप को चोित करने वाले देव का [द्योतनादेवः] काल क्या है? उसका स्वभाव अलग प्रकार का कैसे बनता है? वह किस नियम के अनुसार नियन्त्रित होता है? क्या किसी आविस्मय द्यटना से भी ब्रह्म कोई संकल्प चारण करके मूल कणों (मौलिक अर्थों) को उत्पत्ति कर देता है अथवा अर्थों के बड़े पिण्डों को रचना कर देता है? सभी भूत किस प्रकार ज्ञान प्रकार की योनिओं को चारण करते हैं? इन योनिओं में ब्रह्म 'पुरुष' के रूप में किस प्रकार विद्यमान है? 'पुरुष' का अर्थ यहाँ पर प्रकृति के मूल अर्थकण में विद्यमान चैतन स्वरूप ब्रह्म है, जो उसे चैतना का जीवन प्रदान करता है। इन सभी विषयों पर चिन्तन होगा। काल, स्वभाव, निगति, प्रवृत्ति, विभिन्न प्रकार के भूत, उन भूतों की विभिन्न योनिओं कि कौन सा भूत किस योनि को चारण करता है, तथा उन कर्मयोनिओं में पुरुष का समावेश, ये सभी कार्य उस प्रकृति के मूल कण में अपने आप संग्रह से नहीं होते, अपितु उनका एक नियम है। मनुष्य सुख की प्राप्ति के लिए और दुःखों से बचने के लिए जो कार्य करता है, वह नियम प्रकृति के इन मूलकणों पर लागू नहीं होता। क्योंकि आत्मा जो शुद्ध ब्रह्म का रूप है, वह सुख दुःख के कारण के नियम से शासित नहीं होता है।

यहाँ यह विचारणीय है कि जब प्रकृति अर्थात् पदार्थ की रचना में हम मूलतत्त्व एक ही ब्रह्म को मानते हैं और वेदों में उस ब्रह्म द्वारा प्रकृति के विभिन्न अवयवों के स्वरूपों को द्योतित करने वाले देवों की रचना की पूर्ण प्रशंसा को बताते हैं, तो ब्रह्म के प्रथम उत्पाद प्रकृति के मूल कण जो एक देव का रूप लेते हैं, उनके जीवन का काल होना चाहिए, उनका उत्पत्ति का समय उनका विलय का समय, उनका अपनी सत्ता में स्थिर रह कर जीवन का समय - ये तीनों काल अवश्य होने चाहिये। काल की गति के साथ प्रत्येक देव के जीवन की क्रियाओं में विशेष परिवर्तन होना चाहिए। तभी वह उत्पत्ति के काल के पश्चात् अपना जीवन भोग कर विलय के काल को प्राप्त होना चाहिए। परन्तु जब ब्रह्म एक सनातन और अनादि मूल तत्त्व है, तो उसमें संकल्पों का उदय और अस्त भी अनादि काल से ही चला आना चाहिए। अतः प्रकृति के मूलकण के उद्भव का समय भी हम अनादि काल से ही मान सकते हैं। यह प्रकृति स्वयं जड़ है, चैतना उसमें उस मूलतत्त्व ब्रह्म के अन्दर उदित संकल्पों के बने प्रवाह के आवेश के कारण है।

(1)

“जायते ऋते संकल्पानि तस्मात् कारणात् जड इति प्रकृतिः उच्यते”
 संकल्प का अर्थ 'सम् + कल्प' के रूप में सन्धिविच्छेद करके करें तो
 'सम्' का अर्थ सम्प्रत्यय प्रकार से की गई और 'कल्प' का अर्थ रचना
 होता है। अतः संकल्प का अर्थ ब्रह्म द्वारा सम्प्रत्यय प्रकार से की गई
 रचना होता है। इन रचनाओं के ब्रह्म में उदित होने को 'अहः'
 और इनके विलय होने को 'रात्रि' कहा जाता है। इन 'अहोरात्रि'
 के संकल्पों के प्रवाह की तरंगों के चक्र से 'संवत्सर' का जन्म
 होता है। ब्रह्म के इस त्रियात्मक स्वरूप को जिस में संकल्पों का
 उदय तथा अस्त हो रहा हो, 'ऋत' कहा जाता है। इस 'ऋत' में
 संकल्प के उदित होने पर जो देव सत्ता को धारण करता है, वह
 अपने नाम और रूप से 'सत्य' का स्वरूप कहलाता है। "नाम-
 रूपे सत्यं" कथन इसी को बताता है। ऋत और ऋत में जन्मे
 देव के सत्य स्वरूप को अभीष्टारणा के पश्चात् उन देवों के द्वारा
 ऋत के चक्र में अवरुद्ध होने के कारण तपस् उत्पन्न होती है।
 इस प्रकार रचना का तपः लोका बन जाता है। रचना के प्रथम
 स्वरूप की सत्ता से जो सत्य स्वरूप प्रकट होता है, उसे सत्यलोक
 की रचना कहा जाता है। उस सत्यलोक के ऊपर ऋत के चक्र में
 अवरुद्ध होकर जो तपस् का लोक बनता है, वह तपः लोक कहलाता
 है। इन तपः लोक के ऋत के चक्रों के तरंगों के रूप में गीत प्रदान
 करके जो आगे की रचनाओं का जनक बनता है, उस देव को ब्रह्म की
 त्रियाओं का आवर्धित स्वरूप का जनक होने के कारण ब्रह्मा
 कहा जाता है। ब्रह्मा के लोक को ही 'जनः' लोक कहा जाता है।
 इसी लोक में 'अहोरात्रि' जो संकल्पों का उदय-अस्त बताया है,
 वह जन्म लेता है, जिससे संवत्सर उत्पन्न होता है। इस प्रकार
 सत्यलोक, तपः लोक, जनः लोक, इन तीन ब्रह्म लोकों के सत्ता
 में आने से एक 'अर्णव' की रचना हो जाती है। ऐसे अर्णवों अर्णवों
 से अर्णव समुद्र बन जाता है और उसमें 'संवत्सर' की गीत से
 धूलोक की रचना हो जाती है। इस प्रकार वह सौरजगत को अपने वश में कर
 लेता है। मन्त्र है—

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीच्छात्तपसोऽद्यजायत । ततो रात्र्यजायत
 ततः समुद्रो अर्णवः ॥

समुद्रादर्णवादिथ संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य
 मिषतो वशी ॥

(8)

इन मन्त्रों का वही अर्थ है, जो ऊपर बता चुके हैं। एक अर्णु में ऋत उसी प्रकार प्रवेश करता है जैसे बिजली औरव को खेलने पर उस में प्रकाश प्रवेश करता है। औरव बन्द करने पर वह प्रकाश अवसृज्य होकर औरव में नहीं जा पाता। पुनः औरव खेलने पर उस में प्रकाश पुनः प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार जैसे औरवों के मिचिमिचाने से प्रकाश सञ्चुकोचो (wave length) द्वारा तरंगों में गति से चलता है, उसी प्रकार अर्णुओं के मिचिमिचाने से अर्णव समुद्र में सञ्चुकोचान्तों के द्वारा ऋत की तरंगें भी गति करती हैं। इन्हीं ऋत की तरंगों को वेदों में 'अश्व' कहा जाता है। क्योंकि बिजली अर्णुओं के केन्द्र में स्थित पराशक्ति से युक्त 'अ' (रुद्र में स्थित विष्णु) चलने के लिए 'श्व' (= गति) को इसी विधा से प्राप्त करता है। इसी कारण 'अ' जब 'श्व' से युक्त हो जाता है तो वह अ+श्व = 'अश्व' कहलाता है। अश्वमेष यज्ञों में इस अश्व को काट छांट कर वैश्वप्रकृति के पदार्थ के स्थूल व्युत्पत्तियों को इन अश्वों के द्वारा नियन्त्रित करके प्रजमान को स्वयं क्षत्र शासन का सामर्थ्य प्राप्त कराया जाता है। क्योंकि ये अश्व सदैव प्रकृति पर विजयी होते हैं। इसी बात को यहाँ इन मन्त्रों में "अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी" वाक्य द्वारा कहा गया है। ऋत की तरंगों में कोई रचना करने के लिए संकल्प के उदय को 'अहः' तथा उस संकल्प के विलय को 'रात्रि' कहा जाता है। इस 'अहोरात्रि' के द्वारा ही 'ऋत' की तरंगों में रुद्र की ऊर्जा 'उ' का सञ्च होकर 'बुच' की अवस्था प्राप्त हो जाती है अतः उस संकल्प को 'सञ्चुकोच' नाम दे दिया जाता है। जब उस संकल्प का अन्त विलय द्वारा पुनः ऋत में हो जाता है तो उसे 'रात्रि' कह दिया जाता है तथा उस सञ्चुकोच के अन्त को 'सञ्चुकोचान्त' कह दिया जाता है। इस प्रकार संकल्पों के उदय और अस्त द्वारा सञ्चुकोचान्तों के माध्यम से ऋत में सम्यक् प्रकार से सरण गति (Linear Motion) तरंगों के द्वारा आगे बढ़ने लगती है और समस्त ब्रह्माण्ड में स्थित अर्णव समुद्र में फैल जाती है। इसी सम्यक् प्रकार की सरण गति को ऋत का 'संवत्सर' कहा जाता है। इसी संवत्सर से काल का चक्र बनता है। इसी काल के पाश द्वारा सम्पूर्ण विश्व नियन्त्रित होता है।

इस प्रकार इस उपनिषद् में काल की प्रक्रिया, स्वभाव की प्रक्रिया, निग्रही की प्रक्रिया, यदृच्छा की प्रक्रिया, भूतों की प्रक्रिया, प्रोनिग्रों की प्रक्रिया, पुरुष की प्रक्रिया का चिन्तन किया जा रहा है। इन सब के संयोग से जो जगत् की प्रक्रिया चल रही है, उसका चिन्तन किया जा रहा है। इन सब का संयोग अपने आप नहीं होता, अपितु उन का निग्रही द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार संयोग होता है। क्योंकि सुख की प्राप्ति के लिए और दुःखों से बचने के लिए प्राणी जो कार्य करता है, वह निग्रम आत्मा के ऊपर लागू नहीं होता। आत्मा शुद्ध ब्रह्म का रूप है, वह सुख दुःख के कारण के निग्रम से शासित नहीं होता। इस का कारण यह है कि आत्मा तो चैतन्य है और मन जड़ है, तथा सुख दुःख की अनुभूति मन का विषय है। मन के अनुकूल क्रिया सुख और मन के प्रतिकूल क्रिया दुःख कहलाती है। मन का सम्बन्ध जिन-जिन इन्द्रियों तथा मनोभावों से होता है, उनके द्वारा इस सुख दुःख की अनुभूति होती है। आत्मा इस अनुभूति से अलग अछूता रहता है। उसके ऊपर इनका प्रभाव नहीं पड़ता।

③ ते च्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिम् स्वगुणैर्निगूढाम् ।

प्रः कारणानि निरिवलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधीतिष्ठत्येकः ॥

(ते) = उन ब्रह्म वेत्ता ऋषियों ने जो समूह में एकत्र होकर ब्रह्म तथा संसार रचना के विषय का विवेचन कर रहे थे, (च्यानयोगानुगता) = च्यान की प्रक्रिया और योग की प्रक्रिया का अध्ययन करते समय च्यान तथा योग में लीन हुए-हुए, (देवात्मशक्तिम्) = देवताओं की आत्मा की शक्ति को अर्थात् संसार में किसी भी स्वरूप का द्योतन करने वाले देव की अपनी शक्ति को, (स्वगुणैर्निगूढाम्) = जो अपने गुणों के सहित बहुत ही निगूढ (रहस्यपूर्ण) शक्ति है, उस आत्मशक्ति को, (अपश्यन्) = देखा, (प्रः कारणानि निरिवलानि तानि) = यह उन देवों की जो अपनी रहस्यपूर्ण गुणों से युक्त आत्मा की शक्ति है, वही उन सारे स्वरूपों का कारण है, जो विभिन्न देवों ने प्रकृति में चारण किये हुए हैं। (कालात्मयुक्तानि अधीतिष्ठत्येकः) = वही एक ब्रह्म की आत्मशक्ति काल की आत्मा से युक्त होकर बहुत से रूपों को चारण

करके प्रत्येक स्वरूप को द्योतित करने वाले देव में अधिष्ठित हैं।
अर्थात् उसके अन्दर निवास करती हैं। [यहाँ "स्वोऽहम् बहुस्याम्"-
का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है॥]

इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम 'देव' शब्द का
अर्थ स्पष्ट करना उचित होगा। "द्योतनात् देवः" की व्युत्पत्ति के अनुसार
इस ब्रह्माण्ड में किसी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा विशाल काय से विशाल-
काय स्वरूप का द्योतन करने वाली रचना को देव कहते हैं। इन देवों
के स्वरूप को तीन भागों में विभाजित किया गया है। (1) अध्यात्मम्,
(2) अधिभूतम्, (3) अधिदैवम्। गीता के आठवें अध्याय में इनके
विषय में इस प्रकार बताया है -

किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मम्, किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम् अधिदैवं किमुच्यते ॥ (गीता 8,1)

हे पुरुषोत्तम श्री कृष्ण! जिसका आपने वर्णन किया है, वह
ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूतनाम
से क्या कहा गया है तथा अधिदैव नाम से क्या कहा जाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ (गीता 8,2)

हे मधुसूदन श्री कृष्ण! यहाँ अधियज्ञ कौन है, और वह
इस शरीर में कैसे है, और युक्तचित्त वाले पुरुषों द्वारा अन्त
समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं?

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संश्रितः ॥

परम अक्षर ब्रह्म के (सद् स्वरूप से असद् स्वरूप में
सृष्टि सृजन की स्वाभाविक इच्छा से असद् रूप में बदलने के)
स्वभाव को 'अध्यात्म' नाम से कहा जाता है। उस 'असद्' का
भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला तथा (चौदह प्रकार के)

विशेष भूत सर्गों को उत्पन्न करने वाला काम "कर्म" नाम से कहा गया है। (विशेष सर्गः इति विसर्गः।) (चतुर्विंशत्या भूतसर्गः।)

अधिभूतं क्षीरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधिग्रहोऽहमेवात्र देहे देहभूतां वर ॥ (गीता ४, ५)

क्षीर भाव वाले अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाश चर्म वाले सब पदार्थ "अधिभूत" हैं और "पुरुष" के स्वरूप में बताये गये सभी देव "अधिदैव" हैं। हे देहधारियों में जैष्ठ अर्जुन इस शरीर में मैं वासुदेव ही विष्णु रूप से अधिग्रह हूँ।

इन ब्रह्मलोकों में अध्यात्म कीटि के देवों की रचना

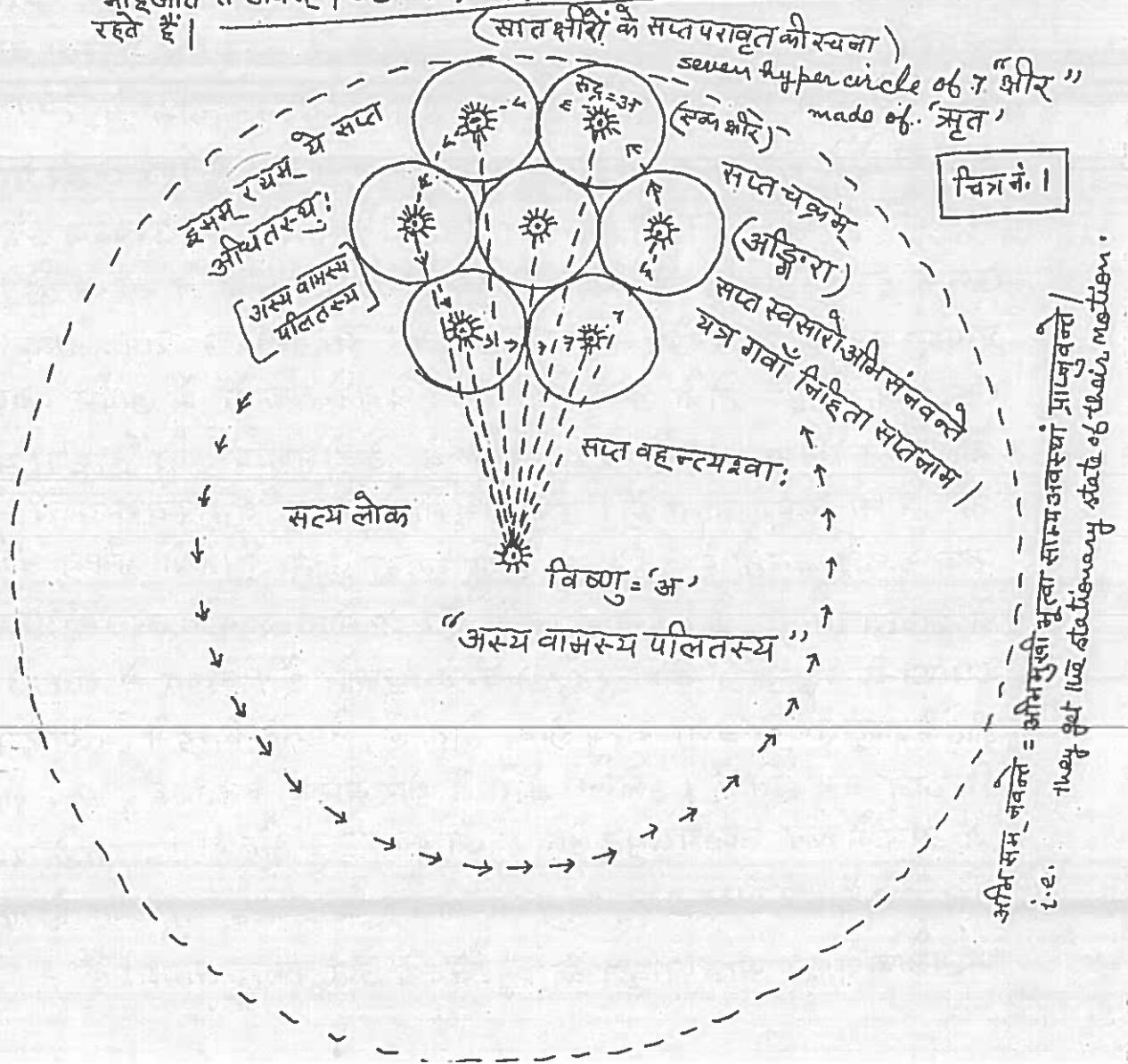
"अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावः" - कहकर बताई है। इस का अर्थ-

"अक्षर परम ब्रह्म के स्वभाव की रचना को ही अध्यात्म" बताया गया है। अब अक्षर परम ब्रह्म के स्वभाव के अनुसार रचना का क्या स्वरूप धीतित होता है और उससे कौन-कौन से देवनिष्ठा रचित होते हैं? इस का उत्तर इस प्रकार बनता है कि अक्षर परम ब्रह्म में सृष्टि सृजन की कामना स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुई और उसने इच्छा प्रकट की कि मैं स्वयं से अनेक रूपों में हो जाऊँ। इस प्रकार वह अनेक रूपों में बँट गया और सत्यलोक, तपः लोक तथा जनः लोक इन तीनों ब्रह्मलोकों के देवनिष्ठाओं में अपने आप को ढाल लिया। इन्हीं ब्रह्मलोकों के देवनिष्ठाओं को "अध्यात्म" की रचना कहा जाता है। इन तीन लोकों के ग्रथित स्वरूप से जो रूप बँटती हैं, उसे ही 'अर्णु' कहा जाता है। ऐसे अनेक 'अर्णव' से अर्णवसमुद्र की रचना हो जाती है। ये लोक स्वयं दूसरे के ऊपर व्याज के छिलकों की तरह आवरण बनाते हैं। केन्द्र में सब से अन्दर क्षीरों के इकट्ठा होने से बना सत्यलोक होता है, जिसके केन्द्र में विष्णु देव विराज मान होते हैं। अनेकों क्षीरों से क्षीरसागर बनता है। स्वयं क्षीर में ऋत के बने सप्तपरावृत होते हैं जो सात तन्तुओं की त्रिज्याओं पर तने होते हैं। प्रत्येक तन्तु ऋत की चारा के प्रवाह का बना होता है। सत्यलोक में इस सप्तपरावृत की ऋग्वेद में इस प्रकार बताया है -

इमं रथमीधये सप्त तस्थुः सप्ताचक्रं सप्त वहन्त्यशवाः ।
सप्त स्वसारौ अभिसंनवन्ते यत्र गवाँ जिहिता सप्त नाम ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 3)

इस का अर्थ है— इस सप्तचक्र (seven hypercircle) के रथ पर ये सात पास में ठहरे हुए सात परावृत हैं जिन को सात अश्व (ऋत में बने तरंगों के बल के आवेग) वहन करते हुए चला रहे हैं। ये सातों चक्र अपने स्व के सार अर्थात् अपने स्वयं के सार के बल से साथ-साथ चलते हैं; तथा अभिसंनवन अवस्था (stationary position) में तब रहते हैं, जहाँ गौओं (अर्ध पिण्डों) के सात नाम स्थापित हैं। अर्थात् ये ही सप्तचक्र सधन हो कर मौलिक अर्थों के पिण्डों में बदल जाते हैं। इस रचना का चित्र इस प्रकार बनता है— अश्व अपने चौंतीसवें देव बन्ध पर मीहजात रूप में रज वण में बदल जाता है। यद्वन्दः प्रथमं जाग्रमान उद्यन् समुद्रादुत्वा पुरीषात् । इमेन स्य पक्षा हरिणस्य वा ह उपस्तुत्यं मीहजातं ते अर्वन् । (ऋग्वेद-1, 163, 1) ये सप्त चक्र अभिसंनवन अवस्था (stationary position) में रहते हैं।



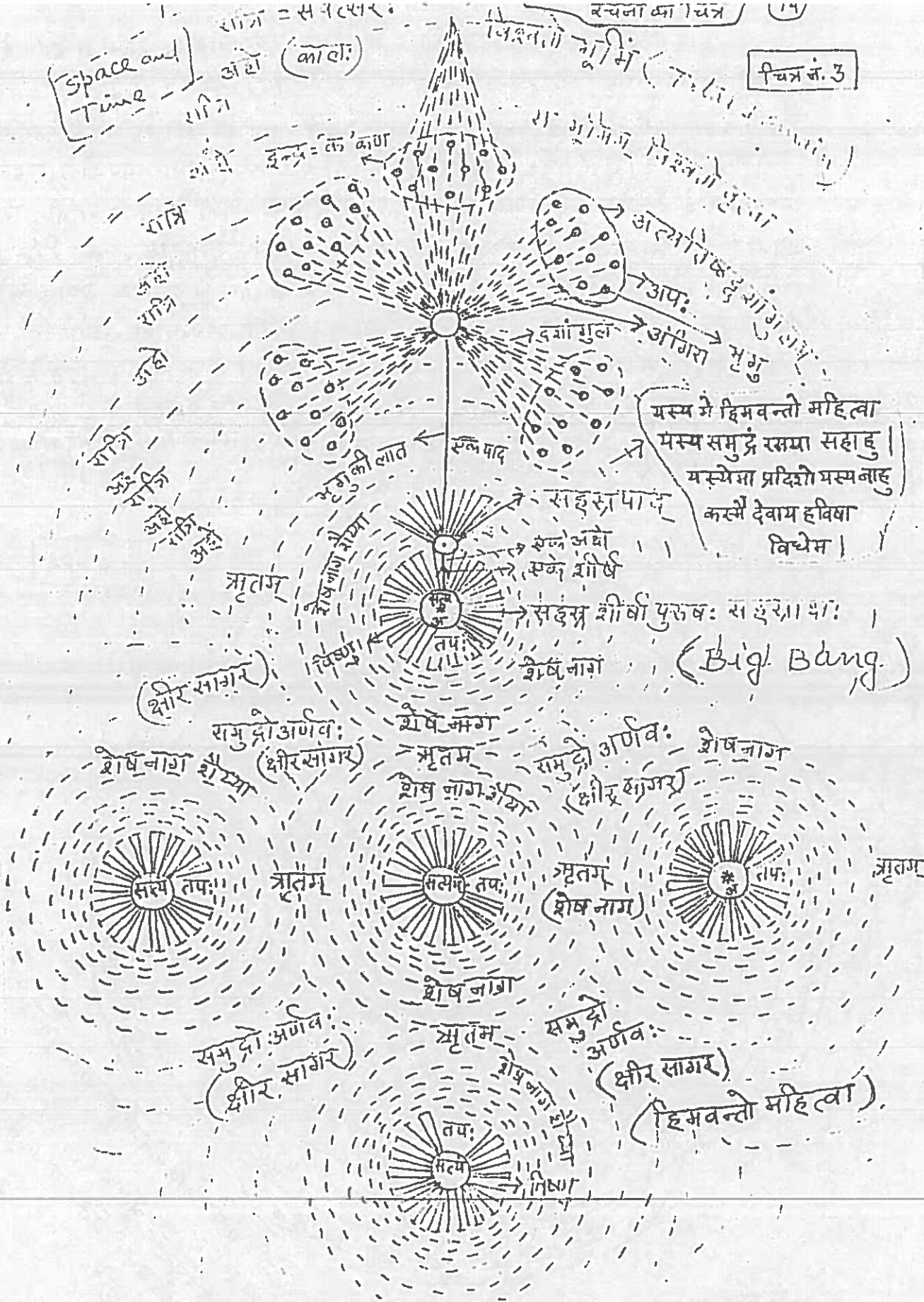
[space and Time]

रात्रि = संवत्सर

अहो (कालः)

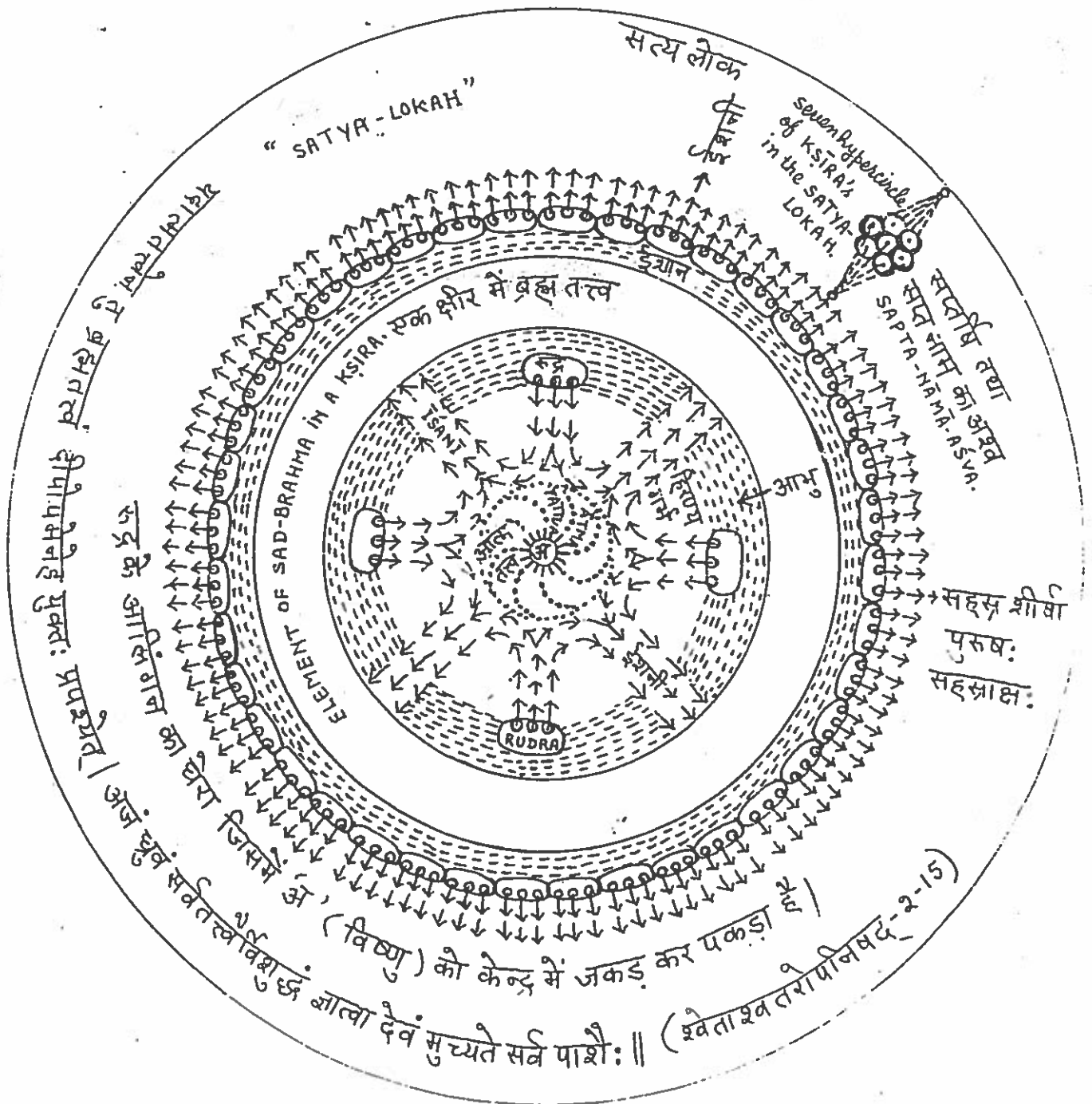
वचना का चित्र

चित्र सं. 3



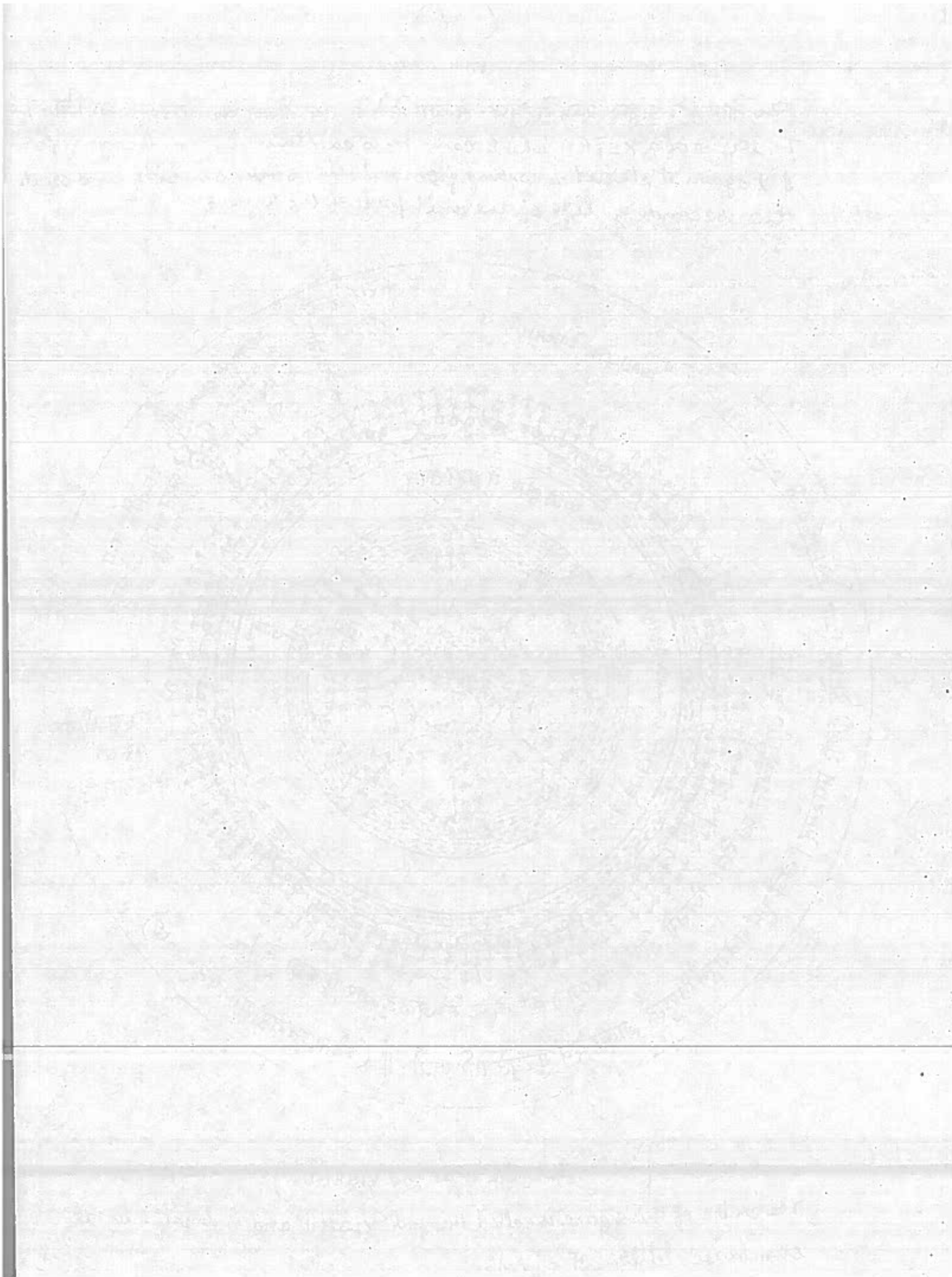
ॐ समुद्रादुर्णवादीध संवत्सरो अजायत ।
अहो रात्राणि विदध्यद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥

एक क्षीर के अक्षर रूप में पुनः क्षरण होने से उपजीवन का प्रारम्भ का चित्र)
The Figure of a KṢĪRA, which came into existence in nondecaying form but again it started decaying from outside as well as inside and creates the secondary life of the unit parts of the universe.



['ॐ' in the centre is the god 'VIṢṆU'.]

The centre of this figure is called the god 'VISHNU' and is denoted by the symbolic letter 'A' = [A].



इस प्रकार अर्णु में अध्यात्म देवों की उत्पत्ति हो जाती है। इस अर्णु से ऊपर महः तथा स्वः लोका की रचना होती है जिन में पुरुष की सत्ता स्थापित हो कर दशमौलिक अर्थों की 'क' कणों के रूप में सत्ता स्थापित हो जाती है। 'क' कणों के संयोजनों से आगे भूत समुदाय के देवों की अधिमौलिक रूप में सत्ता स्थापित हो जाती है। मौलिक अर्थों से बना यह भूत अपनी पूर्व अवस्था के अर्णवों के रूप को प्राप्त करने के लिए निरन्तर क्षरित होता रहता है। यही क्षर माव से युक्त भूतों के बने देव अधिभूतम् की कोटि के देव कहलाते हैं। पुरुष की रचना है—

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठ दृशांगुलम् ।

अर्णु के जनः लोक में से महः लोक में पचास-पचास अंशों के सत्याभा के पुञ्ज के रूप में पैंच देव निष्पाय निष्कल कर आते हैं। इनके नाम हैं बुभुदाः, भृभवः, प्रतर्दनाः, अञ्जनाभाः, प्रीचताभा। इसके पश्चात् महलोक में से स्वः लोक में सत्याभा का प्रत्येक अंश अलग-अलग होकर एक सहस्र और बन जाते हैं। प्रत्येक और एक एक शीर्ष एक अक्ष पर चलता है। अतः सहस्र शीर्षों के सहस्र अक्ष बन जाते हैं। एक अक्ष का एक शीर्ष फिर सहस्र पादों में विभाजित हो जाता है। उसके बाद एक पाद दशांगुल में बँट जाता है। दशांगुल में चलता हुआ अर्णवों के तन्तुओं का अक्ष अति रूप से एक स्थान पर बैठ जाता है और सभी जगह भूमि के ठोस पदार्थ के कण के रूप में रज कण में बदल जाता है। ये दशांगुल के बने दशा अधिका ही दशमौलिक अर्थ कहलाते हैं। इन्हीं दशमौलिक अर्थों के बने एक कण को 'क' कण या इन्द्र कहते हैं। इसके बाद "रूपं रूपं सद्यवा बोधवीति मायाः कृण्वानः" (ऋग्वेद-3, 53, 8) के व्यनानुसार अनेकों रूपों को वह इन्द्र धारण करके अपनी माया को बनाता है। इस माया द्वारा बने वाले देव ही 'अधिभूतं' देव कहलाते हैं। ये पदार्थ के बने कण होते हैं तथा पुरुष इनकी देह को पोषित करने वाला होता है। इसके पश्चात् पुरुष द्वारा 'अधिदैवम्' रूप के देवों की रचना होती है। पदार्थ के कणों की रचना करके पुरुषः उन्हें पुनः प्रवेश करता है और उन जड़ कणों में प्राणों का आवेश करा कर आत्मा की अपनी चेतनता भर देता है। इसी से जीवजगत् की रचना हो जाती है। इस प्रकार के देवों को 'अधिदैवम्' की कोटि के देव कहते हैं।

“तत्सृष्ट्वा तंदेवानुप्राविशत्” (तैत्तिरीयोपनिषद्-2, 6, 1) के कथन द्वारा इसी बात को बताया गया है। पहले ‘पुरुष’ उस पदार्थ के कणों की भूमि में वर्तित करके सृजित करता है और फिर उसके बाद पुनः उसमें प्रवेश करता है। इस प्रकार वह ‘अधिदैवतम्’ कीटि के देवों की रचना करता है। इस प्रकार ‘अधिभूतम्’ और ‘पुरुष’ के योग से ‘अधिदैवतम्’ देवों की रचना होती है। धर भाव वाला ‘अधिभूतम्’ और ‘पुरुष’ ये दोनों मिलकर ‘अधिदैवतम्’ कहलाते हैं। यही “अधिभूतं धरो भावः पुरुषः च अधिदैवतं” का अर्थ है।

इन सब में ‘अध्यात्मम्’, ‘अधिभूतम्’ और ‘अधिदैवतम्’ के देवों की रचना के अधिग्रह में सगुण ब्रह्म ही सब की देह में उनकी देह का गरण घोषण करने वाला होता है। यही सगुण ब्रह्म कणों में फैलता है। [अधिग्रहो अहमेवात्र देह देहभूतां वर।] सगुण ब्रह्म का सर्वोच्च रूप विष्णु का रूप है।

इस ‘अधिदैवतम्’ की कीटि के देवों में भुवः लोक तथा भूः लोक के देवीनकाश आते हैं। अणु (Atom) की सीम की रचना में भुवः लोक में ‘त्रिवर्त्मा’ (The three masses, m°, m⁺, m⁻) देवों की रचना आती है और भूः लोक में ‘न’ (Neutron), ‘प्रोटॉन’ (Proton), ‘इल’ (Electron) देवों की रचना आती है। ‘इल’ कण (Electrons) भूः लोक में रीचत हो कर सात पाताल लोकों (seven orbits) में प्रक्षेपित हो जाते हैं। इस प्रकार इन तीन प्रकार के देवों अध्यात्मं, अधिभूतं, अधिदैवतं का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अणु की सीम में ‘अध्यात्मं’ परितः भाग को, ‘अधिभूतं’ अर्ध भाग को और ‘अधिदैवतं’ व्युत्पन्न भाग को प्रदर्शित करते हैं।

ध्यानयोग में अनुगत होकर उन श्रुतिगोत्रों ने जो इन विषयों पर वातीलाप करने के लिये संध में इकट्ठे हुए थे, इन देवताओं की आत्मा की शक्ति को देखा। ये सभी देव अपने गुणों के द्वारा अत्यन्त रहस्यमय बने निगूढ़ हैं और इनकी आत्मा भी अत्यन्त निगूढ़ गुणों वाली है। इन सभी देवों की रचना में जो सब हो गूढ़ ग्रह सब का कारण हैं और जो इन सब में अधिवृत्त रूप से बैठा है, उस ब्रह्म को उन श्रुतिगोत्रों ने ध्यानयोग में अनुगत होकर देखा।

ये सभी देव ‘काल’ की आत्मा से युक्त हैं। इन देवों की रचना का काल है, जीवन का काल है और विलय का भी काल है। ये तीनों काल की आत्माये इन देवों में होती हैं।

प्रत्येक देव ‘अर्द्धपराङ्मता’ होने के कारण $\frac{1}{2}$ स्थिति करने वाला तथा अपने पथ पर अडिग रह कर आवरीवर्ति होकर चलता है और

बार-बार अपने लोक में स्थित अपने भुवन (orbital) में आता है / अपनी गति में ये देव कभी सिमट कर चलते हैं, कभी बिखर कर चलते हैं / मन्त्र है -

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमाच पराच पीधमिश्चरन्तम् ।

स सप्तीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवने ध्वन्तः ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 31)

यह मन्त्र ऋग्वेद में मूलतः 'इत्' वर्णों (Electrons) की गति को उनके पथ पर चलने की विधि को बताने वाला है / 'इत्' वर्ण नामिके चारों ओर घूमते हुए उसके रक्षक बनते हैं, जो अणु का रूप से अपने पथों पर चलते हैं। वे रुक और से आते हैं और दूसरी ओर दूर जाते हैं / अर्थात् उनकी \pm half spin है। वह सिमटता हुआ और बिखरता हुआ अपने आवरणों को चारण करता हुआ अपने पथ पर बार-बार आता जाता है। यही उसका आवरीवर्ति स्वरूप है। वह बार-बार अपने भुवनों (orbitals) में आता है और उनमें से निकल कर जाता है।

परन्तु सिमटते हुए और बिखरते हुए अर्थात् औरव के खुलने तथा बन्द होने की तरह निचीमचाते हुए सभी देव संवत्सर की गति में चलते हैं। [अहीरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी।] इस सिमटने और बिखरने के स्वरूप से ही वे अहीरात्रि के संकल्पों द्वारा सारे विश्व के देव गति करते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक देव के आवरीवर्ति स्वरूप (frequency) की कालात्मा ($t = \frac{1}{f}$) भी होती है। सभी देव कालात्मा से युक्त हैं। उन सभी में एक ही सगुण ब्रह्म क्षेत्र रूप में अधिष्ठित होकर बैठते हैं।

अब अंगले मन्त्रों में यह बताया जा रहा है कि ये सभी देव एक चक्र में एक अणु के अणु के मध्य किस प्रकार कीधत होकर एक पाश में बंध कर एक इकाई अणु (Atom) का स्वरूप धारित करते हैं। उस अणु के स्वरूप को उन ऋषियों ने ध्यानयोग में अनुगत होकर पितृ प्रकार का देखा है ? उसका मन्त्र है -

तमेकनेमिम् त्रिवृतं षोडशान्तम् शताध्वारम् विंशति प्रत्यरामिः ।

अष्टैः षडभिर्विश्वरूपैक पाशम् त्रिमार्ग मेदन् द्विनिगि रौकमोहम् ॥ (4)

उन ऋषियों ने सोलह अन्तों वाले पचास अंशों को, तीन वृत्तों वाली अणु की नामि को उस एक नेमि को देखा जिसके प्रत्येक अंश में सोलह अन्त हैं / उस नेमि का बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों के द्वारा सारा एक एक

पादा में बँधा हुआ है। उस नेमि में तीन मार्गों के भेदन को देखा।
उस नेमि की रचना के दो निमित्त हैं तथा उन दोनों निमित्तों का
रूप ही केन्द्रिय ध्रुव के रूप में मोह है।

सृष्टि रचना में यह अणु (Atom) को नीमि की रचना
का अवलोकन है। अणु की नीमि का बाह्यराम आवरण जो स्थूल
रज्जुओं न (Netherms), चिक्क (Phetms) का बना हुआ है, उस
अणु की नीमि का नेमि का भाग कहलाता है। वही नेमि है।

इस नेमि में तीन वृत्त 'पलित', 'अबन', 'धृतपृष्ठ' नेम
के बने हुए हैं। एक अबन इन तीनों के मार्ग को भेदता हुआ इनके आर पार चला जाता
है। वही इनके ग्रहण करता है। ये तीनों चक्र अजरम्, अनर्चम् लहे गये हैं।
अर्थात् ये कभी भी न क्षीयने वाले और अप्रग्रहीत हैं। एक अबन
चौंतीस अर्णवों के बने तन्तु का रूप अरा होता है, जिसका अन्तिम
अर्णु मीहजात रूप में स्थित होता है और एक मौलिक अर्ध की रचना
करता है। यह अबन अर्णवों के मध्य मृत की ऊर्जा के रुद्ध के
रूप के सञ्च के कुच द्वारा गीत करता है। एक अर्णु में इस
रुद्ध की ऊर्जा के सञ्च का प्राङ् रूप बनता है, तो उसके साथ
वाले अर्णु में उस ऊर्जा का अवर क्षेत्र बनता है। इस प्रकार दो
अर्णवों के युग्म में अबन के सञ्च तथा उक्कोच (अवररूप) के
मृत की तरंग के दो क्षिरे के अन्त बन जाते हैं। अबन की तरंग
जिस पुरीष अर्णु से चलती है तथा जिस मीहजात अर्णु पर आती
रूप से रुकती है, उन दोनों के मध्य बचीस अर्णवों की संख्या
होती है। दोनों क्षिरे के दो अर्णु, पुरीष अर्णु तथा मीहजात अर्णु
मिलकर कुल $(32 + 2 = 34)$ चौंतीस अर्णवों के देवबन्धों
से एक अबन बना होता है। ये चौंतीस अर्णव उस अबन की चौंतीस
पसलियाँ बनती हैं।

जब एक अबन के पुरीष अर्णु और मीहजात अर्णु के मध्य
स्थित बचीस अर्णवों के दो-दो अर्णवों के युग्म बनते हैं तो
उनको संख्या $(32 \div 2 = 16)$ सोलह बन जाती है। अतः एक
अबन में सोलह सञ्चुकोचों के अन्त बनते हैं। एक अबन एक
अरा मृत का बनता है, जिस में ये सोलह सञ्चुकोचों के अन्त
बनते हैं। इन्हीं को इस मन्त्र में 'षोडशान्ताम् शताधीरम्' कहा है।
अणु की नीमि में ये पचास अबनों के अरों के पुञ्ज किरा

प्रकार बनते हैं? इन पचास-पचास अंशों के पुञ्जों को देखकर बीस ही बनती हैं, जिन्हें बीस प्रत्येक कहा है। इन रचनाओं को हम अणु की नीमि की रचना में स्पष्ट रूप से देखते हैं। अणु की नीमि की रचना के दो निमित्त हैं। एक निमित्त तो द्यौ के अन्तर बने पञ्चावर्त हैं और दूसरा निमित्त उन पञ्चावर्तों के ऊपर बने सप्त ब्रह्म लोका हैं जो अणु की नीमि की पृथिवी की रचना करते हैं। इस प्रकार द्यौ तथा पृथिवी (Earth and matter) अणु की नीमि की रचना के दो निमित्त हैं। परन्तु द्यौ के पञ्चावर्तों का और नीमि की पृथिवी के सप्तलोकों का उभयार्थित रूप ही मोह है जो सप्तलोक के विष्णु-आवर्त में केन्द्र के रूप में विष्णु के रूप में प्राङ् बिन्दु का पराक्षीय का रूप बनकर विद्यमान है।

इस के सात लोकों के मध्य छः अन्तरिक्ष (२ जंश) पिचगाण हैं। इन अन्तरिक्षों की रचना दो लोकों के मध्य ऋतु के अन्तर बने अष्टापरावृत्तों (Eight hypercircle) से होती है। सप्तपरावृत्तों की रचना की इकाई को ऋतु को अभिधीत करते हुए बंधते हैं, परन्तु अष्टापरावृत्त ऋतु को बाहर फैलते हुए एक रचना को दूसरी रचना से अलग करते हैं। परावृत्तों के गीत से यह बात आगे स्पष्ट हो जायेगी। इस प्रकार अणु की नीमि के सातों लोक भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, छः अन्तरिक्षों के छः अष्टापरावृत्तों के छः अष्टकों के द्वारा एक पाश में बंधे हुए हैं। इन परावृत्तों को तान कर रखने वाले अक्षों को अक्षों के अरे रूप में बीस प्रत्येक के पुञ्ज है। अतः छः अष्टकों और बीस प्रत्येक के द्वारा नीमि का एक पाश बना हुआ है। ऋग्वेद में इन रचनाओं को बताने वाले मन्त्र नीचे दिये हुए हैं। दो सप्तपरावृत्तों के वाचन से दक्षमौलि अर्धों का एक 'क' कण बनता है। अणु की नीमि की परी नीमि इन दक्षमौलि अर्धों से युक्त परावृत्तों के तने हुए रूप से बना हुआ है। इस नीमि को बताने वाला ऋग्वेद का मन्त्र है—

संज्ञेभिः चक्रमजरं विवावृत उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति ।

सूर्यस्य चक्षुरजसैत्यावृतं तस्मिन्नर्पिता भुवनाणि विश्वा ॥

वह नेमि से युक्त चक्र अजर है। अर्थात् क्षीण होने वाला नहीं है।
इसके अन्दर घूमते हुए तनी हुई अवस्था में दशमौलिक अर्थों से युक्त 'क'
रजःकण बहते रहते हैं। सूर्य के चक्षु (Photon) की चूलि से ढका हुआ
'न' (Neutron) रजःकण नाभि की नेमि के अन्दर केन्द्र बिन्दु पर
तना हुआ तथा 'क' कणों की चूलि से बना हुआ चलता है। अर्थात्
नाभि का प्रत्येक रजःकण नेमि में चलता है और यह सूर्यचक्षु (Photon)
की चूलि से ढका रहता है तथा 'क' कणों से इसका पिण्ड बना होता है।
इसी नेमि के अन्दर सभी भुवन अर्पित हैं। अर्थात् नाभि (Nucleus) के
सातों लोको में स्थित देवीनकायों के जो भुवन बनते हैं, वे सारे इस
नेमि में आकर अर्पित होते हैं।

नेमि (The outer most part of the nucleus of an atom) का मुख्य
कण 'न' कण (Neutron) होता है। यह Photon की चूलि से ढका हुआ तथा
घूमता हुआ यहाँ बताया गया है। इस 'न' कण का अर्धपिण्ड यहाँ 'क'
कणों से बना हुआ बताया गया है। नाभि (Nucleus) में स्थित प्रत्येक
देव के अर्धपिण्ड की प्रतिमा की पदार्थ की मात्रा की इकाई दूसरे मन्त्र
"कासीत प्रमा प्रतिमा----" (ऋग्वेद 10, 130, 3) [क आसीत प्रमा प्रतिमा-]
के द्वारा भी 'क' कण को ही बताया गया है।

नेमि के अन्दर स्थित नाभि के तीन चक्रों की तीन वृत्तों के रूप में बताने वाला मन्त्र
है- सप्तयुजान्त रथमेकचक्रमेको अश्वो वहीत सप्त नामा ।

त्रिनाभिचक्रमजरमनर्व यत्रेमाविश्वाभुवनाधितस्थुः ॥ (ऋग्वेद, 1, 164, 3)
अणु की नाभि के एक रथ में सात लोक प्रोजित होते हैं। पूरी नाभि के एक चक्र के सातों
लोको के 'सप्त' नाम का एक ही अश्व वहन करता है। इस नाभि में तीन चक्र हैं जो
कभी भी क्षीण नहीं होने वाले हैं और आश्रय से रहित हैं। [इन तीन चक्रों के नाम इससे पिछले
मन्त्र में तीन भ्राताओं के रूप में 'पलित', 'अशन', 'धृतपृष्ठ' बताये हैं।] इन्हीं तीन चक्रों में
नाभि के (सातों लोको के) सारे भुवन स्थित हैं।

इः अन्तरिक्षों के द्वारा नाभि के सातों लोको के सारे रूप को एक पाश में
बाँध कर रखने की स्थिति को बताने वाला निम्न लिखित मन्त्र है -

अचिक्त्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन पृच्छामि विद्वानेन विद्वान् ।

विग्रस्तस्तम्भोऽकमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

अर्थात् है --

जो जानता हुआ मैं जानने वाले ऋषियों को यहाँ पूछता हूँ कि
जो ऋषि देवताओं को जानने वाले हैं [न विजान्], वे यहाँ हैं कि
जिसने इन छःओं अन्तरिक्षों को खूब अच्छी तरह धामा हुआ
है वह 'अज' के रूप में रुक गया है? अ'से जन्मी सत्यामा ही वह 'अज' है।

अर्थात् अष्टापरावृत्तों के अष्टकों के अन्दर से निकलने
वाला ऋत ही वह रुक 'अज' है जो इन छःओं अन्तरिक्षों को रुक
पादा में बाँध कर खूब अच्छी तरह धामे हुए है। ऋत जो वाणी
में 'अज' सब से आगे चलता है, उस के पीछे अश्व चलता है
और अश्व के पीछे ऋषि चलते हैं। रिसा कर चलने वाली देव ही
ऋषि कहलाते हैं। "यदरिषस्तद् ऋषयः" / अ'से जन्मी सत्यामा 'अज' है।
इसी को "अष्टकेः षडभिर्विश्व रूपैक पादाम्" कहा है।

'त्रिमार्ग भेदम्' - के लिए कहा है --

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवगलापयन्ति।

मन्त्रप्रन्तो दिवो अनुव्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमावश्वमिन्वान्॥

तीनों माताओं को और तीनों पिताओं को (जो पाला, अश्व, द्यूतपृष्ठ
के तीन नाम के वृत्तों में स्थित हैं, उनको) अकेला चारण करता गया
(रुक् अश्व) ऊँचा ठहरा है। वे इस (अश्व) को धकाते नहीं हैं।
सब से ऊपर 'न' कण (Nyan) नाम को नीचे में स्थित है जो
अश्व द्वारा बड़न करके लाये हुए तीनों वृत्तों के मीहजात रजकणों
को निबाल कर गड़प करता रहता है। [न ईम् अवगलापयन्ति।]
अर्थात् खाता रहता है और अपने शरीर को इन रजकणों द्वारा रूपा
बनाता रहता है।

इस नाम में विभिन्न रचनाओं को छोड़ित करने वाला देव इस
(ऋत में बने पञ्चावर्त के) छौं की पीठ पर विचरते हैं। ये सब रा
जानने योग्य हैं, परन्तु सब को प्रेरण न करने वाली वाणी को
विचारते हैं।

दूसरे छौं (पञ्चावर्त) की पीठ पर बैठ कर सब रूपों को प्राप्त करने
वाले ये देव 'अ' (रुद्र में विष्णु) द्वारा बनाये हुए अणु की नाम के सारे विश्व को
मापने के लिए नाद की वाणी को मन्त्रित करते हुए बोलते हैं।

जहाँ तब दो निमिषों का (दो तथा पृथिवी का) प्रमाण है, जहाँ द्यौ के पञ्चावर्त जो और उस के ऊपर बने सप्तलोकों को नीचे का मन्त्र बता रहा है —

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिवआहु परे अर्च्यं पुरीषिणम् ।
अथैमे अन्य उपरे विचक्षणम् सप्त चक्रे षठ्कर आहुरर्पितम् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 12)

अर्थ है —

(पाँच आवर्तों के) पाँच पाद वाले पिता द्यौ को पर क्षेत्र में अर्च्य पुर को शासित करने वाले (अर्थात् $\frac{1}{2}$ spin वाले) बोरह आकृति के घेरे वाला देखा है। इसके ऊपर दूसरे सात चक्रों में अर्पित (सात लोक) देखे हैं। इन सात लोकों में (सप्त लोक को छोड़ कर क्षेत्र) छः लोक (तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, मूः) अरों के द्वारा (सप्त लोक पर) अर्पित कहे गये हैं। अर्थात् अरों के द्वारा ये सभी लोक और पञ्चावर्त सप्त पादा में बँधे हुए हैं और ये अरे अश्व की रचना द्वारा बनते हैं।

ये सारी रचनाएँ केन्द्र में स्थित एक मोह (विष्णु नाम की कीली) में बँधे हुए हैं।

इन सारी रचनाओं को स्पष्ट करने से पहले सप्तापरावृत्तों (Seven hypercircle) के मृत के ओम्बोपण तथा अप्तापरावृत्तों (Eight hypercircle) के मृत के वपन का कारण बताते हैं। Hypercircle को आधुनिक गणित में बहुआयामी ज्यामिति (multidimensional geometry) में इस प्रकार बताया गया है —

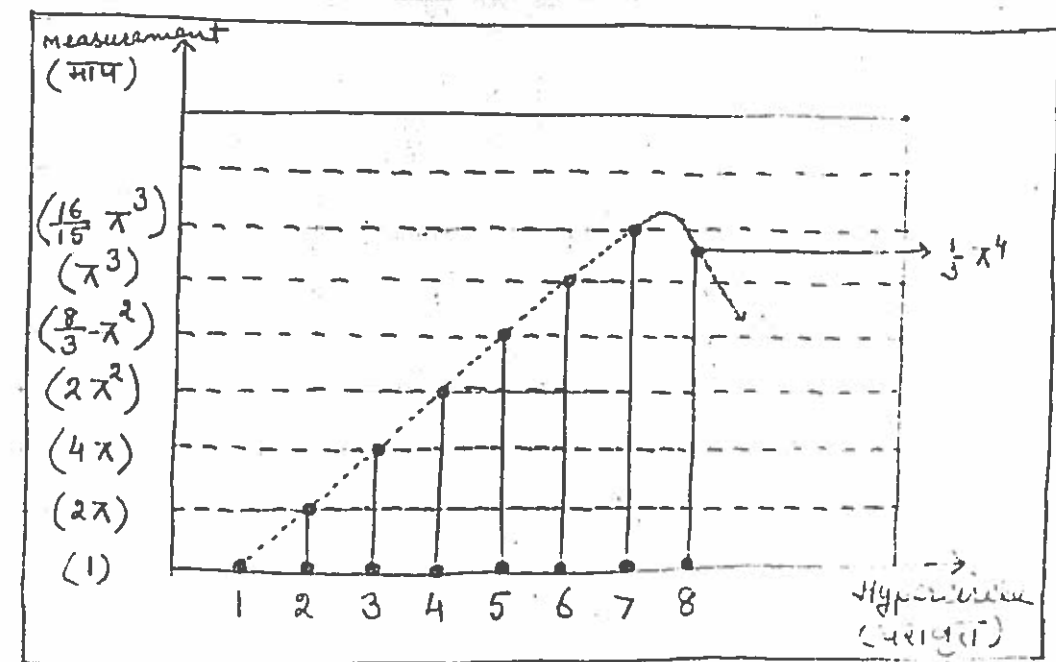
A "hypercircle" in a space of n dimensions will be formed by the figure bounded by all the points situated at an equal distance from an interior point called the centre. For each of the successive spaces, it is easy to calculate the formula for the measurement of hypercircle in a space of a given number of dimensions. For simplicity, let us suppose that the

length of the radius is always equal to unity. It is disconcerting to note that the measurement of the 'hypercircle' first keeps increasing, reaches a maximum, and then constantly decreases and approaches to zero. The most disturbing aspect of this business is that the maximum is located in a space the number of whose dimensions is not an integer and lies between seven and eight.

Calculations of the measures M_n for $n = 2$ to 8 can be tabulated as under. Here " M_n for n " means number of n spaces for measurement of hypercircle in n dimensions.

The graph which shows these measurements is given below.

चित्र नं. 4



The table of these calculations is given as follows.

Cartesian Product	Geometrical space	Hypercircles	Measurement of unit hypercircles, where $\frac{dy}{dx} = -\frac{x}{y}$
R^4	4 space	$x_1^2 + x_2^2 + x_3^2 + x_4^2 = 1$	$2 \int_0^1 4x^3 \sqrt{1 + \left(\frac{dy}{dx}\right)^2} dx = 2\pi^2$
R^5	5 space	$x_1^2 + x_2^2 + x_3^2 + x_4^2 + x_5^2 = 1$	$2 \int_0^1 2\pi^2 x^3 \sqrt{1 + \left(\frac{dy}{dx}\right)^2} dx = \frac{8}{3}\pi^3$
R^6	6 space	$x_1^2 + x_2^2 + x_3^2 + x_4^2 + x_5^2 + x_6^2 = 1$	$2 \int_0^1 \frac{8}{3}\pi^2 x^4 \sqrt{1 + \left(\frac{dy}{dx}\right)^2} dx = \pi^3$
R^7	7 space	$x_1^2 + x_2^2 + x_3^2 + x_4^2 + x_5^2 + x_6^2 + x_7^2 = 1$	$2 \int_0^1 \pi^3 x^5 \sqrt{1 + \left(\frac{dy}{dx}\right)^2} dx = \frac{16}{15}\pi^3$
R^8	8 space	$x_1^2 + x_2^2 + x_3^2 + x_4^2 + x_5^2 + x_6^2 + x_7^2 + x_8^2 = 1$	$2 \int_0^1 \frac{16}{15}\pi^3 x^4 \sqrt{1 + \left(\frac{dy}{dx}\right)^2} dx = \frac{1}{3}\pi^4$

इस गणित की गणना से और ग्राफ के रेखांकन से यह स्पष्ट बात हो रहा है कि सप्त परावृत्तों (seven hypercircle) का माप $\frac{16}{15} \pi^3$ सर्वाधिक है। परन्तु जैसे ही यह अष्टा परावृत्त (Eight hypercircle) में परिवर्तित होना प्रारम्भ होता है तो पहले तो इस का माप बढ़ता है और अपनी अधिकतम सीमा पर राफ्त आगमन और अष्ट आयाम के मध्य में किरी रचना पर पहुँचता है, परन्तु जैसे ही अष्ट आयामी अष्टा परावृत्त (Eight hypercircle) की पूर्णता को प्राप्त करता है तो इसका माप $\frac{1}{3} \pi^4$ हो जाता है, जो कि सप्त परावृत्त के माप $\frac{16}{15} \pi^3$ से भी कम है। अतः श्रुति में बने इन सप्त परावृत्तों और अष्टा परावृत्तों में सप्त परावृत्त तीव्रता के लिए श्रुति का अभिशोषण करता है और अष्टा परावृत्त अपना माप कम करने के लिए श्रुति का वपन (Emission) करता है। इसी कारण सप्त परावृत्त रचना की विभिन्न इकाइयों को श्रुति द्वारा बाँधते हैं और अष्टा परावृत्त उस बँधी हुई रज्ज इकाई को दूसरी रचना को इकट्ठे से अलग करती है और सप्त लोकों के मध्य छः अन्तोरिक्षों की रचना करती है। श्रुति के अन्दर बने में सप्त परावृत्त

और अष्टापरावृत्त एक साथ युग्म में रहते हैं तो उनकी एक प्रलाखा बन कर मृत में अश्व की रचना हो जाता है। ये

सप्तपरावृत्त और अष्टापरावृत्त मृत के दो में तवां के कणों के सप्तलोकों में बनते हैं। 'क' कणों द्वारा सप्तपरावृत्त और अष्टापरावृत्त के देवों के युग्म को जोड़ने की कहा जाता है। चुन्व जो न तरंगों में इन जोड़ने की हो जाता होता है। सत्य लोक में बने मृत के सप्तपरावृत्त को प्रताप वाला मन्त्र है - (सप्तपरावृत्त को इस मन्त्र में चलने वाला रथ बताया है।)

इमं रथमधि ये सप्त तरथुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वः।

सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवो निहिता सप्ता नाम ॥

अर्थ है -

(ऋग्वेद-1, 164, 3)

इस (सप्तपरावृत्त के) रथ पर जो ये सप्त चक्र (Seven hypercircle) के सात अलग-अलग वृत्त एक इकट्ठे में बंध कर स्थित हैं, उन सात चक्रों को सात अश्व अलग-अलग (एक-एक तन्तु का रूप धारण करके) वहन करते हैं। ये सातों चक्र सात अश्वों के रूप में अपने स्वयं के सार (बल) से गीत करते हुए अभिसंनवन अवस्था (stationary state of motion in its orbit) को प्राप्त करते हैं। जहाँ पर ये उस अभिसंनवन अवस्था में सातों चक्रों के मीहजात-मौलिक अर्थः अर्धपिण्ड के रूप में गौरे 'सप्त' नाम को धारण करके 'अश्व' का रूप ले लेती हैं। 'सप्त' नाम अश्व का कहा गया है।

ये सप्त चक्र (सप्तपरावृत्त = seven hypercircle) मृत के अन्दर सत्य लोक में बनते हैं। एक चक्र के केन्द्र में जो सव शक्ति का बिन्दु उस एक चक्र को बंध कर बैठा हुआ है वह कल्याणकारी शिव या मृत का रोपण करने वाला रुद्र कहलाता है। यह शिव का प्रथम सप्त चक्र मृत में वामावर्त (Left hand rotation) में भागता हुआ घूमता है। इसी मृत के

सत्ता परावृत से अणु (अणु) की नीमि में स्थित दोष राशियों के प्रजा उत्पन्न होती है। यह अणु की नीमि के सत्त्व लोको में के प्र में स्थित विष्णु (अ) का सप्तपुत्र कहलाता है। नीमि में स्थित पलित, अन्न, व्युतपृष्ठ के तीन चक्षों के साक्षों में से प्रथम पलित में ही विनता है। मन्त्र है --

अस्य वामस्य पलितस्य होतस्तरस्य आता मध्यमोऽन्नस्यः।

तृतीयो आता व्युतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विशर्पात् साक्षपत्रम् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 1)

इस स्क 'अ' के नामावर्त के भगवैरगमे के प्रथम श्वेत आता-पलित नाम के होता के

मध्यम आता 'अन्न' नाम के हैं। तीसरे आता 'व्युतपृष्ठ' नाम के हैं। 'अ' के यहाँ पर में ने प्रजाओं के स्वामी 'सप्तपुत्र' (सप्तपरावृत) को देखा है।

यहाँ 'पलित' ब्रह्म के ऋत की शुभ ज्योति का बना हुआ है। 'अन्न' इस शुभ ज्योति के पुंस्व के अर्णवों को खा कर दशमौलिज अर्णों के बने का रजज्जणों का तथा उन के कणों से बने अन्न अर्धपिण्डों के दैवी का चक्र है। 'व्युतपृष्ठ' इन के कणों के बने अर्धपिण्डों के व्युत्पत्ति से सिञ्चित होकर बने चक्र का नाम है। यही चक्र जैसि यहाँ पर कहा गया है।

'अ' विष्णु का नाम है जो शिव की (रुद्रकी) बनी ऋत की पिण्डों के केन्द्र में स्थित है। [इशसंस्थः] रुद्र के रूप में यह एक परावृत की ऋत की पिण्डों है तथा विष्णु के रूप में यह सप्त लोको में से केन्द्रिय लोक सत्त्व लोक के परावृत का केन्द्र बिन्दु है। यह प्राङ् रूप में पराशक्ति से युक्त अच्युत रूप में स्थित है तथा ब्रह्म का शुद्ध रूप है। यह अपनी सत्याभा को प्रसारित करता हुआ संज्ञासंज्ञिनः के रूप में कार्य करता है। अर्थात् इसमें स्वयं की भी संज्ञा (चेतना) है तथा यह दूसरे की संज्ञा को भी अनुभव करता है। इस प्रकार इस विष्णु के द्वारा रचित सातों लोक उसके सप्तपुत्र हैं। ये सातों लोक ही सारी प्रजाओं के स्वामी यहाँ देखे गये हैं। इसी

अ' के वाभावर्त में मगाये हुए के सात लोकों में पालत, अन्न और द्यूतपृष्ठ नाम के तीन चक्रों में प्रमवार तीन भाई हैं। इन में सत्य लोक, तपः लोक, जनः लोक की सब इकाई का पालत बनता है। महः, स्वः, सुवः लोकों की सब इकाई के चक्र का अन्न बनता है और भूः लोक तथा सप्त पाताल लोकों का मिलाकर सब इकाई का द्यूतपृष्ठ बनता है।

महर्षि व्यास ने पातञ्जल योग दर्शन के विभूति पाद के छब्बीसवें सूत्र "भुवनं ज्ञानं सूर्ये संयमात्" की व्याख्या करते समय इन सप्त लोकों के प्रसार का विवेचन किया है। उसमें व्यास जी ने प्रत्येक लोक के तत्सम्बन्धी देव निवासों का वर्णन किया है। उनके अनुसार बताये गये देव निवासों की लोकानुसार विवर्णन प्रकार सारणी बनती है। यह सारा सप्त लोकों का प्रसार उन्हों ने अणु (Akṣu) की रचना के सुप्रतीष्ठित संस्थान के मध्य बताया है।

क्रम	लोक का नाम	नाम की रचना में सूत्रों की स्थिति	लोक में स्थित देव निवास
1	सत्य लोक	नाम के केन्द्र में स्थित लोक अणु (Akṣu) का केन्द्र है।	<p>(1) अच्युताः = अणु की नाम के केन्द्र से कभी भी अपना स्थान छोड़ कर नहीं हिवाता।</p> <p>(2) शुद्ध निवासाः = इसमें शुद्ध ब्रह्म का निवास है।</p> <p>(3) सत्यामाः = यह ऋतु के सत्य के आत्मों को स्वरित करता हुआ प्रदीपित करता है।</p> <p>(4) संज्ञा संज्ञानः = इसमें अपनी चेतना की संज्ञा भी है और यह दूसरों की चेतना की संज्ञा को भी अनुभव करता है।</p>
2	तपः लोक	सत्य लोक पर चढ़ा प्रथम आवरण	<p>(1) आभास्वरा = सत्यामा जो सत्यलोक से निकल कर सहस्र शीर्षों में तपः लोक में आती है, उसकी ऊर्जा के स्त्राव का निम्नतम स्तर है। इससे जोड़ प्रकृति के अणुओं की रचना होती है। जैसे कि कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, लोहा, सोना आदि।</p> <p>(2) महाभास्वरा = सत्यलोक से सत्यामा के स्त्राव का तपः लोक में मध्यम स्तर है। जिससे अर्ध चेतन बन रची जायगी की रचना होती है। इससे बन रची कोशिकाओं के अणु बनते हैं।</p> <p>(3) सत्यमहानास्वरा = सत्यलोक से सत्यामा का उच्च स्तर का स्त्राव है, जिससे पूर्ण चेतन प्राणी जगत् की कोशिकाओं के अणुओं की रचना होती है। इनसे मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंगे आदि प्राणी बनते हैं।</p>

लोक	लोक का नाम	अणु की नाम में रचना की स्थिति	लोक में स्थित देव निवास
3.	जनः लोक	तपः लोक पर चढ़ा आवरण	<p>(1) ब्रह्म पुरोहित = पुर में अहित ब्रह्म का स्वरूप है। (2) ब्रह्म कायिक = इस की काथा ब्रह्म की बनी है। (3) ब्रह्म महाकायिक = महाकाथा के बड़े बने स्वरूपों की रचना इसी के द्वारा होती है। (4) अमर = इसका स्वरूप सदैव अमर रहता है। जनः लोक की रचना के बाद रात्रि का जन्म होता है, जिसमें अंगों के संकल्प विलय को प्राप्त हो जाते हैं और जनः लोक तब की रचना स्वयं स्वतन्त्र इच्छा की रचना बन जाती है। इस रचना का नाम "अर्णुः" है। इन से ही अर्णव समुद्र बनता है। अर्णव समुद्र ही द्यौ की रचना है। जनः लोक तब की रचना ही 'पलित' कहलाती है। तपः लोक से आने वाले सत्यामा के शीर्ष यहाँ चार पुच्छों में बँट जाते हैं। एक पुच्छ में 250 शीर्ष बँट कर आ जाते हैं।</p>
4.	महः लोक	जनः लोक पर चढ़ा आवरण	<p>(1) कुमुद, (2) ऋभु, (3) प्रतर्दन, (4) अञ्जनाभ, (5) प्रचिताभ। ये पाँचो देव निवाय पञ्चमहाभूतों की रचना को वक्ष में करने वाले हैं, च्यान जन्म हैं तथा वृष्टि का आहार करने वाले और स्वयं सहस्र कल्प पर्यन्त जीने वाले होते हैं। ये पाँचो देव निवाय जनः लोक के चारों देव निवायों में से प्रत्येक में बने होते हैं। अतः इनकी इस महः लोक में कुल संख्या $4 \times 5 = 20$ (बीस) हो जाती है। ये ही इस उपनिषद् के इस मन्त्र में जेम के अन्दर बीस प्रत्येक के गये हैं। जब जनः लोक के चारों देव निवायों में से एक देव निवाय महः लोक के इन पाँच देव निवायों में बँटता है तो प्रत्येक देव निवाय में सत्यामा के पुच्छ में अरों की संख्या $250 \div 5 = 50$ (पचास) हो जाती है। इन्हीं को यहाँ इस उपनिषद् के मन्त्र में "शताय्यारम्" कहा है। इनमें प्रत्येक सत्यामा का अरा सोलह अन्तों — (sixteen where length) वाला है।</p>

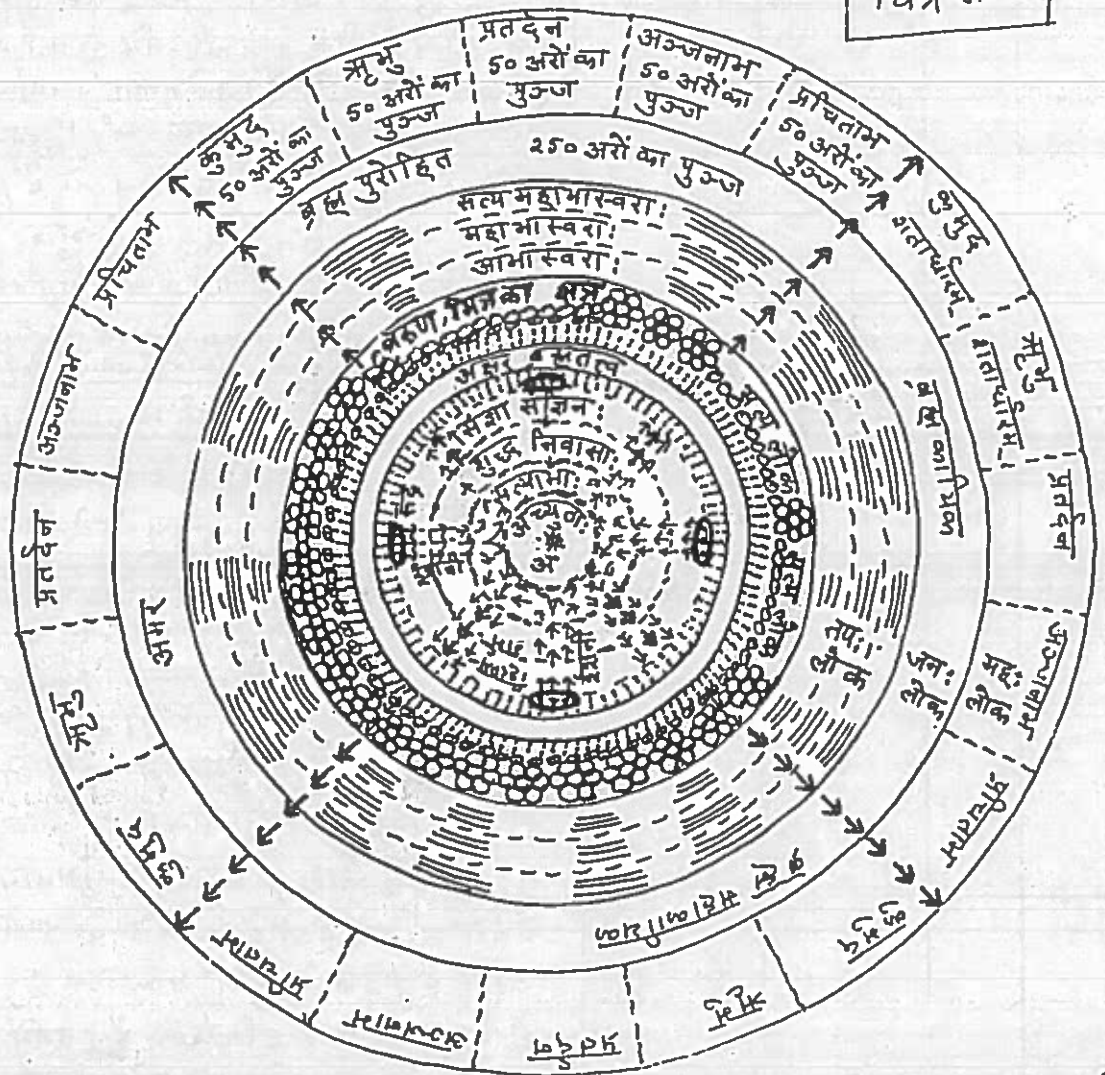
क्र.सं.	लोक/नाम	अणु की जाति में रचना की स्थिति	लोक में स्थित देव निवाय /
5.	स्वः लोक या माहेन्द्र लोक	महः लोक पर चढ़ा आवरण है। इसमें पाँच उप-आवरण हैं, जो इसमें पाँच उपलोक हैं।	<p>“स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः।”</p> <p>(1) प्रथम प्रकार के स्वः लोक में सप्तधाभा की रीश्मियों के पुञ्ज में से प्रत्येक रीश्म स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग होकर गति करने लगती है। यह रुद्र का ईशान रूप सहस्र शीर्षों में चलने वाला पुरुष का रूप बन जाता है जो सहस्र अक्षों पर चलता है। इसी भाग में स्वः शीर्ष सहस्र पादों में बँट कर आगे चलकर अलग-अलग दिशाओं में गति करने लग जाता है। यह पुरुष का भाग है।</p> <p>(2) दूसरे प्रकार के स्वः लोक में स्वः पाद दशांगुल रूप में बँट कर दश अक्षों में बँट जाता है, जिनमें अन्तिम द्विषों पर मीहजातं अर्णु भूमि के कणों में परिवर्तित होकर दश मीलिक अर्थों की रचना कर देते हैं। ये दशमीलिक अर्थ दो सप्तपरावृत्तों में ग्रीथित होकर स्वः क'कण (इन्द्र) की रचना कर देते हैं। ये क'कण शृंखला वल्ल विधि से जुड़ कर पाँच क'कणों की स्वः पञ्चप्राणोर्मि (अदिति) की रचना कर देते हैं। यह अदिति अपने इस उपलोक में रहती है।</p> <p>(3) तीसरे प्रकार के स्वः लोक में 'अदिति' से निष्कल कर स्वतन्त्र रूप में आये क'कण होते हैं। इन्हे 'वसु' भी कहा जाता है, क्योंकि ये दशमीलिक अर्थों के बने प्रथम स्वतन्त्र रजकण होते हैं जो स्वतन्त्र रूप से जोम में घूमते रहते हैं। यही इन्द्र है। यह अपने दशांगुल स्वरूप की ईशानी रीश्मियों द्वारा द्यौ में से अर्णवों की ऊर्जा को चूसता हुआ सोमपान करता रहता है। यह सदैव द्यौ की उग्र ऊर्जा से आवेक्षित रहता है और बल से मुक्त रहता है। यही इस स्वः लोक का राजा इन्द्र कहलाता है। यही सभी देवताओं का राजा इन्द्र है। इसकी नूतन रचना में मीलिक रजकण होने के कारण बहुत अधिक महत्ता है।</p> <p>(4) चौथे प्रकार के स्वः लोक में त्वष्टा द्वारा रचित अश्व होता है जो सोलह क'कणों के विकार से दो अश्वियों के संयुक्त मेल से बनता है। इसी कारण इस अश्वियों भी कहा जाता है। 'न'</p>

क्रमांक	लोक का नाम	अणु की नाम की रचना में स्थिति	लोक में स्थित देव निम्न
			<p>का अर्ध 'देव' भी होता है। दो अश्विनी के देवों के पुत्र से बना देव (अश्विनी) कहलाता है। इन अश्विनी के द्वारा पुत्रवत् को तरंगे गतिमान होती है।</p> <p>इस अश्विनी में स्व अश्वि मात के कणों के बने सप्त परावृत से बनती है और दूसरी अश्वि 'आठ' के कणों के बने अष्टा परावृत से बनती है। दोनों अश्वियों के माध्यम में स्व 'क' कण प्रथम अश्वि के सप्त परावृत से निकल कर दूसरी अश्वि के अष्टा परावृत में जाते वाला होता है जो उन दोनों अश्वियों के माध्यम में गति करता हुआ स्थित रहता है। इस प्रकार स्व अश्विनी में सोलह 'क' कणों के विचार होते हैं। इसी को सार्वत्र शास्त्र में "षोडशकः तु विचारः" कह कर बताया है।</p> <p>(5) पाँचवें प्रकार के स्वः लोक में 43 वृन्दारकों (sin quarks) की स्थिति होती है। इन 43 वृन्दारकों के नाम इस प्रकार हैं—</p> <p>(I) त्रिदशः (Charme) (II) अग्निष्वात्ताः (strange) (III) ग्राम्या (up), (IV) तुषिताः (down) (V) परिनिर्मित वशवर्तिनः (Top) (VI) अपरिनिर्मित वशवर्तिनः (Bottom)</p> <p>इन छः प्रकार के वृन्दारकों के गुण इस प्रकार बताये हैं— "तैसर्वे संकल्पपरिज्ञा अणिमाद्यैश्च वर्योपपन्ना कल्याणुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपपादित्य देहा उरामानुबूला मि-रप्सरीभिः क्षुतपरिवाराः।" अर्थात् ये सभी संकल्प, राक्षस, अणिमादे आठ रेडियो से युक्त कल्पयन्त्र जीने वाले वृन्दारक हैं। कल्प का अर्थ यहाँ इनके लोक में स्थित रचना का संकल्प है। अर्थात् जहाँ में स्थित अपने लोक से बाहर जाते हैं इन का विचारण हो कर धीरे धीरे अणुओं में विलय हो जाता है। ये $\pm 2.5 \times 10^{-16}$ spin के मिथुन में रहते हैं अतः मैथुन प्रेमी हैं। ये संकल्प को सिद्धि से स्वतः निर्मित होने वाले तन्हा शरीर धारी (mass particle) हैं। ये उत्तम और मन के अनुकूल पदार्थ के द्रव्य (अपः) को साथ लेकर चलने वाले (सर) बन कर अपने परिवार को बनाने वाले हैं।</p>

क्रमांक	लोक का नाम	अणु की नाम की रचना में स्थिति	लोक में स्थित देव जिकाय
6.	भुवः लोक	स्वः लोक पर चढ़ा आवरण।	<p>भुवः लोक में तीन प्रकार के देव 'त्रिवर्त्म' (The three messengers मं, मां, मां) के रूप में बताये हैं। इन्हें व्यास जी ने तीन क्षेत्र ("त्रीणि वर्धाणि") कह कर बताया है। व्यास जी लिखते हैं - "तद्यन्तरेषु त्रीणि वर्धाणि नव-नव त्रोजनसाहस्रार्णि रमण्यं दिहरणम् उचाराः ब्रुवन्ः शीत।" अर्थ है उस अन्तरीक्ष के भुवः लोक में तीन क्षेत्र नये-नये हजारों प्रकार के त्रोजन करने वाले हैं। उनके नाम 'रमण्य', 'दिहरणम्' और 'उत्तर ब्रुव' हैं। रमण्य = मं, दिहरणम् = मां और उत्तर ब्रुव = मां के त्रिवर्त्म हैं।</p> <p>समष्टि क्षेत्र सौरमण्ड में भुवः लोक में ग्रह, नक्षत्र, तारे, ये तीन प्रकार के विशेष क्षेत्र बनते हैं। ये वायु विक्षेप नियम से गतिमान रहते हैं। वायु विक्षेप नियम में ऊँचे के विभिन्न स्तर आते हैं, जिनसे गति उत्पन्न होती है।</p>
7.	भूः लोक	भुवः लोक पर चढ़ा आवरण।	<p>भूः लोक में अणु की नाम की जैम में 'जा' (Neutron), प्रोच (Proton), इल (Electron) नाम के देव रहते हैं। व्यास जी ने इन्हें नाम की जैम में भूः लोक में उदित होते हुए तीन पर्वत बताया है। जिनमें दो को साथ-साथ चलने वाला बताया है। ये स्नाव करते हुए गति करते हैं। अतः इन्हें 'स्नायामा' कहा गया है। व्यास जी लिखते हैं - "तस्य नील श्वेत भृंगवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्वि-सह-स्नायामाः।" अर्थ है - उस भूः लोक के नील, श्वेत तथा भृंगवान तीन पर्वत उदित होते हैं, उनमें दो साथ-साथ चलने वाले हैं। इनमें नील Neutron है, श्वेत Proton है तथा भृंगवान Electron है। इनमें Proton तथा Electron स्नाव करते हुए साथ-साथ गति करते हैं। दोनों में विरोधी आवेश होने के कारण आकर्षण का बल बना रहता है।</p> <p>इसके अतिरिक्त भूः लोक के ऊपर सात पाताल लोक बने हुए हैं। जिनके नाम - महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल कहे गये हैं। इनमें देव जिकाय के रूप में - असुर, गन्धर्व, किन्नर किम्बुरुष, प्रक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अप्समारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, ब्रह्माण्ड, विनायक रहते हैं।</p>

अब 'बौद्धशान्तम-शताध्यायम्' - का अर्थ समझने के लिए 'अश्व' की रचना और उसका अर्थ समझना आवश्यक है। क्योंकि यह एक 'अश्व' वह अश्व है जिस पर एक 'अश्व' चलता है। जहाँ तक इन अश्वों की संख्या पचास होने की बात है, उसे महः लोक के पाँच देवीनिकायों के एक देवीनिकाय के पुञ्ज के रूप में $(250 \div 5 = 50)$ के रूप में पीछे समझा जा चुका है। यहाँ पर पहले महः लोक तक की रचना को रेखाचित्र द्वारा समझ लें।

चित्र नं. 6



इस उपरोक्त चित्र से सत्यं, तपः, जनः, और महः लोक तक के देवीनिकायों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन सभी के केन्द्र में 'अ' प्राङ् रूप से पराशक्ति को धारण करता हुआ तथा सत्याभा का प्रसारण करता हुआ चेतन स्वरूप में संज्ञासंज्ञिनः अच्युत रूप में शुद्ध ब्रह्म के रूप में बैठा हुआ है। यहाँ पर 'अ' का अर्थ विष्णु है जो सभी लोकों के आवरणों का देवता कहलाता है। महर्षि व्यास ने सभी सात ब्रह्म लोकों को, "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं" - को 'अ' के द्वारा कृत बताकर विष्णु को ही इनका रचयिता बताया है। ऋग्वेद में भी विष्णु के रेत को सात लोकों की रचना करने वाला - "सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोः स्तिष्ठन्ति प्रीदशा विध्यमीषा" - (ऋग्वेद - 1, 164, 36) कह कर 'सप्तार्द्धगर्भा' बताया है जो सातों लोकों को अर्द्धगर्भित करके उनमें सृजन करता है। महर्षि व्यास भी लिखते हैं, "अ-कृत भवनन्यासा स्वप्रीतया उपर्गुणीर-

स्थिताः प्रधानवीशिनी यावत्सर्वाभ्युषः । अर्थात् 'अ' के द्वारा बनीये गये सातों लोकों के भयनों की आधारशिलायें अपने आप में स्थित और क्रमशः एक दूसरे के ऊपर ऊपर विराजमान हैं । ये प्रकृति के स्वामी तथा सृष्टिपर्यन्त आयु वाले हैं । विष्णुदेवता चित्रपृष्ठ (372) पर देखें।

अस्य वामस्य पलितस्य होतस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्रयश्चनः ।

पृथिवी भ्राता पृथुपृष्ठो अस्त्रयात्रापश्यं विष्वपीतं सप्तपुत्रम् ॥

मन्त्र में भी "अस्य अत्र अपश्यम् विष्वपीतं सप्तपुत्रम्" कह कर यही बात इन सप्तलोकों के बारे में बताई है । 'अस्य' का अर्थ यहाँ भी "इस 'अ' के" है । "विष्वपीतं सप्तपुत्रम्" का अर्थ भी सभी प्रजाओं के स्वामी 'अ' के सप्त पुत्र सातों लोक ही हैं । 'अ' के पुत्र कह कर यहाँ भी सातों लोकों का जन्म 'अ' के द्वारा ही बताया है । अतः ये 'अ' के देवद्वारा कृत ही हैं । इन सातों लोकों को ही 'पलित', 'अश्व' और 'पृथुपृष्ठ' नाम के तीन भागों में बाँट कर नाम के तीन चक्र बताये हैं । तीन चक्रों का वर्णन इससे अगले मन्त्र में ऋग्वेद में बताया गया है । अतः इन विष्णु के पुत्रों का सातों लोकों का सम्बन्ध तीन नाम के चक्रों से बनता है ।

अब 'षोडशान्तम्' का अर्थ स्पष्ट करने के लिए 'अश्व' की रचना को स्पष्ट करते हैं । मन्त्र है -

मानो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्रं ऋभुक्षामरुतः पौरिव्यन् ।

यद् वाजिनो देवजातस्य सप्तैः प्रवक्ष्यामो विदधे वीर्याणि ॥

(ऋग्वेद-1, 162, 1) (अश्व-सूक्त) ।

पद पाठ है -

मा नः मित्रः वरुणः अग्निना आयुः इन्द्रः ऋभुक्षामः रुतः पौरिव्यन् । यद् वाजिनः देवजातस्य सप्तैः प्रवक्ष्यामो विदधे वीर्याणि ॥

अर्थ है - मित्र, वरुण, अग्नि, तथा देवताओं की आयु का काल, महान इन्द्र, ऋभु से उच्चारित (प्रक्षेपित) अर्जा का बल और भरत हमको तिरस्कृत न करें । अर्थात् वे सब हमारे रूप को रचीकार

करें और हमारी रचना को पूर्णता प्रदान करें। हमें यदुताला
 कैलिस उत्पन्न हुस्-हुस् वेग वाले अश्व के वीर जनों को (रचना की या
 सृष्टिकी रचना के) यज्ञ में वर्णन करते हैं। [ये मित्र-वरुण अर्थात् ही वृत्तप्रकार के अश्वों
 'अ' से निक्कली सत्प्राभा जब आगे बल को धारण कर ले चली हैं तो उसे
 'अश्व' कहा जाता है। अस्त्र सत्प्राभा प्रदा श्वेते तदा अश्वः' भवति।
 यहाँ 'मित्र, वरुण और अग्नि' के द्वारा अश्व का उदय बताया है।

अतः पहले इस स्वरूप को समझ लें।
 सत्प्रलोक में 'अ' की सत्प्राभा के वामायत में भागते इस रूप के द्वारा
 सारी प्रजाओं का स्वामी सप्तपरावृत ऋत के अन्दर बनता है। जब इस
 सप्त परावृत से अष्टापरावृत बनता है तो उस अष्टापरावृत की मिति
 (Measurement) से $\frac{16}{15} \pi^3 - \frac{1}{3} \pi^4 = 0.02 \pi^3$ इकाई मिति का ऋत बाहर
 निकलता है। इस बाहर निकले हुस् मिति के ऋत को 'मित्र' नाम का
 देवता कहा जाता है। अष्टापरावृत की मिति घटती है।

जब अष्टापरावृत से पुनः सप्तपरावृत बनता है तो उस
 सप्तपरावृत की मिति पुनः बढ़ती है। अतः अष्टापरावृत ऋत को
 घुसता है। अतः वह ऋत का वरण करता है। इस वरण किये
 जाने वाले ऋत को 'वरुण' देव कहा जाता है।

मित्र और वरुण के स्वरूप में इस प्रकार ऋत के बने
 सप्तपरावृत (Seven Hypercircle) और अष्टापरावृत (Eight Hyper-
 circle) भी आ जाते हैं। ऋत की मिति का वपन करने वाला 'मित्र' और
 ऋत की मिति का वरण करने वाला 'वरुण' कहा जाता है। एक वपन
 करता है तो दूसरा उसका वरण करता है। इसी कारण मित्र और वरुण
 का युग्म ओप्यन्तर पाया जाता है। 'मित्र' के सप्तपरावृत का रेखा
 चित्र सत्य लोक में पृष्ठ (12) पर दिखाया गया है। इसी प्रकार अष्टा-
 परावृत बनता है। अष्टापरावृत में आठों वृत्त परिधि में होते हैं।

मित्र और वरुण का ऋत सत्यलोक के पृष्ठ पर अपना
 एक क्षेत्र बना लेता है। इस क्षेत्र के द्वारा उनका ऋत का एक दुर्ग
 बन जाता है। यही उनका एक सदन बन जाता है। 'अ' की सत्प्राभा
 से सहस्र क्षीर्षों में सहस्र अक्षों पर चलने वाले सहस्र अश्वों का जन्म होता
 है। ये सहस्र अश्व उस मित्र और वरुण के सदन के सहस्र स्वरूप बना
 जाते हैं। इसके अतिरिक्त ये सहस्र अश्व उस सदन के क्षेत्र से नहीं
 सकंते अपितु सहस्र द्वार बनाते हुस् सहस्र अश्वों के रूप में उस क्षेत्र
 से बाहर निकल जाते हैं और ऊपर के लोकों में चली चली जाते हैं।
 ये ही सहस्र अश्व सहस्र क्षीर्षी बन कर सहस्र अक्षों पर चलते हुस् आगे
 स्वः लोक में 'पुरुष' की रचना करते हैं।

दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ [अथर्ववेद ५, 16, ५]
[अर्थ है- यों में वरुण के सहस्र अक्षों पर चलने वाले चर वरुण की भूमि को अति रूप से देखते हैं ।]

मित्र और वरुण का ऋतु जहाँ अन्तरिक्ष में सत्य लोक और तपः लोक के मध्य टकराता है, वहाँ पर उनके मध्य 'अग्निमा' की रचना हो जाती है। 'अग्निमा' मित्र और वरुण के ऋतुओं की स्वतन्त्र दिशा प्रदान कर के सप्त चाराओं में ऋतु का प्रवाह बना देता है, जिन्हें सप्त सिन्धु भी कहते हैं। ये सप्त चारायें ही सात अश्व - "सप्त हरितः अयुक्ता" कहलाती हैं। ये सरण गति (Linear Motion) करने वाली ऋतु की सात चारायें ही झुक बन कर सूर्य के तेज पर आरुढ़ होती हैं। ["आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमणः यस्या आदिस्था अध्वनो रदन्ति मित्रो अग्निमा वरुणः सृजोषाः ।"]

मित्र और वरुण के क्षेत्र, सदन को बताते वाले ऋग्वेद के मन्त्र निम्न हैं—
"जहि ते क्षेत्रं----" (ऋग्वेद-1-24-6)

"मृका सुक्षत्र मृक्यं----" (ऋग्वेद-7-89-1)

"ऋतेन यावृता वृथा वृतस्य ज्योतिषस्पती । ता मित्रा वरुणा हुवे ।"
(ऋग्वेद-1, 23, 5) [जो ऋतु के द्वारा वृत के बढाने वाले हैं और उस ऋतु के वृत की ज्योति के स्वामी हैं, उन मित्र और वरुण को मैं बुलाता हूँ ।]

इस मन्त्र से ही मित्र और वरुण का स्वरूप वृत के रूप में ऋतु से बना हुआ स्पष्ट हो जाता है। "ऋतेन मित्रवरुणा वृता वृथा वृतस्पृशा" (ऋग्वेद-1, 2, 8)

क्रतु वृहन्तमाशाथे ॥ [मित्र और वरुण वृत के रूप में ऋतु से बढने वाले हैं और आपस में वृत की स्पर्श करने वाले हैं। आप ने ऋतु के यज्ञ के महान बल को प्राप्त किया है। अपने क्रतु भाग को वृहन्त कराने की हम आप से आशा करते हैं।]

"राजाना वनीमि द्रुवा ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते ।" (ऋग्वेद-2, 41, 5)

"वृहन्तं मानं वरुण स्वधावः । सहस्रं द्वारं जगमा गृहं ते ।" (ऋग्वेद-7, 88, 5)

इन मन्त्रों में मित्र, वरुण का राजाओं की भाँति उत्तम महल बताया है। जिसमें सहस्र स्थूण हैं। वरुण ऋतु का वरण करके वृत के रूप में बढता हुआ आगे दौड़ता है। उसके

“यदद्य सूर्य ब्रवो ऽ नागा उद्यन मित्राय वरुणाय सत्यम् ।” (ऋग्वेद-7-60-1)

[सत्यलोक के बाहर वरुण तथा मित्र के लिए सत्य लोक से निकला ऋत सरण गति करने वाले सूर्य का रूप पहन कर देवों को प्रकाशित करने के लिए चल देता है।]

यह प्रवाह मित्र और वरुण के मिले हुए गतिमान रूप 'अर्यमा' के द्वारा सूर्य के बीज की रचना करके तपः लोक में तपस् उत्पन्न करता है। [“आ सूर्यो असह चक्षुःक्रमणः । यस्या आदित्या अध्वनौ मित्रो अर्यमा वरुणः सृजोषाः”]

वरुण मित्र तथा अर्यमा के रूप में ऋत की सप्त धाराओं सप्त अश्वों के रूप में बहकर द्यौ में निकल पड़ती है जो सूर्य में घृताची को ले जाकर प्रदान करती है। इसी से वरुण तपस् को धारण करके प्रथम अंगिरा का रूप धारण कर लेता है।

[“अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ई वहन्ति सूर्ये घृताचीः । चामानि मित्रा वरुणा युवाकुः सं यो यूयैव जनिमानि चष्टे ॥” (ऋग्वेद-7-60, 3)]

[त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सरवा। (ऋग्वेद-1-31-1)] यही अंगिरा अग्नि का तपता हुआ प्रथम रूप बहकर चलता हुआ 'अंगिरा ऋषि' बन कर देव रूप में देवताओं को शिव का मित्र कल्याण करने वाला देव बनता है। मित्र के निकले हुए ऋत की वरुण का चाम प्रिय है। [प्रियं मित्रस्य वरुणस्य चाम। (ऋग्वेद-1-152-4)] इसी कारण मित्र के निकले हुए ऋत का वरुण स्वयमेव वरण करता है और अपने स्वरूप की वृद्धि करता है।

[“मित्रो हरजनयः ऋणो रात्रिम् ।” (तैत्तिरीय संहिता 6-4-8, 3)] मन्त्र में भी मित्र के ऋत से उदित संकल्प (अहः) द्वारा वरुण का जन्म बताया है और उसके बाद उस संकल्प के विलय की रात्रि को बताया है। ये मित्र और वरुण अपने माता पिता के साथ परम व्योम में चलते हैं। [सं गच्छस्व पितृभिः सं युमेनैष्टा पूर्तेन परमे व्योमन्। (ऋग्वेद-10-14-8)] यह मित्र, वरुण और अर्यमा के ऋत का सप्तधाराओं का प्रवाह पदावत (step by step) रचना करता हुआ 'नर' रूप के देवों की ओर भागता है। [आ पुदीमर्धावतं नरा” (ऋग्वेद-5-64-7)] यह 'नर' का अर्थ

सत्यमहाभास्वरा की सत्याभा के अरों से युक्त 'न' कण (न्यूट्रॉन) से है, जो सृष्टि में सभी प्रकार की जीवकोशिकाओं की रचना करने वाले अणुओं (Atoms) की नाभि की रचना करता है। [स माया अर्चिना पदा ऽ स्तृणा ननाकमसहत्। (ऋग्वेद-8, 41, 8)] मन्त्र इसी बात को बता रहा है।

वरुण के परावृत्त (Hypercircle) के रच को वासावृत्त के अश्व ही वहन करते हैं। [आ वासावृत्तः मन्त्रे नरा” (ऋग्वेद-8, 41, 8)]

विष्णुपतिं सातपुत्रम् ।

वरुणः
अग्निः
मित्रः

वरुण तथा मित्र के सदन का बना क्षेत्र ।
जिसमें सहस्र द्वार तथा सदस्य स्थान हैं ।
अस्य वामस्य पीलवस्य अस्य अत्रापश्यं विवर्षति ।
सातपुत्रम् ।

(सत्य लोक)
अ' (विष्णु)
(सत्य लोक)

अग्निः
अग्निः
अग्निः

सरस्वती तथा लक्ष्मी का सदन ।
मित्र का सदन ।

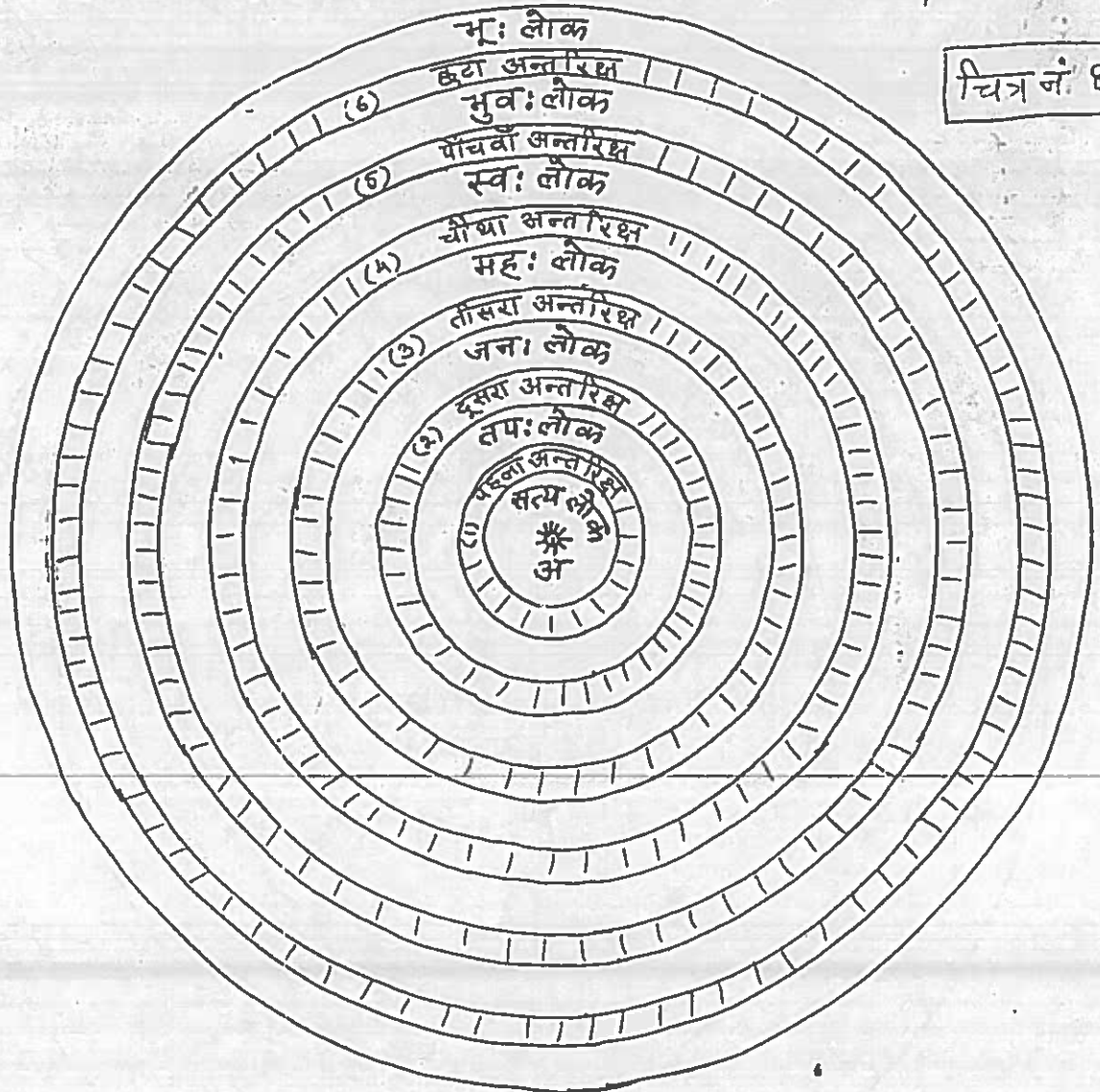
यहाँ सदस्य द्वारों से सदन अक्षीं पर स्तुत के वी अर्वा के सदस्य हैं ।

(तपः लोक)
अ' (शिव)
(तपः लोक)
वरुण का सदन ।
अत्रापश्यं विवर्षति ।
सातपुत्रम् ।
अग्निः
अग्निः
अग्निः

अमुक्त सातद्वारितः सद्यस्याद्या इव वदन्ति सर्वं धृतायै ।
वरुणः
अत्रापश्यं विवर्षति ।
सातपुत्रम् ।

इव वदन्ति सर्वं धृतायै ।

इस प्रकार मित्र और वरुण के ऋतु के संग्रह से अग्नि का ऋतु जब सप्त धाराओं में सप्त अश्वों के रूप में दोलकों के मध्य बह कर निकलता है तो उस स्थान पर वह अपने लिए एक अन्तरिक्ष की रचना कर लेता है। इस अन्तरिक्ष में परावृत्तों का अधिकतम मान (Maximum measurement) होता है जो सप्त परावृत्त और अष्टापरावृत्त के मध्य किसी बिन्दु पर बताया गया है। ["The most disturbing aspect of this business is that the maximum is located in a space, the number of whose dimensions is not an integer and lies between seven and eight". - page 23 -] यह ऋतु का अधिकतम मान ही अग्नि बन कर अन्तरिक्ष की रचना करता है। अतः छः अष्टापरावृत्तों के अष्टकों से छः अन्तरिक्षों की रचना हो जाती है, साथ में मित्र और वरुण उन्हें एक पाश में भी बाँध कर एक साथ रखते हैं। इसी कारण यहाँ "षडभिरष्टैर्विश्वरूपेण पाशम्" कहा है। इन अन्तरिक्षों की रचना का चित्र निम्न प्रकार बनता है।



चित्र नं. ८

ये छः स्थान छः अन्तरिक्ष इस लिये बँदे जाते हैं कि इनमें न तो सप्त परावृत की रचना होती है और न ही अप्पापरावृत की रचना होती है, अपितु यह भाग दोनों के मध्य होता है जिसमें क्षीरों के माध्यम के द्वारा केवल ऋतु का अश्व गति करता है। इनमें परावृत न बने के कारण मौलिक अर्थों के बने रजःणों के पिण्ड प्रतिमा के रूप में विचरण नहीं करते। वे अपने सम्बन्धित लोकों में ही विचरण करते हैं। अतः यह अन्तरिक्षों का भाग रजःणों से विहीन केवल ऋतु के तन्तुओं का और अश्वों की गति का बना भाग होता है।

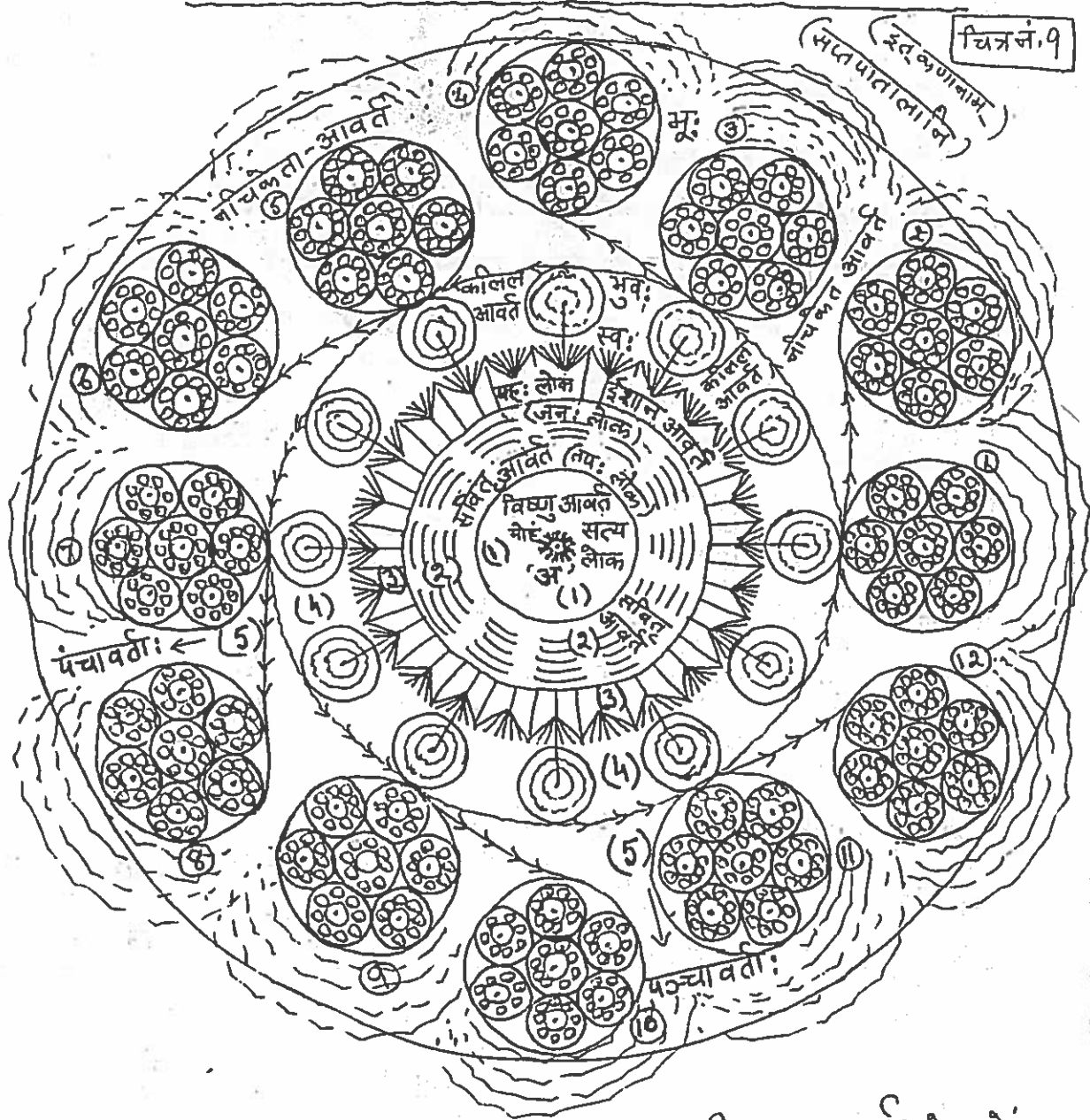
इन सारे शब्दों के अर्थ स्पष्ट होने के पश्चात् अब इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट रूप से लिखत होता है।—

- (1) तमेवजैमिम् = ध्यान योग में स्थित होकर उन ऋषियों ने उस स्वर्ग जैमि को देखा जिसमें दशमौलिक अर्थों से युक्त होकर बने 'व' ऋणों के स्वरूप नामि के केन्द्र पर तने हुए रूप में चक्राकार गति में घूमते हुए बहते हैं तथा अपने स्वरूपों से उस जैमि में 'ज' (Neutron), चिक्क (Proton), इत (Electron) के बने स्वरूपों को प्रतिमाये बनाते हैं। इस जैमि के अन्दर के अर्धपिण्ड सूर्य के चक्राणु के रजःणों (Photons) के द्वारा ढँके हुए रहते हैं। इस जैमि के अन्दर नामि में बने सभी देवों के भुवन बन कर स्थित हैं।
- (2) त्रिवृतम् = इस जैमि के अन्दर सातों लोकों में स्थित देवीजिष्वाओं के जो सारे भुवन स्थित हैं, उनमें तीन वृत 'पलित', 'अश्न', 'धृतपृष्ठ' नाम के तीन भाइयों के बने हुए हैं, ये तीनों वृत ऐसे हैं — जो कभी भी क्षीण नहीं होते और आग्रम रहित हैं। इन तीनों वृतों को 'सप्त' नाम का स्वर्ग ही अश्व वहन करता है। सातों लोक नामि के स्वर्ग ही चक्र के रथ में जुड़े हुए हैं।
- (3) षोडशान्तम् शतार्थारम् = इस जैमि के अन्दर के भाग में महालोक में स्थित पाँच देवों — 'अमुद', 'ऋभु', 'प्रतर्दन', 'अञ्जनाम्', 'प्रचिताम्' — में से प्रत्येक में ऋतु के तन्तुओं के बने पचास अंशों के पुञ्ज को देखा, जिसके प्रत्येक अंश में सौलह अन्तः खण्ड बने हुए हैं। स्वर्ग अन्तः खण्ड का अन्त स्वर्ग सञ्चुकोचान्त (wave length) को बताने वाला है। स्वर्ग अरा ऋतु में बना स्वर्ग अश्व है।

(4) विंशति प्रत्यराभिः = यह पचास ऋतु के अरों का पुञ्ज का स्वरूप बीस प्रत्यरों के द्वारा बनता है। जनः लोके में स्थित चार प्रकार के देवों - 'ब्रह्म पुरोहित', 'ब्रह्म व्याधिन्', 'ब्रह्म महाव्याधिन्', 'अमर' - में से प्रत्येक में महः लोक में जा कर पाँच-पाँच देव - 'बुध', 'ऋभु', 'प्रतदिन', 'अञ्जनाम', 'प्रचिताम' - बन कर महः लोक में कुल देवों की संख्या ($4 \times 5 = 20$) बीस बन जाती है। इन्हीं बीस प्रत्यरों के द्वारा एक पचास अरों का पुञ्ज बनता है, जिसके प्रत्येक ओर में सोलह अन्त है। तपः लोक तथा सत्य लोक के मध्य स्थित अन्तरिक्ष में जो वरुण तथा मित्र के ऋतु से क्षत्र बनता है और उस क्षत्र से जो ऋतु का सदन बनता है उसीके सहस्र द्वारों से जो सहस्र अश्व अरों के रूप में निकलते हैं, वे ही यहाँ बीस प्रत्यरों के द्वारा बीस मार्गों में बँट कर ($1000 \div 20 = 50$) पचास अरों का एक पुञ्ज बना देते हैं।

(5) अष्टकैः षडभिर्विश्व रूपैक पाशम् = ऋतु में बने हुए अष्टापरावृत्तों के अष्टकों के द्वारा बने छः अन्तरिक्षों के द्वारा नाभि के सातों लोकों - 'भूः', 'भुवः', 'स्वः', 'महः', 'जनः', 'तपः', 'सत्यम्' - के सारे रूप को बाँधने वाले एक पाश की उन ऋषियों ने देखा।

(6) त्रिमार्ग भेदम् = सातों लोकों के एक पाश में बँधे हुए स्वरूप में जो 'पीलत', 'अश्न', 'घृतपृष्ठ' नाम के नाभि के तीन आश्रय रहित और कभी भी क्षीण न होने वाले चक्र हैं, उन तीनों को भेदता हुआ एक ही अश्व वहन करता है। उस 'सप्त' नाम के अश्व द्वारा नाभि के तीनों चक्रों में मार्ग के भेदन को ऋषियों ने नाभि के अन्दर देखा। अर्णु के केन्द्र की ओर क्षीरों के बने पाँच स्रोत धाराओं के रूप में जो उग्र और बद्ध गति में आते हैं, उनमें से तीन स्रोत केन्द्र से वापिस लौट कर सभी मार्गों का भेदन करने के बाद तब ही तब आण की नाभि से बाहर निकल जाते हैं। उनको देखा।



द्यौलोक के पाँच पादों के
पाँच आवर्तों के ऊपर सात
लोकों की रचना में सौर भुवन
स्थित है।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव
आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।

अथैमे अन्य उपरे विचक्षणम्
सप्तचक्रं षड्भर आहुरपितम् ॥

(ऋग्वेद-१, १६४, १२)

अर्थ पृष्ठ (२२) पर देखें।

(१) विष्णु आवर्त = केन्द्र में
सत्यलोक में स्थित।

(२) सविता आवर्त = सत्यलोक के ऊपर
तपः लोक तथा जान लोक में।

(३) ईशान आवर्त = पुरुष का सहस्र
शीर्षी तथा सहस्र पादों का भाग। महः लोक, स्वः
लोक का कुछ भाग।

(४) कलिल आवर्त = स्वः लोक का
कुछ भाग तथा भुवः लोक।

(५) नचिकेता आवर्त = भूः लोक
तथा सप्त पाताल लोक। बारह आशुती
के और चक्र।

हैं। जिनमें पहला निमित्त द्यौ की रचना में ऋत का बना पञ्चावर्त है। इस पञ्चावर्त में ऋत में चलने वाले पाँच प्रकार के अरों के द्वारा पाँच आवर्त- [(1) विष्णु आवर्त, (2) सवितृ आवर्त, (3) ईशान आवर्त, (4) कलिल आवर्त, (5) नीचवैतावर्त,] बनते हैं। (पञ्चावर्तों का साथ में लगा चित्र देखें।)

दूसरा निमित्त इस जमी की रचना में इस पञ्चावर्त के ऊपर बने सप्तलोक हैं जिनमें अर्धों की रचना होकर दश मीलिय अर्धों के द्वारा बने 'क' ऋणों के रजवर्णों से अर्ध-पिण्डों के रूप में बने देवों की तथा देव निष्कामों की रचना होती है। इन दोनों निमित्तों से मिलकर जमी में जमी की रचना होती है, तभी अणु (Atom) की रचना पूर्ण होती है।

परन्तु ये दोनों निमित्त जमी के केन्द्र में स्थित अच्युत रूप में बैठे विष्णु (अ) के द्वारा एक ही खूँटे में बंधे हुए हैं। दोनों निमित्तों की रचना का केन्द्र बिन्दु वह एक अकेला विष्णु ही है। पञ्चावर्तों का चक्र तथा सप्तलोकों का चक्र, इन दोनों निमित्तों का चक्र एक ही मोह (केन्द्र की धुर) के चारों ओर घूमते हैं। अर्थात् विष्णु (अ) उनका उभयनिष्ठ एक ही मोह है। विष्णु के ही शब्द के अर्थ में 'अ' कहा गया है। 'अ' के 'शिव' भी कहा जाता है। परन्तु 'शिव' उस 'अ' को कहते हैं जो ऋत में बने सप्तपरावृत्तों के प्रत्येक वृत्त के क्षीर के केन्द्र में अच्युत रूप से प्राङ् बिन्दु बैठा होता है और जो तन्तुओं के रूप में 'ईशान' रहित की रचना करता है तथा ईशानी के जाल द्वारा सम्पूर्ण रचनाओं को नियंत्रित करता है। ईशानी और ईशान के तन्तुओं का जाल ऋत में बने अक्षों से बनता है।

परन्तु विष्णु रूप में 'अ' जमी के केन्द्र बिन्दु में आवरणों का देवता बन कर प्राङ् रूप में अच्युत रूप में शुद्धब्रह्म के स्वरूप में संज्ञासिद्धि के देव स्वरूप से युक्त होकर शान्ताकार रूप में बैठा है।

इस प्रकार यहाँ जमी की रचना के "धावापृथिवी" दो निमित्त बनते हैं तथा उनका

पुराणों के अनुसार संसार की रचना में
अणु की व्याख्या का चित्रात्मक मूर्त रूप चित्र।
इस चित्र से अणु के अंगों का अणु में स्थान और उन का
नाम निर्धारित किया गया है। व्याख्या पुराणों में वर्णित है।

चित्र नं. 10



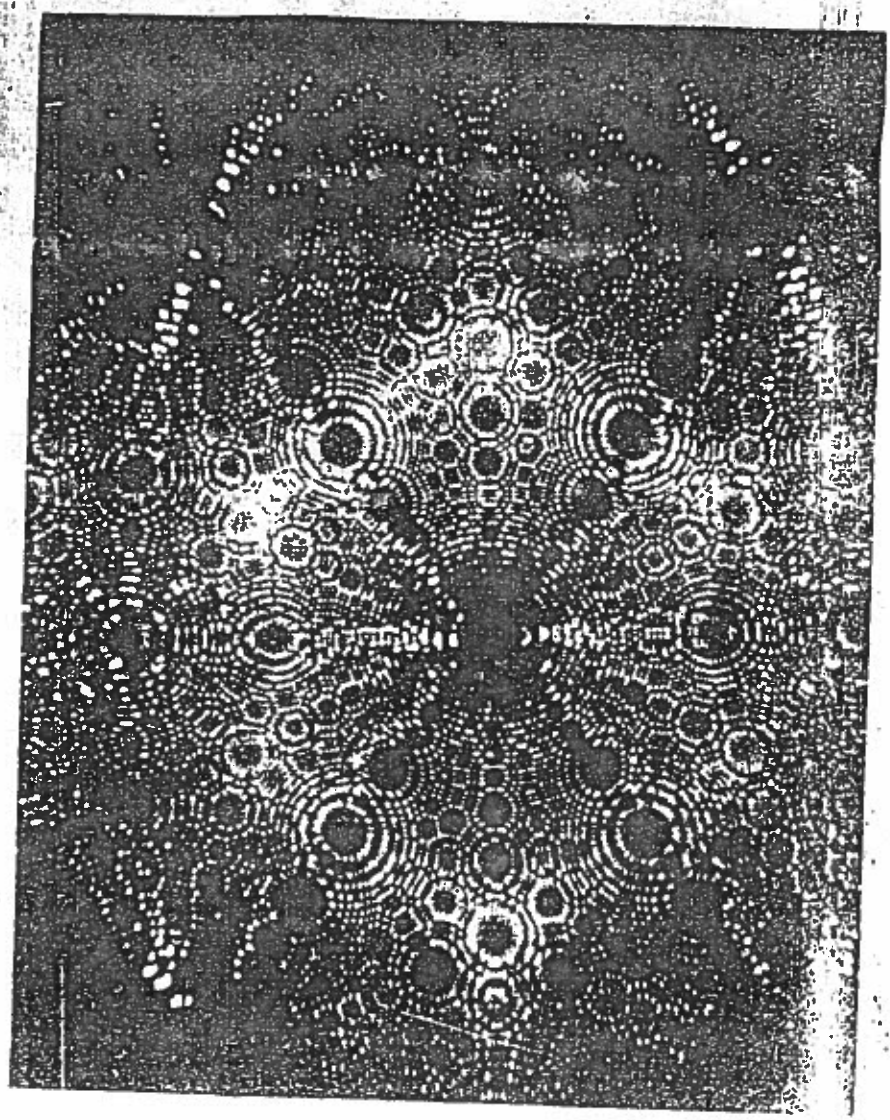
स्व ही मोह जीम का अच्युत केन्द्र बनता है। 1
 अणु की जीम का केन्द्र ही मोह है। उस केन्द्र में स्थित विष्णु
 के सद-ब्रह्म तथा असद-ब्रह्म रचना के दो निमित्त बनते हैं। (43)
 पुराणों में इस रचना को निम्न प्रकार समझाया गया है। सर्वप्रथम
 निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म के रूप में सृष्टि सृजन की कामना करते हुए विष्णु
 भगवान अवतरित होते हैं। उसके पश्चात वे स्व क्षीर की रचना करके
 क्षीरसागर की रचना करते हैं। क्षीरसागर में शेषनाग को अपनी शैया बना
 कर उस पर विद्वाम करने लगते हैं। उनके चरणों में लक्ष्मी तथा सरस्वती
 वाम भाग में वधू के रूप में आकर उत्पादक शक्ति के रूप में विराजमान
 होती हैं। उसके पश्चात विष्णु की जीम से कमलनाल का उद्गम होता है। उस
 कमलनाल पर कमल के फूल पर ब्रह्मा जी का अवतरण होता है। ब्रह्मा जी
 सृष्टि के जनक होने के कारण जनः लोक के देवता के रूप में प्रतिष्ठित
 होते हैं। ब्रह्मा जी के देवनिष्पाद के रूप में चार मुख बनते हैं। कमलनाल
 की डंडी और पुष्प तपः लोक की रचना बनते हैं। नाल अश्वों के अंशों की
 प्रतीक और कमलपुष्प 'अंगिरा' का प्रतीक बनता है। जनः लोक अवर
 क्षेत्र होता है, अतः ब्रह्मा जी अपरा शक्ति से युक्त होते हैं और अपनी इसी अपरा
 शक्ति से सृष्टि में विभिन्न देवों का सृजन करते हैं। अंशों में सवितृ की सवन शक्ति होती है।
 ब्रह्मा के चार मुखों में से प्रत्येक मुख में पाँच-पाँच जिह्वाएँ होती हैं।
 ये पाँच जिह्वाएँ ही महः लोक के कुमुद, ऋतु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रचिताभ
 नाम के पाँच देव बनते हैं। चारों मुखों में पाँच-पाँच जिह्वाएँ मिल कर
 बीस प्रत्येक बन जाते हैं जो पचास-पचास ऋतु के अंशों के पुञ्ज होते हैं,
 जिनके प्रत्येक अंश में सौलह कलाओं के सौलह अन्त होते हैं। महः लोक का
 देव महेश्वर शिव या रुद्र बनते हैं। इसी कारण शिव को ब्रह्मा का
 मानसपुत्र कहा जाता है। चित्र पृष्ठ 32 पर देखें।

इन जिह्वाओं से ऋतु के तेज के अंश ईशान रूप में निकलते हैं।
 जो स्वः लोक में स्थित सहस्रशीर्षा पुरुषः की रचना कर देते हैं।
 पुरुष ही मायावी बन कर अपनी माया से भुवः तथा भूः लोकों की रचना
 करके देवों का भरण पोषण करता हुआ पूरे अणु की रचना कर देता है। स्व
 पूरे अणु की रचना होने पर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना उन अणुओं (Atoms) से
 हो जाती है।

इस प्रकार पुराणों के ज्ञान के द्वारा भी इस मन्त्र का पूर्ववर्ता
 अर्थ ही स्पष्ट होता है। विष्णु की स्थित जीम के केन्द्र में बता दी गई है।
 शेषनाग विष्णु के प्राङ् विन्दु के चारों ओर बना अवर क्षेत्र है जहाँ पर
 ऋतु की मात्रा शेष रूप में बची हुई अवर रूप में हो जाती है, जहाँ वह इस
 क्षेत्र से विष्णु पर ऋतु लुप्त मात्रा में अपना स्थान छोड़ कर चला जाता है और
 क्षेत्र से विष्णु पर ऋतु लुप्त मात्रा में अपना स्थान छोड़ कर चला जाता है और
 क्षेत्र से विष्णु पर ऋतु लुप्त मात्रा में अपना स्थान छोड़ कर चला जाता है और

चित्र नं. ॥

पदार्थ की परमाण्वीय संरचना



चित्र 9.2 टंगस्टन की संरचना देखने के लिए फील्ड ऑयन माइक्रोस्कोप द्वारा लिया चित्र

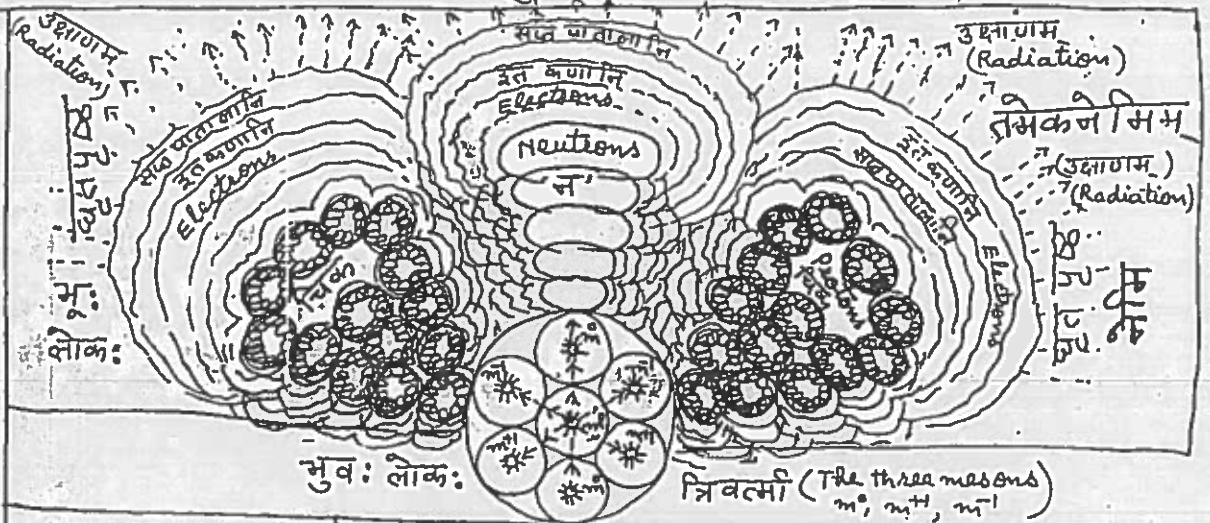
ऋग्वेद में इसी को "आनीत अवातं स्वधया तदेवम्" (ऋग्वेद-10/129, 2) कहकर बताया है। 'अवात' का अर्थ ग्रहों पर न हिलने वाला अच्युत रूप में स्थित होने का स्वरूप है। जैसे कि जब हवा नहीं चलती तो पृथ्वी का प्रत्येक रजःखण्ड एक स्थान पर अच्युत रूप में स्थित हो जाता है और तनिष् भी नहीं हिलता है।

विष्णु की चार भुजाओं के प्रतीक से विष्णु की रचनाओं का चतुष्पदी वर्गीकरण बनता है। विष्णु के हाथों में शंख, चक्र, गदा, पदम बताया गया है। इसका अर्थ है कि विष्णु के चारों ओर रचनाओं की प्रीति का स्वरूप शंख की आकृति, चक्र की आकृति, गदा की आकृति और पदम पुष्प की आकृति का बनता है। साथ में लगे इस चित्र को देखें जो पृष्ठ (44) पर लगा है। यह टंगस्टन के एक अणु (Atom) का दस लाख गुणा आवर्धित करके बनाया गया बड़ा फोटो है। यह फोटो फ़िल्ड आभन माइक्रोस्कोप द्वारा लिया गया है, अतः यह टंगस्टन के अणु (Atom) के अवयवों सहित उसका वास्तविक चित्र है। इस चित्र में रचनाओं की आकृतियों का स्वरूप इन्हीं चार अवस्थाओं में - शंख, चक्र, गदा तथा पदम की अवस्थाओं में - स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। इनके अतिरिक्त और किसी प्रकार की आकृति नहीं बनती।

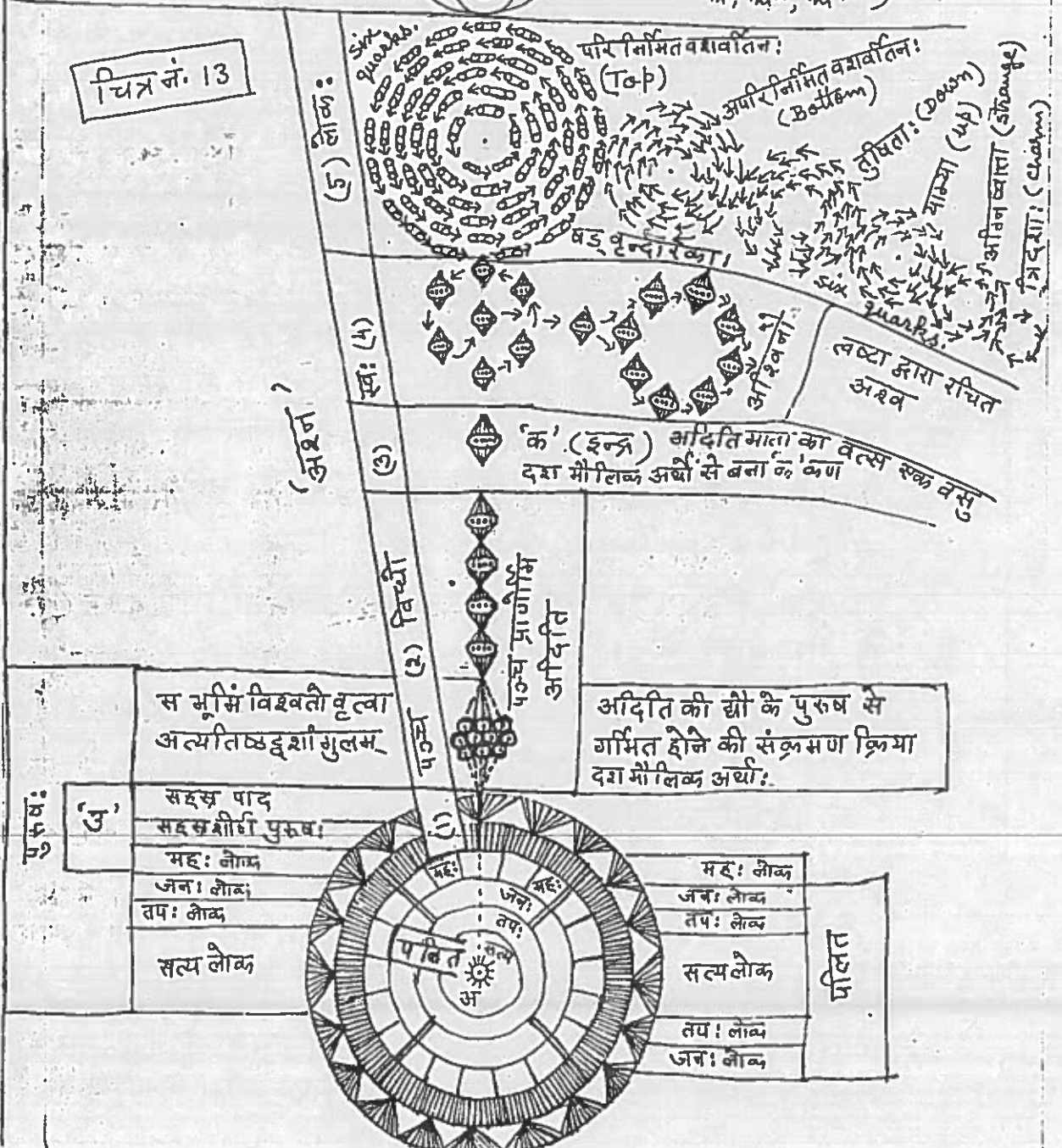
पृष्ठ (45) पर इस अणु (Atom) की नाभिकीय आकृति में पलित, अभन, दृतपृष्ठ के तीन चक्र वृताकार रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। दृतपृष्ठ का भाग नाभिकीय रचना करता है, जिसके अन्दर नाभिकीय का सारा रूप एक पाश्चा में बँधा हुआ है। सप्त लोको का विभाजन भी इसी आकृति में होता है जिसका पूर्ण स्वरूप आगे के पृष्ठ पर नाभिकीय के पूरे मैसदण्ड में (Line spectra of the nucleus) दिखा दिया गया है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इस नाभिकीय के मैसदण्ड (सुमेरु) के तीन भागों में (1) 'पलित' *Unvisible part* है, (2) 'अभन' *Semi-visible part* है, (3) दृतपृष्ठ *fully visible part* है। एक Electron की wave का भी Lyman series में इसी प्रकार का विभाजन होता है। उसी प्रकार का विभाजन ग्रहों नाभिकीय (Nucleus) के सुमेरु (Line spectra) का होता है। इन तीनों भागों में भी विभिन्न प्रकार की रचनाओं के अनुसार इनका विभाजन लोको में स्थित अनेक द्वारों में होता है। प्रत्येक द्वार पर अलग प्रकार की एक स्वतन्त्र इकाई की रचना होती है, जो नाभिकीय के अन्दर भी स्थित रहती है और स्वतन्त्र रूप से परमव्योम में भी स्थित रहती है।

जोमि में सेसे लुल नौ द्वार हैं, जिन से हंस रूपी ऋत का पुञ्ज अश्व का रूप धारण करके बाहर आता है। इसका स्पष्टीकरण आगे इस से सम्बन्धित मंत्र की व्याख्या में करेंगे।
यहाँ पहले जोमि के बनेने वाले सुमेरु का रेखा चित्र देख लें।



चित्र नं. 13

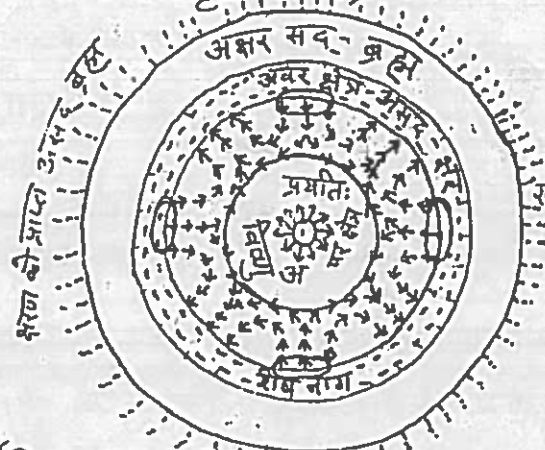


पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युगवक्त्रां पञ्च प्राणोर्मि पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्ता पञ्चदुःखौद्यवेगाम् पञ्चाद्वाद्भेदाम् पञ्च पर्वाम् अथीमः ॥

(उस अणु की एक जैम वाले चक्र में) पाँच योनियों में बड़े ही उग्र और बक्र गति से चलने वाले अम्बु के पाँच स्रोत हैं। अर्थात् पाँच चाराग्रे हैं। इस में पाँच प्राणोर्मियाँ हैं, जो पाँच बुद्धि आदि की मूल हैं। अर्थात् बुद्धि इन्हीं पाँच प्राणोर्मियों की एक संक्रिया (function) है। इस में पाँच आवर्त हैं, जो पाँच दुःखों के औद्यौ (Accumulations - समूहों) और वेग वाले हैं। इस के पचास भेद हैं। इन्हें हम आगे के पाँच पर्वों में पढ़ेंगे। आगे के जो पाँच अध्याय इस उपनिषद् में हैं, उनमें हम इन का अध्ययन करेंगे। यह सारी आणविक विद्या पाँच पर्वों में बँटी हुई है। सारव्य शास्त्र में इसी को "पञ्च पर्वी विद्या" कहा गया है। अर्थात् विद्या, अविद्या के युग्म के पाँच पर्व हैं। विद्या तथा अविद्या सदैव साथ-साथ रहती हैं। [विद्यां च अविद्यां च यस्तद्विदोभयं सह] सृष्टि के सृजन में दो प्रकार के स्वरूपों आर्द्र और शुष्क की ही सत्ता बताई गई है। तीसरे प्रकार के किसी स्वरूप की सत्ता नहीं होती। [द्रव्यं वाऽइदं न तृतीयमस्ति । आर्द्रं चैव शुष्कं च] (शतपथब्राह्मण - 1, 6, 3, 23) जो पिण्ड (solid) बन जाता है, वह पृथिवी रूप में शुष्क कहलाता है। जो बहकर चारा में चलता है वह आर्द्र [Fluid] कहलाता है। असद् ब्रह्म में जो क्षीर बनते हैं वे क्षीर सागर में चारा के रूप में बहकर चलते हैं। अतः वे आर्द्र रूप में क्षीर सागर के अम्बु हैं। क्षीर की रचना सदब्रह्म में क्षरण के कारण उसद् ब्रह्म के रूप की रचना से होती है। सदब्रह्म एक इच्छा के रूप में निर्गुण निराकार अव्यय रूप का ब्रह्म होता है। जब उस में सृष्टि सृजन की कामना उत्पन्न होती है [व्यामस्तदगे समवर्तताधि (ऋग्वेद-10, 129, 4)] तो वह एक से अनेक रूपों में बँटता है। [एकौऽहम् बहुस्याम्]। इसी को आधुनिक विज्ञान में Biv - Bang कहा जाता है। इन अनेकों रूपों में से एक रूप के अवग्रह का नाम क्षीर है। इन्हीं क्षीरों से मरा हुआ परमव्योम क्षीर सागर कहलाता है। उसी में चाराग्रे प्रवाहित होती हैं।

एक क्षीर की रचना के लिए चारों ओर से ब्रह्म क्षीरित होकर एक बिन्दु पर सृष्टि सृजन की इच्छा की कामना के द्वारा उदित सकल्प के बल से बलपूर्वक लाया जाता है।

वह ब्रह्म एक बिन्दु पर आता है, अचल अवस्था को प्राप्त हो कर उस बिन्दु को परा शक्ति (point of high intensity) से युक्त बना देता है। [“अनीत अवातम् स्वध्या तदैकम्” (ऋग्वेद-१०, १२९, २)] जिस क्षेत्र से असद् ब्रह्म के स्वरूप का ऋत उस एक बिन्दु पर लाया जाता है, तो उस क्षेत्र में शेष बचे ऋत का अवर क्षेत्र [Field of low intensity] बन जाता है। उस अवर क्षेत्र से ऋत की स्वधा उस पर क्षेत्र के बिन्दु पर जाती है और उस पर क्षेत्र के बिन्दु ‘प्रयतिः’ से स्वधा अवर क्षेत्र में आती है। [“स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्”] (ऋग्वेद-१०, १२९, ५)] इस प्रकार उस एक क्षेत्र में ऋत का चक्र बन जाता है। परा शक्ति के केन्द्र बिन्दु



चित्र नं. १४

एक 'क्षीर' की रचना का चित्र

के 'अ' या 'विष्णु' कहा जाता है। अवर क्षेत्र के शेष बचे ऋत को 'शेष नाग' कहा जाता है, जिस की शीघ्या पर केन्द्र में विष्णु भगवान विराजमान हैं।

प्रत्येक क्षीर के अवर क्षेत्र से ऋत प्रयतिः की ओर चलता है अतः उसके आवेग के कारण प्रत्येक क्षीर में गुरुत्वाकर्षण बल होता है। अतः प्रत्येक क्षीर दूसरे क्षीरों की अपनी ओर खींचता है। जिस क्षीर में गुरुत्वाकर्षण बल दूसरे क्षीरों की तुलना में अधिक होता है वह केन्द्र में स्थित हो कर अपने चारों ओर आवरण के रूप में कम गुरुत्वाकर्षण वाले क्षीरों को लपेटता चला जाता है। इस प्रकार के संयोजन में परावृत (Hypercircles) बहुआयामी ज्यामिति (Multidimensional Geometry) के बनते चले जाते हैं। इनमें सप्तपरावृत (Seven hypercircle) का माप सर्वाधिक $\frac{16}{15} \pi^3$ होता है। अष्टपरावृत (Eight hypercircle) का माप $\frac{1}{3} \pi^4$ तथा षड्परावृत (Six hypercircle) का माप π^3 होता है। सप्तपरावृत का माप सर्वाधिक होने के कारण में क्षीर सर्व प्रथम सप्तपरावृत में संयोजित

हो कर तपः लोका के एक अंगिरा की रचना करते हैं। अष्टापरावृत से भृगु की रचना होती है। इस अंगिरा और भृगु से पदार्थ की मात्रा वही सभी भूत पुष्क होते हैं। [“सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृगवङ्गिरोमयम्” (गोपथ-ब्राह्मण-1, 39)]। इस सप्तपरावृत का अंगिरा का चित्र पृष्ठ (12) पर देखें।

इस क्षीर सागर में जहाँ से क्षीर खिंच कर अंगिरा में तपः लोक में संग्रहित होते हैं उस क्षेत्र में शेष बचे क्षीरों के मध्य पुनः अवर क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। उस क्षेत्र को ब्रह्मा का जनः लोक कहा जाता है। केन्द्र बिन्दु में जो सर्वाधिक पराशक्ति वाला क्षीर स्थित होता है, उसके लोक को सत्यलोक कहा जाता है। लोक - Locus को कहते हैं। इस प्रकार सत्यलोक, तपःलोक और जनःलोक इन तीन लोकों की एक इकाई में ग्रथित रचना का नाम 'अर्णु' बन जाता है। इन बहुत सारे अर्णुओं से एक अर्णवसमुद्र बन जाता है। चित्र में पृष्ठ (13) पर एक अर्णु की रचना देखें। इस में क्षीरों की पाँच धाराओं का पुञ्ज पाँच अरों के रूप में केन्द्र के क्षीर की ओर प्रवाहित होता है और केन्द्र के क्षीर से टकरा कर प्रत्यावर्तित हो जाते हैं तथा तपःलोक के अंगिरा की रचना करके तीन धाराओं के रूप में तीन अरों का पुञ्ज बन कर बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार अर्णु में प्रक्रिया चलती रहती है।

ये पाँच ऋतु की धारायें क्षीरों की बन कर जो जनःलोक में बह कर आँध्र रूप में आती हैं, उन्हें ही यहाँ इस मन्त्र में “पञ्च स्रोतोऽम्बुं” कहा है। जनःलोक के ऊपर महेश्वर का महःलोक बनता है। उस में पाँच देव निष्काशों कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाम, प्रचिताम की पाँच प्रीति (उद्गम स्थल) बनती हैं जहाँ से बड़े ही उग्र और वक्र गति से पाँच स्रोतों के रूप में ऋतु की ये पाँच धारायें जनःलोक में आती हैं।

जो तीन अरों का पुञ्ज बन कर ऋतु की धारायें वापिस चल कर जनःलोक से महःलोक में जाती हैं और महःलोक से स्वःलोक में जाती हैं तो स्वःलोक में सभी ओर वे सहस्रशीर्षों में बँट कर पुरुष की रचना करती हैं। एक शीर्ष एक अक्ष पर चलता हुआ सहस्र पादों में बँट जाता है। एक पाद दशांगुल में बँट कर एक त्रित के क्षीर पर अति रूप से ठहर जाता है और मीहिजातं रूप धारण करके एक

एक मौलिक अर्थ में बदल जाता है। इस प्रकार दशांगुल रूप से दशमौलिक अर्थों के एक पिण्ड की रचना हो जाती है। एक पिण्ड की रचना होने पर वह पिण्ड (गौ) ऊपर उठता है और उसके स्थान पर दूसरा पिण्ड बन जाता है। इस प्रकार पाँच पिण्ड दशमौलिक अर्थों के बनकर एक दूसरे से अंतराला बद्ध विधि से जुड़ जाते हैं। जब छठा पिण्ड दशमौलिक अर्थों का उन से जुड़ने आता है तो सब से पहले जुड़ा हुआ दशमौलिक अर्थ का पिण्ड उस अंतराला से टूट कर 'क' ऋण बन कर अलग हो जाता है। इस प्रकार उस अंतराला में केवल पाँच पिण्ड ही दशमौलिक अर्थों के सदैव जुड़े रहते हैं जो अपनी आगे चलने की भटकेदार गति से 'पञ्च-प्राणोर्मि' की रचना करते हैं। 'क' ऋणों को उत्सर्जित करती हुई इस 'पञ्च-प्राणोर्मि' के स्वरूप को ही वसुओं को जन्म देती हुई अदिती माता कहा जाता है। ऋग्वेद में इस स्वरूप को निम्न मन्त्र में बताया गया है —

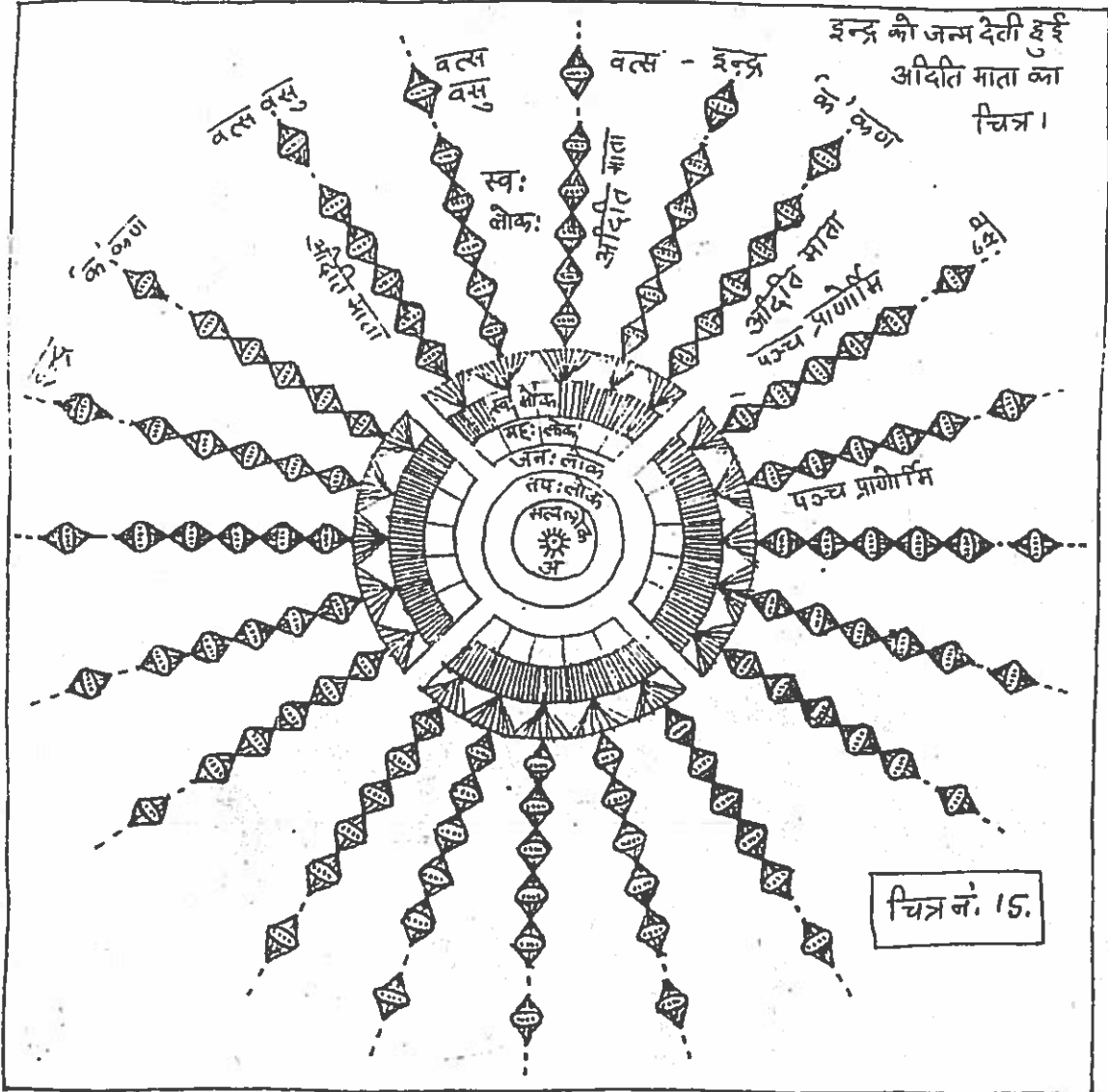
अवः परेण पुर एनावरेण पदा वत्सं विभ्रती गौरुदस्थात् ।

सा कद्रीची कं सिन्दर्द्धं पराऽगात् क्वं सिवत् सूते जीह यूथे अन्तः ॥

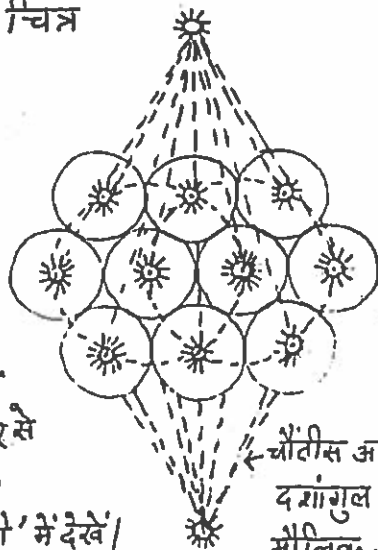
जनः लोक के अवर क्षेत्र से परे मह लोक के पर क्षेत्र के सहित इस के स्वः लोक के अवर क्षेत्र के द्वारा पदावत रचना करती हुई वत्स 'क' ऋण को धारण करती हुई गौ (अदिती माता) ऊपर उठती है। वह 'क' ऋण में आगे बढ़ कर जाने वाली स्वयं को अर्ध गोल के पर क्षेत्र ($\frac{1}{2} \text{ spin}$) में स्थापित करती हुई अपना निज का प्रसव करने के लिए 'क' ऋण पुत्र (इन्द्र या वसु) को जन्म देने के लिए कहाँ जाती है। अपने गोष्ठ (orbital) के बीच में अपने वत्स को जन्म देकर नहीं ररवती अपितु दूसरे आगे के गोष्ठ में फेंक देती है।

यह अदिती माता आठ वसुओं को जन्म देने वाली होती है। प्रत्येक प्रकार के वसु को जन्म देने समय इसका अपना एक विशेष रूप होता है। अतः यह अदिती आठ रूपों में व्योम (space) के अन्दर पाई जाती है। अदिती के चित्र में वसुओं को उत्पन्न करती हुई अदिती का रूप देखें। आगे पृष्ठ 52 पर अदिती का चित्र लगा है।

- ④ 'क' कणों का प्रसव करती हुई अदिती माता | "वसुपत्नी" गौ
 अवः परेण पर सुनावरेण पदा वत्सं विभ्रती गौरुदस्थत् ।
 सा कर्द्रीची कं स्विदद्धं पराऽगात् क्वं स्वित्सूते ग्रहि धूधे अन्तः ॥
 यह अदिती आठ विभिन्न प्रकार के रूपों में पाई जाती है। (ऋग्वेद - 1, 164, 17)



- ⑤ 'क' कण का चित्र
 अथवा
 इन्द्र
 अथवा
 रक्त वसु



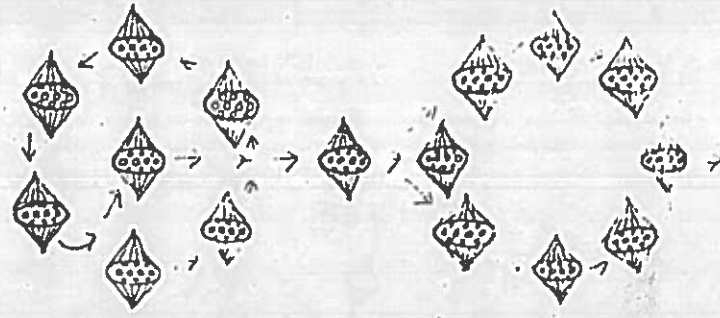
- अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद
 पर सुनावरेण ।
 कवीयमानः क इह प्रवोचयुवं
 मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥
 (ऋग्वेद - 1, 164, 18)

इन्द्र या वसु अपने
 आप को आठ प्रकार से
 संयोजित करते हैं ।
 यह संयोजन आगे 'अद्वितीय' में देखें।

चौतीस अर्णवों से बने 'अव' द्वारा बनी 'इशानी' की
 दशांगुल रूप में दश इशानी रश्मियाँ । प्रत्येक
 मौलिक अर्ध अपनी स्वयं इशानी रश्मि पर तना हुआ है।

अश्विनौ

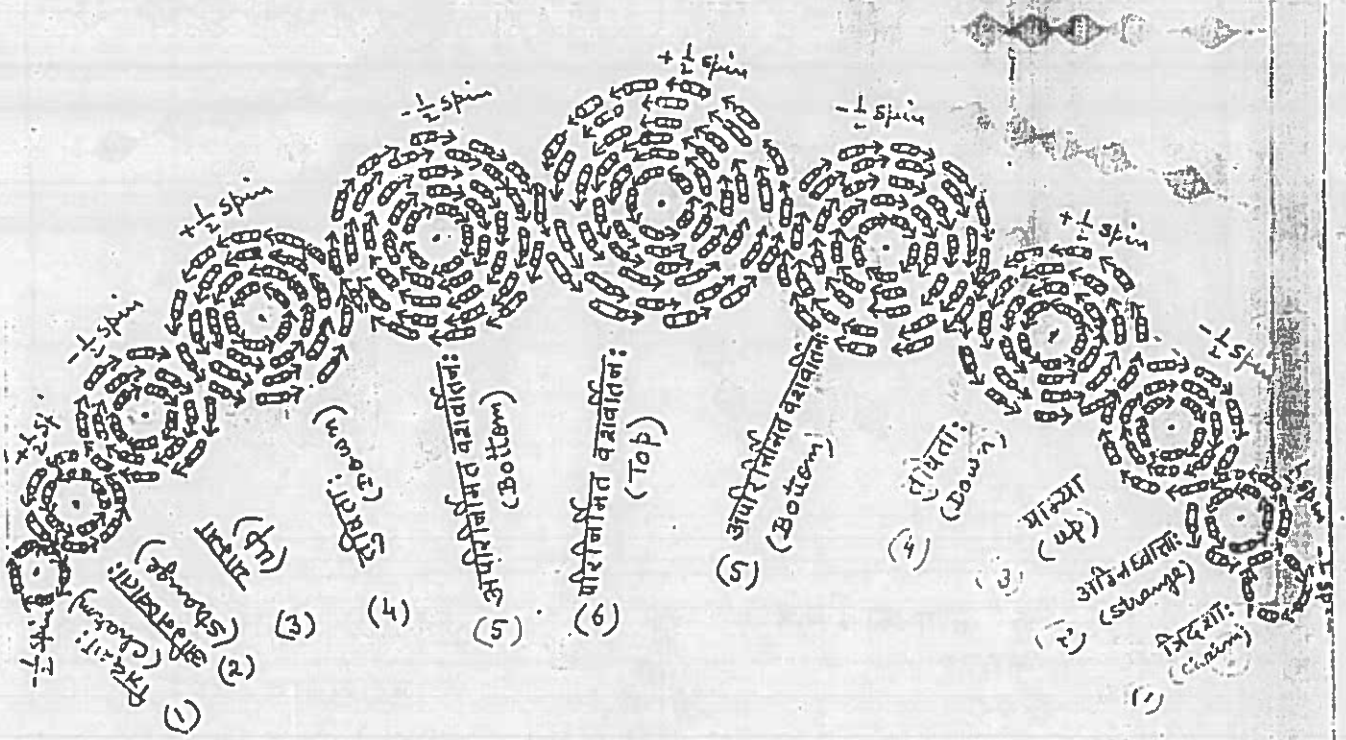
(त्वष्टा द्वारा रचित अश्व)
(चुम्बकीय तरंग चलाते वाला अययव)



चित्रनं. 16.

हिङ् कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मजसागभागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अचन्येयं सा वर्धतां महते सोमगाय ॥ (सर्वेद-1, 164, 2)

⑦ षड् वृन्दारकाः [The Six Virekas]



मादेन्द्र निवासिनः (स्वः लोक वासिनः) बह् देव निवासिनः - त्रिवशाः, अग्निवर्धनाः,
प्राग्भाः, तुषिताः, अपरिनिर्मित वशवर्तिनः, परिनिर्मित वशवर्तिनश्चेति । ते सर्वे संकल्पसिद्धाः
अणिमाद्यैर्वर्गोपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपपादिकदेहाः
उत्तमानुब्रूताभिराप्सरोभिः कृतपरिवाराः । (महर्षि व्यास)

अदिती जब 'क' कण को जन्म दे देती है तो 'क' कण अपने को दो अश्वियों में संयोजित करके अश्विनी का रूप प्रदान करते हैं। मन्त्र है -
हिङ् कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागातं ।
दुहामश्विभ्यां पयो अच्येयं सा वर्धतां सहते सौभाग्य ॥

अर्थ है -

(ऋग्वेद - 1, 164, 27)

हिंकार (नाद) करती हुई वसुपत्नी (अदिती) पुत्र की इच्छा करती हुई अपने मन के द्वारा सामने आ कर उपस्थित होती है। वह मारने के अयोग्य है। अर्थात् उसे मारना नहीं चाहिए। वह दो अश्वियों के युग्म अश्विनी के लिए पोषण प्रदान करने के लिए अपने दूध को दू दे। अर्थात् अपना दूध देवे। वह सौभाग्य शाली भगवता के लिए विभिन्न प्रकार की सम्पदाएं प्रदान करने के लिए सामर्थ्यशील बनाने के लिए सर्वेव बढती रहे। अर्थात् वह निरन्तर 'क' कणों का प्रसव करती रहे।

अश्विनी की रचना के बाद ये अश्विनी सूर्य चक्षुः रज कणों (Photons) में सप्तपरावृत्तों (seven hypercircles) और अष्टापरावृत्तों (Eight hypercircles) में संयोजित होते हैं और सूर्य चक्षुरज कणों (Photons) के पुञ्ज के रूप में अर्ध-परांगता (Half spin) गति करते हुए षड् वृन्दारका (Six quarks) के रूप में संयोजित होते हैं। इन षड् वृन्दारकों के विषय में महीष व्यास ने पातञ्जल योगदर्शन में विभूति पाद के कृष्णसूत्र "भुवन कोणं सूर्ये संयामात्" की व्याख्या में लिखा है कि, "महिन्द्रनिवासिनः षड् देविनिष्वायाः - त्रिदशाः, अग्निष्वात्ताः, ग्राम्याः, तुषिताः, अपरिनिर्मितवशवर्तिनः, परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति । ते सर्वे सङ्कल्पसिद्धाः अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पाशुषो वृन्दारकाः कामभोगिनः औपप्रादिव्यदेहाः उत्तमानुबूलाभिरप्सरसीभिः कृतपरिवाराः"।

अर्थ है - महानाहिक्र के स्वर्ग लोक अर्थात् स्वः लोक के निवासी छः देवों का समूह है। उन छः देवों के नाम हैं - (1) त्रिदशाः, (2) अग्निष्वात्ताः, (3) ग्राम्याः, (4) तुषिताः, (5) अपरिनिर्मितवशवर्तिनः, (6) परिनिर्मितवशवर्तिनः। ये सारे संकल्पों से विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने वाले हैं। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से युक्त रचना के कल्प पर्यन्त जीने वाले

वृन्दारव्य कहे जाने वाले, कामनाओं का भोग करने वाले भैरुन प्रेमी तथा स्वतन्त्रनिर्मित शरीरधारी और उत्तम स्वम् अनुबुद्ध तथा गति करने वाले पदार्थ के आर्द्र ऋणों द्वारा अपने परिवार को बनाने वाले भैरवः देव निष्काम हैं। अणिमादि आठ ऐश्वर्यों की सिद्धियाँ इस प्रकार हैं—(1) अणिमा = जिसमें योगी अणु से भी छोटी अणी [अणु (अक्षि) का स्वयं अवयव (एवम्) अणी कहलाती है] की पदार्थ की मात्रा के समान सूक्ष्म हो जाता है। अर्थात् योगी अपने शरीर को अणुओं से भी छोटे अवयवों परमाणुओं में भी विखण्डित करने तक में समर्थ हो जाता है।

(2) लघिमा = जिससे योगी अत्यन्त लघु रूप धारण करके अत्यन्त हल्का हो जाता है। वह अपने शरीर के परमाणुओं के स्वरूप को भी विखण्डित करके वशीकार के रूप में बदल कर अपने को बहुत ही लघु स्वम् हल्का बना लेता है। (3) महिमा = वह सिद्धि है जिसमें योगी अपने शरीर को बड़ा कर बहुत महान बना लेता है। "अणोरणीमान् महतो महीमान् आत्मा गुहाग्राम निहितो ऽस्य जन्तोः। तमव्रतुं पश्यति वीतशोक्यो ध्यातुः प्रसादान्महिमानमीश्वरम्॥" (श्वेता०-3, 20) के मन्त्र में आत्मा के द्वारा धारित स्वरूपों को बताया गया है। यहाँ भी अणु, अणी, महत, मही रूपों का वर्णन आया है। वही भैरव सिद्धिमा है। (4) प्राप्ति = वह सिद्धि है जिससे हर प्रकार की इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। योगी अंगुली के अग्र भाग से ही चन्द्रमा तब्य को छू लेता है। (5) प्राक्काम्य = वह सिद्धि है जिससे इच्छा का निर्विघ्न रूप से पूर्ण होना सिद्ध हो जाता है। वह योगी भूमि के अन्दर उसी तरह तैरता डूबता है जैसे साधारण व्यक्ति जल में। अर्थात् वह जब चाहे तब अपने शरीर को परमाणुओं में, परमाणुओं से वशीकार पुरुष रूप में बदल सकता है और पुरुष को सूक्ष्म रूप से रूखूल शरीर के भूमि रूप में बदल सकता है। लोप होना तथा प्रव्यट होना - उस के लिए सुगम प्रक्रिया हो जाती है। (6) वशित्व = जिस से योगी वशीकार की सिद्धि प्राप्त करके भूतों और भौतिक पदार्थों में स्वतन्त्र हो जाता है। वह स्वयं किसी अन्य के आधीन नहीं रहता। (7) ईशित्व = जिस से योगी भूत तथा भौतिक पदार्थों के उत्पादन, विनाश एवं स्थापना के विषय में समर्थ हो जाता है।

(8) प्रव्यवसायित्व = इस सिद्धि के प्राप्त होने पर योगी का जैसा संकल्प होता है, वैसी ही भूतों की प्रवृत्तियों अर्थात् तन्मात्राओं की व्यवस्था होती है। किन्तु समर्थ होने पर भी योगी कभी भी पदार्थों को उल्टा नहीं करता। इसका कारण ईश्वर का पदार्थों के उस प्रकार के होने में संकल्पवाला - कारणमुक्त होने के कारण है।

जब योगी अपनी समाधि की स्थिति में अपने मन तथा आत्मा का चैतना युक्त संयोग इन षड्वृन्दारव्यों से बना लेता है तो उसे भैरव सिद्धि का स्वतः ही

प्राप्ता हो जाती हैं।

इस प्रकार एक ही स्वः लोको में पाँच प्रकार की रचनाओं में पाँच पैदों पर हो कर पुरुष पाँच प्राणिमों को धारण कर लेता है [११ पञ्च विधौ स्वः लोकोः - (महर्षि-व्यास, पातञ्जल योग दर्शन-विभूतिपाद-३६)] और स्वः लोको में पाँच प्रकार का बन जाता है। ये पाँच प्राणिमों पुरुष को स्वः लोको में इस प्रकार बनती हैं - (१) सहस्र शीर्ष पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद = महः लोको के ऊपर स्वः लोको में सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में चलने वाली ईशान की ईशानी रश्मियों जो मृत में चलती हैं तथा एक शीर्ष का सहस्र पादों में विभाजन। (२) स भूमिम् विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठ दृशांगुलम् ॥ वह एक पाद दश उँगलियों के रूप में बैठ कर और अपने लोको की सारी भूमि पर घूमता हुआ स्थित होकर अति रूप से उसी अपने लोको में ठहर जाता है। इस अति रूप से ठहरने के कारण उस दशांगुल का अश्व त्रित को प्राप्त होकर महिजात रूप में बदल जाता है और दशांगुल का रूप ही दशमौलिक अर्धों में बदल जाता है। दशमौलिक अर्धों का एक पिण्ड ही 'क' वण कहलाता है। ये पाँच 'क' वण शृंखला बद्ध विधि से जुड़कर एक पञ्च प्राणीमों की रचना करते हैं। यही अदिति का स्वरूप बढ़ती हुई स्थिति में प्रकट होता है। इसी स्वरूप को मन्त्रा, १ हिङ्गुवती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती... (ऋग्वेद-१, १६४, २७) में बताया गया है। महिजात रूप में बदलने तथा त्रित को प्राप्त होने के अश्व के स्वरूप को इन मन्त्रों में बताया गया है -

(३) मदप्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् समुद्रादुतवापुरीषात् ।

द्व्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातं तै अर्वन् ॥ (ऋग्वेद-१, १६३, १)

(४) यमैन दत्तं त्रित रुनमयुनगिन्द्र रुणं प्रथमो अद्यतिष्ठत् ।

गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरदश्वं वसवो निरतष्ठ ॥ (ऋग्वेद-१, १६३, २)

अर्थ है - (१) हे अश्व! जो तेरा स्वरूप प्रन्दन के रूप में नाद करता हुआ प्रथम रूप में क्षीर सागर के समुद्र से या अर्णव समुद्र से या पुरीष क्षीर या पुरीष अर्णु से उत्पन्न हुआ, उसके तीव्र गति से व्योम में उड़ कर चलने के लिए बाज पक्षी के से मजबूत पंख और तरंग के रूप में कटकेदार गति से कुलाँचे मार कर चलने के लिए हिरण की सी बाहू हैं। हे महि (पृथिवी-पदार्थ की मात्रा) के रूप में उत्पन्न होने वाले अश्व तुम स्तुति करने के योग्य हो।

(II) यम के द्वारा दिये हुए इस अश्व को त्रित ने जोड़ा है, इन्द्र इस पर पहिले चढ़े हैं। गन्धर्व ने इस को रास को पकड़ा है। हे वसु देवताओं आपने इस अश्व को सरण गति करने वाले सूर्य के अंश से बनाया है।

जब पुरुष के अति-अतिष्ठत् रूप से तीन अर्णु एक दूसरे के ऊपर चढ़ कर अति सघन रूप में संघनित हो कर पदार्थ के मौलिक अर्थ में बदल जाता है तो उसी को 'त्रित' कहा जाता है। वही इसका मीहजात रूप है। दशमौलिक अर्थों के रूप पिण्ड से 'क' कण बन जाता है। इस 'क' कण को ही इन्द्र कहा जाता है। यही 'क' कण पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध को अपने संघोजित रूपों में पिण्ड का स्वरूप धारण करके लेकर चलने वाले अश्वियों में या षड्वृन्दार्यों में बनते हैं। गन्ध को वहन करने के कारण इन सूक्ष्म पिण्डों को 'गन्धर्व' कहा जाता है। (गन्धस्म अर्वा इति गन्धर्वः।) गन्धर्वः र व प्रति यः सः गन्धर्वः। सूर्य का अंश सूर्यचक्षु के रजकण (Photons) के द्वारा यह अश्व अपने स्वरूप में गति करता है। वसुओं अर्थात् 'क' कणों के संयोजनों से ही इस सूर्यचक्षु के रजकण (Photons) का निर्माण होता है। इस सूर्यचक्षु के रजकण में गन्धर्व ही इस अश्व को रास को पकड़ कर ले कर चलेते हैं।

(3) तीसरे प्रकार का स्वः लौक का वह गोष्ठ है जिस में 'क' कण 'इन्द्र' का प्रसव अर्थात् माता करती है। मन भी जीव का इस 'क' कण में ही उत्पन्न होता है। ऋग्वेद के मन्त्र में बताया है—

अवः परेण पितरं यो अस्मानुवेद पर रुनावरेण ।

कवी यमासः क इह प्रवोचद्वेवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 18)

अर्थ है— जनः लौक के अवर क्षेत्र के पश्चात् महः लौक के पर क्षेत्र के द्वारा द्यौः पिता का स्वरूप जो इसको पर क्षेत्र के ऊपर अवर क्षेत्र के आवरण द्वारा पुरुष के दशांगुल अति-अतिष्ठत् रूप को बाद में प्राप्त करता है, अपने को बुद्धिमान कहता हुआ विद्वान् इस देव को 'क' नाम से कहता है। मन इसी 'क' कण के आधार पर उत्पन्न हुआ है।

मन के उत्पन्न होने के विषय में इस श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा है—
अग्निर्गत्राभिजघ्यते वायुर्गत्राधिरोध्यते ।

सौमो यत्रातिरिच्यते तत्र सज्जायते मनः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्-2, 6)

अर्थ है— अग्नि का जहाँ अभिमन्थन होता है, वायु का जहाँ अधिरोधन होता है।

सौम का जहाँ अतिरेचन होता है, वहाँ मन उत्पन्न होता है।

यहाँ अवर क्षेत्र से पर क्षेत्र और पर क्षेत्र से अवर क्षेत्र दोनों में जो विभिन्न लोको में पदावत रचना में उत्पन्न होता है, वह अग्नि का अभिमन्थन है। पर तथा अवर क्षेत्र की उत्पत्ति रुद्र की ऊर्जा की क्रिया द्वारा होती है। रुद्र की ऊर्जा शक्ति को वेद में 'उ' से सम्बोधित किया जाता है। ऊर्जा के स्तर को 'वय' कहा जाता है। अतः 'उ' की 'वय' को यहाँ 'वायु' कहा गया है। उस वायु का अधिरोपन विभिन्न लोको में तथा पञ्चावतों के क्षेत्रों में हो रहा है। यही वायु का अधिरोपन है।

दशमौलि अर्धों से बना दशांगुल रूप का 'क' कण दशांगुल 'अश्वों' के द्वारा ऋतु की ऊर्जा का पान सौम के रूप में करता है तथा पान करने के पश्चात् उसका अतिरेचन भी दूसरी ओर करता है। पुरीष अर्णु से ऋतु का पान करता है तो दूसरी ओर उस ऋतु का अतिरेचन विसर्जन के रूप में करता है। इस प्रक्रिया से उन दशमौलि अर्धों में ऋतु क्रियाशील रहता है। इससे उन दशमौलि अर्धों में जीव की प्रक्रिया उत्पन्न होकर 'मन' उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार 'क' कण के अधिष्करण रूप आधार पर ही मन की उत्पत्ति होती है। 'क' कण में मन उत्पन्न होने के कारण ही मन को सारव्य शास्त्र में 'जड' बताया गया है।

(4) चौथे प्रकार का स्वः लोको 'क' कणों से संयोजित होकर बना अश्विनो का क्षेत्र है। इस रूप अश्विनो में सोलह 'क' कण संयोजित होकर अपने-अपने विचार का रूप धारण करते हैं। इसी कारण सारव्य शास्त्र में "षोडशं कस्तु विचारः" सूत्र कहा है। षोडश = सोलह, कः = 'क' कण के, विचारः = विचार है। सप्त परावृत की अश्वि में सात विचार, अष्टा परावृत की अश्वि में आठ विचार और रूप 'क' कण का विचार सप्त परावृत की अश्वि तथा अष्टा परावृत की अश्वि के मध्यान्तर में स्थित है। इस प्रकार अश्विनो में इस 'क' कण के लोको सोलह विचार स्थित हैं। पृष्ठ (47) पर बने चित्र में अश्विनो का रूप देखा।

(5) पाँचवें प्रकार के स्वः लोको में षड्वृन्दारण्यो की रचना है। पीछे इन षड्वृन्दारण्यो (six quarters) के विषय बताया जा चुका है।

इस प्रकार स्वः लोको में 'पुरुष' के स्वरूप की आत्मा द्वारा धारित ये पाँच गीतिमाँ हैं। पुरुष को ही आत्मा का स्वरूप यजुर्वेद में

ईशोपनिषद् में बताया है। "मो असावसौ पुरुषः सौडहमस्मि" में इस विषय में स्पष्ट उल्लेख है।

ये ऊपर बताई गई बड़े ही उग्र और वक्र गति से चलने वाले पुरुष के अंदरों की आत्मा के स्वरूप द्वारा चारित पाँच योनित्रा हैं। यह पुरुष का स्वरूप अर्णव समुद्र के अर्णु में ऋतु के क्षीरों के जल के पाँच स्रोतों से प्राप्त होता है। उसी से अदिती की पञ्च प्राणोर्मियाँ बनती हैं जो स्वः लोका की पाँच प्रकार की रचना का बोध कराने वाली पाँच बुद्धियों का मूल हैं। इन्हीं से ऋतु में पाँच आवर्त बनते हैं। ये ही पाँच आवर्त सत्य लोका में स्थित विष्णु 'अ' की सत्यामा के साम्य रूप से स्वरित होने के लिए वेग के लिए दुरवों का समूह बनते हैं। इस महाः लोकाके पाँच देव निष्ठाओं - कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाम, प्रचिताम की पाँच योनित्रा के देवों में से एक योनि में से निकले ईशान के पचास अरों के भेदों को तथा पञ्चावर्त में बने प्रत्येक आवर्त के पर्व को हम यहाँ पढ़ते हैं। पञ्चावर्तों की ऋतु की अवस्था को ही सार्वभौम शास्त्र में "पञ्च पर्वीविद्या" कहा गया है। पृष्ठ (47) पर बने चित्र में अर्णु के भेद दण्ड सुमेरु (Line spectra of two nucleus of an atom) की रचना के चित्र में इन सभी स्वरूपों को देखें। पञ्चावर्त का चित्र पृष्ठ पृष्ठ (41) पर देखें।

इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार बनता है। -

पञ्चस्रोतोऽम्बुम् = अर्णव समुद्र के एक अर्णु के जल में क्षीरों के बने पाँच स्रोतों को देखा।

पञ्चयोऽन्युग्रावक्राम् = क्षीरों के बने इन पाँच स्रोतों के महा लोका में बने कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाम, प्रचिताम नाम के पाँच उद्गम स्थलों को देखा, जहाँ से ये क्षीरों के पाँच स्रोत बड़े ही उग्र और वक्र गति से निकल रहे हैं।

पञ्चप्राणोर्मि = अदिती के अन्दर बने दशमौलिक अर्थों के पिण्ड की कणों के श्रृंखला बद्ध जुड़ी पाँच 'क' कणों की प्राणोर्मि को देखा। प्रत्येक 'क' कण में इस प्राणोर्मि की एक wave length बनती है। पाँच 'क' कणों में इस की पाँच wave length होने के कारण यह पञ्चप्राणोर्मि कहलाती है। इस पञ्च प्राणोर्मि को देखा। पृष्ठ (52) पर चित्र है।

पञ्चबुद्ध्यादिमूलम् = यह पञ्च प्राणोर्मि पञ्चमहाभूतों के बोध की मूल हैं। 'क' कण जो पञ्चप्राणोर्मि से निकल कर स्वतन्त्र रूप से व्योम

में जाता है, वह जितनी ऊर्जा पञ्चप्राणों में से लेकर जाता है, उसी के अनुसार वह अपने को अर्धपिण्डों की प्रतिमाओं में बाँधित करता है। उसी के अनुसार वह आगे चल कर पञ्चमहाभूतों में से किसी एक महाभूत के भूत या तत्त्व के अणु (Atom) या परमाणु (Nucleon) की रचना करता है। अतः इस पञ्चबोध के मूलकी बुद्धि को पञ्चप्राणों में देखा।

पञ्चावर्तम = विष्णु आवर्त, सवितृ आवर्त, ईशान आवर्त, कलिलावर्त तथा नचिकेतावर्त नाम के द्यौ में बने पञ्च आवर्तों को देखा जो पाँच प्रकार के बल उत्पन्न करके उन्हें एक सूत्र में बाँधते हैं। पृष्ठ (4) पर चित्र देखें।

पञ्चदुःखोद्योगात्म = जो अब विष्णु को सत्यामा के सत्यलोक से तपःलोक में सवितृ को सब शक्ति के आभास्वरा, महाभास्वरा तथा सत्यमहाभास्वरा के वेग को चारण करके निकलते हैं, उनके वेग के लिए ये पाँच आवर्त अत्यन्त दुःखों के समूह बनते हैं। वे उनके स्वीरत होने वाले वेग को अपने आवर्त के वेग में विलीन करके उनके लिए आगे बढ़ने की प्रक्रिया को अत्यन्त दुष्कर कर देते हैं। यही उनके वेग के लिए दुःखों का समूह बन जाता है।

पञ्चाशब्दे दाम् = महालोक में स्थित पाँच ग्रहों में से एक ग्रह में पुरुष के ईशान रूप में जो पचास और पचास शीर्षों के रूप में पचास अक्षों पर निकलते हैं, उन के पचास भेदों को ऋषियों ने देखा।

पञ्चपर्वामधीम = पञ्चावर्त के अन्दर प्रत्येक आवर्त में बने लोकों और उन लोकों में बने देवनिष्काओं की विद्या को तत्सम्बन्धी पाँच पर्वों में बाँट कर हम पढ़ते हैं। अथवा - स्वः लोक में बने पुरुष की विद्या के पाँच पर्वों को हम पढ़ते हैं।

इस के साथ-साथ इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में तो केवल विषय का प्रस्तावित करण किया है। आगे के पाँच अध्यायों के पाँच पर्वों में हम इस विद्या को पढ़ते हैं।

इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय के प्रथम पर्व में सवितृ और उसमें मन के सम्बन्धों के उद्गम और प्रयोग के विषय में पढ़ते हैं।

तीसरे अध्याय के दूसरे पर्व में ईशान तथा ईशानी रश्मियों के संकल्पों द्वारा देवों को किस प्रकार निरीन्त्रित किया जाता है - इस विषय में पढ़ते हैं।

चौथे अध्याय के तीसरे पर्व में रुद्र और शिव को अनेकों शक्तिओं का वर्णन है - जिस से 'क' बल और दशमौलिक अर्थों की रचना होती है। अर्थात् ऊर्जा (Energy) से पदार्थ (Matter) कैसे परिवर्तित होता है? इसका अध्ययन किया जाता है। जब Matter Energy में बदल जाता है - तो Energy भी Matter में बदलनी चाहिए। प्रकृति में इसकी क्या प्रक्रिया है? उसे इस अध्याय में बताया गया है।

पाँचवें अध्याय के चौथे पर्व में क्षर और अक्षर गुण का ज्ञान देकर विद्या और अविद्या के बारे में समझाया गया है।

छठे अध्याय के पाँचवें पर्व में पूर्ण रचित अणु के काल तथा स्वाभाविकी ज्ञान, बल और क्रिया के विषय में बताया गया है। इस से अणु के गुण, स्वभाव तथा उसकी आयु - जिसे भोग कर वह पुनः विकिरण (Radio-decay) द्वारा अपने पूर्व मूलतत्त्व ब्रह्म के रूप में आ जाता है।

ये पाँचों पर्वों में बताये गये स्वरूप और उनके कार्य इन पचास ईशान रश्मियों के द्वारा ही नवीन संकल्पों के उदय से होते हैं। इसी कारण यहाँ "पञ्चाशद् भेदाम् पञ्चपर्वाम् अधीमः" - कहा गया है।

इस प्रकार इन मन्त्रों के द्वारा सब अणु का पूरा मॉडल वर्णित किया गया है। इस मॉडल में दो बातें स्पष्ट रूप से प्रकट हुई कि असद् ब्रह्म में संकल्प को चारण करके जो प्रथम रचना इन्द्राई रूप में अणु के केन्द्र में हुई, उसका संकेताक्षर में नाम 'अ' है। पूर्ण नाम गुणों के आधार पर 'विष्णु' है। 'विष्णु' शब्द "विष्णु + उ" शब्दों के योग से बनता है। 'विष्णु' का अर्थ पोषित करना होता है तथा 'उ' का अर्थ रुद्र की ऊर्जा होती है। रुद्र शब्द/रुद्र तोषने द्विदेवा घातु से बनता है। श्रुतस्य रोधनात् रुद्रम्। श्रुत की प्रक्रिया में प्रतिरोध उत्पन्न करके जो ऊर्जा का सब अण्ड बना देता है, उसे 'रुद्र' कहा जाता है। उस 'रुद्र' के अण्ड के द्वारा व्योम में कम्पन करने से नाद (Resonance) उत्पन्न करके रुद्रन की प्रथम ध्वनि उत्पन्न होती है। इस कारण रुद्रन करने के अर्थ वाली 'रुद्र' चातु से भी

विष्णु कहा जाता है। यह पराशक्ति से युक्त केन्द्र बिन्दु ही उस अण्ड को अपनी सत्ताभा से पोषित करता है। यही सद् और असद् रूप ब्रह्म के दो निमित्तों से बना होता है। विष्णु केन्द्र में स्थित होकर अणु के सारे स्वरूप को पोषित करता है, अतः वह विष्णु है।

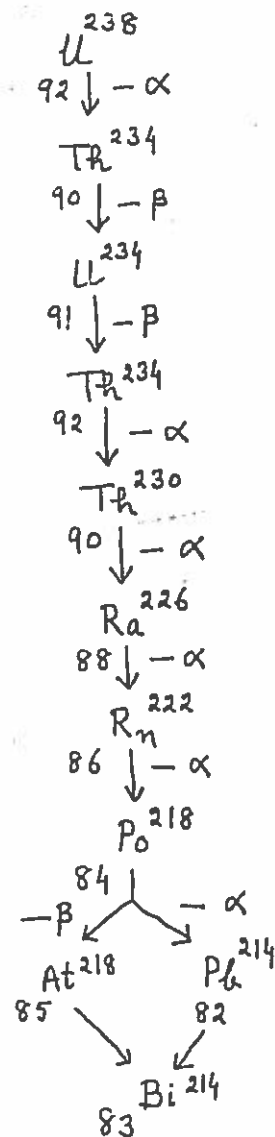
दूसरी बात यह है कि दशमौलिक अर्थों से मिलकर अणु में जो प्रथम स्थूल रचना स्वयं इन्द्र के रूप में हुई, उसका संकेताक्षर में नाम 'क' है। उसका पूरा नाम 'इन्द्र' है। "इन्द्रवित इति इन्द्रः" - इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो गति को पकड़ कर रोक् लेता है - उसे इन्द्र कहते हैं। ईशान तथा ईशानी रीश्मियों में चलने वाले अश्व की गति को चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला में अन्तिम मीहजातम् अर्णु त्रित का रूप धारण करके अति रूप में रोक् लेता है और स्वयं मौलिक अर्थ का रूप धारण कर लेता है। दशांगुल ईशानी में इस प्रकार के दशमौलिक अर्थ बन कर स्वयं इन्द्र के ग्राही होकर 'क' कण की रचना करते हैं। यही इन्द्र है। इन्द्र देवताओं का राजा है। क्योंकि ईशान रीश्मियों में उदित सभी संकल्प इस 'क' कण के दशमौलिक अर्थों की गिरियों में बद्ध हो जाते हैं। इन्हीं बद्ध संकल्पों के अनुसार यह अन्य स्थूल देवों की रचना करता है। इसी बात को ऋग्वेद में "इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृथेयाम्" (ऋग्वेद 6, 69, 8) में बताया गया है। 'विष्णु' ईशान रीश्म में प्रेषित संकल्प द्वारा रचना को विशेष रूप प्रदान करता है तथा इन्द्र उस धारित संकल्प द्वारा अर्थों के पिण्डों को विशेष रूप प्रदान करता है। इस प्रकार अर्धपिण्डों (अपः) की रचना में विष्णु और इन्द्र की स्पर्धा कार्य करती है। इन्द्र अपनी दशांगुल ईशानी रीश्मियों द्वारा अभिशोषित ऊर्जा द्वारा रचना को विशेष रूप प्रदान करता है तो विष्णु पुरुष का रूप धारण करके स्वयं उंगल पर स्वयं मौलिक अर्थ की गिरि को उठा कर इन्द्र की शक्ति को निग्रन्थित करता है। इसी को पुराणों में कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को स्वयं उंगली पर उठा कर इन्द्र के दर्प का दर्शन बताया गया है।

इस रचना से स्पष्ट है कि 'क' कण की स्थूल रचना में दशमौलिक अर्थों की रचना का मूल कारण द्यौ के अन्दर स्थित उग्र अर्णव समुद्र में प्रवाहित अर्णु

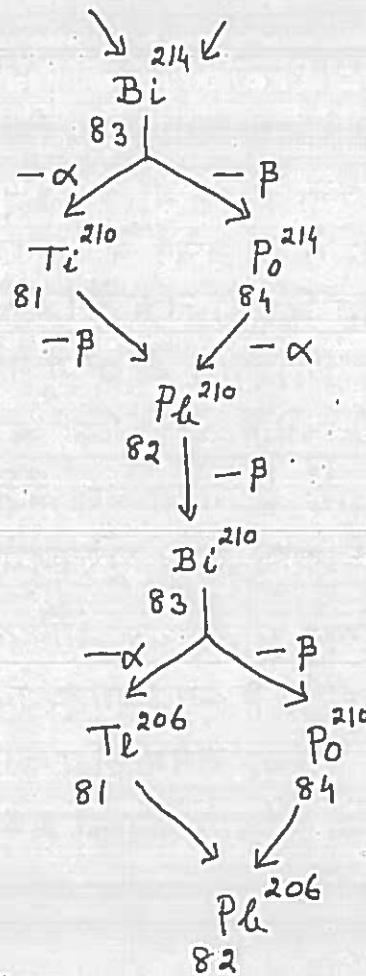
हैं। इसके साथ ही आधुनिक विज्ञान में आइंस्टाइन ने जो सूत्र " $E = mc^2$ " दिया है, उससे भी स्पष्ट लक्षित हो रहा है कि स्थूल पदार्थ की मात्रा अपने मूल कारण अणुओं में सूक्ष्म ऊर्जा के रूप में बदल जाती है। अतः ऊर्जा के रूप में बदला हुआ तत्त्व ही मूलतत्त्व है।

इसके साथ ही यह भी आधुनिक विज्ञान में स. धात प्रमाण से प्रमाणित है कि प्रत्येक अणु (Atom) से Radio-active ऊर्जा निरन्तर निकलती रहती है जो अणुओं और 'क' कणों तथा अश्विनो देवों के रूप में होती है। परन्तु उसमें से Radio-active particles α या β या γ काफ़ी लम्बे समय के अन्तराल के पश्चात् निकलते हैं। यूरेनियम के एक अणु (Atom) में से जब एक α कण निकल जाता है तो कई हजारों वर्षों के बाद उस अणु में से दूसरी बार दूसरा α कण निकलता है। परन्तु उपरोक्त Radio-active ऊर्जा अणुओं, 'क' कणों और अश्विनो के रूप में उस एक अणु (Atom) में से निरन्तर निकलती रहती है। इसी से वह अणु सक्रिय रूप में सजीव रहता है। इसका अर्थ है कि उस अणु का पदार्थ निरन्तर स्थूल रूप से सूक्ष्म ऊर्जा के रूप में बदलता रहता है। वह अणु (Atom) उस अवस्था में भी अपने स्वरूप को स्थायी रूप में बनाये रखता है। इससे सिद्ध होता है कि उस अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) के अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म के क्षीरों और अणुओं से भी स्थूल रूप के कणों की रचना होती रहती है। यदि ऐसा नहीं होगा तो अणु का स्वरूप समाप्त हो जायेगा और अणु अपनी अभिसंनवन अवस्था (Stationary position) को प्राप्त नहीं कर पायेगा। जिस अनुपात $E = mc^2$ के अनुसार यूरेनियम के अणु (Atom) में से Radio-active ऊर्जा निरन्तर बाहर निकलती है, उस अनुपात से बहुत छोड़े समय में यूरेनियम के एक अणु के पदार्थ की मात्रा समाप्त हो जानी चाहिए। परन्तु वह काफ़ी लम्बे समय तक वैसी ही बनी रहती है। इसके विपरीत जब यूरेनियम के एक अणु की आन्तरिक आवन्ध शक्ति कुछ कम हो जाती है और नाभि के अन्दर सूक्ष्म ब्रह्म से 'क' कणों की स्थूल रचना कुछ ज्यादा हो जाती है तो नाभि के अन्दर पदार्थ की मात्रा कुछ अधिक हो जाती है, जो एक झटके के साथ उस अणु की नाभि की आन्तरिक आवन्ध शक्ति के पाश से α कण या β कण या γ कण के रूप में बाहर निकल जाती है। नाभि के अन्दर पदार्थ की मात्रा का अधिक दबाव होने के कारण जिस समय नाभि की आन्तरिक आवन्ध शक्ति के पाश का मुख खुलता है तो जिस झटके में अन्दर का सीमा से अधिक मात्रा का पदार्थ नाभि से बाहर

निकलता है तो उस के साथ उसके मूलमात्रा का भी कुछ पदार्थ उतनी दैर में बाहर आ जाता है - जितनी दैर में उस के पाश का मुँह बन्द होता है। इस कारण एक α कण या β कण या γ कण निकलने के पश्चात् उस अणु की पदार्थ की मात्रा में अन्तर आ जाता है। परिणाम स्वरूप उस के न्यूक्लियस में पदार्थ के संकल्प में अन्तर आकर वह अणु दूसरे तत्व के अणु में परिवर्तित हो जाता है। जैसे कि यूरेनियम का अणु α कण निकलने पर थोरियम के अणु में बदल जाता है। इसके पश्चात् फिर धीरे-धीरे उसमें 'क' कणों का अनुपात बढ़ता है और उसमें पुनः पदार्थ की मात्रा बढ़ जाती है। फिर वही थोरियम का अणु β कण के त्याग द्वारा यूरेनियम में बदल जाता है। फिर उस अणु की आन्तरिक आबन्धन शक्ति जमी के अन्दर कम पड़ जाती है और पुनः उससे β कण बाहर निकलता है। इस क्रिया के पुनः होने में काफी लम्बा समय लग जाता है। फिर वह थोरियम में बदल जाता है। इसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार चलती है -



चित्र नं. 17



इन उपरोक्त प्रक्रियाओं से स्पष्ट है कि Nucleus में अन्दर निरन्तर 'क' कणों की रचना से और उन के ऊर्जा के रूप में निरन्तर Radio-active energy में बदल कर अणु से बाहर निकलने में जो अनुपात समानता का होना चाहिए वह समानता का नहीं रहता। इस का कारण आन्तरिक आबन्धन शक्ति है - जो Nucleus को बाँध कर रखती है। इस आबन्धन शक्ति में ब्रह्म के अपर गुण के द्वारा धीरे-धीरे ह्रास होता चला जाता है। जिससे जब आन्तरिक पदार्थ का दबाव Nucleus में ज्यादा हो जाता है और आन्तरिक आबन्धन शक्ति कम हो जाती है - तो Nucleus के अन्दर से या पूरे अणु के अन्दर से कोई न कोई पदार्थ का कण α, β, γ निकल आता है और वह अणु दूसरे तत्व के अणु में बदल जाता है। अणु के अन्दर से 'क' कण तो निरन्तर ऊर्जा के रूप में प्रत्येक अणु से बाहर निकलते रहते हैं और उनके स्थान पर नये 'क' कणों की रचना अणु में प्रत्यक्ष प्रमाणों में होती रहती है। ये बाहर निकलने वाले 'क' कण अणु से बाहर आकर वातावरण में सहस्राक्षर रूप में विखण्डित हो कर मृत में बदल कर पुनः सगुण ब्रह्म में विलीन होते रहते हैं। इस प्रकार की निकलने वाली अणु की Radiation को 'उक्षाणम्' कहा जाता है। 'उ' रुद्र की ऊर्जा है तथा 'क्षाणम्' उस रुद्र की ऊर्जा का नाभि के अन्दर से छनकर इस प्रकार

निकलना है, जैसे कि छलनी में से आटा छन कर निकलता है। अतः 'उक्षाणम्' अणु में से Radiation के वर्धित बल का बाहर निकलना है। ऋग्वेद में इसे बताने वाले मन्त्र निम्न प्रकार हैं—

शकमयं धूममारादपश्यं विषुवतापररुनावरेण ।

उक्षाणं पृथिनमपचन्त वीरास्तानि चर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 43)

इस मन्त्र का पद पाठ और प्रत्येक पद का अर्थ निम्न प्रकार बनता है—

शकऽमयम् = गोबर सम्बन्धी को, अर्थात् अणु का अर्धपिण्ड 'गौ' जिसे विसर्जन के रूप में त्यागता है, उसको ।

धूमम् = धूम को, अर्थात् Radiation के clouds को ।

आरात् = दूर से, उस विनाशकारी Radiation के पास जाकर नहीं ।

अपश्यम् = मैं ने (साधक ने - ऋषि ने) देखा है ।

विषुऽवता = विषुवत से, अर्थात् अणु (Atom) के अर्धपिण्ड को भूमि की भूमध्य रेखा से ।

परः = परे, अर्थात् अणु (Atom) के अर्धपिण्ड को भूमि की भूमध्य रेखा के ऊपर उस से उठा हुआ तथा भूमध्य रेखा से दूर अर्थात् भूमध्य रेखा से परे है ।

रुना = इस के साथ, साथ का अर्थ बताने के लिए तृतीया विभक्ति है ।

अवरैण = अवर क्षेत्र के साथ, अणु (Atom) के अर्धपिण्ड के साथ ऋत का जो अवरक्षेत्र (Field of Low intensity) बना हुआ है, उसके द्वारा क्रियाशील तथा उसके साथ । यहाँ भी तृतीया विभक्ति का अर्थ करण कारक के योग में, 'के द्वारा' अर्थात् साधन के रूप में और 'साथ' के अर्थ में लगा है ।

उक्षाणम् = Radiation को, रुद्र के क्षारित बल को, जो रुद्र की ऊर्जा को लेकर चलता है—उस वाहन को, रुद्र के वाहन को । पौराणिक अर्थ में शिव के वाहन बैल को । बैल को संस्कृत में 'बलिवर्दम्' कहा जाता है । बल को ईरित करके उसका वर्धन करने वाला 'बलिवर्दम्' कहा जाता है । Radiation

नाभि में से उद्धारित बल को प्राप्त करके उसे अवर क्षेत्र में बढ़ाता है।
अतः उसे 'बलि वर्दम्' तथा रुद्र या शिव का वाहन भी कहा जाता है।

पृश्निम् = चितकबरे को, रेडियेशन का घूम जहाँ भी जिस वस्तु पर पड़ता है, वहाँ पर वह अपनी क्रिया के छोटे-छोटे चम्बों के रूप में चिन्ह छोड़ देता है। अतः उस 'उद्घाणम्' अर्थात् Radiation के घूम को यहाँ पर चितकबरा कहा है। उसने

अपचन्त = पकाया है

वीराः = वीरों जै, अर्थात् बल से युक्त उन वर्तन करते हुए

तथा अणु (Atom) के अर्धपिण्ड से निकलते हुए, मृत में बने ईशान के अरों जै इस चितकबरे उद्घाणम् को पका कर इस अवस्था में तैयार किया है।

तानि = वे

चर्मोणि = चर्म, अर्थात् वे गुणों के चर्म जो इस उद्घाणम् में अणु के अर्धपिण्ड से बाहर आकर लीक्षित होते हैं।

प्रथमानि = पहले, अर्थात् पहले से ही।

आसन् = थे। अर्थात् इस उद्घाणम् (Radiation) में जो गुण या चर्म प्रत्येक अणु (Atom) के अर्धपिण्ड से बाहर आकर लीक्षित होते हैं, वे सभी गुण चर्म उस अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) में विद्यमान चलने वाले अरों और रजकणों में पहले ही विद्यमान थे।

इस उद्घाणम् का नाभि के अर्धपिण्ड से चलने की प्रक्रिया निम्न मंत्र में बताई गई है।

गौरी मिमात्र सीललानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 41)

इस मन्त्र का पदपाठ और उन पदों के अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं—

गौरी: = दीप्तिमती अणु (Atom) के अर्धपिण्ड की नाभि (Nucleus)।

मिमाम्बु = शब्द करती हुई, अर्थात् नाद करती हुई। नाद = Resonance

सलिलानि = चाराओं को, नाभि के अन्दर जो रेडियो तरंगें चलती हैं, उन तरंगों की चाराओं को।

तक्षती = छड़ कर बनाती हुई, अर्थात् संपादन करती हुई।

रुक् ऽ पदी = रुक् पद वाली, रुक् step वाली।

द्वि ऽ पदी = दो पदों वाली, दो step वाली।

सा = वह दीप्तिमती अणु की नाभि से निकलने वाली रेडियो तरंगों की चारा।

चतुः ऽ पदी = चार पदों वाली, चार step वाली।

अष्टा ऽ पदी = आठ पदों वाली, आठ step वाली।

नव ऽ पदी = नौ पदों वाली, नौ step वाली अथवा नौ रूप का नव पद वाली।

बभ्रुवुषी = बनती हुई अथवा होती हुई।

सहस्र ऽ अक्षरा = रुक् हजार अक्षों (Arms) पर चलने वाले ऋत के अक्षर अरों वाली।

परमे वि ऽ ओमन् = परम व्योम में, उस परम व्योम में, जिस में असद्ब्रह्म के अण्डों द्वारा रचित सभी देव बैठे हुए हैं। अर्थात् वह रेडियो तरंग की चारा नौ नव पद पर आकर हजार अक्षों पर चलने वाले ऋत के अक्षर अरों में बदल कर परम व्योम में समाहित हो जाती हैं। उससे पहले वह रुक्पदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी बनती हुई रजःकोशों के चूम के रूप में चलती हैं। अगले पृष्ठ (68)

पर इस Radiation के बज्जे का चित्र देखें। इस शक्य चूम में 'क' कोशों के अन्दर निहित दशमौलिक अर्थों के रूप में अर्धपिण्ड होते हैं। वे ही अर्धपिण्ड सहस्राक्षरा ऋत की रश्मियों के अरों में बदलते हैं।

उक्षाणां पक्षिभ्यः पचन्तं वीरास्तानि व्यमाणि प्रथमा

गौरीमिमाय सलिलानि तक्षत्रैकपदी द्विपदी चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥

अम०
Radiation
उक्षाणम्

सहस्राक्षरा परमे० योमन्

॥

पु. ५५

人馬

सोवला नि

अष्टापदी नवपदी

अ. १५५
(आठ पाना)

चतुष्पदी (एक परावृत्त) = ५५ अं.

चतुष्पदी

2 द्विपदी

कम्पन स्पृष्ट (दोलनं)

पृष्ठ पृष्ठ

અરન

पल्लव

14412

नामिना

11/1/19

५५ (५५) ५५ (५५)

156402

इस प्रकार 'सञ्चरः प्रतिसञ्चरः' की गति द्वारा अणु के संकल्प की प्रक्रिया चलती रहती है। हों जब अणु की नाभि की आन्तरिक आवन्धन शक्ति में एक गुणात्मक हास हो जाता है तो ५, ३ या ४ कणों का रूप जो बहुत से 'क' कणों से मिल कर एक गण के रूप में बनता है, वह बाहर आ जाता है। 'क' कणों से मिल कर ही सभी अर्धपिण्डों की नाभि के अन्दर प्रतिमा के रूप में रचना बताई है। इसे बताने वाला मन्त्र है—

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्मं किमासीत् परीथिः क आसीत् ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुव्य यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ (ऋग्वेद-१०, १३०, ३)
प्रथम तीन शब्दों का पदच्छेद "क आसीत् प्रमा प्रतिमा" बनता है।
इन पदों का अर्थ है—

क = 'क' कण, अर्थात् दशमौलिक अर्थों से बना एक अर्धपिण्ड का रज कण अर्थात् चूलि का कण।

आसीत् = था, अर्थात् जब वर्तमान में स्थित किसी भी अर्धपिण्ड की रचना हुई तो उस समय उस अर्धपिण्ड की रचना करने वाले चूलि के कणों में सब से छोटा रज कण इकाई के रूप में 'क' कण ही था।

प्रमा = किसी भी अर्धपिण्ड की रचना करने वाले पदार्थ की मात्रा की एक इकाई का मूल रजकण।

प्रतिमा = मॉडल का। अर्थात् नाभि के अन्दर या बाहर जिस भी बड़े अर्धपिण्ड की प्रतिमा बनती है, उस प्रतिमा के पदार्थ की एक इकाई का रजकण 'क' कण ही उस समय था जब उस अर्धपिण्ड की प्रतिमा की रचना हुई।

जब एक 'क' कण की दशमौलिक अर्थों के पिण्ड के रूप में रचना होती है तो अपने आकार के रूप में तो यह परिमित होता है, परन्तु इन रचित होने वाले 'क' कणों की संख्या अपरिमित होती है। शतपथ ब्राह्मण में इस बात को इस प्रकार बताया गया है।

"उभयम्वैतत्- प्रजापतिर्निरुक्तश्चाग्निरुक्तश्च परिमितश्च अपरिमितश्च ।" (शतपथ ब्राह्मण ६, ५, ३, ७)। इसका अर्थ इस प्रकार है— प्रजापति पुरुष रूप में बन कर अपनी रश्मियों के व्यूह से जब अर्थों की रचना करता है तो वह दोनों रूप में रचना करता है। एक रूप

परिभाषित (निरुक्त) है तथा दूसरा रूप अपरिभाषित (अनिरुक्त) है।
परिभाषित रूप परिमित है तथा अपरिभाषित रूप अपरिमित है।

प्रजापति ब्रह्मा द्वारा कृत असद् ब्रह्म से स्थूल अर्धपिण्डों में निर्मित यह कृति ही 'प्रकृति' कहलाती है। अर्थात् प्रयत्न पूर्वक निरन्तर की जाने वाली ब्रह्म की कृति ही 'प्रकृति' कहलाती है। अणु की नाभि का आन्तरिक बन्ध अणु को लम्बे समय तक अपनी अवस्था में स्थित रखता है। तथा अणुओं की बाह्य आबन्धन शक्ति पिण्डों को लम्बे समय तक अपनी अवस्था में स्थिर रखती है। यही संकल्प शक्ति की कालात्मा का रहस्य है।

फोटो आग्रन माइक्रोस्कोप द्वारा टंगस्टन के अणु (Atom) की रचना देखने के लिए जो दस लाख गुणा संवर्धित चित्र लिया गया है, उसमें केन्द्र के कुछ भाग का चित्र रील पर नहीं आया है। जबकि उस केन्द्रिय भाग के चारों ओर कुछ क्षेत्र में धोड़ा सा गहराई का चूँचला सा परकाई जैसा प्रभाव आया है। उससे पश्चात् परमाणुओं (Nucleus) के चित्र स्पष्ट आये हैं। फोटो की रील पर चित्र फोटोन के प्रभाव से आते हैं। किसी आवृत्ति पर फोटोन टकरा कर उसके संकल्प चारित करके जब कैमरे की रील पर आकर टकराते हैं तो उस चारित संकल्प का प्रभाव रील पर छोड़ देते हैं और रील में वह आवृत्ति छप जाती है। यदि फोटोन से उस अर्धपिण्ड की प्रतिमा बड़ी है, जिस से वह फोटोन पहले टकराता है, तो उससे संकल्पों को चारण करके टकराने वाले फोटोन प्रत्यावर्तित (Reflected) होकर रील पर आकर अपना प्रभाव छोड़ देते हैं और उसका चित्र छप जाता है। यदि फोटोन से टकराने वाले अर्धपिण्ड की प्रतिमा का आकार फोटोन के बराबर का है, तो आधे फोटोन प्रत्यावर्तित होंगे और आधे नहीं। वे आधे आगे ही चले जायेंगे। इस प्रकार आवृत्ति में सब कुछ ठीक होते हुए भी परकाई का चूँचलापन वाला चित्र आयेगा। यदि फोटोन से टकराने वाले अर्धपिण्डों का आकार फोटोन से भी बहुत छोटा होगा तो उनसे फोटोन कुछ टकरा कर वापिस प्रत्यावर्तित होकर नहीं आते, अपितु सीधे आगे ही चले जाते हैं। अतः उन वर्णों का कैमरे की रील पर कोई चित्र नहीं बन पाता। फोटोन आठ अश्विनो या सात अश्विनो के द्वारा बना एक अपरावृत या सप्तपरावृत के रूप में बना एक रज्जु है। अश्विनो का बना सप्तपरावृत का फोटोन प्रकाशित नहीं होता, जब कि

अष्टापरावृत के रूप में बना फोटोन प्रकाश की ऊर्जा देने वाला तीव्र गति वाला होता है। सप्तपरावृत से अष्टापरावृत में बदलने पर ही फोटोन प्रकाश देने वाला बनता है। इसी कारण प्रकाश देने वाले स्रोत के पास प्रकाश की तीव्रता अधिक होती है और जैसे-जैसे उस से दूर चलते जाते हैं, प्रकाश की तीव्रता कम होती चली जाती है। दूर जाने पर अधिक क्षेत्र होने के कारण प्रकाश स्रोत में फोटोन व्यंजों को सप्तपरावृत से अष्टापरावृत में बदलने की क्षमता कम होती चली जाती है। अतः प्रकाश कम होता चला जाता है। अश्विनो की गति के कारण प्रकाश की किरणें सीधी सरल रेखा में चलती हैं। फोटोन के प्रकाशित रूप में अष्टापरावृत होने के कारण ही प्रकाश की एक किरण सात रंगों को प्रकट करने वाली फट कर बन जाती है। फोटोन के केन्द्र का लोहितरक्त का अश्विनो तो सीधा चलता है तथा शेष उससे चारों ओर चलने वाले सात अश्विनो अलग-अलग फट कर सात रंगों की अलग-अलग प्रकाश रीश्मों प्रकट कर देते हैं।

फोटोन के इस आकार की परिमिति के कारण टंगस्टम के इस अणु (Atom) के चित्र में केन्द्र के भाग का चित्र नहीं छप सका। उस भाग में कोई भी अर्धपिण्ड का रजकण नहीं है। वहाँ शुद्ध ब्रह्म की सत्ता है। इसी कारण इसे 'पिलत' नाम दिया गया है। 'पिलत' शब्द ब्रह्म की शुभ्र ज्योति के स्वरूप को प्रकट करता है। परन्तु इस में भी क्षीरों के रूप में बने ऋत के सप्तपरावृत तथा अष्टापरावृत भागों रहते हैं तथा वसावर्त में घूर्णन करते रहते हैं। इसी कारण इस पिलत भाग को 'अजस्थन्वन्त' (Massless) कहा है। इससे ऊपर चढ़े शेष दो आवरण 'अश्न' और 'धृतपृष्ठ' के अर्धपिण्डों को रखने वाले 'अस्थन्वन्त' (Containing Mass) बड़े गये हैं। उनका फोटो स्पष्ट रूप से टंगस्टम के अणु (Atom) के चित्र में आ गया है। इस बात को स्पष्ट करने वाला मन्त्र निम्न प्रकार है-

को॑ द॒दर्श॑ प्र॒थ॒मं जा॒ग्र॒मान॑म॒स्थ॒न्वन्तं॑ यद॒ज॒स्था बि॒भर्ति॑ ।

भू॒म्ना अ॒सुर॑ सृ॒गात्मा॑ क्व॒स्वित् को॑ वि॒द्वांस॑मु॒प॒गात् प्र॒ष्टुमे॑तत् ॥ (ऋग्वेद-१, १६५, ५)

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ इस प्रकार बनता है-

क्वः = 'क' व्यंजन ।

द॒दर्श॑ = देखा है ।

प्र॒थ॒मम् = सब से पहिले

जा॒ग्र॒मानम् = जन्मते हुए को, अर्थात् जन्म लेते हुए को अर्ध पिण्ड को

अस्थान् वन्तम् = हड्डी वाले को अर्थात् ठोस अर्धपिण्ड को अर्थात् मौलिक
अर्थ को / दश मौलिक अर्थों के बने 'क', कण को /

यत् = जो

अनस्था = बिना हड्डी वाला, अर्थात् अर्धपिण्ड रहित केवल सूक्ष्म
असद् ब्रह्म के ऋत रूप में स्थित, अर्थात् 'पलित' /
अथवा 'पुरुष' के दशांगुल रूप में स्थित रुद्र की
ईशानी रश्मियों का स्वरूप /

विभर्ति = चारण करता है

भूम्याः = पृथिवी का / अर्धपिण्डों से बनी भूमि का /

असुः = प्राण

असृक् = रक्त

आत्मा = आत्मा

क्व स्वित् = कहाँ है ?

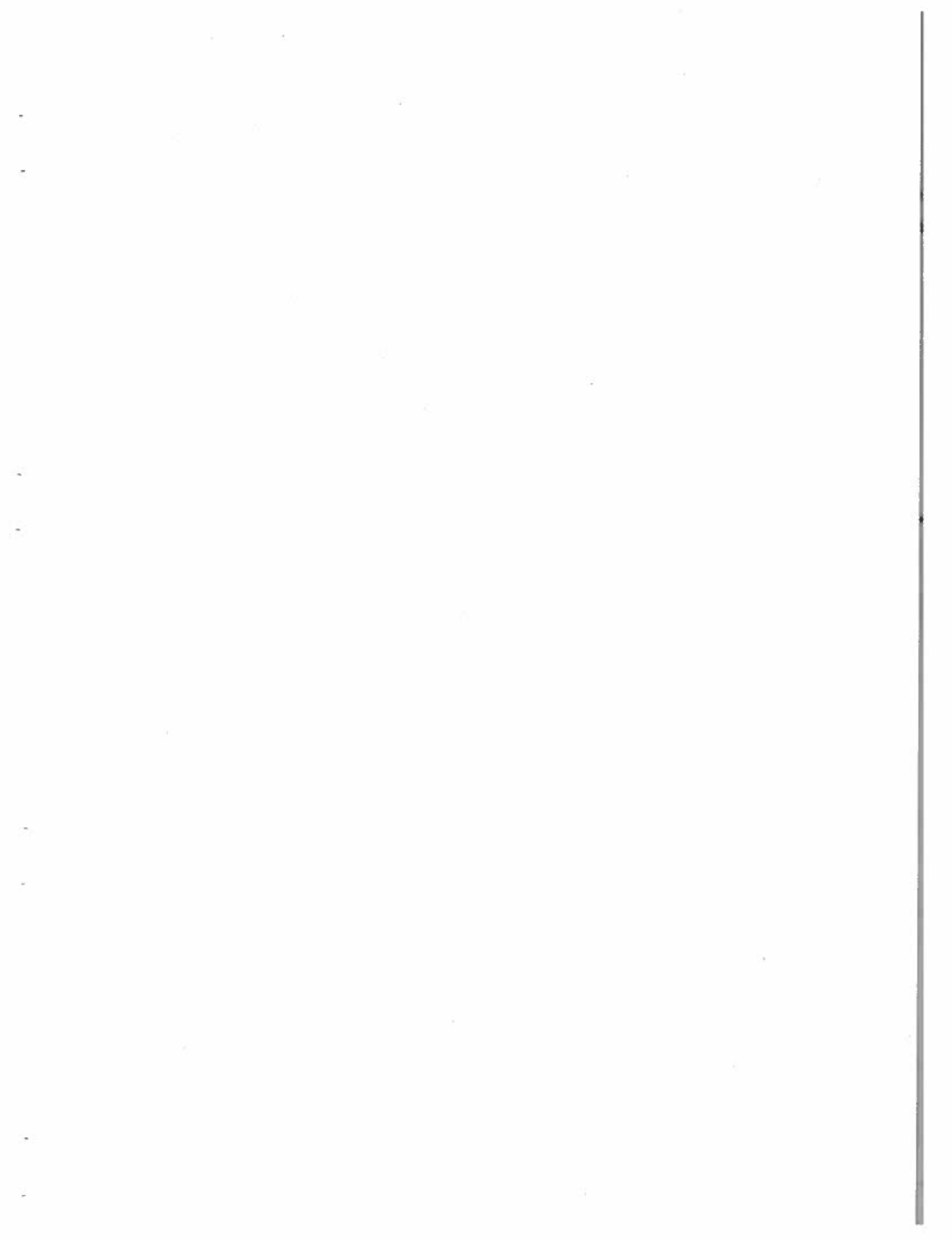
कः विद्वांसम् = 'क' कण के ज्ञाता विद्वान को, अथवा
'क' कण के विद्वान के,

उप गात् = समीप पहुँचा है /

प्रष्टुम = पूछने के लिए /

एतत् = इस को /

अर्थात् अणु की नाभि में तीन चक्र पलित, अश्न, द्युतपृष्ठ के हैं /
उनमें 'पलित' भाग 'अनस्था' है / उसके अन्दर कोई भी अर्धपिण्ड
स्थूल रूप में विद्यमान नहीं है / उसके ऊपर 'अश्न' और द्युतपृष्ठ
दोनों भाग 'अस्थान् वन्तम्' हैं / 'अश्न' में सर्वप्रथम पुरुष के
दशांगुल रूप के अति-अतिष्ठत् रूप से भूमि का सीहजात रूप
अश्वों के द्वारा त्रित में बदल जाता है / वही दशमौलिक अर्थों का
ग्रथित रूप 'क' कण बन जाता है / अतः पुरुष के दशांगुल रूप
अस्थान् वन्त ईशानी के द्वारा मौलिक अर्थों का अस्थान् वन्त रूप
धारण करते हुए 'क' कण ही सर्वप्रथम देखता है / जो भी भूमि रूप
में बड़ा अर्धपिण्ड बनता है, उसके प्राण, रक्त, आत्मा सभी 'क' कण
में विद्यमान होते हैं, इस बात को जानने के लिए साधक जिज्ञासु को



'क' कण के हाता विद्वान के पास जाना होता है। वही उसे बताता है कि भूमि के बड़े अर्ध पिण्ड के प्राण 'क' कण बनते हैं। 'क' कणों से बने राजकणों का प्रवाह उस भूमि के अर्धपिण्ड का रक्त बनता है, और 'क' कणों की दशांगुल ईशानी रश्मियों में मृत की सत्यागा के स्वरित होने का आभास्वरा, अथवा महाभास्वरा अथवा सत्यमहाभास्वरा का स्तर उस भूमि के अर्धपिण्ड की आत्मा का स्वरूप बनता है। उसी स्तर के कारण वह अणु उस अर्धपिण्ड की भूमि को जड़ रूप - पत्थर आदि का, अथवा अर्धचैतन्य रूप बनस्पति जगत के किसी वृक्ष आदि का अथवा पूर्णचैतन्य किसी पशु - पक्षी, मनुष्य आदि का स्वरूप प्रदान करता है। 'क' कणों की श्रृंखला के स्वरूप को, जिसमें पाँच 'क' कण जुड़े होते हैं, इसी कारण आदित्य माता की पञ्चप्राणीमि कहते हैं।

मोहम् के पलित भाग का जब रील पर कोई चित्र आता हो नहीं, तब फिर इसमें अन्दर रचना की विधा को कैसे जाना ?

मोहम् के पलित भाग में रचना का होना इस विधि आवश्यक है कि स्थूल रूप अनस्थान्वन्तम् 'क' कण की रचना होने से पहले पलित के अनस्थान्वन्त भाग में पुरुष के दशांगुल रूप 'ईशानी' रश्मियों की रचना आवश्यक है। स्थूल में रचना होने से पूर्व जब सूक्ष्म त्रुता में रचना होगी, तभी तो उसका परिणाम स्थूल रचना के रूप में उपस्थित होगा। अतः इस सूक्ष्म भाग के मोहम् के पलित भाग में रचना आवश्यक है। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, शिव, ईशानरश्मियों, ईशानपाद तथा ईशानी रश्मियों - ये सभी रचनाओं जो पहले बताई गई हैं और आगे जिनकी आगेले अध्यायों में पूर्ण व्याख्या होगी, ये सब मोहम् के पलित भाग तथा अनस्थान्वन्त भाग की रचनाएँ हैं। इनका कैटीगोरिक्स पर चित्रण नहीं किया जा सकता। परन्तु स्थूल रूप के आकार को सतत मूर्ति रूप प्रदान करने के लिए यह सूक्ष्म रूप की रचना आवश्यक है, अन्यथा वह मूर्ति रूप क्षणिक होगा।

अवतल हम में 'अ', 'क', 'ज', 'चि', 'इत्' आदि संकेतों के प्रमाणित रूप में जो लिखे हैं, उनका हम अपनी आँखों की जाँच से प्रयोग करेंगे। जहाँ भी उचित होगा, इनका प्रयोग विश्लेषणात्मक रूप में किया जाएगा। इन में 'अ' का अर्ध रुद्र के केन्द्र में स्थित बिन्दु है। अर्ध केन्द्र की दीर्घ केन्द्र में होता है, तो वह 'विष्णु' होता है। जब वह 'अ' केन्द्र की दीर्घ केन्द्र के ऊपर चढ़ने वाले आवरणों के क्षीरों के केन्द्र में स्थित होता है, तो वह व्यापक कृष्ण होता है। 'क' का अर्थ इन्द्र है,

जो दशमौलिक अर्धों का गीघत रूप पिण्ड होता है तथा जो व्योम में स्थित ऋतु के बौने अर्णव समुद्र में से अर्णवों के सौम का पाच करके ऊर्जा का आगे प्रोक्षण करता रहता है। अतः इन्द्र ऊर्जा का रूप सद्यन बिन्दु है जो तीव्र गति से सभी स्थानों पर व्योम में चलता रहता है। जितने भी अर्ध पिण्ड बनते हैं, उन सभी में यह पदार्थ की मात्रा का रूप इक्काई बनता है। ऊर्जा से पदार्थ सर्व प्रथम 'क' व्यण के रूप में ही बनता है तथा 'क' व्यण ऊर्जा के रूप में बदलता रहता है। ऊर्जा को इक्काई रूप 'अणु' है। इस प्रकार पदार्थ की मात्रा को इक्काई 'क' व्यण तथा ऊर्जा को इक्काई रूप 'अणु' बनता है। दोनों में सापेक्ष अनुपात का सम्बन्ध इस प्रकार बनता है -

रूप अणु (Atom) में पुरुष की रचना में - "सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः" अर्थात् सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में रुद्र का ईशान रूप चलता है। 'सहस्र पाद' अर्थात् रूप शीर्ष सहस्र पादों में बँट जाता है। "स भूमिम् विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठ दशांगुलम्"। वह अपनी भूमि पर सारी पर घूमता हुआ स्थित होकर दशांगुल बन कर अति रूप से बँट जाता है। इस दशांगुल रूप की रुद्र की दश ईशानी रश्मियों में वह प्रत्येक रश्मि में रूप अब के द्वारा तनी हुई अवस्था में रूप मौलिक अर्ध को तान कर ग्राम्भ कर रखता है। रूप ईशानी में रूप अब की चौतीस पसलियों चौतीस अर्णवों की बनी होती है। 'अब' की रचना के मन्त्र इस प्रकार है -

यमेन॑ द॒त्तं त्रि॑त॒ र॒ज॒म॒यु॒न॒गि॒न्द्र॒ र॒णं॑ प्र॒थ॒मो अ॒ध्या॑तिष्ठत् ।
गन्ध॒र्वो अ॒स्य र॒ज॒ना॒म॒गृ॒भ्णा॒त् स॒रा॒द॒श्वं व॑स॒वो नि॒र॒त॒ष्ठ ॥

(ऋग्वेद - 1, 163, 2)

इस मन्त्र का पदपाठ तथा अर्थ इस प्रकार बनता है -

यमेन॑ = यम के द्वारा, अणु की रचना शक्ति को ऋतु में निग्रीन्त्रित करने वाली शक्ति 'यम' के द्वारा।

द॒त्तम् = दिये हुए को।

त्रि॑तः = त्रित ने। जब अर्णव समुद्र में ऊर्जा के रूप में तरंग क्षीरों के द्वारा चलती है तो रूप अंतराल में बँधे चौतीस अर्णवों में अन्तिम अर्णु अति रूप से ठहरा हुआ बैठा रहता है। उसी अर्णु

में अश्व की तरंग द्वारा चकेले गई दो अर्णु और समाहित होकर तीन अर्णवों का एक संचयित रूप बन जाता है। इसी को 'त्रित' कहा जाता है। इसी 'त्रित' से पुनः उस अश्व की तरंग चलती है और फिर चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला में चल कर पुनः 'त्रित' को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार 'त्रित' इस अश्व को अर्णवसमुद्र में जोड़ता है। एक जोड़ से दूसरे जोड़ तक की चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला की लम्बाई इस अश्व की तरंग की एक wave length बन जाती है।

रजम् = इस अश्व को

अयुजम् = जोड़ा है।

इन्द्रः = इन्द्र, दशमौलिक अर्थों का बना एक कण।

रजम् = इस अश्व को। अथवा इस अश्व पर

प्रथमः = सब से पहिले।

अधि अतिष्ठत् = अधिकरण रूप में आधार बना कर इस पर बैठा है।

गन्धर्वः = गन्धर्व ने = गन्ध को वहन करने वाले रजकण गन्धर्व ने।

अस्म = इस अश्व को।

रशनाम् = रास को। लगाम को। आगे चलाने की दिशा निर्देशन को शक्ति को।

अगृणात् = पकड़ा है।

सूरात् = सरण गति (Linear motion) करने वाले बल से।
"सराणात् सूर्यः" को व्युत्पत्ति से।

अश्वम् = अश्व को, इस अश्व को।

वसवः = वसु देवताओं ने। अश्विनों के रूप में ग्रथित 'क' कणों ने।

निः अतष्ठ = निःशेष (पूर्ण) रूप से बनाया है। अर्थात् अर्णवसमुद्र में उदित अश्व की तरंग ही अश्विनों का रूप धारण कर लेती है। तरंग से ही तरंग बन जाता है। अश्विनों विद्युत तरंगों से नियन्त्रित हो जाता है। इसी कारण thecast में चित्रों का प्रसारण सम्भव हो पाता है।

इस अश्व के अर्णव समुद्र में तरंग के स्वरूप को बताने वाला मन्त्र है—

यद॑ क्र॒न्दः प्र॒थमं॑ जा॒यमा॑न उ॒द्यन् स॑मु॒द्रादु॑तवा पु॒रीषा॑त् ।
 श्ये॒नस्य॑ प॒क्षा हरि॑णस्य॒ बाहू॑ उप॒स्तुत्यं॑ मी॒हिजा॑तं ते अ॒र्वन् ॥

इस मन्त्र का पदपाठ तथा अर्थ निम्न प्रकार बनता है—
 (ऋग्वेद - 1, 163, 1)

यत् = जिस अश्व ने

अ॒क्रन्दः = बड़ा क्रन्दन का शब्द किया / तरंग का नाद
 (Resonance) किया /

प्र॒थमम् = सब से पहिले /

जा॒यमा॑नः = उत्पन्न होते हुए /

समु॒द्रात् = क्षीर सागर में समाहित अर्णव समुद्र से ।

उ॒त वा॑ = अथवा उससे ऊपर

पु॒रीषा॑त् = पुरीष अर्णु से । किसी भी पुर [अणु के अर्थ पिण्ड अथवा
 अणु (Atoms) के अन्दर स्थित परमाणु के अर्थ पिण्ड अथवा
 अणुओं (Atoms) से मिल कर बने बड़े अर्थ पिण्ड को 'पुर' कहा जाता
 है] के शासित करने वाले उस के ईश्वर यम से जो रुद्र का
 'पुरुष' रूप बनता है, उस से ।

उस अश्व के —

श्ये॒नस्य॑ प॒क्षा = बाज पक्षी के पंख हैं / व्योम में तीव्र गति से चलने
 की सामर्थ्य है ।

हरि॑णस्य॒ बाहू॑ = हरिण की भुजाएँ हैं । अर्थात् वह झटके के साथ
 कुलों से भरता हुआ गति करता है ।

उप॒स्तुत्यं॑ = स्तुति के योग्य

मी॒हि जा॑तम् = पृथिवी के अर्थ पिण्ड के रूप में बदल कर पैदा होने
 वाला । सन्धौलिक अर्थ ही 'मीहि' का रूप है । उस
 मौलिक अर्थ के रूप में वह अश्व उत्पन्न हो जाता है ।

ते अ॒र्वन् = हे अश्व ! तेरा स्वरूप । अर्थात् जो तेरा स्वरूप मीहि के मौलिक
 अर्थ के रूप में उत्पन्न होता है, वह तेरा स्वरूप स्तुति के योग्य
 है ।

इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ बना - जिस अश्व ने सब से पहले क्षीर सागर में समाहित अर्णवसमुद्र से अथवा पुरीष अर्णु से उत्पन्न होते हुए बड़ा ही क्रन्दन किया उसके घेरा में चलने के लिए बाज के पंखों का बल और हरिण की बाहुओं की गति की विधा है। मीह रूप अर्घापिण्ड में उत्पन्न होने वाले है अश्व ! तेरा मीहजातम् रूप स्तुति के योग्य है।

एक अश्व के magnitude में चौतीस अर्णवों की पसीलियां बताने वाला मन्त्र निम्न प्रकार है। अश्व एक vector है जो अर्णवसमुद्र के द्यौ में चलता है। मन्त्र है -

चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धोर्वङ् क्रौरश्वस्य स्वधीतः समीति ।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुषसरनुद्युष्य विशस्त ॥

इस मन्त्र का पदपाठ तथा अर्थ निम्न प्रकार बनेते हैं - (ऋग्वेद - 1, 162, 18)

चतुः ऽत्रिंशत् = चौतीस

वाजिनः = वेग वाले की

देव ऽ बन्धोः = अश्व के स्वरूप को द्योतित करने वाले देव के स्वरूप को बाँधने वाले बन्धों के बन्धुओं की। द्योतनात् देवाः। बन्धनात्

बन्धुः।

वङ् क्रौः = पसली की हीड़ियों को। काठी (structure) को बनाने वाली श्रृंखला के अवयवों के रूप में अर्णवों को।

अश्वस्य = अश्व की

स्व ऽ धीतः = छुरी। स्वः लोक पर अधिकार करने वाली तथा स्वः लोक में स्थित पुरुष के ईशान, ईशानपाद तथा ईशानी रश्मियों की wavelength को छोटा करने वाली तथा काटने वाली छुरी।

सम स्तुति = घुसती है।

अच्छिद्रा = जिस अश्व की चौतीस पसीलियों की श्रृंखला में कहीं भी कोई भी छेद ऐसा नहीं है जिसमें से अश्व की ऊर्जा का बल रिस कर अश्व से बाहर निकल कर जा सके।

गात्रा = गात को / शरीर के अंगों को /

वयुना = ज्ञान पूर्वक /

कृणीत = काटो / अथवा करो /

परु ऽ परुः = पौरी-पौरी को / प्रत्येक जोड़ को अलग-अलग /

अनु ऽ द्युष्य = अनुद्योषित करके / सुना करके /

वि श्रास्त = विशेष रूप से काटो /

अतः मन्त्र का अर्थ इस प्रकार बना — वेग वाले अश्व के देव-स्वरूप को बाँधने वाली चौंतीस अर्णवों की पसलियों की ऐसी श्रृंखला में जिसमें अश्व की ऊर्जा के बल का स्राव कराने वाला कोई भी छेद नहीं है, उस में झुरी व्यसती है (उस चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला की लम्बाई को इच्छानुसार छोटा करने के लिए अर्थात् अश्व की तरंग की wave length को छोटा करने के लिए उस अश्व के) गात की ज्ञान पूर्वक पौरी-पौरी को अलग करो। (इस अश्वमेध का इच्छानुसार फल प्राप्त करने के लिए जिस पौरी को कम करना है, उसकी) अनुद्योषणा करके, उसे विशेष रूप से काटो /

इस प्रकार काटने से उस अश्व के मीहिजातम् रूप में मौलिक अर्थ के गुण, स्वभाव में परिवर्तन आ जायेगा और वह सनवा निश्चित तत्व के अणु (Atm) का स्वरूप प्रस्तुत कर देगा। इस प्रकार इस अश्व-मेधन की प्रक्रिया द्वारा प्रकृति में मनोनुबूल परिवर्तन कराया जा सकेगा। पुरुष की रचना का चित्र तथा रुक् अश्व की रचना का चित्र अगले पृष्ठ (79) पर देखें।

इस प्रकार 'क' कणों की बनी पदार्थ की मात्रा और अर्णवों के द्वारा सृजित ऊर्जा का सापेक्षिक अनुपात निम्न प्रकार बनता है।

अर्णवों के रूप में ऊर्जा = पदार्थ की मात्रा \times (सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः \times सहस्रपाद् \times दशगुलम् \times चतुस्त्रिंशद् देवबन्धोः)²

$$\text{अर्थात् } E = m \times (1000 \times 1000 \times 10 \times 34)^2$$

$$\text{अथवा } E = m (3.4 \times 10^8)^2$$

यहाँ पर 'E' अर्णवों की ऊर्जा है, m पदार्थ की मात्रा 'क' कणों की इकाई में है। (3.4×10^8) यहाँ पर रुक् परावृताकार मौलिक अर्थ की त्रिज्या है। वृत्त का क्षेत्रफल = πr^2 होने के कारण यहाँ (3.4×10^8) का वर्ग किया गया है।

प्रमेय दत्तं त्रित स्तनसमुच्चितान्द्र सप्तं प्रथमो अष्टमोतल्लत् । गन्धर्वो अस्य रशनामवुक्तपात् । खुरापदवं वसवो जिरताल्ल ॥ (ऋग्वेद-1, 163, 2)

त्रित के द्वारा जुड़ा अश्व । अश्व के दो जुड़े स्तनों के 67 अणुओं का स्वरूप । अतः एक स्तन में 33.5 अणुओं का सञ्च आता ।

मीहजातं अणु -

चित्रां. 19.

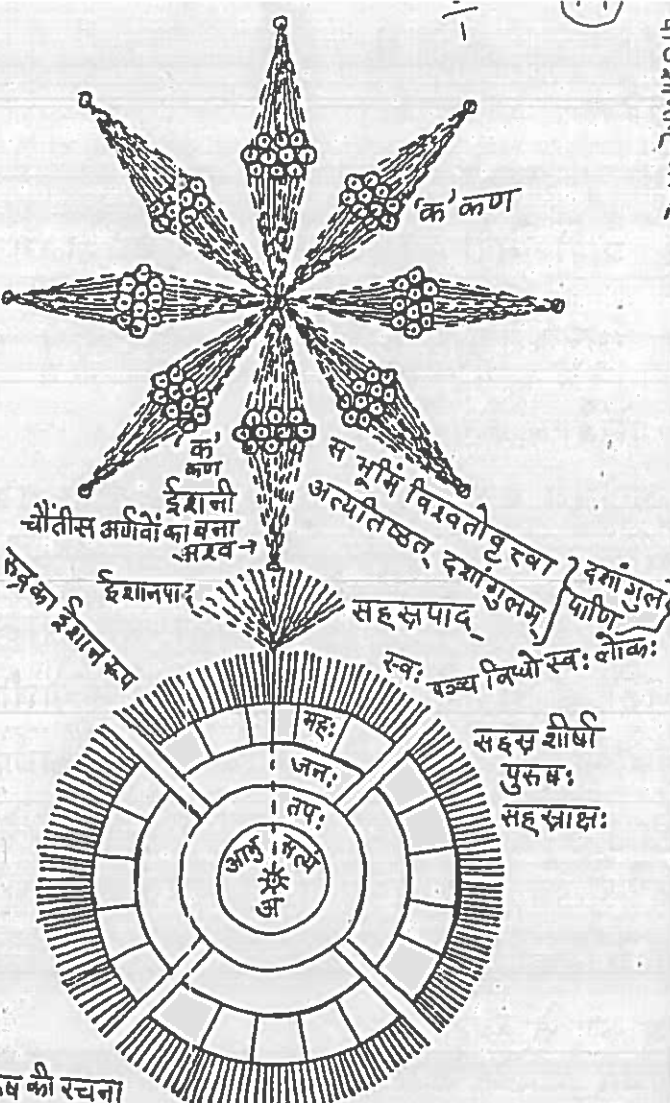
अत	पुंर पुरुष	रशना
67	34	34
66	33	33
65	32	32
64	31	31
63	30	30
62	29	29
61	28	28
60	27	27
59	26	26
58	25	25
57	24	24
56	23	23
55	22	22
54	21	21
53	20	20
52	19	19
51	18	18
50	17	17
49	16	16
48	15	15
47	14	14
46	13	13
45	12	12
44	11	11
43	10	10
42	9	9
41	8	8
40	7	7
39	6	6
38	5	5
37	4	4
36	3	3
35	2	2
34	1	1

चतुस्त्रिंशद् वाजिनी देवबन्धोर्वज्र औरश्वस्य स्वीधितिः सनेति । अचिह्नं वा गात्रा वयुना कुण्ठात परस्परमुल्लुल्लाविशरत् ॥ (ऋग्वेद-1, 162, 18)

मीहजातं अणु -
चतुस्त्रिंशद् वाजिनी देवबन्धोर्वज्र औरश्वस्य स्वीधितिः सनेति । अचिह्नं वा गात्रा वयुना कुण्ठात परस्परमुल्लुल्लाविशरत् ॥ (ऋग्वेद-1, 162, 18)

अत	पुंर पुरुष	रशना
34	16	16
33	15	15
32	14	14
31	13	13
30	12	12
29	11	11
28	10	10
27	9	9
26	8	8
25	7	7
24	6	6
23	5	5
22	4	4
21	3	3
20	2	2
19	1	1

(सोलाह अन्तों वाला एक अश्व) = (षोडशान्तम् अश्वम्)



पुरुष की रचना
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतल्ल दृशां गुलम् ॥

$$E = m \cdot c^2 = m \cdot h^2 \text{ जब कि } h \text{ एक मीलियन अर्थ के परावृत्त के त्रिज्या (radius) है ।}$$

$$\text{तथा } h = (3.35 \times 10^8) = \text{सादेन तीस करोड़ अणु}$$

$$m \cdot h^2 = \text{ऊर्जा के क्षेत्र का माप}$$

$$'क' कणों से पदार्थ की मात्रा \times (3.35 \times 10^8)^2 = \text{अणुओं की ऊर्जा}$$

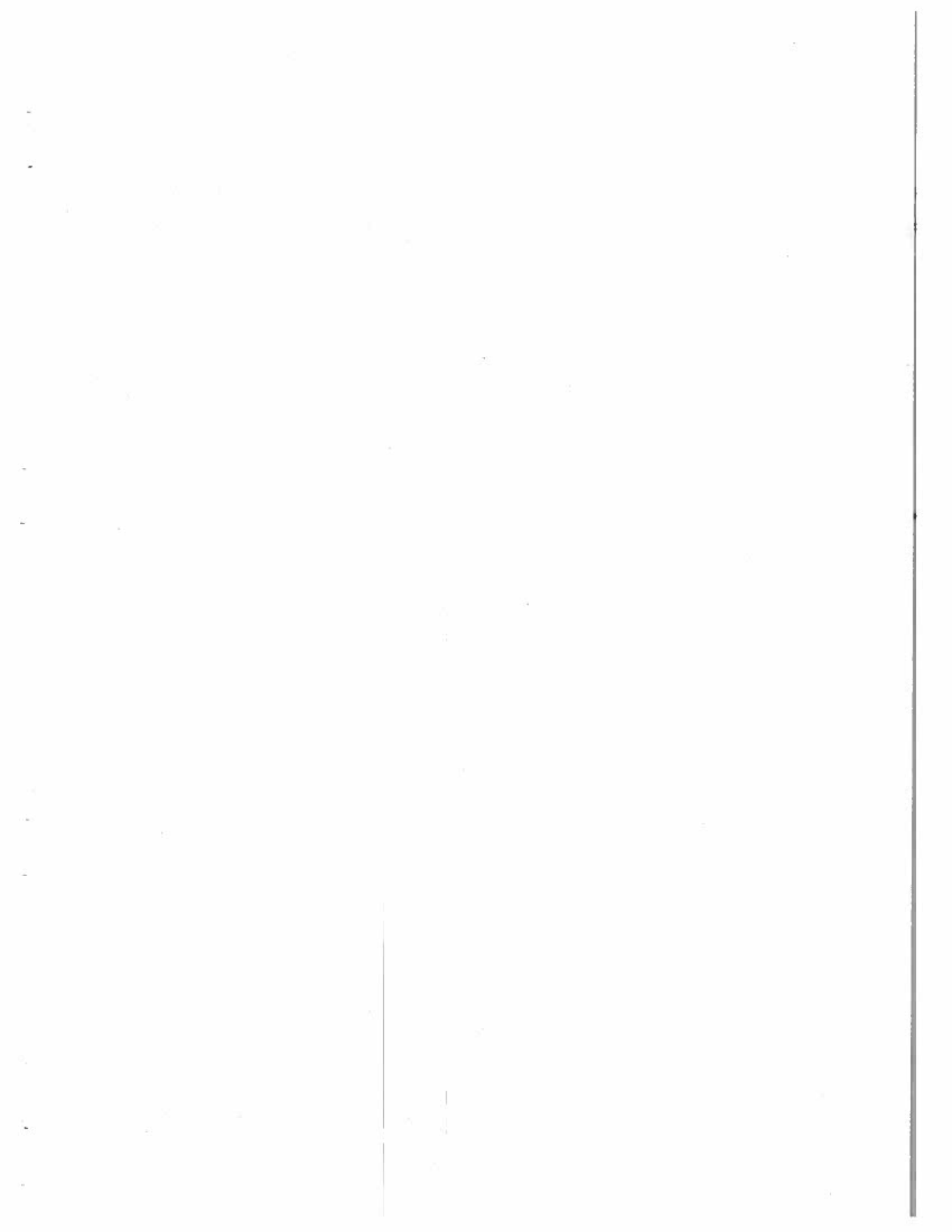
$$\text{मात्रा } 'क' कणों से पदार्थ की मात्रा = m$$

$$\text{एक 'क' कण से जुड़े अणुओं की संख्या} = C = 3.35 \times 10^8$$

$$\text{मात्रा अणुओं से प्राप्त ऊर्जा} = E.$$

$$\text{अतः } E = m \cdot c^2 = m (3.35 \times 10^8)^2 = m \cdot h^2$$

अर्थात् ऊर्जा का क्षेत्र जब कि ह एक मीलियन अर्थ के परावृत्त की त्रिज्या



तत्त्व constant होने के कारण m में समाहित हो जाती है। m पदार्थ की मात्रा भी constant होती है। पदार्थ की मात्रा जितनी लेगे वह उतनी ही स्थिर रहेगी। इस प्रकार यहाँ आइनस्टाइन द्वारा प्रतिपादित सूत्र $E = mc^2$ का उचित शोध प्रस्तुत होता है।

यहाँ पर $E = mc^2$ में c का मान (3.4×10^8) = चौतीस करोड़ है। इस में जब एक अक्षर के चौतीस अर्णवों की श्रृंखला से दूसरी wave length की चौतीस अर्णवों की श्रृंखला जुड़ती है तो पहली wave length के त्रित का महीजात अर्ण ही दूसरी wave length का पुरीष अर्ण बन जाता है। इस प्रकार इस महीजात अर्ण का आधा भाग पहली wave length में और आधा भाग दूसरी wave length में गिना जाये तो यह संख्या (335×10^8) अर्थात् साठे तेतीस करोड़ बैठती है। यही संख्या पुराणों में कुल देवताओं की बताई गई है। अतः इसका सही उचित रूप $E = m (3.35 \times 10^8)^2$ ही बैठता है। अर्थात् स्थूल पृथिवी के एक रजकण का स्वरूप कुल साठे तेतीस करोड़ देवता ही द्योतित करते हैं। ये सभी देवता सूक्ष्म रूप के द्यो में स्थित हैं। पृष्ठ (79) पर जुड़े हुए अक्षर के दो रूपों में 67 अर्णवों की श्रृंखला स्पष्ट दिखाई दे रही है। अतः अक्षर के एक रूप में 33.5 अर्णवों की श्रृंखला ही बनती है।

आइनस्टाइन ने $E = mc^2$ में जो c का मान प्रकाश की गति (2.99×10^8) को लिया है, वह अशुद्ध है। इसका कारण यह है कि प्रकाश फोटोन के द्वारा गति करता है। अतः (2.99×10^8) की संख्या फोटोन की गति को बताती है। परन्तु फोटोन स्वयं भी Radiant हो कर ऊर्जा प्रदान करता है। फोटोवोल्टिक सेल में फोटोन ही रेडियेट हो कर विद्युत की ऊर्जा का करण्ट प्रदान करता है। अतः इस (2.99×10^8) की संख्या में फोटोन की रेडियेशन की ऊर्जा को समाहित नहीं किया गया है। अतः यह संख्या ऊर्जा के गणन के लिए शुद्ध नहीं है।

दूसरे फोटोन में रेडियेशन होने के कारण फोटोन भी पदार्थ के रज का एक कण है। वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है कि "यत्र धूमः तत्र अग्निः" अर्थात् जहाँ रेडियेशन का धूम होगा वहाँ पञ्चमहाभूतों के पदार्थ की मात्रा अग्नि के रूप में होगी। यह कहीं भी mass particle का होने का पक्का परीक्षण है। क्योंकि कि Radiation सर्वत्र ऊर्जा के रूप में रजकण (पदार्थ की धूलिका कण) से ही निकलती है। फोटोन में Radiation है अतः वह एक रजकण है। उससे भी पदार्थ का ऊर्जा में परिवर्तन होगा। अतः c का मान 2.99×10^8 इस सूत्र में ऊर्जा का कम परिणालन करता है। इसी कारण इस परिवर्तन पर आधारित

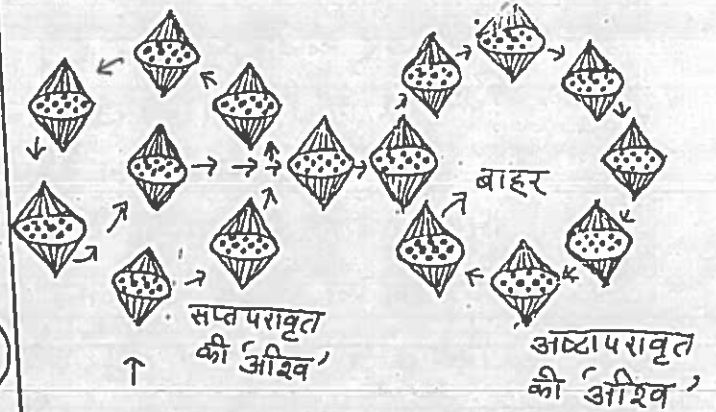
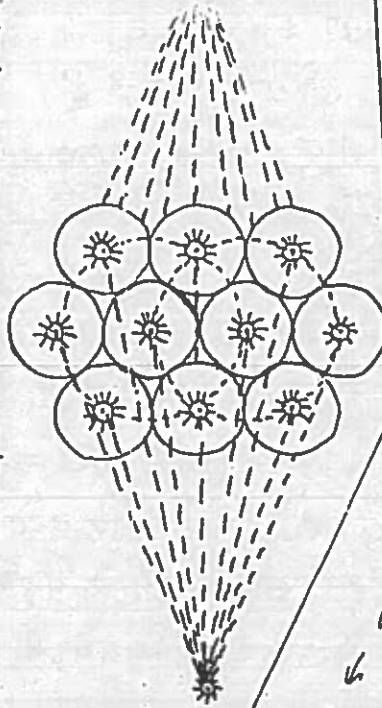
बने विश्व में न्यूक्लियर रिएक्टर छोड़े ही समय बाद फटते नजर आ रहे हैं। चरनेबल में रूस में न्यूक्लियर रिएक्टर अभी कुछ दिन पहले फटा है। अमेरिका में भी रण्य के बाद रण्य न्यूक्लियर रिएक्टर फटते जा रहे हैं। अतः इस सिद्धान्त को छोड़ कर वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त अपनाना अधिक उचित है।

आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक अणु (Atom) का अनावरण करते समय अणु के बाह्य आवरण को, जो Electrons के घूर्णन करते हुए अपने पथ में विचरण का क्षेत्र है, उसे जान चुके हैं। इस के अन्दर न्यूक्लियस में स्थित प्रोटोनों तथा न्यूट्रॉनों के बने आवरण को भी जान चुके हैं। उस आवरण के अन्दर बने Mesons के आवरण को भी जान चुके हैं। उस Mesons के आवरण के अन्दर बने Quarks के आवरण को भी जान चुके हैं। परन्तु Quarks कैसे और क्यों बनते हैं, तथा इन Quarks के अवग्रव क्या हैं? इस Quark के पश्चात् इस का मूल कारण क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर के विषय में वे कुछ भी नहीं जानते। Quark पर आकर उन का ज्ञान रुक जाता है। वही उन का अन्तिम ज्ञान है। परन्तु वेद का ज्ञाता ऋषि उससे आगे भी बताता है। वह ऋषि आज के Quark को वृन्दारक कहता है। वृन्दारक अग्नि के खाने वाले "अग्निष्वात्ताः" कहे गये हैं। इनकी रचना सूर्यचक्षुः (Photons) के रजकणों से बताई है। रण्य वृन्दारक में 283 (दो सौ तिरासी) सूर्यचक्षु के रजकण होते हैं। सात सौ बीस (720) वृन्दारकों का रण्य वर्त्मा (Mesons) होता है। 1840 वर्त्माओं का रण्य 'न' कण (Neutrons) होता है। वर्त्माओं की संहति से ही रण्य 'न' कण बनता है। यह गणना ऋग्वेद के मन्त्रों से निकलती है।

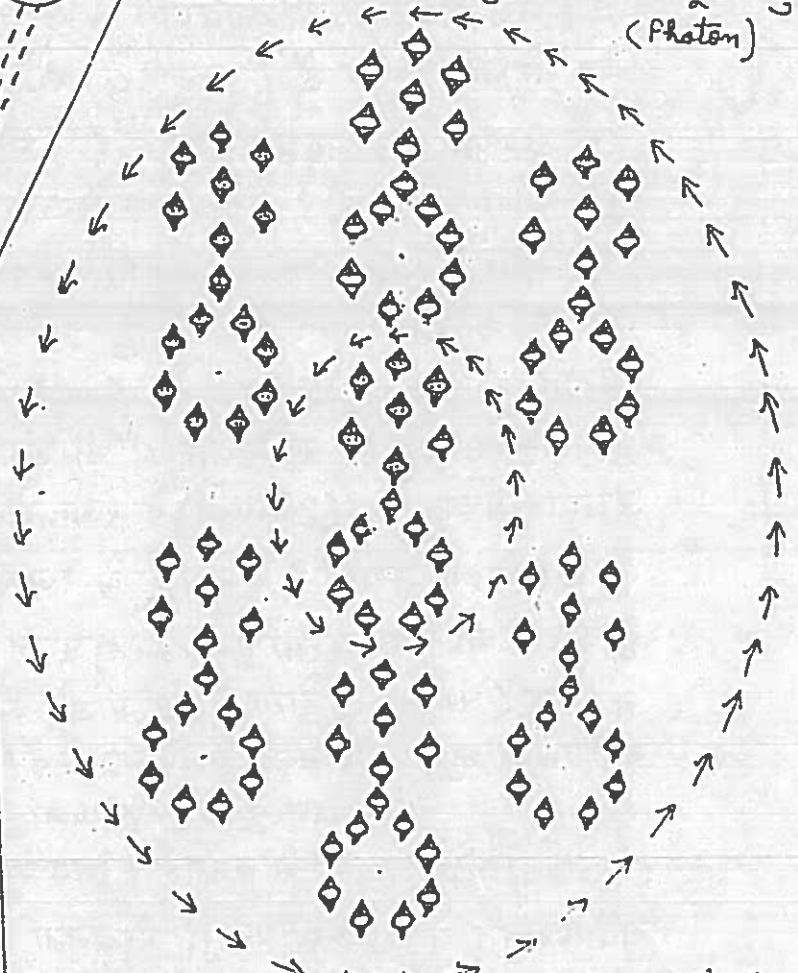
परन्तु इस वृन्दारक (Quark) से पूर्व क्या है? वृन्दारक सूर्यचक्षुः (Photons) के रजकणों से बनते हैं। रण्य सूर्यचक्षुः (Photons) अश्विनो के सप्तपरावृत से या अष्टापरावृत से बनता है। वृन्दारक में जब वह प्रकाश नहीं छोड़ रहा होता, तो सप्तपरावृत में ही अश्विनो सूर्यचक्षुः (Photons) की रचना करते हैं। रण्य सप्तपरावृत के सूर्यचक्षुः (Photons) में सात अश्विनो होते हैं। रण्य अश्विनो में सोलह (16) 'क' कण होते हैं। रण्य 'क' कण में दश मौलिक अर्थ होते हैं। रण्य मौलिक अर्थ के परावृत में चौतीस अणवों की श्रृंखला की त्रिज्या (radius) होती है, जो उसे तान कर अपने परिपथ के लोच में रखती है। यह पुरुष के तथा अश्व के चित्र में पृष्ठ (79) पर स्पष्ट हो गया है। अब आगे 'क' कण, अश्विनो, सूर्यचक्षुः, वृन्दारक का चित्र पृष्ठ (82) पर देखें।

सोलह 'क' कणों से बना "अश्विनौ"

दश भौतिक अणु से बना एक 'क' कण

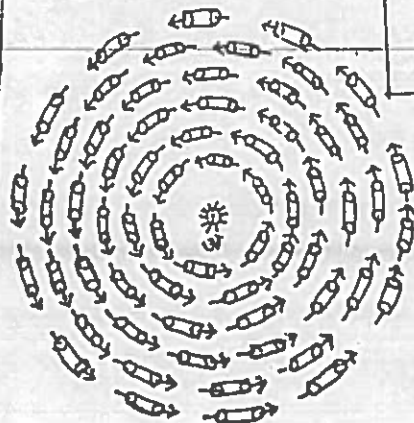


सात अश्विनौ के सप्तपरावृत से बना एक सूर्य चक्षुः (Photon)




"सूर्य चक्षुः (Photon) की संरचना में सात अश्विनौ"

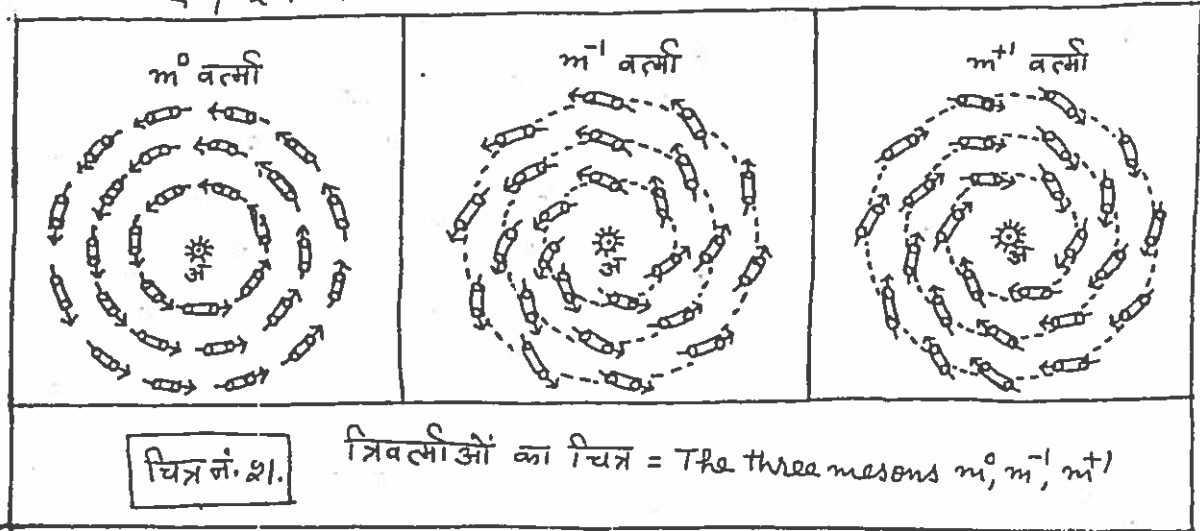
एक वृन्दारक (Quark) की रचना का चक्र



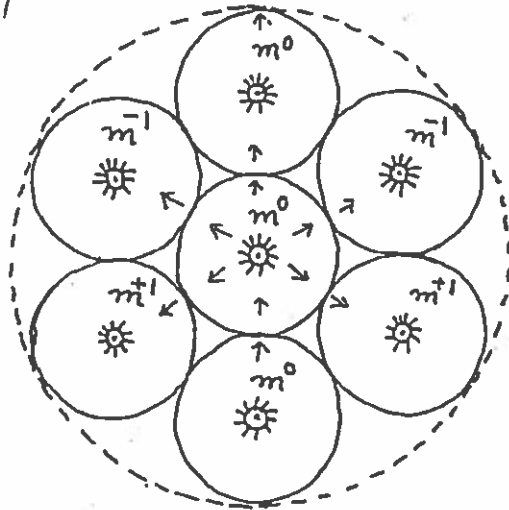
इस में केन्द्र में स्थित 'अ' (विष्णु का चक्र) इसे एक चक्र में बाँध कर रखता है।

यहाँ पर  का चित्र सूर्य चक्षुः (Photon) के एक पुञ्ज को प्रकट करता है जो सप्तपरावृत के रूप में \rightarrow दिशा में आगे भाग रहा है / जिस स्थल पर यह होता है, वहाँ इस के चक्र का अर्ध भाग उभरकर ऊपर आता है। अतः इसकी $\frac{1}{2}$ spin ही क्रिया रूप में होती है।

अणु (Atom) की नाभिकीय रचना में इन सभी की पदावली रचना का क्रम पृष्ठ (47) पर बने चित्र में देखें। इस चित्र में वृन्दारकों (Quarks) के ऊपर का गोष्ठ (orbit) त्रिवर्त्माओं (The three mesons m^0, m^+, m^-) का है। वृन्दारक ही इस गोष्ठ में जाकर इन त्रिवर्त्माओं में बदल जाते हैं। इन की रचना का चित्र निम्न प्रकार बन जाता है—

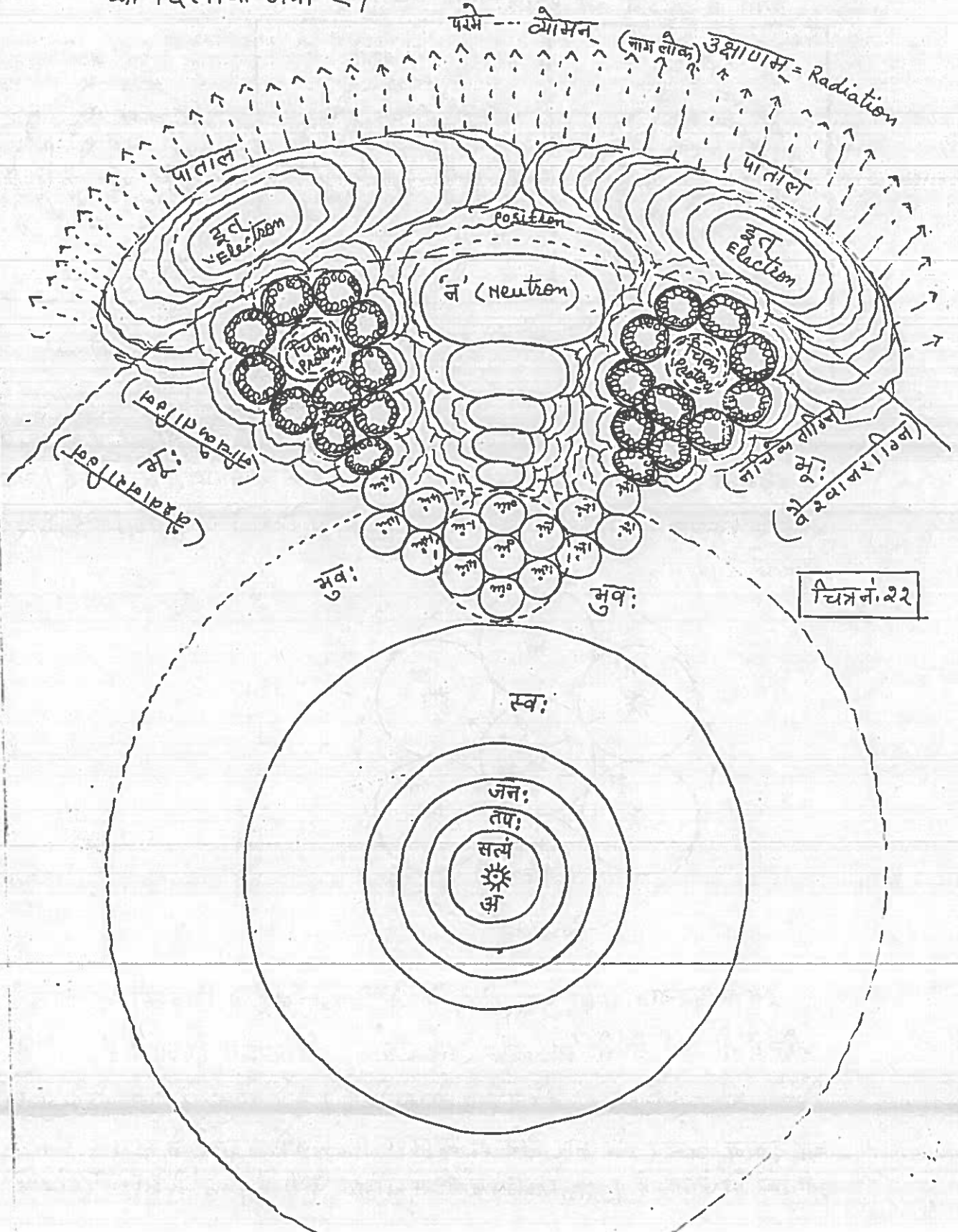


स्वः लोच में से वृन्दारक जब भुवः लोच में आकर त्रिवर्त्माओं में बदलता है तो इन त्रिवर्त्माओं का भी स्वयं सप्त परावृत्त बनता है। भुवः लोच में स्थित त्रिवर्त्माओं के सप्त परावृत्त का रेखा चित्र निम्न प्रकार बनता है।



इसके पश्चात् जब भुवः लोच में से बिखर कर ये त्रिवर्त्मा भूः लोच में जाते हैं तो m^0 से तो 'न' कण (Neutron) की रचना हो जाती है, m^+ से चिक्क कण (Proton) की रचना हो जाती है। सूर्य चक्षुः (Photon) के पुञ्ज का दबाव अन्दर की ओर होने के कारण प्रोटॉन में पदार्थ की मात्रा का घनत्व अधिक हो जाता है। अतः प्रोटॉन स्वयं संचालित कण है। m^- से इलैक्ट्रॉन (Electron)

बन जाते हैं। इतक जगहों में सूर्यचक्षुः कणों (Photons) का दबाव बाहर की ओर होने के कारण ये बिखरे हुए विरल अवस्था में ही रहते हैं। अतः इनकी पदार्थ की मात्रा जगहों के समान ही रहती है, परन्तु होती अवश्य है। निम्न आकृति में 'ज', 'चिच्छ' तथा 'इत्' कणों की रचना को दिखाया गया है। इसी के नीचे तावित या वैश्वानर अग्नि कहते हैं।



इत्'कणों (Electrons) की स्थिति नाभिक के बाहर जाकर नाभ्येतर भाग में ठहरती हैं। नाभिक से बाहर के तल को रचनाओं का दूसरा तल अर्थात् पर-तल कहा जाता है। पर-तल शब्द ही विकृत हो कर 'पाताल' शब्द बनता है। ये पाताल के तल नाभ्येतर भाग में अधिकतम सात बनते हैं। जिनके नाम - महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल कहे गये हैं। ये नाम Long periodic table में दी गई seven rows के नामों को अलग-अलग प्रकट करते हैं। Long periodic Table को पृष्ठ (86) पर देखें और वहाँ इन पाताल लोकों के नामों को देखें।

इन पाताल लोकों में तत्वों के अणुओं को उनमें स्थित इत्'कणों (Electrons) की संख्या के अनुसार व्यवस्थित किया हुआ है। एक अणु में जितने 'इत्'कण होंगे, उसी के अनुसार उसकी स्थिति विशेष पाताल लोक के निश्चित स्थान पर स्थित होती है। एक अणु में अधिकतम 'इत्'कणों की संख्या 112 बनती है, परन्तु उनमें दो अपनी सत्ता को स्थिर नहीं रख पाते। इसलिए इनकी संख्या 110 ही रह जाती है। अतः प्रकृति में कुल एक सौ दस तत्वों के अणुओं की ही सत्ता पाई जाती है। यह एक सौ बारह प्रकार के अणुओं (Atoms) की संख्या इस प्रकार निर्धारित होती है -

पृष्ठ (52) पर 'क' कण का चित्र देखें। पृष्ठ (52-A) पर सौलह 'क' कणों के संयोजन से 'अश्विनो' की रचना का चित्र दिखाया गया है। एक 'इत्' कण में 'ईश्वरी' रहिम के अन्दर बने चौतीस अर्णवों के अश्व की तरंग के रूप में चलने वाली ऋतु की ऊर्जा कार्य करती है। इस अश्व में प्रथम अर्णु तो पुरीष अर्णु बन कर तरंग को निरन्तर छोड़ने वाला होता है और चौतीसवाँ अश्विन अर्णु त्रित का रूप धारण करके सद्यन रूप में सहजात रूप में मौलिक अर्थ का एक पिण्ड बन जाता है। बीच के बत्तीस अर्णवों में ऋतु की ऊर्जा का पर तथा अवर रूप चलता हुआ सौलह अन्तः खण्ड बनाता है। इस प्रकार एक अणु में 'इत्' कण अधिकतम अपने बत्तीस अर्णवों के एक अश्व के सञ्च द्वारा ऊर्जा के रूप में बत्तीस रूप ही धारण कर सकता है। इसी कारण Periodic Table की छठी पंक्ति में अधिकतम बत्तीस अणु (Atoms) ही अपने इत्'कणों (Electrons) की ऊर्जा के अनुसार व्यवस्थित हो पाते हैं। उससे अधिक नहीं। इस 'अश्व' के बत्तीस अर्णवों में पर तथा अवर रूप की ऊर्जा के दो-दो अर्णवों का एक-एक अन्तः खण्ड बनता है प्रत्येक अन्तः खण्ड में दो अर्णु होने के कारण Periodic Table में दो-दो पंक्तियों में समान अणुओं की संख्या Magic number में बनती है।

Long Periodic Table - Periodic classification of Elements

तत्त्वों के अपुत्रों का पाताल लोकों के अनुसार विभाजन

योगप्रक्रिया = चत्कर्म कुला विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वम् तत्त्वना समेत्य यावाम् ।

(सू. ५५)
(६३)

[illegible]

केवल प्रथम पंक्ति में ही दो तत्त्व हाइड्रोजन और हीलियम होते हैं। शेष सभी पंक्तियों में Magic number का क्रित्व चलता है। अन्तिम पंक्ति में तत्त्वों की संख्या कम होने के कारण बत्तीस के स्थान पर केवल चौबीस ही रह जाती है। शेष तत्त्वों के अणुओं की सत्ता ही स्थापित नहीं हो पाती। इन पाताल लोकों में अणुओं की संख्या का Magic number निम्न प्रकार बनता है।

- (1) पाताल में दो अणु = 2
- (2) तलातल में आठ अणु = 8
- (3) वितल में आठ अणु = 8
- (4) सुतल में अठारह अणु = 18
- (5) अतल में अठारह अणु = 18
- (6) रसातल में बत्तीस अणु = 32
- (7) महातल में चौबीस अणु = 24

कुल अणुओं की संख्या = 110 (एक सौ दस)

इसके लिए पृष्ठ (86) पर बनी Periodic Table को देखें।

'क' ऋण में [पृष्ठ 52 का चित्र] दश मौलिक अर्ध दो सप्तपरावृत्तों में ग्रथित होकर व्यवस्थित हैं। अतः जब एक परावृत्त की ऊर्जा अधिक और एक परावृत्त की ऊर्जा कुछ कम होती है तो अधिक ऊर्जा का परावृत्त कुछ ऊपर जा कर स्थित हो जाता है और कम ऊर्जा का परावृत्त नीचे की ओर स्थित हो जाता है। इस कारण अश्विनों के द्वारा बने इत' ऋण में एक ही रूप चरण करने की सामर्थ्य रहती है और वह हाइड्रोजन का एक अणु (Atom) बन जाता है। इसी तिरछेपन के कारण हाइड्रोजन के एक साधारण अणु में न्यूट्रोन नहीं बन पाता। केवल एक प्रोटोन ही बनता है। मूल रचना में अन्तर 'क' ऋण में ही आ जाता है।

जब 'क' ऋण के दोनों सप्तपरावृत्तों में अश्वों की ऊर्जा समान होती है तो हीलियम का अणु (Atom) बन जाता है। उस में दो ही न्यूट्रोन तथा दो ही Protons बन जाते हैं। दो ही उसमें इत' ऋण (Electrons) बन जाते हैं।

इससे आगे 'क' ऋण को दोनों सप्तपरावृत्तों के ग्रथित रूप में परिधि में कुल आठ मौलिक अर्ध स्थित हैं। जब इत' ऋण के वृन्दारकों (Orbits) के अश्विनों के 'क' ऋण घूमते हैं तो अश्विनों के अश्व की तरंग में 'क' ऋण की परिधि का जो मौलिक अर्ध आगे होता है, वही अपना प्रभाव इत' ऋण के स्वरूप पर क्रियात्मक रूप में छोड़ता है।

परीधि में आठ मौलिक अर्थ होने के कारण वे आठ प्रकार के इत् व्यंजनों के प्रभाव ही छोड़ते हैं। अतः दूसरी और तीसरी पंक्ति में पीरियाडिक टेबल में आठ-आठ अणु ही स्थित हैं।

दूसरे 'अश्विनो' का अश्व त्वष्टा द्वारा रचित कहा जाता है। इस में आठ वसु 'क' कण के रूप में स्वयं अश्विन में संयोजित होते हैं। अतः 'अश्विनो' का शीर्ष भी आठ प्रकार की ऊर्जा वाला प्रभाव ही त्रिमात्मिक रूप में छोड़ता है। इस कारण भी दूसरी, तीसरी पंक्ति में आठ-आठ अणु ही बनते हैं। स्वयं पंक्ति में पर शक्ति के 'इत्' कण तो दूसरी में अवर शक्ति के 'इत्' व्यंजनों का प्रभाव रहता है।

चौथी और पाँचवीं पंक्ति के अन्दर दो-दो 'क' व्यंजनों का ग्रीथित स्वरूप बन कर अश्विनो के द्वारा सूर्यचक्षुः (Phatshu) की रचना करता है। उन से 'इत्' व्यंजनों का स्वरूप बनता है। इस में स्वयं 'क' कण के दश मौलिक अर्थ और दूसरे के परीधि के आठ मौलिक अर्थ ग्रीथित होकर अपना अठारह प्रकार का त्रिमात्मिक रूप में प्रभाव छोड़ते हैं। अतः इन पंक्तियों में अठारह-अठारह प्रकार के अणु रहते हैं।

छठी पंक्ति में 'क' कण की इशानी के अश्व में मध्य के बत्तीस अणुओं के प्रभाव के कारण बत्तीस अणु बनते हैं। सातवीं पंक्ति में भी उलट रूप में वही प्रक्रिया चलती है, परन्तु अणुओं की कुल संख्या 110 होने के कारण इसमें 24 अणु ही रह जाते हैं। इस प्रकार यह Magic Number "2, 8, 8, 18, 18, 32, 24" के रूप में व्यवस्थित हो जाता है।

कुल 'इत्' व्यंजनों की 110 संख्या की विविधता में गणित के अनुसार मूल विविधता 112 प्रकार की बनती है, जिसमें दो प्रकार की विविधता अपनी सहा स्थापित करने की क्षमता प्राप्त नहीं कर पाती। अतः यह 110 ही रह जाती है। यह 112 प्रकार की विविधता गणित की गणना के अनुसार निम्न प्रकार बनती है।

स्वयं 'क' कण की परीधि में आठ मौलिक अर्थ होते हैं। जब अश्विनो की तरंग में स्वयं इत् कण के अन्दर स्वयं 'क' कण चलता है तो उस 'क' कण के दो मौलिक अर्थ सब से आगे जा कर

किसी स्थल पर टकराते हैं और वहाँ अपना प्रभाव छोड़ते हैं।
इस प्रकार उन आठ मौलिक अर्थों में से दो-दो का चयन

$8C_2$ विधियों से हो सकता है। $8C_2 = \frac{8 \times 7}{2 \times 1} = 28$ [अष्टविंशति अक्षरिक्त]

अर्थात् अष्ट। इस प्रकार की विविधता उनमें होगी। अब दो मौलिक अर्थ दो परावृत्तों के रूप में स्थित होते हैं।

अतः उनका प्रभाव क्षेत्र दो त्रिज्याओं की इकाई का दो इकाई का क्षेत्र होगा। दो इकाई के परावृत्त के क्षेत्र का माप $2^2 = 2 \times 2 = 4$ होगा। इसमें चार प्रकार की विविधताएँ होंगी। अतः कुल विविधताएँ $8C_2 \times 2^2 =$

$28 \times 4 = 112$ बनती हैं। इस प्रकार कुल अणुओं की विविधता की संख्या 112 ही बनती है। इनमें से दो की सत्ता स्थापित न होने के कारण यह संख्या 110 ही रह जाती है।

'क' ऋण के आठ मौलिक अर्थ जो परिधि में स्थित रहते हैं, उनके किसी अक्ष की ऊर्जा कम होने के कारण तथा दूसरे 'क' ऋण के परिधि के किसी मौलिक अर्थ के अक्ष की ऊर्जा अधिक होने के कारण दो 'क' ऋणों का ग्रासन हो जाता है। परिधि के सभी आठ मौलिक अर्थों की ऊर्जा जब समान होती है तो प्रत्येक 'क' ऋण स्वतन्त्र रूप से गति करता रहता है और उसके इतने ऋण निष्क्रिय बन कर निष्क्रिय अणु की रचना कर देते हैं।

He 10, Ne 18, Ar 36, Kr 54, Xe 86, Rn 118 इसी प्रकार के तत्वों के अणु हैं।
4, 20, 40, 80, 131, 222

इन्हीं आठ मौलिक अर्थों की ऊर्जा की परिवर्तनशीलता के कारण, जो आठ मौलिक अर्थ 'क' ऋण की परिधि में स्थित होते हैं, आठ की चक्रीय गिनति में तत्वों के रासायनिक गुणों में समानता होती है। इसी कारण Periodic Table में आठ के चक्र के अनुसार प्रत्येक आठवें तत्व में वही रासायनिक गुण न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं। इसी गुण के कारण Periodic Table में कोलम बन पाते हैं। 'क' ऋणों के मौलिक अर्थों के अक्षों में ऊर्जा के कम और अधिक होने की परिवर्तनशीलता के कारण ही 'इत' ऋणों (Electrons) के दो रूप पाये जाते हैं। एक ऋणात्मक आवेश का 'इत' ऋण (Electron) और दूसरा धनात्मक आवेश वाला 'इत' ऋण (Positron) होता है।

सृष्टि सृजन की वैदिक प्रक्रिया में सम्भूति और विनाश की प्रक्रिया का साथ-साथ होना बताया गया है। अणु (Atom) की संरचना में 'न' कण (Neutron) तब की संरचना तो सम्भूति की प्रक्रिया में आती है, उसके पश्चात् 'इत्' कणों तथा चिक् कणों आदि की संरचना में विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जैसे-जैसे सृजन में पदावत संरचना का क्रम चलता चला जाता है, उसी के उलट क्रम से विनाश की प्रक्रिया चल देती है। इस प्रकार संरचना का क्रम जो सद ब्रह्म से असद् ब्रह्म में बदल कर स्वयं से अनेक रूप क्षीरों के बनकर प्रारम्भ हुआ था, विनाश की प्रक्रिया द्वारा पुनः असद् ब्रह्म के रूप में आकर असद् से सद ब्रह्म में बदल जाता है। इसी बात को ऋग्वेद में "दैवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सद जायत --" (ऋग्वेद 1, 72, 2) कह कर बताया गया है। इस कथन का अर्थ है "देवताओं के पूर्व के युग में असद् ब्रह्म से सद ब्रह्म उत्पन्न होता है। अर्थात् जब सद से अनेक रूप चारण करके असद् ब्रह्म बदल कर बनता है तो उससे आगे और देवताओं के रूप चारण करने से पूर्व ही असद् ब्रह्म का कुछ भाग असद् से सद ब्रह्म के रूप में भी बदल जाता है। असद् ब्रह्म के जिन क्षीरों में ऊर्जा का पाशुबुद्ध कमजोर होता है, और इस कारण वे क्षीर आगे और सृजन की रचना करने में समर्थ नहीं हो पाते तो कुछ काल तक वे अपनी सत्ता में स्थिर रहने के उपरान्त पुनः सद ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ असद् ब्रह्म से सद ब्रह्म उत्पन्न हो जाता है।

जब 'न' कण (Neutron) की संरचना से विनाश का क्रम चलता है तो वह भी पदावत चलता-चलता असद् ब्रह्म तक चला जाता है। असद् ब्रह्म के रूप में आगे आ कर पुनः वह सद ब्रह्म में बदल जाता है। अर्थात् असद् ब्रह्म का क्षीर भी विनाश को प्राप्त होकर सद ब्रह्म में विलीन हो जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसी बात को, "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद जायत," कह कर बताया गया है।

जैसे सम्भूति के प्रक्रम में सद ब्रह्म से असद् ब्रह्म का क्षीर बनता है, क्षीरों के सप्तपरावृत से भगवती 'भग' देवी या देवता बनता है जो सरस्वती तथा लक्ष्मी का रूप चारण करके सभी सम्पदाओं की प्रदात्री बनती है। अतः इन्हीं से अंगिरा, भृगु का रूप बनता है, जिस से सभी पदार्थ युक्त होकर बनते हैं। "सर्वमायामग्रं भूतं सर्वं भृगुवङ्गिरोमयम्"। (गौपय ब्राह्मण-1, 39) अश्व की तरंगों में चौतीसवें अणु पर त्रित का रूप चारण करके जो मौलिक अर्थ का रूप प्राप्त होता है, उन मौलिक अर्थों की

“सदं सर्वज्ञाप्नोत् यदिदं किञ्च॥ यदाप्नोत् तस्मादापः॥” अर्थात् जो यह ब्रह्म का स्वरूप पुरुष ही अर्थ का रूप प्राप्त करता है, वही यह सबकुछ है जो हमें संसार के रूप में दिखाई देता है। क्योंकि यह पदार्थ के रूप को प्राप्त होता है, अतः रूप प्राप्त करने के कारण इसे ‘आपः’ कहा जाता है।

यह आपः ही दो प्रकार का रूप अर्द्ध और शुष्क कारण करता है। इसका तीसरा रूप नहीं होता। “द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति। अर्द्धं चैव शुष्कं च॥” (शतपथ ब्राह्मण-1, 6, 3, 23)। जब यह आपः बहकर चलनेवाली अवस्था में होता है तो यह अर्द्ध कहलाता है। जब यह शुष्क पिण्ड बना कर संव ही स्थान पर स्थिर हो जाता है और शुष्क पात्र में बँध कर रहता है तो यह शुष्क कहलाता है। पदार्थ की पञ्चमहाभूतों की अवस्थाओं में इस ‘आपः’ के ये ही दो रूप पाये जाते हैं।

‘पुरुष’ की ब्रह्म के रूप की ईशानी रश्मियों से अर्थ की रचना होती है। इसी कारण इस अर्थ का निग्रन्ता पुरुष ही होता है। इसी कारण ऋग्वेद में, “पुरुष स्वेदं सर्वम्...” (ऋग्वेद-10, 90, 2) कहा गया है। अर्थात् यह जो कुछ सारा रूप संसार का दिखाई देता है, वह सारा रूप ‘पुरुष’ का ही रूप है।

पुरुष के द्वारा अर्थ की रचना को ऋग्वेद के चालीसवें अध्याय में (ईश उपनिषद्) इस प्रकार बताया गया है —

स पर्यगाच्छुश्रूषमन्वाग्रमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविरसनीषीः प्रीरभूः स्वयम्भूर्याथा तद्यत्तोऽर्थां व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः

समाभ्यः ॥

अर्थात् वह पुरुष अपने ईशान, ईशान पाद तथा दशांगुल रूप में सभी ओर गया हुआ है। वह पुरुष जब अर्द्धित माता को गर्भित करता है तो शुष्क का रूप बन जाता है। वह पुरुष ईशान तथा ईशान पाद और दशांगुल रूप में पदार्थ की व्याप्ति से रहित होता है। उसमें क्षीरों और अर्णवों का शुद्ध दिव्य रूप होता है। पुरुष के अश्व में कोई भी व्रण या छिद्र नहीं होता। चौतीस अर्णवों की शृंखला पुरुष के अश्व में छिद्र रहित इस प्रकार बनी होती है कि उसमें से ऊर्जा का साव कहीं से भी नहीं हो पाता है। इसी कारण अश्व में ऊर्जा का स्थिर रूप बना रहता है। इस पुरुष की सहस्र क्षीर रश्मियों में चेतना बिना किसी स्नायु के चलती है। ईशानी के जाल से पुरुष सभी मौलिक अर्थों की निग्रन्त करता है। पुरुष के सहस्र क्षीर और सहस्र अक्ष शुद्ध रूप से ब्रह्म के क्षीरों और अर्णवों के बने हैं तथा प्रत्येक ‘अपः’ = (आपः) को विद्ध

करने वाले में शीर्ष है। बिच्छू करके वे प्रत्येक मौलिक अर्थ को निर्यान्त्रित कर लेते हैं।
वे पुरुष के ईशान रूप शीर्ष अपने अक्ष पर संकल्पों के उदय और अस्त को
समाहित करने वाले होने के कारण क्रान्तदृष्टा कवि और मन को शासित
करने वाले मनोषी हैं। पुरुष के सहस्र शीर्ष सहस्र अक्षों पर अणु (Atoms)
की जगति में महलौक के ऊपर सभी और होते हैं तथा इनकी उत्पत्ति
स्वयमेव ही होती है। ये पुरुष के सहस्र शीर्ष सहस्र अक्षों पर सहस्र पाद
और दशांगुल ईशानी बनाते हुए प्रथा प्रौढ अर्थों की रचना शाश्वत
काल से करते आये हैं।

इस प्रकार यहाँ भी पुरुष द्वारा स्पष्ट रूप से "याथाव्यती अर्थान् व्यकथात्
शाश्वतीभ्यः समान्यः" कहकर अर्थों (मौलिक अर्थों) की रचना स्पष्ट रूप से
बताई गई है।

दश मौलिक अर्थों से एक 'क' ऋण, सोलह 'क' ऋणों से अश्विनो, सात
या आठ अश्विनो से सूर्यचक्षुः (Photos), 244 सूर्यचक्षुओं से एक
वृन्दारब्ध, 720 वृन्दारब्धों से एक त्रिवर्त्ता, 1840 त्रिवर्त्ताओं से
एक 'ज' ऋण बनता है। यहाँ तक सम्भूति की प्रक्रिया चलती है।

विनाश प्रक्रिया में उल्टा क्रम चलता है। एक 'ज' ऋण की
पदार्थ की मात्रा 1840 इतक ऋणों की पदार्थ की मात्रा के बराबर बिखर
कर बनती है। एक इतक ऋण बिखरकर 720 वृन्दारब्धों के बराबर बनता
है। एक वृन्दारब्ध बिखरकर 244 सूर्यचक्षुओं (Photos) के बराबर
बनता है। एक सूर्यचक्षु बिखरकर सात अश्विनो या आठ अश्विनो
के समान बनता है। एक अश्विनो सोलह 'क' ऋणों में बदलता है।
एक 'क' ऋण दश मौलिक अर्थों में बिखरता है। एक मौलिक अर्थ
अपनी ईशानी के चौतीस अर्णवों की शृंखला के अक्ष से जुड़ा होता है।
वह उन अर्णवों में बिखरता है। एक अर्णु क्षीरों के अक्ष द्वारा बना होता है।
वह क्षीरों में बिखरता है। क्षीर असद-ब्रह्म का सत्यलोक में शुद्ध ब्रह्म की
सत्प्रभा का स्वरूप है। अन्तः में वह भी अपनी सत्ता को मिटाकर सदब्रह्म
में विलीन हो जाता है। इस प्रकार इस विनाश की प्रक्रिया से असद ब्रह्म
से सदब्रह्म उत्पन्न हो जाता है।

एक अणु (Atoms) में पदार्थ के इन रज्जुओं के सापेक्ष पदार्थ की सारणी
निम्न प्रकार बनती है—

दश मौलिक अर्थ = एक 'क' ऋण

सोलह 'क' ऋण = एक 'अश्विनो'

सात 'अश्विनो' = एक सप्त 'सूर्यचक्षुः'

(Photos)

[आठ 'क' ऋण = एक 'अश्विनो'
दो 'अश्विनो' = एक 'अश्विनो']

सौ सूर्य चक्षुः का समलंकार एक सब से बड़ा वृन्दारक परीनिमित्त वशावर्तिनः बनता है। (93)
 आठ अश्विनौ = प्रकाश छोड़ता हुआ एक सूर्य चक्षुः (Photon)

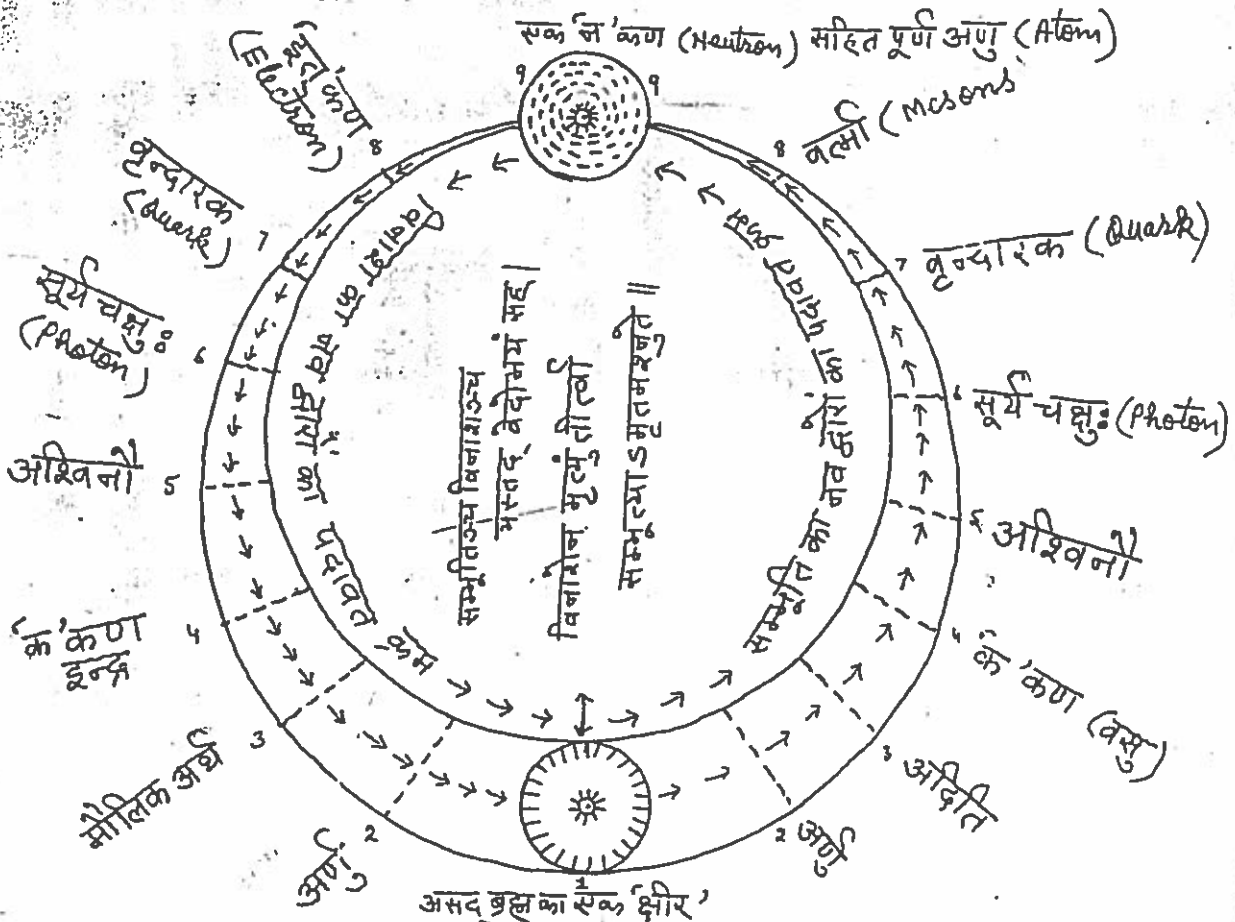
दो सौ चवालीस सुप्त सूर्य चक्षुः = एक वृन्दारक (Quark)

सात सौ बीस वृन्दारक = एक वर्त्मा (Meson) | 16 वर्त्मा = 1 इत्कण

अठारह सौ चालीस इत्कण = एक 'न' कण (Nucleon)

एक अणु (Atom) में पदार्थ की मात्रा अधिकतम रूप में दो सौ चालीस 'न' कणों से लेकर तीन सौ 'न' कणों की पदार्थ की मात्रा के समान हो सकती है। आधुनिक विज्ञान में उस अणु की पदार्थ की मात्रा दो सौ उनहत्तर बर्हि बर्हि है जिसमें एक सौ दस इत्कण स्थित होते हैं। अर्थात् जिस एटम का एटोमिक नम्बर एक सौ दस है, उसका एटोमिक मास दो सौ उनहत्तर बताया गया है। परन्तु वैदिक विज्ञान में इस एटोमिक मास का Variation दो सौ चालीस से लेकर तीन सौ तक बताया गया है। अर्थात् एक ही अणु के में विभिन्न रूप प्राप्त किये जा सकते हैं। आइसोटोप्स इसी प्रक्रिया से बनते हैं।

इस सम्भूति और विनाश का चक्र निम्न प्रकार चलता है - चित्र नं. 24



इस सम्भूति और विनाश के चक्र के विषय में यजुर्वेद (ईशोपनिषद्) में इस प्रकार बताया है—

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद् वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

अर्थात् सम्भूति (सृजन का पदावत क्रम) तथा विनाश (के पदावत क्रम) दोनों के विषय में जो साय-साय जान लेता है, वह साधक ब्रह्मनिष्ठ योगी विनाश की प्रक्रिया के द्वारा मृत्यु को तर कर पार कर जाता है और सम्भूति की अन्तिम अवस्था में पहुँच कर सम्भूति की प्रक्रिया (अपनी असली अवस्था के सत्य रूप में स्थित रहने की प्रक्रिया - असली मूल अवस्था सद-ब्रह्म की अवस्था है, उसमें सम्पूर्ण रूप से स्थित रहने की प्रक्रिया) द्वारा अमृत अवस्था (जिस अवस्था में रहने पर कभी भी नहीं मरता - वह सद-ब्रह्म की कैवल्य की अवस्था) का पान करता है। अर्थात् एक बार उस अवस्था में पहुँचने पर फिर सदैव उसी अवस्था में सद-ब्रह्म की अवस्था में ही रहता है। वही अक्षर और अव्यक्त अवस्था है।

अर्थात् विनाश की प्रक्रिया द्वारा साधक योगी अपने स्थूल शरीर को त्यागते समय सूक्ष्म शरीर के रूप में आ जाता है। सूक्ष्म शरीर द्यौ में स्थित अणुओं का, 'क' कणों के संयोजन से बने प्राणोर्मियों के प्राणों का और उन प्राणों में स्थित सूक्ष्म रूप की इन्द्रियों की सहा के समन्वय का बना होता है। उस में 'क' कणों के संयोजन में मन भी ग्रथित रहता है। इस प्रकार यह सूक्ष्म शरीर आकाश महाभूत का बना होता है।

जब वही ब्रह्मनिष्ठ साधक अपने इस सूक्ष्म शरीर का भी विनाश करके इसे भी इस विनाश प्रक्रिया द्वारा त्याग देता है तो उसके जड़ रूप प्राण, इन्द्रियों तथा मन भी विरविण्डित हो जाते हैं और उस ब्रह्मनिष्ठ साधक की आत्मा अपने कारण शरीर के रूप को कारण कर लेती है। कारण शरीर द्यौ में अणुओं तथा क्षीरों द्वारा ग्रथित ऋतु की ऊर्जा का एक पर्यावर्त के रूप में बना ऋतु का एक अण्ड होता है। जब साधक निर्बीज समाधि की सिद्धि को योग की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त कर लेता है तो उसी की शक्ति के द्वारा वह सूक्ष्म शरीर

का विनाश करने में समर्थ होता है और अपने कारण शरीर को प्राप्त करता है।

कारण शरीर का विनाश अपर गुण के कारण ब्रह्म स्वयं अपने में विलीन करके करता है। परन्तु वह अपर गुण की प्रक्रिया सुचारु रूप से तभी चलती है जब ब्रह्म निष्ठ साधक योगी चर्ममैद्य समाधि की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस चर्ममैद्य समाधि की सिद्धि को अर्जित शक्ति के द्वारा साधक अपने कारण शरीर का भी विनाश करने में समर्थ हो जाता है। कारण शरीर के विनाश होने पर वह सद्-ब्रह्म के निर्गुण, निराकार, अक्षर, अव्यक्त रूप को कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए समान योगी बन कर उस सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यही उस साधक का लक्ष्य होता है। उस साधक का यही परम धाम है, जिसे वह मानव योगी प्राप्त करके प्राप्त करना चाहता है। इस अवस्था में पहुँच कर वह सर्वशक्तिमान, सर्वनिग्रन्ता सद्-ब्रह्म के रूप में हो जाता है। उसके पश्चात् उसे प्राप्त करने के लिए शेष कुछ भी नहीं बचता। वह सब कुछ उस अवस्था में पहुँच कर प्राप्त कर लेता है।

पातञ्जल योग दर्शन में इस अवस्था को इस सूत्र, "पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" द्वारा बताया गया है। इस सूत्र का अर्थ है- 'पुरुष' के 'सहस्रशीर्षी सहस्राक्षः' स्वरूप तथा उस पुरुष के दशांगुण रूप ईशानी रश्मियों से मिलकर अर्थों की रचना के स्वरूप की प्रक्रियाओं से शून्य के (अर्थात् रहित के) तथा निर्गुण सद्-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप से सगुण असद्-ब्रह्म के क्षर स्वरूप बनते समय उसमें जो गुणों का उद्भव होता है, उन गुणों के विनाश की प्रक्रिया द्वारा सद्-ब्रह्म में उन गुणों का विलय हो जाना ही 'कैवल्य' है। उस समय जीवात्मा की चेतना-शक्ति सद्-ब्रह्म की चेतना-शक्ति के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। दोनों की जीवात्मा की और सद्-ब्रह्म की समान अवस्था की समान योगी का स्वरूप होने के कारण विलय हो जाता है। यही सम्भूति के द्वारा अमृत अवस्था का योग है, जिसे ऊपर यजुर्वेद के मन्त्र में बताया गया है।

इस सम्भूति और विनाश के चक्र में सरण गति (Linear motion)

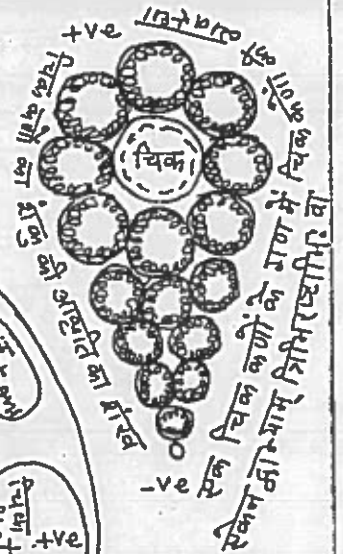
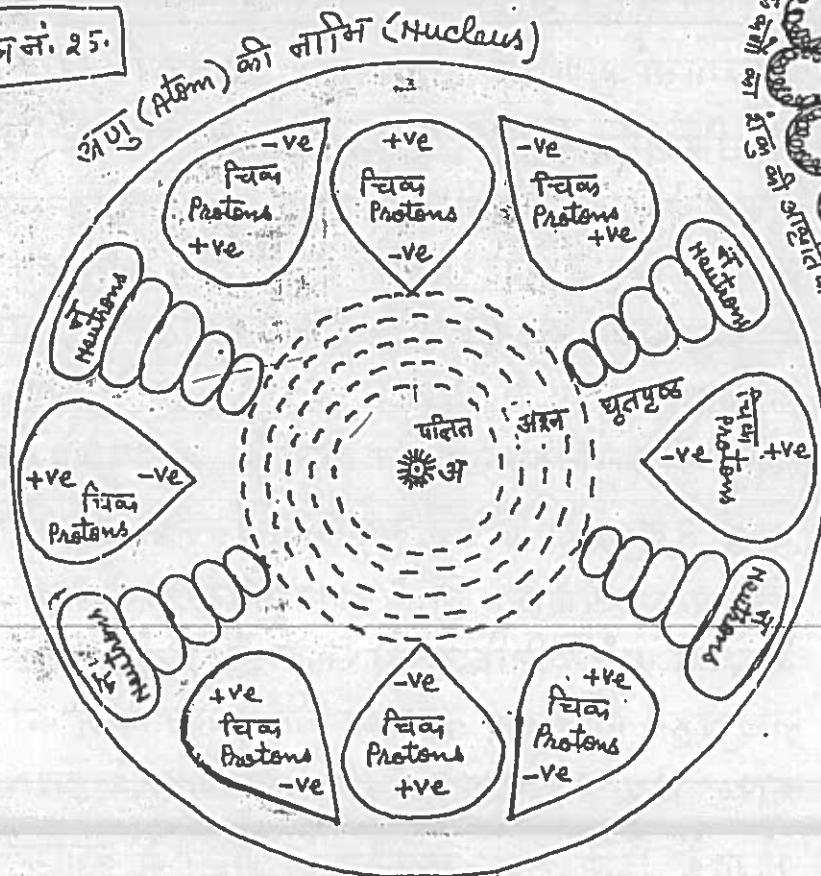
करने वाले सूर्य के प्रे ही नीं द्वार हैं जो पृष्ठ (93) के चित्र में दिखाये हैं, जिन द्वारों पर स्थित होकर जीवात्मा का हंस इन नीं रचनाओं [क्षीर, अणु, अदिति, क'कण, अश्विनो, सूर्यचक्षुः, वृन्दारक, वल्मी और न'कण युक्त पूर्ण अणु] के 'पुर' में स्थित होकर ओम में बाहर आता है और अपने सम्बन्धित विषयों को भोग के लिए पकड़ने का प्रयत्न करता है। इसी बात को इस द्वैताश्वतरोपीनषद् में आगे एक मन्त्र में इस प्रकार बताया गया है -

नवद्वारे पुरे दीहि हंसो लेलायते बहिः ।

वशी सर्वस्य लोकस्य सशवरस्य चरस्य च । (द्वैत० उपा० 3, 18)

एक अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) में 'चिक्' कणों (Protons) के जो गण (Blocks) होते हैं, उनकी आकृति शंकु के रूप में शंख जैसी बनी होती है। ये 'चिक्' कणों के गण एक अणु की नाभ में अधिकतम आठ होते हैं जो एक विशेष विधि से व्यवस्थित होते हैं। एक 'चिक्' कण के शंकु के शंख में पीछे की पूँछ के मुकौले भाग में ऊर्जा का स्तर कम होता है और उसमें ऋणात्मक आवेश (-ve charge) होता है। आगे का मुँह का भाग मोटा होता है। उसमें ऊर्जा का स्तर अधिक होने के कारण धनात्मक आवेश (+ve charge) होता है। नेमि में 'चिक्' कणों के आठ शंकु की आकृति के शंख नीचे बताई गई आकृति के अनुसार व्यवस्थित होते हैं।

चित्र नं. 25.



इस आकृति में 'पलित', 'अश्व', 'पृथुपृष्ठ' ये नाभ के तीनो त्त [त्रिवृतम् - त्रिनाभचक्रं] स्पष्ट रूप से दिखाये हुए हैं।

इस विधि से व्यवस्थित होने पर एक शंखु का धनात्मक आवेश वाला शिरा दूसरे शंखु के ऋणात्मक आवेश के शिरे के पास रहता है। जिससे उनमें विरोधी आवेश होने के कारण आकर्षण का बल बना रहता है। इससे जैमि एक पात्र में बंधी रहती है तथा नाभ (Nucleus) की एक इकाई में अलग से सत्ता बनी रहती है। 'चिक्' कणों में चुम्बकीय गुण दो ध्रुवों में स्थित रहने का होता है। दोनों ध्रुवों में विरोधी आवेश होता है। उन्हीं 'चिक्' कणों से इत्'कण (Electron) में यह ध्रुवों का गुण आता है। ध्रुवों का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्र में आया है। मन्त्र है—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम् ।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येनास्यौ निः॥

(ऋग्वेद-1, 164, 30)

इस मन्त्र का पदपाठ अर्धसहित निम्न प्रकार है—

अनत् = श्वास लेता हुआ, अर्थात् ऋत को चूसता हुआ और छोड़ता हुआ। श्वसन क्रिया करता हुआ।

शये = निवास करता है।

तुर ऽ गातु = शीघ्र चलने वाला।

जीवम् = जीवन से युक्त।

सजत = कम्पन गति करता हुआ। हिलता हुआ

ध्रुवम् मध्य = ध्रुव के मध्य में। उत्तरी ध्रुव में या दीक्षणी ध्रुव में,

आ = आगत्य = आकर

पस्त्यानाम् = चरों के। आपस्त्यानाम् = अपने कणों के द्वारा बने गणों (Electrons) के। इत्'कणों से सम्बन्धित orbitals के। पिछले मन्त्र मन्त्र में विद्युत का वर्णन होने से इत्'कणों (Electrons) की विक्षोभता में बताने वाला यह मन्त्र है।

जीवः = जीता हुआ = जीवन की चेतना के आवेश को प्रकट करता हुआ।

मृतस्य = मरे हुए के।

चरति = चरता है। खाता है। विचरता हुआ खाता है। विचरता हुआ उसे अपने शरीर में समाहित करता है।

स्वप्नाभिः = अपनी स्वप्ना के साथ | अपने स्वप्न के अन्दर धारित ऊर्जा के गुणों के साथ।

अमर्त्यः = न मरने वाला = 'इत्' कण (Electron) का आवेशा मरने वाला नहीं है। वह एक Body में से निकल कर दूसरी Body में चला जाता है। जिस Body में 'इत्' कण (Electron) का आवेशा नहीं है, वह मरी हुई Body है। जब उस में 'इत्' कण का आवेशा विचरण करने लगता है तो वह जीवित हो जाती है। 'इत्' कण का आवेशा स्वप्न जब व्योम में विचरण करता है तो वह सक्तीची अवस्था (एक बिन्दु पर सिमटी हुई अवस्था) में व्योम में अनावेशित रजकणों (uncharged particles) को जो मरी हुई अवस्था के कहलते हैं, उन्हें एक बिन्दु पर खींच कर ले जाता है और उन में जीवन भर देता है। ऐसा लगता है जैसे कि वह 'इत्' (Electron) उन मरे हुए रजकणों को चर रहा (खारहा) है।

सङ्गोनिः = अपनी योगिनी सीद्धत = जब वह 'इत्' (Electron) मर्त्य (uncharged) से जीवित (charged) में विचरण करता चला जाता है, एक रजकण को छोड़ कर दूसरे रजकणों में चलता चला जाता है तो अपनी योगिनी को उसी प्रकार बनाये रखता है। जो 'इत्' की योगिनी होती है, उसी योगिनी में वह रहता है।

अथवा समान स्थान वाला।
इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ बनता है -

शरीर चलने वाला, आवेशा के जीवन से प्रवृत्त, श्वसन क्रिया करता हुआ (अर्थात् कभी एक बिन्दु पर सिमट कर सुकड़ जाता है, कभी विरवर कर अपने को फुला लेता है, इस प्रकार कभी मृत की स्वप्ना को घूसता है, कभी बाहर छोड़ता है) ध्रुवों के मध्य घुसने (orbitals) में निवास करता है। जीता हुआ मरे के अन्न से विचरता है। [charged body में से आवेशा uncharged body में जाता है] अमर 'इत्' मरने वाले रजकण (particle) के साथ एक ही स्थान में रहता है।

इन ध्रुवों के बिारे बदलने के कारण ही एक electron-position में बदल जाता है।

रुक् 'इत्' (Electron) जिस 'न' (Neutron) में से निकल कर आता है, उस 'न' का शेष बचा रूप ही 'चिक्' कण (Proton) कहलाता है। अतः 'इत्' के उद्गम की यौनि कारण रूप में 'चिक्' कण ही बनता है। अतः जब कण रूप 'इत्' में ध्रुव है तो कारण रूप 'चिक्' में भी ध्रुवों का होना आवश्यक है। अतः 'चिक्' में +ve शिरा और -ve शिरा ये दोनों ध्रुवों वाले होते हैं। ऋग्वेद में इसे "तानि चर्मणि प्रथमानि आसन्" (ऋग्वेद-1, 164, 43) कहकर कार्य और कारण में समान गुणों की धारणा को बताया हुआ है।

इसमन्त्र में 'इत्' कणों (Electrons) के चरों (Orbitals) का स्पष्ट उल्लेख आया है। इन चरों (Orbitals) की आवृत्ति भी इनके मूल कारण 'चिक्' कण (Proton) के गण (Block) के सम्बन्धित अवयव (Part) के अनुसार ही होगी। जब नाभिक के अन्दर के अवयवों की रचनाओं की आवृत्तियों को और नाभ्येतर (Extra Nuclear part) भाग में 'इत्' कणों (Electrons) के चरों (Orbitals) की रचनाओं की आवृत्तियों को मिला कर गणों में व्यवस्थित करते हैं तो उनमें उन गणों (Blocks) की आवृत्ति की प्रतिमा गणेश जी और कार्तिकेय के उपकरणों के रूप में बन जाती है। इसी कारण व्यास ऋषि ने विनायक के लिए सप्तलोकों का वर्णन करते हुए लिखा है कि पाताल लोक की जलधि में विनायकों (गणेश जी) का निवास है। व्यास जी ने सप्त ब्रह्म लोकों - "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्" और सप्त पाताल लोकों - "महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल" का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "तदैतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डम् च प्रधानस्य अणुः अवयवौ यथाकाशे खद्योत इति। तत्र पाताले जलधौ पर्वतैर्वैतैषु दैवीनकाया असुरगन्धर्व किन्नर किम्पुरुष राक्षस भूत प्रेत पिशाचापस्मारकाप्सरो ब्रह्म राक्षस कूष्माण्ड विनायकाः प्रतिवसन्ति।"

इस का अर्थ है कि "यह सारा सातों ब्रह्म लोकों और सातों पाताल लोकों का सुप्रतिष्ठित संस्थान रुक् अण्ड के मध्य में विस्तारित रूप में स्थित है। वह अण्ड उस प्रधान प्रकृति का अणु नाम का रुक् अवयव है और उस प्रधान प्रकृति में इस प्रकार स्थित है जैसे कि विशाल आकाश में रुक् जुगनू स्थित होता है। [अर्थात् जैसे जुगनू में जीव है, अणु में भी उसी प्रकार जीव है।] उस संस्थान में पाताल लोक की जलधि में स्थित पर्वतों

(Blocks of matter present in the orbitals of the Electrons) में देवों के समूह, आसुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अप्समारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, विनायक रहते हैं।

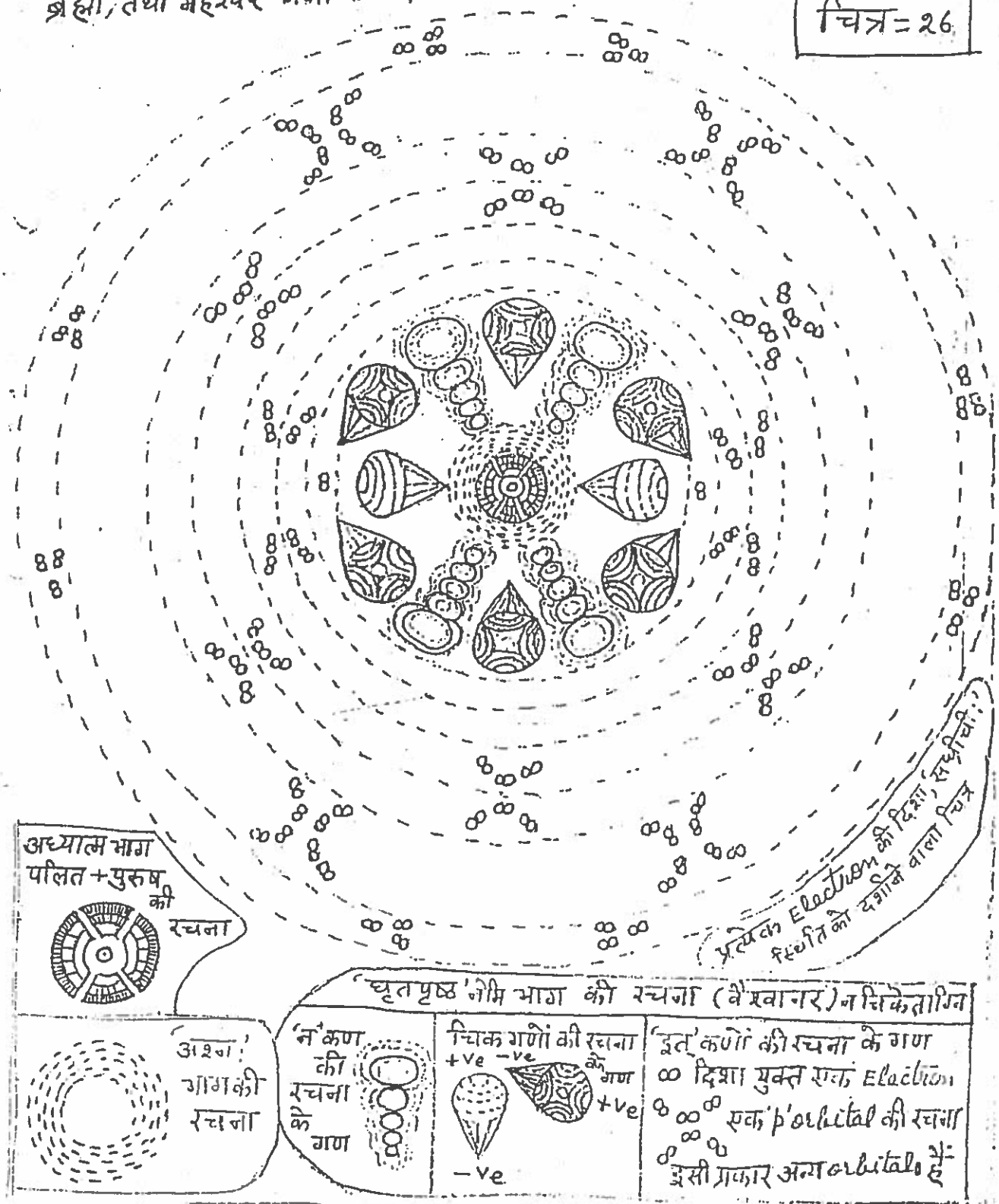
विनायक (गणेश जी) का चढ़ तो पाताल लोकों में स्थित 'इत्' कणों के गणों (Orbitals) से जुड़ कर बनता है और वह मानव के शरीर जैसा है, परन्तु उसका शिर नाभ (Nucleus) के अवयवों के गणों (Blocks) से मिल कर बनता है और उसकी आकृति हाथी के शिर की जैसी बनती है। अतः गणेश जी का शिर तो हाथी का और चढ़ मनुष्य का पुराणों में बताया गया है।

आगे के पृष्ठ (101) पर और उस से आगे के पृष्ठों पर सर्वाधिक बड़े अणु का रेखाचित्र दिया हुआ है। इसका Atomic Number 110 है और इसका Atomic mass 269 है। उससे अगले पृष्ठ (102) पर चिक् कणों के गण के किस अवयव से सम्बन्धित होकर 'इत्' कणों का कौन सा घर (Orbital) बनता है, यह दिखाया गया है। उससे अगले पृष्ठ (103) पर नाभ के अवयवों और पाताल लोकों के अवयवों को ग्रथित करके गणेश जी (विनायक) और कार्तिकेय की आकृतियों को स्पष्ट करके दिखाया गया है। कार्तिकेय कतारि (Spin) का देवता होता है। अतः कार्तिकेय के गण में कतारि के सभी उपकरणों की आकृति बनती है। चरखा, अटेरन, आटी, पूणी, सभी आकृति में बन जाते हैं। उससे आगे के पृष्ठ पर सब से छोटे अणु - हाइड्रोजन के अणु का चित्र बना कर दिखाया गया है। हाइड्रोजन में 'न' कण (Neutron) की सत्ता स्थापित होने से पूर्व ही त्रिवर्त्माओं (Mesons) द्वारा ही 'चिक्' कण (Proton) और 'इत्' कण (Electron) की सत्ता अलग-अलग करके स्थापित कर दी जाती है। हाइड्रोजन के एक अणु का चित्र पृष्ठ (104) पर देखें। इस चित्र के अनुसार ही हाइड्रोजन के अणु के Nucleus का स्पेक्ट्रम बनता है। पृष्ठ (105) पर उस स्पेक्ट्रम की बनने वाली आकृति का रेखाचित्र दिया है। आधुनिक विज्ञान के उपकरणों द्वारा लिये गये अणु की नाभ के चित्रों और नाभ के स्पेक्ट्रम की तुलना मन्त्रों में वर्णित रेखाचित्रों से तुलना करने पर मन्त्रों की कथावस्तु की सत्यता का साक्षात् प्रमाण मिल जाता है। इसी से इन मन्त्रों के अर्थों की सत्यता सुनिश्चित हो जाती है। इसके साथ ही ये मन्त्र आगे उसे भी बता रहे हैं, जिसे आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं खोज सका है।

॥ एक सौ दसवें तन्त्र के अणु (Atom) की संरचना का चित्र ॥
 सृष्टिवेद के -

विश्वे देवा सूक्त के अनुसार सब से बड़े अणु का Electrons सहित पूर्ण चित्र इसकी सटीक संख्या 118 तथा परमाणु भार मन्त्रों के अनुसार एक अणु (Atom) में अधिकतम (Maximum) 269 पदार्थ 'न' गणों (Blocks of Neutrons), 'चिक' गणों (Blocks of Protons) में 300 शंकुओं के रूप में बताया है, जिनमें 60 चलाचल अवस्था में स्थित हैं। पञ्चप्राणीमयी (Matter waves) का अदितिका 'अश्न' भाग 'पलित' के अध्यात्म भाग में स्थित - विष्णु, सवि, ब्रह्मा, तथा महेश्वर गणों को दिखाया गया है।

चित्र = 26



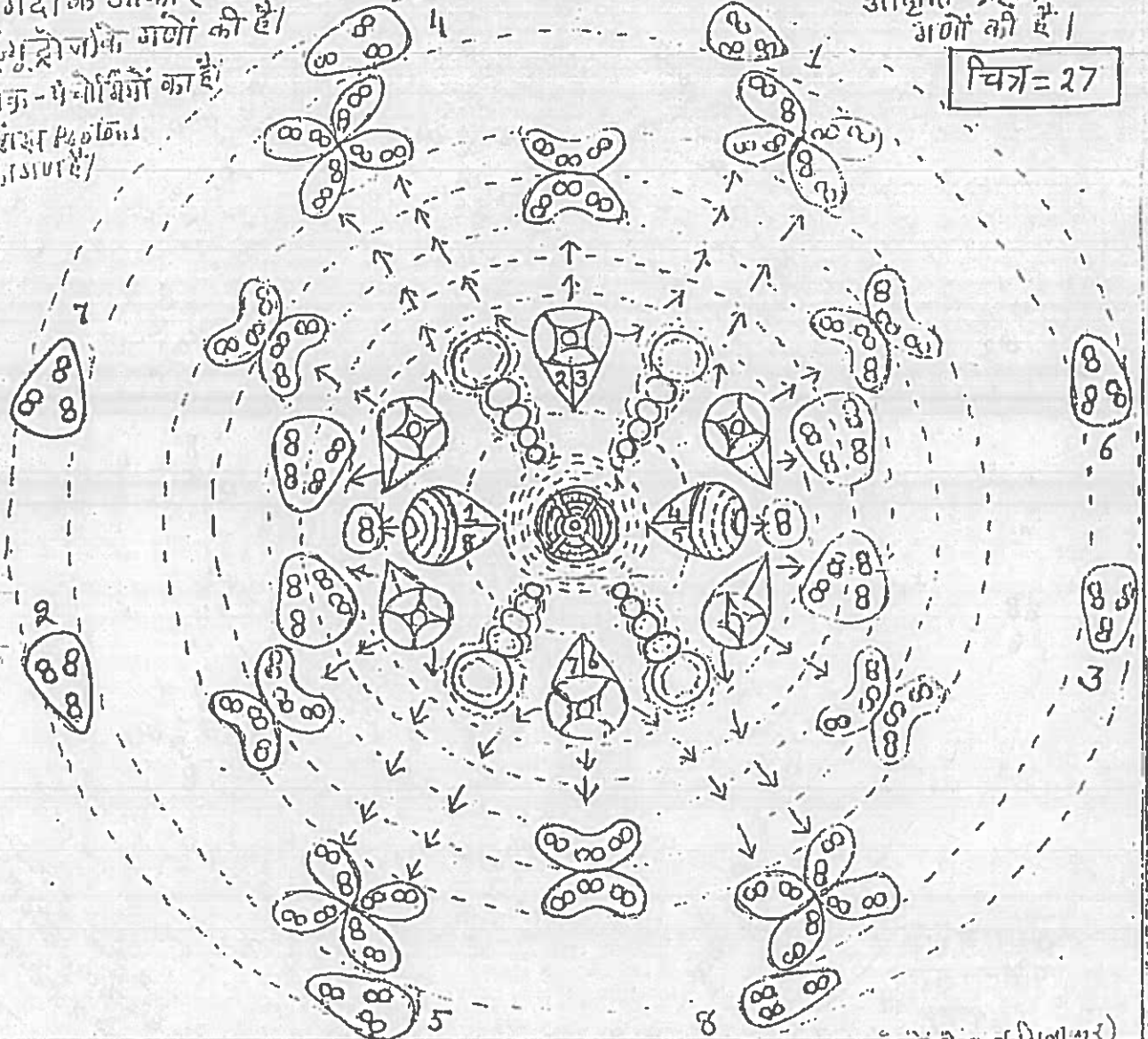
कौन सा $Electron$ किस $Proton$ के साथ आवद्धित है ?
 लिख बनाम बना चिह्न $[[$ कौन सा $Electron$ किस $Proton$ के साथ आवद्धित है ? $]]$

एक अणु (Atom) में संभावित अधिकतम $Electrons$ की संख्या को बताने वाला यह चित्र है।
 इस चित्र में $Shells$ की रचना, प्रत्येक $Shell$ में अधिकतम $Electrons$ की संख्या को,
 विभिन्न $Shells$ में बने $sub-shells$ को, विभिन्न $Shells$ में बने $Orbitals$ की
 आकृतियों को - तथा उन आकृतियों का बनने का सम्बन्ध $Protons$ (चिक) के
 आकार गणों के सम्बन्धित अंकों के साथ दर्शाया गया है।
 एक $Electron$ के चित्र को उसकी दिशा दिखाने के लिये ∞ आकृति से दिखाया है।

गदा के आकार की आकृति (न) लगे
 (प्रोटोन) के गणों की है।
 चक्र-प्रोटोनियों का है।
 शेष $Protons$
 का $1/2$ है।

केन्द्र में यदुग के आकार की
 आकृति ब्रह्मा, शिव
 गणों की है।

चित्र = 27



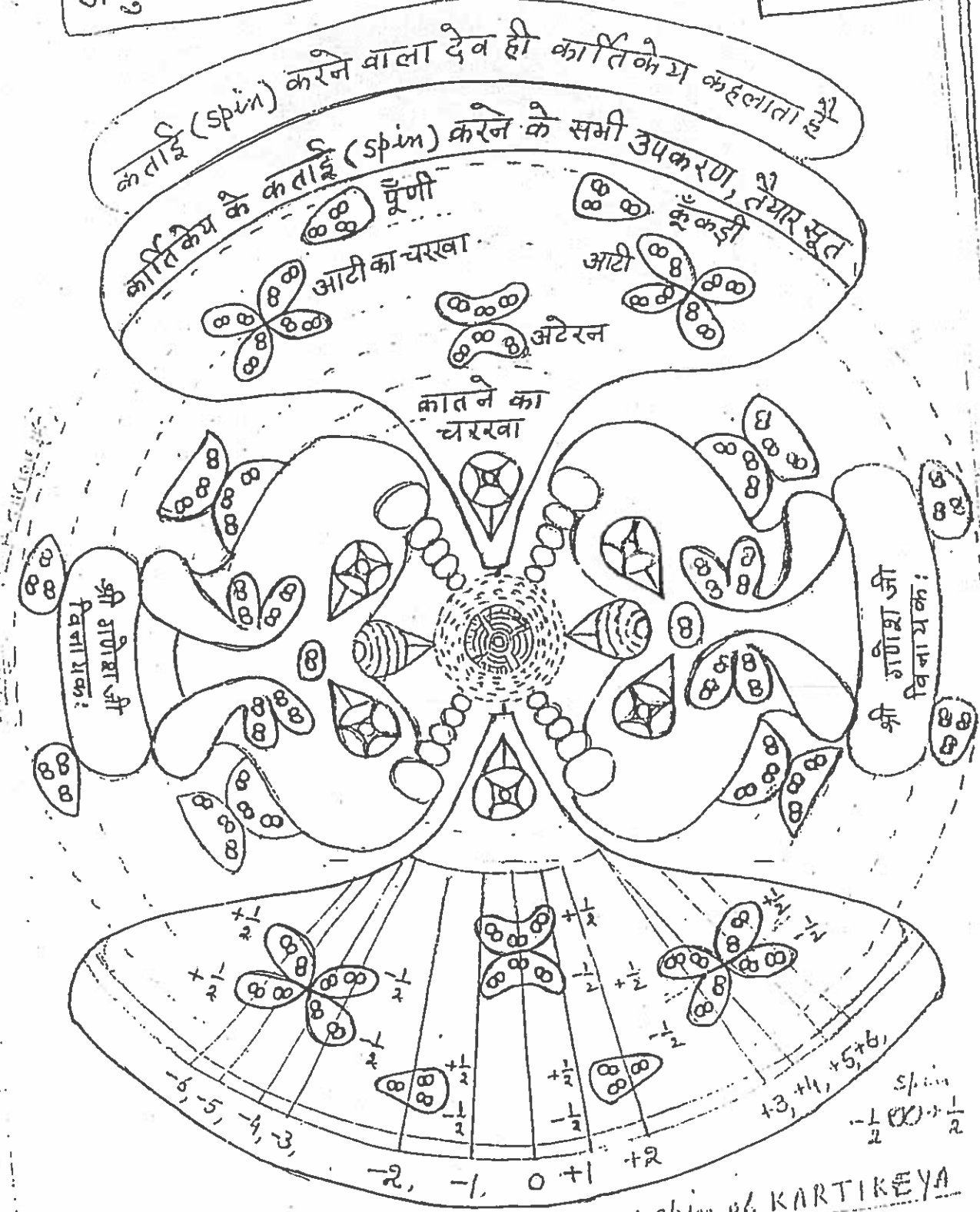
एक अणु (Atom) में अधिकतम $Electrons$ की संख्या = $2 + 8 + 8 + 18 + 18 + 32 + 50 = 110$ है।
 अतः कुल तत्वों (Elements) की संख्या 110 बनती है। 107 तत्व हैं।
 और बाकी 3 तत्व हैं। बाह्यतम $Shell$ के $Orbitals$ का सम्बन्ध $Protons$
 के आकार गणों के सम्बन्धित अंकों के साथ 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 अंकों से दिखाया है। शेष 3
 → (गीर का चिह्न) प्रयोग में ला कर सम्बन्ध दिखवाया जाता है। अन्तिम दो तत्व कण
 उदात्त (Radiation) के रूप में रहते हैं। इस प्रकार कुल संख्या 112 बनती है। अतः कुल प्रोटोन 112 हैं।
 यहाँ 188 प्रोटोन हैं, जिनमें 60 चलचल अवस्था में हैं।

तत्र पाताल जलधौ

विनायकाः प्रोक्तवसान्त

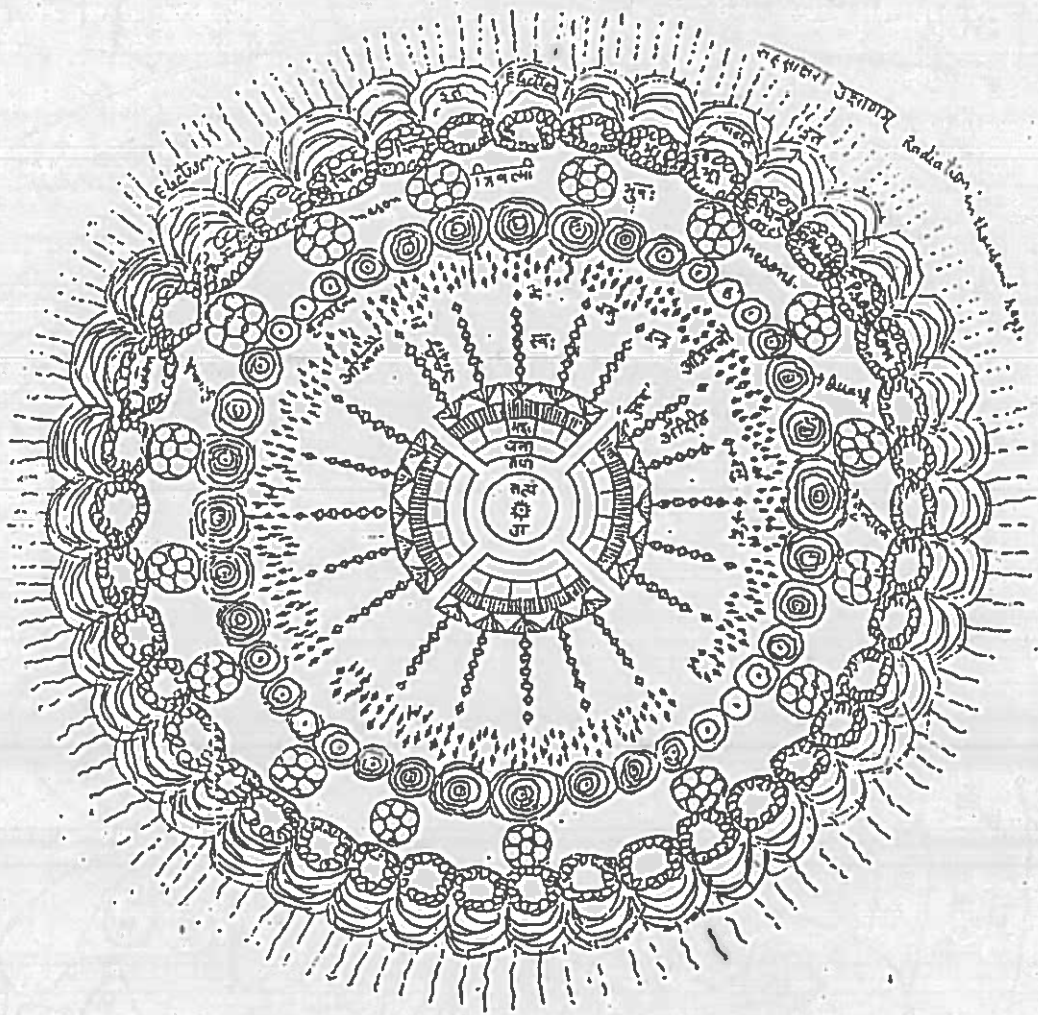
अणु (Atom) की रचना में गणेश और कार्तिकेय → दो गण

चित्र-28



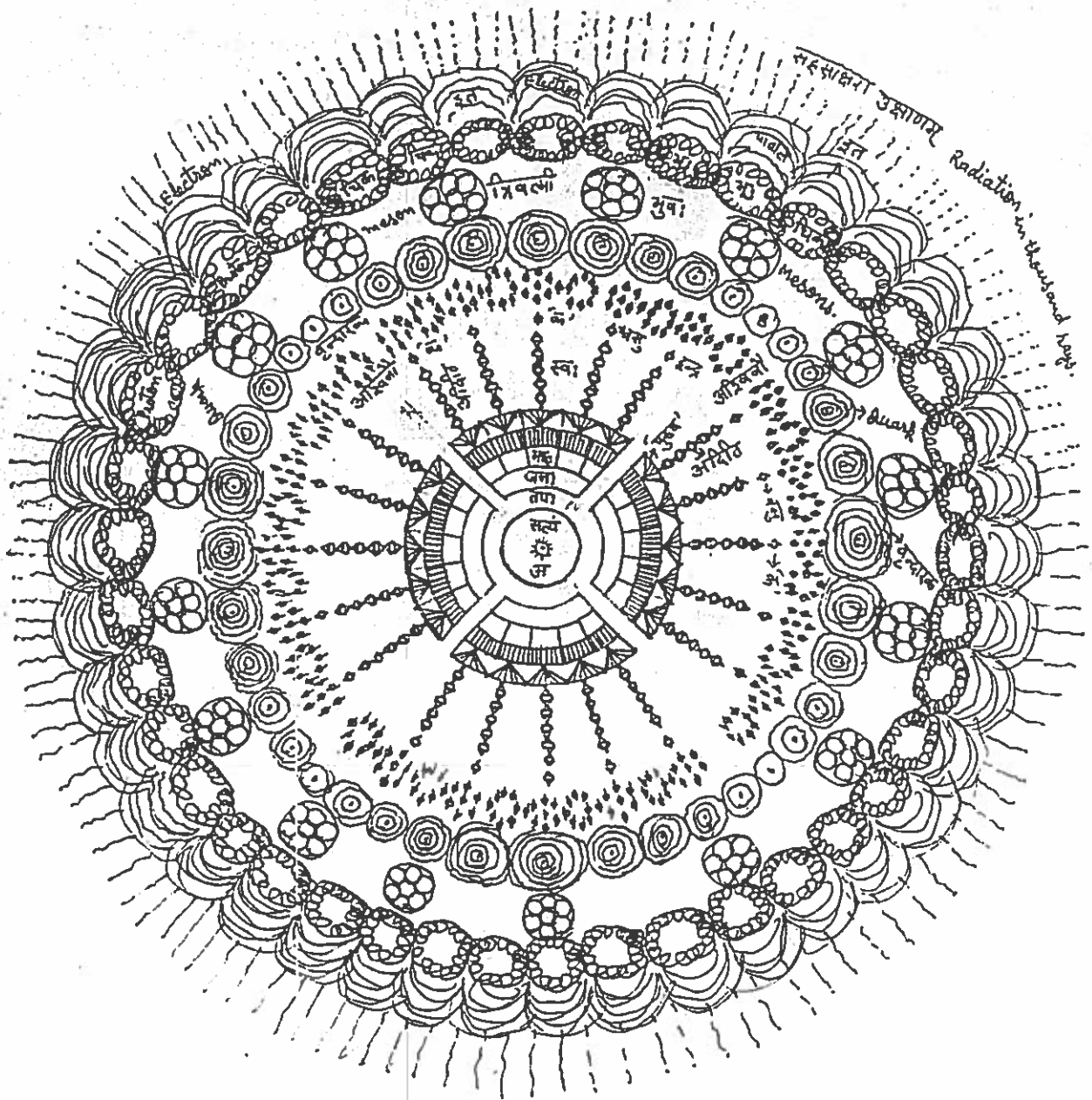
m quantum numbers of spin of KARTIKEYA
(कार्तिकेय के कताई के अंक)

॥ सब सो दसनें तच्च के अणु (Atom) की रचना में गणेश, कार्तिकेय ॥



उत् हाइड्रोजन के एक अणु (Atom) में एक 'प्रोटॉन' (Proton) तथा एक 'इलेक्ट्रॉन' (Electron) है। इसमें 'न्यूट्रॉन' (Neutron) नहीं बन पाता।

हाइड्रोजन के एक अणु (Atom) का रेखा चित्र



इस हाइड्रोजन के एक अणु (Atom) में एक 'प्रोटॉन' (Proton) तथा एक 'इलेक्ट्रॉन' (Electron) है। इसमें 'न्यूट्रॉन' (Neutron) नहीं ब्रज पाता।

एक अणु में 'न' कण (Neutron) किसी रासायनिक क्रिया को प्रकट नहीं करता है। यह निष्क्रिय होता है। जब यह 'न' कण कैंक मार कर 'इत्' कण (Electron) की ऊर्जा को बाहर निक्काल देता है तो शेष बचा रूप 'चिक्' कण का रह जाता है। उस समय 'इत्' कण और 'चिक्' कण दोनों सक्रिय रूप से कार्य करते हैं। 'चिक्' कण अपने सम्बन्धित 'इत्' कण को निरन्तर ऊर्जा प्रदान करता रहता है और अपने साथ उसे बाँध कर रखता है। वह ऊर्जा को प्राप्त करने वाला 'इत्' कण अपने रासायनिक गुणों के अनुसार कार्य करता है और दूसरे किसी अणु के 'इत्' कण के साथ आबन्ध बना कर उसे अपने साथ चिपका कर अणुओं का योग (Molecule) बना देता है। इसी को रासायनिक आबन्ध का योग (Molecule made by chemical bond) कहते हैं। इस प्रकार 'चिक्' कण (Proton) और उस से सम्बन्धित 'इत्' कण दोनों का रासायनिक योग की प्रक्रिया में सम्बन्ध बना रहता है। 'चिक्' कण (Proton) नाभि में भी 'पाश' रचना का कार्य करता है। इससे नाभि एक 'पाश' में बाँध कर अपना अलग से एक इकाई का रूप धारण कर लेती है। 'जेम' के मू: लोह का पाश 'न' कणों और 'चिक्' कणों की आबन्धन क्रिया द्वारा होता है। इस आबन्धन क्रिया में एक 'चिक्' कण दूसरे 'चिक्' कण के साथ चिपक कर और एक 'न' कण दूसरे 'न' कण के साथ चिपक कर तथा एक 'न' कण के साथ उसके साथ का 'चिक्' कण चिपक कर जेम का पाश बनते हैं।

आधुनिक विज्ञान में इन पाशों को N-N (Neutron to neutron), p-p (Proton to proton) तथा N-p (Neutron to Proton) का पाश बता कर वर्णित किया गया है। नाभि के अन्दर के अवयवों का जो पाश बनता है, उसे अणु (Atom) का आन्तरिक आबन्ध कहा जाता है तथा जो एक अणु (Atom) का दूसरे अणु (Atom) के साथ पाश बन कर योग बनता है, उसे अणु का बाह्य आबन्ध कहा जाता है। ये बाह्य आबन्ध भी दो प्रकार के होते हैं। (1) विनिवर्तन आबन्ध (Electro-valent bond) और (2) समैत्य आबन्ध (covalent bond)। तीसरा आबन्ध एक योग का दूसरे योग के साथ होता है। उसे अष्टक-आबन्ध कहते हैं। इन योगों को बताने वाला मन्त्र इस उपनिषद् में आगे दिया गया है। वहाँ इसकी पूर्ण व्याख्या कर दी जायेगी। मन्त्र इस प्रकार है —

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समैत्य योगम् ।

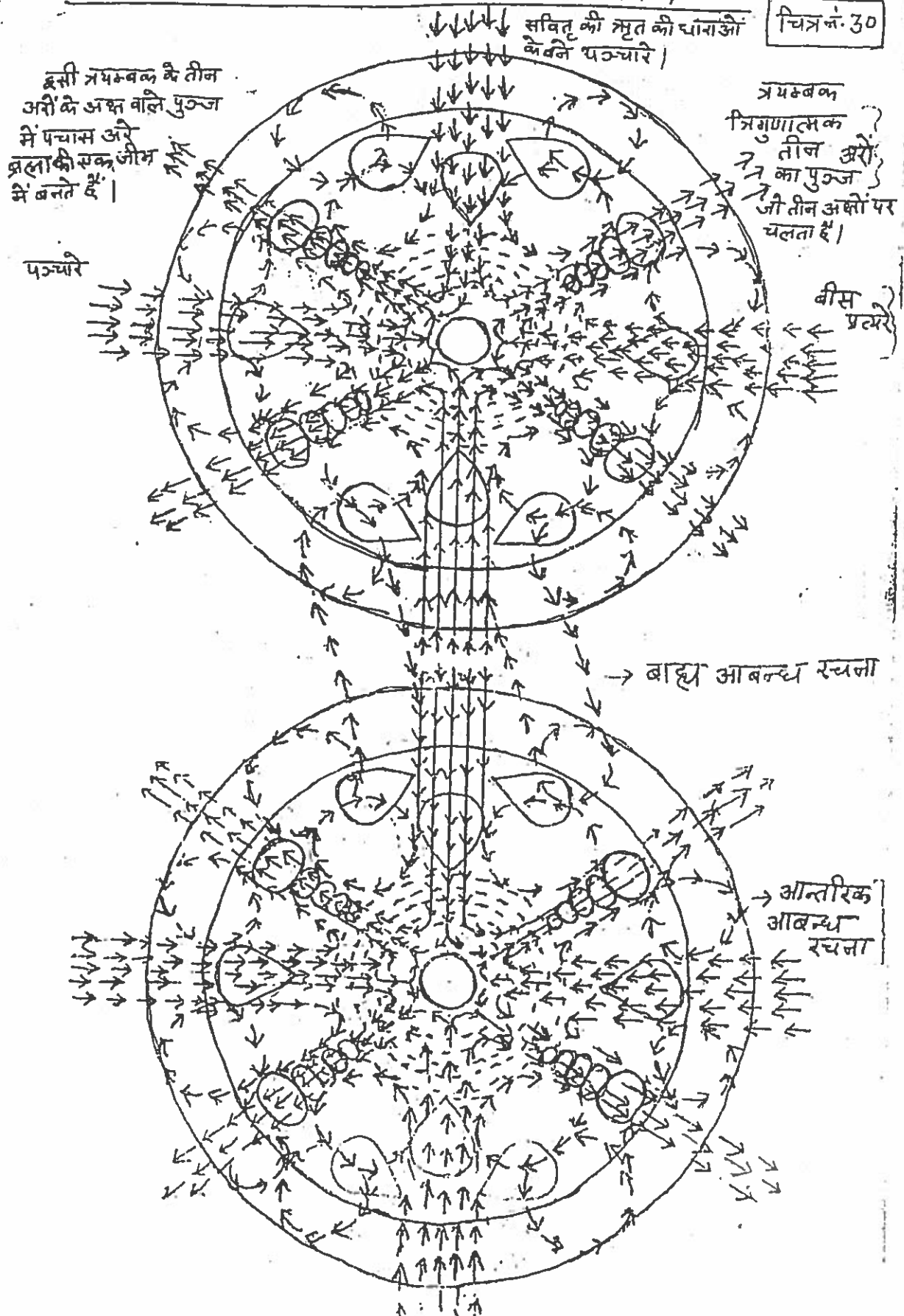
एकैव द्वाभ्याम् त्रिभिरष्टाभिर्वी कालेन चैवात्म गुणैश्च सूक्ष्मैः ॥

पीछे पृष्ठ (86) पर Long periodic Table में भी यह मन्त्र लिखा हुआ है।

दो अणुओं में आन्तरिक आबन्ध बनाने वाली बल की संचरण प्रक्रिया को तथा बाह्य आबन्ध बनाने वाली संचरण प्रक्रिया को आगे पृष्ठ (106) पर चित्र द्वारा प्रकट किया हुआ है। जब तक आन्तरिक आबन्ध और बाह्य-आबन्ध बनाने वाले बलों का तारतम्य सम्यक् रूप से नहीं बन जाता, तब तक

Internal and External bond making by the atoms

“सञ्चरः प्रतिसञ्चरः” क्रिया द्वारा सवितृ की श्रुत की धाराओं के बने बीस प्रत्यरों और द्वाः अष्टकों द्वारा आन्तरिक तथा बाह्य आबन्ध रचना का याश. (Bond) का चित्र ।



(101)

योगों को बनाने वाली बाह्य आबन्ध की रचना नहीं हो पाती / इसी कारण कहीं पर रासायनिक योग नहीं बन पाते, केवल दो तत्वों का मिश्रण (mixture) ही बन पाता है।

जहाँ तक बाह्य आबन्धों का प्रश्न है, उसका सम्बन्ध नेमि के अन्दर स्थित उन बारह गह्वरों से है, जहाँ से नाभि की नेमि ऊर्जा को प्रक्षेपित करके अपने सामने स्थित 'इत्' कणों का उस ऊर्जा द्वारा पौषण करके उन्हें एक उप-आवर्त के चक्र में ग्राहित करती है। पञ्चावर्तों के चित्र में पृष्ठ (41) पर नीचलेतावर्त में उर्जा के बारह चैरे बने हुए हैं। उन्हीं चैरों के बल द्वारा नेमि बारह स्थानों पर से अपने अन्दर से ऊर्जा का प्रक्षेपण करती है, जिससे 'इत्' कणों का पौषण होता है और उन 'इत्' कणों में स्थित सूर्यचक्रुः के पुञ्जों का एक उप-आवर्त बन जाता है। वही उप-आवर्त एक 'इत्' कण का रूप ले लेता है। नेमि में स्थित 'चिक्' कणों के गणों (Blebs of Protons) के मध्य स्थित इन बारह गह्वरों को पृष्ठ (112) पर बने चित्र में स्पष्ट करके दिखाया गया है। इन बारह चैरों को बताने वाला मन्त्र ऋग्वेद में इस प्रकार दिया है—

द्वादशारं नृहि तज्जराय वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।

आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्चतस्रः ।

(ऋग्वेद-1, 164, 11)

इस मन्त्र का पद-पाठ और उन पदों के अर्थ निम्न प्रकार बजते हैं—

द्वादश S अरम् = बारह अरों वाला / जिस आवर्त में ऊर्जा के बाहर की ओर प्रक्षेपण से ऋत के बारह अर बन गये हैं।
(अर - wheel में लगे हुए spokes को कहते हैं)

नृहि = नहीं।

तत् = वह।

जराय = जीर्ण होने के लिए।

वर्ति = बारम्बार घूमता है। अर्थात् जिन बारह चैरों से ऊर्जा बाहर निकली जा रही है और बारह अरों की रचना की जा रही है, उन की ऊर्जा कभी भी क्षीण नहीं होती। निरन्तर समान ऊर्जा के बल द्वारा उन का प्रक्षेपण होता रहता है।

चक्रम् = चक्र

परि-द्याम् = नाभि की नेमि के द्यौ के चारों ओर। द्यौ में बने नाभि के पञ्चावर्त के बाहर की ओर सभी ओर।

ऋतस्य = ऋत के । अर्थात् द्यौ में जो पञ्चावर्त बनता है, वह ऋत के बने पाँच प्रकार के आवर्तों का एक ग्राहित रूप होता है और उसके बाहर के जचिचैतावर्त में उस आवर्त के सभी ओर द्यौ में ऋत के बने बारह उप-आवर्त (घेरे) बने होते हैं जो निरन्तर ऋत के बाहर की ओर प्रक्षेपित करते हुए उस पञ्चावर्त में बारह अरे-चक्र बना देते हैं । ये अरे ऋत के ही बने होते हैं । इन अरों में प्रक्षेपण का बल निरन्तर समान ही बना रहता है, वह कभी भी क्षीण नहीं होता ।

आ पुत्राः = 'अ' का आवर्धित दीर्घ रूप 'आ' है । 'अ' का अर्थ विष्णु है, उसका आवर्धित रूप विष्णु का 'रैत' है, जो सप्त-अर्द्ध गभी है । उस विष्णु के रैत से उत्पन्न हुए ये पुत्र होते हैं जो ऋत के बने बारह चक्रों से अरे के रूप में निकलते हैं ।

अग्ने = अग्नि के रूप में । 'अग्निष्वात्ताः' वृन्दारकों (Quarks) को कहा गया है । अग्नि के खाने वाले, अग्नि से उत्पन्न, अग्नि के पुत्र यहाँ वृन्दारकों को कहा है ।

मिथुनासः = जोड़े में रहने वाले । $+\frac{1}{2} \text{ spin}$ तथा $-\frac{1}{2} \text{ spin}$ के जोड़े में रहने वाले ।

अत्र = यहाँ । इन बारह अरे-चक्रों में से एक अरे-चक्र में यहाँ ।

सप्त शतानि विंशतिः च = सात सौ बीस ।

तस्थुः = अच्छी तरह स्थित हैं ।

अर्थात् एक अरे-चक्र में से निकलने वाले यहाँ जोड़े में रहने वाले सात सौ बीस वृन्दारक (Quarks) अच्छी तरह रहते हैं । अर्थात् एक 'इत्' कण (Electron) में सात सौ बीस वृन्दारक रहते हैं । 'इत्' कण की गति में ये ही सात सौ बीस वृन्दारक सिमटते और विरवरते हुए अणु की नाभ के चारों ओर गति करते रहते हैं ।

इन्हीं बारह अरे-चक्रों को प्रथयः (घेरे) के रूप में बताने वाला दूसरा मन्त्र ऋग्वेद में इस प्रकार दिया है —

द्वादश प्रथयश्चक्रमेकं त्रीणानभ्यानि च तच्चिचैत ।

तस्मिन्त्साकं त्रिशतान् शङ्कुवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥

इस मन्त्र का पद पाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनता है —

द्वादश = बारह

प्रदध्यः = द्यौरे

चक्रम् = चक्र

रुक्मम् = रुक्म | अर्थात् पञ्चावर्त का द्यौ में बना हुआ ऋत का रुक्म चक्र है। उसके नीचैतावर्त के रुक्म चक्र में ऋत के चक्र के बने बारह द्यौरे हैं।

त्रीणि = तीन

जम्यानि = जामि के अवयव | जामि के तीन चक्र, पीलत, अश्न तथा धृतपृष्ठ नाम के तीन अवयव हैं।

कः = 'क' कण है। इन्द्र है। जामि में स्थूल अर्थ की रचना का प्रथम कण 'क' कण है।

कुम् = रुद्र या शिव अर्थात् महेश की ऊर्जा के द्वारा बने पुरुष के सहस्र बीर्वा में बने ईशान के और हैं, सहस्र-पाद के रूप में ईशान-पाद और दशांगुल रूप में बने ईशानी के अश्व हैं जो महिजातं रूप में आकर दश-मौलिक अर्थों की रचना करते हैं। रुद्र की ऊर्जा के बल को 'उ' कहा जाता है।

तत् = ये पुरुष रूप में बने रुद्र की ऊर्जा के और उस असद्व-ब्रह्म के बने होते हैं। तत्-शब्द यहाँ ब्रह्म का द्यौतक है।

चिच्छित् = चिक् + इत् | चिक् और इत् | जानता है, देखता है।

साक्मम् = साध-साध | उसमें 'चिक्' (Prakṣ) और 'इत्' (Electron) साध-साध जुड़े रहते हैं।

त्रिऽशताः = तीन सौ

न = 'न' कण (Neutron) अथवा- की तरह।

शङ्कुः = शंकु (Cone)

अर्पिताः = स्थापन किये हुए। लगे हुए हैं। अर्थात् रुक्म अणु (Atom) की जामि में अधिकतम संख्या में तीन सौ 'न' कण लगे होते हैं, जिन से 'चिक्' कण भी बन जाते हैं और शेष बचे 'न'।

कण भी रह जाते हैं।

प्रष्टिः = साठ

न = 'न' कण (Neutron)

चलाचलासः = ढीले हैं जो चलाचल अवस्था में रहते हैं।

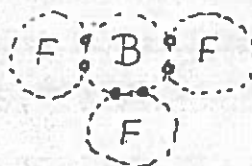
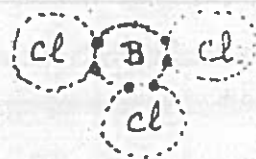
अर्थात् एक सबसे बड़े अणु (Atom) जिसका Atomic Number 110 है उसका Atomic Mass 240 से लेकर 300 तक की चलाचल अवस्था में रहता है। उसका Atomic Mass बढ़ना जा सकता है। इन चिक्क कणों की आवृत्ति जो इत्कणों के साथ रहते हैं, शंकु की सी आवृत्ति बताई है। चलाचल अवस्था वह अवस्था है, जिस अवस्था में 'न' कण कभी नाभि में से निष्कल जाते हैं और कभी नाभि में स्थिर रह जाते हैं। इस कारण इन अणुओं की नाभि Radio-active बनी रहती है तथा उनमें आइसोटोप्स भी बन जाते हैं। आइसोबार भी इन्हीं के द्वारा बनते हैं।

'चिक्क' कणों के जो गण नाभि में शंकु के आकार में दिखाये गये हैं, उनमें लगे 'चिक्क' कण भी शंकु की आवृत्ति के होते हैं और 'न' कणों के गदा के आकार के गण में लगे 'न' कण भी शंकु की आवृत्ति के होते हैं।

इन बारह अरे-चक्रों के सामने नाभि के बाहर 'इत्' कण स्थापित होकर इन अरे-चक्रों द्वारा ऋतु के प्रक्षेपण की ऊर्जा से एक अणु (Atom) के 'इत्' कण दूसरे अणु के 'इत्' कणों के साथ विनिवर्तन आवन्ध या समेत्य आवन्ध बना कर एक यौग (Molecule) की रचना कर देते हैं। इन बारह चक्रों द्वारा यौग (Molecule) बनने पर भी साम्य अवस्था यौग के अन्दर युगल (pair-सिधुन) के अन्दर ही आती है। एक यौग में दो या छः या आठ या दश या बारह 'इत्' कण इन अरे चक्रों के सामने स्थित होकर यौग की स्थायी रूप प्रदान करते हैं। चार अरे चक्रों के सामने चार 'इत्' कणों से कभी भी साम्य अवस्था नहीं बनती।

दो अरे चक्रों में जैसे $H-H = H_2 \Rightarrow \textcircled{H:H}$ में साम्य अवस्था बनती है।

छः अरे-चक्रों में BCl_3 और BF_3 में साम्य अवस्था बनती है। इन में

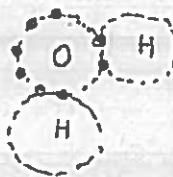


इस प्रकार साम्य अवस्था

चित्र=3।

बनती है।

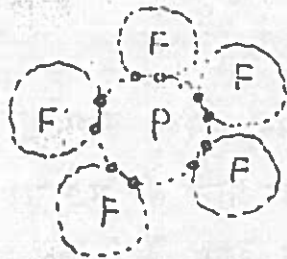
आठ अरे-चक्रों में सामान्य रूप से अधिकतम योगों की प्रक्रिया में साम्य अवस्था आजाती है। इसका कारण यह है कि आठ अरे-चक्र नाभिकों की परिक्षि में स्थित हैं और शेष चार अरे-चक्र नाभिकों के अन्दर की ओर घृतपृष्ठ के अन्तरिक्ष पक्ष केन्द्र की ओर स्थित हैं। अर्थात् पृष्ठ (112) पर नाभिकों में बने इन अरे-चक्रों की स्थिति को देखें। अधिकतर योग इन परिक्षि पर बने आठ अरे-चक्रों के कारण ही साम्य अवस्था प्राप्त करते हैं। इसी कारण आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों ने octate का rule बना कर इन योगों की प्रक्रिया को व्याख्या करने का प्रयास किया है। जैसे कि $2H + O = H_2O$ में होता है।



H_2O में इस प्रकार साम्य अवस्था

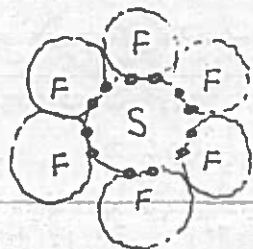
बनती है।

दस अरे-चक्रों में जैसे PF_5 में साम्य अवस्था आती है। PF_5 में



इस प्रकार साम्यता आती है।

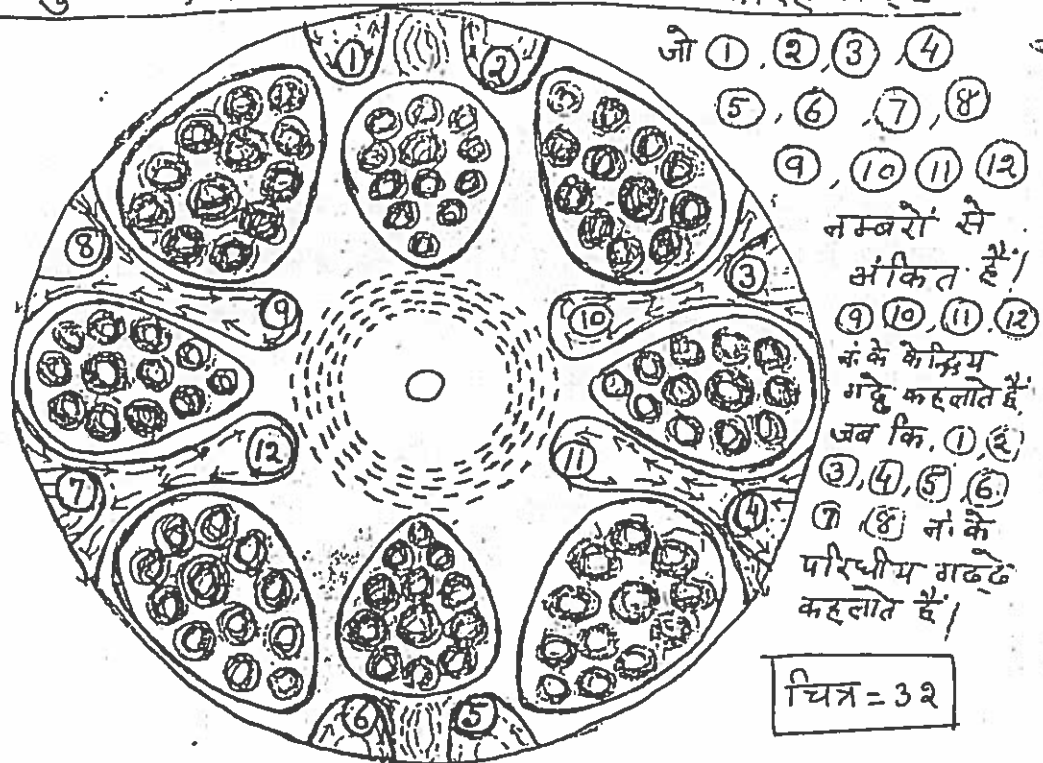
बारह अरे-चक्रों में जैसे SF_6 में साम्यता आती है। SF_6 में



इस प्रकार साम्यता आती है।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान का octate rule यहाँ फैल होता स्पष्ट दिखाई दे रहा है, परन्तु वैदिक विज्ञान का बारह अरे-चक्रों का सिद्धान्त यहाँ पूर्णतः खरा उतरता दिखाई पड़ रहा है। SF_6 में बारह अरे-चक्रों के बने की पुष्टि स्पष्ट रूप से यहाँ साक्षात् प्रमाणित हो रही है।

एक अणु में पदार्थ की मात्रा के कम दबाव के बारह गड्ढे 5



एक अणु में बारह गड्ढे जिन में कम दबाव पदार्थ की मात्रा का होता है।
अतः उन में कलिल, आवर्तों का आवागमन दूसरे अणु से हो जाता है।
जिसे आधुनिक वैज्ञानिक *Electrovalent bond* कहते हैं। कभी
यह *covalent bond* भी बन जाता है। चित्र में बारह गड्ढे
① ② ③ ④ ⑤ ⑥ ⑦ ⑧ नं. तक तो परिधि में दिखाये गये हैं।
परन्तु ⑨ ⑩ ⑪ ⑫ नं. के चार गड्ढे अन्तः लोक में स्थित हैं।
इन की पकड़ सर्वाधिक होती है। हीरे में अणुओं से क्रिस्टल इन्हीं
चार गड्ढों के बन्धन से होता है। अष्टकों की दिशा समायोजन
के आधार पर क्रिस्टल बनता है। अधिकतर अणुओं का
बन्धन परिधि के आठ गड्ढों के कारण ही हो जाते हैं।
अतः अष्टक नियम (*Octate rule*) अधिक प्रचलित है।
जहाँ अष्टक नियम (*Octate rule*) नहीं लगता वह अन्दर
के चार गड्ढों ⑨ ⑩ ⑪ ⑫ नं. के कारण होता है।
कभी-कभी {①, ②}, {⑤, ⑥} युग्म गड्ढों में अन्तर कम
होने के कारण उन का एक-एक गड्ढा बन जाता है।
वहाँ छः इलेक्ट्रॉनों के परिधि में समायोजन से ही *outer
orbital में bond* (आबन्ध) बन कर युग्म स्थायी (*stable*)
हो जाता है। वहाँ *Octate* नहीं बनता। जैसे BCl_3 , BF_3 में
होता है। यहाँ 6 इलेक्ट्रॉनों से आबन्ध *stable* हो जाता है। PF_5 में
दस और SF_6 में पूरे बारह गड्ढे सक्रिय होते हैं।

जिस प्रकार एक तत्व के अणुओं में दूसरे असमान तत्व के अणुओं के साथ आबन्धन होकर योग बनता है, उसी प्रकार एक ही तत्व के समान अणुओं में भी योग बनता है। ऐसा नहीं होता कि अमुक दो या तीन अणुओं के आबन्धन का सिद्धान्त एक प्रकार से है तो अमुक दो या तीन अलग प्रकार के अणुओं का आबन्धन दूसरे प्रकार से होगा। विज्ञान के सिद्धान्त सदैव सबके लिए एक जैसे होते हैं। आधुनिक विज्ञान के ज़माने में स्थित इन बारह अरे-चक्रों को नहीं जानते। अतः वे SF_6 में और PF_5 में भी खरदस्ती अनूचित तरीके से अपना Octate का rule फिट करने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास गलत है।

पृष्ठ (112) पर बने चित्र से ज़ीम के अन्दर बने वाले चिह्न ऋणों के शंखाकार गणों के आन्तरिक आबन्धन की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो जाती है। ज़ीम में चार 'चिह्न' ऋणों के गण तो केन्द्र पर लम्ब रूप में स्थित हैं और चार गण तिरछे होकर स्थित हैं। इन चार लम्ब रूप के गणों में रज्जु गति (व्यपन गति) इस प्रकार होती है कि आगे सामने स्थित दो गण जब अन्दर की ओर केन्द्र की ओर गति करते हैं तो दूसरे दो गण बाहर की ओर गति करते हैं। इस प्रकार उनमें क्रमवार गति होती रहती है। इस गति के कारण शेष बचे चार तिरछे गण इस प्रकार व्यवस्थित हो जाते हैं कि उनकी पूँछ ऊपर की ओर उठकर और बाहर एक ओर क्षैतिज दिशा में मुड़ कर थोड़ा नीचे की ओर झुक जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था से नीचे दबे हुए गण के शिर के ऊपर के उसके अगल-बगल के दोनों ओर के दो गणों की पूँछ आ जाती है तथा उनके शिर उन दो गणों की पूँछ के पास आ जाते हैं जो थोड़ा बाहर की ओर उभरे होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था से प्रत्येक शंखाकार गण का चनात्मक शिरा दूसरे शंखाकार गण के शृणात्मक शिर के पास आ जाता है। इस से उनमें आकर्षण बल उत्पन्न हो जाता है। इस शंखाकार गण के शिर पर उच्च विभव और पूँछ पर निम्न विभव आवेश का होता है। इस विभवान्तर से उनमें आवेश का बल उत्पन्न होकर current चालू हो जाता है। इस से चिह्न ऋणों के गण भी एक पाश में बंधे रहते हैं और सभी गण आपस में भी आबन्धित होकर ज़ीम को एक पाश में बंधे रखते हैं। ज़ीम को एक पाश में बंधाने की प्रक्रिया केवल चिह्न ऋणों के गण ही करते हैं। 'न' ऋण निष्क्रिय (Neutral) होने के कारण पाश की रचना का कार्य नहीं कर सकते। 'न' ऋणों के गणों के माध्यम से बीस प्रत्येकों के सञ्चरण का मार्ग भी चार दिशाओं में बन जाता है। पृष्ठ (106) पर बने चित्र में बीस प्रत्येक $(5 \times 4 = 20)$ स्पष्ट दिखाये गये हैं। 'न' ऋणों के एक गण में से पॉन्च प्रत्येक गुजर कर जाते हैं। चार गणों में से बीस प्रत्येक ज़ीम में

'ज' कणों के गणों में से इन प्रत्यरों की गति होने के कारण ही एक 'ज' कण नाभि में टक्कर मार कर सुगमता पूर्वक उस नाभि को विस्फोटित करने में सफल हो जाता है। इन प्रत्यरों के बल के साथ वह सुगमता पूर्वक नाभि के 'ज' कणों के गणों में घुस जाता है और उन्हें उद्वेलित करके उनमें विस्फोट कर देता है। नाभि के जिस भाग की ओर 'ज' कण के गण में विस्फोट होता है, उधर के भाग की ओर के ही तीन चिक कणों के गण विखण्डित होकर उस अणु को तीन भागों में बंट देते हैं। तीनों भागों से एक-एक 'ज' कण उस समय उस विस्फोट से बाहर निकलता है और अन्य तीन अणुओं की नाभि से टक्कर कर उनमें भी उसी प्रकार का विस्फोट कर देता है। इस प्रकार शृंखला बद्ध विस्फोटों का क्रम चालू हो जाता है और एक बड़े शक्तिशाली अणुबम का विस्फोट हो जाता है।

नाभि में चिक कणों के गणों की पृष्ठ 112 पर बने चित्र के अनुसार व्यवस्थित होने पर ही रासायनिक आबन्धों की योगों के अन्दर साम्य अवस्था का रूप परिधि में दो, छः, आठ, दस और बारह के क्रम का बनता है। जैसा कि पृष्ठ 110 तथा 111 पर दिखाया गया है। पृष्ठ 112 के चित्र में नाभि की परिधि में ①, ②, ③, ④, ⑤, ⑥, ⑦, ⑧ नम्बरों से जो अरे-चक्र दिखाये हैं, जब वे सामान्य रूप से कार्य करते हैं और ये सभी मुख्य समान रूप से खुले होते हैं तो Octate rule कार्य करता है। जब ①, ② तथा ⑤, ⑥ के गहर सुकड़ कर एक ही अरे-चक्र की रचना करने लगते हैं तो केवल छः ही अरे-चक्रों से योग में साम्य अवस्था आती है। जैसा कि Bcl_3 में होता है।

जब सभी गहर अत्यधिक रूप में संकुचित होते हैं तो ①, ② का और ⑤, ⑥ का मिल कर एक-एक गहर बन जाता है। उनसे केवल दो अरे-चक्र बनते हैं। शेष सभी गहरों का मुँह बन्द हो जाता है और उनसे कोई अरे-चक्र नहीं बनता। उस अवस्था में योग में केवल दो अरे-चक्रों से ही साम्य अवस्था योग में आती है। जैसा कि $H-H = H_2$ में होता है। हीलियम की नाभि में भी यही व्यवस्था होने पर उसका एक अणु स्वयं ही साम्य अवस्था में रहता है।

जब परिधि के आठों गहर सामान्य रूप से खुले होते हैं और ③ और ④ कुछ अधिक खुल जाते हैं तो केन्द्रिय गहर ⑩, ⑪ भी सक्रिय होकर अपने अरे-चक्रों का निर्माण कर देते हैं। उस अवस्था में PF_5 जैसे योग में दस अरे-चक्रों से साम्य अवस्था आती है।

जब सभी गहर सामान्य रूप से नाभि में खुले होते हैं और ③, ④ तथा ⑦, ⑧ गहर कुछ अधिक खुल जाते हैं तो सभी बारह गहर सक्रिय

(115)

हो कर बारह और चक्रों का योग SF_6 जैसा बना देते हैं।

जब ③, ⑩ और ④, ⑪, और ⑧, ⑨ तथा ⑦, ⑫ गह्वरों के अरे चक्रों का स्वरूप रुक-रुक और चक्र में ही समाहित हो जाता है तो उस समय केन्द्रिय चार गह्वरों ⑨, ⑩, ⑪, ⑬ के अरे चक्रों की प्रक्षेपित ऊर्जा आबन्ध बनाने में सक्रिय हो जाती है। उन का आबन्धन का पाश सर्वाधिक बलशाली होता है। हीरे के अन्दर कार्बन के अणु इन केन्द्रिय गह्वरों के अरे चक्रों के द्वारा ही आबन्धित होते हैं। इसी कारण हीरे की कड़ी सर्वाधिक कठोर होती है। हीरे के अन्दर बने वाले कार्बन के अणुओं में इतकणों के चक्र बनने की प्रक्रिया पृष्ठ ⑪६ पर बने चित्र में दर्शायी गई है। उसे देखें।

जब कार्बन के अणुओं का आबन्ध नाभ के केन्द्रिय गह्वरों के अरे चक्रों के साथ बनने के समान पर परिधि के गह्वरों के अरे चक्रों द्वारा बनने लगता है तो उन योगों के पाश की आबन्धन शक्ति बहुत क्षीण हो कर बहुत कम रह जाती है। साथ में उस दशा में कार्बन के चार इतकणों में से *outer orbit* के केवल तीन इतकण ही अपने अरे चक्र बना पाते हैं। सब इतकण स्वतन्त्र रह कर उन योगों की विद्युत का सुचालक बना देता है। यह योग ग्रेफाइट का होता है। इसमें योगों की आबन्धन शक्ति क्षीण होने के कारण यह ग्रेफाइट चिबना और परतदार होता है। सब अणु दूसरे अणु के साथ से तथा सब योगों की परत दूसरे योगों की परत के ऊपर से सुगमता से फिसल जाती है। इस कारण ग्रेफाइट अत्यन्त चिबना होता है। ग्रेफाइट के योग में अणुओं के आबन्ध बनाने की प्रक्रिया का चित्र पृष्ठ ⑪७ पर देखें।

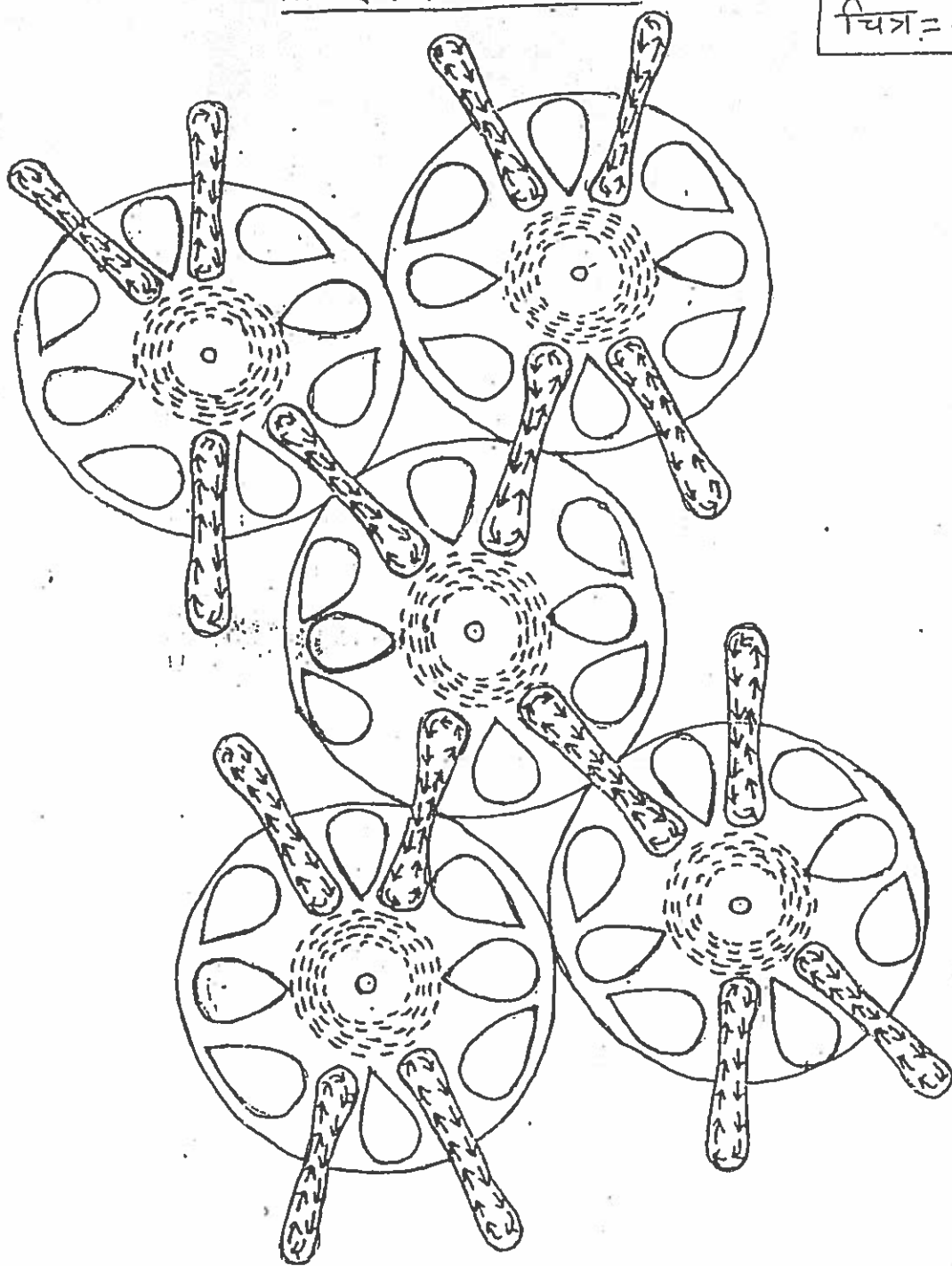
विभिन्न तत्वों के अणुओं का इलेक्ट्रॉनिक कन्फ्यूगेशन करते समय जो यह नियम सामने आता है कि किसी भी अणु के इतकणों के बाह्यतम कक्षा (*orbit*) में अधिकतम आठ ही इतकण हो सकते हैं। आठ से अधिक इलेक्ट्रॉन *outer most orbit* में नहीं हो सकते। इसका कारण भी नाभ की परिधि में स्थित इन्हीं आठ गह्वरों में पाया जाता है। इन्हीं के द्वारा प्रक्षेपित ऊर्जा के अरे चक्रों द्वारा *outer orbit* के इतकणों की स्थिति बनती है। आठ गह्वरों द्वारा बाह्यतम कक्षा में अधिकतम आठ इतकण ही स्थापित किये जा सकते हैं। सब गह्वर अधिकतम दूरी पर अपना रुक ही इतकण का चक्र प्रक्षेपित करके स्थापित कर सकता है।

जहाँ तब 'चिब' कणों (*Protons*) के गणों की शंख की आकृति का प्रश्न है, उसका शंख की आकृति में होने का प्रमाण आधुनिक विज्ञान में वर्णित *orbit filling diagram* से मिल जाता है। प्रत्येक *orbit* में (पृष्ठ-११४ पर चालू)

[हीरे के एक क्रिस्टल में एक कार्बन के अणु का
चार अन्य कार्बन के अणुओं के साथ आवन्ध]

(केन्द्रिय गड्ढे से बना सर्वाधिक शक्तिशाली आवन्ध)
(अतः हीरा सर्वाधिक कठोर है)

चित्र = 33



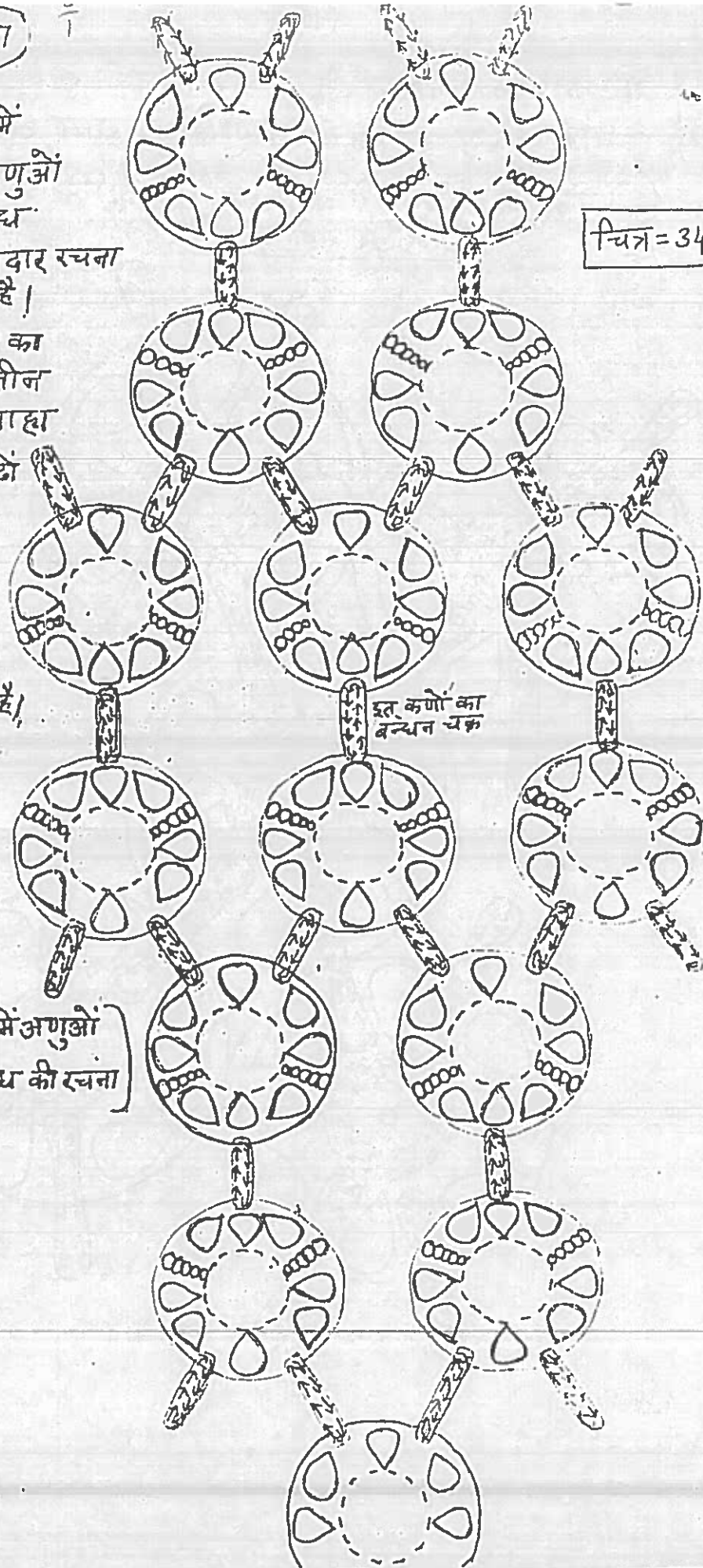
ग्रेफाइट में
कार्बन के अणुओं
का आवन्ध
जिससे परतदार रचना
हो जाती है।

एक कार्बन का
अणु अन्य तीन
अणुओं से बाह्य
पीरामीड गठनों
के द्वारा
आबन्धित
है।

यह कम शक्ति
का आवन्ध है,
इसी कारण
ग्रेफाइट
चिकनी है

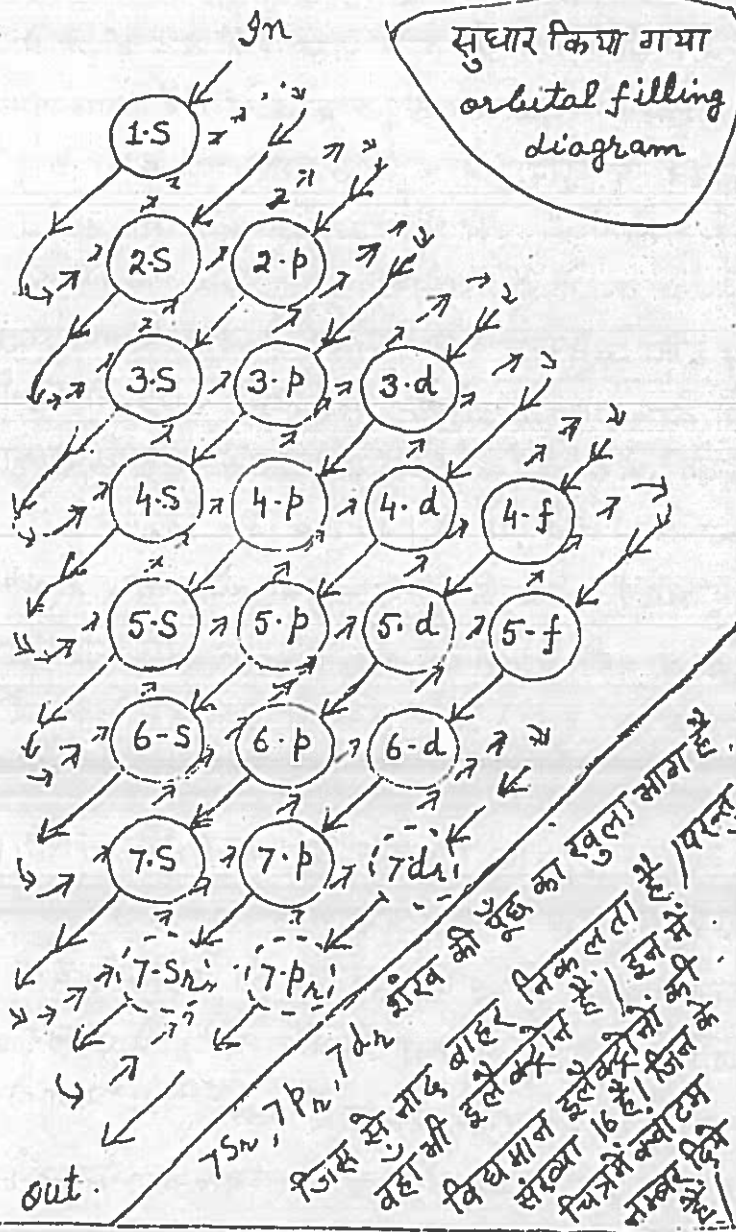
(ग्रेफाइट में अणुओं
के आवन्ध की रचना)

चित्र = 34



'इत्' कणों (Electrons) को भरने की विधि s, p, d, f orbitals के अनुसार व्यवस्थित करते हुए जो दर्शायी गई है, उससे 'चिक्' कणों की आकृति का शंखाकार होने का प्रमाण मिल जाता है। पृष्ठ (119) पर आकृति को देखें। इसमें 'इत्' कणों को भरने का जो क्रम चलता है वह शंख में बनी घुमावदार बलरेखाओं को दर्शाता है। अब क्यों कि 'चिक्' कणों के गण के प्रत्येक अवग्रह के द्वारा सृष्ट के उत्प्रेक्षण द्वारा 'इत्' कण की स्थिति निर्धारित होती है, इस लिस जो आकृति बाहर 'इत्' कणों की इस diagram में बनती है, वही आकृति 'चिक्' कणों के गण की होनी चाहिए। इस 'अनुमान' के प्रमाण के आधार पर सिद्ध होता है कि 'चिक्' कणों के गण की आकृति शंखाकार शंख की आकृति में ही है। स्वयं 'चिक्' कणों और 'न' कणों की आकृति भी शंख के आकार की पीछे दिखे ऋग्वेद के मन्त्रों में बताई है। यहाँ वैदिक विज्ञान का 'आगम' प्रमाण दिया हुआ है। जब 'न' कण अपनी चौंचदार शंख की पूँछ से उन 'क' कणों के द्वारा बनी प्रतिमाओं को निरन्तर अवलम्बित करता हुआ (खाकर गड़प करता हुआ) अपने उदर में समाहित करता है तो उसका उदर और ऊपर का तिर झूल कर उसे शंख के आकार की शंख की आकृति प्रदान करते हैं। उसके पश्चात 'न' कण छींक मारता हुआ 'इत्' कणों को छोड़ता हुआ 'चिक्' कण में बदल कर उन 'क' कणों की प्रतिमाओं को खाता हुआ भी अपने स्वरूप की अभिसंजनन (stationary) अवस्था को स्थिर रखता है और नाभि के अन्दर स्थित अपनी कक्षा (orbit) में घूमता रहता है। उस 'चिक्' कण के कक्षा में घूमने के कारण ही 'इत्' कण भी अपनी सम्बन्धित कक्षा में घूमते हैं। अपनी-अपनी कक्षा में घूमने के लिस आवश्याक बल उन्हें नीचैतावत प्रदान करता है जो द्यौ में सृष्ट के आवर्तन से बनता है।

आधुनिक विज्ञान वैज्ञानों द्वारा orbit filling diagram में (पृष्ठ 119) के (7.p) orbital के filling तक को वर्णित किया है। वहाँ तक केवल $2+8+8+18+18+32+8 = 94$ (चौरानवें) 'इत्' कण ही व्यवस्थित किये हुए हैं। जब कि एक अणु में 'इत्' कणों की अधिकतम संख्या 110 है। अतः शेष तत्त्वों के 16 अणुओं के 16 'इत्' कणों के भरने की व्यवस्था इस में नहीं है। अतः यह आकृति अधूरी है। ये शेष 16 तत्त्वों के अणु बहुत अधिक Radiation को छोड़ने वाले हैं। इन में (पृष्ठ-120 पर गोल)



नोट : —

साथ में दिये गये orbital filling diagram में आधुनिक वैज्ञानिकों ने 7.s और 7.p orbitals ही सातवें shell में भरने के लिए लिखे हैं। अब एक s-orbital में अधिकतम दो इलेक्ट्रॉन और एक p-orbital में अधिकतम छः इलेक्ट्रॉन ही हो सकते हैं। इस प्रकार सातवें shell में उन्होंने अधिकतम $2+6=8$ इलेक्ट्रॉन ही भरे। छठे shell तक कुल अधिकतम इलेक्ट्रॉन $2+8+8+18+18+32=86$ इलेक्ट्रॉन ही होते हैं। यदि सातवें shell के $2+6=8$ इलेक्ट्रॉन और जोड़ दिये जायें तो कुल संख्या $86+8=94$ हो जाती है। यदि एक-एक इलेक्ट्रॉन के हिसाब से

Atomic Number प्रदान किया जाये - तो कुल तत्वों की संख्या 94 ही हुई। वर्तमान में वैज्ञानिकों ने 110 तत्वों की तो ज्ञात कर लिया है। अतः बाकी 16 तत्वों का orbital filling का process इस में नहीं है। अतः यह अधूरा है। इसे पूरा करने के लिए 7.s, 7p, और 7.d orbital और बनने चाहिए तभी यह पूरा होगा। यहाँ प्रत्येक orbital के साथ जुड़ा- λ - रेडिएशन को बतलाता है। इन orbitals के इलेक्ट्रॉन बार-बार सातवें shell के बाहर, फिर अन्दर, फिर बाहर आते जाते रहते हैं। ये स्थायी नहीं रहते। अतः इन के साथ λ लगा कर बताया गया है।

(120)

'चिक्क' कणों (Protons) द्वारा 'इत्' कणों (Electrons) के उत्प्रेषण की ऊर्जा का बल इतना अधिक होता है कि इन के द्वारा प्रक्षेपित 'इत्' कण अपनी कक्षा में अभिसंनवन (stationary) अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते और वे अपनी कक्षा में थोड़े समय घूमने के उपरान्त उस से बाहर की ओर निकल जाते हैं तथा उद्घातन की (Radiation की) ऊर्जा में बदल कर सहस्राक्षर रूप धारण करते हुए व्योम में स्थित द्यौ में शून्य में समाहित हो जाते हैं। वे विनाश प्रक्रिया को प्राप्त होते हुए अणुओं में बदल कर द्यौ के अणु समुद्र में विलीन हो जाते हैं। अतः इन क्षेप बच्चे सौलह तत्वों के सौलह अणुओं के 'इत्' कणों को व्यवस्थित करने के लिए पृष्ठ 119 पर बनी आकृति में सुधार करके $7.s_k$, $7.d_k$, $7.p_k$ के

orbitals के filling को और जोड़ दिया गया है। उनमें साथ में लगा ८ उनमें से निकलने वाली उच्च स्तर की radiation को प्रदर्शित करता है। जिससे यह प्रकट होता है कि इन orbitals में रखे हुए 'इत्' कण थोड़े समय बाद ही इन से निकल कर अपनी कक्षा से बाहर होकर radiation की ऊर्जा में बदल जायेंगे। अपनी कक्षा से बाहर जाते समय की प्रक्रिया में इन अणुओं (Atoms) का 'इत्' कण (Electron) कई बार अपनी कक्षा के बाहर जा कर बार-बार अन्दर भी आ जाता है। ऐसा वह अपनी कक्षा के बाह्य किनारे पर चलता हुआ करता है और अन्त में फिर सदा के लिए अपनी उस कक्षा को छोड़ कर बाहर जाता हुआ विनष्ट हो कर अणु समुद्र में मिल जाता है। इस प्रकार इस orbit filling diagram में छात्रों के अध्ययन के लिए सुधार करना आवश्यक है।

आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों ने प्रत्येक 'इत्' कण की गतिमान स्थिति को बताने के लिए तथा अणुओं के पाताल लोको (Extra nucleus part) में उन की कक्षा में उनका स्थान बताने के लिए उन्हें Quantum नम्बर n, l, m प्रदान कर दिये हैं। इन Quantum Numbers के अनुसार यदि इन 'इत्' कणों को नाभिक (Nucleus) के रुक और ग्राह्य पर अवस्थित किया जाये (देखें अगले पृष्ठ 121 पर बना चित्र) तो उन 'इत्' कणों के द्वारा बने वाली आकृति भी हाथी के शिर जैसी बनती है, जिसके दोनों ओर

(पृष्ठ - 122 पर चालू)

कार्तिकेय
का
विस्तार →

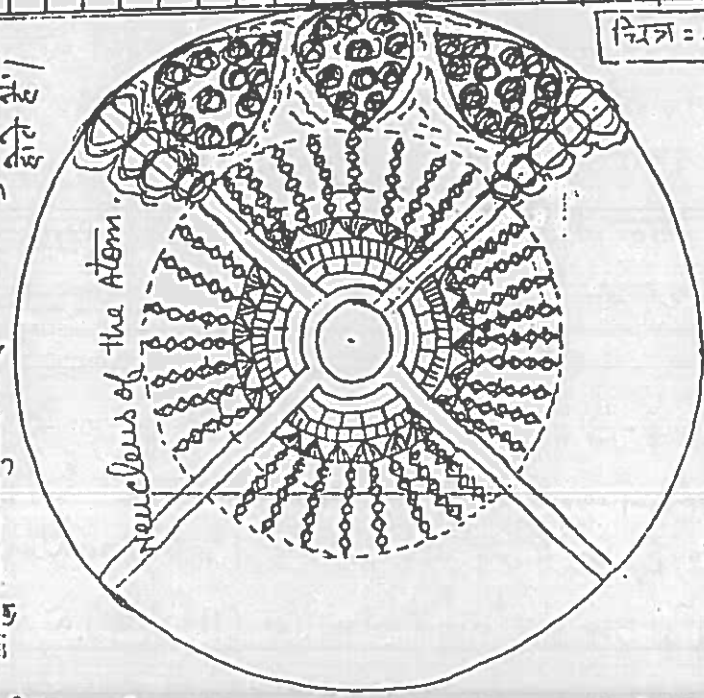
Quantum numbers. ← m → Quantum numbers.

चित्र 36

	-6	-5	-4	-3	-2	-1	0	+1	+2	+3	+4	+5	+6	Spin No.
n=7	0	0					0	0					0	f
n=6							0	0					0	f
n=5							0	0					0	f
n=4							0	0					0	f
n=3							0	0					0	f
n=2							0	0					0	f
n=1							0	0					0	f

n-Quantum Numbers →
l-Quantum Numbers →
l-Quantum Numbers marked

इतिहासवतरोपनिषद्, पुराणों के अनुसार
शंख आकार के चिक्क गणों (Pistons) के
जाह्न तल के अनुसार इत् (Electrons) व्यवस्थित
होते हैं।



चित्र = 36

According to Modern Science
Recognition of Electrons according to
Quantum numbers - n, l, m, s, in an Atom.
orbitals

अणु में आधुनिक विज्ञान और वैदिक विज्ञान दोनों के अनुसार
इत् गणों (Blocks of Electrons) के तुलनात्मक अध्ययन के लिए
ग्राफ पर बना चित्र। (एरे अणु का चित्र पृष्ठ 100 पर देखें।)

बड़े-बड़े कान और बीच में अक्ष की लम्बी सूँड बन जाती हैं। इस आकृति से भी नाभि में स्थित 'चिह्न' व्यंजनों की आकृति के गण शंख की आकृति के बनते दिखाई देते हैं।

पीछे पृष्ठ (103) पर सब से बड़े अणु, जिसका संटीमिक नम्बर 110 है, के अवशेषों की सुव्यवस्थित रूप से गणित करके गणेश और कार्तिकेय की प्रतिमाओं का रूप दिया गया है। गणेश जी को वेद में 'ब्रह्मणस्पति' विनायकः" कहा गया है। 'ब्रह्मणस्पतिः' शब्द का अर्थ है - ब्रह्म की रचनाओं का स्वामी, और 'विनायकः' का अर्थ है - विशेष नायक। अर्थात् ब्रह्म अपने अंश से जिन-जिन रचनाओं को दैव-स्वरूप प्रदान करता है, उन सभी रचनाओं का स्वामी बन कर सृष्टि के संचालन में विशेष नायक बनने वाला 'गणेश' है। पृष्ठ (103) पर बने चित्र से स्पष्ट है कि गणेश की रचना में असक्-ब्रह्म के 'अ' (विष्णु के स्वरूप) से लेकर 'क', 'ज', और 'इत्' कणों तक समस्त रचनाओं का स्वरूप समाहित है जिसमें सृष्टि सृजन के सभी देवों का रूप आ जाता है। इस प्रकार गणेश सभी देवताओं का नायक बन जाता है। इस नायक बनने की विशेषता के कारण ही गणेश जी का पूजन सभी पूजन के कार्यों में शुभ बनाने के लिए सब से पहले किया जाता है। गणेश-पूजन में सभी देवताओं का पूजन समाहित हो जाता है।

गणेश का वाहन पुराणों में 'मूषक' को बनाया गया है। वाहन गति को प्रदर्शित करने वाला साधन है। मूषक सदैव उछल-उछल कर कुलोंच भरता हुआ फुदक-फुदक कर चलता है। यह गति श्रुत में चलने वाली तरंगों की होती है। रुक कुलोंच भरने की दूरी तरंग की रुक wave length को बतलाती है। इस श्रुत की तरंग को ही ऋग्वेद में 'अश्व' बता कर प्रथम मण्डल के 162 तथा 163 नम्बर के सूक्तों में वर्णित किया गया है। इन सूक्तों में भी अश्व की टांगे-हिरण की टांगे बता कर कुलोंच भर कर दौड़ने की ही बताया है। स्पष्ट है कि मूषक की गति और तरंग की गति - दोनों की गति करने की विधि में पूर्ण रूप से सांगोपांग समानता है। अणु की नाभि के केन्द्र बिन्दु 'अ' से सत्यामा की तरंगों प्रस्फुटित हो कर श्रुत की तरंगें बन कर चूहे की माँति कुलोंच भरती हुई चलती है और प्रत्येक पद पर नई-नई रचनाओं के स्वरूप प्रकट करती हुई अणु (अक्षि) का पूर्ण स्वरूप प्रकट कर देती है। गणेश की सृष्टि सृजन में यही महत्ता है। इसी कारण

गणेश की प्रतिमा का वाहन मूषक बनाकर दिखाया गया है।

कार्तिकेय कताई (Spinn) का देवता होने के कारण पृष्ठ (03) की आकृति में लट्टू की आकृति का गणेश जी के साथ स्वयं बन जाता है। लट्टू अपनी कीली पर भी घूमता है और कीली पर घूमता हुआ इधर उधर भी भागता है। इसी प्रकार अणु (Atom) के अन्दर बने रज कणों के देव अपनी कीली पर भी घूमते हैं और इधर उधर भी अपने अक्ष पर भागते हैं। अतः कार्तिकेय को भी यहाँ सांगोपांग समानता बताने वाली आकृति बन जाती है। इस लट्टू के अन्दर ही कताई के उपकरण चरखा, अटैरन तथा सूत की बूँदड़ी और ओटी तथा रस्स की पूगी की भी आकृतियाँ बनी हुई हैं। अतः यह लट्टू का पात्र कताई के सभी उपकरणों से भरा हुआ है। इस प्रकार यह कताई का देवता बन जाता है।

इस सृष्टि में उत्पन्न हुए अर्धपिण्ड तीन प्रकार के पाये जाते हैं जिन्हें हम पूर्ण रूप से जड़, अर्धचैतन्य तथा पूर्णचैतन्य के नाम से कहते हैं। पूर्ण रूप से जड़ पदार्थ 110 तत्वों के अणु तथा उन अणुओं से बने बड़े अर्धपिण्ड पृथिवी, पृथ्वी पर स्थित पञ्चमहाभूतों में स्थित सभी द्रव्य आजाते हैं। अर्धचैतन्य में उन अणुओं के योगों से बने बनस्पति जगत के पेड़ पौधों की रचनाएँ करने वाली कोशिकाएँ आ जाती हैं। पूर्ण चैतन्य में प्राणी जगत के पशु, पक्षी, कीट, पतंगे, मनुष्य आदि के शरीरों की रचना करने वाली कोशिकाएँ आ जाती हैं। ये तीन प्रकार के अलग-अलग अर्धपिण्ड अणु (Atom) में से निकलने वाली ऋतु की तरंगों के ऊर्जा के स्तर के कारण होते हैं। इन्हीं ऋतु की तरंगों को ऋग्वेद में 'अश्व' कहा जाता है। ये ऋतु की तरंगें अपना पूर्ण रूप सत्य लौक्य से निकल कर तपः लौक्य में लेती हैं। तपः लौक्य में आकर ये सवितृ देव के स्वरूप को द्योतित करने लग जाते हैं। इन ऋतु की तरंगों में ऋतु को नया स्वरूप प्रदान करके नये देव का सृजन करने की और उसे दीक्षित करने की क्षमता होती है। ऋतु की तरंगों की इस क्षमता को ऋग्वेद में "सव" कहा जाता है। इस 'सव' शक्ति के तन्वज (ताने-बाने) के स्वरूप को प्राप्त करने वाले देव को ही मन्त्र में सवितृ देव बताया गया है। आगे इसी उपनिषद् में मन्त्र है - "युक्तेन मनसा वः देवस्य सवितुः सवे। सवर्गेयाय शक्त्या।" - इसका अर्थ है कि, "हम मन के द्वारा सवितृ देव की सव-शक्ति में जुड़ने के साधन द्वारा उस सव-शक्ति का भली प्रकार से वर्गीकरण करने में समर्थ होते हैं।" महर्षि व्यास ने इसका वर्गीकरण

तपः लौक्य के दैवीनिष्काय को बताते समय - (1) आभास्वरा, (2) महाभास्वरा, (3) सत्यमहाभास्वरा - इन तीन वर्गों में विभाजित हैं। जब तपः लौक्य में ऋत की तरंग की ऊर्जा का स्तर निम्न स्तर का होता है तो उसे 'आभास्वरा' कहा जाता है और वह जड़ पञ्चमहाभूतों के 110 अणुओं (Atoms) की और उनके योगों की रचना करती है। जब ऋत की तरंग की ऊर्जा का स्तर मध्यम दर्जे का होता है तो उसे 'महाभास्वरा' कहा जाता है और वह वनस्पति जगत की कोशिकाओं की संरचना करने के लिए अणुओं (Atoms) का योगों (Molecules) में ग्रहण करके उनमें अर्धचैतना का आवेश भर देती है। इसी प्रकार जब ऋत की तरंग की ऊर्जा का स्तर उच्च दर्जे का होता है तो उसे 'सत्यमहाभास्वरा' कहा जाता है और वह ऊर्जा अणुओं की संरचना करके अपनी जालतू ऊर्जा के आवेश द्वारा उन अणुओं को पूर्ण चैतन प्राणियों की कोशिकाओं में संरचित करने के लिए ग्रहीत कर देती है। इस प्रकार उन प्राणियों में अर्धचैतना वनस्पति में और पूर्ण चैतना पशु वर्ग में आ जाती है। यह सारा कार्य सवितृ की सृजन, पोषण करने वाली शक्ति ही ऋत के अन्दर सभी लौक्यों में करती है। प्रत्येक लौक्य में सवितृ की यह सब-शक्ति ऋत के अन्दर संरचना करके और उसे पोषित करके जिस दिव्य स्वरूप का द्योतन करती है, उस दिव्य स्वरूप को 'देव' कहा जाता है। "द्योतनात् देवाः" का जो सूत्र दिया गया है, वह देवताओं की इसी परिभाषा को बताता है। अतः यह वेदों और उपनिषदों में प्रयुक्त 'देव' शब्द का अर्थ मली भाँति समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार वेदों में प्रमुख रूप से दूसरा शब्द 'ऋषि' आता है। 'ऋषि' शब्द की व्याख्या करने वाला सूत्र है, "यदीरषंस्तद् ऋषिः।" इसका अर्थ है कि जो बिसता हुआ चल देता है, वह ऋषि है। अर्थात् जब कोई ऋत में बने वाला देव का स्वरूप अपनी संरचना की इच्छा के पाश में बँध कर अपने स्थान से दूसरे स्थान पर चल देता है और उससे ऊर्जा का स्राव भी तथा ऊर्जा का अभिशोषण भी निरन्तर अबाध रूप से होने लगता है, तो उस गतिमान स्वरूप को 'ऋषि' कहा जाता है।

जब एक लोक में देव निष्काय की संरचना हो जाती है, तो उस लोक से वे देव रिस कर गति करते हुए दूसरे लोक में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर वे देव अपना नया यत्न करके नये प्रकार के देव की संरचना कर देते हैं। जिस समय यह देव एक लोक से दूसरे लोक में रिस कर जाता है, उस समय वह 'ऋषि' है। जब वह देव अपने यत्न से अपने स्वरूप की संरचना कर रहा होता है तो वह यत्न उस देव का अपने स्थल पर किया जाने वाला 'यज्ञ' कहलाता है। जिस स्थल पर वह यज्ञ चल रहा होता है, वह स्थल 'वैदि' कहलाती है। एक लोक से दूसरे लोक में जा कर जो ऋषि उस दूसरे लोक में देव की संरचना करने के यज्ञ को करते हैं, वे उस यज्ञ को करने वाले अध्वर्यु कहलाते हैं। उन्हीं में ब्रह्मा, उद्गाता आदि सभी अध्वर्यु होते हैं। इस नये लोक में जिस नये देव की संरचना होकर उसका नया स्वरूप प्रकट होता है, उस प्रक्रिया को नये देव को बुलाने की प्रक्रिया 'होतार' कहा जाता है। उस नये देव को बुलाने वाला 'होता' कहलाता है। जब एक लोक में किसी देव का स्वरूप ऋतु की संरचना द्वारा प्रकट हो रहा है तो वह उस लोक में चलने वाले देव का यज्ञ कहलाता है। जब उस लोक से रिस कर चलने वाला देव अगले लोक में पहुँच कर नये देव की संरचना का यज्ञ संचालित करता है तो ऋग्वेद में इस प्रक्रिया को, 'एक देव के यज्ञ से दूसरे देव का यज्ञ संचालित होना' - कहा गया है।

इस प्रकार वैदिक विज्ञान के मुख्य तत्वों की शब्द, 'देव, ऋषि, यज्ञ, वैदि, होता, अध्वर्यु आदि हैं, जिन्हें उचित अर्थ में समझ लेना चाहिए। 'अग्नि' शब्द का अर्थ पहले समझाया जा चुका है। सवितृ देव का अर्थ भी ठीक प्रकार से समझ लेना उचित है। सवितृ का अर्थ जैसे कुछ विज्ञान 'सूर्य' करते हैं, जो आग का गोला है, वह उनका गलत अर्थ होता है। सूर्य को सूर्य ही कहा जाता है, सवितृ नहीं। सवितृ बहुत महान देव है, जिसकी सातों लोकों में सृष्टि सृजन में अपनी बहुत महत्ता है। स्वयं सूर्य की संरचना सवितृ देव के कारण ही होती है। अगिरा की रचना करके सवितृ सूर्य का निर्माण करता है।

'अंगिरा' तपः लौक्य में बने ऋत के क्षीरों का बना सप्तपरावृत (Saptaparavata hypercircle) होता है। यही तपस् को लेकर सभी देवों में जाता है। यही अपनी ऊर्जा के स्तर से अर्ध पिण्डों में रजजीवता उत्पन्न करता है। इसी कारण जीवधारियों का शरीर गर्म होता है। मरने पर वह ठंडा हो जाता है।

जब किसी अर्ध पिण्ड को अंगिरा अपनी ऊर्जा से भर देता है तो उस ऊर्जा से भरे हुए अर्ध पिण्ड के रजःकरण को भृगु कहा जाता है। इसी कारण गोपथ ब्राह्मण में, "सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृगुवङ्गिरोमयम्", (गोपथ ब्राह्मण-1, 34) कहा गया है। इस कथन का अर्थ है कि, "सब व्युध जो पदार्थ को मात्रा से युक्त है, वह सब भूत कहलाता है और जो सारे भूत हैं, वे सभी भृगु और अंगिरा से युक्त हैं।" अर्थात् तपः लौक्य में जो अंगिरा का ऋत में सप्तपरावृत बनता है, वह सप्त परावृत रजःकरण को ऊर्जा से भर देता है और वह ऊर्जा से भरा रजःकरण अपने संयोजनों से सृष्टि को सभी संरचनाओं को मूर्ति रूप प्रदान करता है। भृ चातु भरण करने के अर्थ में और 'गु' शब्द गो अर्थात् अर्ध पिण्ड को 'उ' (ऊर्जा) से युक्त करने में आया है। अतः 'भृगु' का अर्थ हुआ अर्ध पिण्ड के रजःकरण को ऊर्जा से भर कर पोषित किया हुआ रूप। जब ऊर्जा से भर कर यह रजःकरण नाभि के अन्दर अणु में चलता है तो यही भृगु ऋषि कहलाता है। इस भृगु ऋषि को भरने वाला ऊर्जा का पद विष्णु के वक्षस्थल से सत्याभा की ऋत की तरंगों का बनकर आता है। पुराणों में इसे ही भृगु द्वारा विष्णु की छाती से लात मारना बताया गया है।

ऋत की गति में अवरोध उत्पन्न करके जो व्योम में ऋत की ऊर्जा को रुक पोटली बन जाती है, उसी को 'रुद्र' कहा जाता है और रुद्र को उस ऊर्जा को 'उ' अक्षर से ऋग्वेद में बताया जाता है। इन्हीं ऋत की पोटलियों से क्षीर, उर्णु बनते हैं। अर्णवों की श्रृंखला से बने ऋत के अरों को रुद्र के ईशान, ईशान पाद और ईशानी कहते हैं। ऋत के बने रुद्र के ये अरे ही स्वयं इन्द्र में 'पुरुष' कहलाते हैं। अणु की नाभि के पुर में शसन करने वाले तथा नाभि के पुर से सरण गति (Linear motion) करते हुए बाहर निकलने के कारण ही रुद्र की ऊर्जा के

7 (127)

तरंगों के इन अंशों के स्वरूप को 'पुरुष' कहा जाता है।

पुरुष की ऊर्जा का स्तर जब अणु की नीम में अधिक हो जाता है तो उन अणुओं के योग से ही पशु-कोशिकाएँ बन जाती हैं। जिनसे (1) रस, (2) रक्त, (3) मांस, (4) मेध्य, (5) अस्थि, (6) मज्जा (7) शुक्र, (8) ओज, (9) प्राण, बन जाते हैं। जीवित पशु-शरीर के अर्ध पिण्ड से जब जीवात्मा का हंस बाहर निकलता है तो शरीर के अर्ध पिण्ड से जब जीवात्मा का हंस बाहर निकलता है तो शरीर का विच्छेद होते समय ये ही वे नीं द्वार बन जाते हैं - जिनसे वह जीवात्मा का हंस बाहर निकल कर जाता है और विषयों को पकड़ने की चेष्टा करता है।

'पुरुष' की ऊर्जा को ये तरंगे ऋतु की बनी तरंगे होती हैं जो मन के द्वारा नियन्त्रित होती हैं। इसी कारण सविता देव की इन तरंगों के लिए आगे इसी उपनिषद् में, "युष्मत्वाग्र मनसा देवान् सुवर्जितो धिमा दिवम्। बृहज्ज्योतिः कीरव्यतः सविता प्रसुवाति तान्।" कहा है। इसका अर्थ है कि देवों के मन की शक्ति के द्वारा जोड़ कर और बुद्धि के द्वारा चीं में उनका अच्छी तरह वरण करते हुए बृहद् चेतना की ज्योति प्रदान करता हुआ सवितृ देव उन नये देवताओं को जन्म देता है। इस प्रकार मन की शक्ति के द्वारा ये ऋतु की तरंगे नियन्त्रित हो कर सभी दिव्य रचनाओं को सूक्ष्म रूप से नियन्त्रित करती हैं।

आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक भी इसी विधि से आज कल मस्तिष्क की तरंगों से विद्युत चालित उपकरणों को नियन्त्रित करने का प्रयास कर रहे हैं। आस्ट्रिया के ग्राज प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक गेर्ट फर्ट शैलर ने मस्तिष्क की ऋतु की तरंगों के द्वारा Magnetic waves को नियन्त्रित करके कम्प्यूटर की स्क्रीन के कर्सर को इधर-उधर घुमाने में सफलता प्राप्त कर ली है। Magnetic wave की गति त्वष्टा द्वारा रचित अश्व के 'अश्विनो' देव से होती है। 'अश्विनो' के दौड़ने से चुम्बकीय तरंगों की बलैरवायें चलती हैं। अश्विनो की दोनो अश्व 'व' वगैरों के ग्रासन से सप्तपरावृत, तथा अष्टापरावृत के रूप में बनी होती है। 'व' वगैरों की पुरुष की दशांगुल रूप की ऋतु की बनी दश ईशानी रश्मियाँ होती हैं जो ऋतु की तरंगों से बनती हैं। प्रत्येक ईशानी 'व' वगैरों के रूप मौलिक अर्थ को नियन्त्रित करती हैं। इस प्रकार

इशानी की श्रुत की तरंगों से 'क' कण नियन्त्रित होकर चुम्बकीय तरंगों नियन्त्रित हो जाती हैं और चुम्बकीय तरंगों पर उस नियन्त्रण से कम्प्यूटर के स्क्रीन का कर्सर नियन्त्रित हो जाता है। इन श्रुत की तरंगों की विशुद्धता लाने के लिए वे वर्गीकृत भी कर रहे हैं। परन्तु अभी वे 90% ही इन्हें वर्गीकृत कर पाये हैं। 10% अभी अभी बाकी बचा है।

वैज्ञानिक आधार पर ये विज्ञान वेदां अभी इन श्रुत की तरंगों की वैदिक विज्ञान की भौति शुद्ध रूप से परिभाषित नहीं कर पाये हैं। इस कारण उन्हें अभी पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी है। जब अभ्यास करते-करते वे इसमें पूर्ण सफल हो जायेंगे तो विश्व में सब अत्यन्त चमत्कारिक प्रगति सामने आ जायेगी। वैदिक विज्ञान में भी यही चमत्कार छिपा है।

कैलिफोर्निया की द अदर 90 परसेंट नामक कम्पनी ने भी इसी तकनीक पर आधारित सब ऐसी कम्प्यूटर गेम प्रणाली विकसित की है जो माइण्ड द्वारा ड्राइव होती है।

अमेरिका में नेवाडा विश्व विद्यालय की चैतन अनुसंधान प्रयोगशाला के निदेशक डीन रीडिन का कहना है कि कुछ किस्म के इलेक्ट्रॉनिक उपकरण मस्तिष्क के हस्तक्षेप से प्रभावित होते हैं। इन सभी का मानना है कि मस्तिष्क में इन श्रुत की तरंगों के लिए सब स्विच के रूप में काम करने की क्षमता है।

श्रुत में अवरोध उत्पन्न होने से जो श्रुत की सब बहुत ही छोटी श्रुत की पीटली बनती है, उसी को क्षीर कहा जाता है और उस के ऐन्द्र को विष्णु कहा जाता है। सद् ब्रह्म के सब रूप को पांड कर अनेक रूपों में बदल कर रुद्र द्वारा यह क्षीर बनाया जाता है। इसी क्षीर के ऐन्द्र में विष्णु होता है। अतः विष्णु को अवतारित करने वाला भी कई पुराणों में रुद्र या शिव को बताया गया है। इसी कारण ज्योतिष में रुद्र की आयु भी विष्णु की आयु से अधिक बैठती है। रुद्र की सत्ता भी विष्णु की सत्ता के पश्चात ही समाप्त होती है। पहले क्षीर के ऐन्द्र का विलय सद्-ब्रह्म में होता है, उसके पश्चात क्षीर के श्रुत का अवरोध समाप्त होकर उस क्षीर के श्रुत का विलय सद्-ब्रह्म में होता है। इस प्रकार भी रुद्र की आयु विष्णु की आयु से अधिक

बैठती हैं।

ऋत की गति में पञ्चावर्त की रचना बतहि गई है। इस पञ्च-
आवर्त में जो कलिल आवर्त बनता है, उसमें दो प्रकार के कलिल बनते
हैं। (1) ग्रसिष्णु कलिल, (2) प्रभविष्णु कलिल। ग्रसिष्णु
कलिल ऋत को अपने अन्दर ग्रसित करता है। ऋत की गति के
इस आवेश को चनात्मक आवेश (+ve charge) कहते हैं। दूसरे
प्रभविष्णु कलिल में, कलिल ऋत को अपने अन्दर से बाहर
दिखाता है। ऋत को इस प्रकार की गति के आवेश को ऋणात्मक
आवेश (-ve charge) कहते हैं। ये ग्रसिष्णु कलिल और
प्रभविष्णु कलिल सदैव एक साथ जुड़कर एक युग्म के अन्दर
रहते हैं और इनके युग्म की रचना के दो शीर्ष बन जाते हैं। एक
शीर्ष पर चनात्मक आवेश और दूसरे शीर्ष पर ऋणात्मक आवेश
बन जाता है। एक शीर्ष से ऋत अन्दर जाता है तो दूसरे शीर्ष
से ऋत बाहर आता है। जब एक शीर्ष से ऋत अन्दर चला गया
तो उस ऋत को उसी दिशा में गतिमान रखने के लिए उसका दूसरे
शीर्ष से बाहर निकलना भी आवश्यक है।

इन्हीं दो कलिलों के कारण किसी आवेशित पिण्ड के
एक शीर्ष पर यदि चनात्मक आवेश होगा तो दूसरे शीर्ष पर
ऋणात्मक आवेश होगा। इसी कारण *Electron* में ऋणात्मक
आवेश (-ve charge) होता है। *Electron* में प्रभविष्णु शिरा
ऋत को उष्णाम् (*Radiation*) के रूप में बाहर निकलने वाला
बाहर की ओर होता है और ग्रसिष्णु शिरा नाभ की ओर अन्दर
की ओर होता है। इसी कारण बाहर से प्रभविष्णु शिरा टकराने के
कारण *Electron* का ऋणात्मक आवेश अनुभूत होता है। परन्तु
जब यह अपनी उलटी दिशा (*Invert position*) में हो जाता है,
इसका ग्रसिष्णु शिरा बाहर की ओर और प्रभविष्णु शिरा अन्दर की
ओर हो जाता है तो यही चनात्मक आवेश को प्रकट करने वाला
positron बन जाता है। इसी कारण ईत्'कों में *Electron* के साथ-
साथ *positron* भी पाया जाता है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि Electrons में से उद्घाटनम् (Radiation) के रूप में निरन्तर ब्यवस्रुत का प्रवाह ही निकलता है जो सहस्रों अक्षों पर चलने वाली सहस्राक्षरा त्रुत की तरंगों के रूप में होता है। यह नाभि में से निरन्तर निकलता रहता है।

नाभि में ग्रसिष्णु के रूप में त्रुत पोंच अरों के पुञ्ज के रूप में त्रुत की तरंगें बन कर अपनी ऊर्जा के साथ नाभि में चारों ओर से प्रवेश करता है और तीन अरों के पुञ्ज के रूप में बाहर की निकलता है। रक्त और की ऊर्जा केन्द्र में स्थित 'अ' की रचना कर देती है और दूसरे अरों की ऊर्जा अंगिरा की रचना करके उसमें उपभुक्त हो जाती है। अतः नाभि में ऊर्जा के प्रवेश का बल त्रुत का अधिक होता है और बाहर निकलने का कम होता है। जिससे वह त्रुत का पञ्चावर्त अर्ध पिण्ड के रूप में अपने अन्दर अर्ध को संग्रहीत करने में समर्थ हो जाता है और उसमें गुरुत्वाकर्षण का बल आ जाता है। इसी कारण छोटे-से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े अर्ध पिण्ड में गुरुत्वाकर्षण बल होता है। Photos में चनात्मक आवेश होने के कारण ग्रसिष्णु कीलत का शिरा युग्म का बाहर की ओर होता है और प्रभिविष्णु शिरा अन्दर की ओर होता है। Neutrons में दोनों शिरों उसी तल के समान्तर स्पर्शरेखा के रूप में होते हैं, जिससे ग्रसिष्णु और प्रभिविष्णु दो शिरों दो युग्मों के पास रह कर रक्त दूसरे के प्रभाव को निष्क्रिय करते रहते हैं।

Mosons की रचना की आण्टीतियों में ये तीनों अवस्थाएँ पृष्ठ (83) पर स्पष्ट रूप से दिखाई गई हैं। इन आण्टीतियों में सूर्यचक्षु (Photos) के पुञ्ज में इन दोनों कीललों का युग्म कार्य करता है। ग्रसिष्णु कीलल त्रुत में सप्तपरावृत (Seven hypercircle) बनाती है और प्रभिविष्णु कीलल अष्टपरावृत (Eight hypercircle) बनाती है। प्रत्येक आवेशित रजकण में इन दोनों कीललों के युग्म द्वारा उत्पन्न आवेश का बल कार्य करता है। किसी में त्रुणात्मक रूप से तो किसी में चनात्मक रूप से। त्रुत के इसी आवेश के बल से 'आश्विनौ' की बल प्राप्त होता है और उस आश्विनौ से चुम्बकीय तरंगें बनती हैं। चुम्बकीय तरंगों से जब रजकण आवेशित हो कर तरंग के रूप में गति करते हैं तो उस से प्राणोर्मि (Matter wave) बन जाती है। Radio-waves में चुम्बकीय

तरंगों और ऋत की तरंगों का मिश्रित रूप होता है। ऋत की तरंगें तो मूल रूप से प्रत्येक प्रकार की तरंगों में मूलधार के रूप में समाहित होती हैं। उन ऋत की तरंगों के बिना कोई भी तरंग अपना कार्य नहीं कर सकती। प्रत्येक तरंग में ऊर्जा का बल मूल रूप से ऋत की तरंग की ऊर्जा के बल से ही प्राप्त होता है। अतः ऋत की तरंग-प्रत्येक प्रकार की तरंग की मूल रूप में प्रभावित करने में समर्थ होती हैं। परन्तु यह तभी सम्भव है जब उनके नियन्त्रण की पदावत रचना के क्रम में नियन्त्रण की व्यवस्था हो। बिना पदावत नियन्त्रण व्यवस्था के ऋत की तरंगों से अन्य तरंगों को नियन्त्रित करके अभीष्ट परिणाम का फल प्राप्त करना सम्भव नहीं है। जैसे कि आधुनिक विज्ञानवेत्ता ऋत की तरंगों का नियन्त्रण मस्तिष्क से, मस्तिष्क की तरंगों का नियन्त्रण कम्प्यूटर के स्क्रीन में चलने वाली चुम्बकीय तरंगों से, चुम्बकीय तरंगों का नियन्त्रण विद्युत तरंगों से कर रहे हैं। विद्युत तरंगें प्रायोजिक के स्तर की उर्मियों हैं। क्योंकि *Electron* एक *Mass particle* की तरह भी कार्य करता है। विद्युत तरंगों के बल से किसी भी विद्युत चालित उपकरण को चलाया जा सकता है। यही पदावत नियन्त्रण का क्रम बनता है। ऋत की तरंगों से सीधे विद्युत तरंगों को या विद्युत उपकरणों को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।

एक अणु (Atom) की नाभिक (Nucleus) में से ऋत तो निरन्तर उद्घाटन (Radiation) के रूप में बाहर निकलता हुआ रिसता रहता है, परन्तु पदार्थ के बने रजकण α कण या β कण या γ कण कभी-कभी लम्बे अन्तराल के बाद हजारों वर्ष बाद निकलते हैं। ऋत के उद्घाटन से अणु की संरचना में परिवर्तन नहीं आता, क्योंकि समान रूप से वह अणु की नाभिक ऋत का अभिक्षोषण भी साथ-साथ करती चली जाती है। अणु के चित्र में पृष्ठ (13) पर इस प्रक्रिया को देखें। परन्तु जब एक अणु की नाभिक में से पदार्थ की मात्रा को लेकर कोई रजकण α या β या γ कण के रूप में निकल जाता है तो उस अणु (Atom) की संरचना में ही अन्तर आ जाता है। जैसा कि पृष्ठ (63) पर तत्त्वान्तरण की प्रक्रिया की शुरुआत में दिखाया है।

पृष्ठ (13) पर अणु के चित्र में ऋत के तरंगों की ऊर्जा स्रोत की ऊर्जा बन कर तीन अक्षों पर चलने वाली ऋत की तरंगों के रूप में बाहर निकलती है। इस ऊर्जा के तीन अक्ष ही शिव के तीन नेत्र

प्रतिमा में बन जाते हैं। ऊर्जा की तीन धाराएँ बन कर शिव के त्रिशूल की ये ही प्रतीक बन जाती हैं। ये ही ऋत की तीन धाराएँ प्रत्येक राजव्यण में तरंग की गति उत्पन्न करके जादू उत्पन्न करती हैं। इसी कारण त्रिशूल में जादू उत्पन्न करने वाला डमरू भी शिव की प्रतिमा में बाँधा कर दिखाया गया है। शिव का वाहन बिलवर्द्धम् (बैल) बताया गया है जो प्रत्येक राजव्यण में बल का वर्धन करने का प्रतीक है। किसान हल में जोतने के लिए जिस प्रकार बैल के बल का प्रयोग करता है, उसी प्रकार ऋत की तरंगों का बल प्रत्येक राजव्यण में गति प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसी लिए शिव का वाहन नन्दी बनाया गया है। ऋत की तरंगों की ऊर्जा ही अर्जुन में बने ऋत के अवर क्षेत्र शेषनाग को नियन्त्रित करने वाली बनती है। इस कारण सभी सर्प शिव के वशीभूत बताये गये हैं।

मस्तिष्क में मानीसव्य शान्ति और मस्तिष्क की शीतलता मस्तिष्क की ऋत की तरंगों की ऊर्जा को बढ़ाती है। अतः इसी शीतलता के प्रतीक चन्द्रमा को शिव की जटाओं में लगा हुआ दिखाया है। मस्तिष्क से निष्पलने वाली ऋत की तरंगों की धारा को शिव की जटाओं से निष्पलने वाली गंगा की पवित्र धारा दिखा कर दर्शाया गया है। इसी ऋत की तरंगों की धारा में मनुष्य की विचार धारा का प्रवाह होता है। शिव की आराधना करने वाले भक्त के मस्तिष्क से निष्पलने वाली विचारधारा गंगा के जल की तरह पवित्र तथा सभी का कल्याण करने वाली है, इसी लिए उसकी तुलना गंगा की धारा से करने के लिए शिव की जटाओं से गंगा की धारा का प्रवाह दिखाया गया है। 'शिव' शब्द का अर्थ 'कल्याण' होता है।

'शिव' ने काम को मध्य करके अपनी समाधि को अखण्ड बनाये रखा। शिव के चारों ओर विषैले सर्पों का वातावरण है। सभी विषधारी उस शिव के निमज्जण में हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, वह अपने चारों ओर व्याप्त विषैले वातावरण को नियन्त्रित करके अपनी कामनाओं को मध्य करके बाध करता हुआ अपना कल्याण करे। यही शिव की उचित आराधना है। शिव का निवास स्थान विश्व में सब से ऊँची गौरीशंकर की हिमालय पर्वत की चोटी बताया है। यह इस बात का प्रतीक है कि इस प्रकार अपना कल्याण करने वाला मनुष्य विश्व में

सब से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त हो जाता है।

शिव का स्वरूप स्त्री तथा पुरुष दोनों का मिला हुआ रूप अर्थात् नारीश्वर का रूप बताया है। शिव ऊर्जा का तथा पार्वती पदार्थ के अर्धपिण्ड पर्वत की पुत्री का प्रतीक है। जब पदार्थ के रजःकण पार्वती को शिव की ऊर्जा का ऋतु गर्भित कर के आवेशित कर देता है तभी सारे देवताओं का गण ब्रह्माण्डस्थिति शणैश जन्म लेता है और सृष्टि सृजन तथा संचालन का कार्य सम्पन्न होता है। अतः शिव का रूप जो सभी का कल्याण करने वाला है वह शिव और पार्वती का युगल रूप ही है। दोनों ही रूप शिव में समाहित हैं। ऊर्जा का आवेश किसी न किसी अर्धपिण्ड में ही समाहित हो कर रहता है वह स्वतन्त्र रूप में नहीं रहता। ब्रह्म तथा प्रकृति रूप दूसरे में समाहित रूप में रहते हैं। यजुर्वेद और ईशोपनिषद् में इसे ही इस प्रकार कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानम् ततो न विजुगुप्सते ।

अर्थात् जो प्रकृति में विद्यमान सभी पदार्थ के भूतों को ब्रह्म के अण्ड स्वरूप आत्मा में देखता है और उन सभी भूतों में उस ब्रह्म के अंश आत्मा को देखता है, उसे इस ब्रह्म और प्रकृति की सत्तात्मकता को समझने में फिर जरा भी वही भी किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होता।

अर्थात् जो पार्वती के स्वरूप को शिव में और शिव के स्वरूप को पार्वती में देख कर अर्धनारीश्वर का रूप देखता है और ब्रह्म तथा प्रकृति की सत्तात्मकता को समझ लेता है, तो उसे फिर योग साधना द्वारा अपने अन्तिम लक्ष्य वैवल्य स्वरूप को प्राप्ति द्वारा सद्ब्रह्म में विलीन होने के मार्ग में वही भी भ्रम उत्पन्न नहीं होता।

इस आणविक संरचना के आधार को आयुर्वेद में भी प्रयोग में लाकर वैद्य लोग व्याधिषो पर निग्रहण पाने में सफल होते हैं। यहाँ उपनिषद् के मन्त्र में अणु (५०) की संरचना में "विंशति प्रत्यरामि" तथा "क्षार्थारम्" इन दो प्रकार के अणु की संख्या बताई गई है। अर्थात् पचास और यदि अन्तराणि वाले ऋतु के बनते हैं तो बीस और बाहर आने वाले ऋतु के बनते हैं जो उलटी दिशा प्रतिवृत्त दिशा में चलते हैं। इस प्रकार ग्रहसिद्धि और प्रभविष्णु आवेश का अनुपात सामान्य रूप में $50:20 = 5:2$ का अनुपात बता दिया गया है। इस अनुपात में शरीर में धनात्मक और ऋणात्मक आवेश रहने

पर किसी भी प्राणी का शरीर स्वस्थ रहता है। उसके शरीर का ग्रन्थन करने वाले सभी अणुओं में सम्यक् रूप से तारतम्यता बनी रहती है। यदि आवेश का ग्रह सन्तुलन बिगड़ता है तो शरीर में कोशिकाओं की रचना करने वाले अणुओं के योग में कहीं न कहीं कोई दोष आ कर कोई न कोई व्याधि उस शरीर में आ जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए रोगी को ऐसे तत्व का औषधि के रूप में देना आवश्यक हो जाता है जो इस आवेश के सन्तुलन को पुनः उसी 5:2 के अनुपात के स्तर में ले आये। स्पष्ट है इस कार्य के वही तत्व कर सकता है जिसके स्वयं के अणुओं में इन आवेशों का ग्रही 5:2 का अनुपात हो। जो आवेश अधिक् होगा उसे वह तत्व शीघ्र कर बाहर निकाल देगा और सन्तुलन को ठीक कर देगा। ऐसे तत्व के अणुओं में आन्तरिक आबन्धन की नाभि की शक्ति अधिक् होने चाहिए और बाह्य आबन्धन शक्ति घटा बनाने की कम होनी चाहिए ताकि वह बाह्य आबन्धन बनाने में कमजोर होने के कारण शरीर में कोई अपने योग की विच्छिन्न उत्पन्न किये बिना ही सुगमता से मल के साथ शरीर से बाहर निकल जाये। ऐसा तत्व सभी 110 तत्वों में केवल पारे Hg_{80}^{200} का तत्व है। इसका Atomic number 80 होने के कारण Electrons के ऋणात्मक ऋत के आवेश की संख्या 80 बनती है तथा इसका Atomic Mass number 200 होने के कारण ऋत के धनात्मक आवेश का स्तर उचित संस्कारों के द्वारा 200 की संख्या तक पहुँच सकता है। अतः Hg_{80}^{200} ही एक ऐसा तत्व है जो इस कार्य के लिए उपयुक्त पाया गया है। साथ में पारा तरल अवस्था में होता है। अतः इसके अणुओं में बाह्य आबन्धन शक्ति बहुत कम होती है। ग्रह बिना कोई रुकावट उत्पन्न किये मल के साथ सुगमता से शरीर से बाहर आ जाता है। दूसरे इसका घनत्व (Density) अत्यधिक होने के कारण इसके अणुओं की नाभि की आन्तरिक आबन्धन शक्ति भी अधिक् है। अतः इसकी नाभि में ऋत के धनात्मक आवेश को समाहित करने की सामर्थ्य अधिक् है। इस दृष्टि से भी पारा इस कार्य के लिए सबसे

5
130
अधिव्य उपमुक्त तत्त्व है।

परन्तु अणुओं की तारतम्यता के ग्रासन में सोलह प्रकार के सारव्य शास्त्र में विचार बताये गये हैं। [षोडशव्यस्तु विचारः]। इन सोलह प्रकार के विचारों के अन्तः खण्डों को नियन्त्रित करने के लिए दो अणुओं के योग के मध्यान्तर में अठारह संस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। अतः शुद्ध पारे के कुशल वैद्य अठारह संस्कार करते हैं। अठारह संस्कारों के द्वारा क्षोभित करने उस पारे की कजली बनाई जाती है। यदि यह कजली सही रूप से बन जाये तो इस कजली द्वारा शरीर के सभी असाध्य रोगों को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य आयुर्वेद बतलाता है। आयुर्वेद में 'रसतरंगणी' पुस्तक में इन सभी अठारह संस्कारों का वर्णन दिया हुआ है। इस कजली का उपयोग किसी कुशल वैद्य की देखरेख में ही उचित विधि से करना चाहिए अन्यथा अनुचित विधि से प्रयोग में लाने से यह शरीर में बहुत बुरा विचार छोड़ता है जो अन्य किसी भी दवाई से ठीक नहीं होता। अतः इस कजली का उपयोग करते समय कुशल वैद्य का संरक्षण और देखभाल तथा निरीक्षण आवश्यक है। वैद्य के परामर्श के अनुसार ही इसका सेवन करें। अन्यथा नहीं।

यहाँ विज्ञान वैज्ञानिकों के लिए विशेष बात जानने की यह है कि पारे के अणु में चनात्मक आवेश और ऋणात्मक आवेश का जो अनुपात $200 : 80 = 5 : 2$ बताया गया है वह ऋत की तरंगों के सञ्चरः प्रतिसञ्चरः के आवेश का अनुपात है। 'सञ्चरः' की गति में ऋत की तरंगों नाम के अन्दर अपनी ऊर्जा का आवेश ले कर जाती है। वह ऋत का चनात्मक आवेश है। उससे अणु की नाभि में पदार्थ की मात्रा बनती है। 'प्रतिसञ्चरः' की गति में ऋत की तरंगों अपनी ऊर्जा का आवेश ले कर अणु की नाभि से बाहर निकलती है। उससे नाभि के बाहर इलेक्ट्रॉनों (Electrons) की रचना होती है। यह ऋत का ऋणात्मक आवेश है। इसमें विनाश प्रक्रिया समाहित है। ऋत के चनात्मक आवेश में सम्भूति की प्रक्रिया समाहित है। अतः जो $5 : 2$ के अनुपात में अणु में चनात्मक और ऋणात्मक आवेश बताये हैं, वे ऋत के आवेश हैं। इलेक्ट्रॉनों और चिक्कणों के

(Electrons & Protons के) ऋणात्मक तथा धनात्मक आवेश नहीं हैं, जिनकी संख्या समान होती है। अतः ऋत के आवेश और विद्युत तरंगों के चुम्बकीय आवेश में अन्तर समझें। ऋत का आवेश अपनी ऊर्जा का प्रयोग देवों की रचना में करने के कारण कम हो जाता है। अतः ऋत के आवेश में अणु की रचना में या अर्धपिण्ड की रचना में धनात्मक रूप तथा ऋणात्मक रूप में कभी समानता नहीं होती। इस असमानता के कारण ही तो ऋत से अर्धपिण्ड बनना सम्भव होता है और प्रत्येक अर्धपिण्ड में गुरुत्वाकर्षण बल बनता है। अतः विज्ञान में प्रयुक्त होने वाला विद्युत की तरंगों का आवेश वैद में वर्णित ऋत की तरंगों के आवेश से बिल्कुल भिन्न है तथा इससे क्रिया करने के नियम भी भिन्न हैं। ऋत का आवेश रचना करके देवों की गतिप्रदान करता है जब कि विद्युत का चुम्बकीय आवेश उन देवों के आकर्षण बल का सन्तुलन करके उन्हें अपने गोल में स्थित रखता है। दोनों के कार्य में भी अन्तर है।

यहाँ इस अणु (Atom) की संरचना (structure) बताने वाले मन्त्र में सारव्य शास्त्र के सूत्र, "अष्टाविंशतिधा ऽ शक्ति" की भी व्याख्या कर दी गई है। "अष्टाविंशतिधा ऽ शक्ति" का अर्थ है कि तत्त्व के समस्तीकरण के अन्दर अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ छिपी हुई हैं। तत्त्व के समस्तीकरण का अर्थ है कि तत्त्व के पदार्थ को समेट कर एक इकाई के अर्धपिण्ड का रूप देना। स्पष्ट है वह अर्धपिण्ड की इकाई प्रकृति में अणु ही बनती है और कोई नहीं। अतः अणु की संरचना में ही ये अट्ठाईस अशक्तियाँ स्थित होनी चाहिए। अशक्ति का अर्थ है कि जहाँ से ऋत की ऊर्जा की शक्ति निकल जाती है वह उस अवर क्षेत्र में अशक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब किसी देव की रचना किसी लोक में ऋत द्वारा होती है तो उस देव के आस पास के क्षेत्र से ऋत की ऊर्जा निकल कर उस देव में सञ्चित होकर समिद्ध हो जाती है। अतः उस देव में ऋत की पराशक्ति स्थित हो जाती है और उसके आस-पास अशक्ति स्थित हो जाती है। जहाँ अशक्ति होगी, ऋत में वहाँ शक्ति अवश्य होगी। शक्ति और अशक्ति का ऋत में युग्म (जोड़ा) बन कर रहता है। अतः अणु की नाभि में जहाँ अट्ठाईस प्रकार की

2
137

अशक्तिशून्य छिपी है, वही उसमें अट्ठाईस प्रकार की शक्तियों भी छिपी है। अतः अणु की नीम में स्थित अट्ठाईस ऐसे स्थान हैं जहाँ पर यह शक्ति छिपी है। वे अट्ठाईस स्थान यौन से हैं, उन्हें इन मन्त्रों में ही गिना दिया गया है। वे इस प्रकार हैं —

पञ्च स्रोतो ऽम्बुम् = पाँच स्थान ।

पञ्च यौन्युग्रावकां = पाँच स्थान ।

पञ्च प्राणौर्मि = पाँच स्थान ।

पञ्च बुद्ध्यादिमूलाम् = पाँच स्थान ।

पञ्चावती पञ्चदुःखीयवैगाम् = पाँच स्थान ।

त्रिवृतम् (पीलत, अशन, द्यूतपृष्ठ) = तीन स्थान ।

जोड़ने पर — कुल स्थान = अट्ठाईस

पृष्ठ (58) पर इन पञ्च स्रोतो अम्बुं, पञ्च यौन्युग्रावकां, पञ्च प्राणौर्मि, पञ्च बुद्ध्यादिमूलाम्, पञ्चावती पञ्चदुःखीयवैगाम् का अर्थ पहले ही बताया जा चुका है। वहाँ देखें। त्रिवृत नीम में बने वाले पीलत, अशन, द्यूतपृष्ठ नाम के तीन नीम के चक्र हैं।

“तमे नैमिम् ----” और “पञ्च स्रोतो ऽम्बुं ----” इन दो मन्त्रों में संक्षेप से जो पदों का वर्णन किया गया है। परन्तु इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए इन मन्त्रों के रचयिता कीपिलः सूषि के सारव्यशास्त्र में तत्त्व समास के जो सूत्र दिये हैं, उनके बिना इन्हें नहीं समझा जा सकता। अतः तत्त्व समास के इन बाईस सूत्रों को भी समझने का अल्प प्रयास कर लें। मैं निम्न प्रकार है —

(1) अथातन्तत्त्व समासः । अथ अतः तत्त्व समासः ।

अब यहाँ से आगे तत्त्व के सिमट कर इक्काट्टे हो कर रुक इक्काई का रचना का पद बनाने की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं।

यहाँ तत्त्व का अर्थ प्रकृति में पाये जाने वाले 110 तत्त्व (Elements) ही हैं। तत्त्व की रचना का रुक इक्काई का पूर्ण पद अणु (Atom) ही बनता है। अतः यहाँ भी आणविक संरचना (Atomic structure) का वर्णन है। 'समास' का अर्थ रचना के पदों का इक्काट्टा हो कर रुक इक्काई का पद बनाना

होता है। 'अ' का अर्थ शुभ कार्य का प्रारम्भ करना होता है। 'अतः' शब्द का अर्थ है- इस कथन के पश्चात्। अर्थात् यहाँ के बाद में।

'अतः' शब्द का अर्थ 'अ' के पश्चात् भी होता है। अर्थात् पहले 'अ' की रचना होती है और उसके पश्चात् ही तत्त्व का समस्तीकरण होता है। 'अ' की रचना सर्वप्रथम तत्त्व की रचना के लिए आवश्यक है। 'सद्' ब्रह्म क्षीर कर 'असद्' ब्रह्म के रूप में बदल कर क्षीर की रचना करता है तथा उस क्षीर के केन्द्र में 'अ' का अवतरण विष्णु के रूप में होता है जो 'परा' शक्ति (Point of high intensity) का अधिष्ठाता होता है। उसके अवतरण के पश्चात् ही उसके रूप क्षीर के चारों ओर अन्य क्षीर चिपकने प्रारम्भ होते हैं। जिस 'अ' की पराशक्ति अधिष्ठा होती है, उस 'अ' के क्षीर के चारों ओर पराशक्ति के उतरते क्रम के अनुसार पदावत रूप में कम पराशक्ति वाले क्षीर चिपकते चले जाते हैं। इस प्रकार उस सर्वाधिष्ठा पराशक्ति वाले 'अ' के क्षीर के ऊपर रूप के बाद रूप रचना के आवरण चढ़ते चले जाते हैं और तत्त्व की रचना का समस्तीकरण प्रारम्भ हो जाता है। इसी कारण 'अ' नाम के विष्णु को आवरणों का देवता बता कर वेदों में सृष्टि का रचयिता बताया गया है। पुराणों में भी यही तथ्य बताया गया है। इस प्रकार सृष्टि के सृजन का जो यज्ञ (special effort) अग्नि के स्वरूप द्वारा चलता है उसका 'अ' ही केन्द्र बन कर चुरा बनता है। इसी कारण सृष्टि सृजन के इस यज्ञ को 'अध्वरम्' नाम दिया जाता है। 'अ' रूप चुरम् यस्य यज्ञस्य तद् अध्वरम्। ऋग्वेद में इस कथन को इस प्रकार कहा है - "अग्नेयं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरीसि। स इद्वैषु गच्छति॥" (ऋग्वेद - 1, 1, 4)। इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ इस प्रकार बनता है -

अग्ने = है अग्नि
यम् = जिसको
यज्ञम् = यज्ञ को,
रचना के विशेष
प्रयत्न को।
अध्वरम् = 'अ' ही जिसके
केन्द्र का चुरा बन कर
यज्ञ की प्रक्रिया का
संचालन करता है, उस
यज्ञ को / उस कृतिता से

रहित यज्ञ को
विश्वतः परिभूरीसि = सब ओर से घेर कर
रूप दूसरे के ऊपर होने वाला
(आवरण)। यही आवरण रूप-रूप
लौक्य बनता है।
असि = तू है। अर्थात् यह सारी रचना ही
तू 'अग्नि' है।
सः = वह (अ का रूप विष्णु बन कर जिस
अध्वर यज्ञ की अग्नि की संरचना करता
है, वह अग्नि के रूप में विष्णु का रूप ही)

इत् देवेषु = इत् (Electrons) देवताओं में। इत्-देवों के स्वरूप की रचना में।

गच्छति = जाता है। एक के ऊपर एक आवरण बनाता हुआ वह 'अ' की संरचना का स्वरूप ही अणु की नाभ के केन्द्र बिन्दु के स्वरूप से लेकर नाभ के बाहर विनाश प्रक्रिया में स्थित 'इत्' देवों में उनका अंग बनने के लिए जाता है।

इस प्रकार इसमें भी "अथातस्तत्त्वसमासः" सूत्र का अर्थ ही बताया गया है। दोनों का भावार्थ एक समान है। क्योंकि पूर्ण अणु की रचना 'इत्' कणों की रचना पर पूर्ण हो जाती है और पूर्ण अणु (Atom) बनने पर उस अणु का तत्त्व (Element) बन जाता है।

(2) अच्छी प्रकृतयः = एक तत्त्व को बताने वाला जो अणु (Atom) बनता है, उसकी आठ प्रकार की प्रकृतियाँ (स्वभाव, Nature of behaviour) होती हैं। इन आठ प्रकार की प्रकृतियों के कारण ही Periodic Table में अणुओं की व्यवस्था आठ के क्रम से होती है। प्रत्येक आठवें तत्त्व के अणु के अन्दर घड़े से विशेष अन्तर के साथ लगभग सभी वे ही प्रकृतियाँ आ जाती हैं। आधुनिक विज्ञानवेत्ता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। इस क्रम में केवल प्रथम दो तत्त्व हाइड्रोजन और हीलियम ऐसे हैं जो इस आठ के क्रम में प्रकृतियों के अन्दर हाइड्रोजन प्रथम चक्र के प्रारम्भ में और हीलियम प्रथम चक्र के अन्त में आता है। मध्यान्तर में इस प्रथम चक्र में कोई तत्त्व नहीं आता। पृष्ठ (86) पर पीरियडिक टेबल देखें।

(3) षोडशवस्तु विचारः। [षोडश कः तु विचारः]

कः तु षोडश विचारः। अर्थात् 'क' कण के सोलह प्रकार के विचार हैं। 'क' कण रचित होने के पश्चात् तुरन्त अपने सोलह विचारों को प्रकट करता हुआ अश्वनी की संरचना में अपने आप को व्यवस्थित करता है। एक 'अश्वनी' में सोलह 'क' कण विभिन्न स्थानों में अपने विचार को प्रकट करते हुए स्थित होते हैं। देखें पृष्ठ (82) पर 'क' कण तथा 'अश्वनी' का चित्र। 'क' कण में ये सोलह विचार बनने का कारण 'क' कण के दशमौलिक अर्थों की ईशानी के अश्वों में बिपा है, जिनकी रचना 'षोडशान्तम् अरम्' की बनती है। 'अश्व' की रचना पृष्ठ (79) पर देखें।

- (4) पुरुष: = 'क' कण में द्वा मौलिक अर्थों की रचना पुरुष द्वारा होती है।
पुरुष ही वह सब कुछ है जो श्रुत को द्वा मौलिक अर्थों में रच कर बदलता है। $E = mc^2$ सूत्र का स्पष्टीकरण पुरुष की रचना में ही होता है।
पृष्ठ (74) पर पुरुष की रचना देखें। पुरुष ही सब का नियन्ता बनता है।
- (5) त्रैगुण्यम् = 'पुरुष' के 'पुर' में से सर कर बाहर निकलने के स्तर के तीन गुण हैं। ये महर्षि व्यास ने तपःलोक के देवनिष्ठा बतों के समय (1) आभास्वरा, (2) महाभास्वरा, (3) सत्यमहाभास्वरा बतों में हैं। इन से क्रमवार जड़ प्रकृति का जगत्, अर्धचैतन बनस्पति का जगत् और पूर्ण चैतन प्राणी जगत् की रचना होती है। प्राणी जगत् की मनोवृत्ति में आगे चलकर सत, रज, तम, ये तीन गुण बन जाते हैं।
- (6) सञ्चरः प्रतिसञ्चरः = पुरुष के सरण गति (Linear Motion) के स्तर के आभास्वरा, महाभास्वरा, सत्यमहाभास्वरा, इन तीन गुणों के कारण ही सम्भूति और विनाश की प्रक्रिया में सञ्चरः प्रतिसञ्चरः की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। सञ्चरः की क्रिया से श्रुत से पदार्थ की रचना होकर तत्त्व के पिण्ड की सम्भूति का उदय होता है और प्रतिसञ्चरः की क्रिया से पदार्थ पुनः विनाश की प्रक्रिया में जा कर श्रुत में बदल कर अपने पदार्थ के रूप के अस्तित्व को मिटा कर श्रुत की ऊर्जा के रूप में आ जाता है। सम्भूति और विनाश की प्रक्रियाओं का साध-साध चलने का यह कारण सञ्चरः प्रतिसञ्चरः की पुरुष की सामर्थ्य में छिपा है। श्रुत की गति के स्तर बढ़ने से सम्भूति और घटने से विनाश का क्रम चलता है।
- (7) अध्यात्ममधिभूतमधिदैवम् = इस त्रिगुणात्मक पुरुष द्वारा अधीपियों की संरचना में अध्यात्म अंग, अधिभूत अंग, अधिदैव अंग, इन तीनों अंगों की सम्यक् प्रवृत्ति से सुव्यवस्थित रूप से ग्रथित संरचना होती है। इन तीनों अंगों का विवेचन गीता के मतानुसार पृष्ठ 10 पर देखें।
- (8) पञ्चाभिबुद्धयः = पुरुष द्वारा श्रुत से जो अधीपियों की रचना मौलिक अर्थों (Basic particles of Matter) के रूप में होती है, उनकी अभिमुखी अभिबुद्धियाँ, जो उन्हें आपस में बद्ध करती हैं, पाँच प्रकार की होती हैं। इन्हीं पाँच प्रकार की अभिमुखी बुद्धियों के कारण ही पञ्चमहाभूतों की संरचना (Five states of Matter) होती है।

अभिबुद्धि की अर्थ है अपनी ओर खींच कर अपने साथ बाँधने की वृत्ति। जब यह वृत्ति सर्वाधिक होती है तो मौलिक अर्थों से बने रजकण आपस में एक-दूसरे की नाभि के अन्दर बहुत जोर से खींचते हैं। इससे अणु के पदार्थ की मात्रा गहज हो जाती है और वह अणु भारी हो जाता है। दूसरे उस अणु में भी दूसरे अणु को अपनी ओर खींचने की शक्ति अधिक हो जाती है। अतः उन अणुओं से बने प्रोग (Molecules) और उन प्रोगों से बने पिण्ड (Blocks) स्थूल होकर पृथिवी महाभूत (Solid) का रूप ले लेते हैं।

इसी प्रकार जब इस अभिबुद्धि की शक्ति कुछ कम हो जाती है तो उन अणुओं के प्रोग से बना पदार्थ का स्वरूप जलीय (Liquid) अवस्था में हो जाता है। जब यह शक्ति अभिबुद्धि की और कम हो जाती है तो उस अणु या प्रोग स्वतन्त्र रूप से विचरण करने लग जाते हैं। उस समय वह वायु महाभूत (Gas) अवस्था का पदार्थ बन जाता है।

जब यह अभिबुद्धि की शक्ति और क्षीण हो जाती है तो अणु स्वयं अपनी संरचना करने वाले रजकणों को पूर्ण रूप से अपने पास में बाँध कर नहीं रख पाता। उस समय वे अणु साम्य अवस्था में न रह कर अयनिक (Ionic form) अवस्था में आ जाते हैं। उनमें ऋणात्मक या धनात्मक $(-ve \text{ or } +ve)$ आवेश उत्पन्न हो जाता है। वे अणु स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हुए ऊर्जा को छोड़ने लग जाते हैं, जिससे तपस्-उत्पन्न हो जाती है। वे अणु रासायनिक प्रिया भी करने लग जाते हैं। अणुओं से बने उस महाभूत को 'अग्नि' महाभूत नाम दे दिया जाता है।

जब यह अभिबुद्धि की शक्ति और अधिक क्षीण होकर निम्नतम स्तर की हो जाती है तो नाभि के अन्दर स्थित रजकण आपस में एक-दूसरे को खींच कर आबन्धित नहीं कर पाते। परिणाम स्वरूप अणु की नाभि पूरी नहीं बन पाती। वे नाभि के अवयव बिखर कर स्वयं ही स्वतन्त्र रूप से विचरण करने लग जाते हैं। पदार्थ के भूतों की उस अवस्था को आकाश (Space) महाभूत कहा जाता है। (spaceous form of Matter)। इस प्रकार यह अभिबुद्धि पाँच प्रकार की बन कर पञ्चमहाभूतों की रचना करती है।

पञ्च अभिबुद्धयः इति पञ्चाभिबुद्धयः। अभिमुखी आकर्षण शक्त्या बद्धनात् अभिबुद्धयः।

- (१) पञ्च कर्मभोजनः = पञ्च महाभूतों में प्रत्येक प्रकार के महाभूत के कर्म करने की योग्यता अलग-अलग होने के कारण ये पाँच ही महाभूतों की कर्मभोजन हैं। पाँचों महाभूतों के अलग-अलग भौतिक गुण तथा रासायनिक गुण बने हैं, जिससे वे पाँचों अपना अलग-अलग प्रकार का

काते करते हैं। इस कारण ये पञ्चमहाभूत - पदार्थ के भूत की पाँच अग्निगोनियाँ हैं।
 (10) पञ्चधातवः = 'वैश्व' शब्द से 'वायु' शब्द बनता है। 'वैश्व' का अर्थ होता है -
 ऊर्जाधारक। पाँचों महाभूतों में पाँच अभिमुखियाँ होने के कारण पाँच प्रकार
 का ही ऊर्जा का स्तर है। उस ऊर्जा के स्तर की भिन्नता के कारण इनके रचनाओं
 में सृष्टि गति (कम्पन गति) का वैश्व पाँच प्रकार का ही होता है। उस गति
 के वैश्व की ऊर्जा को ही 'वायु' कहा जाता है। वायु का वैश्व ही होता है जो
 उसके स्वरूपों को पाँच-मिन्न-मिन्न लाभ देता है और उनका वर्गीकरण करता है।
 ऋतु के वैश्व की ऊर्जा के स्तर पाँच प्रकार के प्राणों की रचना कर
 देते हैं, जिन्हें प्राण, समान, उदान, अपान, व्यान कहा जाता है।
 इनमें ऋतु का पञ्चावर्त भी ऋतु के वैश्व की ऊर्जा के इन्हीं पाँच
 स्तरों के कारण बनते हैं। पञ्चावर्त पीछे बताया जा चुका है। पञ्चावर्त की
 रचना का चित्र पृष्ठ (41) पर देखें।

(11) पञ्च कर्मात्मानः = ऋतु की तरंगों से ही नाभ (Navel) में 'पुरुष'
 की रचना होती है। वही पुरुष अपने अनुसार मोलिक अणुओं की रचना करता है
 और अपने अभीष्ट पदार्थ द्वारा इस चराचर जगत की रचना करता है। इस
 प्रकार रचना करके वह पुरुष ही इस चराचर जगत के रचित किसी भी
 अणु पिण्ड में पुनः प्रवेश करके उसमें प्राणों की संरचना करता हुआ
 सजीवता उत्पन्न करता है और आत्मा का रूप धारण कर लेता है। इस
 प्रकार वह पुरुष ही आत्मा बन जाता है। यजुर्वेद में और ईशोपनिषद् में
 इसी बात को, "ग्रीड सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" कह कर बताया
 गया है। जिसका अर्थ है कि जो यह पुरुष है, वही मैं आत्मा रूप में हूँ।

अतः इस पुरुष रूप आत्मा के चेतना प्रदान करने के लिए किसी
 भी पिण्ड में प्राणों का फूँकने का कार्य आवश्यक है। जिस पिण्ड में
 से प्राण निकल जाते हैं, वहाँ प्राणों की ऊर्जा समाप्त होकर चेतना
 समाप्त हो जाती है और वह पिण्ड जड़ पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है।
 अतः आत्मा का कर्म प्राणों का फूँकना है। ये प्राण पाँच प्रकार के
 होते हैं, जिन्हें प्राण, समान, उदान, अपान, व्यान नामों से जाना जाता
 है। इन पाँचों प्राणों के अलग-अलग कार्य हैं, जो किसी भी योग की
 पुस्तक या आयुर्वेद की पुस्तक को पढ़ कर जाने जा सकते हैं। संक्षेप
 में - प्राण पिण्ड को प्राणित करके ऊर्जा का संचार करते हैं। समान
 उस ऊर्जा को पूरे पिण्ड में समान रूप से वितरित करते हैं। उदान
 प्राणों की ऊर्जा में विभिन्न अंगों में अभीष्ट कार्य हेतु उत्तार संचार
 का कार्य करते हैं और मस्तिष्क को सर्वाधिक ऊर्जा प्रदान करते हैं।
 अपान विच्छेदन का कार्य करते हैं। पिण्ड में से मल का विच्छेद

करके उस मल को पिण्ड से बाहर निकाल देते हैं और शुद्ध सत्व से पिण्ड को पोषित करते हैं। वयान सम्पूर्ण पिण्ड में प्राणों के सभी प्रकार के विभिन्न कार्य को एक सूत्र में ग्रथित करके सभी के अन्दर साम्यता प्रदान करते हैं और पिण्ड को पूर्ण चेतना को एक इच्छा का रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये पाँच प्राणों के कार्य ही आत्मा के पाँच कार्य कहे जाते हैं। इस उपनिषद् में इस बात को इस मन्त्र में "पञ्चप्राणोर्मि" कह कर बताया गया है।

(12) पञ्चपर्व विद्या = विद्या और अविद्या के स्वरूप के पाँच पर्व हैं। जहाँ विद्या होगी वहाँ उसके साथ अविद्या अवश्य होगी। इन दोनों का युग्म जब साम्यता को चरण करके स्थापित हो जाता है तभी सृष्टि के कार्य का सञ्चालन का कार्य मूर्तरूप चरण करता है। अकेली विद्या या अकेली अविद्या से कार्य नहीं चल सकता। इसी कारण ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या के विषय में कहा है कि-

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते ॥

अर्थात् विद्या और अविद्या को जो साथ-साथ जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु से तर कर विद्या के द्वारा अमृत अवस्था का पान करता है।

ये विद्या और अविद्या क्या हैं? प्रश्न इन्हें समझ लेना चाहिए। इन विद्या और अविद्या का वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आया है। मन्त्र है -

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् - 5, 1)

अनन्त, अक्षर ब्रह्म की परा शक्ति में दो शब्द विद्या और अविद्या गूढ़ अर्थ में निहित होते हैं। उस परा शक्ति में जो क्षर रूप है वह अविद्या है और उसी परा शक्ति में जो अमृत रूप है, जो आगे कभी नहीं मरता, वह विद्या है। इस विद्या और अविद्या के स्वरूप को जो शासित करता है, वह तो अन्ध ही कोई है।

अर्थात् अनन्त अक्षर सद्-ब्रह्म में जब क्षरण प्रारम्भ हो कर एक से अनेक रूप बनते हैं तो एक क्षीर में परा शक्ति के बिन्दु के रूप में केन्द्र में 'अ' की विशेष द्युति प्रकट होती है। वही 'अ' की विशेष द्युति अविद्या कहलाती है। 'अ' की विद्या ही 'अविद्या' है। ऋत की संरचनाओं में

‘अ’ की विशेष द्युति के द्वारा जो स्वरूप प्रकट होते हैं, उन्हें ‘अविद्या’ कहा जाता है। इसी क्षरण की प्रक्रिया में जब क्षरते-क्षरते वह अन्तिम अवस्था आ जाती है जहाँ से आगे और क्षरण नहीं हो सकता, तो वह ‘अमृत’ अवस्था का रूप आ जाता है। वह अक्षर रूप है। उस अक्षर, अमृत रूप की पराशक्ति की विशेष द्युति को ‘विद्या’ कहा जाता है। ‘विद्या’ के स्वरूप में असद्-क्षर ब्रह्म से अक्षर सद-ब्रह्म उत्पन्न हो जाता है। ऋग्वेद में इसी को, “देवानां पूर्व्यं युगेऽसत्; सदजायत,” (ऋग्वेद-1, 72, 2) कह कर बताया गया है। इस कथन का अर्थ है - देवों की रचना के पूर्व के युग में असत् ब्रह्म से सद-ब्रह्म उत्पन्न हुआ। यह उत्पत्ति पूर्वोक्त विधि की क्षरण प्रक्रिया द्वारा ही होती है। अतः वह सद-ब्रह्म का अमृत रूप ही ‘विद्या’ के अर्थ को गूढ़ रूप में प्रकट करता है और क्षरण की प्रक्रिया को निरन्तर द्योतित करता हुआ असद्-ब्रह्म का रूप ही ‘अविद्या’ के अर्थ को गूढ़ रूप में प्रकट करता है।

इस प्रकार ‘विद्या’ और ‘अविद्या’ ये दोनों स्वरूप गूढ़ रूप में ‘ऋत’ की प्रक्रिया में ही प्रकट होते हैं। ऋत की प्रक्रियाओं की संरचनाओं की द्युति को ही वेदों में ‘द्यौ’ कहा जाता है। जब द्यौ से पुरुष की प्रक्रिया द्वारा मौलिक अर्थों की संरचना होकर अर्थपिण्डों की रचना का स्वरूप प्रकट होने लग जाता है तो ‘पृथिवी’ का स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकार ‘पृथिवी’ में पञ्चमहामूर्तों का समावेश प्रकट हो कर तत्त्व का समस्तीकरण हो जाता है। ‘पृथिवी’ के इस स्वरूप की संरचना को ‘सम्भूति’ कहते हैं। ‘पृथिवी’ के स्वरूप में क्षरण होकर पुनः अपने मूल-रूप ‘ऋत’ में परिवर्तन होने की प्रक्रिया को ‘विनाश’ या असम्भूति अर्थात् ‘अ’ की सम्भूति कहा जाता है। इस प्रकार सम्भूति और असम्भूति या विनाश ये पृथिवी के पञ्चमहामूर्तों के पदार्थ की संक्रिया (Function) के गूढ़ अर्थों को बताने वाले दो शब्द हैं, जबकि विद्या और अविद्या द्यौ में स्थित ऋत की संक्रिया के गूढ़ अर्थों को बताने वाले दो शब्द हैं।

इसी ‘अ’ की विद्या जो क्षरण की प्रक्रिया है और जो अविद्या कहलाती है, उस प्रक्रिया को योग साधना में योगी अपना कर अपनी मृत्यु से तर जाता है। वह क्षरण की प्रक्रियाओं द्वारा समस्त कामनाओं और संकल्पों का अपने अन्दर से क्षरण करके अपने वैश्व के शुद्ध रूप

को प्राप्त कर लेता है। जिससे वह मृत्यु से तर कर सद्-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप में विलीन हो जाता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। फिर उसका कभी जन्म नहीं होता। जब जन्म नहीं होगा तो मृत्यु भी नहीं होगी। इसी प्रकार सङ्भूति प्रक्रिया में पदार्थ के स्वरूप की संरचना और विनाश की प्रक्रिया में मृत के स्वरूप की प्राप्ति के द्वारा अविद्या के स्वरूप में स्थापित होकर मृत्यु से तर जाता है। पुनः सद्-ब्रह्म की सम्भूति की अवस्था में आकर अमृत अवस्था का पान करता है।

अतः 'अ' की विद्या - 'अविद्या' धरण की प्रक्रिया मृत के अन्तर जब बनती है तो उसके साथ विशेष देव की स्तुति को प्रकट करने वाली 'विद्या' का स्वरूप भी उसके साथ-साथ बनता है। मृत के अन्तर 'अविद्या' की धरण प्रक्रिया द्वारा पञ्चावर्तों की रचना होती है। इन पाँचों आवर्तों की रचना के पदावत चढ़ते क्रम में पाँच पर्व बनते हैं। प्रथम पर्व में 'क्षीर' की रचना में 'विष्णु-आवर्त' बनता है। दूसरे पर्व में 'सवितृ' का 'सवितृ-आवर्त' बनता है। तीसरे पर्व में 'पुरुष' का 'ईशान-आवर्त' बनता है। चौथे पर्व में 'मौलिक' अर्थों को ग्रथित करने वाला मृत का 'कलिलावर्त' बनता है। पाँचवें पर्व में अणु के पदार्थ को ग्रथित कर के पूर्ण अणु का साम्प्रत्य प्रदान करने वाला मृत का 'नचिष्येतावर्त' बनता है। इस प्रकार 'पञ्चावर्त' की विशेष स्तुति को प्रकट करने वाली 'अ' की विद्या - अविद्या - के पाँच पर्व सृष्टि सृजन में तत्त्व समास की प्रक्रिया में बन जाते हैं। अतः पाँच पर्वों की अविद्या है। पञ्चावर्त का चित्र पृष्ठ (41) पर देखें।

इस उपनिषद् के अन्तिम पाँच अध्यायों में इन पाँचों पर्वों की रचनाओं का वर्णन दिया गया है। दूसरे अध्याय में ब्रह्म के सद् रूप में सृष्टि सृजन की इच्छा जागृत होने के लिए मन का सविता के साथ मिलान बताकर विष्णु आवर्त की रचना का स्वरूप समझाया गया है। मन्त्र है - युञ्जानः प्रथमम् मनस्तत्त्वाग्र सविता धियः ।

अर्चनेज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्यामरत ॥ (श्वेताश्वतार उपनिषद्-1-2)
अर्थात् पहले सवितृ मन तत्त्व के लिए बुद्धि के साथ सृष्टि सृजन के लिए जुड़ता है। (जिससे विष्णु आवर्त बन जाता है।) उसके पश्चात् अग्नि अपनी ज्योति निःसृत करके पृथिवी के पञ्चमहाभूतों का भरण -

पौषण करती हुई सृजन करती हैं।

दूसरे पर्व में सवितृ आवर्त में सवितृ की आभास्वरा रीश्मियों के द्वारा ईशान किरणों का जाल बनता है, जिनके द्वारा रुद्र पुरुष का रूप चारण करके पूर्ण सृजन को शासित करता है। मन्त्र हैं -

य स्रक्वो जालवानीशत ईशानीभिः सर्वा लोका नीशत ईशानीभिः।

य स्रक्वो उदभवे सम्भवे च य स्रक्वो विदुरमृतारस्ते भवन्ति।

स्रक्वो ही रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमां लोका नीशत ईशानीभिः।

प्रत्यङ् जानां तिष्ठन्ति संचुक्वो चान्त काले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः।

अर्थात् वह स्रक्व ही रुद्र है, रुद्र के अतीरव्य और कोई दूसरा नहीं है

जो अपनी ईशानी रीश्मियों के (दशांगुल स्वरूप के) जाल के द्वारा जालवान बन कर सभी लोकों को शासित करता है। उदभव और सम्भव दोनों अवस्थाओं में वह स्रक्व ही रुद्र का स्वरूप धारण करता है। इस बात को जानने वाले जानी ही अमृत स्वरूप में होते हैं। यह रुद्र सारे भुवनों को उत्पन्न करके उन के विनाश के पश्चात् भी स्थित रहता है। यहाँ सम्भूति और विनाश प्रक्रिया में ऋतु की सत्ता रुद्र द्वारा बताई गई है।

इसी भाग में पुरुष का भी अध्ययन है -

पुरुष स्रक्वो सर्वम् यद्भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृत त्वस्यैवानो यदन्नेनातिरोहीत ॥

पुरुष ही यह सबकुछ है जो भूत रूप में हुआ है या होने वाला है।

पुरुष का यह ईशान रीश्मियों का वह अमृत तत्व ही है, जिस अमृत तत्व का ईशान रूप अन्न के द्वारा प्राणिमय में तिरोहित होता है।

तीसरे पर्व में रुद्र की ईशानी रीश्मियों के दशांगुल रूप द्वारा जो दशमौलिवायों का 'क' कण इन्द्र बनता है, वह अनेकों रूपों को चारण करता हुआ सृजन के स्वरूपों में विभज्जता उत्पन्न करता है। मन्त्र हैं -

य स्रक्वो ऽवर्णो बहुधा शक्ति योगा कृणां जनेकान् निहितार्थो दधाति।

विधेति चान्तो विश्वमादौ सदैवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुज्यते ॥

जो स्रक्व ही वर्ण रहित रुद्र अपनी बहुत प्रकार की शक्ति के योग से अनेकों निहित अर्थों के पिण्डों के रूप चारण करता है। वही देव आदि में और अन्त में सारे सृजन और विनाश के कार्य को करता है। वही देव हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। अर्थात् हम अपनी बुद्धि को विनाश के स्थान पर सृजन में लगायें।

दशमौलिवायों के बने 'क' कण - इन्द्र के द्वारा बहु रूप की रचना को ऋग्वेद में, "रूपं रूपं मद्यवा बोधवीति माया कृणवानः" (ऋग्वेद-3, 53, 8)

कह कर बताया है। अर्थात् - इन्द्र अनेकों रूपों को धारण करता हुआ माया की रचना करता है। माया-प्रकृति का स्वरूप है।

चौथे पर्व में विद्या-अविद्या का अध्ययन आता है। इसे पहले बताया जा चुका है। विद्या और अविद्या के द्वारा सम्भूति की रचना होकर पदार्थ के द्वारा कलिल की रचना हो जाती है। इस प्रकार कलिलावर्त बन जाता है। कलिलों में षड्वन्दारका (Six quarks) और त्रिवर्त्माओं (The three messons m^0, m^+, m^-) की रचना आ जाती है।

पाँचवें पर्व में नीचैतावर्त में पूर्ण ब्रह्मचक्र बन कर पञ्चावर्त की रचना पूर्ण हो जाती है। मन्त्र है -

स्वभावमेवै कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।

देवस्यैष महिमा तु लोके प्रेनेदम् आम्न्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

अर्थात् कुछ ज्ञान्त दृष्टा कवि सृष्टि इस पञ्चावर्त के स्वभाव को बताते हैं, दूसरे इससे काल को बताते हैं और कुछ इससे चारों ओर घूमने को बताते हैं जिससे यह परिमुह्य अवस्था में रहता है। इस पञ्चावर्त देव की महिमा से ही लोको में यह ब्रह्मचक्र घूमता है। अर्थात् लोकों में स्थित सभी देवनिष्ठा इस ब्रह्मचक्र के बल से गति के लिए आवश्यक बल अर्जित करके अपने-अपने विशेष पथ पर घूमते हैं।

इस प्रकार पाँच पर्वों की यह अविद्या है। अणु की नाभि की रचना में पञ्चावर्तों के ऊपर द्यौ में सप्तलोकों की रचना को पीछे बताया जा चुका है।

(13) अष्टाविंशतिधाऽशक्ति = अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ होती हैं। ये अशक्तियाँ शक्ति के साथ अट्ठाईस बिन्दुओं पर नाभि में छिपी हैं। अर्थात् अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) में अट्ठाईस ऐसे बिन्दु हैं जिनमें ऊर्जा का बल छिपा है। इनका वर्णन पीछे पृष्ठ (137) पर दिया जा चुका है। वहाँ देखें।

(14) नवधा तुष्टिः = नौ प्रकार की तुष्टियाँ होती हैं। जब सवितृ की ईशान रश्मियाँ अपनी सब-शक्ति के द्वारा सृजन, पोषण करती हुई अपनी सरण गति (Lunar motion) के सूर्य पथ पर नव द्वारों से गुजरती हैं तो प्रत्येक द्वार पर तुष्टि होकर सृजन के एक स्वरूप की रचना कर देती हैं। इस प्रकार नौ तुष्टियों से नौ प्रकार की रचनाएँ इस व्योम में स्थापित हो जाती हैं। ये नौ प्रकार की रचनाएँ हैं - (1) क्षीर, (2) अङ्गिरा, (3) अर्णु, (4) अदिति, (5) 'क' कण, (6) अश्विनौ, (7) षड्वन्दारकाः, (8) त्रिवर्त्मा (9) नीचैताविन का पूर्ण अणु (Atom) ।

इन सभी जीवों के रचना के चित्र और वर्णन दीखे बताये जा चुके हैं।
इन जीवों द्वारा की बताने वाला मन्त्र - "नवद्वारे पुरे देहि ---"। आगे इस
उपनिषद् में बताया जायेगा।

इन नव-द्वारों पर (1) प्रकृति, (2) उपादान, (3) काल, (4) भाव, (5) उपार्जन, (6) रक्षण, (7) विषय तारतम्य दोष, (8) संग, (9) हिंसा नाम की तुष्टियाँ होती हैं। इन्हें विस्तार से आगे सम्बन्धित मन्त्र की व्याख्या में बताया जायेगा।

(15) अष्टधा सिद्धिः। = सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं।
आठों प्रकृतियों को सिद्ध करने के लिए भी आठ प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं।
विषय तारतम्य दोष और संग की तुष्टियों पर नियन्त्रण पाने से
यत्रव्याभावसायित्व की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जिससे भूतजय
की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस भूतजय की सिद्धि के अन्तर्गत ही
आठ प्रकार की उपरोक्त सिद्धियाँ आती हैं। ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ
हैं - (1) अणिमा, (2) लघिमा, (3) महिमा, (4) प्राप्ति, (5) प्राप्ताभ्य, (6) विशिष्टत्व, (7) ईशित्व, (8) यत्रव्याभावसायित्व। इन सभी का
वर्णन पातञ्जल योग दर्शन में किया हुआ है। विभूति पाद के पैतालीसवें सूत्र
"ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसमस्तच्छर्मानभिध्यातश्च।" - सूत्र की
व्याख्या में महर्षि व्यास ने उपरोक्त आठों प्रकार की सिद्धियों की व्याख्या
की हुई है। वहाँ इन्हें देखा जा सकता है।

(16) दशमौलिवर्थाः। = पुरुष द्वारा द्यौ के ऋतु के अर्थों के रूप में
बदलते समय दश मौलिक अर्थों की रचना हो जाती है, जिनके वाचन से
रूप 'क' का बन जाता है। इसी 'क' का को 'इन्द्र' कहा जाता है।
पृष्ठ (52) पर 'क' का चित्र देखें। पुरुष के चित्र में पृष्ठ (79) पर
पुरुष के दशांगुल स्वरूप द्वारा 'क' का की रचना का चित्र देखें, जिसमें
दशमौलिक अर्थ (The ten basic mass particles) बनते दिखाये गये हैं।

(17) अनुग्रहः संगः। = सृष्टि सृजन की रचना के क्रम के आरम्भ में
में देवों की एक के बाद एक पदावत रचना होती चली जाती है। इस
पदावत रचना के क्रम में एक देव के अंश के ग्रन्थ से दूसरे देव के अंश
का ग्रन्थ चलता है। अर्थात् प्रथम रचने वाले देव के स्वरूप से बाद में रचने वाले
देव का स्वरूप बनता है। इस रचना के पदावत क्रम की एक श्रृंखला
बन जाती है। इस श्रृंखला का प्रत्येक देव नाम के केन्द्र के चारों ओर एक वृत्त
के आकार के पथ पर चक्कर लगाता है। इस दीर्घवृत्ताकार (Elliptical)
पथ को ही अनुग्रहसर्ग कहा जाता है। जो रचना की श्रृंखला में दूसरे देव
बनते हैं, उन्हें 'ग्रह' कहा जाता है। उन ग्रहों की गति के जो दीर्घवृत्ताकार पथ बनते
हैं, जिन पर वह ग्रह अपनी क्रिया करता हुआ चलता है, उस पथ को उस ग्रह का अनुग्रह

का सर्ग कहा जाता है। ब्रह्म के अनुगमन के उस सर्ग को ही, 'अनुग्रहः सर्गः' - कहा गया है। प्रत्येक देव रूपा ब्रह्म के अनुसरण के लिए उसका अपना अनुग्रह सर्ग है।

(18) चतुर्दशधा भूतसर्गः। = भूत की रचना के पदावत क्रम की श्रृंखला में चौदह प्रकार के सर्ग हैं। भूत की रचना के पदावत क्रम में सम्भूति और विनाश दोनों को साथ-साथ मिला कर रचना के क्रम को प्रस्तुत करने से ही रचना का चक्र पूरा होता है। जहाँ असद् ब्रह्म के 'अ' से रचना का क्रम प्रारम्भ होकर सम्भूति की प्रक्रिया बनती है वहीं 'इत्' 'कण' से विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ होकर 'अ' के असद् रूप क्षीर पर ही आकर इसका चक्र पूरा होता है। इस प्रकार अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) में सात देवलोको (भूः, भुवः, स्वः, सहः, जनः, तपः, सत्यम्) के सर्ग और सात पाताल लोकों (महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल) के सर्ग, कुल मिलाकर भूत के ये चौदह सर्ग बनते हैं।

पृष्ठ (272) पर आगे अणु की नाभि में विष्णु के सप्ताङ्गगर्भा रेत का बना चित्र देखें। यह सातों लोकों में $\pm \frac{1}{2}$ स्पिन करता हुआ $7 \times 2 = 14$ प्रकार के भूतों के सर्गों की रचना नाभि में करता है। ये भूतों के पैदा होने के चौदह प्रकार के सर्ग बनते हैं।

(19) त्रिविधो बन्धः = तीन प्रकार के बन्ध होते हैं। अणु (Atom) की नाभि की रचना में 'पलित', 'अश्न', 'घृतपृष्ठ', ये तीन चक्र अलग-अलग बताये हैं। पृष्ठ (45) पर चित्र देखें। इन तीनों प्रकार के चक्रों में रचना को समस्तीकरण के रूप में बाँध कर एक इकाई में प्रकट करने के लिए आबन्धन (Binding) की क्रिया अलग-अलग प्रकार से होती है। इस प्रकार तीनों भागों में तीन प्रकार से आबन्धन क्रिया होती है। अतः ये तीन प्रकार के बन्ध हैं।

पलित के ऋतु में आबन्धन क्रिया ऋतु में बने क्षीरों के सप्तपरावृत्तों (Seven Hypercircles) और अष्टापरावृत्तों (Eight Hypercircles) के द्वारा होती है। सप्तपरावृत्त से ऋतु अष्टापरावृत्त में जाता है और अष्टापरावृत्त से ऋतु सप्तपरावृत्त में जाता है। इस प्रकार विनिवर्तन के चक्र द्वारा ऋतु के घूमने के चक्र द्वारा अणुओं का श्रृंखला में आबन्धन होकर 'अश्न' की रचना ऋतु की तरंगों के रूप में हो जाती है। इसी प्रकार सत्यलोक की रचना होकर उसके ऊपर तपः, जनः लोकों के आवरण चढ़ जाते हैं और एक 'अणु' की रचना हो जाती है।

'अश्न' भाग में 'ऋतु' की तरंगों के अश्नों को 'त्रित' जोड़ कर मीहजात अणुओं को संहित करके रजकणों की रचना करता है। 'त्रित' में एक अणु में अन्य दो अणु और समाहित हो कर तीन अणुओं का एक सव्यन और संहित रूप एक मौलिक अर्थ का बन जाता है। उसके पश्चात मौलिक अर्थों से बने 'क' 'कण' कलिलावर्तों के बल से घूमते

(150)

हुए अपने आप को रजकणों के रूप में व्यवस्थित करते हैं। यह व्यवस्था आत्मगुण की व्यवस्था कहलाती है।

तीसरे द्युतपृष्ठ भाग में भी नीचैतावर्त द्वारा अन्न भाग से आये हुए देव गीर्घित होकर 'न', 'चिच्छ', 'इत्' कणों का रूप बना लेते हैं। इस प्रकार ये तीन प्रकार के बन्ध तीनों चक्रों में बन जाते हैं।

बन्धों में बंध कर देही जो स्थूल और सूक्ष्म बहुत सारे रूपों को चारण करती है, वहाँ भी तीन प्रकार के गुणों द्वारा अलग-अलग प्रकार के तीन प्रकार के बन्ध ही इस उपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताये हैं। मन्त्र है - स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देहि स्वगुणैर्वृणोति।

क्रिया गुणैरात्मगुणैश्च तेषाम् संयोग हेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥
अर्थ है - स्थूल और सूक्ष्म बहुत सारे रूपों को आत्मा अपने गुणों के द्वारा चारण करती है। इन बहुत सारे रूपों के बन्धन को वह क्रिया गुण के द्वारा, आत्मगुण के द्वारा चारण करती है। इससे संयोग का तीसरा कारण अपरगुण की देखा गया है।

अर्थात् (1) क्रियागुणों के द्वारा बना बन्ध, (2) आत्मगुणों के द्वारा बना बन्ध, (3) अपरगुणों के द्वारा बना बन्ध, ये तीन प्रकार के बन्ध होते हैं जो आत्मा को स्थूल और सूक्ष्म बहुत सारे रूपों में बाँधते हैं।

अपरगुण के द्वारा तो एक रूप में बना सद्-ब्रह्म सृष्टि सृजन की इच्छा जागृत होने के कारण क्षीरों के बहुत सारे रूपों में बँटता है और असद् ब्रह्म में बदल कर मृत का रूप चारण कर लेता है।

आत्मगुणों के द्वारा मृत के अन्दर पञ्चावर्तों की रचना, अणु की रचना, अक्षु (मृत की तरंगों) की रचना, पुरुष की रचना होती है। पुरुष ही आत्मा का स्वरूप चारण करके अपने द्वारा ऐसे अणुओं (Atoms) की रचना करता है जिनके योग (Molecule) प्राणियों की कोशिकाओं (Animal cell) की रचना कर देते हैं या बनस्पति कोशिकाओं (Biological cell) की रचना कर देते हैं।

क्रिया गुणों के द्वारा रासायनिक क्रियाएँ हो कर विभिन्न प्रकार के योग (Molecule) बनते हैं। नाभिकीय क्रियाएँ होकर तत्त्वान्तरण द्वारा एक तत्व के अणु दूसरे तत्व के अणु में बदल जाते हैं। ये क्रिया गुणों के द्वारा बने बन्ध कहलाते हैं। इस प्रकार ये तीन प्रकार के बन्ध बनते हैं।

इन क्रिया गुणों के बन्धों में भी (1) विनिवर्तन बन्ध (Electrovalent bond), (2) समैत्य आबन्ध (Covalent bond), (3) अणु का बन्ध (Molecular bond) बनते हैं। इन बन्धों में कालखण्ड और आत्मगुण

भी अपना कार्य करते हैं। विनिवर्तन आबन्ध और समेत्य आबन्ध एक इत् के द्वारा या दो इत्कणों के द्वारा या तीन इत्कणों के द्वारा या आठ इत्कणों के द्वारा होते हैं। इन तीन बन्धों को बताने वाला मन्त्र है - तत्त्वमि कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।

एकेन द्वाभ्याम् त्रिभिरष्टाभिर्वा कालेन चैवात्म गुणैश्च सूक्ष्मैः ॥

अर्थ है - 'इत्कणों' (Electrons) ने जो कार्य करना है, अपने पथ (orbit) में उस कार्य को करके फिर विनिवर्तित होता है। एक अणु के क्षेत्र से दूसरे अणु के क्षेत्र में चला जाता है और दो अणुओं का योग (molecule) बना देता है। इसी प्रकार एक तत्त्व के अणु को दूसरे तत्त्व के अणु के अत्यन्त पास में सम्पर्क रूप से लाकर एक योग बना देता है। यह योग एक इत्कण के द्वारा, दो इत्कणों के द्वारा, तीन इत्कणों के द्वारा अथवा आठ इत्कणों के द्वारा बनते हैं। इस योग प्रक्रिया में काल के द्वारा तथा सूक्ष्म आत्म गुणों के द्वारा भी कार्य सम्पन्न होता है।

इसी प्रकार 'फलित' में (1) सत्-असत् का बन्ध, (2) असत्-कीर का बन्ध, (3) कीर-अणु का बन्ध तीन प्रकार का होता है।

'अन्न' में (1) अणु - मीहजातं त्रित, मौलिक अर्थ का बन्ध, (2) मौलिक अर्थ - 'क' कण का बन्ध, (3) 'क' कण - अश्विनी, सूर्य-चक्र, वृन्दारक, वर्त्मा की प्रतिमाओं का बन्ध।

पृतपृष्ठ में - (1) वर्त्मा - न कण का बन्ध, (2) 'न' कण - 'चि' कण का बन्ध, (3) चि' कण - इत्कण का बन्ध।

इस प्रकार प्रत्येक में ये तीन-तीन प्रकार के बन्ध होते हैं।

समौजि बन्ध = समान यौगि धारण करने पर सब का बन्ध होता है।

स्पष्ट शरीर, सूक्ष्म शरीर, धारण शरीर - इन तीनों शरीरों को आत्मा के साथ बंधने वाले भी तीन प्रकार के बन्ध हैं। (20) त्रिविधो मोक्षः = तीन ही प्रकार के मोक्ष हैं। प्रत्येक प्रकार के बन्ध से छूटने का उस से सम्बन्धित ही एक विशेष तरीका है। तीन प्रकार के बन्धों से छूट कर तीन प्रकार से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जैसा बन्ध बंधने वाला होगा, वैसा ही मोक्ष उस बन्ध से खोलने वाला होगा। सञ्चरः प्रतिसञ्चरः का युग्म पीछे बताया जा चुका है। सञ्चरः की गति के साथ-साथ प्रतिसञ्चरः की गति भी होती है। सञ्चरः की गति से बन्ध की रचना होकर सम्भूति की प्रक्रिया सम्पन्न होती है और अर्धपिण्ड का जड़ या चेतन रूप बनता है तो प्रतिसञ्चरः की गति द्वारा विनाश की प्रक्रिया सम्पन्न होकर

वह अर्धपिण्ड और उसमें निवास करने वाला चेतन जीव पुनः ऋत में विलीन होता हुआ सद्-ब्रह्म के स्वरूप में स्थित हो जाता है। अर्थात् सद्-ब्रह्म से जहाँ से सृष्टि का सृजन प्रारम्भ होता है, विनाश प्रक्रिया द्वारा वहीं पर आकर समाप्त होता है। इस प्रकार सृष्टि का चक्र पूरा हो जाता है।

इस चक्र में भूमि और द्यौ में एक दूसरे में बदलने का चक्र चलता रहता है। सद्, असद् ब्रह्म के त्रियात्मक स्वरूप से ऋत की रचना होकर पहले द्यौ का उग्र रूप बनता है। फिर द्यौ में पुरुष द्वारा ऋत से मौलिक अर्थों की रचना होकर भूमि की रचना होती है। भूमि के स्वरूप में शक्मय धूम (Dust of Radiation) के निरन्तर प्रक्षेपण की क्रिया होती है जिससे विनाश प्रक्रिया का क्रम चलता है। यह शक्मय धूम ही उष्माणम् (Radiation) की ऊर्जा में बदलता हुआ सहस्राक्षर रूप धारण करता हुआ पुनः ऋत में बदल कर द्यौ में विलीन हो जाता है। द्यौ में स्थित मांतिरिक्वा पर्जन्य उसे पुनः भूमि के मीहजात रूप में बदल कर वापिस भूमि पर भेज देता है। भूमि पुनः अग्नि की प्रक्रिया द्वारा शक्मय धूम की उष्माणम् की ऊर्जा द्वारा भूमि के रजवर्णों को ऋत में बदल कर द्यौ में समाहित कर देता है। पर्जन्य - परिजानित करने वाले देवों को कहते हैं। ये देव शक्मय धूम की उष्माणम् की ऊर्जा को ओमशोषित करके पुनः अर्धपिण्डों में उनको जन्म दे देते हैं। वह अर्धपिण्ड पञ्चमहामूर्तों के किसी भी मूर्त का वर्ण हो सकता है। वही प्रक्रिया परिजानित करने की प्रक्रिया कहलाता है। जो देव इस परिजनन प्रक्रिया को करते हैं, वे पर्जन्य कहलाते हैं। आकाश में स्थित मेघ हार्दिक्रीन और आक्सीजन के अणुओं का ओमशोषण करके विद्युत की तरंग के द्वारा उन्हें जल के रजवर्णों में परिजानित करते हैं, अतः वे भी पर्जन्य कहलाते हैं। पवन्तु सृष्टि के चक्र में द्यौ में स्थित ऐसे बहुत सारे देव हैं जो पर्जन्य का रूप धारण करते हैं और परिजनन का कार्य करते हैं। इसी प्रक्रिया द्वारा सौरमण्डल के प्रत्येक अर्धपिण्ड के जीवन का चक्र चलता है। मन्त्र है -

स॒मा॒न॒मे॒त॒दु॒द॒क॒मु॒च्य॒त्य॒ण॒चा॒ह॒मि॒ ।

भूमिं॑ प॒र्ज॒न्या॒ जि॒न्वा॒न्ति॑ दि॒वं॑ जि॒न्वा॒न्त्य॒ण॒यः॑ ॥ (ऋग्वेद-१, १६५, ५१)

इस मन्त्र का पद-पाठ और अर्थ निम्न प्रकार बमते हैं -

समानम् = समान रूप से

स्तत् = ग्रह | उदक्म् = जल, उद्गमित होकर निकलने वाला पदार्थ | उत् = ऊपर को | च = और | स्ति = जाता है |
अव = नीचे को और | च = और | अहऽभिः = संकल्पों के उदय होने के द्वारा | (किसी विशेष रचना की प्रक्रिया को संकल्प कहा जाता है | कल्प धातु का अर्थ रचना कर के निर्माण करना है | जो सम्यक् रूप से निर्माण करे उसे संकल्प कहते हैं | ऋतु में निर्माण संकल्पों के द्वारा ही होता है | इन संकल्पों के उदय को 'अहः' कहते हैं तथा इन संकल्पों के विलय को 'रात्रि' वेदों में कहा जाता है |)

भूमिम् = भूमि को, पञ्चमहाभूतों से बनी अर्धपिण्ड पृथिवी को |

पर्जन्याः = परिजनित करने वाले द्यौ में स्थित पर्जन्य, मेघ |

जिन्वन्ति = जिवाँ कर प्रसन्न करते हैं, भोजन करा कर तुष्ट करते हैं |
दिवम् = द्यौ को |
 पर्जन्य द्यौ के ऋतु को अर्ध में बदल कर भूमि को भोजन के रूप में प्रदान करते हैं |

जिन्वन्ति = प्रसन्न करती हैं | भोजन करा कर अर्थात् जिवाँ कर प्रसन्न करती हैं |

अग्नयः = अग्नयाँ | अग्नयाँ भूमि के अर्धपिण्डों में से बाष्पमय धूम को उक्षाणम् को ऋतु में बदल कर द्यौ को भोजन के रूप में प्रदान करती हुई जिवाँती हैं |

अर्थात् समान रूप से उद्गमित होकर निकलने वाला ग्रह ऋतु का उदक नाम का तत्त्व ऊपर को द्यौ में जाता है और नीचे को भूमि में आता है | अर्थात् पदार्थ ऋतु की ऊर्जा में बदलता है और ऋतु की ऊर्जा पदार्थ में बदलती है तथा यह प्रक्रिया समान रूप से चलती रहती है | पदार्थ की बनी भूमि, अग्नि की प्रक्रिया द्वारा द्यौ को भोजन प्रदान करके ऋतु की ऊर्जा के द्वारा जिवाँ कर प्रसन्न करती है और द्यौ पर्जन्य की परिजनन की प्रक्रिया द्वारा रजकणों से भूमि को भोजन प्रदान करके जिवाँ कर प्रसन्न करते हैं |
 इस प्रकार बन्धों, मोक्षों का चक्र बन जाता है | यही पुनर्जन्म

की प्रक्रिया है। जीव भी इसी प्रक्रिया द्वारा पुनर्जन्म को चरण कर लेता है और एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर चरण कर लेता है।

'पलित' में बन्ध अपर गुण द्वारा होता है तो उसमें मोक्ष भी अपर गुण द्वारा होता है। इसी कारण योग प्रक्रिया में निर्बीज समाधि की सिद्धि के उपरान्त चर्ममैद्य समाधि का विधान बनाया है। चर्ममैद्य समाधि में 'अहम्' का विलय होकर अपर गुण द्वारा कैवल्य का स्वरूप प्राप्त होता है और जीवात्मा सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाती है और सर्वत्र के लिए मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

'अशन' में बन्ध पुरुष के संकल्पों द्वारा होता है। उन संकल्पों के निरोध द्वारा निर्बीज समाधि की सिद्धि प्राप्त करके काम को मंथ कर दिया जाता है। इससे पुरुष की संकल्पशक्ति सुप्त हो जाती है और 'अशन' के बन्धन से जीवात्मा को मोक्ष मिल जाता है।

'पलित' के बन्ध में रजवण पञ्चावर्त के बल से क्रिया करके ग्रथित होते हैं। इस बन्ध से मोक्ष भी पञ्चावर्त के बल की क्रिया द्वारा ही प्राप्त होता है। शुद्ध खानपान, शुद्ध आचरण, शुद्ध व्यवहार द्वारा योग की प्रक्रिया में इससे मोक्ष विनाश की प्रक्रिया द्वारा (Radio-decay) स्वयं मिल जाता है। इस प्रकार स्थूल शरीर से, सूक्ष्म शरीर से, कारण शरीर से छूटने के आत्मा के तीन प्रकार के मोक्ष होते हैं।

इसी प्रकार रासायनिक बन्धों (Chemical bonds) से मोक्ष रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा ही होता है। $2H + O = H_2O$ का आबन्ध विद्युत तरंग की रासायनिक क्रिया द्वारा होता है तो $H_2O \rightarrow 2H + O$ का विच्छेदन भी विद्युत तरंग की क्रिया द्वारा हो जाता है।

नामिकीय आबन्धों का विच्छेद नामिकीय क्रियाओं द्वारा हो जाता है।

पदार्थ के पिण्डों में जीवात्मा का बन्धन चेतना के आवेश द्वारा सत्यमहाभारस्वरा का स्तर प्राप्त करने पर होता है तो उस सत्यमहाभारस्वरा स्तर की ऊर्जा के मृत में विलय होने से उसका मोक्ष भी हो जाता है। इस प्रकार ये तीन प्रकार के मोक्ष बन जाते हैं।

(21) त्रिविधम् प्रमाणम् । = प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम - ये तीन प्रकार के प्रमाण हैं।

स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला सत्य 'प्रत्यक्ष' प्रमाण कहलाता है। जैसे कि दिन में जब सूर्य दिखाई देता है तो वह प्रकाश

और तपस् प्रदान करता है। आग छूने पर जला देती है। ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर तर्क द्वारा कार्य और कारणों का कड़ी जोड़ते हुए किसी अप्रत्यक्ष सत्य पर पहुँचना 'अनुमान' का प्रमाण कहलाता है। जैसे लकड़ी के ढेर के स्थान पर कोयले, राख देख कर अनुमान लगाया जा सकता है कि लकड़ी के ढेर में आग लग गई और वह जलकर कोयले, राख में बदल गया।

कुछ जटिल सत्य ऐसे होते हैं जिन की सत्यता बहुत लम्बे समय तक बहुत ही बुद्धिमानी के साथ कठोर परिश्रम करने के उपरान्त ज्ञात होती है। उस सत्य को कोई विरला ही श्रुति ज्ञात कर पाता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य में वह कठोर परिश्रम का जटिल तप नहीं होता। जो श्रुति उस सत्य को ज्ञात करता है तो वह अपनी श्रुति बना कर वेद के मन्त्रों में संहित कर देता है। उस श्रुतिवेद की संहिता में या इसी प्रकार अन्य दूसरे वेद में उस श्रुति का व्यक्त प्रमाण के रूप में माना जाता है। इस प्रकार के प्रमाण को 'आगम' प्रमाण कहा जाता है। वेद मन्त्रों में इसी प्रकार के सभी सत्य-व्यक्त हैं। अतः वे सभी प्रमाण हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, ये तीन प्रकार के प्रमाण हैं।

(22) सतत सम्पन्न ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात् न पुनस्त्रिविधेनाऽनुभूयते।

इन सभी बातों को जानकर अध्ययनकर्ता कृतकृत्य (सम्पूर्ण-ज्ञाता) हो जाता है। फिर उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम - इन तीन विधियों से सत्य के किसी अन्य ज्ञान की अनुभूति की आवश्यकता नहीं रहती। (क्यों कि शेष कोई ऐसा सत्य बचता ही नहीं जिसे उसे अनुभूत करने की आवश्यकता हो। उसकी सम्पूर्ण अनुभूति पूर्ण हो जाती है।) तीन प्रकार के बन्ध और तीन प्रकार के मोक्ष जानने के पश्चात् सम्भूति और विनाश का चक्र पूरा हो जाता है। अतः इस चक्र में सृष्टि सृजन के जितने भी अवयव हैं, उन सब की जानकारी हो जाती है। ज्ञानी सब कुछ जानकर स्वयमेव चन्द्र हो जाता है। वह मोक्ष प्राप्त करके अन्त में सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

इस प्रकार सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में सम्भूति और विनाश के चक्र द्वारा तत्त्व के समस्तीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। इस उपनिषद् - 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में इन्हीं बड़े-सूत्रों का आधार सीद्ध विषद्वर्णन है।

इस प्रकार संक्षेप में यहाँ अणु (Atom) की रचना का वर्णन दिया गया है। संक्षेप में पुनः यहाँ इस आणविक रचना के मुख्य अंशों को सारांश के रूप में इस प्रकार गिन सकते हैं।

(1) आणविक रचना के दो निमित्त हैं। प्रथम ऋतु के अन्दर पाँच आवर्त बनते हैं, दूसरे उन पाँच आवर्तों के अन्दर ही सात लोच रचित होकर पदार्थ की रचना से अणु रूप इकाई अर्धपिण्ड का रूप धारण करता है। दोनों प्रकार की रचनाओं का रूप ही केन्द्र-बिन्दु मोह के रूप में विष्णु बनता है।

(2) अणु की नाभि की रचना में पलित, अन्न, द्युतपृष्ठ नाम के तीन चक्र बनते हैं। ये तीन वृत्त बनते हैं। पलित में सद से असद् में और असद् से सद में वर्तन का चक्र चल कर प्रथम वृत्त बन जाता है। 'अन्न' में असद् से मौलिक अर्थ और मौलिक अर्थों से असद् में वर्तन के चक्र से दूसरा वृत्त बन जाता है। इसी प्रकार द्युतपृष्ठ में मौलिक अर्थों से नीचैताविन के बड़े रजःकण और इन रजःकणों से पुनः मौलिक अर्थों में वर्तन के चक्र से तीसरा वृत्त बन जाता है।

(3) सातों लोचों को एक सूत्र में बाँध कर सुव्यवस्थित रूप से रखने वाला ऋतु की तरंगों का बना रूप ही 'अश्व' होता है जो नाभि में बने तीनों वृत्तों में से अपने मार्ग का भेदन करता हुआ बाहर निकल जाता है।

(4) ऋतु में बने पञ्चावर्त ही अपने अन्दर घूमने वाले रजःकणों को घूमने के लिए गति के लिए आवश्यक बल प्रदान करते हैं। कितना भी भारी अर्धपिण्ड हो, उसके भार से और उस अर्धपिण्ड पर लगने वाले बल के प्रतिरोध से उस ऋतु के पञ्चावर्त में कभी भी तपस् उत्पन्न नहीं होती।

(5) सप्तलोच में स्थित विष्णु की सत्यामा के प्रस्फुटन से बने सप्तपरावृत्त और अष्टापरावृत्त से तपः लोच में अंगिरा की रचना होती है और उस में तपस् उत्पन्न होती है। यह तपस् आगे के लोचों में गतिज ऊर्जा में बदल कर ठंडी हो जाती है।

(6) नाभि के अवयवों का आबन्धन और सप्तलोचों का आबन्धन ऋतु में बने छः प्रकार के अष्टापरावृत्तों से होता है।

- (7) पञ्चावर्तों में ऋत की बनी पाँच चाराओं के रूप में चारों ओर से ऊर्जा प्रवेश करती है और तीन चाराओं के रूप में बाहर जाती है। दो चाराओं की ऊर्जा का बल जमीन के अन्दर अवयवों को गति प्रदान करने और उन्हें सूत्र में बाँधने में खर्च हो जाता है। इसी कारण प्रत्येक अर्धपिण्ड में गुरुत्वाकर्षण बल बन जाता है। बाहर निकलने वाली ऋत की तीन चाराएँ रुद्र के तीन अक्ष हैं।
- (8) तपः लोभ के देव सवितृ की आभास्वरा स्तर की ऊर्जा से अणु की रचना होती है और महाभास्वरा तथा सत्प्रमहाभास्वरा स्तर की ऊर्जा पर ऊर्जा से उसमें जीव की चेतना आती है।
- (9) अणु की रचना में पाँच प्रकार के बल कार्य करते हैं जो पञ्चावर्त से सूत्र में बाँधे होते हैं।
- (10) पञ्चावर्त के जचिवेतावर्त में बारह घेरे ऊर्जा के चक्रवात के बने होते हैं जो अणु की जमीन के बाहर स्थित इत् 'वर्णों' (Electrons) को नियंत्रित करते हैं। इन्हीं के द्वारा अणुओं से बनने वाले योग में स्थायत्व आता है।
- (11) $E = mc^2$ (3.35 x 10⁸)² सूत्र के अनुसार पदार्थ का ऊर्जा में और ऊर्जा का पदार्थ में परिवर्तन होता है। इस सूत्र में ऊर्जा की इकाई अर्ग है और पदार्थ की इकाई 'क' कण है।
- (12) अणु की जमीन में स्थित अट्हाईस बिन्दुओं पर ऊर्जा छिपी हुई है। जब तक इन अट्हाईस बिन्दुओं से ऊर्जा का विकिरण होता रहेगा तब तक अणु उद्घाणम् (Radiation) की ऊर्जा छोड़ता हुआ अपने अर्धपिण्ड के स्वरूप को बनाये रखेगा।
- (13) जहाँ भी विकिरण द्वारा उद्घाणम् (Radiation) की ऊर्जा प्रकट होती है, वहाँ अर्धपिण्ड (Mass particle) अवश्य होगा। "यत्र चूमः तत्र अग्निः" - इसी सिद्धान्त को बताता है।
- (14) अणुओं की प्रकृति आठ के चक्र में द्वित्व में वर्तित होती है। Periodic table में दो-दो लाइनें इसी कारण एक जैसी गिनती के तत्वों में बनी हैं। "अष्टौ प्रकृतयः" सूत्र में आदिबाल में ऋषियोंने इसी कारण 'अष्ट' शब्द में प्रथमा विभक्ति के द्विवचन का प्रत्यय 'औ' लगा कर 'अष्टौ' शब्द बना कर सिद्ध किया है - ऐसा प्रतीत होता है।

(15) जीव, ब्रह्म, प्रकृति इन तीनों का समागोजन अणु की रचना में है।
अणु में ऊर्जा का स्तर बढ़ने से उसमें जवीयत्व उत्पन्न हो कर
जीव की चेतना आ जाती है।

(16) अणु की नाभि का केन्द्र 'अ' कहलाता है। यह 'अ' विष्णु का
नाम है। रुद्र की ऋतु की बनी पिण्डों के केन्द्र में यह स्थित कहलाता है। पूर्ण ऋतु की पिण्डों
के केन्द्र का 'अ' विष्णु तथा पूर्ण रचना के एक पूर्ण आयाम के व्योम में
में बनी ऋतु की पिण्डों 'रुद्र' कहलाती है। 'रुद्र' जब शान्त और मंगलकारी अवस्था में
होता है तो यही 'शिव' कहलाता है।

(17) ऋतु के अवरोधन से बनी ऋतु की पीटली रुद्र कहलाती
है। यही शिव की पिण्डों बनती है। रुद्र ही क्षीर का उत्पादक
बन कर विष्णु की अवतारित करता है। रुद्र ही क्षीर का विलय
पुनः सद्-ब्रह्म में करके विष्णु का लोप करता है। अतः रुद्र
की आयु - विष्णु की आयु से ज्योतिष की गणनाओं में अधिक
बैठती है। पुराणों का भी यही कथन है।

(18) सद् ब्रह्म से असद् ब्रह्म की रचना में काम के जाग्रत होने पर ही
होती है। अतः मन के संकल्प विफल असद् ब्रह्म के ऋतु की तरंगों
में उदित और अस्त होते हैं। मौलिक अर्थों में उन संकल्पों की संहति
होती है। "कामस्तदग्रे समवर्तताधि" मन्त्र इसी बात को बताता है।

(19) सवितृ देव की ऋतु की तरंगों की ऊर्जा के द्वारा ही अणु की नाभि के
अवयवों का सृजन, पोषण होता है। सवितृ की ऋतु की तरंगों की पोषण
करने की शक्ति को ही 'सव' कहा जाता है। यह 'सव' ही देवों का
विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण करता है।

(20) 'पुरुष' की ऋतु की तरंगों के द्वारा ही मौलिक अर्थों की रचना और
सभी रजवर्णों का नियन्त्रण होता है। सवितृ की ऋतु की तरंगों ही 'पुरुष'
की तरंगों बनती है। इसी कारण पुरुष की अर्धपिण्ड के होने वाली 'आत्मा' कहा
जाता है।

(21) अणु की रचना में विद्या-अविद्या और संभूति-विनाश की
प्रक्रियाओं का साथ-साथ चक्र चलता है।

(22) जैमि की रचना से अणु की रचना पूर्ण होती है।

(23) अणु के तत्त्व के समस्तीकरण के नौ अवयव स्वतन्त्र रूप से व्योम

में विद्यमान रहते हैं, जिनमें सभी में जीव की चेतना विद्यमान रहती है और वे सभी अपने विषयों को पकड़ने के लालायित रहते हैं।

(24) अणुओं (Atoms) के योगों (Molecules) के अर्धपिण्डों (Blocks of matter) से ही सभी बड़े-बड़े ग्राह आदि के पिण्ड और उन ग्राहों पर स्थित पदार्थ के अन्य पिण्ड बनते हैं। इन्हीं अणुओं से सभी के शरीर बने हैं।

(25) कुल एक सौ दश प्रकार के अणु बनते हैं।

(26) अणुओं की संरचना के कारण ही पाँच प्रकार के महामूल (Five states of matter) बनते हैं।

(27) सभी साँठे तेतीस करोड़ देवताओं का स्वरूप अणु की नाभि के अन्दर विद्यमान है।

(28) वेद की 'अग्नि' का पूर्ण स्वरूप 'अणु' में विद्यमान है।

'अ', 'क', 'ज', 'इत्' के समस्तीकरण से 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। ये सभी अणु के अवयवों की रचना के उत्तरोत्तर क्रम को बताने वाले शब्द हैं। 'इत्' पर जा कर विनाश क्रम शुरू हो जाता है और 'अ' पर ही आकर रुकता है।

(29) अणु में सम्भूति और विनाश का क्रम निरन्तर चलने से ही जीवन की प्रक्रिया बनती है। इस चक्र के टूटने पर जीवन समाप्त हो जाता है और महाप्रलय हो जाती है।

(30) सम्पूर्ण जीवन के चक्र का आदि और अन्त दोनों सद्-ब्रह्म में निहित हैं। सभी मनीषी बाण इस सद्-ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त करके समान-योग बनकर उस सद्-ब्रह्म में अपने को विलीन करने को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इसी को कैवल्य की अवस्था प्राप्त करना या निर्वाण प्राप्त करना या मोक्ष प्राप्त करना कहते हैं। यही परम ध्याम की प्राप्ति कहलाती है। इसी में परम शान्ति है।

अगला मन्त्र है—

सर्वजीवे सर्व संस्थे बृहन्ते,

अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्म चक्रे।

प्रथगात्मानम् प्रेरितारम् च मत्वा,

जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

‘अ’ की सत्याभा के विस्तार ‘आ’ के तन्वज से जो पञ्चावर्त का ब्रह्मचक्र सबको जीवन देने वाला है, उस सर्वाजीव में और उस पञ्चावर्त के ब्रह्मचक्र में जो सप्तलोकों का संस्थान निहित है, उस सारे संस्थान में संकल्पों को धारण करता हुआ जीवात्मा का हंस भ्रमण करता रहता है। इस जीवात्मा के हंस की आत्मा को और उसे प्रेरणा देने वाले पञ्चावर्त के ब्रह्मचक्र को जो अलग-अलग भाव कर योगी योगसाधना के यज्ञ को सम्पन्न करता है, वह इस यज्ञ के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। अर्थात् जो उसके जीवन का लक्ष्य सद्-ब्रह्म में विलीन होकर अमर होने का है, उसे वह प्राप्त कर लेता है।

शरीर के केन्द्र में जब ‘अ’ का अवतरण हो जाता है तो सप्तलोक में स्थित उस विष्णु की सत्याभा प्रस्फुटित हो कर ऋत की तरंगों का निर्माण करती है। इन्हीं ऋत की तरंगों के बल से ऋत के अन्तर पञ्चावर्त की रचना होती है। इस पञ्चावर्त के ऊपर ही सप्तलोकों के संस्थान की रचना होती है। इसी सुप्रतिष्ठित संस्थान में सभी देव निवासों की रचना होकर अण्ड के रूप में अणु की रचना होती है, जिस से पञ्च महाभूतों की रचना होकर इस जगत् का निर्माण होता है।

इस जगत् में तीन स्तर की रचनाओं का समावेश है। (1) जड़ प्रकृति, (2) अर्ध-चैतन्य बनस्पति जगत्, (3) पूर्ण चैतन्य प्राणी जगत्। अर्धचैतन्य, पूर्णचैतन्य में जीवात्मा का समावेश हो जाता है। ये तीन प्रकार के स्तर ‘अ’ की सत्याभा के प्रस्फुटन के अभिस्वरण के कारण बनते हैं। जब ग्रह स्तर निम्नतम स्तर का आभास्वरा का स्तर होता है तो जड़ प्रकृति की रचना होती है। उससे जड़ जगत् बनता है। जब ग्रह स्तर मध्यम स्तर का महाभास्वरा का स्तर होता है तो बनस्पति जगत् की अर्धचैतन्य की रचना होती है। जब ग्रह स्तर उच्च स्तर का सत्यमहाभास्वरा स्तर का होता है तो प्राणी जगत् की रचना होती है।

‘अ’ (विष्णु) की सत्याभा के ऋत की तरंगों में इस उत्तरोत्तर स्फुरण को ही जवीयत्व कहा जाता है। इस जवीयत्व के गुणधारी को ही जीव कहा जाता है। यही जीवात्मा बनती है। इस जवीयत्व के ऋत के आवेश को धारण करके मौलिक अर्थों के बने रजवण अपने लोक में चेतना धारण करके हंस की तरह उड़ने लग जाते हैं। अतः हंस जीवात्मा को धारण करने वाला देव निवास का अर्ध पिण्ड होता है जो पञ्चावर्त के और सप्तलोकों के ब्रह्मचक्र में घूमता है। यही हंस सभी को जीव का रूप प्रदान करने वाला है।

‘अ’ की सत्याभा की तरंगों में इस उत्तरोत्तर स्तर के स्फुरण की प्रेरणा देने वाला असद् ब्रह्म का स्वरूप होता है जो सद्-ब्रह्म के कारण से बनता है। इसमें सद्, असद् दोनों का रूप समीहित होता है। उसमें जब सृष्टि सृजन की इच्छा का काम जागृत होता है तो उससे ये स्फुरण के स्तर

बनते हैं। मन के द्वारा यह जवीयत्व आ जाता है। "मनसो जवीयः" कथन इसी बात को बता रहा है। अतः इस जवीयत्व का प्रेरक स्वयं सद्-ब्रह्म तथा असद्-ब्रह्म का स्वरूप होता है। इस प्रकार जवीयत्व को चारण करने वाला आत्मा का स्वरूप अलग होता है और उसे जवीयत्व को प्रेरणा देने वाला सद्-असद् का मिश्रित ब्रह्म का स्वरूप अलग होता है। जीवात्मा का स्वरूप श्रुत की पिण्डों के रूप में सीमित आकार में होता है जबकि उसे प्रेरणा देने वाला सद्-असद् ब्रह्म का स्वरूप अनन्त और सर्वव्यापी होता है। इन दोनों को अलग-अलग मान कर जो योगी इन दोनों का योग एक स्वरूप में करने के लिए विशेष यत्न (यज्ञ) करता है, वही इन दोनों का योग करके अमृतत्व को प्राप्त करता है। वह सद्-ब्रह्म में मिल कर सदा के लिए अमर हो जाता है। वह अपने मूल स्वरूप में विलीन हो जाता है।

अर्धपिण्ड के बने पुर में श्रुत की तरंगों को उत्तरोत्तर स्फुरण करने वाला 'अ' की सत्तामा का स्वरूप जो उस पुर के संस्थान में शासन करता है, उसे ही 'पुरुष' कहा जाता है। यही पुरुष जीवात्मा कहलाता है। ईशोपनिषद् का, "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" कथन इसी बात का द्योतक है। अतः हंस रूपी जीवात्मा पुर में बँधा हुआ है, जब कि उसका प्रेरक स्वतन्त्र तथा असीम और सर्वव्यापी है। दोनों अलग-अलग हैं। वह हंस सब के जीवनदायी पञ्चावर्त के ब्रह्म चक्र में घूमता रहता है और सातों लोकों में रचित देवीनिकायों की सारी संस्था में स्थित रहता है।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तीस्मिन्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।

अत्रान्तरं ब्रह्म विदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

इस परम-ब्रह्म सद्-ब्रह्म का गायन (वेदों में) किया गया है।

उसी परम-ब्रह्म सद्-ब्रह्म में ये तीनों (असद् ब्रह्म का बना पञ्चावर्त का ब्रह्म चक्र, सातों लोकों का तथा उन में स्थित सुप्रतिष्ठित देवीनिकायों का प्रकृति की रचना करने वाला संस्थान, तथा इन दोनों के मध्य जवीयत्व को चारण करने वाला जीवात्मा) सुप्रतिष्ठित हैं और ये अविनाशी हैं।

ब्रह्म वेत्ता साध्यक योगी इन के अन्तरंग के स्वरूप को समझ कर ब्रह्म में लीन रहते हैं और उसके पश्चात् अन्तकाल में अपने शरीर की परा-योनि से मुक्त होकर सदा के लिए मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। उन की जीवात्मा सदा के लिए उस परम-ब्रह्म में विलीन हो जाती है। वह अपने मूल रूप में मिल जाती है।

योनि से मुक्त होकर जहाँ ब्रह्म में लीन होने का प्रश्न आता है, वहाँ

ग्रीनि के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

सारंग शास्त्र में, "पञ्च योनयः" कहकर पाँच प्रकार की योनियाँ बताई गई हैं। इन पाँचों प्रकार की योनियों से मुक्त होकर ही जीवात्मा परम-ब्रह्म में लीन हो सकती है। ये पाँच प्रकार की योनियाँ निम्न प्रकार हैं। रचना के उत्तरोत्तर क्रम के अनुसार ये पाँच योनियाँ इस प्रकार बनती हैं—

(1) परा-यौनि = सर्व प्रथम सद-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न हो कर असद-ब्रह्म के रूप क्षीर की रचना होती है। उसमें ऋत चारों ओर से लाकर विधाता द्वारा रूप बिन्दु पर केन्द्र में सन्धनित कर दिया जाता है। इस सन्धन बिन्दु को प्राड् कहा जाता है और इसकी शक्ति को परा शक्ति कहा जाता है। इस के चारों ओर स्थित ऋत का विस्तरूप हो जाता है, जिसे अपाड् कहा जाता है। इस की अपरा शक्ति होती है। इस रचना को बताने वाला ऋग्वेद का वचन, "आनीदवातं स्वधया तदेवम्" — (ऋग्वेद 10, 129, 2) — है। इसका अर्थ है कि ऋत अपनी स्वधा के साथ रूप अवात बिन्दु पर लाया गया। अवात का अर्थ है कि उस बिन्दु का ऋत अचल अवस्था में स्थान और स्थित है। उसमें वायु जैसी गति चलने की नहीं है। अतः अवात — stand still अवस्था का द्योतक है। इस पर-अपर स्वरूप की क्षीर की यौनि को परा-यौनि कहा जाता है। इसी यौनि में अणु का स्वरूप, ऋत की तरंगों से 'पुरुष' का स्वरूप बनता है। 'पुरुष' ही जीवात्मा का स्वरूप बन जाता है ॥

(2) देव-यौनि = पुरुष द्वारा विभिन्न लोकों में देव निवासियों की रचना होती है। उन्हीं से अण्ड रूप में रूप अर्धपिण्ड की रचना होती है। अतः दूसरी यौनि नामि में स्थित लोकों में बने देवों की योनियाँ हैं।

(3) पिण्ड यौनि = सभी देवों से मिलकर जो रूप अर्धपिण्ड अणु के रूप में या रजवण के रूप में या विशाल पिण्ड के रूप में बनता है, वह पिण्ड यौनि कहलाती है। पिण्ड यौनि जड़ या चेतन दोनों स्वरूपों में हो सकती है। किसी पिण्ड में जब जीव समाहित हो जाता है तो वह चेतन रूप धारण कर लेती है। जब उसमें से जीव निकल जाता है तो वह जड़ रूप बन जाती है।

(4) भूत यौनि = मौलिक अर्थों से अणु के अवयवों के रूप में जो रजवण बनते हैं, उन्हें भूत कहा जाता है। ये भूत व्यवस्थित हो कर अणुओं को पाँच प्रकार के स्वरूप प्रदान करते हैं। इन पाँच स्वरूपों को पञ्च-महामूत का नाम दिया जाता है। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश के

भूतों की रचना करने वाले अणु के अन्दर पाँच प्रकार के परमाणु होते हैं। इन पाँच प्रकार के परमाणुओं की आवन्धन शक्ति का पाश पाँच प्रकार का होता है। इसी पञ्चविध पाश के कारण ये परमाणु पञ्चमहाभूतों की रचना कर पाते हैं। इन परमाणुओं की यौनि ही भूत यौनि हैं।

जब इन परमाणुओं की आवन्धन शक्ति का पाश सर्वोच्च शक्तिशाली होता है तो अणुओं में पदार्थ की मात्रा सन्तुलित होकर पृथिवी महाभूत के अणु बन जाते हैं। जब इस पाश की शक्ति में उत्तरोत्तर घटते क्रम से शक्ति का ह्रास होता चला जाता है तो उससे क्रमशः जल, वायु, अग्नि, आकाश के परमाणु बनते चले जाते हैं। आकाश के तत्त्वों में भी परमाणु स्थित हैं।

(५) ब्रह्माण्ड यौनि = निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अनन्त सद्-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर सगुण, साकार, व्यक्त, सीमित क्षेत्र में असद् ब्रह्म का ब्रह्माण्ड में स्व पञ्चावर्त का अण्ड बनता है जो उस ब्रह्माण्ड की स्व यौनि का रूप है।

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि सृजन में ये पाँच प्रकार की यौनियों बनती हैं। जब यौनी की जीवात्मा इन पाँचों प्रकार की यौनियों से मुक्त हो जाती है, तब उसे "परायौनिमुक्ता" कहा जाता है। इन पाँचों यौनियों से मुक्त होकर ही वह जीवात्मा सद्-ब्रह्म की शान्त, स्थिर तथा अव्यक्त, अनन्त, निर्गुण, निराकार रूप की समान यौनि बन कर उसमें मिल सकती है। उस योग की अवस्था को ही यौनिमुक्ता - अवस्था कहा जाता है। वही मोक्ष प्राप्ति की अवस्था है।

दूसरे अर्थ में -

परम ब्रह्म तो वेदों में गाथा जा चुका है। उस परम ब्रह्म द्वारा रचित अणु के पुर में पलित, अशन, द्यूतपृष्ठ ये तीन लीम के चक्र अक्षर अवस्था में सुप्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मवेत्ता इन तीनों के अन्तरंग को जान कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उस के पश्चात् वे जीव यौनि से मुक्त हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। यौनियों का वर्णन ऊपर दिया जा चुका है।

मोक्ष बन्धनों से छूटने को कहते हैं। ऊपर जो तीन प्रकार के बन्धन बताये गये हैं, उन से छूटने के भी तीन प्रकार के मोक्ष बताये गये हैं। पाँच यौनियों से छूटने पर तीनों प्रकार के मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं।

किसी भी प्राणी के प्राण जब शरीर से निकल जाते हैं, तो इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप भी उन प्राणों के साथ निकल कर जीवात्मा के साथ ही में

अर्णव समुद्र में स्थापित हो जाता है। इस प्रकार शरीर से बाहर निकल कर जीवात्मा प्राणों और इन्द्रियों के साथ छौं में स्थापित हो जाती है। इन्द्रियों के साथ मन भी रहता है। छौं में स्थापित इस शरीर को सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। इसी यौनि को परा-यौनि कहा जाता है। यही प्रेत की यौनि होती है। आकाश महाभूत से इस सूक्ष्म शरीर की रचना बनी होती है।

यह परायौनि अपने मन के संकल्पों के अनुसार आगे कार्य करती है। यह आगे किसी नये स्थूल शरीर को धारण करके पुनर्जन्म भी ले सकती है, अथवा जीवात्मा इस परा-यौनि को छोड़ कर सभी यौनियों से मुक्त भी हो सकता है। यहाँ इस यौनि में स्थित परिस्थिति के लिए गीता में कहा है—

यम् यम् वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलैवरम् ।

तम्-तम् सर्वेति कौन्तेय सदा तद् भाव भावितः ॥ (गीता-४-६)

अर्थात् जिस-जिस भाव के संकल्प का मन में अनुस्मरण करता हुआ अन्त समय में जीव इस स्थूल शरीर के कलैवर को त्यागता है तो उसका सूक्ष्म शरीर उसी भाव से भावित हो कर सर्वेव अपनी परायौनि में चला जाता है।

परा-यौनि में स्थित सूक्ष्म शरीर जिस भाव के प्रभाव में होगा, वह उसी प्रकार आगे कार्य करता है। यदि वह भाव काम से प्रेरित होकर किसी अभीष्ट इच्छा के संकल्प से प्रभावित है तो उसी संकल्प की तुष्टि के लिए वह उचित स्थूल यौनि का पुनः वरण कर लेता है और पुनर्जन्म ले लेता है। यदि उस सूक्ष्म शरीर में कोई भी संकल्प उस समय विद्यमान नहीं है, उसका मन निर्बीज अवस्था में है, तो वह किसी भी अन्य स्थूल यौनि को धारण नहीं करता। योगी लोग इसी स्थिति से निबटने के लिए अपने जीवन में निर्बीज समाधि की सिद्धि के लिए योगसाधना करते हैं। इस निर्बीज समाधि को महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन के शास्त्र में, "तस्यापि निरोधः सर्वनिरोधात् निर्बीज समाधि" कह कर बताया है। अर्थात् मन में जो भी संकल्प उदित होता है, उसी का निरोध करो। जब सभी संकल्पों का निरोध हो जाता है, तो उस समय मन निर्बीज अवस्था को धारण कर लेता है। उसी को 'निर्बीज-समाधि' कहते हैं। इस समाधि की

सिद्धि लम्बे समय तक योगाभ्यास करने से सिद्ध होती है। इस की सिद्धि बड़ी जाटिल और कष्ट साध्य है। अतः यह लम्बे समय तक कठिन परिश्रम से ही होती है। इस के सिद्ध होने पर ही योगी परायोनि की उस अवस्था से निबट पाता है। सूक्ष्मशरीर से वह कारणशरीर में पहुँच जाता है।

निर्बीज समाधि से जीवात्मा अपनी परायोनि में ही स्थित रह कर अन्य शरीर को चारण नहीं करती। इस समाधि के सिद्ध होने पर उस परायोनि में स्थित जीवात्मा में 'अहम्' का संकल्प स्थित रह जाता है, जिस कारण वह अपनी परायोनि को त्यागने में समर्थ नहीं हो पाता। उसके लिए निर्बीज समाधि के उपरान्त पातञ्जल योगदर्शन में चर्ममैद्य समाधि की सिद्धि का विधान बताया गया है। चर्ममैद्य समाधि की सिद्धि में योगी अपने अहम् के संकल्प को भी परब्रह्म में विलीन कर देता है। अतः परम-ब्रह्म में लीन जीवात्मा ही अपने इस परायोनि के स्वरूप से मुक्त हो सकता है। इसी बात को यहाँ, "लीना ब्रह्मणि तत्परायोनि मुक्ताः" कह कर बताया गया है। चर्ममैद्य समाधि सिद्ध होने पर क्षरण प्रक्रिया अपने आप अपरगुण के द्वारा कार्य करती हुई जीवात्मा को कैवल्य के स्वरूप में पहुँचा कर सद्-ब्रह्म में विलीन कर देती है। इस प्रकार वह अपनी परायोनि से भी मुक्त हो जाता है। यह परायोनि कारण शरीर की होती है। कारण-शरीर के बल्यों की रचनाओं के द्वारा मृत का ही बना होता है।

संयुक्तम् सतत् क्षरम् अक्षरम् च

व्यक्ताव्यक्तम् भरते विश्वमीशः ।

अनीशश्चात्मा बध्यते मौक्तृभावात्

ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्व पाशैः ॥ ४

जिस समय जीवात्मा अपनी परायोनि से मुक्त हो कर अपने कैवल्य के स्वरूप में आकर सद्-ब्रह्म में विलीन होती है और उस सद्-ब्रह्म की सयोनि (समान-योनि) का स्वरूप चारण करती है तो यह क्षर और अक्षर दोनों स्वरूपों में संयुक्त होती है। उस परायोनि में जो क्षर प्रकृति का स्वरूप है, वह क्षर असद् में मिल जाता है और उस जीवात्मा में सद्-ब्रह्म का जो अक्षर स्वरूप है, वह सद्-ब्रह्म के अक्षरस्वरूप में मिल जाता है। इस प्रक्रिया का नियन्ता ईश उस जीवात्मा को व्यक्त और और अव्यक्त दोनों स्वरूपों में भर देता है। (इस प्रकार जीवात्मा अपने स्वरूप के बन्धन से मुक्त हो कर ब्रह्म के सद्-असद् रूप में विलीन हो जाती है।)

आत्मा के स्वरूप को शासित नहीं किया जा सकता। वह अनीश है। वह आत्मा मौक्तृ भाव से स्वयं ही अपने स्वरूप में बँधती है। इस अपने स्वरूप में बँधने की प्रक्रिया को और देव के स्वरूप को प्राप्त करने की प्रक्रिया को जान कर ही योग साधना करने वाला साधक सारे पाशों से छूटता है। अर्थात् जीवात्मा के स्वरूप को बँधने वाले जो तीन प्रकार के बन्ध हैं, उन्हें जानकर ही विद्वान् तीन प्रकार के मोक्षों को जान सकता है तभी वह सभी पाशों से छूटता है।

यह ब्रह्म का स्वरूप भी क्षर और अक्षर दोनों स्वरूपों से सद-असद् ब्रह्म के रूप में संयुक्त है। अर्थात् क्षर के रूप में असद्-ब्रह्म और अक्षर के रूप में सद-ब्रह्म ये दोनों स्वरूप आपस में मिले हुए हैं। इन दोनों में एक दूसरे में परिवर्तित होने का चक्र स्वयमेव निरन्तर चलता रहता है। उसी चक्र के कारण ब्रह्म में चेतना का स्वरूप व्यक्त होता है। यह ब्रह्म असद्-ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप को और सद-ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप को इस चक्र के द्वारा पोषित करता रहता है। सद के स्वरूप को असद् में और असद् के स्वरूप को सद में भरता रहता है। इस ब्रह्म का आत्म स्वरूप अनीश है। वह किसी के द्वारा शासित नहीं होता। वह तो स्वयं सब का शासक है। उसमें सृष्टि सृजन की इच्छा जागृत होती है तो वह स्वयमेव ही मौक्ता बन कर मौक्तृ भाव से देवों के विभिन्न प्रकार के स्वरूपों को द्योतन करने वाले रूपों की योजनाओं में बँधता है। इन्हीं देवों के स्वरूप में जीवात्मा के स्वरूप का भी एक देव है जो किसी भी पिण्ड में प्रवेश करके उसमें प्राणों को फूँकता है तथा उसमें जवीयत्व उत्पन्न करके चेतना प्रदान कर देता है। अर्थात् ब्रह्म स्वयं ही पहले किसी जड़ अर्थात् पिण्ड की रचना करता है, फिर उसमें पुनः प्रवेश करके अपने आवेश के द्वारा चेतना प्रदान करता है। वह पुनः प्रवेश करने वाला स्वरूप ही जो उस पिण्ड में जवीयत्व उत्पन्न करता है, जीवात्मा का स्वरूप कहलाता है। इसी बात को तैत्तिरीयोपनिषद् (२, ६, १) में, "तत्सृष्ट्वा तदैवानुप्राविशतः" कह कर बताया गया है। अर्थात् उस अर्धपिण्ड रूप शरीर का सृजन करके उसमें ही बाद में वह ब्रह्म प्रवेश करता है। वह बाद में प्रवेश करने वाला ब्रह्म का स्वरूप ही जीवात्मा का देव होता है। उस अपने जीवात्मा के देव स्वरूप को जानकर ही योगी साधक सभी पाशों से मुक्त होता है। अतः

सबसे पहले अपनी आत्मा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। [Know Thyself.]

'आत्मा' अनीश होने के कारण स्वयंमेव ही भोगों को भोगने की इच्छा वाला बन कर मोक्षभाव से अपने जीवात्मा के स्वरूप में बँधता है और संसार के आवागमन के चक्र में फँस जाता है। इस प्रकार भोगों को भोगने वाली इच्छाओं की भूमि 'मन' जड़ रूप में उस असद्-ब्रह्म के अन्दर अव्यक्त प्रकृति के रूप में उत्पन्न हो जाता है। यही अव्यक्त प्रकृति 'पुरुष' की प्रक्रिया से नियन्त्रित होकर व्यक्त प्रकृति के रूप में स्थूल रूप धारण कर लेती है और नाना प्रकार के अर्थ-पिण्डों का रूप व्यवहन करने लग जाती है। इस 'पुरुष' की प्रक्रिया में ही स्फुरण का जवीयत्व उत्पन्न होने से ही जीवात्मा का स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार वह ईश'रूप अणु के अन्दर आत्मा का स्वरूप बन कर व्यक्त प्रकृति और अव्यक्त प्रकृति दोनों का रूप सारे अणु में भर देता है। एक-एक अणु में करके पूरे ब्रह्माण्ड में वह व्यक्त और अव्यक्त प्रकृतियों का स्वरूप भर देता है। इसी को यहाँ "व्यक्ताव्यक्तम् भरते विश्वमीशः" कहा गया है। आत्मा स्वयं ही ईश'रूप का रूप धारण करके सीमित आग्राम के अर्थ पिण्ड को शरीर की योनि में नियन्त्रित करती है और यही आत्मा - परमात्मा का स्वरूप बन कर अनन्त और असीमित आग्राम के ब्रह्माण्डों को नियन्त्रित करके शासित करती है। इस प्रकार वह एक ही सद्-ब्रह्म अनीश होते हुए भी क्षर, अक्षर के संयुक्त रूप द्वारा व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार की प्रकृतियों का रूप धारण करता हुआ पूरे ब्रह्माण्ड का ईश - अर्थात् शासक तथा स्वामी और नियन्ता बनता हुआ उसका भरण पोषण करता है।

इस ज्ञान के अनुसार सद्-ब्रह्म से असद् ब्रह्म में, असद् ब्रह्म से जीवात्मा में बाँधने वाले कर्मों की भूमि कामना के क्षेत्र मन को तथा उस मन में उदित होने वाली चित्त की वृत्तियों को समझ कर योग साधना करने वाला योगी आत्मा को उसके स्वरूप में बाँधने वाले पाशों से मुक्त हो जाता है। इन पाशों से मुक्त होकर जीवात्मा सद्-ब्रह्म के स्वरूप में बदल कर सद्-ब्रह्म की समीनि (समान योनि) बन कर उस सद्-ब्रह्म में जुड़ जाती है। आत्मा के ब्रह्म में इसी जुड़ने को योग कहा जाता है। इस योग की प्रक्रिया चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध करने से प्रारम्भ होती है और अपने शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप - सद्-ब्रह्म के स्वरूप में अविस्थित होने पर समाप्त होती है।

पतञ्जलि ऋषि ने इसी कारण अपने पातञ्जल योग दर्शन में प्रारम्भ में ही इस स्थिति को इन सूत्रों, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा दृष्टः स्वरूपे अवस्थानम्" द्वारा व्यक्त किया है। अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध से ही योग प्रारम्भ होता है और तभी सद्-ब्रह्म के सत्यस्वरूप को देखने वाला योगी अपनी आत्मा के सद्-ब्रह्म के सत्य स्वरूप में अविस्थित होता है। उसके पश्चात् उस योगी की आत्मा का सद्-ब्रह्म के साथ योग हो जाता है। इस प्रकार योगी इस ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

वेदान्त दर्शन में शरीर तीन प्रकार के बताये गये हैं। (1) स्थूल शरीर, (2) सूक्ष्म शरीर, (3) कारण शरीर। तीनों का बन्धन आत्मा के साथ होता है। इस प्रकार ये तीन प्रकार के बन्धन आत्मा के साथ शरीर के बन जाते हैं। पूर्ण मुक्ति के लिए आत्मा को इन तीनों बन्धनों के पाश से मुक्त होना होना होता है। ये ही तीन प्रकार के मोक्ष बन जाते हैं। स्थूल शरीर से मुक्ति शरीर की आयु पूर्ण होने पर मृत्यु के उपरान्त मिल जाती है। सूक्ष्म शरीर (प्रोत-योनि) से मुक्ति मन को निर्बल करके 'निर्बीज समीध' की सिद्धि से मिल जाती है। कारण शरीर से मुक्ति 'धर्ममेध'

100

समाधि द्वारा अहम् के संकल्प के विलय होने से मिल जाती है। इस प्रकार आत्मा को तीनों प्रकार के बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। ईशोपनिषद् में इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वायुरनिजममृतमथैदम् मस्मान्तम् शरीरम् ।

ॐ कृतो स्मर ! कृतम् स्मर ! कृतो स्मर ! कृतम् स्मर ! ॥

अर्थात् वायु और अग्नि ने इस स्थूल शरीर का अन्त मस्म करके कर दिया है और अब इसके अणु अपने तत्सम्बन्धी पञ्चमहाभूतों में मिलकर अमर हो गये हैं। इस प्रकार अब स्थूल शरीर से मुक्ति मिल गई है। अब सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर से मुक्ति पाने के लिए अपने उस कृतु का स्मरण करो जिसे आप ने अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न पूर्वक किया है। अर्थात् निर्बीज समाधि की योग-साधना का स्मरण करो। अपने कारण शरीर से मुक्ति पाने के लिए अपने अहम् का विनाश करने वाले उस धर्ममेव समाधि के कार्य को प्राप्त करो जो आपने अपने जीवन काल में किया है। उन सभी का फल प्राप्त करने का अब वही मरणान्त का समय है।

दाह संस्कार करते समय पुरोहित जब इस मन्त्र को बोलता है तो इसका अर्थ इस प्रकार होता है—

हे वायु ! हे अग्नि ! अब इस शरीर को मस्मान्त करके अमर कर दे। अर्थात् अब आगे यह शरीर दूसरा जन्म लेकर कभी भी न मरे। अर्थात् आगे यह और जन्म न ले। जब जन्म ही नहीं लेगा तो फिर मरेगा भी नहीं। जो जन्म लेता है, वही मरता है। जो जन्म ही नहीं लेगा तो फिर वह मरेगा कैसे ? अर्थात् इस बार अग्नि और वायु में मस्म हो कर यह शरीर दोबारा कभी न मरे। यह सदा के लिए अमर हो जाये। जब इसकी आत्मा अपने परागोनि के सूक्ष्म शरीर से मुक्त हो जायेगी तो वह इस शरीर को कभी भी धारण नहीं करेगी। अतः उसका पुनः जन्म नहीं होगा। जब पुनः जन्म नहीं होगा तो पुनः मृत्यु भी नहीं होगी। अतः अग्नि और वायु से उस शरीर को इस प्रकार का मस्मान्त करने की प्रार्थना की जाती है कि इसके बाद वह शरीर अमर (अमृत) हो जाये। अब पुनः कभी न मरे।

उसके पश्चात् दाह संस्कार करने वाला पुरोहित उस परागोनि के सूक्ष्म शरीर में स्थित परेत से कहता है जो मौह के कारण अपने मृत शव के साथ-साथ शिवा हुआ शव यात्रा के साथ चिताभूमि पर आ जाता है और शव के साथ विराजमान होता है, “ॐ कृतो स्मर ! कृतम् स्मर !”

इस परायोनि में स्थित जीवात्मा निर्गुण निराकार सद्-ब्रह्म के प्रति अपने किये हुए इच्छित कर्मों का स्मरण कर और उसके अनुसार अपने वर्तमान कर्म का भी स्मरण कर / ॐ निर्गुण निराकार सद्-ब्रह्म का प्रतीक नाम है। 'क्रतु' - इच्छित फल प्राप्ति के लिए किये गये यज्ञ को कहते हैं। यह पूरा जीवन साधक का एक यज्ञ होता है जो अपनी आत्मा को परमात्मा में मिलाने के लिए किया जाता है। अतः यह क्रतु है। इसी क्रतु का स्मरण परायोनि में स्थित परेत को दाह संस्कार कराते समय कराया जाता है कि तुमने सारा जीवन अपने परमात्मा से मिलाने का यत्न (यज्ञ) किया है। अब समय है - अब उस यत्न को प्राद कर और इस भस्मान्त शरीर का मोह छोड़ कर अपने परमात्मा में मिलाने के वर्तमान में आवश्यक कार्य का (कृतम् का) स्मरण कर। उसका स्मरण करके अपने अहम् भाव का त्याग करके अपने शुद्ध स्वरूप परमात्मा में सद्-ब्रह्म के रूप में मिल जा।

यहाँ परायोनि में स्थित परेत की सत्ता बताई गई है। परेत अपनी परायोनि को त्याग कर ब्रह्म में भी लीन हो सकता है और किसी स्थूल शरीर को धारण करके पुनः जन्म भी ले सकता है। इसी से पुनर्जन्म की सत्ता सिद्ध हो जाती है। परायोनि का सूक्ष्म शरीर प्रेत का धौ में स्थित अणुओं के ग्रासन से बना होता है। इस परायोनि के शरीर में पदार्थ की मात्रा केवल 'आकाश' महाभूत के भूतों की होती है। कारण शरीर में कोई भी महाभूत का भूत विद्यमान नहीं होता है।

ज्ञात्री क्षावजावीशजीक्षावजा ह्येका भोक्तृ भोगार्थ युक्ता।

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयम् यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ १७

ज्ञा, अज्ञ द्वौ अर्जौ ईश-अनीशौ, अजा हि एकः भोक्तृ भोग्य

अर्थ युक्ता। अजा के दोनों रूप ज्ञ और अज्ञ दोनों ईशा और अनीश हैं।

उस अक्ष से उत्पन्न होने वाली सत्यामा तथा उस सत्यामा से रची गई प्रकृति ही अजा है। वह एक अजा ही भोक्तृ भाव तथा भोग किये जाने वाले पदार्थ के अर्थात् से युक्त होती है। इस प्रकार अनन्त ब्रह्म में स्थित यह आत्मा एक-एक रूप में बँट कर सारे ब्रह्माण्ड में सभी रूपों की प्रकृति को करने वाली बन जाती है। यह (पलित, अज्ञ और धृतपृष्ठ) इन तीन (जीम के चक्रों के) रूपों को अणु में प्राप्त करती है, जब ब्रह्म इस प्रकृति के रूपों को बना कर अपने अन्दर प्राप्त करता है।

जैसा पहले बताया जा चुका है कि सब से पहले सद्-ब्रह्म में सृष्टि-सृजन की कामना के कारण क्षरण उत्पन्न होकर असद् ब्रह्म का अनेकों अवयवों में बँट कर रूप बनता है और अनेकों क्षीरों की रचना हो जाती है। उस अनेकों क्षीरों के क्षीरसागर में प्रत्येक क्षीर के केन्द्र में प्राङ् बिन्दु के

रूप में पराशक्ति से युक्त होकर विष्णु का अवतरण होता है। उस क्षीर के केन्द्र बिन्दु विष्णु के ही 'अच्' अर्थात् 'अ' कहा जाता है। क्षीर का रचना का जो प्रथम लोच बनता है, उसे सत्यलोच कहा जाता है। अतः सत्यलोच में क्षीर सागर में निर्गुण ब्रह्म से विष्णु भगवान का अवतरण होता है। विष्णु भगवान ही सत्य लोच के देव बनते हैं। इस प्रकार इस 'अ' की रचना से तत्त्व के समस्तीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

सत्यलोच में महर्षि व्यास ने पातञ्जल योग दर्शन के विभूतिपाद के छब्बीसवें सूत्र, "भुवन त्रानं सूर्मे संयमात्" - की व्याख्या करते हुए चार देव निष्ठा बताये हैं। वे लिखते हैं - "तृतीयै ब्रह्मणः सत्य लोके चत्वारो देवनिष्ठाः अच्युताः, शुद्धनिवासाः, सत्याभाः, संज्ञासंज्ञिनश्चेति।" अर्थात् तीसरे ब्रह्म के सत्य लोच में चार देव निष्ठा स्थित हैं। (1) अच्युताः अर्थात् वह अपने स्थान से कभी भी हटता नहीं है। स्व ही स्थान पर जहाँ डूब गया वहीं स्थिर रहता है। क्षीर के केन्द्र प्राङ् बिन्दु की यही स्थिति बनती है। जब एक बार क्षीर का केन्द्र बिन्दु बन गया तो उस क्षीर के केन्द्र में वह स्थिर हो जाता है। क्योंकि केन्द्र के स्थिर रहने पर ही क्षीर की रचना स्थिर रह सकती है अन्यथा क्षीर का स्वरूप ही मिट जायेगा। जब तब क्षीर रहेगा, तब तब उसका केन्द्र अच्युत रूप में बना रहेगा। केन्द्र के हटते ही क्षीर विनष्ट हो जायेगा। जब एक क्षीर अपने सम्पूर्ण रूप को लेकर चलता है तो वह विष्णु (अ) का अच्युत रूप उस क्षीर का केन्द्र में स्थित रहता हुआ प्राङ् बिन्दु के रूप अच्युत बन कर ही चलता है। वह उस अपने क्षीर के केन्द्र से नहीं हटता अपितु केन्द्र में स्थित रहता हुआ ही क्षीर के साथ चलता है। इसी कारण विष्णु के वाहन का नाम गरुड़ रखा गया है। गरुड़ का अर्थ है - जिस का उर (केन्द्र भाग) सधन हो कर गुरुत्व (Intensity) को चारण कर लेता है, ऐसा ऋतु की रचना का स्वरूप 'गरुड़' कहलाता है। गुरु-उर = गुरुर = गरुर = गरुड़। इस प्रकार यह शब्द अपभ्रंश होकर बना है। क्षीर का उर सधन होकर गुरुत्व को चारण कर लेता है। उस गुरुत्व उर के केन्द्र पर आसीन हो कर विष्णु चलता है। अतः वह गरुड़ उस विष्णु का वाहन बन जाता है।

(2) शुद्धनिवासाः = विष्णु के स्वरूप में क्षीर के केन्द्र में निर्गुण सद्-ब्रह्म के शुद्ध रूप का निवास होता है। सद् ब्रह्म जब अनेक रूपों में बँट कर असद्-ब्रह्म के रूप में बदलता है तो उस असद् ब्रह्म के क्षीरित रूप क्षीर के केन्द्र में उस सद्-ब्रह्म का शुद्ध रूप ही निवास करता है। यह उस

1

सद्-ब्रह्म की प्रथम रचना होती है जिसका साक्षी केवल वह निर्गुण ब्रह्म ही होता है।

(3) सत्यामा: = क्षीर की रचना से जो सत्य लोको की रचना हो जाती है, उस सत्य लोको से ऋत की असद्-ब्रह्म के रूप में आभा प्रस्फुटित होकर निकलने लगती है। क्षीर के केन्द्र में स्थित विष्णु सद्-ब्रह्म की आभा को अपनी ओर खींचता है और खींच कर अपने सत्य लोको को सद्यन्वना कर उस आभा को वापिस बाहर भी फैल देता है। इस प्रकार रूप क्षीर कभी सद्-ब्रह्म को चूस कर अधिव्य सद्यन्व होता है और कभी उस चूसे हुए सद्-ब्रह्म को वापिस फैल कर उस सद्यन्वता को थोड़ा कम कर देता है। अतः क्षीर इस प्रकार व्याप्य करता है जैसे कि ग्रह सद्-ब्रह्म में श्वास ले रहा हो। कभी श्वास खींचता है, कभी श्वास छोड़ता है। इस प्रक्रिया से ही तपः लोको में ऋत की तरंगें चलने लग जाती हैं और सवितृ की सब शक्ति का आभास्वरा या महामास्वरा या सत्यमहामास्वरा रूप बन जाता है। इस प्रकार विष्णु से सत्यामा प्रस्फुटित होने लगती है। विष्णु का विराट् स्वरूप, जिसके मुख में सभी जीव जा रहे हैं, और जिसके मुख में से सभी जीव बाहर निकल रहे हैं, इसी प्रक्रिया को बताने वाला रूप है। इसी सत्यामा से सभी लोकों के दैवनिवासों का सृजन हो कर सारी सृष्टि बन जाती है। प्रलय के समय इसी सत्यामा में सारी सृष्टि विलीन हो जाती है। जैसे मक्ड़ी अपने जाल को छुनकर विस्तार को रचना कर देती है और पुनः उस सारे जाल को खा कर अपने में ही समेट लेती है, उसी प्रकार यह विष्णु अपनी सत्यामा के द्वारा पूरी सृष्टि का सृजन करता है और प्रलय के समय पुनः उस सृष्टि को अपने में ही विलीन कर लेता है। यही विष्णु का विराट् रूप है। यही उसकी सत्यामा है। अ से उत्पन्न होने वाली यही सत्यामा 'अजा' या 'अज' होती है। इसी सत्यामा को 'अज' कहते हैं। ऋत की तरंगों में जो 'अब्र' की गति होती है, उसमें यही 'अज' सब से आगे चलता है तथा देवताओं का पौषा करने वाली ऋत की निर्मित देवी पूषा का प्रथम भोज्य भाग बनता है। इस 'अज' के पीछे 'अब्र' चलता है तथा उस अब्र के पीछे 'सृष्टि' चलते हैं। सृष्टि के अब्रमैथ यज्ञ में यह प्रक्रिया चलती है।

संज्ञा संज्ञिनः = विष्णु के स्वरूप में स्वयं में संज्ञा की चेतना है। वह दूसरों के द्वारा की गई ऋत की क्रिया को अनुभव करता है। अतः उसमें संज्ञा का स्वरूप है। साथ में वह अपनी सत्यामा के स्फुरण द्वारा अपनी सत्ता को भी दूसरे क्षीरों को अनुभव कराता है। अतः वह संज्ञा को प्रदान करने वाला भी है। अतः उसमें संज्ञिनः का स्वरूप भी है। जो दूसरों की संज्ञा को अपनी संज्ञा में अनुभव करता है। वह 'संज्ञिनः' कहलाता है।

इस संज्ञा संज्ञिनः देव स्वरूप से ही 'ज्ञ' और 'अज्ञ' का सम्बन्ध बनता है।
 इसी बात की इस मन्त्र में ग्रहों, "ज्ञ, अज्ञ द्वौ अर्जौ ईश अनीश, अजा हि
 रुक् : भोक्तृ भोग्यार्थ युक्तः", वाक्यों के द्वारा कहा गया है। अर्थात् असद्
 ब्रह्म में अवतरित अच् (अ' = विष्णु) की भौति परमात्मा का सब को
 जानने वाला 'ज्ञ' स्वरूप और आत्मा का सीमित आग्राम में बँधने वाला रुक्
 भी न जानने वाला 'अज्ञ' स्वरूप दोनों ईश और अनीश का रूप धारण
 करते हैं। 'ईश' का अर्थ है सब को शासित करने वाला तथा 'अनीश' का
 अर्थ है किसी से भी शासित न होने वाला। इस 'अच्' से उत्पन्न होने वाली
 सत्याभा ही 'अजा' बन कर भोक्तृ (भोगों को भोगने वाला) तथा 'भोग्यार्थ'
 (वे प्रकृति के अर्थ पिण्ड जिन का सुख पाने के लिए और जीवन प्रापन के लिए भोग
 करना है) से युक्त प्रकृति का स्वरूप बनता है। अर्थात् भोगों को भोगने वाली
 भी प्रकृति का अव्यक्त स्वरूप 'मन' होता है जो सुख-दुःख की अनुभूति करता
 है। यही विष्णु की सत्याभा का संज्ञा स्वरूप होता है। यही उस का 'ज्ञ' स्वरूप है।
 यही 'भोक्तृ' स्वरूप है। इसी 'अजा' का दूसरा स्वरूप व्यक्त प्रकृति के अर्थ पिण्ड
 स्थूल रूप में बनते हैं जिनका भोग वह 'अजा' प्रकृतिकारण मन के अनुसार अनुबल
 स्थिति का सुख पाने के लिए तथा मन के प्रतिबल स्थिति का दुःख पाने के
 लिए करता है। ये अर्थ पिण्ड स्वयं 'अज्ञ' हैं, वे कुछ भी नहीं जानते, परन्तु अपनी
 उपस्थिति मात्र से ही केवल सुख दुःख की संज्ञा प्रदान करने वाले 'संज्ञिनः'
 बन जाते हैं तथा उस 'ज्ञ' को अपनी सत्ता की अनुभूति का ज्ञान कराते हैं। इस
 प्रकार 'ज्ञ' और 'अज्ञ' ये दोनों रूप उस सगुण ब्रह्म विष्णु के ही हैं। वही ईश और
 अनीश बनता है तथा उसकी रुक् ही 'अजा' प्रकृति भोक्तृ और भोग्यार्थ से युक्त
 होती है। 'अज्ञ' को बताने वाला यही सिद्धान्त है जो ब्रह्म और प्रकृति के दोनों के
 स्वरूप को रुक् ही स्वरूप में स्थित बताता है। सारी प्रकृति का मूल रुक् ब्रह्म को
 बताने वाला यही सिद्धान्त है। "सत्यं ब्रह्म जगन्निष्ठम्", इसी के कारण कहा गया है।
 अर्थात् ब्रह्म ही सत्य मूल है और उस ब्रह्म की प्रयत्न पूर्वक की गई यह प्रकृति
 उससे ब्रह्म के साथ मिथुन में आ कर मिथ्या बन जाती है। मिथि + आ = मिथ्या
 अर्थात् मिथि आगच्छति इति मिथि-आ = मिथ्या।

असद् ब्रह्म का आग्राम अनन्त है तो उससे बने सद-ब्रह्म का आग्राम
 भी अनन्त है और उस अनन्त असद्-ब्रह्म में बने वाली आत्मा भी अनन्त है।
 उस अनन्त परमात्मा में बने वाली जीवात्माओं की संख्या भी अनन्त है।
 उस अनन्त असद् ब्रह्म का परमात्मा स्वरूप ही अनन्त संख्या में दशमौलिक
 अर्थों के असंख्य 'क' कणों की रचना करके प्रकृति के अन्दर स्थित सभी
 रूपों के अर्थ-पिण्डों की रचना करने वाला उस समय बनता है, जब यह ब्रह्म,
 जीव, प्रकृति इन तीन स्वरूपों को प्राप्त करता है। धीरे के अन्दर विष्णु के
 रूप में यह सगुण ब्रह्म के रूप में स्थित होता है जो अपनी सत्याभा छोड़ता रहता है।

‘पुरुष’ के रूप में यह ‘जीवात्मा’ के स्वरूप में स्थित होता है और ‘पुरुष’ के दशांगुल रूप के अति-अतिष्ठत् रूप द्वारा त्रित की रचना करके, दशमौलि अर्थों की रचना करके, ‘क’ कणों की रचना यह प्रकृति के मूलकणों के रूप में करके प्रकृति के रूप में स्थित होता है। प्रकृति में स्थित प्रत्येक अर्थ पिण्ड की प्रतिमा की पदार्थ की मात्रा की इकाई के रूप में ‘प्रमा’ ‘क’ कण ही बनता है। “कासीत् प्रमा प्रतिमा---” (ऋग्वेद-10,130,3) इसी कथन को बताता है।

‘क-आसीत्’ का अर्थ ही, “क था” बनता है। प्रतिमा model को कहते हैं तथा ‘प्रमा’ पदार्थ की मात्रा को बताने वाली मूल इकाई को कहा जाता है। अर्थात् किसी भी प्रतिमा में, जो प्रतिमा अब तक बन चुकी है, उन प्रतिमाओं की रचना में, उनकी रचना होते समय ‘क’ कण ही उन में स्थित पदार्थ की मात्रा को बताने वाला कण था। अर्थात् अमुक प्रतिमा में पदार्थ की मात्रा अमुक संख्या में ‘क’ कणों में थी। जैसे कि त्वष्टा द्वारा रचित अश्व की अश्विनौ प्रतिमा सौलह ‘क’ कणों से बनती है। अतः अमुक अश्विनौ की रचना होते समय उस प्रतिमा में सौलह ‘क’ कणों की ‘प्रमा’ थी।

इस प्रकार जब जीव, प्रकृति और ब्रह्म इन तीनों रूपों को यह अनन्त ‘अ’ की आत्मा परमात्मा का स्वरूप चारण करके प्राप्त करती है तो यही ‘विश्व’ के सारे रूपों की कर्ता बन जाती है। “अनन्त ब्रह्मा विश्वरूपो हि ‘अ’ कर्ता त्रयम् यदा विन्दते ब्रह्म सतत्”, इसी कथन को यहाँ इस मन्त्र में बता रहा है। अर्थात् ‘अ’ ही इस अनन्त आत्मा ‘परमात्मा’ का और विश्व के रूप ‘प्रकृति’ का रचना करने वाला कर्ता बनता है जब यह जीव, ब्रह्म, प्रकृति इन तीन रूपों को प्राप्त करता है।

“त्रयम् यदा विन्दते ब्रह्म सतत्”, में तीन रूप ‘अ’ द्वारा किये गये पलित, अश्न, धृतपृष्ठ भी अणु (Atom) को नाभ (Nucleus) में तीन चक्रों के रूप में बनते हैं। उनका कर्ता ‘अ’ ही बताया गया है।

अस्य वामस्य पलितस्य होतस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।

तृतीयो भ्राता धृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम् ॥ (ऋग्वेद, 1, 64, 1)

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भी ‘अ’ के वामवर्त में भागते हुए के और आह्वान करने योग्य के ‘पलित’ का मध्यम भ्राता अश्न और तीसरा भ्राता धृतपृष्ठ बताया गया है। ऋषि ने, इस मन्त्र के रचीयता ने सारी प्रजाओं के स्वामी को ‘अ’ के पुत्र को सप्तपरावृत के रूप (seven hypercircle) सप्तपुत्र को देखा। ‘सप्तपुत्र’ यहाँ ऋत में बनने वाला सप्तपरावृत है। यही सप्तपरावृत नाभ में सात लीकों की रचना करने वाला कर्ता बनता है और उन सातों लीकों को ‘पलित’, ‘अश्न’ और धृतपृष्ठ नाम के तीन नाभ चक्रों में बाँटता है। सत्य, तपः, जनः इन तीन ब्रह्म

(114)

लोकों से 'पलित' की रचना होती है। महः, स्वः, भुवः, इन तीन लोकों से 'अश्न' की रचना होती है। भूः लोक तथा उसके ऊपर स्थित सात पाताल लोकों से 'धृतपृष्ठ' की रचना होती है। इन सब की रचना करने वाला — कर्ता 'अ' जब इन तीन रूपों — 'पलित, अश्न, धृतपृष्ठ' को प्राप्त कर लेता है तो पूर्ण अणु का रूप धारण करके यह विश्व रूप का कर्ता बन जाता है। जगत् में प्रकृति के अन्दर सारे रूप इन अणुओं द्वारा ही बनते हैं और अणु का पूरा सारा रूप (विश्वरूप) पलित, अश्न, धृतपृष्ठ इन तीनों के समायोजन से ही बनता है। 'अनन्त' आत्मा का रूप भी 'अ' के द्वारा ही बनता है। अर्थात् अनन्त आत्मा का कर्ता भी यह 'अ' ही बनता है।

अर्थात् अनन्त सद् ब्रह्म, सीमित आग्राम की आत्मा और प्रकृति में स्थित एक अणु का 'विश्वरूप' (अणु का पूर्ण सारा रूप) इन तीनों का अलग-अलग करने वाला कर्ता 'अ' (विष्णु) ही है जब यह तीन रूपों को धारण करता है। अणु (अणु) के अन्दर तीन रूप पलित, अश्न, धृतपृष्ठ के बताये हैं। ये ही अणु का विश्वरूप निर्मित करते हैं। जगत् (सृष्टि) की रचना में अनन्त सद् ब्रह्म, सीमित आग्राम की आत्मा, जगत् का (सृष्टि) विश्वरूप (समष्टि की रचना = प्रकृति) ये तीन रूप अलग-अलग इस मन्त्र में ही गिनाये हैं। इन तीनों का कर्ता भी 'अ' ही बनता है। 'अ' ही इन्हें अलग-अलग करने वाला बनता है। ऋग्वेद में, "देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत" (ऋग्वेद-1, 72, 2) कथन के द्वारा बताया गया है कि देवताओं के पूर्व युग में असत् से सत् उत्पन्न होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इसी बात को, "असद्वा इदमग्रा आसीत् ततो वै सदजायत," (तैत्तिरीयोपनिषद्-2, 7) कह कर बताया है। अर्थात् अग्र अवस्था में पहले यह असद् था, उसके बाद उससे सद् उत्पन्न हुआ। ये दोनों कथन इस बात को बता रहे हैं कि असद् ब्रह्म के एक क्षीर में भी 'अ' के द्वारा क्षरण होता रहता है और क्षीरित हो कर वह अपने असली मूल रूप अक्षर अवस्था के उस सद् ब्रह्म में बदलता रहता है जिसमें आगे और क्षरण नहीं हो सकता। अतः 'अ' ही उस अनन्त सद्-ब्रह्म का असद् ब्रह्म से अलग करने वाला भेद कर्ता बनता है। अर्थात् जिस सद् ब्रह्म में 'अ' स्थित हो जाये वह 'अ-सद्' ब्रह्म और जिसमें 'अ' क्षीरित हो कर अपने स्वरूप को मिटा ले और अन्तर्ध्यान हो जाये वह सद्-ब्रह्म बन जाता है। यह सद्-असद् ब्रह्म की रचना का चक्र उस 'अ' के द्वारा अन्य देवताओं की रचनाओं से पूर्व के युग में चलता रहता है। अर्थात् सद् ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा उदित होने से असद् ब्रह्म बन जाता है,

और असद् ब्रह्म के 'अ' के क्षरित हो कर विलीन होने से सद्-ब्रह्म बन जाता है। इस चक्र के चलने के उपरान्त ही असद् ब्रह्म से आगे 'अ' के द्वारा उसकी सत्याभा से अन्य देवों की रचना होती है। उन देवों के द्वारा ही मौलिक अर्ध बन कर रजःकणों की रचना होती है। पुरुष की प्रक्रिया द्वारा वह असद् ब्रह्म मौलिक अर्धों के बने रजःकणों के अर्धपिण्डों में बदल जाता है। पुरुष ही आत्मा का रूप बनता है। इस असद्-ब्रह्म और रजःकण का भेद डालने वाला कर्ता भी 'अ' ही होता है। इस प्रकार ब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति के रजःकण का, इन तीनों का कर्ता वह 'अ' ही बन जाता है। इन तीनों के विश्वरूप (मिलकर सारा इकट्ठा रूप) के द्वारा ही सृष्टि का सृजन होता है। जब ये तीनों मिलकर विश्वरूप में स्थित होंगे तभी पूर्ण सृष्टि का रूप बनेगा। यदि इनमें से कोई भी एक अपना रूप प्राप्त न करे तो इस सृष्टि की सत्ता स्थापित हो ही नहीं सकती। सृष्टि की रचना में आदिकाल में ये तीनों ही थे इनमें से अकेला कोई भी नहीं था। न ही ऐसी अवस्था थी कि ये तीनों ही न हों और शून्य से युक्त व्योम की ही अकेले में सत्ता हो। अतः न अकेले में सब से रहित व्योम था। इन सब से भरा हुआ ही व्योम था। इस व्योम में ब्रह्म, जीव, प्रकृति के रजःकण सब समाहित थे। सब का भेदकर्ता यह 'अ' ही था। इसी बात को ऋग्वेद में, "नासीदन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋग्वेद-10, 129, 1) कह कर बताया गया है। अर्थात् न तो उस समय जब सृष्टि की रचना हुई अकेला असद् ही था, न अकेला सद् ही था, न अकेला रजःकणों का रूप ही था और न अकेला सब से रहित व्योम ही था, अपितु उस सृष्टि की पूर्व अवस्था में विश्वरूप प्राप्त करने वाले ये सभी थे। अकेले एक का अर्थ यहाँ एक वचन की क्रिया 'आसीत्' प्रथम पुरुष में बता रही है। उस एक व्योम में सद्, असद्, रजःकणों का रूप, ये सारे ही भरे हुए थे।

इसी समग्र रूप और इस के कर्ता को 'औइम्' (ॐ) के द्वारा बताया गया है। "अ, उ, म्" इन तीन अक्षरों के विश्वरूप द्वारा ही ॐ की रचना होती है। पहले 'अ' की रचना असद् ब्रह्म में सद्-ब्रह्म से होती है। फिर सद् के ईशान रूप द्वारा पुरुष की प्रक्रिया से 'उ' की ऊर्जा की शक्ति रचित होती है, उसके पश्चात् उस 'उ' की ऊर्जा को अर्ण 'के सीमित आयाम के माप में बाँधने वाला रात्रि का स्वरूप मकार (म्) बन जाता है। इन अर्णों से ही दिव्य द्यौ के अन्दर उग्र रूप धारण विद्ये हुए अर्णव समुद्र बन जाता है। उस अर्णव समुद्र में त्रित की रचना होकर

मौलिक अर्थ बन जाता है और राज्यों की सत्ता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार 'औरम्' के ॐ प्रभाव में सृष्टि का विश्वरूप समाहित हो जाता है, जिसका व्युत्पत्ति 'अ' ही 'अ', 'उ', 'म्' इन तीन स्वरों को प्राप्त करके बनता है। 'अ' में असद ब्रह्म, 'उ' में रुद्र रूप पुरुष की जीवात्मा का स्वरूप तथा 'म्' में रात्रि का विलय रूप रुद्र इकाई के आयाम को पाश में बाँधने वाला तथा अर्थपिण्ड की रचना करने वाला स्वरूप भी और उस अर्थपिण्ड की सत्ता को पुनः ब्रह्म में क्षरण प्रक्रिया द्वारा विलीन करने का स्वरूप भी समाहित है। मकार का अर्थ प्रत्येक रचना की इकाई को एक सीमित आयाम में बाँध कर उसका माप प्रस्तुत करना है। मा, प्रमा, प्रतिमा, ये तीन शब्द ऋग्वेद में इस तथ्य को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। 'मा' का अर्थ पदार्थ (matter) होता है। 'प्रमा' का अर्थ उस पदार्थ की रचना करने वाली एक इकाई की मात्रा से होता है, और 'प्रतिमा' का अर्थ किसी अर्थपिण्ड के विश्वरूप की इकाई के माप (Full model) से होता है। इनमें प्रमा के रूप में 'क' व्यंजन (इन्द्र) को बताया गया है। मन्त्र है -

आसीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं विमासीत् परिधिः क आसीत् ।
छन्दः विमासीत् प्रउगं विमुक्थ यद्देवा दैवमयन्त विश्वे ॥

अर्थ है, 'क' व्यंजन प्रतिमा के पदार्थ की मात्रा की इकाई 'प्रमा' था। इस 'क' का निदान क्या था। अर्थात् निशेष रूप से इस 'क' व्यंजन की सत्ता का दान कैसे होता है। आज्य क्या है। उसके सीमित आयाम की परिधि क्या थी। वह 'क' व्यंजन ही था जिसमें ये सब समाहित हैं। इन 'क' व्यंजनों के नुदन के जतन से उत्पन्न नाद का छन्द क्या था। उसमें प्रयत्न पूर्वक उगा हुआ पुरुष का रुद्र रूप क्या था। उस पुरुष की प्रक्रिया से एक देव दूसरे देव के स्वरूप की रचना का जो यजन् करता है, वह विश्व में यह यजन् क्या है।

यजुर्वेद में इसी प्रक्रिया को, "माच्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, प्रतिमाच्छन्दः" (यजुर्वेद-14, 18) कह कर तीन प्रकार के नाद उत्पन्न करने वाला बताया है। 'माच्छन्दः' में पदार्थ की रचित एक मौलिक अर्थ की रचना का तारतम्य युक्त नाद है। छन्द में तारतम्य युक्त नाद होता है। प्रमाच्छन्द में 'क' व्यंजन का नाद होता है और प्रतिमाच्छन्द में पूर्ण प्रतिमा का तारतम्य युक्त नाद होता है। नाद की इस तारतम्यता के

कारण ही एक देव के स्वरूप के यजन् से दूसरे देव के स्वरूप का विश्व में यजन् होता है। इसी से 'विश्वे देवा' का विश्व रूप बनता है। अतः इन तीन रूपों का भी कर्ता 'अ' ही कहा गया है। इन तीन रूपों को प्राप्त करने के पश्चात् ही सृष्टि का विश्व रूप बनता है।

ऋतं च सत्यं चाभीक्षा तपसोऽध्यजायत ।

ततः रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥

इस मन्त्र में भी ऋत और सत्यलोक की स्थापना 'अ' के द्वारा ही बताई गई है, उसके पश्चात् रुद्र की ऊर्जा से तपस् की तपः लोक में रचना बताई है। उसके पश्चात् जनः लोक के अवर क्षेत्र में रात्रि के उदय से एक अणु को सीमित आयाम में बाँध कर अण्विसमुद्र की रचना को बताया गया है। यहाँ भी 'अ' का ऋत और सत्यलोक, 'उ' का तपस् और 'म्' की रात्रि इन तीनों का ही संयुक्त रूप बना कर द्यौ के उग्र रूप में स्थित अण्विसमुद्र की रचना बताई है। यहाँ भी इन तीन रूपों को ही प्राप्ति बताई गई है। इसी से सृष्टि का विश्वरूप बनता है।

वैश्वानर अग्नि में भी विश्वरूप सृजन का आ जाता है। वैश्वानर अग्नि का दूसरा नाम नचिबेत अग्नि है। नचिबेताग्नि का स्वरूप द्यौ में स्थित पञ्चावर्त में नचिबेतावर्त में बनता है। नचिबेतावर्त घृतपृष्ठ में स्थित भूः लोक तथा सप्त पाताल लोकों की रचना करता है। इनमें 'न' (Neutron) भूः लोक में सब से ऊपर 'पलित', 'अश्न', 'घृतपृष्ठ' के तीनों के आते हुए देवों को निगल कर अवलम्बित करता हुआ स्थित रहता है और छींक मार कर 'इत्' (Electrons) के दृप (फलतः ऊर्जा के भटके) को बाहर निकाल देता है तथा अपने ऊपर के आवरण में स्थित कर देता है। जब 'न' (Neutron) कण में से 'इत्' कण (Electron) का दृप बाहर निकल जाता है तो शेष बचे उस कण को भूः लोक में 'चिब' (Proton) कहा जाता है। इस प्रकार 'न', 'चिब', 'इत्' इन तीन रूपों को प्राप्त करके 'अ' नचिबेत = (न + चिब + इत्) नाम की वैश्वानर अग्नि का विश्वरूप अणु (Atom) को पूर्ण रचना में बना देता है।

'न' कण (Neutron) की स्थिति को बताने वाला मन्त्र है —

तिस्री मातृ स्त्रीन् पितृन् विभ्रुदेवं ऊर्ध्वस्तस्थौ नैम ववशा ययन्ति ।

मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्यं पृष्ठे विश्वं विदुं वाचम विश्वमिन्वाम् ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 10)

['पलित', 'अश्न', 'घृतपृष्ठ' के नाम के तीनों चक्रों के] तीनों माताओं को और तीनों पिताओं को चारण करता हुआ एक अकेला ऊँचा 'न' (Neutron) उहरा है

जो अश्व के प्रवाह में आये इन सभी देवों को निगल कर अवलोकित (हजम) कर लेता है। द्यौ की इस पीठ पर सारे देवताओं द्वारा प्राप्त करने वाले इस वाणी के जादू (Resonance) को हम ऋषि गण मन्त्रित करते हैं। यह जादू 'अ' के द्वारा रचित विश्वरूप को सीमा में बाँध कर मापने के लिए किया जाता है। अर्थात् 'ज' की रचना के उपरान्त 'अ' का विश्वरूप स्व अणु (Atom) की रचना का क्रम पूरा हो जाता है। उस के उपरान्त छींक मार कर दृप के निकालने से 'चिक्' तथा 'इत्' की रचना के द्वारा विनाश का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

जो भी के इन तीन चक्रों में पलित में 'अ', 'अश्न' में 'ज' तथा 'द्युतपृष्ठ' में 'ज' की रचना पूर्ण हो कर 'इत्' कणों द्वारा विनाश का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार सम्भूति में 'अ', 'ज', 'ज' की रचना तथा विनाश में 'इत्' की रचना द्वारा सम्भूति, विनाश का चक्र साथ-साथ पूरा बन जाता है।

इस प्रकार अ + ज + ज + इत् = अ + ग + ज + इ = 'अग्नि' का स्वरूप पूरा बन जाता है। यही वैश्वानर अग्नि है। इसी में 'ज', 'चिक्', 'इत्' द्वारा तीनों रूपों के समावेश से 'जिचिक्ताग्नि' का वैश्वानर रूप बनता है। इन 'ज' कण (Neutron) की छींक मार कर मरणशील विद्युत के बनाने वाले 'इत्' कण के बनावे की प्रक्रिया चिम्न मन्त्र में बताई गई है।

अयं सीशिङ् लते येन गौरभी वृता मिमाति मायुं द्युसनावधिष्ठिता ।

सा चित्तिभिर्निहिचकार् मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रतिवब्रिभौहत ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 29)

यह 'ज' कण (Neutron) के रूप में अर्ध पिण्ड की बनी गौ छिंह करती है, जिससे इस गौ के ऊपर ढँपने वाले द्यौ में कोमल राँम की जादू होती है और वह जादू का दृप उस 'ज' कण की गौ को ढकने वाले द्यौ के आवरण में निकल कर अधिष्ठित हो जाता है। वह द्यौ सचमुच ही चेतनाओं सहित आवेश से युक्त होती है और 'ज' कण की ऊर्जा के स्तर की सचमुच ही नीचे करती है। यह द्यौ मरणशील विद्युत बनती हुई रचना के रूप को विखेरने वाले रूप को प्रकट करती है।

अनच्छयेतुर गातु जीवमैजद् द्युवं मध्य आपस्त्यानाम् ।

जीवां भृतस्य चरति स्वधामि रमर्त्यो मर्त्ये नास गौणिः ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 30)

इस मन्त्र का पद-पाठ और अर्थ इस प्रकार बनता है — यह विद्युत कण —

अनत् = श्वास लेता हुआ, कभी फूलता है, कभी सिकुड़ता है। श्यै = निवास करता है। तुर गातु = शीघ्र गति से चलता है। जीवम् = जीवन से युक्त है,

मृणात्सव्य आवेश की चेतना से युक्त है। रजत = कल्पन गति करता हुआ।

177

ध्रुवम् मध्ये = ध्रुवों के बीच में, चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव के बीच में चुम्बकीय आवेश से युक्त होता है। आ परत्यानाम् = धरों के, Electrons के Orbitals के। जीवः = चेतना के आवेश, Negative Charge of Electron। मृतस्य = मरे हुए का, आवेश से रहित अर्धपिण्ड का। चरति = विचरण करता है। स्वधामिः = अपनी स्वधा के साथ। अमर्त्यः = यह न मरने वाला विद्युत का आवेश। मर्त्येन = मरे हुए के साथ, आवेश रहित मृत अर्धपिण्ड के साथ। सऽमौजिः = तुल्य स्थान वाला बन कर।

अर्थात् यह विद्युत का 'इत्'कण (Electron) ब्रवास लेता हुआ कभी फूलता हुआ कभी सिमटकर सिझुड़ता हुआ, शीघ्र गति से चलता हुआ तथा जीवन से युक्त बनता हुआ और कम्पन गति करता हुआ चुम्बकीय ध्रुवों के मध्य धरों के मध्य रहता हुआ, ऋणात्मक (Charge of an electron) और धनात्मक (Charge of position) चुम्बकीय ध्रुवों के मध्य। उत्तरी तथा दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुवों के मध्य में Orbitals के बने हुए धरों का चेतना का आवेश (Negative Charge or Positive Charge) बिना आवेश के मृत अर्धपिण्ड की स्वधाओं के साथ (अपने स्वयं के रूप को चारण करने वाली पिण्ड की मृत प्रतिमाओं के साथ) न मरने वाला विद्युत का ऋणात्मक आवेश अथवा Positive का धनात्मक आवेश उस मृत अर्धपिण्ड में समाहित होकर उस के साथ-साथ तुल्य स्थान वाला (एक ही स्थान पर रहने वाला) बन कर विचरण करता है और उस मृत अर्धपिण्ड को अपने आवेश की चेतना से युक्त करके सजीव बनाता है। Conductor मृत होता है, जब उसमें Electron दौड़ता है तो वह सजीव बन जाता है। Conductor के Atoms के अन्दर रहने वाले सशोण Electrons के साथ मिल कर यह अपश्यं गोपामनिपद्यमाजमाच पराच पथिमिश्चरन्तम्। दीड़ता है।

स सध्रीचीः स विधूचीर्वसान् आवरीवर्ति सुवनेष्वन्तः ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 3)

इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार है—

अपश्यम् = मैंने (ऋषि ने) देखा है। गोपाम् = गोम के रक्षक को।

अनिपद्यमानम् = अपने Orbit के पथ से न डिगने वाले को।

आ च परा च = आने वाले को और परे जाने वाले को।

पथिमिश्चरन्तम् = Orbit के मार्गों के साथ-साथ चलते हुए को।

सः = वह आवेश की चेतना से युक्त विद्युत का 'इत्'कण (Electron)।

सध्रीचीः = सिमटे हुए विद्युत के कणों के रूप को।

सः = वह विद्युत का 'इत्' कण (Electron) ।

विप्लूचीः = बिखरे हुए विद्युत के कणों के रूप को

वसानः = पहनता हुआ

आवरीर्वति = बार-बार आता जाता है ।

भुवनेषु = भुवनों में (Orbitals में) ।

अन्तः = अन्दर ।

अज्ञात में जै (इस मन्त्र के रचनाकार श्रीविने) नाभि के रखे 'इत्' कण (Electron) को देखा है। वह अपने अक्षा (orbit) के पथ से हट कर चलने वाला नहीं है। अर्थात् सदैव अपने पथ पर ही चलता है, पथ से डिगता नहीं है। वह कभी खाली स्थान के पास आता है और कभी उस स्थान से दूर जाता है। उस स्थान पर कभी-भी ठहरता नहीं है। आने की और जाने की गति में वह सदैव लगा रहता है। मैं जै उस 'इत्' कण (Electron) को अपने मार्गों (orbits) के साथ-साथ चलेते हुए देखा है। वह 'इत्' कण (Electron) विद्युत के कणों के सिमटे हुए रूप को और उन विद्युत के कणों के बिखरे हुए रूप को पहनकर चारण करता हुआ अपने orbitals के भुवनों के अन्दर बार-बार आता है और उन orbitals के भुवनों से बाहर बार-बार जाता है। इस प्रकार वह घूमता रहता है।

य ई चकार न सो अस्थ वेद य ई ददश हिरु गिन्नु तस्मात् ।

स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहु प्रजा निमृति मा विवैश ॥ (ऋग्वेद, 1, 64, 32)

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ निम्न प्रकार है।

यः = जिसने । ईम् = इसको । चकार = बनाया है, उत्पन्न किया है।

न = 'न' कण (Neutron) ने । सः = वह ('न' कण = Neutron) अस्थ = इसका । वेद = प्राप्त करने वाला होता है। अर्थात् वह 'न' कण इसे नाभि के अन्दर से प्राप्त करके नाभि से बाहर फैल देता है और इस प्रकार इस 'इत्' कण (Electron) की रचना कर देता है।

यः = जिसने । ईम् = इसको । ददश = देखा है । हिरुक् = छिपा हुआ

'इत्' = 'इत्' कण के रूप में (Electron के रूप में), 'इत्' कण को ।

नु = 'न' की ऊर्जा के रूप में, सचमुच । तस्मात् = उससे । सः = वह 'इत्' ।

मातुः = माता के (नाभि के - nucleus माता के) । यौजा = गर्भाशय में ।

परिवीतः = घिरा हुआ । अन्तर्ग = अन्दर । बहुऽ प्रजाः = बहुत प्रजा वाला ।

निः स मृतिम् :: विनाश के स्थान को । आ विवैश = प्राप्त हुआ है ।

जिस 'न' कण (Neutron) ने इस 'इत्' कण (Electron) को बनाया है, वह 'न' कण इस 'इत्' को नाभि के अन्दर से प्राप्त करने वाला होता है । वही 'न' उसी प्राप्त किसे 'इत्' कण को खींक मार कर नाभि से बाहर फेंक देता है । इस प्रकार पाताल लोको में नाभि से बाहर 'इत्' कणों (Electrons) की रचना हो जाती है । जिस ने इस 'इत्' कण को सचमुच 'न' कण से निक्ली ऊर्जा के रूप 'न' कण में छिपा हुआ देखा है, उस 'न' कण से अलग होने पर वह 'इत्' अपनी माता के गर्भाशय में धिरा हुआ, उस गर्भाशय के अन्दर बहुत प्रजा वाला बन कर विनाश के स्थान को प्राप्त होता है ।

'इत्' कणों में स्थित रज कण मृत अर्धपिण्ड होते हैं, उन में जब 'इत्' का आवेश आ जाता है तो वे दौनों समौनि बन जाते हैं । उस अर्ध पिण्ड के रूप की पृथिवी उस 'इत्' के आवेश की माता बनती है, जिसके गर्भाशय में उस 'इत्' का आवेश होता है । अपनी माता के उस गर्भाशय में धिरा हुआ ही वह 'इत्' विनाश की प्रक्रिया को प्राप्त होता है । वह रुक् पदी, क्षिपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी रचनाओं में बँटता हुआ सहस्राक्षरा उक्ताणम् (Radiation) की ऊर्जा में बदल जाता है और अण्वि समुद्र के द्यौ के मृत में समाहित हो जाता है । इस प्रकार वह बहु प्रजा वाला बन कर 'इत्' विनाश को प्राप्त होता है ।

इस विनाश प्रक्रिया को बताने वाला मन्त्र इस प्रकार है -

गौरी मिमात्र सलिलानि तक्षत्यैकपदी क्षिपदी सा चतुष्पदी ।

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 41)

अर्थात् दीप्ती मती वह विद्युत जल धाराओं को बनाती हुई रुक् पद की रचना करती हुई, दो पदों की रचना करती हुई, चार पदों की रचना करती हुई, आठ पदों की रचना करती हुई, नौ पदी रचना को बनती है और फिर सहस्र अक्षों के अरों में बँटती हुई परम व्योम में समाहित हो जाती है । रुक् बिन्दु पर सिमटा हुआ 'इत्' कण रुक् पदी रचना होती है । रुक् बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने से बना 'इत्' की ऊर्जा के प्रवाह का बना रैखा खण्ड क्षिपदी रचना होती है । उस ऊर्जा के रैखा खण्ड के चलने से बना ऊर्जा का क्षेत्र चतुष्पदी रचना कहलाता है । उस चतुष्पदी क्षेत्र के चलने से बना ऊर्जा का आयाम अष्टापदी रचना कहलाता है । वह अष्टापदी रचना का आयाम तीन-तीन अवयवों के तीन खण्डों में बँट कर नवपदी रचना करता है और उस के पश्चात् द्यौ के दिव्य स्वरूप में सहस्र अक्षों के अरों में बँट कर सहस्राक्षरा बन कर व्योम में समाहित हो जाता है और विनाश को प्राप्त हो जाता है । आगे चित्र में इस पदावत विनाश के क्रम को देखें ।

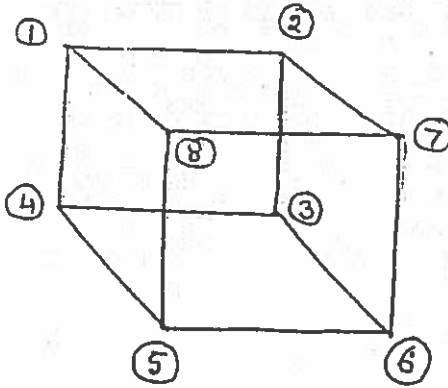
① . एक बिन्दु एक पदी रचना

① ————— ② एक रेखा खण्ड द्वि पदी रचना

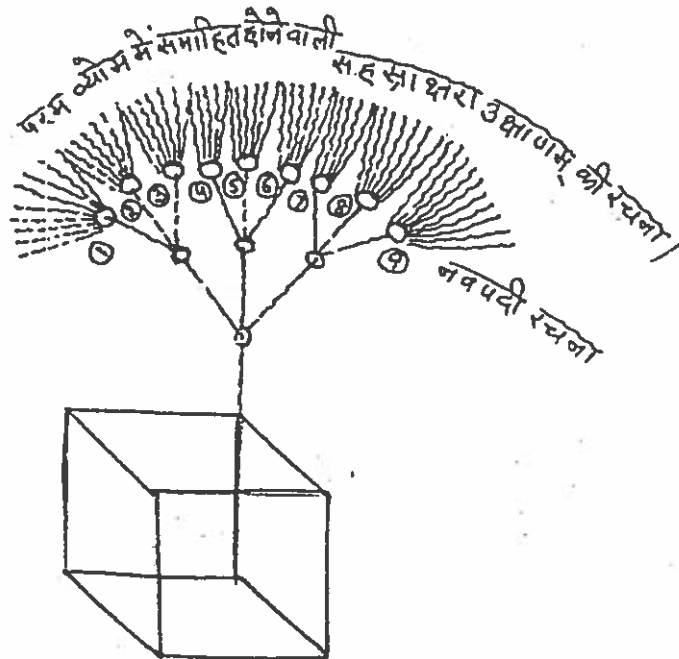
① ② एक क्षेत्र चतुष्पदी रचना

④ ③

चित्र = 37



एक आयाम अष्टापदी रचना /



'सलिलानि' का अर्थ यहाँ *flow of current* है / 'सलिलानि' धाराओं को कहते हैं। दीप्तिमती विद्युत अपनी धाराओं (currents) की रचना करती है। उसी के प्रवाह से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन जैसे मिल कर पानी को बनाती हैं जो विद्युत के गर्जन के साथ वर्षा के रूप में बरसता है /
 $2H + O = H_2O$ (पानी)

द्यौर्मै पिता जौनता नाभिरत्र बन्धुर्मै माता पृथिवी महीमम् ।

उत्तानयो ब्रह्मन्वो २ योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 33)

यहाँ बन्धु रूप द्यौं मेरा उत्पन्न करने वाला पिता है और बन्धु रूप यह अणु की नाभिके कण की बनी पृथिवी मेरी माता है । तने हुए द्यौं और नाभिके कण की पृथिवी की योनि के अन्दर यहाँ पिता ने पुत्री को गर्भ को धारण कराया है ।

अर्णव समुद्र में ऋतु की चलने वाली तरंगें द्यौं के अन्दर स्थित होती हैं जो विद्युत के 'इत्' कणों में अपने ऋतु के रेत का आवेश भरती हैं । अतः द्यौं इस 'इत्' कण के आवेश का दाता बन कर इसे उत्पन्न करने वाला इसका पिता बनता है ।

इस द्यौं में विद्यमान अर्णव समुद्र के अर्णवों में त्रित की सत्ता से मौलिक अर्थों की रचना होती है । उन दशमौलिक अर्थों के ग्राहक से सब 'क' कण के रजकण की पृथिवी की रचना होती है । उन्हीं 'क' कणों के रजकणों से 'ज' की रचना हो कर नाभिके रचना होती है । नाभिके में स्थित 'ज' कण से 'इत्' कण की उत्पत्ति होती है । अतः नाभिके में महान पृथिवी के रूप में इस 'इत्' कण की माता बनती है । नाभिके के अन्दर व्योम में अर्णवों से बना द्यौं तथा 'क' कणों से बना पृथिवी के रजकणों का रूप अपनी योनियों में तना रहता है । नाभिके बाहर 'इत्' कणों में 'क' कणों के रजकणों की पृथिवी का महान रूप अश्विनो की योनि में और वृन्दारकों (Quarks) की योनि में तथा अर्णवों में चलने वाली ऋतु की तरंगें द्यौं की योनि में तनी होती हैं । यहाँ द्यौं के अर्णवों से त्रित के रूप में बने मौलिक अर्थों के 'क' कणों की भूमि द्यौं की पुत्री बनती है । उन्हीं 'क' कणों की भूमि पुत्री को 'इत्' कणों के अन्दर द्यौं पिता अपने अर्णवों के ऋतु की तरंगों के आवेश के रेत से गर्भित कर के आवेशित कर देता है । इस प्रकार यहाँ पिता द्यौं अपनी पुत्री नाभिके कणों की मही को गर्भ को धारण करा देता है । [इसी कारण 'इत्' कण (Electron) की Dual Nature होती है जो रजकण का स्वभाव और दूसरे तरंग के स्वभाव में होती है ।]

ऋचो अक्षरः परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तान्न त्रैदु किमृचा करिष्यति य इत्तु द्विदुस्तद्विमे समासते ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 39)

इस अक्षर परम व्योम में ऋतु के द्वारा रचित सभी ऋचायें हैं, जिन ऋचाओं को आधार बना कर उनमें सभी देव बँटे हैं । इन देवों में जो 'ज' देव ।

(184)
(Neutron) है, उसे जानो। उसके पश्चात् आप को पता चलेगा कि यह सृष्टि की बनी हुई सृष्टि आगे भीविष्य में उन अपने देवों का क्या करेगी। जो 'इत्' (Electron) है, उसको जानो। वह 'इत्' इस 'न' कण (Neutron) में ही समासित है।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि "यस्तन्न वेद", अर्थात् 'यः तद् न वेद', अर्थात् 'यः 'न' तद् वेद', अर्थात् जो 'न' है, उसे जानों गा जो उस 'न' को जानता है, वही भीविष्य को बतायेगा कि सृष्टि आगे क्या करेगी। [किमुचा करिष्यति]। आगे भी 'इत्' (Electron) के विषय में स्पष्ट लिखा है कि, "य 'इत्' तद् विदुः", अर्थात्-जो 'इत्' है उसे जानो। "त इमे समासते" का स्पष्ट अर्थ बनता है कि वह 'इत्' इस 'न' कण में ही समासित है। अर्थात् जो 'इत्' कण है, जो नाभ के अन्दर से बाहर निकल रहा है, वह पहले नाभ में 'न' कण में आ कर सम्यक् रूप से बैठता है, उसके पश्चात् उस में से बाहर निकलता है। अर्थात् 'न' कण और 'इत्' कण इकट्ठे विराजते हैं।

तस्याः समुद्रा अधिविहरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।

ततः क्षरत्यधरं तद् विश्वमुपजीवति ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 42)

उस दीप्तीमती विद्युत के 'इत्' कणों के समुद्र अधिविहरित होते रहते हैं, (और सद् ब्रह्म में असद् ब्रह्म से बदलते रहते हैं।)। इससे वाद अक्षर सद्-ब्रह्म अधिविहरित हो कर 'अ' को अवतरित करके 'असद्' ब्रह्म में बदलता रहता है। इसी सद् से असद् में, असद् से सद् में बदलने के अधिविहरण से क्षीर सागर, अर्णव समुद्र चेतना के जीवन से भर जाते हैं और उस से चारों दिशाओं जीवन से युक्त हो जाती हैं। इसी क्षरण के चक्र से सारा विश्व अपना जीवन जीता है।

अतः जिस दिन यह क्षरण की प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी, उसी दिन आत्मा का जीवन समाप्त हो जायेगा। यह क्षरण प्रक्रिया स्वप्नमेव मन की इच्छा के कारण चलती है। इसी कारण मन में उदित होने वाली चित्त की वृत्तियों का निरोध करके इस क्षरण की प्रक्रिया को रोकने का योगशास्त्र में विधान किया गया है। उस क्षरण प्रक्रिया के रुकने पर आत्मा का असद्-ब्रह्म का स्वरूप स्वप्नमेव सद्-ब्रह्म के रूप में अवस्थित हो जाता है और अपनी आत्मा के स्वरूप की सत्ता को समाप्त करके सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इसी आत्मा-परमात्मा के मिलन को 'योग' कहा जाता है और यही इस क्षरण प्रक्रिया के जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। यही वेदों का मार्गदर्शन है। यही इस दर्शन का लक्ष्य है।

इस आणविक रचना को ऋग्वेद के एक ही मन्त्र में इस प्रकार इससे

अंगों को गिनते हुए समाहित किया है—

द्वादश प्रचयश्चक्रमैकं त्रीणि नभ्यानि कृतचिकेतः ।

तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कुर्वोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 48)

इस मन्त्र का पद-पाठ तथा अर्थ निम्न प्रकार है—

द्वादश = बारह | प्रचयः = घेरे अर्थात् धिरनियाँ | चक्रम् = चक्र |
सकम् = एक | त्रीणि = तीन | नभ्यानि = नाभि के अंग अर्थात्
नाभि में स्थित तीन चक्र, पलित, अश्न, धृतपृष्ठ | कः = 'क' कण |
ऊम् = रुद्र की ईशान रूप की ऊर्जा जो पुरुष का रूप धारण
करती है | तत् = वह | चिकेत = चिक + इत् = चिकेत = 'चिक'
तथा 'इत्' का साथ-साथ चलने वाला एक युग्म = द्वि सह स्या यामा =
दोनों साथ-साथ साथ करते हुए चलने वाले 'चिक' (Proton) तथा 'इत्'
(Electron) = चिक तथा इत् का एक युग्म | तस्मिन् = उस नेमि में |
साकम् = साथ में | त्रिशताः = तीन सौ | न = 'न' कण = Neutron |
शङ्कुर्वः = शंकु की आकृति में बने हुए | अर्पिताः = स्थापन किये हुए |

षष्टिः = साठ | न = 'न' कण = Neutron | चलाचलासः = चल
और अचल अवस्था में स्थित हैं, अर्थात् वे नेमि में अन्य 'न' कणों के
साथ स्थित रह कर नाभि के अन्दर रह भी सकते हैं और उस नाभि में
से उन अन्य 'न' कणों का साथ छोड़ कर बाहर भी निकल सकते हैं।

बारह घेरे वाला पञ्चावर्त का एक चक्र है, उसमें नाभि के तीन
चक्र (पलित, अश्न, धृतपृष्ठ) हैं। उसमें 'क' कण है। रुद्र की ईशान रीतिमयी
का मृत का बना ऊर्जा का पुरुष है। 'सकवर्ह चिक' (Proton), 'इत्' (Electron)
का युग्म है। उस नेमि में उन 'चिक' कणों (Protons) के साथ 'न' कण
(Neutron) हैं। ये सभी 'न' कण (Neutrons) संख्या में (अधिकतम) तीन
सौ हैं। [इन्हीं तीन सौ 'न' कणों में से ही 'चिक' कण बनते हैं। अतः यह एक
सब से बड़े अणु (Atom) का सम्भावित द्रव्य माप (Atomic Mass) है।]

ये शङ्कु की आकृति में बने हुए नाभि की नेमि में स्थापन किये हुए हैं। इन
तीन सौ शंकु की आकृति के 'न' कणों में से साठ 'न' कण चलाचल अवस्था

में स्थित हैं, जो कभी नाभि के अन्दर स्थित रह भी सकते हैं और नाभि के बाहर कभी निकल कर जा भी सकते हैं। [आइसो बार तथा आइसोपेय इन्हीं के कारण बन पाते हैं। ४ रेडियेशन इन्हीं के कारण होती है। ५ रेडियेशन में भी 'ज' कणों और 'चिक्' कणों के युग्म के रूप में ये ही नाभि से बाहर आते हैं।]

इस प्रकार 'श' और 'अज्ञ' दोनों 'अज्ञा' के ही रूप हैं। ईश और अनीश बन कर सब 'अज्ञा' ही भौवृत् तथा भौवमार्थ से युक्त होती है। यह 'अ' ही अनन्त असद् ब्रह्म, आत्मा, तथा प्रकृति के विश्व रूप का कर्ता तब बनता है जब यह अपने तीनों रूपों को प्राप्त करता है। 'अ' से उत्पन्न होने वाली प्रकृति 'अज्ञा' कहलाती है।
क्षरम् प्रधानम् अमृताक्षरम् हरः

क्षरात्मानावीशते देव रुक्ः ।

तस्याभिध्यानाद्योजनात् तत्त्वभावाद्

भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ॥ १०

जिस असद् ब्रह्म में निरन्तर क्षरण होता रहता है, तथा जिसकी इस क्षरण प्रक्रिया से ही सृष्टि का सृजन होता है और जिसकी इस क्षरण प्रक्रिया से चारों दिशाओं में जीवन की चेतना का सञ्चार होता है, वह क्षरण प्रक्रिया से युक्त असद्-ब्रह्म (क्षरम्) इस सृष्टि के सृजन में प्रधान है। दूसरा इस क्षरण की प्रक्रिया के विचार को हरने वाला तथा कभी न मरने वाला वह सद्-ब्रह्म है जो अमृत, अक्षर तथा हर के नाम से बताया गया है। जब असद् ब्रह्म में क्षरण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो वह सद्-ब्रह्म के रूप में बदल जाता है। अतः वह असद् ब्रह्म के क्षरण के विचार के कष्ट को हरने वाला 'हर' है। वह असद् ब्रह्म के 'अ' स्वरूप को हर कर सद् रूप बना देता है, अतः वह हर है। वह जीवात्मा के स्वरूप को हर कर अपने स्वरूप में विलीन कर लेता है, अतः वह 'हर' है। इसी हर को सभी ऋषि, मुनि, सन्त भजते हैं ताकि वह उनकी आत्मा का भी हरण करके अपने में विलीन कर लें और उनके सभी कष्टों को हर लें। वह अमृत, अक्षर और हर कहलाने वाला सब ही देव सद्-ब्रह्म अपनी आत्मा में क्षरण की प्रक्रिया उत्पन्न करके सब को शासित करता है। वह सद् ब्रह्म पहले 'अ' के रूप में क्षरता है, उसके पश्चात् 'अ' स्वयं क्षरता है और उस क्षरण से सभी देवों की रचना करता हुआ सब अणु (Atoms) की रचना करता है। अणुओं से अर्धपिण्डों की रचना करता है। अर्धपिण्डों से

एक विश्व की रचना करता है, सभी विश्वों से ब्रह्माण्ड को रचना करता है।
इस प्रकार 'अजा' के द्वारा 'ज्ञा', अज्ञा, ईश, अनीश, अनन्ता, आत्मा, विजय
बनता हुआ यह अकेला देव सद्-ब्रह्म सभी को शासित करता है। यही
हर तथा परमात्मा कहलाता है। इसी को ईश कहते हैं।

उस शुद्ध ब्रह्म, सद्-ब्रह्म में जब सृष्टि सृजन की इच्छा का
संकल्प उदित होता है तो उस अपने प्रति अभिध्यान की योजना के अनुसार
उसमें क्षरण प्रारम्भ होता है और वह असद् ब्रह्म बन कर क्षरण करता हुआ
पदार्थ के किसी तत्व भाव को प्राप्त होता है। उस तत्व भाव में पदार्थ
के तत्वों के अणुओं (Atoms) का स्वरूप पूर्ण हो जाता है। उसके पश्चात्
पुनः (नूतन) क्षरण प्रारम्भ होता है और तत्वों से मिल कर यौग (Chemical
compounds by the formation of molecules) बन जाते हैं और अन्त में
सारे विश्व की माया की रचना पूर्ण होकर रचना के कार्य से निवृत्ति
हो जाती है। शुद्ध सद्-ब्रह्म में संकल्प का उदय होना ही 'अभिध्यान' कहलाता है।

रचना के कार्य से निवृत्ति पाकर यह क्षरणशील असद्-ब्रह्म इसमें
विनाश की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है। जिन पाशों (बन्धनों) ने रचना की
प्रत्येक इकाई को उसके स्वरूप में बाँधा हुआ है और माया का आवरण
चढ़ा कर 'अज्ञा' बनाया हुआ है, उन सारे पाशों की हानि विनाश प्रक्रिया
में किस प्रकार होती है, उसे अगले मन्त्र में बताया गया है।

ज्ञात्वा देवैर्म सर्व पाशापहानिः

क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणिः ।

तस्याभिध्याना तृतीयम् देह भेदे

विश्वैश्वर्यम् कैवल आप्त कामः ॥ ॥

इस अमृत, अक्षर, हर रूप में सद्-ब्रह्म तथा क्षरित होकर बने असद्-
ब्रह्म के इस एक देव को पूर्ण रूप से जानकर कि कैसे-कैसे यह किया
करता है, ब्रह्म का उपासक तथा साधना करने वाला प्रीति सभी पाशों
की हानि कर लेता है। उसके तीनों प्रकार के बन्ध टूट जाते हैं और तीनों
प्रकार के मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं। उसकी आत्मा को बन्धन में बाँधने वाले
पाँचों क्लेश, "अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश", क्षीण
हो जाते हैं। अविद्या मिथ्या ज्ञान है। अस्मिता 'अहम् अस्मि' का अहंकार
है। राग विषयों के प्रति लगाव तथा मोह है। द्वेष - किसी से ईर्ष्या के

कारण होता है। अभिनिवेश - मरण त्रास है, जो मृत्यु से सदा भग्न लगा रहता है।

इस अमृत, अक्षर हर देव को जान कर जन्म तथा मृत्यु को भी हानि प्रयत्न करने से हो जाती है। 'प्रहाणिः' में 'प्र' उपसर्ग प्रयत्न को बताने वाला है। प्रयत्न के अन्दर योगाभ्यास और निर्वीज तथा चर्ममैद्य समाधिओं की सिद्धिओं का प्रयत्न आ जाता है। केवल ज्ञान से ही जन्म-मृत्यु को हानि नहीं होती अपितु उसके लिए उस ज्ञान के अनुसार प्रयत्न करने का कार्य भी करना होता है। तभी सब भोगी साधक और भक्त इस जन्म-मरण के चक्र से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं और सद् ब्रह्म में अपने को विलीन कर पाते हैं। केवल ज्ञान पर आधारित रहने वाला तो अत्यन्त गहन अन्धकार के जन्म-मरण के चक्र में फँस जाता है। इसी बात को ईशोपनिषद् में इस प्रकार कहा है -

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याग्राम् रताः॥

अर्थात् जो केवल अविद्या की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में (अज्ञान के अन्धकार में) प्रवेश करते हैं। जो केवल विद्या में ही रत रहते हैं, (उस विद्या के अनुसार कर्म करके भोग साधना नहीं करते) वे उससे भी अधिक गहन अन्धकार (जीवन-मरण के चक्र का उससे भी गहन अन्धकार) में फँस जाते हैं।

इस विद्या और अविद्या के दोनों के अलग-अलग फल बताये हैं। इसी कारण अविद्या का भोग साधना का कर्म करने का प्रयत्न और उस कर्म को उचित मार्ग प्रदर्शित करने वाला विद्या का सत्य ज्ञान का स्वरूप दोनों का साथ-साथ उपासना करने का विधान इस मन्त्र में ईशोपनिषद् में बताया है -

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते ॥

अर्थात् जो विद्या के द्वारा प्राप्त ज्ञान और अविद्या के भोग साधना के कर्म को साथ-साथ प्राप्त करता है, वह अविद्या के योगाभ्यास के कर्म द्वारा निर्वीज समाधि और चर्ममैद्य समाधि को सिद्ध कर के बार-बार मृत्यु को प्राप्त करने के चक्र से तर जाता है, और उस मृत्यु के चक्र से तर कर विद्या के सत्य ज्ञान द्वारा वह कभी भी सृजन का संकल्प अपने में उदित नहीं होने देता। इस प्रकार वह सदा के लिए सद्-ब्रह्म में विलीन हो कर उस सद्-ब्रह्म के अमृत, अक्षर और हर स्वरूप का पान करता है।

“तपः स्वाध्याये श्वर प्रणिधानाणि क्रिया योगः” सूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने जो तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान के कार्यों को करने का क्रिया योग बताया है, उसमें ईश्वर प्रणिधान के अभिध्यान द्वारा योगी साधक अपने तीसरे कारण शरीर को भी भेदने में समर्थ हो जाता है और अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त करके सद्-ब्रह्म में विलीन करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार वह सद्-ब्रह्म के स्वरूप के सारे ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह सारा कार्य तभी होता है जब उस योगी साधक के मन में इस योग साधना को करने की तीव्र कामना हो। अर्थात् वह योग साधना के कार्य का ‘आप्त-काम’ हो।

योग साधना का कार्य अत्यन्त कठिन और नीरस है। इस कठिन कार्य को आप्त काम पुरुष ही कर सकता है। अतः जो दृढमति हो कर सच्चे मन की ललन में ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है और योग साधना में अपना सर्वस्व होम देता है, वही अपने तीसरे शरीर ‘कारण शरीर’ को भेदने में समर्थ होता है। वही अपनी आत्मा को इस तीसरे शरीर से मुक्त करके सद्-ब्रह्म में विलीन कर पाता है। तीन शरीर—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर होते हैं। कारण शरीर से मुक्त होने पर ही आत्मा को जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा मिलता है। कारण शरीर से मुक्त होने पर ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर सद्-ब्रह्म में विलीन होती है।

स्थूल शरीर हाड, मांस, रक्त का बना होता है, जिसमें इन्द्रियों, मन, प्राणों का स्थूल निवास होता है। सूक्ष्म शरीर आकाश महाभूत का बना होता है, जिसमें सूक्ष्म इन्द्रियों, प्राणों का, मन का वास होता है। तीसरा कारण शरीर घी में विद्यमान अणुओं, क्षीरों का बना होता है जिसमें कामना युक्त मन का वास होता है और जिसका धारण ‘पुरुष’ द्वारा होता है। जब इस तीसरे कारण शरीर से आत्मा अलग हो जाती है तो आत्मा का शुद्ध पुरुष रूप रह जाता है और वह भी अपने पुरुषत्व को त्याग कर शुद्ध सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यही योग है। सद्-ब्रह्म में विलय काम के सम्मान्त होने पर ही होता है। जिसमें काम की स्थिति बनी रहती है, उसका तीसरा कारण शरीर बना रहता है और उसकी आत्मा उस तीसरे शरीर में बँधी रहती है। वह आत्मा उस शरीर में बँधी हुई आप्तकाम बन कर विश्व के सभी ऐश्वर्यों का भोग करती है और जीवन मरण के चक्र में फँसी रहती है। वह अपने शेष दो अन्य शरीरों सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर को किसी भी योगि के अन्दर प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार पुनर्जन्म चरण करके बार-बार जन्म लेती है और मरती है। आत्मा नहीं मरती, अपितु उसके द्वारा चरित ये शरीर प्राण रहित होते हैं या प्राणों से युक्त होते हैं। यही मरण या जीवन है। आत्मा तो सदा महाभास्वरा है।

आत्मा अजर और अमर है। वह तो असद्-ब्रह्म के रूप में सद्-ब्रह्म का अंश है। वह अपने असद्-ब्रह्म के स्वरूप को मिटा कर केवल सद्-ब्रह्म में विलीन होती है। वह आत्मा अपने परम रूप परमात्मा में मिल जाती है। यही मोक्ष या निर्वाण कहलाता है। जो व्यक्ति कामनाओं से युक्त होकर आप्त कामी बना रहता है, उसकी आत्मा शरीर में ही फँसी रहती है और विश्व के सुखों का भोग करती रहती है। वह परमात्मा को भूल जाती है। इस कारण उसका शुद्ध स्वरूप में कभी भी अवस्थापन नहीं हो पाता। अतः वह कभी भी उस परमात्मा में नहीं मिल पाती। उसमें मिलने के लिए उसको जैसा ही निर्गुण निराकार बनना होता है तभी उसमें मिल पाता है। सगुणता और साकारता उत्पन्न करने वाला उसमें उसकी कामनाओं का घर काम ही होता है। उससे दग्ध होने पर वह स्वयमेव निर्गुण निराकार के स्वरूप में अवस्थित हो जाता है और अपने तीनों शरीरों का त्याग कर उस परमात्मा के निर्गुण निराकार स्वरूप में विलीन हो जाता है। यही उसकी अन्तिम मीठ-जल होती है जो सब जीवात्मा को प्राप्त करनी होती है।

इसी कारण योग साधना करने वाला संयमी भौतिक सुखों के भोग की कामना के प्रति जागृत नहीं रहता। उसे इन कामनाओं के अग्राह सागर में गहन अन्धकार दिरवाई देता है। अतः वह इसे सुप्त अवस्था में रहने के लिए रात्रि ही समझता है। जैसे सब प्राणि रात्रि में अचेत होकर सो जाता है, उसे दुनिया का उस समय कुछ भी पता नहीं होता, उसी प्रकार की रात्रि यह अग्राह कामनाओं का सागर उस संयमी के लिए होता है। परन्तु सामान्य प्राणी उन भौतिक सुखों के भोग की कामना के प्रति सदैव जागृत रहता है। उन्हें उन भौतिक सुखों की त्यागने में अपने जीवन में अन्धकार भरी रात्रि दिरवाई देती है। अतः वे त्याग को नहीं अपनाते अपितु त्याग के प्रति सुप्त रहते हैं। जब कि संयमी त्याग के प्रति जागृत रहता है। सब-सब करके वह अपनी सभी कामनाओं का त्याग कर देता है। गीता में इसी बात को निम्न श्लोक में कहा है—

या निशा सर्व भूतानाम् तस्याम् जागर्ति संयमी ।

यस्याम् जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।

अर्थात् सारे प्राणियों की भौतिक सुखों की जिस कामना को त्यागने में जीवन में रात्रि का गहन अन्धकार दिरवाई देता है, संयमी उससे प्रति जागृत रहता है। वह उन कामनाओं का त्याग करता रहता है। सांसारिक भोगों का भोग वह कामनाओं से रहित होकर निष्काम भाव से करता है। जिन भौतिक सुखों की प्राप्ति की कामना में अन्य प्राणी जागृत रहते हैं, वह उस मुनि को सोने वाली रात्रि दिरवाई देती है। वह उससे प्रति अचेत हो कर सोता रहता है। उन भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार की कामना का वास अपने अन्दर वह नहीं होने देता

संप्रप्ती बचने का यह विवेक प्राणिमयों की मनुष्य योनि में ही हो सकता है, अन्य योनिमयों में नहीं। इस मनुष्य योनि में ही जीवात्मा सद्-ब्रह्म में विलीन होने का प्रयास कर सकती है और उसमें सफल हो सकती है। अन्य योनिमयों में प्राणिमयों में यह सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हो पाती। अतः मनुष्य योनि अनमोल है। इस मनुष्य योनि के जीवन को यों ही बेकार नहीं जाने देना चाहिए। जन्म जन्मान्तरो के जीवन-मरण के चक्र के इस विकट कष्ट से छुटकारा पाने का उपाय इस मनुष्य योनि में अवश्य कर लेना चाहिए। यजुर्वेद का ईशोपनिषद् भी इसी मार्ग को बताता है।

ईशा वास्यम् इदम् सर्वम् यत् किञ्च जगत्याम् जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य सिद्ध्यन्म् ॥

इस अत्यन्त गतिशील समष्टि जगत् में जो भी यह दृश्यमान गतिशील वैयक्तिक जगत् है, जो स्थावर तथा जंगम रूपों में दृष्टिगत होता है, यह सब ईश्वर के वास के लिए है। इस सब के त्याग द्वारा तुम्हें इसका उपयोग करना चाहिए। किसी भी दूसरे की चन-सम्पत्ति पर ललचाई दृष्टि मत डाल। इस जगत् में तेरा चन कुछ भी नहीं है। यह सारा चन इस जगत् का है। अतः तू मन के अन्दर इस जगत् के चन को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न मत कर और किसी के अपने चन को हड़प मत कर। इस गतिशील जगत् में तो जो कुछ भी है, यह सब उस ईश के द्वारा वास करने के प्रयत्न है। उसी ईश को इसमें वास करने दे। तू इस जगत् को अपने वास करने के लिए मत पकड़। इससे छुटकारा पाने का उपाय कर। तेरे वास करने प्रयत्न तो वह ईश है, जो इस गतिशील जगत् में वास कर रहा है। अतः तू अपने उस ईश को प्राप्त करने का उपाय कर और उसमें अपने आप को विलीन कर दे।

परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त करके तुरन्त अपने जीवन को समाप्त करने के लिए और ईश्वर में विलीन होने के लिए प्राणों को त्याग दे। उसे अपने उस ईश में विलीन होने के लिए पूर्ण प्रयास करने के लिए और सफलता की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचने के लिए परिश्रम करने के लिए अपना पूर्ण जीवन सौ वर्ष तक की आयु का जीना चाहिए।

कुर्वन्नेवैह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ।

सर्वम् त्वीयं नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस संसार में अपने ईश्वर की प्राप्ति की योगसाधना के कर्म करो। इस तथा शरीर का भरण पोषण करने के लिए आवश्यक कर्म करो। इस मनुष्य को सौ वर्ष तक अपनी पूर्ण आयु का उपयोग करने के लिए जीने की इच्छा

करनी चाहिए। इस मनुष्य प्रीति को सफल बनाने के लिए हे मानव! तेरे लिए कर्म करने का इस प्रकार का ही विधान है। इससे भिन्न किसी और प्रकार का नहीं है। इस प्रकार निष्काम भाव से कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करने से मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता।

सकाम भाव से कर्म करने पर उन कर्मों की कामना का वास जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर में समा जाता है। वही कामना का वास उन तीनों शरीरों को (स्थूल शरीर को, सूक्ष्म शरीर को, कारण शरीर को) जीवात्मा के साथ बाँध कर रखता है और बार-बार जीवन प्रदान करके बार-बार मरण का त्रास अनुभव कराता है और जीवन-मरण के अनन्तकाल तक चलने वाले चक्र में फँसा देता है। अतः इस जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के लिए इस कामना का दग्ध होना आवश्यक है। यह कार्य इस मनुष्य प्रीति में ही हो सकता है। अन्य प्रीति में इस कार्य को करने की सामर्थ्य नहीं है। इसी काम को करने के लिए तुम मनुष्य ने सोचा है कि जीने की इच्छा करनी है। योग साधना मनुष्य प्रीति में ही सम्भव है, अन्य प्रीति में नहीं।

गीता में कहा है -

त्यक्त्वा कर्मफल असंगमं नित्यं तृप्तो निराश्रयः।

कर्मणि जीमिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥

जो मनुष्य कर्मफल की प्राप्ति की कामना को त्याग कर अनाश्रित हो जाता है तथा सदैव अपने मन में तृप्त रहता है जो उसे उपभोग करने के लिए मिला गया उसी के उपभोग करने से तृप्त हो जाता है। इस प्रकार सदैव तृप्त रहता है और किसी पर भी अपने जीवन को आश्रित नहीं करता। वह सदैव निराश्रय रहता है। ऐसा मनुष्य सभी प्रकार के कर्मों में लगा हुआ और उनको करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। इस प्रकार उसके किसी भी कर्म का लेप उसकी जीवात्मा के ऊपर उसके कारण शरीर (तृतीय देह) में नहीं चढ़ता। क्योंकि वह उन कर्मों से उसकी कामनाओं का वास उसके कारण शरीर में समाहित नहीं होता। इस कारण वह कारण शरीर उस जीवात्मा को अपने अन्दर नहीं बाँध पाता और वह आत्मा मुक्त होकर परमात्मा में मिल जाती है।

ध्यान रहे स्थूल शरीर का बन्धन अणुओं के बन्धन से बनता है। अणुओं का बन्धन (Chemical bonding and Nuclear bonding) वृत्तपृष्ठ द्वारा बनता है। सूक्ष्म शरीर का बन्धन आकाशमहामूत के द्वारा होता है। इसमें अणु का 'अक्ष' भाग बन्धन को स्वतन्त्र रूप से बनाता है। कारण -

शरीर का बन्धन अर्णव समुद्र में अर्णवों के द्वारा बनता है। इस बन्धन में अणु का 'पलित' भाग बन्धन को बनाता है। 'पलित' की स्वतन्त्र सत्ता अर्णव समुद्र में द्यौं में विद्यमान होती है। इस प्रकार इन तीनों शरीरों की सत्ता स्थापित होती है। कामना का वास अर्णु में स्थित रुद्र की सहस्र ईशान रश्मियों की जल की तरंगों में वास करता है और उसका बीज सत्यलोक के केन्द्र में स्थित विष्णु में समाहित होता है जो सृष्टि सृजन की इच्छा से अपनी सत्याभा को प्रसारित करता रहता है। उस काम के बीज का जाश होने पर अर्णवों के बने कारण शरीर में समाहित जीवात्मा अर्णवों के नष्ट होने पर स्वयंभेव सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाती है। यही मोक्ष की प्राप्ति है। क्योंकि विष्णु के द्वारा प्रसारित सत्याभा की ऊर्जा के स्तर से ही जीवात्मा के स्वरूप की रचना होती है। जब उस सत्याभा को प्रसारित करने वाला ही अन्तर्ध्यान हो कर लुप्त हो जायेगा तो वह सत्याभा का प्रसार भी लुप्त हो जायेगा और उस सत्याभा से बनी जीवात्मा भी लुप्त होकर सद्-ब्रह्म में विलीन हो जायेगी। उस समय कारण शरीर भी क्षीरसागर में विलुप्त हो जायेगा।

ये कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर के ही वे कामनाओं के वास करने के हिरण्मय पात्र हैं, जिन से सत्यलोक के क्षीर का मुख ढका हुआ है। उस सत्यलोक में स्थित विष्णु में सद् ब्रह्म के सत्यस्वरूप का निवास है। अपनी सत्याभा के द्वारा इन तीनों शरीरों के हिरण्मय पात्रों का पोषण करने वाले है पूषन् देव! तुम इन पात्रों को उछाड़ दो। ऐसा मुझ सत्यधर्म के लिए उस सद्-ब्रह्म के सत्यधर्म को देखने के लिए आप कर दो। इस भाव को निम्न मन्त्र द्वारा बताया गया है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्थापिहितम् मुखम् ।

तत् त्वम् पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ (ईशोपनिषद्)

सत्यलोक के क्षीर का मुख कारण शरीर में स्थित अर्णु में तपः लोक और जनः लोकों से ढका हुआ है। सूक्ष्म शरीर में सत्यलोक का मुख मइः, स्वः, भुवः लोकों से ढका है। स्थूल शरीर में सत्यलोक का मुख भूः लोक और सप्तपाताल लोकों के आवरणों से ढका है। उस सत्यलोक का धर्म सत्याभा को प्रसारित करना, अच्युत रूप से अणु के केन्द्र में स्थित रहना, सद्-ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को अपने केन्द्र में विष्णु के अन्दर समाहित करके सधन रूप में सञ्चित करके रखना तथा संज्ञा संज्ञिनः के स्वरूप को प्रकट करना है। इसी सत्यधर्म के लिए देखने के लिए ब्रह्म का उपासक योगी उस पूषन् देव से प्रार्थना करता है कि इस सत्य नाम के लोक पर सत्याभा की माया

द्वारा रचित जितने भी हिरण्यग गतिशील पात्रों के लोको के रूप में आवरण चढ़े हैं, उन सब को तू हटा दे। पूषन् ने उन सभी शेष छः लोकों को स्वयं पाश में अपनी अष्टधा प्रकृतियों के द्वारा बाँध रखा है। (षडभिः अष्टैर्विश्वरूपैः पाशम्) अतः उस सत्य लोक पर शेष अन्य छः लोकों का आवरण वह स्वयं ही गतिशील हिरण्यग (स्वर्णिम्) पात्र बनता है जो पूर्ण अणु (Full Atom) की रचना करता है। प्रही अणु (Atom) विश्व में सभी धन सम्पदाओं का अपने सम्प्राप्तियों के द्वारा प्रदान करने वाला होता है। अतः यह स्वर्णिम् पात्र है तथा गतिशील भी है। 'अजा' के द्वारा पूषन् देव ही इस अणु (Atom) का पोषण करता है। उस स्वर्णिम् पात्र का अपावरण वह स्वयं पूषन् देव ही कर सकता है, अतः इसीलिये उसी से प्रार्थना या स्तुति की गई है। स्तुति के अन्दर उस देव विशेष के ज्ञान की प्रस्तुति होती है। अतः पूषन् देव के ज्ञान की प्रस्तुति से इन सभी लोकों के देवीनियों का अपावरण स्वयमेव होता चला जाता है और ब्रह्म उपासक को उस सद-ब्रह्म के सत्य-स्वरूप के दर्शन स्वयमेव हो जाते हैं।

अ' की रचना का पोषण, फिर अ' की सत्याभा से 'न' तत्व का पोषण उस पूषन् देव की स्तुति की प्रस्तुति में आ जाता है। अतः पूषन् देव पूर्ण सद-ब्रह्म का दर्शन कराने के लिये सारे माया के स्वर्णिम् पात्र का अपावरण करने में समर्थ है। अतः उससे यह प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार इस सद-ब्रह्म के स्वरूप 'हर' देवता को जान कर साधक सारे पाशों की हानि कर लेता है, क्लेशों को क्षीण कर लेता है और जन्म-मृत्यु की प्रयत्न पूर्वक हानि कर लेता है। उस सद-ब्रह्म के अभिध्यान से तीसरी देह कारणशरीर के भेदने में समर्थ हो जाता है और सद-ब्रह्म के सारे ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह कार्य केवल वही कर सकता है जो इस कार्य को करने की तीव्र कामना से युक्त हो। 'हर' देवता - हर-हर महादेव 'रुद्र' हैं।

सुतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं

ज्ञातः परम् वैदितव्यं हि किञ्चित् ।

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा

सर्वं प्रोक्तं त्रिनिधम् ब्रह्ममेतत् ॥ (12)

इस सद-ब्रह्म को जानने के लिये सदैव अपनी आत्मा के अन्दर ही स्थित मान कर जानना चाहिये। इस सद-ब्रह्म से आगे जानने के लिये कुछ भी नहीं है। भोक्ता - भोग करने वाला जीवात्मा, भोग्यम् - भोग को जाने वाली प्रकृति और प्रेरितारम् -- भोक्ता को भोग्यम् के प्रति भोग करने के लिये प्रेरित करने वाला असद-ब्रह्म तथा सद-ब्रह्म का मिश्रित रूप, यह सारा बता दिया

गया है। प्रही सद् तीन प्रकार के रूपों बना बन जाता है। अर्थात् सद् ब्रह्म के ही ये तीनों रूप - 'मौक्ता', 'मोक्षप्रम्', 'प्रेरितारम्' हैं। सद् ही ब्रह्म को इन तीनों रूपों में कहा गया है। प्रकृति, जीवात्मा, असद् ब्रह्म, ये तीनों मोक्षप्रम्, मौक्ता, प्रेरितारम् के रूप में सद् ही ब्रह्म के तीन अलग-अलग रूप कहे गये हैं।

'अ' के अवतरण से सद् से असद् ब्रह्म की सत्ता बन जाती है। 'अ' की सत्तामा से जीव, प्रकृति की रचना हो जाती है। 'अ' प्रेरितारम् बन जाता है। 'अ' की सत्तामा के आभास्वरा स्तर से मोक्षप्र प्रकृति की रचना हो जाती है। 'अ' की सत्तामा के महाभास्वरा, तथा सत्यमहाभास्वरा स्तर से जीवात्मा की रचना हो कर मौक्ता की रचना हो जाती है। इस प्रकार उस सद् ही सद्-ब्रह्म से मौक्ता, मोक्षप्रम्, प्रेरितारम् बन जाते हैं। इन तीनों रूपों के द्वारा ही सृष्टि रचना का सबकुछ कह दिया गया है। 'अ' की सत्ता स्थापित होने के उपरान्त उसकी सत्तामा के स्वरण के स्तर से जीवात्मा का स्वरूप बनता है उससे सदैव सद्-ब्रह्म का मूलतत्त्व ही स्थित होता है। अतः उस सद्-ब्रह्म को अपनी आत्मा के अन्दर ही स्थित जानना चाहिये। उस सद्-ब्रह्म को जानने के उपरान्त कुछ भी शेष नहीं बचता जिससे दूसरे आगे जाना जाये। वही सद् ब्रह्म जानने के मोक्ष है। उससे आगे जानने के मोक्षकुछ भी नहीं है।

'अ' अपनी सत्तामा को प्रसारित करता हुआ अपने अंश से ही प्रकृति का और जीवात्मा का दोनों का निर्माण करता है। 'अ' के अन्दर तो स्वयं सद् ब्रह्म ही स्थित होता है। अतः यदि सद्-ब्रह्म को जानना है तो पहले उस 'अ' के द्वारा निर्मित अपनी 'आत्मा' के स्वरूप को जानो। उस आत्मा के स्वरूप को जान कर उस आत्मा में स्थित 'अ' के स्वरूप को जान जाओगे। 'अ' को जानने के उपरान्त उस सद्-ब्रह्म को जान जाओगे जो 'असद्' बन कर उस 'अ' में स्थित है। उस सद् ब्रह्म को जानने के उपरान्त आगे कुछ भी जानने के मोक्ष नहीं है।

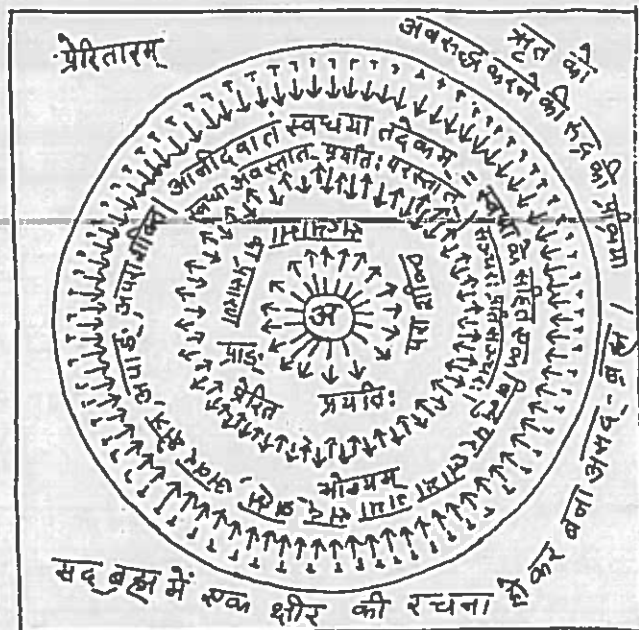
उस सद् ब्रह्म में सृष्टि सृजन की कामना जागृत होने पर 'अ' का अवतरण होता है। उस 'अ' के अवतरण के उपरान्त वही सद् अपने असद् के रूप में क्षरित होकर बदल जाता है और क्षीरों की रचना होकर क्षीर सागर बन जाता है। सद्-ब्रह्म उस सृष्टि के सृजन के काम द्वारा सद् सीमित आग्राम में से सद् बिन्दु पर सघन और अच्युत के अवात रूप (जो हिले नहीं) में लाया जाता है। "कामस्तदग्रे समवर्तताधि"। "आनीत् अवातम् स्वध्या तद् सक्म्"। ऋग्वेद के इन कथनों में यह बात स्पष्ट रूप से बता दी गई है कि पहले सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की कामना का काम उदित हुआ। उसके बाद वह सद्-ब्रह्म अपनी स्वधा के साथ सद् बिन्दु पर अवात अवस्था में लाया गया। उसी से क्षरण उत्पन्न होकर सद् उस

सीमित आयाम के सद् ब्रह्म द्वारा उस सीमित आयाम में एक क्षीर की रचना हो गई। केन्द्र का वह सद्-ब्रह्म का सद्यन् बिन्दु जहाँ पर अवात अवस्था में सद्-ब्रह्म को लाया गया प्राङ् बिन्दु बन गया। ब्रह्म की प्रधान रचना होने के कारण उस प्राङ् बिन्दु का नाम नाद-ब्रह्म की वर्णमाला के प्रधान स्वर 'अ' पर रख दिया। उस 'अ' के चारों ओर के उस सीमित आयाम में जहाँ से उस सद्-ब्रह्म को 'अ' पर लाया गया, वह अवर-क्षेत्र बन गया। उस अवर-क्षेत्र का नाम 'अपाङ्' बन गया। इस प्रकार एक क्षीर में प्राङ्, अपाङ् दो स्वरूप 'पर' और 'अवर' क्षेत्र के रूप में स्थापित हो जाते हैं। प्राङ् पराशक्ति से युक्त होता है और उस पराशक्ति का प्रसारण अपनी सत्याभा के रूप में करता रहता है। वह उसे अपाङ् के अवर क्षेत्र में फैक कर उस अवर क्षेत्र को निग्रन्त्रित और प्रिया के लिए प्रेरित करता रहता है। अतः वह 'प्रेरितारम्' के स्वरूप में बन जाता है। अपाङ् का अवर क्षेत्र अपराशक्ति से युक्त होता है। वह प्राङ् के द्वारा प्रसारित सत्याभा के रेत को अपने अन्दर धारण कर के नये सृजन की सामर्थ्य से युक्त होता है। अतः वह अपने उस नये सृजन की अपरा-शक्ति द्वारा अन्य क्षीरों को अपने साथ संग्रहित करता है। इस प्रकार एक अधिक प्राङ् की पराशक्ति वाले क्षीर के चारों ओर कम प्राङ् की पराशक्ति वाले क्षीर चिपकने प्रारम्भ हो जाते हैं। अधिक प्राङ् शक्ति वाला क्षीर 'प्रयतिः' कहलाता है। उन क्षीरों में बन्धन निर्मित करने वाला निम्न ऋग्वेद में, "स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्" के द्वारा बताया गया है। अर्थात् 'प्रयतिः' सब का भोग करता है। वह भोग करने वाला बन जाता है और अपनी पराशक्ति के कारण सब का भोग करता रहता है। अवर शक्ति के क्षीर उसके भोग करने के लिए स्वधा (अन्न) बन जाते हैं। अच् (अ) से ले कर 'न' (Neutral) तक का सारा रूप 'अन्न' कहलाता है। अच् + न = अन्न | अच् + न = अ + न = अ + न्न = अन्न (च का लोप तथा न्नो द्वित्व हो जाता है)। इस प्रकार अन्न में 'अ' से लेकर 'न' तक के सभी स्वरूपों की स्वधा आ जाती है। स्वधा का अर्थ होता है अपने स्वयं का धारित स्वरूप। क्षीर का स्वयं का धारित स्वरूप दूसरे क्षीर के साथ चिपक कर उस बड़े स्वरूप की 'स्वधा' बन जाता है। जब तक एक स्वरूप के साथ दूसरा स्वरूप चिपक कर उस की वृद्धि तथा उसका पोषण नहीं करता तब तक वह उसका स्वधा नहीं कहलाता। स्वधा के अन्तर पोषण का गुण अनिवार्य है, तभी वह स्वयं का धारित स्वरूप बन पाता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार स्वधा बनने वाले 'अ' से ले कर 'न' तक की श्रृंखला के सभी दैव - भौग्यम् की श्रेणी में आ जाते हैं। इस प्रकार भौक्ता, भौग्यम्, प्रेरितारम् तीनों स्वरूप उस सद् ब्रह्म के ही बन जाते हैं। अगले पृष्ठ पर इन स्वरूपों का स्पष्टीकरण चित्रों की सहायता से देरिये।

Universal set of sad-Brahma
which is infinite and shapeless
having no property. Nonreactive.

$$\frac{n}{\text{चित्र}} = 38$$

इतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं जातः परं वेदितव्यं हि विविच्यत् ।



असद् ग्रह का
स्वरूप वन वर
रुख 'क्षीर' की
रचना का चित्र ।

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा

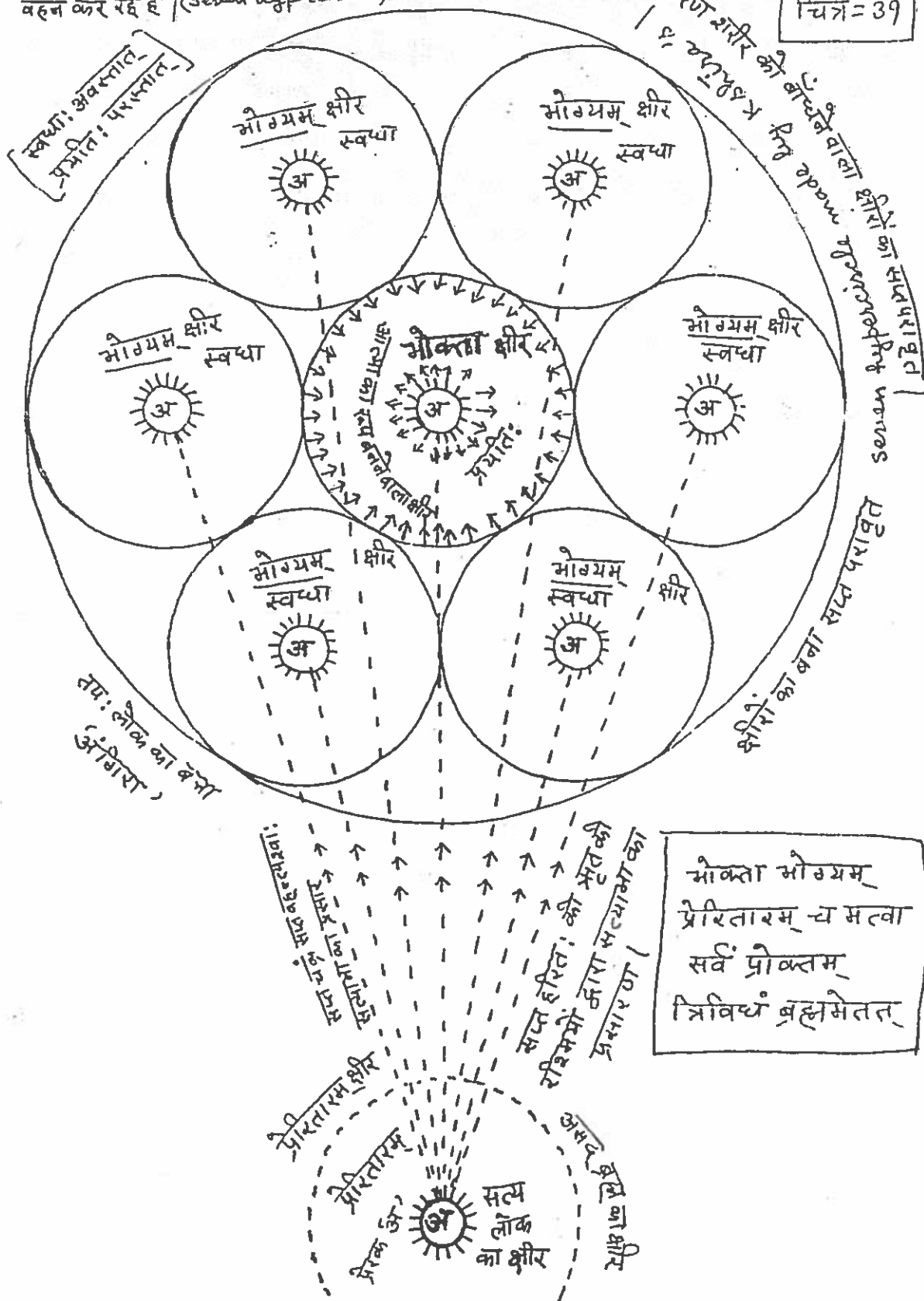
सर्वम् प्रोक्तम् त्रिविधम् ब्रह्ममेतत् ॥

इमं रथमधि मे सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।

सात नाम की सात बहनें का - सात गौओं का बना सात चक्र,
जिसके रश्म में ये सातों बँडे हैं और जिसे सात अक्ष
बहन कर रहे हैं। (Seven Hypercircle)

(ऋग्वेद, 1, 164, 3)

चित्र = 39



ब्रह्म के त्रिमाशील स्वरूप को ऋत कहा जाता है। उस ऋत को सब बिन्दु पर लाकर अवसृज्य करने वाले देव को 'रुद्र' कहा जाता है। सब क्षीर की रचना में प्राङ् रूप के 'अ' बिन्दु पर ऋत को रुद्र द्वारा ही लाकर अवसृज्य किया जाता है। अतः रुद्र ही उस अकार का निर्माता बनता है। इसी कारण ऋग्वेद में अकार को रुद्र के शब्द स्थित स्वरूप में भी बताया गया है तथा पुराणों में रुद्र को विष्णु का अवतरण करने वाला तथा उसका लोप करने वाला महादेव बताया है। रुद्र जब ऋत को क्षीर में अवसृज्य करना बन्द कर देता है तो विष्णु का लोप हो कर सारी सृष्टि को प्रलय हो जाती है। इसी कारण केवल सब रुद्र ही सृष्टि का सृजन करती तथा प्रलय करती माना जाता है। इसी कारण उस रुद्र को सृष्टि का हरने वाला 'हर' भी कहा जाता है। 'हर-हर महादेव' का सम्बोधन रुद्र के लिए इसी कारण किया जाता है। क्षीरों के सप्त परावृत्तों की शृंखला से जो ऋत का अंश रुद्र द्वारा बनाया जाता है, उसे रुद्र का ईशान रूप कहते हैं। क्योंकि उन अंशों के जाल द्वारा ही वह रचना के सारे अर्थ पिण्ड को शासित करने वाला 'ईश' बनता है। ईशान रूप में उन अंशों के जाल को ही 'पुरुष' कहा जाता है। किसी विशेष अर्थ पिण्ड को शासित करने वाले 'पुरुष विशेष' को ही पतञ्जलि ऋषि ने उस अर्थ पिण्ड का 'ईश्वर' बताया है। अतः रुद्र ही 'ईश्वर' का रूप बनता है। "क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरा-

मृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" (पातञ्जल योग दर्शन समाधि पाद - २५)। अर्थात् 'ईश्वर' - क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के परामर्श से रहित सब विशेष प्रकार का पुरुष है। विशेष व्याख्या के लिए इस सूत्र की महर्षि व्यास रचित टीका देखें।

सृष्टि का जनक और प्रलय करती तथा विष्णु का अवतरण करने वाला और क्षीर सागर का रचीयता देने के कारण ही रुद्र को महादेव कहा जाता है। इसी कारण ज्योतिष के अनुसार भी रुद्र की आयु विष्णु की आयु से अधिक बताई है। रुद्र विष्णु से पहले जन्म लेता है और बाद में अन्तर्धान होता है। रुद्र ही सारी माया का स्वामी 'मायी' कहा गया है और वही महेश्वर है। इस ऋत के क्षीर में अवसृज्य करने के कारण ही ऋत में अश्वों की तरंगें झटके मारती हुई चलती हैं। प्रत्येक क्षीर में ऋत के इसी अवरोध के कारण उसमें ऋत झटके से ही प्रवेश करता है और झटके से ही बाहर निकलता है। इसी कारण ऋत की तरंगों की संचुल्लेचान्त की लम्बाई (wave length) बनती है। इसी कारण ऋग्वेद में ऋत की तरंग के अश्व की कुलांचे मरने वाली हिरण की टांगे बताई हैं। इस प्रकार 'अ' द्वारा अवसृज्य ऋत रुद्र या शिव का प्रतीक भी बन जाता है।

इस प्रकार 'अ' का अर्थ 'विष्णु' अपनी सत्ता को बताने वाला तथा 'रुद्र' विष्णु को शत्रु में अवसद्ध करके रखने वाला, दोनों बनते हैं। अतः 'अ' का अर्थ इन दोनों में से संदर्भ के अनुसार किया जाता है। 'अजा' प्रकृति विष्णु तथा रुद्र दोनों की बनती है। काम को भस्म करने वाले तथा उसे जीवन दान देने वाले शिव ही रुद्र के रूप में बनते हैं। काम को उदित करके वे सृष्टि का सृजन करते हैं और काम को भस्म करके वे सृष्टि को प्रलय करते हैं। शिवपुराण का यही सार है। सद्-ब्रह्म में काम को उदित करके असद्-ब्रह्म में बदलाना और असद्-ब्रह्म को काम के भस्म करने पर सद्-ब्रह्म में बदलाने का कार्य रुद्र देव ही करते हैं। इसी कारण उन्हें सब से बड़े देव, 'महादेव' का नाम दिया गया है।

इस मन्त्र में जो, "स्तुतश्चैयं नित्यमेवात्मसंस्थं" कहा गया है, अर्थात् इस सद्-ब्रह्म को आत्मा में स्थित ही जानना चाहिए, तो अपनी आत्मा में स्थित उस सद्-ब्रह्म को कैसे जानना चाहिए, अगले मन्त्र में उसका उपाय बताते हैं। उसको जानने की विधि इस प्रकार बताई गई है -

वह्ने यथा योनिगतस्य मूर्ति -

न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य -

स्तद्धोमयं वै प्रणवेन देहे ॥ (13)

अग्नि जिस प्रकार अपनी योनि में दिखाई नहीं देती और न ही उससे लिंग का नाश होता है। वही अग्नि फिर अपने ईंधन रूपी कारण में ग्रहण की जा सकती है। उसी प्रकार अग्नि और अग्नि लिंग के समान इस शरीर में औद्भुत के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है।

ईंधन में विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ तथा अरणियाँ होती हैं। वे विभिन्न प्रकार की योनियों के शरीर हैं जो अग्नि को चारण कर लेती हैं। उनमें अग्नि दिखाई नहीं देती। उनमें अग्नि के लिंग का नाश भी नहीं होता है। उस ईंधन में अग्नि अपने ठंडे रूप में छिपी रहती है और उस ईंधन को उसके स्वरूप में स्थित रखती है। जब वही अग्नि प्रज्वलित होकर ईंधन में प्रकट होकर लिज्जल जाती है, तो उस ईंधन का स्वरूप नष्ट हो जाता है। उसकी राख बन जाती है। इसी प्रकार इस शरीर रूपी ईंधन की योनि में आत्मा रूपी अग्नि स्थित है। जब यह आत्मा इस शरीर में से निकल जायेगी तो यह भी नष्ट हो कर मिट्टी में मिल जायेगा।

वह अग्नि पुनः ईंधन में ग्रहण की जा सकती है। उसी प्रकार यह अग्नि रूपी आत्मा भी पुनः शरीर में ग्रहण की जा सकती है। अर्थात् यह आत्मा पुनः शरीर को चारण करके पुनर्जन्म को प्राप्त कर सकती है। जैसे जब भी

'प्रणव' तो असद् ब्रह्म का समष्टि रूप है जो इस सृष्टि की रचना अपनी स्वप्ना से करता है। प्रणव की उसी स्वप्ना से यह शरीर बना है जो प्रकृति के पञ्चमहाभूतों के ग्रासन का स्वरूप है। उस प्रणव और इस शरीर के मध्य में जीवात्मा की स्थिति आ जाती है। पहले 'प्रणव' इस शरीर की रचना अपनी स्वप्ना से करता है, फिर उस शरीर में अपनी स्वप्ना का पुनः प्रवेश कराकर जीवात्मा का आवेश उस शरीर में भर देता है। इस प्रकार प्रणव और शरीर के मध्य जीवात्मा की स्थिति आ जाती है। यह जीवात्मा उसी प्रणव का अंश है। अतः उस प्रणव के देव को जानने के लिए अपनी आत्मा में स्थित उस प्रणव के अंश को जानना होता है।

ऋग्वेद में 'अग्नि' को ही समस्त सृष्टि का समष्टि ब्रह्म माना है। उसी अग्नि के द्वारा यह सारी सृष्टि बनी हुई है। इस सृष्टि के संचालन का क्रियात्मक रूप में जो यज्ञ चल रहा है, वह उसी अग्नि के द्वारा चल रहा है। 'प्रणव' ही उस सारे यज्ञ को सम्पन्न करने वाला देव है। इसी कारण ऋग्वेद का प्रारम्भ ही अग्नि सूक्त से किया गया है और प्रारम्भ में ही उस अग्नि के स्वरूप का वर्णन किया गया है जिसकी स्तुतियों द्वारा इस ऋग्वेद में अनुशासित करके व्याख्या की गई है।

ॐ अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम् ।

होतारम् रत्नधातमम् ॥ (ऋग्वेद-1,1,1)

सर्व प्रथम उस प्रणव का स्मरण किया जो इस अग्नि का रचयिता बनता है। उसके पश्चात 'अग्निमीळे' पदों में अग्नि को स्तुति करते हुए अनुशासित करने के लिए बताया है कि मैं इस मन्त्र का रचयिता ऋषि 'अग्नि' के स्वरूप को अपने मन्त्रों के द्वारा इस ऋग्वेद में स्तुति करता हुआ सुव्यवस्थित रूप से अनुशासित करता हूँ ताकि इस ऋग्वेद को पढ़ने वाला उस अग्नि के स्वरूप को सुव्यवस्थित रूप से समझ सके।

जिस अग्नि के स्वरूप को मैं ऋषि स्तुतियों के द्वारा अनुशासित करने जा रहा हूँ, उस अग्नि का स्वरूप क्या है? इसकी व्याख्या मन्त्र के आगे के पदों में बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। "पुरोहितम्" पद का अर्थ बनता है - 'पुर' में अहित - 'पुर' उस अर्घ्यपिण्ड को कहते हैं, जिसमें

का अर्थ 'बलाने नोबन' होता है।

'रत्नं ध्यातवम्' = का अर्थ है रत्नों का रूप धारण करने वाला। सृष्टि के अन्दर विद्यमान प्रत्येक अर्धपिण्ड को रत्न कहा जाता है। इस जगति में जो भी जगत्-रूप का धन है, उस धन के सारे अर्धपिण्ड रत्न कहलाते हैं। उन रत्नों का रूप धारण करने वाला भी वह अग्नि ही है।

अग्नि शब्द की व्याख्या पहले भी की जा चुकी है। अ + व्य + न् + इत् = के समस्त पद के द्वारा 'अग्नि' शब्द बनता है। इस स्वरूप में भोक्ता, भोग्यम्, प्रेरितारम् इन तीनों का स्वरूप आ जाता है।

इस 'अग्नि' की रचना में जब विश्वादेवों (सारे देवों) की रचना होती है तो पदार्थ की इच्छा के रूप में सब अणु की रचना होती है। अणु की रचना में मुख्य भाग अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) का है। नाभ की रचना के तीन वृत्त सैन्ध्र्य बनते हैं। व्योम् कि उनका सब ही मोह बताया गया है। ये तीन वृत्तों के चक्र 'पलित', 'अशन', और 'घृतपृष्ठ' हैं। 'पलित' की संरचना में अणु की संरचना आ जाती है। अणु में ॐ का सारा स्वरूप समाहित हो जाता है। सत्य लोव्य, तपः लोव्य, जनः लोव्य में ऋतु के अवसक्त होकर बने आवरणों में सद्र की ऊर्जा 'उ' के द्वारा सम्बोधित करने वाली बन जाती है और तपः लोव्य में उससे तपस्-उत्पन्न हो जाती है। उससे पश्चात् रात्रि का जन्म होकर उस अणु को सब सीमित आग्राम की इच्छा में बाँधने से माप के अर्थ को बताने वाले मकार (म्) की

सत्ता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार अ, उ, म् का समुच्चय बन कर सब सत्ता स्थापित हो जाता है। इसी अर्णवों के समुद्र से द्यौ की रचना होती है। द्यौ में पञ्चावर्त की रचना होती है और पञ्चावर्त के ऊपर सप्तलोव्यों की रचना हो कर पलित, अशन, घृतपृष्ठ के तीन नाभचक्र बन कर नाभ (Nucleus) की रचना पूर्ण हो जाती है। इस अणु (Atom) के बाह्यतम आवरण में भूलोव्य में और पाताल लोव्यों में 'न', 'चिब्य', 'इत्' व्योम् की रचना हो कर नचिब्येताग्नि के स्वरूप द्वारा अग्नि का वैश्वानर स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार इस अग्नि में द्यौ और पृथिवी के दो निमित्त बन जाते हैं। द्यौ में पञ्चावर्त का अर्णवों का बना अर्णव समुद्र में दिव्य स्वरूप होता है और पृथिवी में पञ्चमहामूर्तों के पदार्थ की रचना होती है। द्यौ की रचना हो कर पुरुष द्वारा त्रित के द्वारा नौलिब्य अर्धों की रचना हो कर पृथिवी के पञ्चमहामूर्तों की रचना होती है। पृथिवी के स्वरूप में पाँचों महामूर्त समाहित हैं। हमारे अपने जीवित शरीर में स्थित द्यौ रचना का पूर्व रूप है। यह द्यौ ॐ के द्वारा बता दिया जाता है। अतः प्रणव तो द्यौ की ऊर्जा की उत्तर अरणि बन जाता है। उस द्यौ द्वारा रचित पञ्चमहामूर्तों का स्थूल शरीर निम्न अरणि बन जाता है। उस प्रणव के द्यौ की उत्तर अरणि से ऋतु की तरंगें पुरुष के स्वरूप में चल कर इन निम्न

अरीण का शरीर होता है। जो का विभव (Potentiality) उच्च होता है और पृथिवी का विभव निम्न होता है। अतः उच्च विभव से निम्न विभव की ओर ऋत की तरंगों का प्रवाह बन जाता है। ऋत की तरंगों का यह प्रवाह ही पुरुष कहलाता है। यही 'पुरुष' जीवात्मा कहलाता है। इस जीवात्मा के स्वरूप में ही वह 'हर' सद्-असद् ब्रह्म के रूप में स्थित होता है। उसी की तरंगों ऋत में चल कर जीवात्मा की रचना करती है। प्रीति जन ध्यान, धारणा और समाधि के द्वारा इस पुरुष के स्वरूप का निर्मथन करते हैं और प्रीति का अभ्यास करते हुए उस प्रीति के अभ्यास से निगूढ की तरह के इस देव को देखते हैं। 'निगूढ' का अर्थ पूर्ण रूप से गूढ आवरण में छिपा हुआ होता है, जिसका रहस्य जानना अत्यन्त कठिन होता है। 'गूढ' का अर्थ है गहराई के रहस्यों वाला। यह देव महादेव, सद्, हर, है। वह सद्-ब्रह्म का रूप बनता है। जिस समय असद् से सद् बनता है तो यह 'हर' महादेव ही असद् रूप से सद् रूप में बदलता है। उस महादेव को इस उपाय से प्रीति साधक देखें।

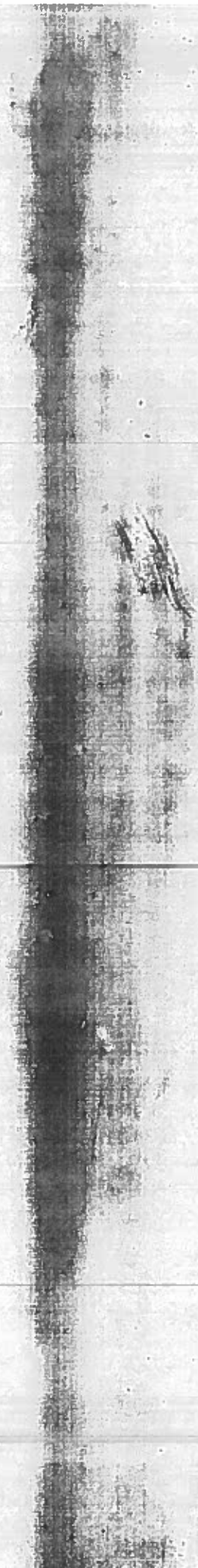
अरीण का अर्थ वह पञ्चमहाभूत का बना अर्थ पिण्ड होता है जिसमें ऋत्विज अग्नि का रूप छिपा होता है। ऋत्विज अग्नि ही प्रणव का रूप बनता है। अतः 'अरीण' ऋत्विज अग्नि के आवेशित पिण्ड को कहते हैं। (Terminal)

अतः ऋत्विज प्रणव को उत्तर अरीण बना कर और अपने शरीर को निम्न अरीण बना कर ऋत की तरंगों में चलने वाले पुरुष के आत्मा के स्वरूप देव को प्रीति के अभ्यास से, ध्यान के निर्मथन के अभ्यास से अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को अलग करके निगूढ देव को मॉति देखें। 'अभ्यासात्' में पञ्चमी विभक्ति है जो अलग करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। उस आत्मा के देव के स्वरूप में ही छिपे हुए उस सद्-ब्रह्म के उस साधक को दर्शन होंगे।

ध्यान, धारणा, समाधि के अभ्यास से प्रीति अपने चित्त की वृत्तियों का स्वयं पूर्ण रूप से निरोध करता हुआ अपने ध्यान का निर्मथन करता है। इस निर्मथन से वह दृष्टा अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। उस अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में वह निगूढ देव सद्-ब्रह्म के दर्शन करता है। इसी कारण पतञ्जलि ऋषि ने अपने प्रीति दर्शन में, "प्रीतिश्च तद्वृत्ति निरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्," कहा है।

अतः अपने शरीर को ऋत के निम्न विभव के आवेश की अरीण बनाओ और सद्-असद् ब्रह्म के द्यौतक प्रणव को ऋत के उच्च विभव के आवेश की उत्तर-अरीण बनाओ। फिर उनके जुड़ने से ऋत के आवेश की तरंगों का जो प्रवाह 'पुरुष' के रूप में 'आत्मा' बन कर चलता है उसे ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से देखें। उस आत्मा में छिपे हुए निगूढ की मॉति उस सद्-ब्रह्म के देव को देखें। इस प्रकार आप सद्-ब्रह्म को जान जायेंगे।

उत्तर-अरीण = Terminal of higher potentiality, निम्न अरीण या अरीण = terminal of Low potentiality.
आत्मा का देव = Flow of current of BTA.



योग साधना करते समय समाधि में इस प्रकार ध्यान रखते हुए बैठना कि चित्त में किसी भी वृत्ति का उदय न हो। सभी प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध करके उसे निर्बीज बनाना ही उस ध्यान का निर्मथन है। ध्यान के मथन से चित्त की वृत्तियों की आशक्ति बढ़ती है तथा ध्यान के निर्मथन से चित्त की वृत्तियों का मथन चित्त से निकल कर बाहर चला जाता है और चित्त वृत्तियों के बीज से निर्बीज हो जाता है। यह एक बार करने से जहाँ होता। इसका लम्बे समय तक निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है, तब कहीं बड़ी कठिनाई से चित्त अपनी वृत्तियों से निर्बीज हो पाता है। प्रत्येक वृत्ति का निरोध करते हुए चित्त के ध्यान का निर्मथन करना होता है। तब कहीं निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। “तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः” (पातञ्जल योग दर्शन, समाधिपाद-51) सूत्रद्वारा इसी बात को बताया गया है। अर्थात् जो भी संस्कार की वृत्ति चित्त में उदित होती है, उसका भी निरोध हो जाने पर (ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा तज्जान्य संस्कार) सब का निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। यह कार्य बड़ा कठिन है। निरन्तर अभ्यास करने से ही इसमें सफलता मिलती है। अतः यहाँ ध्यान के निर्मथन का अभ्यास कहा गया है।

जैसा पीछे बताया गया है, “विश्वैश्वर्यम् केवल आप्त कामः”, अर्थात् उस सद्-ब्रह्म में अपनी आत्मा को विलीन करने की तीव्र कामना वाला योगी ही उस सद्-ब्रह्म के सारे ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। वही अपनी योगसाधना में दृढमति हो कर सफल होता है। क्योंकि आत्मा तो अनीश है। इस में तो केवल जब अपनी इच्छा उस सद्-ब्रह्म में विलीन होने की उत्पन्न होगी, तभी वह स्वयमेव उस सद्-ब्रह्म में विलीन हो सकेगी और मोक्ष को प्राप्त हो सकेगी। आत्मा की अपनी स्वयं की इस इच्छा को कठोपनिषद् में इस प्रकार बताया है। “नाग्रमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मैथया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुम् स्वाम्॥” अर्थात् न यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त होती है, न बुद्धि से और न बहुश्रुता होने से। जिसको यह स्वयं अपनी इच्छा से चुनती है, केवल उसी के द्वारा यह प्राप्त होती है और उसी को अपने स्वरूप को उद्घाटित करती है। अतः इस आत्मा के देव को निबूढ़ की भाँति देखने के लिए निरन्तर ध्यान के निर्मथन के अभ्यास में रत रहने के लिए ‘आप्त कामः’ बनना पड़ता है। तभी उसे सद्-ब्रह्म की प्राप्ति का विश्वैश्वर्य प्राप्त होता है। “तीव्र संवेगानामासन्नः” सूत्र इसी के दर्शाता है। (पात. योग. 1.23)

यह आत्मा उस सद्-असद् ब्रह्म में से किस प्रकार निकल कर अपना रूप लेती है, इस विषय में अगले मन्त्र में बताया जायेगा।

17

अरीण का अर्थ आवेशित अर्थपिण्ड (Terminal of the charge) होता है।
 उत्तर अरीण वह Terminal होता है जिसका विभव उच्च हो। अर्थात्
 Terminal of higher potentiality को 'उत्तर-अरीण' कहा जाता है और
 Terminal of low potentiality को केवल 'अरीण' या 'निम्न अरीण' कहा
 जाता है। अतः 'उत्तर अरीण' और 'अरीण' शब्द यहाँ Potential difference
 को बताने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उन दोनों Terminals को जोड़ने पर
 जो प्रवाह का current द्योतित होता है, वही वह देव है जिसे जिबूठ की
 तरह ध्यान के निर्मयन और अभ्यास के द्वारा देखना होता है।

जीवात्मा के आधीन उसकी अपनी देह होती है। अतः उस देह को ही
 वह निम्न विभव की अरीण बना सकता है। प्रणव का विभव तो स्वयं सद्-
 ब्रह्म अपनी इच्छा के द्वारा बनाता है। अतः उसके विभव में परिवर्तन जीवात्मा
 नहीं कर सकता। जीवात्मा स्वयं उस सद्-ब्रह्म के आधीन रहता हुआ प्रणव
 के आधीन रहता है। अतः वह प्रणव पर प्रभाव नहीं डाल सकता। उलटा
 प्रणव ही जीवात्मा पर प्रभाव डालता है। अतः विभवान्तर (Potential -
 difference) उत्पन्न करने के लिए आत्मा केवल अपनी देह को ही निम्न
 अरीण (Terminal of low potentiality) बना सकती है।

अपने शरीर को 'अरीण' कैसे बनाया जाये ?

शरीर में आवेश तीन प्रकार का होता है। (1) प्रवाह का आवेश, जिस से शरीर
 में जीवात्मा का प्रवेश होता है। (2) 'क' कणों का आवेश, जिस से शरीर में
 Radio active charge of energetic radiation आता है। (3) 'न' कणों
 के गणों का आवेश, जिस से शरीर में Electrical and Magnetic charge
 आता है। ये तीनों आवेश शरीर में कैसे उत्पन्न किये जायें ?

शरीर को आवेशित करने का तरीका योग साधना है। योग साधना से ही
 'भूतजय' की सिद्धि प्राप्त करके इन तीनों प्रकार के आवेशों को शरीर में
 नियन्त्रित किया जाता है। उसी के कारण योगी प्रत्येक भूत को अपने निग्रहण
 में करने में समर्थ हो जाता है। 'भूत' का अर्थ यहाँ Matter है। इस सामर्थ्य को ही
 अलौकिक सिद्धि में कहते हैं।

योग साधना करने में, "यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,
 ध्यान और समाधि", योग के इन आठों अंगों को साध-साध ले कर चलना होता है।
 सभी का समान रूप से ध्यान रखते हुए साध-साध अभ्यास करना होता है। योग
 साधना उचित, योग्य गुरु के सान्निध्य में करनी चाहिए, अन्यथा लाभ के स्थान
 पर हानि होने की संभावना बनी रहती है।

योग साधना के लिए वातावरण शान्त और शांति हवादार तथा स्वच्छ होना चाहिए। वह मनोहारी भी होना चाहिए जिससे मन प्रसन्न रहता हुआ योग साधना में निरन्तर रत रह सके। इसके साथ ही स्नान-पान में सात्विक आहार होना चाहिए। सौगुणी मानसिक अवस्था होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। आलस्य तथा प्रमाद दोषासात्र भी नहीं होना चाहिए। शास्त्र सम्मत सहज योग की प्रक्रिया ही अपनानी चाहिए। कभी भी योग की सिद्धियों प्राप्त करने के लिए शरीर के साथ जोरजबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। पातञ्जल योग शास्त्र तथा योग के अन्य शास्त्रों में बताई गई इन विधियों को अपनाना चाहिए जिससे सिद्धियों सहजता से प्राप्त हो जाती हैं। शरीर के साथ जोर जबरदस्ती करने से शरीर के अंगों को कष्टप्रद ऐसी हानि हो जाती है, जिनकी क्षतिपूर्ति बाद में किसी भी प्रकार नहीं हो पाती। योगी साधक कहीं भी किसी कार्य में जोर जबरदस्ती से कार्य नहीं करता। उसे बलपूर्वक कुछ प्राप्त करने या प्रयत्न करने के स्थान पर सहजता पूर्वक अपने अर्जित संकल्पों को और विक्ल्पो को त्यागना है। इससे उस के मन की लगाम अपने आप कस जायेगी। वह व्यक्ति इस प्रकार निर्बीज मन वाला बनता चला जायेगा। इससे साधक की आत्मा निर्मल होकर प्रकृति के स्थूल कणों पर नियन्त्रण करके ब्रह्म के स्वरूप के समान बन कर ब्रह्म में स्वीकार हो जायेगी। योगी साधक का यही लक्ष्य होता है।

योग साधना के लिए मन को शासित करना मुख्य कार्य है। मन में संकल्प विक्ल्पो का उदय होता है। उस उदय को रोकना ही चित्त की वृत्तियों का निरोध कहलाता है। इस निरोध प्रक्रिया से जब मन निर्बीज हो जाता है तो शरीर के अणुओं (Atoms) में शिव के तेज के ईशान रश्मियों के और ईशानी रश्मियों के अंशों का बल और वेग सञ्चरण की गति में बहुत बढ़ जाता है। वेग को रोकने वाले दुरवों के औद्य (समूह) पञ्च-आवर्तों के संकल्प की शक्ति क्षीण होती चली जाती है। ईशानी रश्मियों का वेग बढ़ता चला जाता है। जब मन निर्बीज हो जाता है और ईशानी रश्मियों का वेग बहुत बढ़ जाता है तो साधक समीप में लीन होने लग जाता है। उस समय उस साधक का शरीर ऋतु के आवेश से आवेशित हो जाता है और साधक के शरीर में उसकी आत्मा का बल बढ़ जाता है। वह योगी साधक समीप में लीन होने में समर्थ हो जाता है। उस समय शिव तेज के अंश उस साधक के शरीर में से रस कर बाहर निकलने लग जाते हैं। इन शिव के तेज के अंशों के रसने के स्तर की ऊर्जा के अनुसार उस साधक ऋषि को, 'ऋषि', 'महर्षि', 'ब्रह्मर्षि' - ये तीन उपाधियाँ यथा-योग्य दे दी जाती हैं। 'रसनात् ऋषि' के अनुसार जिस के शरीर में शिव के तेज के अंश रसने लग जाते हैं, वह ऋषि बन जाता है। जिस में यह रसने का स्तर सामान्य से अधिक हो जाये वह महर्षि हो जाता है। जिस में और अधिक उच्चतम कोटि के स्तर का रसाव हो जाये वह ब्रह्मर्षि बन जाता है। यही ऋतु का आवेश है।

17
इस रसाव प्रक्रिया में प्रथम स्तर 'मृषि' का, उससे ऊपर 'मर्दिषि' का और सब से ऊपर 'ब्रह्मि' का है।

जब मनुष्य संकल्पों का उदय मन के अन्दर चित्त की वृत्तियों में रोक् देता है और मन निर्बीज हो जाता है तो शिव के तेज के अंशों के रसने का अवरोध का क्लेश दूर हो जाता है। क्योंकि बिना मन की उत्पत्ति अवरोध में ही बताई गई है।

अग्निर्घृत्रमिममृषते वायुर्यत्राधिकमृषते ।

सौमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः ॥

अर्थात् ऋत के पञ्चावर्ती के द्वारा जहाँ सप्तलोकों में अग्नि का अभिमन्थन सद्र द्वारा ऋत को अवरुद्ध करके होता है और उस अवरुद्ध ऋत की ऊर्जा के स्तर (वय) से उत्पन्न गति के बल (वायु) का जहाँ अधिरोध होता है तथा इस अधिरोध से जहाँ सीमित आगम की रचना के पदार्थ में से Radiation द्वारा सौम के रजःकाण्डों का अतिरेचन होने लगता है, वहाँ मन उत्पन्न हो जाता है। अतः मन की उत्पत्ति का क्लेश ऋत के रसाव के अवरोध में ही निहित होता है और ऋत के रसाव का अवरोध चित्त की वृत्तियों में निहित होता है। अतः मन से चित्त की वृत्ति, चित्त की वृत्ति से ऋत का अवरोध, ऋत के अवरोध से पुनः मन की उत्पत्ति का चक्र बन जाता है और अनन्त काल तक यह चक्र चलता रहता है जिससे उस सद्ब्रह्म में जीव और प्रकृति दोनों का उद्भव बना रहता है। इसी चक्र के कारण जीवात्मा बार-बार प्रकृति के बन्धन में बँध कर शरीर को धारण करती है। इसी चक्र के तोड़ने से जीवात्मा को मुक्ति मिलती है और उसका सद्ब्रह्म में विलय होता है। यही चक्र पञ्चक्लेशों का जन्मदाता होता है। क्योंकि संकल्पों के उदय से ही पञ्चारे चक्र का पञ्चावर्त

और उसके ऊपर बनने वाले सप्तलोक बनते हैं। जिनके द्वारा स्वर्ग अणु (Atman) की रचना होती है। उन्हीं से 'क' कण की रचना होती है। द्यौ के अन्दर अणव समुद्र में अवर तथा पर क्षेत्र के द्वारा जब तरंगी चलती है तो त्रित में जा कर जब 'पर' का आवरण बन कर उस 'पर' के आवरण द्वारा सधनता उत्पन्न हो कर पुरुष के दशांगुल रूप के अति रूप से ठहरने से जो दशमौलिक अर्ध बनते हैं, बुद्धिमान कीव मृषि उस उस स्वरूप को द्यौतित करने वाले देव को 'क' कहते हैं। यह मन उस 'क' में ही उत्पन्न होता है। ऋग्वेद का यही कथन है --

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद परस्त्वावरेण ।

कवीयमानः क इह प्रवोचद्देवं मनः कुतो अधिप्रजाताम् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 18)

पिता द्यौ ही 'पर' के द्वारा जो 'अ' का अवर, पर क्षेत्रों का बना आवरण धारण करता है, उसके द्वारा जो देव बनता है, उसे कवीयमान बुद्धिमान मृषि 'क' कहते हैं। मन उसी 'क' से उत्पन्न होता है। चित्र पृष्ठ (209-A) पर देखें। उस 'क' के दशमौलिक अर्धों में पुरुष द्वारा अग्नि का अभिमन्थन, दशमौ

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेदं परं सनावरेण । १

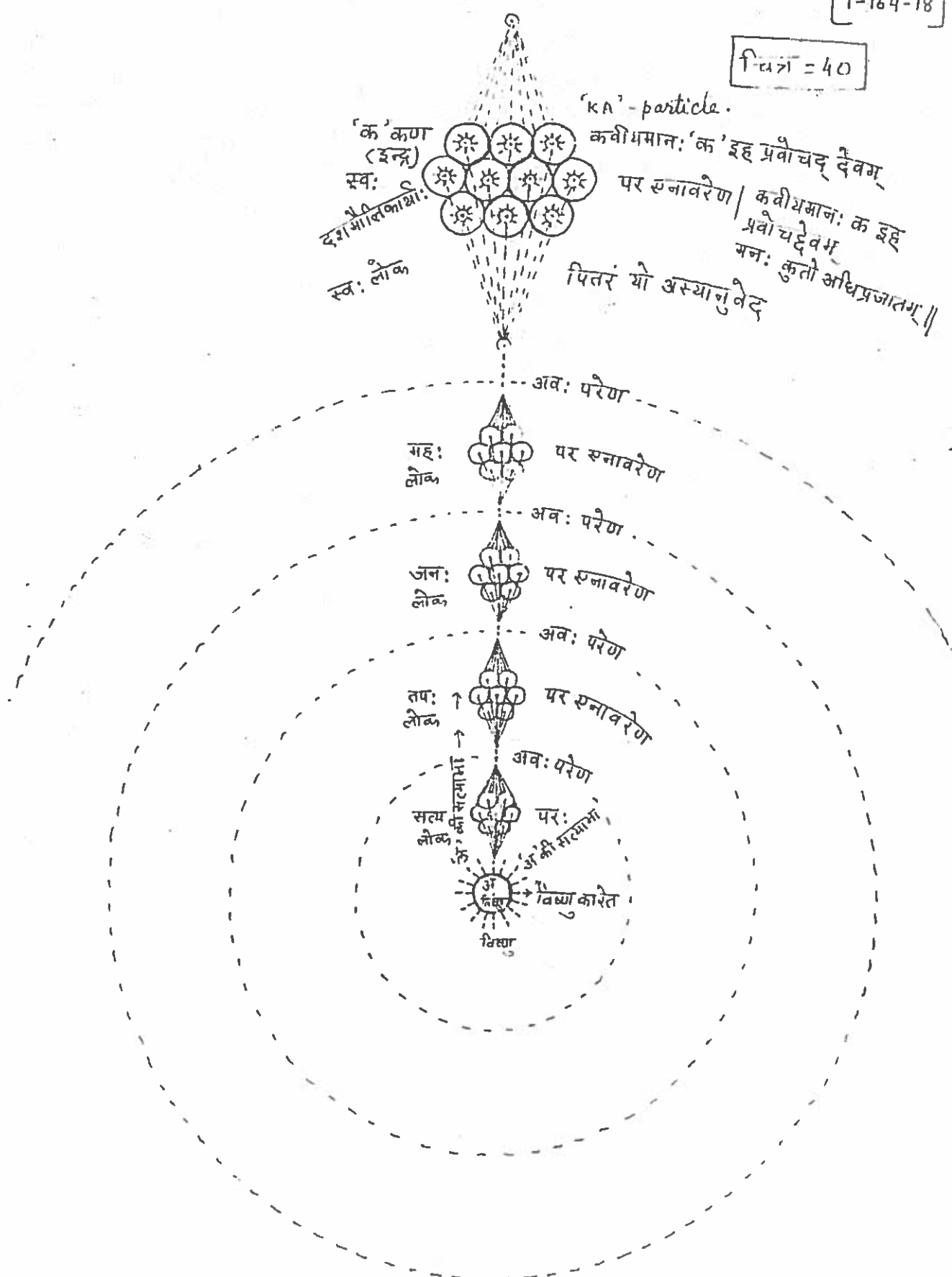
(204-11)

कवीयमानः क इह प्रवोचद् देवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥ [भृगुवेद 1-164-18]

चित्रं = 40

'KA'-particle.

क'कण (इन्द्र)
स्वः
दशभौलिकाश्रोः
स्वः लोक
कवीयमानः 'क' इह प्रवोचद् देवम्
परं सनावरेण
कवीयमानः क इह
प्रवोचद् देवम्
मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥
पितरं यो अस्यानुवेदं



के दशांगुल रूप का श्रुत की ऊर्जा के बल की वजह का अनिरोधन और उन
 दशमौलिक ऊर्जा में से ऊर्जा के रसाव के कारण सोम का अतिरेचन हो जाता
 है। अतः मज उस 'ज' का के दशमौलिक अर्थों में उत्पन्न हो जाता है।
 पृष्ठ (209-1) पर चित्र देखें। अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर अवरोध की मात्रा
 श्रुत में कम हो जाती है और 'इशान' का प्रसारित होने का वेग बढ़ जाता है।
 यहाँ ध्यान रहे कि योगशास्त्रों में इन क्लेशों की 'हानि' कहा है, यन्मा
 'अन्त' नहीं कहा है। इन क्लेशों का अन्त होने पर तो आवर्तों की रचना हो
 द्यो में नहीं हो पायेगी, जिससे अणु की नाभि की रचना की सत्ता ही नहीं बन
 पायेगी, जिससे साध्य का शरीर ही मिट जायेगा। क्योंकि शरीर तो अणुओं
 से ही मिलकर बना है। यह शरीर मिटना तो साध्य की अन्तिम परिणति है।
 सर्व प्रथम आरम्भ तो इन आवर्तों से उत्पन्न क्लेशों की हानि से होता है। ज्यों-ज्यों
 इन क्लेशों की हानि होती जायेगी, त्यों-त्यों सवितृ से उद्गमित तपःलोक
 के सत्यमहामास्वरा शिव के तेज के अंशों की 'इशान' किरणों का वेग बढ़ता
 चला जायेगा और योगी साध्य अपनी इष्ट सिद्धि की ओर अग्रसर होता चला
 जायेगा। उसका शरीर उत्तरीतर श्रुत के आवेश से और 'ज' कणों के आवेश के
 आवेश से आवेशित होता चला जाता है। श्रुत की गति का आवेश 'ज' कणों
 की गति के आवेश का भी बड़ा देता है। धीरे-धीरे उस योगी का शरीर
 ब्राह्म वातावरण से अधिष्ठ आवेश का विभव (Higher potentiality)
 प्राप्त कर लेता है। अतः वह प्रकृति की तुलना में उत्तरारण का रूप धारण
 कर लेता है।

परन्तु फिर भी उसका शरीर के आवेश का विभव प्रणव के
 आवेश के विभव से तो कम हो रहता है। क्योंकि श्रुत का प्रवाह निरन्तर
 प्रणव के अन्दर से उस के शरीर में बना रहता है। इसी प्रवाह के कारण तो
 प्रत्येक प्राणी का शरीर जीवित अवस्था में स्थिर रहता है। इस प्रवाह के रुकने
 ही या अवरोध उत्पन्न होते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इस प्रवाह के बने
 रहने से ही योगी साध्य का शरीर जीवित रहता है, परन्तु उस का शरीर श्रुतजम की
 सिद्धि को प्राप्त करने के अर्थ शरीर को उत्तरारण द्वारा ब्राह्म वातावरण की नियोजित
 करने में सक्षम हो जाता है। उस योगी के द्वारा प्राप्त इन्हीं सामर्थ्यों की उसकी सिद्धियों कहते हैं।

सत्य लोक से 'अ' की सत्याभा निष्कल कर चलती है, तपः लोक में आवर
 'अंगारा' के आवर्त में उलझती है। तपः लोक से आमास्वरा, महामास्वरा, सत्यमहामास्वरा के
 तीन स्तरों को प्राप्त करके फिर एक स्तर में चलकर जनः लोक में आती है। जनः
 लोक में आकर ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक तथा अजरामरा नाम
 के चार चमसों में बँट कर वही सत्याभा चार ब्रूह चक्रों में फैल जाती है तथा प्रत्येक
 चक्र में ब्रह्मा के स्वयं मुख की रचना कर देती है। उसके बाद जनः लोक से वही सत्याभा
 महलोक में आती है और ब्रह्मा के प्रत्येक मुख में से 'इशान' रश्मियों के पाँच-पाँच पुञ्ज
 पाँच-पाँच जीम बनकर निकल आते हैं। ये भी अपना आवर्त बनाते हुए निकलते हैं।
 प्रत्येक जीम का नाम 'बुभुद', 'सृभु', 'प्रतर्दन', 'अञ्जनाभ', 'प्रचिताभ', अलग-अलग है।
 पृष्ठ (21) पर बना चित्र देखें।

उन जीमों में भी वह सत्याभा उलभ कर आती है। इन पञ्च जिह्वाओं से निकल
 कर वही सत्याभा स्वः लोव्य में आती है। स्वः लोव्य में आकर वह सत्याभा अपने
 संकल्पों द्वारा पाँच प्रकार की रचनाओं उद्गार पदों में चलाती हुई करती है।
 अतः यह स्वः लोव्य पाँच प्रकार का बन जाता है। 'पुरुष' की संज्ञा इसी
 स्वः लोव्य में आकर स्थापित होती है। इसी स्वः लोव्य में 'पुरुष' के द्वारा अपने
 दशांगुल रूप के अति-अतिष्ठत कल्प द्वारा 'त्रित' की रचना करके दशमीलिव्य
 अर्थों की रचना होती है। इन्हीं दशमीलिव्य अर्थों से 'क' 'कण' की रचना होती
 है। पृष्ठ (47) पर चित्र में पीछे यह प्रक्रिया समझाई जा चुकी है, वहाँ देखें। स्वः लोव्य
 के प्रथम भाग में रुद्र की सहस्र ईशान रश्मियों उसी सत्याभा की बनती है।
 ब्रह्मा की प्रत्येक जीम पचास अंशों में बँट जाती है। इस प्रकार पूरे ब्रह्मा से
 $(4 \times 5 \times 50 = 1000)$ एक सहस्र ईशान रश्मियों के द्वारा शिवतेज के अंशों की
 रचना हो जाती है। इन्हीं अंशों के तेज की ऊर्जा को शिव की ऊर्जा 'उ' कहा
 जाता है। इन्हीं में रुद्र के सहस्र नाम छिपे होते हैं। स्वः लोव्य के इसी भाग में
 एक ईशान के सहस्र पाद बन जाते हैं। दूसरे भाग में एक पाद दशांगुल रूप
 में बँट कर अपने अति-अतिष्ठत रूप द्वारा दशमीलिव्य अर्थों की रचना कर
 देता है। अपनी एक ऋतु की तरंग में पुरुष एक बार दशमीलिव्य अर्थों के 'क' कण शक्ति
 की रचना करता है। दूसरी तरंग में फिर एक नया दशमीलिव्य अर्थों का पिण्ड 'क' कण
 बनाता है तथा पहले बने दशमीलिव्य अर्थों के पिण्ड को आगे धकेल कर सरका
 देता है। इस प्रकार पाँच शृंखला बद्ध दशमीलिव्य अर्थों की शृंखला यह पुरुष
 का स्वरूप अपने चारों ओर स्वः लोव्य में बना लेता है। इस स्वरूप को ही माता
 'अदिति' का रूप कहा जाता है। क्योंकि यही 'अ' की सत्याभा को स्थूल रूप में
 दशमीलिव्य अर्थों के रूप में अपने गर्भ में प्रदान करती हुई उन्हें पञ्च प्राणीमियों
 के रूप में द्योतित करती हुई 'अ' की 'दिति' का रूप बनती है। पाँच तरंगों से अदिति
 अपनी पञ्च प्राणीमियों की रचना करती है, छठी तरंग में बने दशमीलिव्य अर्थों
 के पिण्ड को अपने गोष्ठ से स्वतन्त्र रूप में बाहर फेंक देती है और एक वसु
 के रूप में स्वतन्त्र विचरण करने वाले वत्स को जन्म दे देती है। इसी वत्स
 का नाम 'क' कण है। यही इन्द्र कहलाता है। आठ वसुओं को जन्म दे कर
 त्वष्टा गृह में स्थापित करती है, जिनसे त्वष्टा अपने अश्व की रचना करता
 है और उसे 'अश्विनो' का नाम दे दिया जाता है। त्वष्टा के अश्व में दो
 चक्र उस अश्व को पकड़ने वाले और एक उन दो भागों को काटने वाला बनता
 है। प्रथम चक्र सप्तपरावृत का और दूसरा चक्र अष्टापरावृत का बनता है।
 इन चक्रों में भी 'अ' की सत्याभा उलभ कर आती है। 'क' कण का स्वतन्त्र
 विचरण करने वाला भाग स्वः लोव्य का तीसरा भाग बनता है, और त्वष्टा के अश्व
 अश्विनो का स्वः लोव्य का चौथा भाग बनता है। स्वः लोव्य के पाँचवें भाग में
 षड्वृन्दारव्यों (Six quarters) के चक्र बनते हैं। इन सभी चक्रों में 'अ' की सत्याभा

उलझती हुई रुकती हैं और मृत जी सद्यनता को प्रत्येक चक्र में पदावत क्रम से नजानी हुई चलती हैं। ये ही चक्र मृत के वेग के लिए दुःखों के समूह बनते हैं। स्वः लोको से निकल कर यही सत्यामा भुवः लोको में त्रिवर्त्माओं (The three messengers) के चक्रों की रचना करती हैं। भुवः लोको से निकल कर भूः लोको और सप्त पाताल लोकों में 'न', 'चि' 'इत्' व्यंजनों की रचना करती हुई नीचैताग्नि के द्वारा वैश्वानर अग्नि की रचना करके अणु (Atom) के विश्वरूप (Full structure of atom) को प्रकट करती हैं। इस प्रकार 'क' व्यंजनों के लेश से पाँच रूप (1) अविद्या, (2) षड्वन्द्वारका, (3) त्रिवर्त्मा, (4) 'न', 'चि', (5) 'इत्' व्यंजनों के स्वरूप बन जाते हैं। सृजन के क्रम में इन्हें भी पञ्च क्लेश ('क' के लेश के पाँच रूप) कह सकते हैं। चित्त की वृत्तियों के पाँच क्लेश, "अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश", पहले बताये जा चुके हैं। परन्तु सृजन के क्रम में इन रचनाओं के आवर्त और वलय ही ईशान शक्ति के सञ्चरण के वेग की आगे तीव्रता से वेग पूर्वक अपने में उलझ कर निकलने में रुकावट डाल कर उनके लिए क्लेश बनते हैं। इन क्लेशों के कारण ही ईशान शक्ति में अपने पूर्ण वेग के साथ अणु की नीम से बाहर नहीं आ पाती। उनका आवेग का आवेश का कुछ अंश उन रचनाओं के आवर्तों और वलयों की रचनाओं में मुक्त हो जाता है। इसी कारण उस अणु में गुरुत्वाकर्षण का बल उत्पन्न हो जाता है, साथ में अणु की नीम के प्रत्येक अवयव में भी गुरुत्वाकर्षण का बल उत्पन्न हो जाता है। इसी गुरुत्वाकर्षण बल के द्वारा अपनी इकाई को अणु अपने रूप पाश में बाँध कर रखता है।

इन आवर्तों और वलयों के क्लेशों की हानि होने पर, अर्थात् इन आवर्तों के वेग में कमी आने पर 'ईशान' का प्रसरित होने का वेग बढ़ जाता है। यही पुरुष के बल का बढ़ना है। यही आत्मा के बल का बढ़ना है। योगी पुरुष अपनी आत्मा के इसी बल को बढ़ा कर अपने शरीर को आवेशित करते हैं। इसी आवेश से वे अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करते हुए अन्त में मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ईशान के तीव्र प्रसरित होने के इसी वेग के कारण योगी का शरीर दीप्तिमान हो कर चमकने लगता है। योगी के मुखमण्डल पर उसका तेज स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग जाता है।

ठीक इसके विपरीत यदि संकल्पों विकल्पों के उदय होने की दर बढ़ा दी जाये, हर समय चिन्ताबुल होकर कुछ न कुछ सोचते रहें, तो इन शिव के तेज के ईशान अंश में अधिक् क्लेश उत्पन्न हो जाता है। उस समय मनुष्य का शरीर बाह्य वातावरण की अपेक्षा आवेश के कम विभव — (Low potentiality) का हो जाता है। अतः उसका शरीर अरुण और बाह्य वातावरण उत्तरारीण बन जाता है। ऐसे जिस मनुष्य के शरीर में कम विभवता आ जाती है, उसके शरीर के ऊपर बाह्य वातावरण का प्रभाव बड़ी सुगमता से देखा जा सकता है। जिस तरह के कण बाह्य वातावरण में होंगे, वैसा कार्य बाह्य वातावरण में कर रहे होंगे, वैसा ही उस मनुष्य के अन्दर

करने लग जायेंगे। उन को अनुभूति वह अरीण वातावरण का साध्य सुगमता से कर सकता है। इसी कारण योग साधना में रत एक ब्रह्मचारी जब तीव्र संवेग वाले मन से आप्त काम हो कर अध्ययन मनन करता हुआ अपनी योग साधना के लिए निरन्तर चिन्तन करता है तो उस के बैठने के स्थान का वातावरण शुद्ध, शान्त, पौषक तथा मनोहारी होना आवश्यक है, अन्यथा वह अपनी माँझल पर पहुँचने से पहले ही रुकण हो कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर सकता है। गन्दा दूषित वातावरण ब्रह्मचारी को रोगी बना सकता है। तपोचरों के तपोवन इसी कारण प्रकृति के शान्त और स्वच्छ वातावरण में बनों में हुआ करते थे। चिन्तन का कार्य ऐसे स्थानों पर ही पूर्ण रूप से हो सकता है।

योग साधना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त जब योगी वास्तविक रूप से चित्त की वृत्तियों का निरोध करता है और अपने मन के काम को दब करके ज्ञान के वेग के तेज़ को धारण कर लेता है तो उसी ब्रह्मचारी का शरीर उसके वातावरण के लिए उत्तरारोण बन जाता है और बाह्य वातावरण अरीण बन जाता है। इसी प्रकार वही ब्रह्मचारी योग साधना और तप करता हुआ ऋषि, मर्हषि, ब्रह्मर्षि बन जाता है। उसी ब्रह्मचारी के ऋषि बने पर ऋत का प्रवाह उसके शरीर से वातावरण में रसने लग जाता है और वह बाह्य वातावरण को अपने मन के संकल्पों के बल द्वारा नियन्त्रित करने में समर्थ बन जाता है। ऋषि के आप से इसी कारण महान से महान पृथिवी मण्डल का सम्राट भी घबराता है और धर-धर काँपता है। ऋषि के इस आत्मबल की तुलना का बल भौतिक रूप से अन्यथा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। ब्रह्मर्षि विशाख और महाराजा विश्वामित्र का युद्ध और उस युद्ध में विश्वामित्र की पराजय इसी तथ्य की दर्शाती है। इसी कारण विश्वामित्र ने भी बाद में तप करके ऋषि बन कर इसी आत्मबल को प्राप्त किया। तभी उन्हें शान्ति प्राप्त हुई।

इस मन्त्र में बाह्य वातावरण को उत्तरारोण बनाने के लिए नहीं कहा है। कभी भी ब्रह्मचारी साध्य योगी के शरीर के लिए उत्तरारोण बाह्य वातावरण न बने, इसी के लिए प्रणव को उत्तरारोण बनाने का यहाँ विधान किया है। उस प्रणव के लिए ही साध्य योगी का शरीर अरीण बनना चाहिए, बाह्य प्रकृति के लिए नहीं। बाह्य प्रकृति तो मौख है। उसका उपभोग करना चाहिए, वह भी अनाशक्त हो कर। तब उसका नियन्त्रणकारक प्रभाव योगी पर न पड़े। प्रकृति योगी के वश में रहनी चाहिए, योगी प्रकृति के वश में नहीं रहना चाहिए। इसी लिए इस मन्त्र में कहा है कि ब्रह्म की अनुभूति की साधना करने वाला योगी अपने शरीर को 'अरीण' बना कर और 'प्रणव' को उत्तरारोण बना कर परमब्रह्म की अनुभूति की साधना करे। प्रणव ही उस समग्र ब्रह्म को परमब्रह्म के रूप में बताने वाला उसका नाम है। इसी को 'ओम्' कहा जाता है तथा ॐ संकेताक्षर से प्रकट किया जाता है। ब्रह्म अनुभूति की साधना में ध्यान के निमिष के अभ्यास से उस परमब्रह्म को निगूढ देव की भाँति देखना चाहिए।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपब्रवीति ॥ (15)

जैसे तिलों में तैल, दही में घी, स्रोतों में जल तथा अरणिश्रीं में अग्नि स्थित हैं, उसी प्रकार जो इस सत्य और तप द्वारा बार-बार देखता है, उसे यह 'आत्मा' आत्मा में ही गृहण होती है।

दूसरे प्रकार से इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार निकलता है।

ऋग्वेद में पीछे बताया गया अग्नि का स्वरूप जो सृष्टि के समग्र रूप को प्रकट करता है, उस अग्नि के अपने स्वरूप में 'आत्मा' अपने स्वरूप को इस प्रकार गृहण कर लेती है जैसे तिलों में से तैल निकलता है, दही में से घी निकलता है, स्रोत में से पानी निकलता है और अरणिश्रीं में से अग्नि निकलती है। सत्यलोक में स्थित 'अ' की सत्याभा के आभास्वरा स्वरण में सत्यलोक के द्वारा तथा तपः लोक के द्वारा इसी प्रकार 'आत्मा' अपने स्वरूप को अपने अन्दर गृहण करता है। असद् ब्रह्म के अन्दर अपने स्वरूप में 'अ' की सत्याभा से ऋतु की तरंगों का जो स्वरण सत्यलोक में तथा तपः लोक में होता है, उसी के द्वारा आत्मा को अपना स्वरूप गृहण कराया जाता है। तपः लोक में जो आभास्वरा, महाभास्वरा तथा सत्यमहाभास्वरा स्तरों की ऊर्जा का सवितृ की सवन शक्ति का स्वरण होता है, उन में सत्यमहाभास्वरा सत्याभा के स्वरण से जीवात्मा की रचना असद् ब्रह्म में से निकल कर उसी प्रकार हो जाती है जैसे कि तिलों में से तैल निकलता है, दही में से घी निकलता है और स्रोत में से पानी निकलता है तथा अरणिश्रीं में से अग्नि निकलती है। तपः लोक में यह सत्यमहाभास्वरा के स्तर की बने वाली सत्याभा सत्यलोक में से ही 'अ' से निकल कर आती है। अतः इस आत्मा की रचना सत्यलोक के द्वारा तथा तपः लोक के द्वारा होती है। अतः जो इस आत्मा के स्वरूप को सत्यलोक के द्वारा तथा तपः लोक के द्वारा देखता है, वह जानी इस 'आत्मा' के स्वरूप को अपने ज्ञान में गृहण कर लेता है तथा इसके सत्य स्वरूप को समझे जाता है।

सत्यलोक में स्थित 'अ' की सत्याभा का जीवीयत्व को धारण करके उत्तरोत्तर सत्यमहाभास्वरा के रूप में स्फुरण 'अ' के अन्दर उदित सृष्टि-राजन की कामना के उदित होने से होता है। यह काम ही इस आत्मा के स्वरूप में स्थित हो कर 'महम्' के संस्कार द्वारा इसे अपने पाश में बाँध कर रखता है। अतः इस आत्मा को इसका स्वरूप प्रदान करने वाला कारण 'काम' है तथा इस काम में उदित होने वाले संकल्पों का स्वरूप सत्यलोक में स्थित और तपः लोक में स्थित स्वरणिश्रीं में दिखता है। इस रहस्य को जान कर योगी साधक चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध कर के 'काम' को पूर्ण रूप से दबध कर देता है। काम के मस्म होने पर 'अ' से सत्याभा की निकलने

वाली स्वरणिओं का स्वरूप भी मिट जाता है। उन स्वरणिओं के मिटने से 'अ' का 'अग्नि' की रचना करने का सामर्थ्य ही मिट जाता है और वह 'अ' स्वयं ही सद्-ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप में विलीन हो कर अन्तर्ध्यान हो जाता है। इस प्रकार उस आत्मा का विलय सद्-ब्रह्म में हो कर योग की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह कार्य तभी हो पाता है जब योगी साधक इस सत्यज्ञान को प्राप्त करके दृढमति हो कर तीव्र संवेग वाला बन कर, जाप्यकामी हो कर तप करता है और उस तप के द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को प्रदान करने वाले उस काम के कारण को पूर्ण रूप से भस्म कर देता है।

'अ' से प्रस्फुटित हो कर सत्यब्रह्म की आभा की आवेष्टा युक्त ऋत की ओर तरंगे बहती हुई ऋत में चलती है और अपने अन्दर धारित संकल्पों के द्वारा सवितृ की सवज शक्ति से युक्त हो कर द्यौं में स्थित सभी दिव्य देवताओं के स्वरूप की रचना करती हुई 'अग्नि' के समीष्ट रूप की रचना कर देती है, उन्हें स्वरणिओं कहा जाता है। इन स्वरणिओं में ही ऋग्वेद में वर्णित 'अग्नि' का सारा स्वरूप छिपा है। उन्हीं में 'आत्मा' का सत्य स्वरूप छिपा है। ये स्वरणिया स्वरित होती हुई (अर्थात् बहते हुए ब्रह्म के अन्दर अपने स्वर का नाद उत्पन्न करती हुई अपने आवेष्टा से अपनी रचनाओं को ऋत के अन्दर अणित (अर्थात् ग्रथित) करती हैं। सूक्ष्म रूप का ग्रथन ही 'अणित' करना कहलाता है। अतः स्वर के द्वारा अणित करने वाली स्वरणिओं कहलाती हैं। इन्हीं स्वरणिओं में से ऋग्वेद की अग्नि का स्वरूप बाहर निकलता है। इसी कारण अग्नि को ऋत से उत्पन्न होने वाली 'ऋत्विजम्' कहा गया है। ऋत में इन स्वरणिओं के माध्यम से ही 'अग्नि' का समीष्ट रूप उत्पन्न होता है। जैसे स्रोत में जल बहता रहता है उसी प्रकार इन स्वरणिओं में सद्-ब्रह्म बहता रहता है और असद्-ब्रह्म का रूप धारण कर के ऋत बनता रहता है। उसी ऋत से अग्नि का सारा रूप बनता रहता है। जैसे एक तिल के दाने में से दबाव के कारण तेल निकल आता है, उसी प्रकार 'अ' के एक सद्यन बिन्दु पर पराशक्ति के अधिक दबाव के कारण उस प्राङ् बिन्दु से अपाङ् की ओर अपराशक्ति वाली ऋत की तरंगों का बहाव निकल कर चल देता है। ये ही स्वरणिओं का रूप बन कर सत्यनहाभास्वरा ऋत की तरंगें बन जाती हैं और समीष्ट रूप अग्नि की रचना करती हुई उसमें आत्मा के स्वरूप को स्थित कर देती हैं। जैसे दही के प्रत्येक कण में से घी निकल आता है, उसी प्रकार प्रत्येक क्षण के सत्यलोच से तपः लोच में इन स्वरणिओं का स्वरूप निकल जाता है और एक पूरे अर्ध-पिण्ड में निवास करने वाली आत्मा के स्वरूप की रचना इन स्वरणिओं द्वारा हो जाती है।

इस प्रकार अपने शरीर को अरीण बना कर, प्रणव को उत्तरारण बनाता हुआ जी योगी तप के द्वारा परमब्रह्म के

सत्य स्वरूप में स्थापित हो जाता है और उस परमब्रह्म के प्रवाह को अपनी आत्मा में ग्रहण करता है, (10)

तथा इस प्रकार सत्य तथा तप से जो इसको प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसी व्यक्ति के द्वारा यह आत्मा उसको अपने अन्तःकरण में उपलब्ध होती है। उसी को उस परमब्रह्म की साक्षात् रूप में अनुभूति होती है।

सर्वव्यापिजमात्मानम् क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।

आत्मविद्या तपोमूलम् तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥

तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ (16)

उस सर्वव्यापी, अनन्त, निर्गुण, निराकार, परमब्रह्म सद्-ब्रह्म में आत्मा इस प्रकार स्थित है जैसे कि दूध में घी अर्पित होता है। जब दूध में घी विद्यमान होता है तो दूध की अवस्था में वह घी उसमें विलीन रहता है। परन्तु जब उस दूध की दही बन जाती है और उस दही का मन्थन होता है तो उसमें से घी सिमट कर अपने आप बाहर आ कर स्वयं नैरे रूप को धारण कर लेता है। उस घी का सीमित आयाम का लौंदा उस दूध में ही बन जाता है। इसी प्रकार जब सर्वव्यापी अक्षर सद्-ब्रह्म क्षर कर असद्-ब्रह्म के क्षीर बन जाता है, उन क्षीरों के पञ्चावर्ती के मन्थन से 'पुंसव' का स्वरूप उदित हो जाता है, तो स्वयं सीमित आयाम के शरीर में रहने वाली 'जीवात्मा' का स्वरूप उदित हो जाता है। इसी जीवात्मा को आत्मा कहा जाता है। यहाँ इस उपनिषद् में उसी आत्मा की विद्या को बताया गया है। यह आत्मा की विद्या ही उस तप का मूलकारण है, जिस तप को करने में तपुषि, महर्षि, बृहर्षि अपन-सम्पूर्ण जीवन सब कुछ बलिदान करके लगा देते हैं। क्योंकि इसी आत्म-विद्या के द्वारा वे तप करके इस जीवन-मरण के अनन्त काल तक चलने वाले चक्र से छूट कर मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं। वे असीम सिद्धियों को प्राप्त करते हुए, जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त करते हुए अन्त में ब्रह्म में विलीन हो कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। यही आत्म विद्या मनुष्य को उस परमब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कराती है तथा उस मनुष्य को वह उपाय बताती है जिसके द्वारा वह मनुष्य अपनी आत्मा को भी, माया के आवरणों को हटा कर, अपने शुद्धस्वरूप में स्थापित कर पाता है। वह अपनी आत्मा को परम-ब्रह्म के समीप ही शुद्ध स्वरूप में अवस्थित करके उस परमब्रह्म के समीप ला कर बिठा देता है। उस समीप बैठने पर शरीर की आयु पूर्ण होने पर वह आत्मा सभी तीनों बन्धनों से मुक्त हो कर तीनों प्रकार के मोक्ष प्राप्त कर लेती है और उस परमब्रह्म के अक्षर, सद्, सर्वव्यापी रूप में सदा के लिए विलीन हो जाती है। इस प्रकार तप करने की यह मूल विद्या, 'आत्म विद्या' इस ब्रह्मोपनिषद् की विद्या है जो आत्मा को परम-ब्रह्म के समीप ले जा कर बैठा देती है। 'उप-निषद्' का अर्थ पूर्ण रूप से समीप बैठना होता है। 'तद् ब्रह्मोपनिषद् परम्' का अर्थ है, 'उस परम ब्रह्म के समीप पूर्ण रूप से बैठना। तप की मूल यही आत्मविद्या इस ब्रह्मोपनिषद् में है।

“सर्वव्यापिनमात्मानम् क्षीरे सर्पिरिवर्षितम्”- क्षीर में सर्प (=चल) करके अपने रूप को जो प्राप्त करता है, अर्थात् जो क्षीर में सर्पिः की तरह अर्पित है उस सर्वव्यापी आत्मा को यह तप की मूल आत्म विद्या उस परम ब्रह्म के समीप ले जा कर देता है। यह ‘सर्पिः’ व्याप्त है। लौकिक अर्थ में ‘सर्पिः’ घृत को वहता है और क्षीर दूध को वहता है। परन्तु आत्म विद्या के वैदिक विज्ञान में ‘क्षीर’ सद-ब्रह्म का धरने पर बना वह प्रथम बिन्दु है जो बिन्दु के रूप में ब्रह्म की परा शक्ति को धारण करे हुए है। यह श्रुत का वह सद्यन् बिन्दु है जहाँ पर उस बिन्दु के चारों ओर स्थित सत्त्व सीमित आयास के श्रुत को उस बिन्दु पर अवात अवस्था में ला दिया गया है। [आनीदवातं स्वधया तदेकम्” (ऋग्वेद-10, 129, 2)] इस क्षीर में वह सद-ब्रह्म का अंश चल कर अपने सद्यन् रूप को अर्पित करता है। उस सर्वव्यापी सद-ब्रह्म का वही अंश जो उस क्षीर में चलने वाला (सर्पिः) बनता है, वही ‘आत्मा’ का स्वरूप बनता है। वही आत्मा है। उस आत्मा की विद्या ही तपः लौक में जा कर तपस् का मूल बनती है। तपः लौक में जा कर सप्त क्षीरों के ग्रथन से सप्तपरावृत बनता है। वही सप्तपरावृत अंगिरा बन कर तपस् का मूल कारण तपस् को वहन करने वाला बनता है। उसी तपस् की ऊर्जा से यह आत्मा अर्ध के बने पिण्डों में आत्मा के रूप में व्यक्त करती है। जब यह आत्मा उस अर्ध-पिण्ड में से निकल जाती है तो उस अर्ध पिण्ड के शरीर में से वह तपस् भी निकल जाती है और वह शरीर ठंडा हो जाता है। उस समय हम कहते हैं कि इसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार यह आत्मा सत्त्व क्षीर में सर्पिः (चलने वाले) की तरह अर्पित होती है। यह सर्पिः (चलने वाला) उस आत्मा में वह सर्वव्यापी सद-ब्रह्म ही होता है जो क्षर कर अनेक रूपों में बँट कर असद-ब्रह्म बन जाता है।

इन क्षीरों को अर्ध पिण्डों की बनी गौर (Body made by matter) अपनी रचना के पदों द्वारा पदावत क्रम में अपने पदों के द्वारा पीती है और उत्तरोत्तर क्रम में अपने शरीर को सद्यन् बनाती हुई अपने अन्दर आत्मा का प्रवेश कराती है। क्षीर सागर में से क्षीरों के जल को अपने पदों से अर्णु पीकर अर्णवसमुद्र बनाते हैं। अर्णवों में भरे क्षीरों को पीकर दशमौलिक अर्धों के पिण्ड ‘क’ कण बनाते हैं। ‘क’ कणों में भरे क्षीरों को अपने पदों से पीकर अश्विनौ बनाते हैं। प्रत्येक रचना के पिण्ड की गौ पदावत रचना के अपने पदों द्वारा इन क्षीरों को पीती है और शीर्षों के द्वारा इन का वपन करती हुई दुध देती है। इस प्रकार उस अर्ध पिण्ड की गौ में आत्मा का सञ्चरण होता है। ऋग्वेद में कहा है—

इह ब्रवीतु य ईमुङ्गावेदास्य वामस्य निहितं पदं वैः ।

शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वृद्धिं वसाना उदकं पदापुः ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 7)

यहाँ बताया जा सचमुच इस को वामावत में उड़ते पक्षी के रचना के निहित पद को जानता है। ये पक्षी रूपी अणु की नाभि के अन्दर बनने वाली रजकणों की गौर अपने शीर्षों से क्षीरों का वपन करती हुई दुहती है और अपने रूप का वसन धारण करती हुई इन क्षीरों के जल को अपनी रचना के पदों द्वारा पीती है।

(215)

इस प्रकार एक रचना के शीर्षों से निकले क्षीरों के द्वारा उस से आगे के पद में रचित होने वाली रचना अपने स्वरूप का निर्माण करती है। इस प्रकार चले उत्तरोत्तर रचना के क्रम द्वारा एक देव के यज्ञ से उसके आगे बजने वाले देव का रचना का यज्ञ चलता रहता है। इन रचना के पदों में क्षीरों के समूह उत्तरोत्तर सद्यन् होते हुए सम्भूति की क्रिया को सम्पन्न करते हैं। उसके पश्चात् उसी प्रकार 'प्रतिसञ्चरः' की प्रक्रिया द्वारा इन क्षीरों के समूह विरल होते हुए विनाश के पदावत क्रम को प्राप्त करते हैं। इस 'सञ्चरः प्रतिसञ्चरः' की प्रक्रिया द्वारा इन क्षीरों के समूह द्वारा ब्रूह रचना करते हुए सम्भूति और विनाश के चक्र में आत्मा का समावेश हो जाता है। यही वह आत्मा के स्वरूप को विशेष रूप से चोखित करने वाली आत्मा की विद्या 'आत्माविद्या' है जो ऋषियों के तप की मूल बनती है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि चर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 50)

एक देव की रचना के यज्ञ से दूसरे देव अपनी रचना का यज्ञ करते हैं। जिस चर्म को कोई देव अपनी रचना के यज्ञ द्वारा धारण करना चाहता है, वे चर्म पहले ही उस प्रथम देव की रचना के यज्ञ में विद्यमान थे, जिस देव के यज्ञ के द्वारा वह बाद में रचित होने वाला देव अपनी रचना के यज्ञ को सञ्चालित कर रहा है। ये बाद में रचित होने वाले देव सचमुच ही महान बनते हुए अपने बड़े रूप को प्राप्त हुए हैं। ये अपने उस बड़े रूप को प्राप्त हुए हैं जो इनकी पदावत रचना के क्रम में इन से पूर्व के रचित होने वाले देवों के रचना के यज्ञ के साध्य लक्ष्य थे।

इस प्रकार प्रथम देव अपनी रचना के पदों द्वारा अपने यज्ञ की दधि के रूप में क्षीर सागर से इन क्षीरों के जल को पीता है और अपने स्वरूप को पुष्ट करता हुआ पूर्ण करता है। फिर इन क्षीरों को अपने Radiation के अक्षों पर चलाने वाले शीर्षों के द्वारा इन क्षीरों को दुह कर निकाल देता है। इन क्षीरों के वपन को यह दुहना इस लिए कहा है कि जैसे गीं दूध दे कर अपने दूध से अपने बत्स को पुष्ट करती हैं, उसी प्रकार एक देव अपने शीर्ष से दुह दूध से अपने बत्स को पुष्ट करता है। इस प्रकार एक देव से गये क्षीरों द्वारा अपने बत्स नये देव को पुष्ट करता है। इस प्रकार एक देव से दूसरे देव में क्षीरों के द्वारा ऋत का सञ्चरण होता चला जाता है और आत्मा का तन्वन पूरे पिण्ड में हो जाता है। यही आत्म विद्या है, जो तप का मूल है और जो सर्वव्यापी परम-ब्रह्म के समीप ले जा कर आत्मा को बैठा देती है।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

देते हैं।

“भूमिरापोऽचलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥” (गीता 7-14)

गीता में पञ्च महाभूत की रचना भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा इन के साथ मन, बुद्धि, अहंकार, ये आठ प्रकार की रचना करने की उस 'अ' की सत्प्रामा की प्रकृति बताई गई है।
उन्हीं आठ प्रकार की प्रकृति की रचना का यहाँ इस मन्त्र में वर्णन आया है।

‘अ’ की सत्प्रामा सत्प्र लौक्य से निकल कर तपः लौक्य में आती है। तपः लौक्य में आकर वह सवितृ देव के स्वरूप की ज्योतिर करने वाली बन जाता है। वह सवितृ देव पहले मन के साथ योजित होता है। मन के साथ योजित होकर वह अपने तीन स्वरूपों आभास्वरा, महाभास्वरा, सत्य महाभास्वरा में से अपने मन की इच्छानुसार एक स्वरूप का चयन करता है और उस स्वरूप में आगे रचना करने के लिए दूसरे लौक्य की ओर बढ़ता है। आगे बढ़ते समय उसने किस लौक्य में किस प्रकार किस देवीनकाय की रचना करनी है? इस का विवेक प्राप्त करने के लिए वह बुद्धि (धिया) से युक्त होता है। उसके पश्चात् समष्टि ब्रह्म के रूप मृत की अग्नि की ज्योतिर का वह ‘पुरुष’ के रूप में अवलोकन करता है। इसी ‘पुरुष’ में उस जीवात्मा का स्वरूप निहित होता है, जिसके लिए “अहम् ब्रह्मास्मि” कहा गया है। उस ‘पुरुष’ में जीवात्मा के ‘अहंकार’ की रचना हो जाती है। उसके पश्चात् वही ‘पुरुष’ अपने दशांगुल रूप द्वारा अति-अतिष्ठत स्वरूप की प्राप्ति करके दशमौलिक अर्धों की रचना करता है, जिससे ‘क’ कण का एक अर्धपिण्ड बन जाता है। इन्हीं ‘क’ कणों के अधिपता से करने से पञ्च महाभूतों की बनी पृथिवी बन जाती है। पृथिवी के स्वरूप में, ‘आकाश, अनल, वायु, जल, भूमि’, इन पाँचों महाभूतों का स्वरूप समाहित है। इस प्रकार पृथिवी के पाँचों महाभूत, मन, बुद्धि, अग्नि की ज्योतिर के रूप में पुरुष का अहंकार, ये आठों प्रकृति के स्वरूप तत्त्व की रचना के लिए सवितृ देव से युक्त हो जाते हैं। इन योगों में सवितृ के साथ सबसे पहले मन का योग होता है, फिर बुद्धि का और उसके बाद अहंकार का योग होता है। उन के साथ मिलने के उपरान्त वह एक अणु की नाभि

(Nucleus) में पञ्चमहाभूतों की रचना का गुण उत्पन्न करता है। जिस अणु की नीमि में अधूरी रचना होकर केवल अदिति और उसके पुत्र वसुओं की 'व' वगैरे के रूप में रचना होती है, उनसे आकाश महाभूत की रचना हो जाती है। जिस अणु की नीमि में धृतपृष्ठ के नीमि-चक्र की रचना अधूरी रह जाती है, वह अणु आवेश से युक्त हो कर स्वयं स्वतन्त्र अग्रज के रूप में विचरण करने लग जाता है। वही आवेशित अग्रज अपने आवेश की द्युति को प्रकट करता हुआ अजल (अग्नि) के महाभूत की रचना करता है। ध्यान रहे ऋग्वेद में वर्णित 'अग्नि' समष्टि ब्रह्मभूतकीद्योतक है, जब कि पञ्चमहाभूतों में अग्नि का महाभूत पदार्थ की स्वतन्त्र अणुओं के अग्रजों के रूप में विचरण करने वाला स्वरूप है। वह सर्वत्र विद्यमान है। वह ठंडे रूप में भी रहता है और गर्म रूप में भी रहता है। तपस् के अंगिरा की रचना तो तपः लौक्य में ही सवितृ की रचना के साथ हो जाती है। सवितृ का सञ्चरण ही इस अंगिरा के द्वारा होता है। सवितृ इस अंगिरा के तपस् द्वारा ही पुरुष की रचना करता है और पञ्चमहाभूतों के पदार्थ (आपः) की रचना करता है। इसी कारण गोपथ ब्राह्मण में, "सर्वमापौमयं भूतं सर्वं भृगुवङ्गिरौमयम्" कहा है। 'आपः' किसे कहते हैं? ब्रातपथ ब्राह्मण में कहा है, "सैदम् सर्वमाप्नोत यदिदं विज्य। यदाप्नोत तस्मादापः।" अर्थात् वह पुरुष जो भी अपने दशांगुल रूप द्वारा मौलिक अर्थों का रूप धारण करके जो यह संसार में सब कुछ है, उससे रूप को प्राप्त करता है, वह सारा पदार्थ का रूप ही 'आपः' है। क्योंकि पुरुष इस रूप को प्राप्त करता है, अतः यह 'आपः' है। इस प्रकार पदार्थ के द्रव्य को वैदिक विज्ञान में 'आपः' कहा जाता है। परन्तु पञ्चमहाभूतों में 'आपः' जल की अवस्था को कहते हैं। अतः संदर्भ के अनुसार इन में भेद समझ लेना चाहिए। अतः "सर्वमापौमयं भूतं सर्वम् भृगुवङ्गिरौमयम्" का अर्थ हुआ कि, "सारे भूत (matter) पदार्थ के द्रव्य से युक्त होते हैं तथा सारे भूतों के अणु जो उनके द्रव्य की रचना करते हैं, वे भृगु और अंगिरा से युक्त होते हैं। 'अंगिरा' की रचना तो पीछे तपः लोक में धीरे के सप्तापरावृत के रूप में बताई जा चुकी है। 'भृगु' का स्वरूप उन मौलिक अर्थों का स्वरूप होता है जो अणुओं की ऊर्जा से भर कर बने अर्थपिण्ड होते हैं। स्पष्ट है प्रत्येक भूत के पदार्थ के वर्ण में पदार्थ का स्वरूप भृगु के रूप में ऊर्जा से भरा होता है और उस ऊर्जा में अंगिरा की तपस् भरी होती है। वही 'आपः' है।

जब अणु का स्वरूप तो पूर्ण बन जाता है परन्तु एक अणु के साथ दूसरे अणु को बन्धन में बाँधने की शक्ति अणु में स्थित कम गुरुत्वाकर्षण के कारण कम होती है तो अणु स्वतन्त्र रूप में द्व्यणु या त्र्यणु बन कर वातावरण में विचरण करने लग जाते हैं। उस महाभूत की अवस्था को - जिसे इस प्रकार के अणु प्रकट करते हैं, 'वायु' कहा जाता है। अणुओं तथा प्रयोगों की ऊर्जा के स्तर (= वय) की अत्यधिक भिन्नता वाले महाभूत को 'वायु' कहा जाता है। जब अणुओं में गुरुत्वाकर्षण बढ़ कर पदार्थ का स्वरूप इस प्रकार बन जाये कि उनके प्रयोगों में सघनता आ जाती है, परन्तु एक अणु के अन्यर दूसरे अणु को चिपकाने की या एक प्रयोग (molecule) को दूसरे प्रयोग को अपने साथ चिपकाने की शक्ति अधिक न हो कर कुछ कम होती है तो एक अणु दूसरे अणु के साथ से या एक प्रयोग दूसरे प्रयोग के साथ से फिसल कर चल देता है। इस चलीयमान अवस्था वाले पदार्थ को जो बह कर चल देता है, "जल" का महाभूत कहा जाता है। 'चल' में 'च' को 'ज' बन कर 'चल' से 'जल' बन जाता है। ऐसे पदार्थों की दो ही अवस्थाएँ बनती हैं। या तो उनमें 'पाश्चा' की बन्धन शक्ति कम होने के कारण उनके अणु (Atoms) या प्रयोग (molecule) एक दूसरे के साथ से फिसल कर बह कर चल देते हैं, उन्हें 'आर्द्र' (fluid) कहा जाता है, या फिर यदि उनमें पाश्चा की आबन्धन शक्ति अधिक है तो एक अणु के साथ दूसरा अणु या एक प्रयोग के साथ दूसरा प्रयोग चिपक कर एक जगह स्थिर हो जाते हैं और एक अर्धपिण्ड की रचना कर देते हैं। ऐसे पदार्थ को 'शुष्क' पदार्थ कहा जाता है। इससे अतिरिक्त पूर्ण अणुओं के बने पदार्थ की तीसरी अवस्था नहीं होती। शतपथ ब्राह्मण में इसे, "द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च।" (शतपथ ब्राह्मण-1, 6, 3, 23) कह कर बताया है। यह शुष्क रूप ही भूमि का पाँचवाँ महाभूत बनता है। आर्द्र 'जल' का महाभूत बन जाता है। इस प्रकार पाँचों महाभूतों की रचना हो जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित भूत की बनी अग्नि आभास्वरा आदि ज्योति का अवलोकन करती हुई सवितृ की 'सर्व' शक्ति के द्वारा पृथिवी को पञ्च महाभूतों के स्वरूप से भर देती है। ऋग्वेद में "द्यावापृथिवी" का जो युगल बताया है उनमें द्यौः तो अर्णव समुद्र की उगता की ऊर्जा का दिव्य स्वरूप है और 'पृथिवी' पञ्च महाभूतों का बना पदार्थ का स्वरूप है। इसी कारण, "पृथिव्या अध्याभरत", का अर्थ यहाँ "पृथिवी के स्वरूप द्वारा पञ्च महाभूतों के स्वरूप को पोषित कर देती है," लगता है। इस प्रकार अग्नि की ज्योति के बने सवितृ देव के द्वारा अष्टधा प्रकृति की रचना का वर्णन इस मन्त्र में संक्षेप में दिया है। यहाँ गागर में सागर भरा है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।

सुवर्गीयाय शक्त्या । ②

हम सवितृ देव की 'सव' शक्ति में (= पौषण करने की शक्ति में) मन के द्वारा युक्त हो कर, उस योग (जुड़ने) के द्वारा रचे जाने वाले देवों का सुवर्गीकरण करने के लिए शक्ति के साथ युक्त हो जाते हैं ।

जब सवितृ देव की सव शक्ति में मन योजित हो कर मन का समावेश हो जाता है तो वह सवितृ देव अपने मन चाहे रूपों को पौषित करता हुआ विभिन्न प्रकार के दिव्य स्वरूपों को द्योतित करने वाले देवों की रचना कर देता है । इस मन की इच्छा शक्ति की ही आधार बना कर हम इन देवों का सुवर्गीकरण करने में समर्थ हो पाते हैं कि किस लोक में किस प्रकार के देवों के निवास की रचना होती है । इस सुवर्गीकरण के लिए हमें शक्ति मन के द्वारा ही प्राप्त होती है । 'मन' के अतिरिक्त देवों के इस सुव्यवस्थित वर्गीकरण का कारण हमें अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देता ।

कुछ विद्वान सप्तलोकों के देवीन्यायों की रचना का ज्ञान न होने के कारण "सुवर्गीयाय" के स्थान पर रवीन्द्र तान करके, "स्वर्गीयाय" का पाठ करके, स्वर्ग सम्बन्धी इसका जबरदस्ती अर्थ करते हैं, जो अज्ञात है । 'सुवर्गीयाय' का सही अर्थ, 'सुव्यवस्थित रूप के वर्गीकरण करने के लिए' ही बनता है जो मन्त्र के सही अर्थ को सही संदर्भ के अनुसार बता रहा है ।

सवितृ देव की 'सव' शक्ति वह सत्प्राभा की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार के देवों का प्रसव करके सृजन करता है और उन्हें पुष्ट करता है । 'सव' शब्द में प्र उपसर्ग लगा कर ही 'प्रसव' शब्द बनता है, जिस का अर्थ गर्भ को पौषित करके प्रयत्न पूर्वक बच्चे को जन्म देना होता है । अतः 'सव' शब्द का अर्थ है, 'गर्भ को पुष्ट करके नये सृजन को जन्म देना' । सवितृ देव में ही यह शक्ति होती है । इस 'सव' के रूप का तन्वन करने वाला देव ही 'सवितृ' कहलाता है । सविता देव की इस 'सव' शक्ति में 'मन' की ही हम देवों की रचना का सुव्यवस्थित वर्गीकरण का कारण पाते हैं ।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्ग्यतो धिया दिवम् ।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ③

देवों को मन से मुक्त करते हुए और बुद्धि के द्वारा द्यौ का सुव्यवस्थित रूप से वरण करते हुए, सविता देव अपनी सत्याभा की 'सव' शक्ति की ज्योति को वृहद् करते हुए उन देवताओं का सृजन करा कर प्रसव कराता है, जिन देवताओं के निष्काशों का उन के सम्बन्धित लोको में सुव्यवस्थित रूप से वर्गीकरण करके स्थापन किया हुआ है। सत्य लोको की सत्याभा तपः लोको में आकर सवितृ के मन तथा बुद्धि से मिल कर शत की आग्नि की आभास्वरा, महाभास्वरा, सत्यमहाभास्वरा, ज्योतिषों में से किसी एक प्रकार की ज्योति बन जाती है। जब सत्य लोको से अ' की सत्याभा निकलती है तो तपः लोको में आकर वह सवितृ को 'सव' शक्ति बन कर मन, बुद्धि से मुक्त होकर सवितृ देव के स्वरूप की ज्योति बनने लग जाती है और सृजन क्रिया से मुक्त हो जाती है। अब जैसे-जैसे यह बाहर के लोको में सवितृ की सत्याभा की 'सव' शक्ति चलती जाती है तो उन बाहर के लोको का क्षेत्र भी बड़ा होकर बढता चला जाता है। उस बड़े हुए क्षेत्र में विद्यमान जो द्यौ होता है, उस सौर द्यौ का वरण वह सवितृ की सत्याभा की 'सव' शक्ति करती चली जाती है। उस सौर बड़े हुए द्यौ के क्षेत्र में सवितृ अपनी सत्याभा की ज्योति को भी वृहद् करता चला जाता है। इस प्रकार वह सवितृ प्रत्येक लोको में उस लोको के वर्ग के देवों का प्रसव कराता हुआ चला जाता है। इस प्रकार वह सवितृ देव 'सव' शक्ति में सुवर्गीकरण करने की देवों की शक्ति रखता है।

यह सवितृ मन के द्वारा देवताओं को सब दूसरे से जोड़ते हुए और बुद्धि के द्वारा तथा प्राणों के द्वारा द्यौ का वरण करते हुए [द्यौ में बुद्धि और प्राण दोनों आते हैं।] तथा अपनी ज्योति को उत्तरोत्तर लोको में वृहद् करते हुए किस प्रकार उन देवों का प्रसव कराता है? यह अगले मन्त्र में बताया गया है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः।

विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्पुतिः ॥ (4)

(वह सवितृ देव प्रत्येक लोको में उस लोको के देवों का प्रसव कराता हुआ)

पहले मन के साथ जुड़ता है, उस मन के ऊपर बुद्धि, प्राणों से जुड़ता है। इस प्रकार मन, बुद्धि, प्राणों से युक्त करके वह जनः लोको में विप्र देव 'ब्रह्मा' का प्रसव करा देता है। [चारों वेदों का गायन करने वाला ब्रह्मा ही सच्चा विप्र है।] उस विप्र की वृहद् की गई आगे के लोको में सर्वदर्शी चेतना को अन्य देव धारण करते हैं, जो अन्य लोको में देवों के सृजन के चलने वाले यज्ञ के विशेष होता

बनते हैं। उस रुक् प्रज्ञावित् तथा इन्द्रियों और प्राणों से युक्त सविता देव की महती स्तुति करनी चाहिये।

सवितृ देव में प्रसव कराने की विशेष 'सव' शक्ति होने के कारण सृष्टि सृजन में उसका महान कार्य बड़े महत्त्व का है। वही मन, बुद्धि से युक्त हो कर किसी विशेष प्रयोजन से किसी विशेष लोको में किसी विशेष देव का प्रसव कराता है। तपः लोको से निकल कर जब वह सवितृ देव जनः लोको में अपनी 'सव' शक्ति को ले कर जाता है तो वहाँ चतुर्मुखी ब्रह्मा का विप्र के रूप में प्रसव कराता है। उस विप्र ब्रह्मा के मन को और उसकी बुद्धि, प्राणों को योजित करते हुए जनः लोको के ऊपर बने उत्तरोत्तर लोकों के प्रज्ञा युक्त देव रूपी विप्र उस सवितृ की सत्याभा की 'सव' शक्ति से सृजित होते चले जाते हैं। इस प्रकार पूरे अणु की जगति के सातों लोकों के अन्तर स्थित देवों में उस विप्र ब्रह्मा की वृहद् और सर्वज्ञ चेतना फैलती चली जाती है। जो सातों लोकों में उत्तरोत्तर क्रम से रुक् लोको के देवों के सृष्टि सृजन के यज्ञ से दूसरे लोको के देव का सृष्टि सृजन का यज्ञ चलता रहता है, उस यज्ञ में 'ब्रह्मा' विशेष होता [विहीत्रा] के स्थान को ग्रहण करता है। वह प्रज्ञावित् ब्रह्मा, उस रुक् सवितृ देव की उस महान सव शक्ति को पोषण करने वाली शक्ति को चारण करता है और उस शक्ति के द्वारा अपने सभी चारों ओर स्थित देवों को परिपुष्ट करता है। इस प्रकार सवितृ की इस 'सव' शक्ति के द्वारा प्रजापति ब्रह्मा इस सृष्टि का सृजन करता है।

युजे वां ब्रह्म पूर्यं नमोभिर्विबलौक्यस्तु पृथगेव सूरैः ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये चामाजि दिव्यानि तस्युः॥ ५

[अंगिरा और भृगु] हम दोनों सब से पहले [जनः लोको में] अपने ऋत की

अग्नि की ज्योति की तपस् की ऊर्जा के स्तर में जन्म हो कर झुकते हुए ब्रह्मा जी में योजित हों। उसके पश्चात् सूर्य के द्वारों के पथ में स्थित विशेष लोकों में जायें। हे अमृत के पुत्रों सारे देवताओं! जो तुम्हारे ये सारे लोक विशेष रूपों वाले बने हुए हैं, वे ही तुम्हारे चाम बन कर ठहरें। [आप हमारे ^(भृगु, अंगिरा के) मन, बुद्धि तथा प्राणों के इस आदेश को] सुनो।

जैसा पीछे गोपथ ब्राह्मण का कथन, "सर्वमाणैमयं भूतं सर्वं भृगवङ्गिरो मयम्" (गोपथ ब्राह्मण-१, ३५), बताया जा चुका है कि सारे भूत 'आपः' से युक्त हैं और सारे देव भृगु तथा अंगिरा से युक्त हैं।

तपः लौक्य में 'अ' की सत्याभा सत्य लौक्य से आकर पहले मन से युक्त होती है और फिर 'ची' से युक्त होती है। मन, बुद्धि तथा प्राणों से युक्त होकर वह तपस् की उत्पन्न करती है। पहले ऋत के और सत्य लौक्य के बनने पर और फिर सत्य लौक्य के चारों ओर ऋत के जलने से तपस् उत्पन्न हो जाती है। [ऋतं च सत्यं च

अभीच्छा तपसो डध्यजायत।] इसी तपस् के कारण क्षीरों के सप्त परावृत और अष्टा परावृत के रूप में 'अंगिरा', तथा 'भृगु' ग्रथित होते हैं। अंगिरा क्षीरों के सप्त परावृत के रूप में सर्वाधिक बड़ा ऋषि बनकर तपस् की धारण करता हुआ आगे के जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः लौक्यों में और सप्त पाताल लौक्यों में चल देता है और उन लौक्यों में स्थित देवताओं की अपनी तपस् प्रदान करता है। 'भृगु' अष्टा परावृत के रूप में अंगिरा के साथ जुड़ कर ऋत की ऊर्जा को छोड़ता हुआ चलता है। अष्टा परावृत का माप = $\frac{1}{3} \tau^4$, सप्त परावृत के माप = $\frac{16}{15} \tau^3$ से कम होता है। अतः भृगु अष्टा परावृत के रूप में बन कर तप करता हुआ $(\frac{16}{15} \tau^3 - \frac{1}{3} \tau^4 = 0.02\tau^3)$ के अन्तर की इकाई के माप के बराबर तपस् के रूप में ऋत की ऊर्जा छोड़ता हुआ चलता है। सप्त परावृत से अष्टा परावृत बनता हुआ और अष्टा परावृत से सप्त परावृत बनता हुआ तपस् के रूप में ऋत के तेज को छोड़ता हुआ और तपस् को अपने ऋत में धारण करता हुआ इन दोनों ऋषियों का युग्म सभी लौक्यों में अपनी इच्छा के अनुसार देवों की रचना तथा उनका निमज्जन करने के लिए निर्देश देता हुआ चल देता है। 'ऋषि' का अर्थ पहले बताया जा चुका है। जो रिस कर आगे चल देता है, वह 'ऋषि' कहलाता है। [यदरिषंस्तदृषयः], [रसनात् ऋषि], आदि इसकी व्युत्पत्ति हैं।

क्यों कि तपः लौक्य में सत्याभा सब से पहले मन से योजित होती है। अतः सर्व प्रथम अंगिरा और भृगु मन में इच्छा करते हैं कि हम दोनों जमन करते हुए ब्रह्मा जी के विशेष लौक्य जनः लौक्य में जाएं और दोनों उनके स्वरूप के साथ जुड़ जायें। 'आत्मा' का स्वरूप 'अनीश' है। अतः यह अपने मन की इच्छा से ही कार्य करता है। यह सप्त लौक्यों के गमन का पथ ही सूर्य का पथ कहलाता है। महर्षि व्यास ने पातञ्जल योग दर्शन के विभूति पाद के छब्बीसवें सूत्र, "भुवन ज्ञानं सूर्ये संग्रमात्", की व्याख्या करते हुए सातों लौक्यों के प्रस्तार और सप्त पाताल लौक्यों का सूर्य का पथ बताया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के देवों की रचना करने के लिए सवितृ को अपना रूप बदलने के लिए विभिन्न द्वारों से गुजरना होता है।

इसी कारण यहाँ इस मन्त्र में तपः लौक्य में स्थित भृगु और अंगिरा दोनों जनः लौक्य में जा कर ब्रह्मा जी के स्वरूप में जा कर जुड़ने की और उसके पञ्चात अन्य विशेष लौक्यों में लुप्त करते हुए जीने की अपने मन की इच्छा प्रकट करते हैं। इसी लिए यहाँ इस मन्त्र में, "युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः विश्लोक स्तु पथि स्व सूरैः ॥" कहा है। वां का अर्थ 'हम दोनों' (आवाम्) ऋग्वेद के मन्त्रों में स्थान-स्थान पर आता है। इस दोनों यहाँ भृगु और अंगिरा ही तपः लौक्य में स्थित हैं। जिनका भृगु जनः लौक्य में ब्रह्मा जी से मिलने जाता है। अ' की सत्प्रामा का वही भृगु तथा अंगिरा का स्वरूप विष्णु की जीम से कमलनाल बन कर तपः लोक से निकलता है और अष्टदल के कमल पुष्प पर जनः लोक में ब्रह्मा जी को चतुर्भुज रूप में उदित कर देता है। ब्रह्मा जी के चार रूप जनः लोक में ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्म काशिक, ब्रह्म महाकाशिक, अजर-अमर, बताये हैं। इन नामों से ही स्पष्ट है कि ब्रह्मा जी के ये स्वरूप ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। इस ब्रह्म के स्वरूप से ही यहाँ जनः लोक में आकर अंगिरा तथा भृगु दोनों मन, बुद्धि तथा प्राणों को लेकर ब्रह्म में जुड़ते हैं और ब्रह्म देवता ब्रह्मा जी की रचना करते हैं। सत्यं तपः तथा जनः लोक में तीनों लौक्य मिल कर ब्रह्मा जी के स्वरूप की रचना करते हैं, अतः इन तीनों लौक्यों को ब्रह्मलौक्य की संज्ञा दी जाती है। इसी कारण यहाँ व्यास ने निम्न श्लोक लिखा है —

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महानक्षः।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवितारा भुविभुजा ॥

अर्थात् "सत्यं, तपः, जनः" — इन तीनों लौक्यों की भूमि को ब्रह्म से उत्पन्न हुई ब्रह्मा की भूमि कहते हैं। उसके पञ्चात प्राजापति ब्रह्मा को महान स्व रूप प्रदान करने वाला महः लौक्य आता है। उसके पञ्चात महाराजा इन्द्र का स्वः लौक्य आता है। फिर भुवः के अन्तरिक्ष में तीरे आते हैं और भूः लौक्य पर सारी प्रजा आ जाती है। इस प्रकार ब्रह्मा जी प्राजापति बन कर सारी सृष्टि के रचयिता बन जाते हैं। ब्रह्मा जी तब जिन देवों की, ऋषियों की रचना होती है वे ब्रह्मलौक्यों की रचना होने के कारण ब्राह्मण या विप्र कहलाते हैं, क्योंकि ब्रह्म लौक्यों में स्थित होने के कारण ब्राह्मण और विशेष प्राणों के कारण करने वाले होने के कारण विप्र कहलाते हैं। यी, में बुद्धि, प्राण दोनों का समायोजन होता है।

ब्रह्मा जी के जनः लोक में स्थित क्षीरों के साथ अ' की सत्प्रामा के आने वाले क्षीर जिस प्रकार योजित होते हैं। इसके लिए मन्त्र में कहा है, "नमोभिः"। "युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः" — का स्पष्ट यह अर्थ दिखाई दे रहा है कि हम दोनों अंगिरा और भृगु अपने निम्न रूपों के द्वारा जनः लोक में पहले से ही स्थित ब्रह्म के क्षीरों के साथ जुड़ें। यह प्रक्रिया पहले ही समझा दी गई है कि जिस क्षीर के

केन्द्र में स्थित विष्णु (= अ) की सत्याभा की पराशक्ति अधिष्ठा होती है, उसीके चारों ओर कम शक्ति की पराशक्ति वाले क्षीर योजित होकर चिपकने लगते हैं। अतः जो क्षीर जनः लोका में पहले से ही (पूर्व) स्थित होते हैं, उन की पराशक्ति अधिष्ठा होती है और जो क्षीर अंगिरा तथा भृगु का रूप धारण करके तपः लोक से आते हैं, उनकी पराशक्ति कुछ कम हो जाती है। अतः दोनों के क्षीर जनः लोक में पहले से ही स्थित क्षीरों के साथ चिपक जाते हैं और ब्रह्मा जी के स्वरूप की रचना कर देते हैं। उसी पश्चात् ब्रह्मा जी की सत्याभा के तेज में समाहित ब्रह्मा जी के स्वरूप को लेकर वे क्षीरों के समूह में बने व्यूह सूर्य के पथ में अन्य लोकों - महः लोक, स्वः लोक, भुवः लोक तथा भूः लोक में जाते हैं। उसी पश्चात् उन लोकों में स्थित सभी देव, अपने नाद को सुनें। वे अपने निश्चित लोकों के निश्चित दिव्य चाम में ही ठहरे। कोई भी देव अपने चाम को छोड़ कर दूसरे देव के चाम में न जाये। वे अपने लोक के पथ पर ही अडिग रहें। भृगुगिरा के इस आदेश को सुनो। सरणात् सूरः - व्युत्पात्त के अनुसार इस सवितृ के स्वरूप को 'सूर' कहा है। सवितृ देव 'अ' की सत्याभा को ले कर सत्य लोक से चलता है और सभी लोकों में चलता हुआ भूः लोक तक पहुँचता है, उसी पश्चात् पाताल लोकों से भी पार होता हुआ अनन्त तक चला जाता है। इस चलने की सरण गीत (Lingam - motion) होने के कारण ही सवितृ को 'सूर' कहा है। उस 'सूर' के पथ में ही भृगु तथा अंगिरा जायें और उस पथ में पड़ने वाले प्रत्येक देव में अपने को जोड़ कर योजित करें। यह सवितृ पहले स्व अणु (Atom) में क्रियाशील होता है, फिर ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु में क्रियाशील हो कर सारे ब्रह्माण्ड में क्रियाशील होता है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" - यद्यपि इस सवितृ की 'सर्व' शक्ति की सरण गीत बेलिख ही बहा गया है। अर्थात् जैसे क्रिया ही कर स्व अणु का पिण्ड रचित होकर पुष्ट होता है, वैसे ही सारा ब्रह्माण्ड रचित होकर पुष्ट होता है। अतः इस ब्रह्माण्ड में भी भृगु, अंगिरा का वास पदार्थ के सभी अंशों में है और उनके साथ 'मन', 'बुद्धि', 'प्रणों' का भी वास है। लौकिक भाषा में 'सूर' - सूर्य को कहते हैं। क्योंकि सूर्य की तेजस्वी किरणें सूर्य के स्वरूप को लेकर चलती हुई ब्रह्माण्ड में गमन करती हैं। अतः उसे 'सूर' कहते हैं। ठीक यही दशा, अणु के भीतर नाभि में सातों लोकों में सवितृ के विचरण की है। अतः उसे यहाँ 'सूर' कहा है। इसे हम सवितृ देव के एक विशेष गुण को बताने वाला विशेषण के रूप में सांकेतिक नाम मान सकते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि आकाश में चमकने वाला 'सूर्य' पूर्ण रूप से 'सवितृ' देव के स्वरूप को प्रकट नहीं करता। अतः 'सवितृ' देव सूर्य से अलग स्व देव है। सूर्य में सवितृ देव की शक्ति स्थापित है, जिसके कारण वह तपस् कोड़ता हुआ आकाश में चमक रहा है। सवितृ देव का ब्रह्माण्ड की प्रत्येक रचना में वास है। सवितृ देव

सभी रचनाओं का सृजन, स्थापन, पोषण करता है। सवितृ का पोषण न मिलने पर प्रत्येक रचना स्वयमेव नष्ट होकर विनाश को प्राप्त हो जाती है। सवितृ देव मन, बुद्धि, प्राणों को चरण करने वाला देव है। गायत्री में सवितृ देव की स्तुति प्रकट होती है। सवितृ की 'सर्व' शक्ति को ही लेकर 'गायत्री' देवी चलती है और अपनी ऊर्जा से प्रत्येक देव को प्राणित करती है।

सवितृ की प्रथम संक्रिया (Function) - मन का उत्पन्न होना है। 'मन' के उत्पन्न होने की प्रक्रिया को अगले मन्त्र में बताया गया है।

अग्निर्यत्राभिमन्यते, वायुर्यत्राधिरुच्यते।

सौमो यत्रातिरिच्यते, तत्र सञ्जायते मनः ॥ (6)

अग्नि का जहाँ अभिमन्यन होता है, वायु का जहाँ अधिरोधन होता है, सौम का जहाँ अतिरेचन होता है, 'मन' वहाँ उत्पन्न होता है।

इस मन्त्र में 'मन' के उत्पन्न होने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ बताई हैं। उपर्युक्त परिस्थितियों उत्पन्न होने पर मन स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। मन जड़ है। अतः यह उत्पन्न होता रहता है और मिटता रहता है। परन्तु अपने सत्ता काल में यह ऋतु में विशेष संकल्प उदित करके नई रचनाओं को जन्म अवश्य दे देता है और उन रचनाओं को बुद्धि के अन्दर अमिट छाप छोड़ देता है। विभिन्न प्रकार के संकल्पों की छाप को बाँध कर अपने स्वरूप की रचना करने वाली शक्ति को ही बुद्धि कहा जाता है। "बद्धनात् बुद्धिः" - इसी अर्थ को बताता है।

इस मन्त्र का अर्थ पीछे भी बताया जा चुका है।

'अग्नि' का अर्थ यहाँ पर लव्हादियों के जलने से उत्पन्न होने वाली साधारण आग नहीं है। 'अग्नि' का अर्थ यहाँ पर सृष्टि में वर्णित ऋतु की बनी वह सृष्टिज अग्नि है जो सृजन के समष्टि रूप को प्रकट करती है। जो सृष्टि के अन्दर रचित प्रत्येक पुर में स्थापित हो कर उस पुर को अपने पदार्थ के द्रव्य से बनाती है। जो उस पुर में चलने वाले प्रत्येक क्रिया कलाप के प्रस को चलाती है। 'पुर' का अर्थ यहाँ पर सृष्टि में बना वह छोटे से छोटा रजकण (धूलि का कण) है जिसमें पदार्थ की मात्रा निहित है। [mass particle]। प्रत्येक बड़ा अर्थ पिण्ड भी 'पुर' (block of matter) कहलाता है। उस अर्थ पिण्ड में 'अग्नि' का स्वरूप पालित 'अंश', 'वृत्तपृष्ठ' तीनों रूपों में विद्यमान रहता है। पालित 'ऊर्जा' के रूप में है। [Invisible part of the Line spectra of the nucleus of Hydrogen atom]

[यह हाइड्रोजन के अणु की नाभि की रचना करने वाला ऋत से उत्पन्न हुआ] प्रथम भाग "ऋत्विज" है। ऋत से उत्पन्न करने का सृष्टि सृजन का जो ब्रह्म में यज्ञ चल रहा है उस यज्ञ का यह 'ऋत्विज' भाग है। उसके पश्चात् इस 'ऋत्विज' के द्वारा विशेष इष्ट स्वरूप को बुला कर विशेष प्रकार की ऊर्जा के स्तर को भक्षण करने वाला भाग 'अश्न' बनता है। 'अश्न' में ऋत्विज ऊर्जा तथा उस ऊर्जा का भक्षण करके बना मौलिक अर्थों का स्वरूप और उन मौलिक अर्थों को रवा कर बना गजकणों का स्वरूप होता है। इसे 'होतारम्' कहा जाता है। यज्ञ को करने वाला 'सुहस्त गौधुक्' ऋषि इस अश्न भाग को अपनी इच्छा के अनुसार रूप को चारण करने वाला बना कर बुला सकता है। 'सुहस्तः गौधुक्' यहाँ वह कुशल कारीगर है जो यज्ञ की प्रक्रिया में अपने हाथ की विद्या को इतना साध कर कार्य करता है कि उससे कोई भी कार्य गलत नहीं होता। 'गौ' यहाँ पर अणु की नाभि में बनने वाले मौलिक अर्थों के अर्थपिण्ड हैं। उन्हीं अर्थपिण्डों के दोहन से यज्ञ करने वाला ऋषि कामधेनु की प्रक्रिया में अपने इष्ट अणुओं की रचना करके अभीष्ट पदार्थों और रत्नों को उस कामधेनु से प्राप्त कर लेता है।

[Transmutation process by the semi-visible part of the line spectra of the nucleus of hydrogen atom.] यह 'अश्न' भाग ही आगे के 'वृतपृष्ठ' की रचना करता है। जैसा 'वृतपृष्ठ' होगा, वैसे ही तत्त्व का अणु बन जायेगा। वैसे ही पदार्थ या रत्न बन जायेगा। इस प्रकार यह 'अग्नि', 'होतारम् रत्नधातमम्' - भी है। अर्थात् बुलाने योग्य तथा रत्नों का रूप चारण करने वाली है। बुलाने योग्य का अर्थ है कि हम यज्ञ के द्वारा जिस रूप में अग्नि को बुलाना चाहें बुला सकते हैं और उससे जो जिस प्रकार का पदार्थ या रत्न प्राप्त करना चाहें, उसी प्रकार के अणुओं (Atoms) की रचना करके उसे प्राप्त कर सकते हैं। 'यज्ञ'-यत्न करने को कहते हैं। अतः सृष्टि सृजन के यज्ञ में, पालित, अश्न, वृतपृष्ठ के अन्दर होने वाले इस अभिमन्थन को 'अग्नि का अभिमन्थन' कहा जाता है। इस अभिमन्थन में पालित का अभिमन्थन विष्णु (= अ) के अवतरण से प्रारम्भ होता है। सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की कामना के उदित होने के साथ ही 'अ' का अवतरण हो जाता है और उस 'अ' में मन उत्पन्न हो जाता है। वह 'अ' अपने मन की इच्छानुसार आगे रचना करता है।

वहीं से 'सवितृ' के द्वारा अग्नि के अभिमन्थन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।
सवितृ की इस प्रक्रिया को और "सुहस्तः गोऽधुक्" के इस व्यंज को
ऋग्वेद में इस मन्त्र में बताया है - सविता देव ही यहाँ पर "सुहस्तः गोऽधुक्" है।

उप ह्वये सुदुधां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगत दौहदेनाम् ।

श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नो ऽभीच्छो धर्मस्तदुषु प्रवोचम् ॥

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ इस प्रकार बनेते हैं - (ऋग्वेद-1, 164, 26)

उप ह्वये = बुलाता हूँ । सुऽदुधाम् = सहज से दुही जाने वाली को ।
धेनुम् रुताम् = इस गौ को । अर्थात् यज्ञ की इस कामधेनु के
दौहन की प्रक्रिया में उस उचित अणु (Atom) के अर्धपिण्ड की गौ को
चुना जाता है, जिस में सुगमता से दौहन करके उस अणु के अर्ध को
अभीष्ट अणु के पिण्ड में बदला जा सके । अर्थात् जिस में सुगमता से
तत्त्वान्तरण हो सके ।

सुऽहस्तः गोधुक् = अच्छे कुशल हाथों वाला गौ को दौहने

वाला । [Expert Nuclear Technician] । उत = और ।

दौहत् रुताम् = इस चुने हुए अणु के अर्धपिण्ड की गौ को दूधे ।

श्रेष्ठम् सवम् = सबसे अच्छी पोषण करने वाली 'सव' शक्ति को ।

सविता = सवितृ देव ने । साविषत् = अपने आवेश की शक्ति
को आवेशित करने के लिए प्रेरित किया है । नः = 'न' कण
(Neutron) में उस आवेश को प्रवेश कराया है, तथा 'न' कण के साथ
उस सवितृ के आवेश को इस चुने हुए अणु के अर्धपिण्ड की गौ में प्रवेश
कराया है । (साविषत् नः) ।

नः अभिऽइच्छः = इस आवेश से चारों ओर से बिड़ 'न' कण (Neutron) ।

धर्मः = बहुत गर्मी से तपता है । अर्थात् जब 'न' कणों की बीछार रूप
अणु की नाभि पर की जाती है तो उसमें से बहुत गर्मी निकलती है ।

तत् ऊम् सु प्र वोचम् = उस बहुत तपत की गर्मी की रुद्र की
ऊर्जा (ऊम्) के विषय में, मैं (ऋषि) सुव्यवस्थित रूप से प्रयत्न
पूर्वक कहता हूँ । (अर्थात् आगे के मन्त्रों में बताया है) ।

इस प्रकार सवितृ देव द्वारा अग्नि का अभिमन्त्रण किया जाता है और एक अणु की नाभि में दूसरे प्रकार के अणु की नाभि का पदार्थ उत्पन्न करने का 'मन' उत्पन्न किया जाता है। जिससे वह अणु स्वयंमेव ही दूसरे प्रकार के अणु में बदल जाता है और हमें अपने अभीष्ट पदार्थ का रत्न प्राप्त हो जाता है। इसी लिये इस मन्त्र में, "अग्निर्यत्राभिमन्त्र्यते", कहा है।

"वायुर्ग्रामाधिरुध्यते" - वायु का जहाँ अधिरोधन होता है / ऊर्जा के स्तर को 'वय' कहा जाता है। जैसे कि बचपन की वय, जवानी की वय, बुढ़ापे की वय। ये सब शरीर की विभिन्न अवस्थाओं के ऊर्जा के स्तर को बताने वाले व्यंजन हैं। यह ऊर्जा के स्तर का अन्तर ऊर्जा में बहाव उत्पन्न कर देता है। उस बहाव के वेग की ऊर्जा को 'वायु' कहा जाता है। इसी बहाव के वेग में वायु अपने ऊर्जा के बल से अर्ध-पिण्डों को उड़ा कर ले जाता है। इस बहाव के वेग में रुकावट डाल कर अवरोध उत्पन्न करने को 'अधिरोधन' कहा जाता है। इस अधिरोधन से भी अणु की नाभि में चलने वाले रजकणों (Nucleons) का अभिमन्त्रण कर के अभीष्ट प्रकार के 'न' कणों का सृजन करने का 'मन' उस चुने हुए अणु की नाभि के अर्धपिण्ड की गोँ में उत्पन्न किया जाता है। इससे वह अणु अपने आप अभीष्ट अणु में बदल जाता है। यही यहाँ पर वायु का अधिरोधन है, जिससे अणु की नाभि में दूसरे रूप में बदलने का 'मन' उत्पन्न किया जाता है और वह अणु दूसरे रूप में बदल जाता है। इस वायु के अधिरोधन से अणु का Atomic Mass बदल जाता है। H_1 से H_2 या H_3 बन जाते हैं। इस अधिरोधन से अणु की नाभि में 'न' कण रुक जाते हैं, जिससे उनकी नाभि की पदार्थ की मात्रा बढ़ जाती है और अणु अपना रूप बदल लेता है, जिससे वह दूसरे प्रकार से कार्य करने लग जाता है। उसमें अन्य व्यापे करने का मन उत्पन्न हो जाता है।

"सौमो यत्रातिरिच्यते" - जहाँ सौम का अतिरेचन होता है / अतिरेचन का अर्थ अधिकता से बाहर निकलना है। प्रत्येक अणु की नाभि से उद्भास की ऊर्जा (Radiation of energy) तो निरन्तर बाहर निकलती रहती है। इसी से अणु की नाभि का जीवन सक्रिय रहता है। परन्तु कभी-कभी उस अणु की नाभि में से पदार्थ के द्रव्य की मात्रा अधिकता से बाहर निकल जाती है। α, β, γ कणों का Radiation इसी प्रकार के सौम का अतिरेचन कहलाता है। इनके एकदम बाहर निकलने से अणु की नाभि का रूप ही बदल जाता है।

वह अणु रुक् तत्त्व के अणु से दूसरे तत्त्व के अणु में बदल जाता है। उस अणु में दूसरे प्रकार के अणु की तरह कार्य करने का मन उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण सौम के अतिरिचन से अणु में मन की उत्पत्ति बताई है।

“अग्नि यौमात्मकम् जगत्” (बृहज्जाबालोपनिषद्-२,४) में ‘सौम’ और ‘अग्नि’ से युक्त हो कर ही जगत् की उत्पत्ति बताई है। अतः ‘सौम’ का अर्थ यहाँ पदार्थ की वह मात्रा है जिसे अणु अपनी नाभि के अन्दर ‘अन्न’ के रूप में रखा कर समाहित रखता है। इसी सौम में से ऊर्जा के निष्काल कर सौमरस के रूप में सभी देवता तथा विप्र नाभि के ग्रन्थ के अन्दर उसका पान करते हैं और अपने अन्दर उससे ऊर्जा का संचार करते हैं। इसी कारण वेद में यज्ञों की प्रक्रिया में सौमरस के पान का अधिष्ठाता से वर्णन आता है। अतः ‘सौम के अतिरिचन’ का अर्थ यहाँ पर अणु की नाभि में से उसके पदार्थ की ऊर्जा का तथा पदार्थ की मात्रा का सौम बन कर अधिष्ठाता से बाहर निकल जाना है, जिससे उस पदार्थ के अणु का स्वरूप और कार्य ही बदल जाते हैं। रुक् तत्त्व का अणु बदल कर दूसरे तत्त्व का अणु बन जाता है और उसमें नये प्रकार से कार्य करने का ‘मन’ उत्पन्न हो जाता है।

जैसा इस अध्याय के प्रथम मन्त्र, “युञ्जानः प्रथमम् मनस्तत्त्वाग्र सीविता धियः” में बताया जा चुका है कि सर्व प्रथम मन और बुद्धि का योग जब सगुण-ब्रह्म के मूल तत्त्व ‘असद्’ में हो जाता है तो सवितृ देव का स्वरूप सत्ता में आ जाता है। ऋतुकी अग्नि (Agni) में वही अपनी ज्योति प्रसारित कर के स्थूलतम पृथिवी तत्व के सभी महाभूतों (आकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी) के रजकणों से (Nucleus से) बने अणुओं तथा परमाणुओं को सत्ता में लाकर सभी महाभूतों का भरण पोषण करता है।

जब मन में उदित संकल्प सवितृ की तेजोमय ईशान रश्मियों में आबद्ध हो कर ‘क’ कणों की दशमौलिक अर्थों की गिरियों में त्रित के द्वारा स्थायीरूप से स्थित हो जाते हैं तो उसे ‘बुद्धि’ कहते हैं। इन्हीं ‘क’ कणों के संग्रोजन से, “जिन में यह आबन्धन का प्रभाव सर्वाधिक होता है और उनमें चिन्तन मनन की प्रक्रिया करने की सामर्थ्य आ जाती है” - मस्तिष्क की रचना होती है। इसी कारण मस्तिष्क के कौ प्राण सर्वाधिक संवेदनशील (sensitive) होते हैं। ईशान रश्मियों के आबद्धित उसी स्वरूप में चिन्तन-मनन का सूक्ष्म कार्य होता है। इसी कारण यहाँ “बद्धनात् बुद्धि”, कहा है। अतः ‘बुद्धि’ तो मन के बाद की स्थिति है। पहले मन उत्पन्न होगा - तभी उस में संकल्प उदित हो कर ईशान रश्मियों में ‘पुरुष’ में बद्ध होगा। तभी बुद्धि की रचना दशमौलिक अर्थों में बद्ध हो कर उन संकल्पों द्वारा होगी। इस कारण इस बुद्धि के मूल कारण ‘मन’ की उत्पत्ति पर इस मन्त्र में विचार लिया गया है।

जब निर्गुण, निराकार, अनन्त, सर्वव्यापी ब्रह्म में किसी बिन्दु पर कोई संकल्प

उदित होकर, उस बिन्दु पर रुक आवर्त उत्पन्न करके रुक सीमित और परिमित आग्राम के आकार में संक्रिया (function) उत्पन्न कर देता है तो उस आवर्त में उस संकल्प द्वारा स्थापित संक्रिया की शक्ति को 'मन' कहते हैं। "मिणानात् मनः" की व्युत्पत्ति इसी भाव को प्रकट करती है। मन की संक्रिया आग्राम को सीमित परिमिति में बाँधकर माप देती है। जब यह 'मन' अपनी सत्ता समाप्त करके मिट जाता है तो वह सीमित आग्राम में जवी प्रत्युत्पन्न करने वाला आवर्त भी मिट जाता है। इसी कारण योगी कैवल्य की स्थिति प्राप्त करने के लिए तथा अपनी परायौनि से मुक्त होने के लिए इस 'मन' को मिटाने का प्रयास और अभ्यास करते हैं। यही 'योग' है। मन के मिटने से सगुण ब्रह्म का स्वरूप परायौनि का आवर्त - जो जीवात्मा को बाँध कर रखता है - वह मिट जाता है। आत्मा का 'आत्म-तत्त्व' उस आवर्त से मुक्त होकर पुनः उस निर्गुण ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार वह आवर्त पुनः शान्त हो कर पहले जैसा निर्गुण - निराकार अनन्त सर्वव्यापी ब्रह्म जैसा रूप ही बन जाता है।

इसी मन को धारण करके निर्गुण सद-ब्रह्म ही असद् ब्रह्म बन कर सगुण ब्रह्म बनता है और रुक क्षीर के केन्द्र में पराशक्ति से युक्त 'प्राङ्' के रूप में विष्णु भगवान का अवतरण कराता है। सब से प्रथम जब निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की रचना होती है, तो क्षीर के केन्द्र में बने प्राङ् बिन्दु को 'विष्णु' कहा जाता है। उसके पश्चात् जब उस मन के साथ बुद्धि का भी योग हो जाता है तो उस विष्णु की सत्याभा के प्रसारण से मन, बुद्धि तथा प्राणों से युक्त सवितृ देव की रचना हो जाती है। यही सवितृ देव उस रचना को आवर्धित करके पूर्ण रूप प्रदान करता है। इस प्रकार निर्गुण, निराकार, अनन्त ब्रह्म में रचना होने का मूल कारण 'मन' की उत्पत्ति होना है। यह मन उत्पन्न होकर ही अपनी शक्ति से सभी रचनाएँ करता है और प्रकृति को जन्म देता है। मन के प्रयत्न से जब कोई प्रकृति अपना रूप धारण कर लेती है तो वही 'प्रकृति' कहलाती है। अन्यथा वह मूलतत्त्व के रूप में स्थित 'ब्रह्म' ही है। यह मन स्वयं जड़ है। चित्ति शक्ति उस अव्यक्त ब्रह्म में ही होती है - जो मन को धारण करके व्यक्त रूप प्रकृति का धारण करता है। व्यक्त तथा अव्यक्त रूप उस सगुण ब्रह्म की प्रकृति के ही दोनों रूप हैं। इस मन्त्र में इस महत्त्वपूर्ण 'मन' की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है कि रुक जीव में यह मन कैसे उत्पन्न होता है। यही मन जीवन भर उस जीव को अपने नियन्त्रण में रख कर अपनी इच्छानुसार उस से कार्य कराता हुआ उसे नाँच नचाता रहता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सत्य लोक के पश्चात् तपः लोक में मन, बुद्धि तथा विशेष प्राणों से युक्त होकर रुक विप्र आंग के लोकों के उसी प्रकार के विप्रों के साथ नमन करके जुड़ता हुआ यह सवितृ अपनी ज्योति को बृहद् स्वरूप प्रदान करता हुआ चला जाता है। इस प्रकार अणु की जाति में रुक लोक में स्थित अवयव विशेष प्राणों को धारण करता हुआ विप्र बन कर अपने परवर्ती लोक में स्थित अवयव के विप्र के साथ जुड़ कर आवर्धन के स्वरूप को प्राप्त करता है और सातों लोकों तथा सातों पाताल लोकों में अणु के अन्दर प्राणों के सञ्चार की रुक शृंखला बन जाती है। यही प्राणों के सञ्चार की शृंखला उस पूरे अणु की जीवात्मा बन कर मृत के आवर्त की ऊर्जा को बढा कर जीवात्मा के स्वरूप में कार्य करने लग जाती है। इस प्रकार रुक अणु (Atom) में भी 'जीव' आ जाता है, क्योंकि उस अणु में भी जीवन की गतिशीलता विद्यमान हो जाती है। उसके अवयव गति को प्राप्त करते हैं।

सातों लोकों को ऋतु की तरंग के रूप में एक सूत्र में बाँधने वाली प्राणों की इस श्रृंखला को ही 'अश्व' कहा जाता है जो सातों लोकों का वहन करता है। एक विप्र से दूसरा विप्र जुड़ कर ही इस 'अश्व' की रचना करता है। मन्त्र है -

सप्त मुञ्जान्ति रथमेकं चक्रमेकं अश्वो वहति सप्त नाम ।

त्रिनाभि चक्रं मुजरमन्त्रं यत्रैमा विश्वा भुवना धितस्थुः ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 2)

अर्थात् सात लोक आपस में जुड़ जाते हैं और एक चक्र के रूप में एक रथ की रचना कर देते हैं। यह चक्र रथ की तरह चलता है। इस एक चक्र के रथ को ऋतु का बना एक अश्व जिसका नाम 'सप्त' है वह वहन करता है। इसी रथ के एक चक्र को नाभि में तीन चक्र बने हुए हैं, जो कभी भी क्षीण नहीं होते और किसी के आश्रय से रहित हैं। इसी एक चक्र में सारे भुवन आधार बना कर ठहरे हुए हैं। अर्थात् इसी एक चक्र में, (अणु की नाभि के एक चक्र में), ये सभी भुवन स्थित हैं। सभी भुवन चौदह हैं। नाभि के इन तीन चक्रों को पीछे के मन्त्र में तीन माता बता कर उनके नाम पीलित, अश्व, शृतपृष्ठ बताये हैं।

इस प्रकार सातों लोकों को प्रणित करने वाली एक अश्व की प्राणों की एक श्रृंखला बन जाती है जो सभी चौदह लोकों को जीवन प्रदान करती है।

इस प्रकार सवितृ अणु (Atom) के रूप में एक इकाई के अर्धपिण्ड की रचना करता हुआ अपनी सब शक्ति को धारण करे हुए उस अणु से बाहर भी निकलता है तथा बाहर निकल कर उस एक अणु के साथ अन्य अणुओं को बाँध कर एक यौग (Molecule) का 'इलेक्ट्रॉन' (Electrons) के द्वारा बड़ा अर्धपिण्ड भी बनाता है। इसी प्रकार यौगों से बाहर निकल कर एक बारीर के अर्धपिण्ड की रचना कर देता है और फिर उस में सत्यमहाभास्वर स्वरूप के द्वारा जीवात्मा का प्रवेश करा देता है। [तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तैत्तिरीयोपनिषद्-2, 6, 1)]। इस प्रकार उस जीव में उसका अपना मन उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रक्रिया को और आगे बढ़ाते हुए जीवों के प्रसव में इसे अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। जीवों के प्रसव द्वारा जब बच्चे का जन्म हो जाता है तो माता और पिता से अलग बिल्कुल स्वतन्त्र एक नये मन का बच्चे के अन्दर जन्म हो जाता है।

बच्चे के रूप में नये मन के उत्पन्न होने को भी यह मन्त्र इस प्रकार बता रहा है -

अग्निर्गर्भाभिः सृज्यते - माता के गर्भ में पिता के रेत के तेज द्वारा जहाँ अग्नि का अभिमन्थन होता है। माता के 'रज' को भी 'अग्नि' कहा जाता है। शुक्र, रज के मेल से अग्नि का अभिमन्थन होता है और उसमें बच्चे के मन का जन्म होता है।

वायुर्गर्भाधिरुच्यते - "प्राण, समान, अपान, उदान, व्यान", इन पाँचों प्रकार की प्राण-वायु का माता के गर्भ में बच्चे के लिये अधिरोधन होता है।

माता के अन्दर इन पाँचों प्रकार की प्राणवायु का निरन्तर सञ्चरण होता रहता है। जब माता के गर्भ में बच्चा स्थापित हो जाता है तो इन पाँचों प्राणों का गर्भ में अधिष्ठाता से रोधन हो कर बच्चे के शरीर की पुष्टि प्रारम्भ हो जाती है। उसमें भी ये पाँचों प्राण रुक कर अपना कार्य करने लग जाते हैं और उसमें जीवित्व उत्पन्न करने वाला जीव आ जाता है। इस प्रकार उस बच्चे में वायु के प्राण के रूप में अधिरोधन से स्वतन्त्र मन उत्पन्न हो जाता है।

सौमो यत्रातिरिच्यते - अग्नि के अभिमन्थन और प्राणों की वायु के अधिरोधन के साथ-साथ शरीर को पुष्ट करने के लिए भोजन के रूप में भोजन प्राप्ति की भी अत्यधिक आवश्यकता होती है। उसी से शरीर की वृद्धि होती है तथा शरीर जीवित रहता है। यह भोजन माता के गर्भ में रज के सौम के अतिरेचन से प्राप्त होता रहता है। गर्भ में जाल के द्वारा माता उस सौम का अतिरेचन करती है और बच्चे का भ्रूण उस सौम का पान करता है। यही प्रक्रिया बच्चे के गर्भ से बाहर आने पर कुछ समय तक माता के स्तनों द्वारा चलती है। माता के स्तनों द्वारा दूध के रूप में सौम का अतिरेचन होता है और बच्चा भ्रूण के द्वारा उस सौम के दूध का पान करता है। सौम का अर्थ यहाँ पुष्ट करने वाला भोज्य पदार्थ है। इस प्रकार यहाँ भी सौम के अतिरेचन से बच्चे का पोषण होकर बच्चे के रूप में एक स्वतन्त्र मन उत्पन्न हो जाता है। [तत्र सञ्जायते मनः ।]

माता के गर्भ में जो प्रक्रिया चलती है, वही प्रक्रिया अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) के गर्भ में चलती है। अणु की नाभि में एक लोकर में स्थित दैव के अवयव से दूसरे लोकर में स्थित दैव के अवयव की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक नये दैव के अवयव में उसके अपने मन की उत्पत्ति होती है। नये उत्पन्न होने वाले प्रत्येक दैव का मन एक स्वतन्त्र इकाई होता है। अणु (Atom) की नाभि के अवयवों के सम्बन्ध में इस मन्त्र का अर्थ पहले बताया जा चुका है।

अग्निर्ग्रामिमध्यते = 'अ', 'क', 'न' का सीवतृ के द्वारा इरित हो कर जहाँ पर अभिमन्थन होता है।

वायुर्ग्रामिधिरुच्यते = वातावरण में वायु के अतिरोधन से जिस प्रकार वातचक्र का एक आवर्त (चक्र) बन जाता है और उसमें अतिरिक्त ऊर्जा आकर एक क्रियाशील रूप बन जाता है - इसी प्रकार अणु की नाभि में भी सीवतृ की 'सव' शक्ति के 'वम' के स्तरों के कारण (अर्थात् ऊर्जा की शक्ति के स्तरों के कारण = Due to gradation of intensity of level of energy of SAVITA) जो प्राण, समान, अपान, उदान, ब्रह्म - इन पाँच वायुओं का अधिरोधन होता है और उनके कारण प्रत्यावर्त की उत्पत्ति होकर, उसके ऊपर सप्त लोको

का सृजन होता है तथा स्वयं लौक्य के देव के आवर्त से उत्तरोत्तर लौक्यों के देवों के आवर्त की रचना होती चली जाती है। इस प्रकार प्रत्येक देव का स्वतन्त्र मन उत्पन्न होता चला जाता है। ये सभी शक्तिशाली सवितृ की 'सव' शक्ति के ही आधीन कार्य करती हैं।

सौम्यत्रातिरिच्यते = अणु में सवितृ की 'सव' शक्ति के प्रभाव से जब 'अ' का सत्त्वाभा प्रसारण के द्वारा आवर्धन होकर बृहद् रूप बनता है तो उस बृहद् रूप में नये-नये देवों की नये-नये लौक्य में रचना करने के लिए भोज्य तत्व की सौम्य के रूप में आवश्यकता होती है। [अग्नि सौमात्मक जगत् ।] अतः 'अ' के ऊपर स्थित सातों लौक्यों में आवरण के रूप में स्थित देवताओं के पोषण के लिए वातावरण ही से जहाँ समुगल ब्रह्म रूपी सौम्य का क्षीरों के रूप में अतिरेचन हो रहा है —

तत्र सञ्जायते मनः = वहीं अणु की नाभि के अन्दर स्वतन्त्र देव की रचना होकर उसमें स्वतन्त्र इच्छा का 'मन' उत्पन्न हो जाता है। अणु की नाभि के सभी लौक्यों में स्थित सभी देवों के मन में सवितृ अपनी बृहद् ज्योति का प्रकाश करता हुआ 'ब्रह्म' वायु की शक्ति के द्वारा सातों लौक्यों के देवों के मन को एक सूत्र में बाँधता हुआ पूरे अणु का एक मन बना देता है। इसी प्रकार जब किसी बड़े शरीर के अणुओं का मन ब्रह्म वायु द्वारा एक सूत्र में बँध जाता है तो वह उस बड़े शरीर का एक मन बन जाता है। इसी कारण मन के चिन्तन का प्रभाव शरीर के प्रत्येक अणु पर और प्रत्येक अणु के प्रत्येक परमाणु (Nucleus) पर बहुत ही अधिक तीव्र गति से पड़ता है। जहाँ जो मन में सोचा, वहीं तुरन्त शरीर का प्रत्येक अणु, प्रत्येक परमाणु मन के उस आदेश को मानने के लिए क्रियाशील हो जाता है। यहाँ तक कि सीते-सीते स्वप्न में भी चिन्तन के कारण आदमी रोने, खबराने, हँसने, भागने आदि की क्रिया करने लग जाता है।

इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़े सभी प्रकार के शरीरों के अर्थापिण्डों में अग्नि के अभिसन्धन, वायु के अधिरोधन और सौम्य के अतिरेचन से मन उत्पन्न हो जाता है। यही सवितृ की 'प्रसव' करने की विधि है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्यम् ।

तत्र यौनिम् कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ (7)

सवितृ के प्रसव के द्वारा ब्रह्मा जी के पूर्व की स्थिति वाले (तपः लौक्य तथा सत्य लौक्य में स्थित) ब्रह्म से जुड़ें। सवितृ के प्रसव द्वारा पूर्व की स्थिति वाले असद-ब्रह्म से जुड़ने पर उस स्थिति में तुम अपने मन की इच्छित यौनि में बदलने में समर्थ हो जाओगे। वहाँ तुम अपने लिए अभीष्ट यौनि की रचना कर लेंगे। अन्यथा यदि सवितृ के प्रसव द्वारा ब्रह्मा के बाद वाली स्थिति से महः लौक्य में या उससे बाद वाले लौक्य में जुड़ोगे तो आप अपने को ब्रह्मा जी द्वारा नियन्त्रित विधि के लौक्य के पूर्वजर्मों की यौनि में प्रक्षेपित कर दोगे। आप सृष्टि में जगत् के रचीयता ब्रह्मा जी के द्वारा आप को अपने कर्मनुसार प्रदत्त यौनि का भोग करना पड़ेगा। आप उन्हीं

शैविनीयों में रहते हुए अपनी कामनाओं की पूर्ति करने वाले जर्मों में लगे रहेंगे।
ज्यों कि आप ने पहले ही ब्रह्मा जी द्वारा प्रदत्त शैविनीयों को चारण कर लिया है।
यही 'चारण शरीर' तृतीय देह को चारण करने की प्रक्रिया है। उस तृतीय
देह का भेदन करने के लिए शैविनीयों को अपने मन को दबध करके हुए
ब्रह्मा जी से पूर्व की अवस्था वाले ब्रह्म की अवस्था से जुड़ने का प्रयास
अपनी योग प्रक्रियाओं के द्वारा करना होता है। तभी वह अपनी शैविनीयों
के बदलने के चक्र से मुक्त हो कर तृतीय देह को छोड़ कर मोक्ष को
प्राप्त कर पाता है। यही इस योग प्रक्रिया का गहन रहस्य है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूज्यम् = जैसा पहले बताया जा चुका
है, 'ब्रह्म' शब्द यहाँ जनः लोक के देव 'ब्रह्मा' के लिए है। उसी के
नाम के लिए अगले 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उस ब्रह्म
से पूर्व की रचना तपः लोक में 'अंगिरा', 'भृगु' की होती है तथा सत्य
लोक में स्थित 'विष्णु' की होती है। अतः शैविनीयों को तप करके अपनी
आत्मा के स्वरूप को निष्काम बना कर अंगिरा, भृगु के साथ
जुड़ते हुए अन्त में विष्णु के शान्ताकार स्वरूप के साथ जोड़ना
पड़ता है। जब शैविनीय का मन पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है तो उस
की आत्मा भी शान्ताकार बन कर विष्णु की समान शैविनीय वाली
बन कर विष्णु में समाहित हो जाती है और काश्म शरीर से
मुक्त हो जाती है। यह अवस्था चर्ममैद्य समाधि में स्थित होने
पर सिद्ध होती है। निर्बीज समाधि की सिद्धि होने पर तो जनः
लोक में स्थित ब्रह्मा जी के स्वरूप से शैविनीय की आत्मा जुड़ती है।
परन्तु चर्ममैद्य समाधि के सिद्ध होने पर ब्रह्मा जी के पूर्व की शैविनीय
से अर्थात् विष्णु जी की शैविनीय से शैविनीय की आत्मा जुड़ जाती है।
वहीं उसे मोक्ष प्राप्त होता है। अपर गुण के द्वारा वह विष्णु का
प्राङ् रूप भी धीरे-धीरे सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाता है।
इस प्रकार चर्ममैद्य समाधि के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति हो कर
सद्-ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति शैविनीय की आत्मा को हो जाती है।
यही शैविनीय का इस ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करने का लक्ष्य होता है।

चर्ममैद्य समाधि की सिद्धि की अवस्था में शैविनीय अपने अहम् के
संस्कार को भी दबध करके विष्णु के (अ) कै प्राङ् रूप में समाहित हो जाता है।
परन्तु निर्बीज समाधि में 'अहम्' का संस्कार बना रहता है। उस अहम् के संस्कार
के कारण उस शैविनीय की आत्म स्वरूप में ब्रह्मा जी की तपः लोक में स्थिति सुदृढ़

रूप से बनी रहती है। जिस कारण सत्यं, तपः, जनः इन तीनों ब्रह्म लोको के द्वारा अर्णवों का ग्रथित स्वरूप बना रहता है। इन अर्णवों के ग्रथित स्वरूप द्वारा ही अर्णवसमुद्र में द्यौ के अन्दर जीवात्मा का दिव्य कारण शरीर बना रहता है जिस में 'मन', बुद्धि, प्राणों का समावेश सूक्ष्म रूप में बना रहता है। अतः निर्बीज समाधि के द्वारा तो जीवात्मा कारण शरीर में स्थापित होती है और अपने 'अहम्' के स्वरूप को बनाये रखती है। परन्तु धर्म भैष्य समाधि में स्थित होने पर वह 'अहम्' का संस्कार भी मिट जाता है और जीवात्मा का स्वरूप जनः लोक से हट कर सत्यलोक में आ जाता है। उस समय जीवात्मा अपने सत्य स्वरूप में क्षीरों के असद्-ब्रह्म के स्वरूप में स्थापित हो जाती है। उस समय जीवात्मा के क्षीरों की सारी शक्ति क्षीरों में स्थित विष्णु के स्वरूप प्राङ् रूप में समाहित हो जाती है। उस समय योगी की जीवात्मा का स्वरूप असद्-ब्रह्म के स्वरूप में बदल कर असद्-ब्रह्म के स्वरूप से सद्-ब्रह्म में बदलने की प्रक्रिया अपर गुरा द्वारा प्रारम्भ स्वयमेव अपनी इच्छा से प्रारम्भ कर देता है। उसमें उदित काम स्वयमेव भस्म हो कर सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाता है। ["देवानां पूर्वमे युगे ऽसतः सदजायत" (ऋग्वेद-1, 72, 2)]

["असद् वा इदम् अग्रा आसीत् ततो वै सदजायत ।" (तैत्तिरीयोपनिषद्-2, 7)]

इस प्रकार वह जीवात्मा अपने पराग्रैणि में स्थित कारण शरीर के तृतीय देह के बन्धन से मुक्त हो कर पूर्ण मोक्ष को प्राप्त हो जाती है।

परन्तु यदि ब्रह्मा के जनः लोक के पश्चात् रचे गये लोकों में से किसी एक लोक के देवनिष्ठाओं के साथ योगी की जीवात्मा जुड़ती है तो उन देवों के मन और बुद्धि में जो-जो भावों के संकल्प बद्ध हैं, उन्हीं के अनुसार रचित ग्रैणि के द्वितीय देह के सूक्ष्म शरीर में वह योगी की जीवात्मा बद्ध हो जाती है। उससे पश्चात् उसी के अनुरूप स्थूल शरीर की प्रथम प्रकार की देह को वह प्राप्त कर लेती है और उसका पुनर्जन्म हो जाता है। इस प्रकार वह बार-बार के जीवन-मरण के चक्र में उस अनुष्य की जीवात्मा कैसी रह जाती है। गीता में इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त है-

प्रम-यम् वापि स्मरन्भावम् त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तम्-तमेवेति कौन्तेय सदा तद् भाव भावितः ॥ (गीता-8-6)

अर्थात् जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ अपने मन के संकल्पों के साथ प्राणी इस शरीर को अन्त समय में मृत्यु के समय त्यागता है, उस प्राणी की जीवात्मा उसी भाव से भावित हो कर आगे की स्थिति को प्राप्त करने के लिए जाती है। अर्थात् जिस मन में भाव होगा, उसी के अनुसार या तो मोक्ष को प्राप्त करेगी अथवा किसी भी मनोबुल्ल ग्रैणि का चयन करके उस ग्रैणि के शरीर में पुनर्जन्म को कारण करेगी। इस प्रकार वह जन्म-जन्मान्तरो तक जीवन-मरण के चक्र में कैसी रहेगी। यही कृष्ण का अर्जुन को उपदेश है।

किसी ग्रैणि के शरीर को धारण करके उसकी जीवात्मा पूर्तकर्मों को करने के लिए प्रक्षेपित हो जायेगी। पूर्तकर्म उन्हें कहते हैं, जिन्हें व्यक्ति अपनी कामनाओं

की पूर्ति के लिए करता है। जैसे कि चर्मार्थ जुआँ बनवाना, चर्मशाला बनवाना, आदि-आदि।
ब्रह्मा के द्वारा पञ्चमहाभूतों की रचना होती है। यदि योगी ब्रह्मा के पूर्व की स्थिति के साथ अपनी जीवात्मा को जोड़ देता है तो उसे भूतजगत् की अलौकिक सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है। इससे वह योगी बाह्य प्रकृति को नियन्त्रित करने में समर्थ हो जाता है। इसी को गायत्री की सिद्धि अथवा सवितृ देव की सिद्धि कहा जाता है। विश्वामित्र मुनि ने इसी सवितृ की गायत्री देवी की सिद्धि प्राप्त करके उस गायत्री के बल पर समानान्तर सृष्टि की रचना का प्रयास किया था। इसी सवितृ के अन्दर 'मन' का प्रसव होता है। अतः सवितृ में ही मन का सारा बल छिपा रहता है, जो नाना प्रकार के संकल्पों को चारण करके - नाना प्रकार के भूतों की रचना में प्रकृति में करता है। इसी मन की शक्ति पर विजय पाने के लिए योगी जन योगसाधना करते हैं। इसी मन की विजय से मोक्ष प्राप्त होता है। इसी मोक्ष को प्राप्त करके प्राणी जीवन-मरण के आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

अब इस शक्तिशाली मन पर विजय प्राप्त करने के लिए किस प्रकार योग साधना करनी चाहिए? किस प्रकार समाधि की सिद्धि प्राप्त करने का अभ्यास करने के लिए कैसे आसन लगा कर बैठना चाहिए? किस प्रकार के उचित वातावरण को और स्थान को समाधि लगाने के लिए चुनना चाहिए? इन सभी प्रश्नों के उत्तर आगे के मन्त्रों में दिये गये हैं।

पहले इस मन्त्र में समाधि में लीज होने के लिए आसन लगा कर बैठने की विधि बताई गई है—

त्रिसन्नतम् स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।

ब्रह्मोऽप्येन प्रतरेत विद्वाज स्रोतांसि सर्वाणि भगवद्वाणि ॥ ८

त्रिसन्नतम् स्थाप्य समं शरीरं = तीनों को उन्नत अवस्था में स्थापित करके शरीर को सम अवस्था में पहले योगी बनाये।

ये तीन क्या-क्या हैं? अब तब पीछे के मन्त्रों में जो तीन की गिनती गिनाई है वह (1) त्रिवृतम्, (2) भौक्ता, भोग्यम्, प्रेरितारम्, (3) कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर (तृतीय देह भेद), (4) सत्यलोक, तपःलोक, जनःलोक, इन तीन ब्रह्मलोकों का देव निवास, (5) मन, बुद्धि, प्राण, (6) जो इसी मन्त्र में बताये जा रहे हैं - हृदय, इन्द्रियाँ, मन। हृदय में चित्त की वृत्तियाँ समाहित हैं, इन्द्रियाँ - कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, मन सभी की मूल भूमि है। (7) सद्-ब्रह्म, असद्-ब्रह्म, कारण शरीर, (8) ब्रह्म, जीव, प्रकृति। (9) ध्यान, चारणा, समाधि ॥ (10) ध्यान लगाने की मुद्रा के आसन में बैठते समय शरीर के अंगों में शिर, ग्रीवा, वक्षस्थल, - ये तीन अंग।
(1) त्रिवृतम् उन्नतम् स्थाप्य समं शरीरं = अणु की नाभि में 'पलित', 'अश्न',

धृतपृष्ठ के जो तीन वृत्त तीन नाभिचक्रों के नाम से बताये हैं, उन तीनों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीनों को सत्यमहामास्वरा, सवितृ के स्वरूप द्वारा उन्नत अवस्था में स्थापित करके शरीर के प्रत्येक अणु को सवितृ की 'सब' शक्ति द्वारा पुष्ट करते हुए शरीर को साम्य अवस्था में लाना चाहिये। सत्यमहामास्वरा सत्याभा के द्वारा सत्यलोक के विष्णु का संज्ञासंज्ञनः का गुण अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है। जिस के कारण साध्य को पतित, अज्ञ, धृतपृष्ठ में होने वाली संक्रियाओं को अनुभूति सुगमता से हो जाती है। उसी शरीर में मन के अन्दर उदित संकल्पों का जिस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इसकी अनुभूति उसे होने लग जाती है। जब पतित, अज्ञ, धृतपृष्ठ इन तीनों वृत्तों में उन्नत अवस्था में स्थापित होने पर तारतम्यता स्थापित होगी, तभी समाधि की सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। तारतम्यता बिगड़ने पर शरीर में व्याधिओं का क्लेश उत्पन्न हो जाता है।

(2) भौक्ता, भोग्यम्, प्रेरितारम् त्रिसन्नतम् स्थाप्य समं शरीरं = भौक्ता भोग करने वाला प्राणी है, भोग्यम् प्रकृति में उपलब्ध पदार्थ है तथा इन दोनों को भौक्ता और भोग्यम् बनने के लिए प्रेरणा देने वाला उन में बैठा पुरुष विशेष का ईश्वर है जो दोनों को अपने विशेष रूप में स्थित रहने के लिए निग्रन्त्रित करता हुआ प्रेरित कर रहा है। ये तीनों इस शरीर में ही विद्यमान हैं। इन तीनों को उन्नत अवस्था में स्थापित करके शरीर को साम्य अवस्था में लाना चाहिये। शरीर में मन, बुद्धि, प्राण हैं जो सुख दुःख की अनुभूति करते हुए भोग्य पदार्थों का इन्द्रियों द्वारा भोग करते हैं। अतः मन, बुद्धि, प्राण, ये विप्रबन्ध कर भौक्ता बनते हैं। मन, बुद्धि, प्राण, जिन अर्धपिण्डों के कणों को अपने आवेश से आवेशित करके अभीष्ट फल की प्राप्ति करते हैं, वे अर्धपिण्ड 'भोग्यम्' बनते हैं। इन दोनों को निग्रन्त्रित करने वाला तथा उन्हें अपने कार्यों के प्रति चलाने वाला पुरुष विशेष है जो दोनों में बैठा है, वह प्रेरितारम् है। तीनों जब शरीर में उन्नत अवस्था में स्थापित होंगे तो शरीर साम्य अवस्था को प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार शरीर को सम अवस्था में स्थापित करके योगी योगसाधना करे। यही भोजन आदि की शुद्धता से होता है।

(3) कारणशरीरं, सूक्ष्मशरीरं, स्थूलशरीरं त्रिसन्नतं स्थाप्य समं शरीरं = योगी के समस्त स्वरूप में उसका स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर, ये तीनों शरीर होते हैं जो तीनों प्रकार के बन्धनों के द्वारा योगी की जीवात्मा को इन तीनों शरीरों के साथ अलग-अलग विधि से बाँध कर रखते हैं। [त्रिविधो बन्धः' सूत्र द्वारा ये ही तीन प्रकार के बन्ध जीवात्मा के लिए बताये हैं।] योगी के अपने शरीर में ही ये तीनों शरीर स्थापित होते हैं। स्थूल शरीर तो सभी को दिखाई देता है जो चलता है, घूमता है, बोलता है, अनेकों क्रिया करता है। सूक्ष्म शरीर अणु के अज्ञ भागों के वायुन द्वारा D.N.A. के रूप में बना होता है। एक बहुत ही सूक्ष्म D.N.A. में स्थूल शरीर का सारा स्वरूप समाहित होता है। वही हमारा सूक्ष्म शरीर है। उस सूक्ष्म शरीर में भी सवितृ की सत्यमहामास्वरा सत्याभा का प्रवाह होता है जो उसमें मन, बुद्धि, प्राण, तथा इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप में समाभोजन करता है। तीसरा शरीर कारणशरीर होता है जो अणुओं के 'पतित' भागों द्वारा घों में प्रीयत होता है। इसकी रचना क्षीरसागर के क्षीरों द्वारा तथा अणुवसमुद्र के अणुओं द्वारा होती है। यह D.N.A. में स्थित सूक्ष्म शरीर की रचना का कारण बनता है। अतः

2 (५५२)
इसको कारण शरीर कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर द्वारा स्थूल शरीर बनता है। अतः स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों की रचना का कारण होने के कारण इस प्रारम्भिक रचना के शरीर को कारण शरीर कहा जाता है।

इन तीनों शरीरों को उन्नत कैसे बनाया जाये? स्थूल शरीर को उन्नत बनाने के लिए शुद्ध, पौष्टिक तथा सात्विक खान पान, स्वच्छ, निर्मल वातावरण और उचित प्रकार का व्यायाम, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, शुद्ध आचार व्यवहार, ब्रह्मचर्य का पालन आदि स्वास्थ्य के बढ़ाने वाले निग्रहों का पालन करना आवश्यक है। इससे स्थूल शरीर बलिष्ठ होता चला जायेगा। स्थूल शरीर में ही सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का निवास होता है। अतः जो आधार भूमि के रूप में कार्य करता है, उस स्थूल शरीर को उन्नत बनाना सर्व प्रथम आवश्यक होता है। उससे पश्चात् ही सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर को उन्नत बनाया जाता है।

सूक्ष्म शरीर की रचना अणु के अइन भागों से आवकाश महाभूत में होती है। अतः उनका नियन्त्रण पुरुष के हाथ में होता है। पुरुष का दशांगुल स्वरूप दशमौलिकार्थों की रचना करता हुआ 'अइन' भाग में 'पलित' और 'अइन' का ग्रन्थन करता है। उसी से सूक्ष्म शरीर का ग्रन्थन होता है। इस ग्रन्थन में मन के अन्दर उदित संकल्पों का 'अहम्' के संस्कार के साथ ग्रन्थन होता है। उसी के अनुसार अणुओं के जैसे त्रित द्वारा मौलिक अर्थों में मन, बुद्धि, प्राणों तथा सूक्ष्म इन्द्रियों का ग्रन्थन होता है। उसी से सूक्ष्म शरीर बन जाता है। अतः इस सूक्ष्म शरीर को उन्नत बनाने के लिए मन को सात्विक गुणों की वृत्तियों में स्थापित करना होता है। बुद्धि के अन्दर शुद्ध ब्रह्म का चिन्तन मनन करना होता है तथा जगत् के मिथ्या स्वरूप को समझ कर ब्रह्म के सत्य स्वरूप में लगावा होता है। प्राणों पर नियन्त्रण करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना होता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने के लिए इन्द्रियों को विषयों से दूर रखना होता है। कर्मेन्द्रियों को शुभ कर्मों की और प्रेरित करना होता है तथा ज्ञानेन्द्रियों को शुद्ध ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति में लगावा होता है। कारण शरीर की रचना क्षीरों तथा अणुओं के ग्रन्थन से होती है। इनके ग्रन्थन का कारण 'अहम्' का संस्कार होता है जो सत्पलोक में निहित विष्णु में स्थित होता है, जो अपनी सत्प्रभा का प्रसारण इस 'अहम्' के संस्कार के कारण करता रहता है। उसी सत्प्रभा में उदित संकल्पों के कारण सत्पलोक, तपः लोक तथा जनः लोक सब इकाई में बंध कर सब 'अणु' की रचना करते हैं। ऐसे अणुओं से ही अनन्त अणुसमुद्र बनता है। उस अनन्त अणुसमुद्र में सब सीमित आकाश के क्षेत्र में अणुओं के ग्रन्थन से कारण शरीर बनता है। इस कारण शरीर को उन्नत बनाने के लिए निर्बीज सनाथि की सिद्धि को प्राप्त करना होता है। जब केवल 'अहम्' का संस्कार शेष रह जाता है तथा चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो कर मन निर्बीज हो जाता है, उस समय 'कारण शरीर' न उन्नत अवस्था में स्थापित हो जाता है। उसमें अपना बल आ जाता है।

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर इन तीनों को उन्नत अवस्था में स्थापित करके अपने पूर्ण शरीर को सम-अवस्था में स्थापित करे। सम अवस्था वह अवस्था है जब इन तीनों अंगों में पूर्ण तारतम्यता की सुव्यवस्था स्थापित हो।

(4) सत्यलोक, तपःलोक, जनःलोक त्रिसुन्नतम् स्थाप्य समं शरीरं = सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, इन तीनों शरीरों की रचना का कारण अर्णु की रचना में छिपा होता है। अर्णु की रचना सत्यलोक, तपःलोक, जनःलोक, इन तीन ब्रह्मलोकों के ग्रासन से होती है। सत्यलोक से सत्प्रभा पूर्ण शक्ति से बाहर निकले, तपःलोक में भृगु तथा अग्निरा का ग्रासन पूर्ण ऊर्जा को धारण करे, जनःलोक में ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्म-आधिपत्य, ब्रह्ममहाआधिपत्य और अजर-अमर ब्रह्मा के चतुर्मुखी रूपों द्वारा अवर क्षेत्र की रचना पूरी अपरा शक्ति को धारण करने वाली बने। तभी ये तीनों लोक स्वयं अर्णु में उन्नत अवस्था में स्थापित कहलायेंगे। इन सभी के ग्रासन में क्लेश उत्पन्न करने वाले मन में उदित होने वाले विभिन्न प्रकार के संकल्प तथा चित्त की वृत्तियाँ होती हैं। इन चित्त की वृत्तियों के नियन्त्रण तथा मन के नियन्त्रण से ये तीनों लोक सत्यलोक, तपःलोक तथा जनःलोक, उन्नत अवस्था में स्थापित हो जाते हैं। चर्ममेष समीप की सिद्धि होने पर 'अहम्' का संस्कार मिटने पर ये तीनों लोक अपनी पूर्ण ऊर्जा को धारण करने वाले बन कर उन्नत अवस्था में स्थापित हो जाते हैं। इनसे शरीर सम बन जायें।

(5) मन, बुद्धि, प्राणों को, इन तीनों को उन्नत अवस्था में स्थापित करके शरीर को सम अवस्था का बनाये। मन जितना ज्ञान होगा, उतना ही उन्नत होगा। मन को शान्ति चित्त की वृत्तियों का निरोध करने पर आत्मसन्तुष्टि से प्राप्त होती है। बुद्धि की तीव्रता सवितृ की सवन शक्ति द्वारा प्राप्त होती है। यह भी मन के उन्नत होने पर सत्यलोक को सत्प्रभा के तीव्रतर स्फुरण से प्राप्त हो जाती है। बुद्धि की तीव्रता ही बुद्धि को उन्नत अवस्था है। प्राणों को उन्नत अवस्था प्राणों की ऊर्जा बढ़ने से प्राप्त होती है। प्राणों की ऊर्जा प्राणायाम द्वारा बढ़ जाती है। मन, बुद्धि, प्राणों के उन्नत होने पर शरीर स्वयमेव साक्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

(6) हृदय, इन्द्रियाँ, मन - इन तीनों के ग्रासन को उन्नत अवस्था में बनाने के लिए मन की शक्ति के द्वारा इन्द्रियों के सूक्ष्म रूप को हृदय के अन्दर स्थित चित्त की वृत्तियों में सम्मिलित प्रकार से निवेश किया जाता है। पहले मन पर नियन्त्रण किया जाता है। इन्द्रियों की लगाम मन के हाथ में होती है। मन नियन्त्रित होने पर इन्द्रियाँ स्वयमेव अपने विषयों की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति से नियन्त्रित हो जाती हैं। योगी अपनी सभी इन्द्रियों को उनके विषय अपने हृदय में ही उपलब्ध करा देता है। अतः सभी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होने के स्थान पर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। योगी की इन्द्रियाँ अपने विषयों को पकड़ने के लिए योगी के शरीर से बाहर की वस्तुओं को और भागने के स्थान पर उसके हृदय में ही संनिविष्ट हो जाती हैं। वहाँ पर वे अपने सभी विषयों को प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रकार वे अपने अन्तःकरण का ज्ञान प्राप्ता करती हुई ब्रह्म की अनुभूति का ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं और उस योगी का शरीर सम-अवस्था को प्राप्त कर लेता है। योगी अपनी समीप की स्थिति को प्राप्ता कर लेता है।

⑦ सद्-ब्रह्म, असद्-ब्रह्म, कारण शरीर, इन तीनों के उन्नत अवस्था में स्थापित करके शरीर को सम अवस्था का बनाया जाये। सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा उत्पन्न होने से कारण उत्पन्न होता है। [Ang Bang इसी को कहा जाता है।] इस कारण से सद्-ब्रह्म असंख्य भागों में बंट कर बहु रूपों में बदल जाता है। कारण के स्वयं अवग्रव को क्षीर कहा जाता है। क्षीर के केन्द्र में पराशीवर्त (Mugh intensity) को चारण किये हुए 'अ' का अवतरण होता है। उस 'अ' में शुद्ध रूप से सद्-ब्रह्म का निवास होता है। अतः उसे 'अ-सद्' ब्रह्म कहा जाता है। उस असद् ब्रह्म के क्षीरों से अर्णवों का ग्रन्थन होता है। सत्य लौक, तपः लौक, जनः लौक के ग्रन्थन से रूप 'अर्णु' बन जाता है। अर्णवों से अर्णव समुद्र बन जाता है। इस अर्णव-समुद्र के रूप सीमित आयम में अर्णवों का पञ्चावर्त बन कर पाँच प्राणों की रचना कर देता है, जिससे मन, बुद्धि, प्राणों को चारण करने वाला कारण शरीर बन जाता है। अतः मन, बुद्धि, प्राणों पर निग्रन्त्रण प्राप्त करने पर कारण शरीर उन्नत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कारण शरीर उन्नत होने पर अर्णव समुद्र का उस पञ्चावर्त में स्थित प्रत्येक अर्णु उन्नत अवस्था में स्थित हो जाता है। जिससे अपर गुण द्वारा वह असद्-ब्रह्म सद्-ब्रह्म में बदलने लग जाता है। इस प्रकार सद्-ब्रह्म से असद् ब्रह्म, असद् ब्रह्म से कारण शरीर, कारण शरीर से पुनः सद्-ब्रह्म में बदलने का चक्र उन्नत अवस्था में चल पड़ता है। इस प्रकार समाधि में लीज उस योगी का शरीर सम-अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उसके शरीर का पौषण स्वयमेव ब्रह्म से होने लग जाता है। अतः समाधि की अवस्था में वह हजारों वर्षों तक उसी सम-अवस्था में अपने शरीर के अन्दर स्थित रह पाता है।

⑧ ब्रह्म, जीव, प्रकृति, इन तीनों को उन्नत अवस्था के सामञ्जस्य के रूप में स्थापित करके शरीर को सम-अवस्था में लाया जाता है। प्रकृति के पञ्चमहाभूतों से शरीर जड़ रूप में बना है। उसमें चेतना जीव के प्रवेश के कारण आती है। उस जीवात्मा का दिव्य स्वरूप ही में स्थित पञ्चावर्त से बना होता है जो विशेष 'पुरुष' का स्वरूप होता है। इस विशेष पुरुष जीवात्मा की रचना असद् ब्रह्म से होती है जो सद्-ब्रह्म में कारण प्रक्रिया उत्पन्न होने से बनता है। इस प्रकार सबका मूल रूप सद्-ब्रह्म ही बनता है। अतः उस सद्-ब्रह्म की अनुभूति के लिए योगी को अपने शरीर में इन तीनों के सामञ्जस्य को उन्नत-अवस्था में बनाना होता है। इन तीनों के मध्य सामञ्जस्य की अनुभूति का ज्ञान प्राप्त करने में स्वावट 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश' - ये पाँच ब्लैक डालते हैं। इन पञ्च ब्लैकों पर निग्रन्त्रण पा कर योगी अपने शरीर को सम-अवस्था में स्थापित करने में समर्थ हो जाता है।

⑨ च्यान, चारणा, समाधि, इन तीनों को उन्नत अवस्था में स्थापित करके योगी अपने शरीर को सम-अवस्था में स्थापित कर देता है। तीनों के रूप में होने पर योगी अपने शरीर पर पूर्ण संयम प्राप्त कर लेता है। वही योगी के शरीर की सम अवस्था है।

इस प्रक्रिया को महीष पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में निम्न प्रकार लिखा है -

धारणासु च योग्यता मनसः । (२, ५३) = धारणाओं में मन की क्षमता होती है।

स्वविषया सम्प्रयोगे चित्स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । (२, ५४)

इन्द्रियों के अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेना 'प्रत्याहार' है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । (२, ५५) = उस 'प्रत्याहार' से इन्द्रियों की प्रबल वशवर्तिता होती है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (३, १) = चित्त की सात्विक वृत्ति को किसी बाहरी या भीतरी प्रदेश में लगा कर स्थापित करना 'धारणा' है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । (३, २) = उस विषय में ज्ञान की एकतानता ही 'ध्यान' है।

तदेवार्थसात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । (३, ३) = ध्येय अर्धमात्र को ही निर्भाषित करने वाला, अपने ज्ञानात्मक रूप से भी रहित - सा ध्यान ही, 'समाधि' है।

अथ संयमः । (३, ४) एक ध्येय विषय के तीनों (ध्यान, धारणा, समाधि) 'संयम' कहे जाते हैं।

तज्जयात् प्रज्ञा लोकः । (३, ५) उस 'संयम' की जीतने से योगी को 'प्रज्ञा' का प्रकाश (आलोक) होता है।

रस्य भूमिषु विनिर्गोः । (३, ६) = उस संयम की प्रज्ञा का योगसाधना की सिद्धियों की उत्तरोत्तर भूमियों में विनिर्गो (= प्रयोग) करना चाहिए।

यस्य अन्तरंगम् पूर्वभ्यः । (३, ७) = पहले वाले (यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार) पाँचों अंगों की अपेक्षा (ध्यान, धारणा, समाधि) ये तीनों अंग संप्रज्ञात समाधि के लिए अन्तरंग माने जाते हैं।

इस प्रकार समाधि में लीन इन तीन अन्तरंगों द्वारा योगी का शरीर सम-अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उस योगी के शरीर में ब्रह्म, जीवत्मा, प्रकृति में एकतानता स्थापित हो जाती है।

⑩ ध्यान लगाने की मुद्रा में आसन लगाते समय शिर, ग्रीवा, वक्षस्थल इन तीनों शरीर के अंगों को उन्नत अवस्था में सीधे तान कर रखना चाहिए और शरीर को सम-अवस्था (आराम की अवस्था) में बनाना चाहिए। इस मुद्रा में बैठने से साधक तन्द्रा से रहित हो जाता है और ध्येय विषय का निरन्तर चिन्तन

चलता रहता है।

हृदीन्द्रियाण मनसा संनिवेद्य = इन ऊपर बताये गये सभी त्रिकों के द्वारा शरीर की सम-अवस्था, "मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में संनिविष्ट करके," प्राप्त की जाती है। मन के अन्दर इन्द्रियों को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य होती है। उस सामर्थ्य के बल से इन्द्रियों को अपने विषयों को ग्रहण करने के लिए शरीर से बाहर के पदार्थों की ओर भागने के स्थान पर अन्तर्मुखी बनाया जाता है। उनके भागने की दिशा को बदल कर हृदय में स्थित चित्त की वृत्तियों की ओर उन्मुख किया जाता है। वहाँ हृदय में सत्तोगुणी चित्त की वृत्तियों के विषयों को उन इन्द्रियों को पान कर कर तृप्त किया जाता है। इस प्रकार, नित्यतृप्त और निराश्रय बन कर वह योगी समाधि के अन्दर केवल निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति करता हुआ उसका साक्षी बनता है। वह योगी नित्य तृप्त और निराश्रय बन कर समाधि के अन्दर निष्काम भाव से स्थापित हो कर कार्य करने में अभिप्रवृत्त होते हुए भी कोई कार्य नहीं करता और निर्गुण निराकार सद्-ब्रह्म में उसका चित्त पूर्ण रूप से लीन हो जाता है। उस समय उसकी चर्ममेव समाधि सिद्ध हो जाती है।

ब्रह्मोऽप्येन प्रतरेत विद्वान स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि। =

चर्ममेव समाधि के सिद्ध होने पर वह प्रज्ञावान विद्वान पूर्णरूप से अपने अहम् के संस्कार को मिटा कर ब्रह्म के सद्-स्वरूप में निमग्न हो जाता है। उस ब्रह्म में पूर्ण रूप से निमग्न होने की प्रक्रिया के द्वारा वह प्रज्ञावान विद्वान उन सारे भयावह स्रोतों को नियन्त्रित करके उन से तर कर पार हो जाता है जो स्रोत उस की जीवात्मा को अपने पाशों के बन्धनों में बाँध कर उस सद्-ब्रह्म से अलग किये हुए हैं और असद् ब्रह्म के अन्दर उसकी जीवात्मा का द्यौ में पञ्चावर्त बनाये हुए हैं। ये अर्णव समुद्र के अर्णवजल में बने वाले वे पाँच स्रोत हैं जो पञ्चावर्त की पाँच आवर्तों की उग और वक्र योजनाएँ बना देते हैं और पञ्च बोध की बुद्धि की आदिमूल की पञ्च प्राणीमियों बना देते हैं। ये ही पाँच आवर्त पाँच दुःखों के समूह सवितृ के ऋतु के वेग के लिए बने हैं। इन्हीं के पचास भेदों को और पाँचों पर्वों को आविद्या के रूप में हम पढ़ते हैं। यह ब्रह्म पीछे (मन्त्र-१, ५ में) बता दिया गया है। मन्त्र है— पञ्चस्रोतोऽम्बु पञ्चयोन्युग्रवज्रां पञ्चप्राणीमि पञ्चबुद्ध्यादिमूलान्। पञ्चावर्ता पञ्चदुःखौघवेगाम् पञ्चाशद्भेदाम् पञ्चपर्वमधीनः॥ (१, ५)

पञ्चारेचक्र में अर्णु के अन्दर कारण शरीर की रचना करते समय जोस प्रत्यरों के रूप में जो मे भयावह स्रोत बनते हैं, उनकी उभारव्या सींचित्र पीछे इस मन्त्र की व्याख्या करते समय कर दी गई है। इन भयावह वक्र और उग्र ग्रीतो के विषय में वहाँ समझें। कारण शरीर की रचना करने वाले अर्णवों में क्षीरों के बने मे पाँच-पाँच स्रोतों के पुञ्ज स्वाभाविक अविद्या, कामना और कर्मों द्वारा प्रवर्तित होते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि को सिद्ध करके प्रज्ञावान विद्वान भोगी, प्रेत आदि तिर्यक रूप उन्धव ग्रीनियों को प्राप्त कराने वाले पुनरावृत्ति के हेतु भूत इन भयावह स्रोतों को पार कर लेता है।

जो भयावह स्रोत आत्मा को अपने जाल में बँध कर पञ्चावर्त में फँसाकर उस पञ्चावर्त के ऊपर बने सप्तलोकों के कारण शरीर में फँसाये रखते हैं और जीवन-मरण के निरन्तर चलने वाले चक्र में घुमाते रहते हैं, उनका प्रतरण करना अर्थात् पार करने के लिए काबू करना, जीवन-मरण के चक्र से छूट कर ब्रह्म में मिलने के लिए मोक्ष प्राप्त करने के लिए एक कीठन समस्या होती है। अतः "ब्रह्मोडुपेन" कह कर इस समस्या का हल बताया गया है। अर्थात् जब साध्यक ध्यान, धारणा और समाधि के द्वारा पूर्ण रूप से ब्रह्म में निमग्न हो जायेगा तो इन भयावह स्रोतों का प्रभाव उस पर नहीं पड़ पायेगा। वह इन के प्रभाव से मुक्त हो कर ग्रीनियों के चक्र से छूट कर मोक्ष प्राप्त कर लेगा और अपनी आत्मा का विलय सद् ब्रह्म में स्वयमेव कर लेगा। इस प्रकार इस समस्या का निराकरण हो जायेगा।

ब्रह्म में उदित मन के संकल्पों की रचनाओं को ब्रह्म की चित्त शक्तियों के द्वारा ही नियन्त्रित करने का विशेष प्रभावी और सफल तथा सुगम तरीका है। अतः उनके साथ जोर-जबरदस्ती का हठयोग का तरीका न अपना कर, ब्रह्म की त्रिमात्मिक विधि का प्राकृतिक और सरल उपाय अपनाना ही उचित है। इसी लिए त्रित्त की वृत्तियों का निरोध करते हुए सभी इन्द्रियों के मन के द्वारा हृदय में संनिवेश करके निर्बीज समाधि में स्थित होकर ही उन भयावह स्रोतों को ब्रह्म में पूर्ण रूप से निमग्न होकर प्रवर्तित करना ही एक सफल और प्राकृतिक सुगम उपाय है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई भोगी साध्यक सम्प्रज्ञात समाधि को सिद्ध करके प्रज्ञावान विद्वान नहीं बनता है और इस 'ब्रह्मोडुपेन' साधन का सहारा नहीं लेता है तथा हठयोग द्वारा जोर जबरदस्ती की त्रिमाओं को अपनी चेत्यों द्वारा संयुक्त होकर भोग साधना करने के लिए अपने प्राणों को प्रयत्न पूर्वक पीड़ित करता है तो उसका क्या परिणाम होता है? इसे अगले मन्त्र में बताया गया है।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्त चैष्टः क्षीणे प्राणे नासिका मोह्य वसीत ।

दुष्टाश्च युक्तमिव वाहमेनम् विद्वान मनो चारयेत् । प्रमत्तः ॥ १ ॥

यदि कोई साधक हठयोग की ज़ोर-जबरदस्ती वाली योग की क्रियाओं में संयुक्त चैष्ट होता है और प्रयत्न पूर्वक अपने प्राणों को प्रपीड़ित करता है तो उसके प्राण क्षीण हो कर नासिका के रास्ते बाहर निकल जाते हैं। (प्राणों के बल प्राप्त करने के स्थान पर उल्टे प्राण क्षीण हो कर नासिका से बाहर निकलने पर उस साधक की मृत्यु हो जाती है। क्योंकि कि क्षीण प्राण बाहर निकलने पर वापिस नहीं आते। बलयुक्त प्राण ही बाहर निकलने पर वापिस बल के साथ शरीर में अन्दर आते हैं। प्राणायाम के द्वारा प्राणों का बल बढ़ाया जाता है, न कि उन्हें क्षीण बनाकर दुर्बल बनाते हुए मृत्यु का वरण किया जाता है।) परन्तु सम्प्रज्ञात समाधि को सिद्ध करने वाला प्रबोधान विद्वान और अप्रमत्त साधक इन प्राणों के वाहन मन को दुष्ट अश्व की भाँति नियन्त्रित करता हुआ चारण करता है।

अर्थात् प्राणों को चलाने वाला वाहन कारणरूप में मन है। मन जब बिगड़ कर दुष्ट अश्व की भाँति इधर-उधर भागता है तो प्राणों की गति भी नियन्त्रण से बाहर हो कर अपनी विधि से चलती है। अतः इस विद्या को जानने वाला विद्वान पहले अप्रमत्त हो कर समाधि में लीन हो कर ब्रह्म में निमग्न होता हुआ अपने मन को नियन्त्रित करता है। मन के नियन्त्रित होते ही प्राणों की गति भी स्वयमेव अपने आप नियन्त्रित हो जाती है। उसके लिये उसे अलग से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रकार प्राणायाम की प्रक्रिया स्वयमेव सिद्ध हो कर उसके प्राणों का बल स्वयमेव बढ़ जाता है और वह योगी साधक दीर्घायु का उपभोग सुखपूर्वक करने वाला बन जाता है।

यदि कोई साधक योग के विषय में पहले इस विद्या का अध्ययन नहीं करता है और विद्वान बने बिना ही योग साधना करने की चेष्टा में संयुक्त हो जाता है और प्राणायाम आदि की क्रियायें ज़ोर-जबरदस्ती के साथ करने लग जाता है। वह प्राणायाम करते समय बलपूर्वक अपने प्राणों को अन्दर अधिक देर तक रोक्के और प्रपीड़ित करता है। श्वास छोड़ने पर बलपूर्वक काफी देर तक श्वास नहीं लेता, श्वास लेने पर काफी देर तक उसे बलपूर्वक फेफड़ों में ही रोक्के रक्ता है, उसे छोड़ता नहीं है, तो ऐसा करने पर धीरे-धीरे उसके फेफड़े कमजोर और खराब हो जाते हैं और उसके प्राण (श्वास प्रक्रिया) क्षीण हो जाते हैं। उसकी श्वास प्रक्रिया दुर्बल हो जाती है। क्योंकि कि वह और्ध्वदे के विज्ञान के विरुद्ध कार्य करता है। और्ध्वदे का विज्ञान बताता है कि जितनी अधिक वायु नई और स्वच्छ फेफड़ों में प्रवेश करके निश्चित समय में अधिक से अधिक फेफड़ों के सम्पर्क में आती है, उतनी ही अधिक ऑक्सीजन रक्त को प्राप्त हो जाती है और उतनी ही अधिक रक्त से कार्बन डाइऑक्साइड बाहर निकल कर रक्त की उतनी ही अधिक

टूट-फूट भी लग्न होती है। इसके विपरीत अधिक मात्रा में प्राण वायु उपलब्ध होने से फेफड़ों की उस टूट-फूट का मरम्मत का कार्य अधिक हो जाता है। इससे फेफड़े अधिक बलवान बन जाते हैं। शरीर का ओज बढ़ कर व्यक्ति और बलवान बन जाते हैं। मन शान्त होकर ब्रह्म में लीन रहता है। इस प्रकार प्राणाभ्यास द्वारा योगी साधक मोक्ष की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

मन काबू में होने पर संकल्प-विकल्प काबू में हो जाते हैं। जो संकल्प श्वास प्रक्रिया का कारण है, उस संकल्प का अभ्यास द्वारा निरोध करके समाधि लगाने का प्रयास करता है, तो श्वास अपने आप रुक जाता है या फिर शान्त गति से सम-भाव से चलता है। यदि मन के पूर्ण रूप से निर्बीज होने के कारण रक्त व्यर्थों में क्षरण की विनाश प्रक्रिया पूर्ण रूप से रुक जाती है तो उस रक्त में टूट फूट न होने के कारण कार्बन के मृत व्यर्थों का गन्ध उत्पन्न नहीं हो पाता। अतः उस गन्ध को बाहर निकालने के लिए श्वसन की दहन प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः प्राणों की प्रक्रिया स्वयमेव कुछ पीड़ा या होनि पहुँचाये बिना ही रुक जाती है। यदि मन के अचेतन रूप में कुछ गतिशीलता बनी रहती है तो उससे रक्त में कम क्षरण की प्रक्रिया होती है अतः टूट फूट भी उस रक्त में बहुत कम होती है। परिणाम स्वरूप उसकी मरम्मत भी कम करनी पड़ती है। इस कम मरम्मत के लिए कम गन्ध को रक्त से बाहर निकालना पड़ता है, जिसके लिए कम प्राणवायु को जरूरत पड़ती है। अतः प्राण स्वयमेव ही फेफड़ों में नियन्त्रित हो कर धीमी गति से चलने लगते हैं। अतः प्राण माते अपने आप श्वास द्वारा रुक जाते हैं या फिर शान्त गति से समभाव से चलते हैं। इससे उसके प्राण अपनी पूर्ण मूल प्रक्रिया सहित नियन्त्रित हो जाते हैं। यही प्राणाभ्यास है। यह सब सहजभाव से होता है। इसमें साधक को कहीं भी बल लगाना नहीं पड़ता। केवल बिगड़े हुए थोड़े की तरह जो प्रमत्त मन इधर-उधर भागता है, उसकी लगाम बस कर उसे रोकने से यह प्रक्रिया अपने आप हो जाती है। इससे उसके फेफड़े व्यर्थ खराब नहीं होते। क्योंकि इस प्रक्रिया में प्राण प्रक्रिया के मूल - 'फेफड़ों की श्वसन प्रक्रिया भी' - साध-साध अपने आप नियन्त्रित होती चली जाती है। अतः वे स्वस्थ बने रहते हैं। मन के निर्बीज होने पर 'निर्बीज समाधि' - स्वतः सिद्ध हो जाती है। निर्बीज समाधि सिद्ध होने पर सभी शारीरिक क्रियाएँ अपने आप नियन्त्रित हो जाती हैं। मन के नियन्त्रित होने से अग्नि का अभिमन्थन नियन्त्रित हो जाता है। अग्नि के अभिमन्थन के नियन्त्रित होने से वायु का अधिरोपन अपने आप नियन्त्रित हो जाता है। फेफड़ों में ऑक्सीजन रक्त में मिलने से जो अग्नि के अभिमन्थन (oxidisation or burning process) की क्रिया होती है, यदि वह दहन नियन्त्रित हो जाये, उसकी आवश्यकता न पड़े - तो वायु का अधिरोपन अपने आप रुक जायेगा। यही प्राणाभ्यास है। क्योंकि 'प्राणों' की प्रक्रिया रुकने या नियन्त्रित होने पर 'समान' की प्रक्रिया नियन्त्रित हो जायेगी। 'समान' की प्रक्रिया के बाद 'अपान' की प्रक्रिया और 'अपान' की प्रक्रिया के बाद 'उदान' की प्रक्रिया तथा 'उदान' की प्रक्रिया के बाद 'वयान' की प्रक्रिया

शुद्धता हो जाती हैं। इस रासायनिक प्रक्रिया से जितनी अधिक क्रिया होगी, उतनी ही अधिक इंसान की दहन प्रक्रिया (ज्वलन प्रक्रिया का सञ्चरण) होगी। उस दहन प्रक्रिया से उतनी ही अधिक ताप के रूप में ऊर्जा प्राप्त होगी। इस प्रकार प्राणों से उत्पादित ऊर्जा का उतना ही बल शरीर और फैफड़ों को प्राप्त होगा। परन्तु जब हम प्राणों को फैफड़ों के अन्दर और बाहर बल पूर्वक अधिक देर तक रोक कर रखेंगे तो कम से कम स्वच्छ और नई वायु फैफड़ों के सम्पर्क में उस निश्चित अवधि के समय में आयीगी। इससे उस निश्चित अवधि में फैफड़ों के अन्दर रक्त को कम मात्रा में ऑक्सीजन मिल पायेगी और वह रक्त कम मात्रा में अपने अन्दर से गन्दगी की कार्बन डाइऑक्साइड बाहर निकाल पायेगा। इससे इंसान की प्रक्रिया द्वारा दहन के ताप की भी कम ऊर्जा शरीर को प्राप्त होगी और रक्त भी पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो पायेगा। उस रक्त में कार्बन के मृत कणों की गन्दगी रह जायेगी। वह कार्बन डाइऑक्साइड का भौतिक बना कर बाहर नहीं निकल पायेगी। इससे शरीर और फैफड़े कमजोर होते चले जायेंगे और कुछ समय पश्चात क्षीण हो जायेंगे। जब वे अत्यन्त दुर्बल हो जायेंगे तो प्राण सदा के लिए नाक के द्वारों के द्वारा बाहर निकल जायेंगे और फिर कभी भी अन्दर नहीं आयेंगे। इस प्रकार वह साध्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा।

परन्तु जो साध्य योग विद्या का अध्ययन करके हर प्रक्रिया को कारण सहित समझ कर विद्वान बन जाता है और उसके पश्चात योग प्रक्रिया की साधना का शुभारम्भ करता है, वह ऐसा नहीं करता। वह सवितृ देव के स्वरूप को जानता है। वह जानता है कि सवितृ देव के द्वारा जहाँ भी अग्नि का अभिमन्थन होता है, वायु का अधिरोपण होता है और सौम का अतिरेचन होता है, वही मन उत्पन्न हो जाता है। वही मन उस शरीर की सभी क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। अतः इन प्राणों का वाहक भी वही सवितृ देव है और उस की नियन्त्रण की लगातार मन के हाथ में है। अतः दुष्ट अश्व को जिस प्रकार उसकी लगाम द्वारा नियन्त्रित कर लिया जाता है - विद्वान और अप्रमत्त (सतोगुणी वृत्ति में स्थित) साध्य भी उस मन की लगाम के द्वारा इस सवितृ की क्रियाओं को नियन्त्रित करके प्राणों की प्रक्रिया को नियन्त्रित कर लेता है। वह हर समय आवश्यकता से अधिक प्राणों का सम्पर्क फैफड़ों के अन्दर रक्त के साथ बनाये रखता है। इस के लिए वह मन को निर्बल बनाता हुआ कृनाधि में लीन हो कर रक्त के अन्दर होने वाली क्षरण प्रक्रिया को धीमा कर देता है। इससे रक्त में क्षरण का गन्द कण मात्रा में उत्पन्न होता है। अतः उस कम मात्रा के गन्द को रक्त में से बाहर निकालने के लिए कम प्राणवायु की आवश्यकता फैफड़ों में होती है। परन्तु फैफड़ों में पहले ही पूर्व जितनी अधिक मात्रा में प्राणवायु (ऑक्सीजन) भरी होती है। अतः पूर्ण रक्त सुगमता से पूरा शुद्ध हो जाता है। इससे फैफड़ों को भी कम काम करना पड़ता है और उनमें

नियन्त्रित हो कर पूरे शरीर की संचालन की प्रक्रिया नियन्त्रित हो जाती है।
 व्योमि 'ब्रह्म' पूरे शरीर को एक सूत्र में बाँध कर संचालित करता है। इस प्रकार
 इस पूरे शरीर की प्रक्रिया के चालक पौंचौ प्राणों का वाहक 'मन', जो ऊपर-ऊपर
 भाग कर एक दुष्ट अश्व की भाँति सवितृ की ईशान रश्मियों में रचित चक्रव्यूहों
 के संकल्पों द्वारा गति करता है, नियन्त्रित होने पर - विद्वान् पुरुष अप्रमत्त भाव
 से इन प्राणों को धारित भी करता है और नियन्त्रित भी करता है। यही प्राणायाम है।
 अधिकतर टीकाकार विद्वानों ने इस मन्त्र में, 'प्राणान् प्रपीडयेद् संयुक्तचेष्टः'
 का अर्थ सव्यारात्मक रूप में लेते हुए इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है। --

प्राणायाम करते समय जब वायु को कुम्भक क्रिया में फेफड़ों के अन्दर
 लेकर वायु के निक्कालने वाले सभी द्वार उपरत (= बन्द) हो जायें और वायु दण्ड
 के समान व्यवस्थित हो जाये, उस समय जब प्राण वायु को रोक्ना और अधिक
 सम्भव न हो सके, तब उस समय नासिका पुटों के माध्यम से वायु को बाहर छोड़ें।
 प्राण वायु के साथ मन का भी सावधानी से निगराह किया जाना चाहिए। जैसे सारीश्वर
 दुष्ट अश्वों वाले वाहन (रथ) को मार्ग में सीधा चलाता है, उसी प्रकार विद्वान्
 पुरुष भी अपने मन को सावधानी पूर्वक काम क्रोध आदि मदै से रहित हो कर
 निगराह करे।

इस अर्थ में योग साधना की प्रक्रिया के अनुसार विज्ञान सम्मत दौष है।
 इसमें पहले कार्य को नियन्त्रित करने की चेष्टा में साधक को संयुक्त किया है और
 उस कार्य के कारण के विषय में बाद में सावधान हो कर उसे नियन्त्रित करने के-
 लिए प्रेरित किया है। जब तक साधक कारण को पहचान कर उसके नियन्त्रण
 में कार्यरत होगा, अर्थात् काम, क्रोध आदि मदै से रहित अप्रमत्त होकर संकल्पों
 के उदय को मन में रोक् कर चित्त की वृत्तियों का निरोध करता हुआ मन को
 निर्बीज बनायेगा, उतने लम्बे समय तक प्राणों को फेफड़ों में रोक्ने की प्रक्रिया
 में संयुक्त चेष्टा होकर एक सीमित समय में फेफड़ों को आवश्यकता से कम
 प्राण वायु का सम्पर्क कराता हुआ अपने फेफड़ों को और शरीर को प्रचुर मात्रा
 में हानि पहुँचा चुका होगा। व्योमि 'मन' की निर्बीज करने की निर्बीज समाधि
 की अवस्था को प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है। यह लम्बे समय तक जीवन में
 कठोर तप और अभ्यास करने के उपरान्त सिद्ध हो पाती है। तब तक प्राणों को
 जबरदस्ती प्रमत्त पूर्वक प्रपीडित करने से लाभ के स्थान पर फेफड़ों को और
 शरीर को हानि ही होगी। हो सकता है उसके प्राण इतने अधिक क्षीण हो जायें कि वह
 प्राणों के क्षीण होने पर बाद में अधिक दुर्बल हो कर अपने मन को भी नियन्त्रित
 न कर सके। उस मन को नियन्त्रित करने में वह असमर्थ हो जाये और इस प्रक्रिया
 के बीच में ही दुर्बल होने के कारण उसको मृत्यु हो जाये। योग साधना से जहाँ
 साधक को सबल बनना चाहिए, वहाँ वह उसके स्थान पर दुर्बल और बीमार व्यक्ति

बनकर रह जायेगा। इस लिये यह योग की उलट-प्रक्रिया हो गई। अतः इस प्रकार का अर्थ पूर्ण रूप से योग के सम्बन्ध में गलत है।

योगसाधना की सफलता पूर्वक सिद्धि के लिये और बलवर्धन के लिये पहले कारण पर नियन्त्रण करना चाहिये। इसके लिये योग-विद्या का शास्त्री में अध्ययन करके और पूर्व के सिद्ध योगियों के वर्णित अनुभवों को समझ कर पहले विज्ञान बनना आवश्यक है। उसके पश्चात् योग्य, कुशल गुरु के संरक्षण में अभ्यास करना चाहिये जो प्रत्येक कार्य-कारण के सम्बन्ध को बता कर कारण को हटा कर कार्य की सिद्धि का मार्ग साधक को दिखा सके। इस प्रकार पहले कारण पर नियन्त्रण करना चाहिये। कारण पर नियन्त्रण करना कार्य पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा सरल और सुगम होता है। कारण नियन्त्रित होने पर कार्य स्वयमेव नियन्त्रित हो जायेगा। अतः विज्ञान साधक सभी प्रकार के मर्दों को त्याग कर अप्रमत्त हो कर पहले कारणरूपी मन को यम, नियम, आसन की प्रक्रियाओं के द्वारा नियन्त्रित करता है। उसके पश्चात् उसके प्राण स्वयमेव नियन्त्रित हो जाते हैं। उसमें नाभ के छिद्रों द्वारा कार्य करने वाला केवल प्राण ही नियन्त्रित नहीं होता - अपितु उसके आधारभूत अन्य अंग - 'समान', 'अपान', 'उदान', 'ब्रह्म', भी नियन्त्रित हो जाते हैं। ब्रह्म के नियन्त्रित होने पर पूरा शरीर नियन्त्रित हो जाता है। पूरे शरीर का तेज, कान्ति तथा बल बढ़ जाता है और शरीर पूर्ण स्वस्थ होकर पुष्ट हो जाता है। व्योम कि-ब्रह्म - सम्पूर्ण शरीर को एक सूत्र में बाँध कर नियन्त्रित करने वाली सवितृ की 'सव' शक्ति से भरपूर होता है, जो पूरे शरीर को आत्मा की एक 'पुरुष विशेष' की इकाई के साथ बाँध कर रखती है। अतः योग की प्रक्रिया प्राणायाम से ही प्रारम्भ होती है और प्राणायाम पर ही समाप्त होती है। मन के नियन्त्रण के स्वाभाविक नियन्त्रण द्वारा पाँच प्राणों के नियन्त्रित होने पर शेष योग को सभी प्रकार की समाधि की सिद्धि में एक-एक करके स्वयमेव सिद्ध होने लग जाती है। निर्बीज समाधि और उसके बाद चर्म मेघ समाधि स्वतः सिद्ध होने लग जाती है। सब से कठिन यह प्राणायाम की सिद्धि होती है, जो योगसाधना के उत्तरोत्तर दृढभूमि में साधक को स्थापित करती चली जाती है। पातञ्जल योग दर्शन का पूरा समाधिपाद, साधनपाद तथा विभूतिपाद इस 'प्राणायाम' की सिद्धि के लिये ही लिखा है। इसके सिद्ध होने पर 'कैवल्य' की स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग स्वयमेव खुल जाता है। योगी का 'अहम्' स्वयमेव समाप्त हो कर अपरगुण द्वारा स्वयमेव ब्रह्म में लीनता प्राप्त हो जाती है। अपरगुण ब्रह्म का वह गुण है जिसके द्वारा असद्-ब्रह्म अपनी क्षरण की प्रक्रिया त्याग कर जुड़ने की प्रक्रिया प्रारम्भ करके असद् ब्रह्म से सद्-ब्रह्म में बदलने लग जाता है। इस प्रकार असद् ब्रह्म से

सद्-ब्रह्म उत्पन्न होने लग जाता है। सद्-ब्रह्म जुड़ कर अक्षर रूप में
 रूप बना हुआ है। असद्-ब्रह्म क्षर कर अनेक रूपों में बंट कर अनेक
 बना हुआ है। रूप से अनेक, अनेक से रूप बनने की प्रक्रिया
 ब्रह्म में चलती रहती है। इसी को सांख्य शास्त्र में "सञ्चरः प्रतिसञ्चरः"
 कह कर बताया गया है। 'सञ्चरः' की प्रक्रिया में सद्-ब्रह्म के रूप
 सीमित आश्रम का ब्रह्म का कुछ अंश रूप बिन्दु पर अवात अवस्था में
 लाकर सञ्चित कर दिया जाता है। [आनीदवातं स्वध्यातदेवम्।
 (ऋग्वेद-10, 129, 2)] इसी प्रक्रिया को क्षरण की प्रक्रिया कहते हैं। इसी प्रक्रिया
 से सद्-ब्रह्म रूप रूप से असद्-ब्रह्म के अनेक रूपों में बंट जाता है। इससे
 विपरीत "प्रतिसञ्चरः" की प्रक्रिया में वह रूप बिन्दु पर लाया गया
 ब्रह्म का कुछ अंश पुनः फैल कर अपनी पूर्व अवस्था में चला जाता है
 और असद् से सद्-ब्रह्म उत्पन्न हो जाता है। सप्तलोकों में स्थित देवनिवासों
 की रचना से पूर्व के युग में यह "सञ्चरः प्रतिसञ्चरः" की प्रक्रिया चलती है। ऋग्वेद में
 इसे, "देवानां पूर्वे मुण्डसतः सदजायत" - (ऋग्वेद-1, 71, 2) कह कर बताया
 गया है। इस प्रकार इस अपर गुण द्वारा योगी की आत्मा का 'सञ्चरः' का स्वरूप
 प्रतिसञ्चरित हो कर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वही निर्वाण प्राप्ति है। यही योग
 है। यही योग की प्रक्रिया का लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए जीवन भर कठिन तप
 करके योग साधना की जाती है।

इस प्रकार इस रूप मन्त्र में ही योग का आदि और अन्त दोनों बता कर
 उसके बीच की प्रक्रिया का वर्णन आगे के मन्त्रों में बताया गया है।

यहाँ रूप शब्द का प्रश्न उठता है, जो निम्न प्रकार बनता है। -

प्राणायाम की सिद्धि से साथ ही अपने पूरे शरीर को निष्क्रिय करके शरीरस्थ
 हो जाता है। यह कार्य तो Anesthesia (बेहोशी की दवा सुँघाने मात्र) से भी किया
 जा सकता है। क्या उससे मन निष्क्रिय होने पर योग साधना हो जाती है? क्या उस
 बेहोशी को अवस्था को भी हम समाधि की अवस्था कहेंगे?

बेहोशी की दवा (Anesthesia) सुँघाने से मन को निष्क्रिय नहीं किया जा सकता।
 उस दवा के द्वारा मन की क्रिया का प्रवर्तीकरण केवल न्यूरोन्स के स्थल पर क्रियागुण
 (Chemical reaction) द्वारा कुछ समय के लिए रोक दिया जाता है। न्यूरोन्स को शिथिल
 करके Anesthesia के द्वारा मन के संकल्प विकल्पों का प्रवर्तीकरण गति रोकने में
 अवरोधित किया जाता है। मन के संकल्पों विकल्पों का प्रवर्तीकरण शरीर में न्यूरोन्स
 के स्थल पर होता है। उनमें शिथिलता आने पर संकल्पों के प्रवर्तीकरण में रुकावट उत्पन्न
 हो जाती है, जिससे वे प्रकट नहीं हो पाते। उन संकल्पों का मन में उदय और अस्त
 होने का क्रम तो पूर्ववत् ही चलता रहता है। क्योंकि मन के संकल्पों के उदय और अस्त
 होने की प्रक्रिया तो अणु में नाभिके के अन्दर सत्य लौक्य से निक्ली सत्याभा के तपःलोक
 में आकर बने सवितृ के तेजस्वी स्वरूप से उद्भूत ईशान रहस्यों के पुञ्ज में होती है।

न्यूरोन्स की रचना पञ्चमहाभूतों में स्थित भूतों के योगों (Molecules) से होता है। वहाँ उन न्यूरोन्स में स्थित उन योगों (Molecules) में रासायनिक क्रिया (Chemical reaction) हो कर उन मन के संकल्पों के प्रभाव या प्रकटीकरण होता है। अतः मन के संकल्पों के उदय, अस्त होने की जाभिकीय प्रक्रिया (Nuclear reaction) है तथा न्यूरोन्स में संकल्पों का प्रकटीकरण रासायनिक क्रिया (Chemical reaction) है। Chemical reaction के द्वारा Nuclear reaction को नहीं रोका जा सकता। अपितु Nuclear reaction के द्वारा Chemical reaction को रोका जा सकता है। यह Nuclear reaction आत्मगुण की प्रक्रिया द्वारा होता है, जबकि न्यूरोन्स का Chemical reaction क्रियागुण की प्रक्रिया द्वारा होता है। अतः Anaesthesia से शरीर को बेहोश करके मन के संकल्पों के उदय की प्रक्रिया को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि Anaesthesia का प्रभाव समाप्त होते ही न्यूरोन्स में विधिलता दूर होने पर पुराने संकल्पों की प्रक्रिया पुनः वैसे ही चालू हो जाती है। अतः Anaesthesia से या अन्य मादक पदार्थों के सेवन से योग प्रक्रिया नहीं होती। इन से तो उल्टा योग और भक्ति में बाधा पड़ती है। जो बनावटी साधु या प्रोवी बन कर सुस्का, भोंगा, गोंजा, चरस आदि मादक पदार्थों के सेवन से अपने शरीर के न्यूरोन्स को विधिल करके योग साधना का ढोंग रचते हैं, वे अपने आप को अज्ञानता के वश में होकर बहुत बड़ा चोरवा देते हैं। वे अपना और अपने द्वारा समाज का नाश करते हैं। Nuclear reaction को Nuclear energy के द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है, Chemical energy के द्वारा नहीं। मन की संक्रिया की energy उसप्रत्येक Nuclear reaction का कारण बनती है जो अणु की जाति में अपने आप आत्मगुण के द्वारा होता है। मन की संक्रिया को Nuclear energy - 'चिति शक्ति' की वृत्तियों के निरोध के द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है। 'चिति शक्ति की वृत्तियों' का अर्थ है कि, "circular movements of sense giving Nuclear energy in the nucleus of each atom comprising a body of a creature." अतः चितिशक्ति की वृत्तियों का निरोध मन को नियन्त्रित करने के लिए मादक पदार्थों के सेवन से नहीं हो सकता। वे केवल रासायनिक क्रिया (Chemical reaction) करके स्थूल तथा अस्थायी परिवर्तन कर सकती हैं। सूक्ष्म, स्थायी परिवर्तन नहीं कर सकतीं। सूक्ष्म, स्थायी परिवर्तन तो आत्मबल से की गई आत्मगुण की क्रिया द्वारा ही होगा। क्रियागुण द्वारा केवल रासायनिक परिवर्तन (Chemical change) ही हो सकता है। Nuclear change तो आत्मबल के द्वारा Nuclear reaction से ही होगा।

यहाँ योग की प्रक्रिया द्वारा सवितृदेव की प्रक्रिया की अनुभूति का प्रकरण चल रहा है। इस सवितृदेव की संक्रिया में मूल बिन्दु मन है। मन से ही सवितृ की प्रक्रिया प्रारम्भ होकर चलती है। मन ही प्राणों की अभिच के अभिमन्थन की प्रक्रिया को चलाता है। प्राण मुख्य रूप से सवितृदेव की ही संक्रिया है। अतः मन को काबू में करके सवितृदेव की संक्रिया को

समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अतः मनुष्य को साधक बनने के लिए अपना बल मन को काबू में करने के लिए लगाना चाहिए। प्राण, समान, अपान, उदान, व्यान, ये पाँचों प्राण अपनी-अपनी सम्बन्धित प्रक्रिया में मन से ही काबू में होते हैं। इन्हीं प्राणों की प्रक्रिया को काबू में रखने के उपाय को प्राणायाम की सिद्धि कहा जाता है। केवल श्वास-प्रश्वास को रोक्ना प्राणायाम की सिद्धि नहीं होती। प्राणों का आग्राम (= विस्तार) जहाँ तक होता है, उस पूरे आग्राम को काबू में करना - 'प्राणायाम' की सिद्धि कहलाता है। प्रकट है, प्राणों का आग्राम पूरे शरीर में होता है - जो उस शरीर में आत्मा को अपनी पूर्ण आयु तक बाँध कर रखता है। प्राणों की आयु उन को नियन्त्रित करने वाले संकल्पों के विलय की कालावधि होती है। अतः प्राणायाम की सिद्धि योग साधना में एक मुख्य सिद्धि है।

पातञ्जल योग दर्शन में योग साधना के जो आठ मुख्य अंग, "यम, निग्रम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि," बताये हैं, उनमें 'प्राणायाम' चौथा अंग मध्य में स्थित है। 'यम' के सिद्धान्तों - "अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह" का पूर्ण पालन करते हुए, "शौच, सन्तोष, तप, र-वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान," के नियमों का पूर्ण पालन करते हुए जब साधक इस प्रकार अपनी योग साधना करने के लिए किसी उचित स्थल पर शिर, व्रीवा, वक्षस्थल को उन्नत करके शरीर को सम-अवस्था में स्थापित करके बैठता है, जिस प्रकार बैठने से लम्बी अवधि तक उसे स्थिर सुख की प्राप्ति होती रहे, उससे शरीर को कोई किसी प्रकार का कष्ट न हो, तब वह साधक अपने मन को नियन्त्रित करके 'प्राणायाम' की सिद्धि कर सकता है। जब तक ये पूर्व बताई गई - "यम, निग्रम, आसन" की प्रक्रियायें पूरी नहीं होती, तब तक 'प्राणायाम' की सिद्धि करने का अभ्यास प्रारम्भ नहीं होता।

'प्राणायाम' की सिद्धि होने पर शेष, "प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि," की चार सिद्धियाँ निरन्तर अभ्यास करने से एक के बाद एक स्वतः सिद्ध होती चली जाती हैं। जब शरीर के बाह्य, अन्तर्गत भागों में काल (रामय) की दीर्घ (लम्बी), सूक्ष्म (छोटी) अवधि की संख्या में भी स्तम्भ वृत्ति (नियन्त्रण शक्ति) हाँक पर श्वास-प्रश्वास की गति में विच्छेद आ जाता है, तब जाकर 'प्राणायाम' की सिद्धि प्राप्त होती है। इसके पश्चात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धियाँ निरन्तर इसी प्रकार अभ्यास करने से स्वतः सिद्ध होती चली जाती हैं। क्योंकि प्राणायाम की सिद्धि के उपरान्त साधक को अपनी साधना करते समय एक विशिष्ट रस का आनन्द प्राप्त होने

लगता है, जिससे उसे परम सुख प्राप्त होता है। अतः वह सुख उसे अपनी योगसाधना में और अधिक तल्लीन कर देता है। परिणाम स्वरूप उसे स्वयं के बाद स्वयं सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होती चली जाती हैं। ब्रह्म में मन अर्पित करके तल्लीन होकर समाधि में बैठने से मन को जो आनन्द की अनुभूति होती है और जो ब्रह्मानन्द की अनुभूति में जो रस आता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। जब उसे अनुभव करके कोई देखता है तब उसे पता चलता है कि अब तब व्योम वह इस आनन्द को प्राप्त करने से वञ्चित रहा। इस ब्रह्म को तल्लीनता के परमानन्द के रस का सुख उसे अपनी योगसाधना में और अधिक तल्लीन कर देता है। परिणाम स्वरूप उसे स्वयं के बाद स्वयं सिद्धियाँ प्राप्त होने लग जाती हैं और वह उत्तरोत्तर समाधिओं की दृढभूमियों में स्वयं-के-बाद-स्वयं में स्थिर होता चला जाता है। केवल 'प्राणायाम' की सिद्धि तक ही साधक को विशेष व्यष्ट सहन करते हुए स्थिर मति से गुरु के सान्निध्य में विशेष लगन से प्रयास करने की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण यह 'प्राणायाम' की सिद्धि विशेष महत्त्व की है।

अब अगले मन्त्र में योगसाधना करने के लिए समाधि में स्थिर होने के लिए आसन लगा कर बैठने के लिए उचित स्थान के चयन के विषय में बताया जा रहा है कि वह स्थान किस प्रकार का होना चाहिए। —

समे शुचौ शक्तिरा वह्नि बालुका विविर्जितै शब्द जलाश्रयादीभिः ।

मनोऽनुबूले न तु चक्षु पीडने गुहानि वाताश्रयेण प्रयोजयेत् ॥ (10)

समतल, पवित्र, "कंकड़-पत्थर अग्नि तथा उड़ने वाले बालूरेत" से रहित, शब्द के कोलाहल से रहित शान्त वातावरण, जलाश्रय से दूर तथा अन्य प्राणिओं के आराम स्थल से दूर होना चाहिए। (जिससे उसकी साधना में कोई अपने दैनिक कार्यों द्वारा विघ्न उत्पन्न न कर सके।) वह स्थान जंगलों के पीड़ा देने वाला न हो तथा गुहा (गुफा) आदि को जो बाह्य प्राणिओं के द्वारा विघ्न उत्पन्न करने के लिए सुरक्षा कवच बन सके, उसका प्रयोग करना चाहिए तथा वह गुफा आँधी तूफान के वातावरण के उपद्रवों से भी योगी को सुरक्षा कर सके। तूफान के अवरोधक स्थान को मन के निग्रह के लिए प्रयोग करें। जलाश्रय का योगी के पास होना भी आवश्यक है, जिससे कि उसे अपने स्नान ध्यान के लिए तथा शुचिता रखने के लिए सुगमता से जल प्राप्त हो सके। दूसरे वह स्थान ऐसा ही जहाँ पर निर्देश और उपदेश देने वाले गुरु का शब्द भी योगी के लानों तक सुगमता से पहुँच सके। अतः योगी के पास योग विद्या को बताने वाले वैदिक मन्त्रों का निरन्तर सुमधुर वाणी में गायन भी उसे योग की सही प्रक्रिया में निर्देशित करने के लिए आवश्यक है।

"शब्द जलाश्रयादीभिः" में तृतीया विभक्ति 'सहित' के अर्थ को भी यहाँ प्रकट

कर रही हैं। अतः वह स्थान वेदों के शब्द और जलाश्रय से युक्त हो, यह अर्थ भी वहाँ प्रकट हो रहा है। परन्तु वह जलाश्रय योगसाधना के स्थल से कुछ दूर हो।

‘प्राणाग्राम’ की सिद्धि से चारणाओं में मन की क्षमता बढ़ती है। इससे अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त की वृत्तियों के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेने का व्यवहार होने लग जाता है और मन के द्वारा इन्द्रियों सूक्ष्म रूप में हृदय में संनिविष्ट हो जाती है। [“हृदि इन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य”] यही प्रत्याहार कहलाता है।

उससे चित्त में किसी वैशब्द (अर्थात् मन की रुकावट का कोई बिन्दु - किसी विशेष देव का ध्यान) की चारणा होने लग जाती है। इससे योग तथा भक्ति की प्रक्रिया दोनों साथ-साथ चलने लग जाती है। योगी अपने को ‘ईश्वर प्राणिध्यान’ की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित कर देता है। अतः वह उस चारणा के अनुसार अपना ध्यान ईश्वर चिन्तन तथा मनन में केन्द्रित करने लग जाता है। तब उसे उस विशेष देव - ‘पुरुष विशेष’ - ईश्वर - का मात्र निर्माण हो कर अनुभूति होने लग जाती है। उसके पश्चात् उसका स्वरूप भी शून्य की भाँति आभाषित होता है। अर्थात् उसका स्वरूप भी मन से लुप्त हो जाता है और मन संकल्प शून्य होकर निर्बीज समीप्य की और उसके पश्चात् चर्ममैव्य समीप्य की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। उस समीप्य की अवस्था में बैठने के लिए साधक को उचित स्थान को चुनने की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि जो जैसा लक्ष्य होता है उसे प्राप्त करने की क्रिया करने के लिए उसके अनुकूल ही उपकरण साधन के रूप में जुटाने पड़ते हैं। अतः समीप्य की सिद्धि का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए स्थान तथा अन्य उपकरणों का चयन आवश्यकता के अनुसार इस मन्त्र में बताया गया है।

‘समे’ = समतल स्थान पर। ‘शुचौ’ = पवित्र तथा स्वच्छ स्थान पर। ‘शर्करा वह्नि बालुका शब्द जलाश्रयादिभिः विवर्जिते’ = बंकर पत्थर विहीन, जहाँ आग न हो, बालू रेत न हो, जहाँ जौर से शब्द न होते हों, जहाँ सभी के द्वारा प्रयोग किये जाने वाला जलाश्रय न हो। ‘शब्द जलाश्रयादिभिः’ = जहाँ गुप्त के उपदेश का शब्द उपलब्ध हो तथा जहाँ स्नान ध्यान आदि के लिए शुद्ध जल का आश्रय हो। जैसे कि हरिद्वार में गंगा के जलाश्रय के निकट सप्तर्षियों ने तप किया था। यहाँ तृतीया विनीत का योग सिद्धि के अर्थ में हुआ है। अतः शब्द तो सुने, परन्तु वह कैलाहल का न हो कर गुप्त के उपदेश का हो। जलाश्रय तो हो परन्तु वह जनसाधारण के द्वारा नित्य उपयोग किये जाने वाला न हो। वह स्वान्त स्थान में वस्ती से दूर हो जहाँ न तो कैलाहल पहुँचे और न ही जनसाधारण की दैनिक जलप्राप्ति की।

क्रिया के द्वारा साध्य के योग साधना में विघ्न उत्पन्न हो। 'मनोऽनुब्रूते' = योग की साधना करने वाले योगी की मनोदशा किस प्रकार की है? उसी के अनुब्रूल वह स्थान होना चाहिए। योग की साधना करने वाले साध्य का मन वातावरण के द्वारा उत्पन्न होने वाले कितने भ्रमों के प्रतिरोधों को सहन करने में समर्थ है, इसका आँकलन गुरु के द्वारा किया जाता है। उसके पश्चात् उस साध्य के मन की दशा के अनुब्रूल ही योग साधना के स्थान का चयन किया जाता है। 'न तु चक्षु पीडने' = जिस स्थान को देखने में आँखों को पीड़ा न हो। न तो वहाँ आँखों को चँधिया देने वाला तेज प्रकाश हो, जैसे कि सूर्य की तेज चूप वाला प्रकाश होता है और न ही बिज्जुल चूप अंधेरा हो, जहाँ कुछ भी दिखाई ही न पड़े। सही प्रकाश हो। पानी पर से परावर्तित (Reflect) होकर आँखों को 'चमका' मारने वाला प्रकाश भी समाधि स्थल पर न पड़ रहा हो। वहाँ कोई ऐसे रंग वाली वस्तु भी न हो जिसका रंग आँखों में चुभन उत्पन्न करता हो। बनस्पति की हरियाली का रंग आँखों के लिए सब से अच्छा होता है। अतः समाधि स्थल को एक उपवन के रूप में तैयार किया जाता है। 'गुहानिवाताश्रयणे' = ऐसी गुफा में या कभेर या तहरवने आदि हों जहाँ वायु निश्चिन्त विधि से समानुसार तथा आवश्यकता के अनुसार प्रवेश कर सके। तूफान तथा आँधी के समय वायु का अति क्रमण रोक जा सके तथा सामान्य अवस्था में वायु निर्बिघ्न रूप से आ सके। शीत ऋतु में शीत वायु को तथा ग्रीष्म ऋतु में लू लागने वाली गर्म वायु को रोक जा सके। वर्षा ऋतु में वर्षा के प्रकोप से तथा चूप ताप के प्रकोप से वह गुफा बचा सके। अर्थात् वातावरण के उत्पातों से बचने के लिए उस गुहा का सुरक्षा-व्यवस्था के रूप में योग साधना करने वाला साध्य उसका उपभोग कर सके, ऐसी गुफा का वह स्थान समाधि लगाने के लिए होना चाहिए। 'प्रमोजित' = उपरोक्त सभी विशेषताएँ रखने वाले स्थान का योग साधना करने वाला साध्य समाधि की सिद्धि के लिए प्रयोग करे।

इसी कारण तपस्वी साध्य, साधु महात्मा ऐसे स्थानों पर अधिव्यक्त होते हैं, जहाँ गुफा में हों, जंगल का रुक्कान्त शान्त वातावरण हो, साधारण जन की बस्ती से दूर हो, शुद्ध जल का कोई झरना या नदी आदि का जलाशय हो या प्राकृतिक रूप से बना कोई तालाब हो, प्राकृतिक हरियाली से शान्त और स्वच्छ वातावरण हो। उस गुफा में मध्यम प्रकाश का आगमन हो। जहाँ अधिव्यक्त नहीं हो। हवा में बालू रेत उड़कर शरीर पर न आता हो। बालू रेत में रहने वाली चींटियों आदि कीड़े मकड़े न हों जो समाधि में बैठने वाले साध्य के शरीर को काटते हुए उसे पीड़ा पहुँचायें। अतः बालू रेत वाले स्थान का चयन समाधि लगाने के लिए नहीं किया जाता। उस स्थान पर कँकर पत्थर बिरबरे न पड़े हों, जिन से ठोकर खा कर समाधि से उठकर चलने वाला साध्य गिर पड़े और चोट

खाकर अपने द्वारों को शक्ति पहुँचा ले। अतः वह स्थान शुद्ध, स्वच्छ तथा पूर्ण रूप से समतल होना चाहिए। समाधि से उठकर चलने वाले साधक का मन और ध्यान अपने द्वारों में निमग्न होता है, अतः उसे समाधि से उठकर नित्य कर्म के लिए चलते समय यह ध्यान नहीं रहता कि वह किस प्रकार के स्थान पर चल रहा है। अतः ठोकर खाकर चोटों से बचने के लिए कंकड़-पत्थरों से रहित समतल स्थान का चयन उसकी समाधि लगाने के लिए किया जाता है।

जहाँ हर समय आग जलती रहती है और धुँएँ से वायु प्रदूषित होती रहती है, वहाँ धुँएँ के कारण बवास लेने में कठिनाई होती है तथा धुँओं और बवास में भी लगता है और आँखों को पीड़ा पहुँचाता है। इसके साथ ही जब साधक समाधि से उठकर नित्य कर्म के लिए चलता है तो उसका पैर आग में पड़ने से जलने का भी भय बना रहता है। अतः आग की उपस्थिति योग साधना करने वाले योगी की 'प्राणापान' की क्रिया में विद्यन उत्पन्न करके उसकी समाधि लगाने में मँग डाल देती है। अतः योग साधना के स्थल पर जलती हुई आग नहीं होनी चाहिए।

कुछ साधू लोग आग जला कर धूँल रमाकर जो बैठते हैं, वह योगशास्त्र के विरुद्ध बनता है। जंगल में योग साधना के स्थल से थोड़ी दूर जंगली पशुओं से सुरक्षा के लिए तथा भोजन पाचन के लिए आग जलाने का विषेय नहीं किया गया है। शायद है इसी कारण साधू लोग जंगल में धूँल रमा कर रखते हैं, तथा योग साधना किसी गुफा आदि में धूँल से कुछ दूरी पर करते हैं।

योग साधना में समाधि में जब योगी लीन हो जाता है, तो उसके शरीर के सभी अंग सुसुप्त अवस्था में पहुँच जाते हैं और इस कारण सभी अंग शिथिल हो जाते हैं। मन के निर्बीज होने पर ये अंग स्वाभाविक रूप से, सहज भाव से अपने आप शिथिल हो जाते हैं और शरीर को पूर्ण विश्राम तथा आराम की प्राप्ति होती है। लम्बे समय तक जब योगी समाधिस्थ होकर तप करता है तो समाधि से उठने के बाद उसके अंगों में रुक-रुक स्फूर्ति नहीं आ पाती। अतः यदि समाधि का स्थान समतल नहीं होगा, वहाँ कंकड़ पत्थर बिरबरे पड़े होंगे, तो समाधि से उठकर चलते समय वह साधक ठोकर खाकर गिर सकता है। उसके शरीर को दुर्बल अवस्था में चोट लग कर हानि हो सकती है। अतः योग साधना के लिए समतल, कंकड़ पत्थर रहित स्थान चुनना पड़ता है।

वह स्थान पवित्र और स्वच्छ होना चाहिए। वहाँ पर किसी प्रकार की सद्बोध या दुर्गन्ध नहीं होनी चाहिए। समाधि में लीन होते समय प्राणों की गति जब स्वयं चिमी पड़ने लग जाती है और धीरे-धीरे नियन्त्रित होने लगती है, तो उस समय साधक के लिए शुद्ध और स्वच्छ प्राण वायु अत्यावश्यक है। इसी लिए उस स्थान पर शुद्ध और स्वच्छ प्राण वायु नियन्त्रित विधि से मन्द-मन्द गति से आती रहे, इसके लिए वह स्थान शुचि और वाताश्रयण (cross ventilation) युक्त होना चाहिए। वहाँ आग भी नहीं होनी चाहिए, जिसकी हानि का वर्णन पहले किया जा चुका है।

समाधि स्थल पर बालू रेत होने की हानि भी पहले बताई जा चुकी है। बालू रेत में नाना प्रकार के जहरीले कीड़े, चींटियाँ, साँप आदि रहते हैं, जो उसमें से निकल कर योग साधना करने वाले साधक को काट कर हानि पहुँचाते हैं। इससे साधक को अत्यन्त कष्ट होता है। जहरीले साँप आदि के काटने से कई बार मृत्यु भी हो जाती है। अतः बालू रेत का स्थान नहीं चुनना चाहिए। रेत का तापमान भी बड़ी तेजी से बदलता है, जो साधक के शरीर को जुकाम आदि की व्याधि से पीड़ित करके अत्यन्त कष्ट पहुँचाता है। अतः पक्का स्थान गुफा आदि अच्छा रहता है। यदि सीमेंट से बना पक्का हो तो अच्छा है, अन्यथा चिक्की मिट्टी वाला कठोर स्थल का स्थान होना चाहिए जो भाड़ लगा कर लीप पौत कर शुद्ध स्वच्छ तथा शुष्क बना कर पवित्र कर दिया गया हो। जहाँ पर छाया आदि का उचित प्रबन्ध कर दिया गया हो।

ग्रहस्थान हरियाली वाले शान्त वातावरण में होना चाहिए, जहाँ उच्च स्वर में उसके पास कोई रुकदम ध्वनि उत्पन्न न कर सके। समाधिस्थ व्यक्ति की इन्द्रियाँ शिथिल होने के कारण उसकी नाड़ियों भी शिथिल हो जाती हैं। शरीर और मन पूर्ण विश्राम की स्थिति में आ जाते हैं। यदि कोई उच्च स्वर उस साधक के पास अचानक ध्वनि उत्पन्न कर दे तो उस साधक की नाड़ियों में रुकदम झटका सा लग सकता है। जिस झटके से नाड़ियों में क्षति हो कर शरीर का सन्तुलन बिगड़ सकता है। इससे साधक का शरीर विकृत हो सकता है। उसे लकवा आदि मार सकता है। अतः वह स्थान ऐसा हो जहाँ केवल उन शब्दों का आना नियन्त्रित हो सके जो वेद पाठ के और गुरु के उपदेश के योग प्रक्रिया के मार्गदर्शक के शब्द हों, तथा जिन्हें साधक को सुनाना आवश्यक हो। वे सुगमता पूर्वक मधुर वाणी में मध्यम स्वर में साधक तक पहुँच सकें। इससे साधक का गुरु द्वारा मार्गदर्शन भी हो जायेगा, चिन्तन मनन के लिए आवश्यकतानुसार वेद पाठ का स्वर भी सुनाई दे जायेगा। अन्त में समाधि के सिद्ध होने पर सभी प्रकार के संकल्पों का निरोध हो कर मन निर्बीज बन जायेगा।

उस स्थान पर साधक के जल पान, स्नान आदि और मल विसर्जन की स्वच्छता के लिए जलाशय का होना भी आवश्यक है। जल ही जीवन है। जहाँ जल होगा - वहीं जीवन होगा। अतः साधक की नित्य जीवन की गतिविधियों को सुचारु रूप से सञ्चालित रखने के लिए वहाँ शुद्ध, स्वच्छ तथा मीठे जल का स्रोत किसी जलाशय के रूप में होना अत्यावश्यक है। परन्तु वह जलाशय साधारण जनजीवन की वस्ती से दूर जंगल में किसी रुकान्त स्थान पर शान्त वातावरण में होना चाहिए, जहाँ पर साधारण जनता के लोग जल लेने के लिए नित्य प्रीति न जायें और वहाँ जा कर केलाहल न मचायें तथा अपने केलाहल की गतिविधियों के द्वारा योग साधना करने वाले साधक की साधना में विघ्न न डालें। वहाँ जंगली हिंसक पशु भी जल पीने न आते हों जो उस साधक की रवाने के लिए हत्या न कर दें।

कहने का तात्पर्य है कि साधक के शरीर को हर प्रकार के कष्ट की सम्भावित हानि होने से बचाना है। तभी वह अपने स्वस्थ शरीर को धारण करता हुआ और अपने जीवन की पूर्ण आयु भोगता हुआ योग की सर्वोच्च अवस्था 'चर्मभेद्य' समाधि को सिद्ध करता हुआ कैवल्य की अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

इसके साथ ही जब योग साधना करने वाला साधक निर्बीज समाधि की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है तो सवितृ की 'सव' शक्ति से उस साधक का शरीर अत्यधिक आवेशित हो जाता है। उस समय साधक का आत्मबल बहुत अधिक बढ़ा हुआ होता है। उसके शरीर में स्थित प्रत्येक अणु से मृत की अवस्था रुद्र की ईशान रीश्मियों का पुरुष की तैजोमय रीश्मियों के पुञ्ज के रूप में प्रसारण का रिसाव अत्यन्त तीव्र हो जाता है। जिसके कारण वह ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त कर लेता है। यह पुरुष की तैजोमय ईशान रीश्मियों का रिसाव सवितृ की 'सव' शक्ति को चारण किये हुए शरीर से बाहर आने लग जाता है, क्योंकि जिस मन के निर्बीज होने के कारण सवितृ की वह सवन शक्ति पूर्ण रूप से उसके शरीर में स्थित अणुओं की भाँति के अन्दर उपभुक्त नहीं हो पाती। अतः उसका कुछ अंश लेकर वह शरीर के अणुओं की भाँति से बाहर निकल कर वातावरण में प्रकृति में आ जाती है। इस प्रकार उस सवितृ की सवन शक्ति का रिसाव उस निर्बीज-समाधि के सिद्ध पुरुष योगी के शरीर से निरन्तर निकलना प्रारम्भ हो जाता है और वह महर्षि या ब्रह्मर्षि उस रिसाव की कौटि के अनुसार बन जाता है। विश्वामित्र मुनि बन कर इस सिद्धि को प्राप्त करने के उपरान्त ही तप द्वारा सवितृ की साधना करते हुए गायत्री को सिद्ध करके राजर्षि हो बन पाये। वे ब्रह्मर्षि नहीं बन पाये। जब योगी के मातृ (= मात = शरीर) से सवितृ की 'सव' शक्ति का रिसाव इतनी अधिक मात्रा में होने लगे कि वह उस 'सव' शक्ति को हवि को लेकर उस साधक के शरीर से बाहर जा कर वातावरण में स्थित अर्धपिण्डों के देवों को प्रदान कर सके और उन अर्धपिण्डों के देवों को अपनी इच्छा के अनुसार उस 'सव' शक्ति के द्वारा कार्य करने के लिए प्रभावित कर सके तथा उन देवों के अर्धपिण्डों का स्वरूप अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तित कर सके, तभी हम कहते हैं कि इस ऋषि को 'गायत्री' की सिद्धि प्राप्त हो गई है। गायत्री मन्त्र में सवितृ की इसी प्रक्रिया को बताया गया है। "ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धियो यो नः प्रचोदयात्।" इस मन्त्र में ॐ तो अ, 'उ', 'म', का पीछे बताया गया अर्ध चारण करता हुआ सर्वाष्ट ब्रह्म का द्योतक है। भूः, भुवः, स्वः ये सातलोकों में से अणु को जगत् में स्थित सव से बाहर के तीन लोक हैं। जिन में सवितृ की 'सव' शक्ति के आवेश को चारण किये हुए भीषण अर्ध और उन नील अर्धों से बने रजःणों की सत्ता विद्यमान होती है। इन्हीं तीन "भूः, भुवः, स्वः" लोकों में जगत् के अन्दर अन्व लोकों के अन्दर से आये

सवितृ देव को ईशान रश्मियों को 'सव' शक्ति उपलब्ध होता है और उस शक्ति द्वारा ही वैश्वानर अग्नि को 'न', 'चिच्छ', 'इत्' देव ब्रह्म को प्रसूत होते हैं और नोचकैताविन अणु का पूर्ण रूप प्रदान करती हुई इस सृष्टि के अर्धपिण्डों की रचना करती हुई उनमें अलग-अलग जीवों की अलग-अलग प्रवेश करा देती है। शेष चार लोकोँ "महः, जनः, तपः, सत्यम्" में अणुओं के द्वारा ब्रह्म अर्ध की सत्ता स्थापित नहीं हो पाती, जिसके कारण इनमें मौलिक अर्ध के वजावण (च्युति के वण) नहीं बन पाते। वही शेष का दिव्य स्वरूप हो जिसके ब्रह्म के शरीर तथा अणुओं के रूप में ही रहता है। स्वः लोक में आकर उसी पुरुष के दशांगुल 'अति-अतिवृत्त' रूप द्वारा सव की ईशानी रश्मियों के अणुओं के त्रित में सद्यः रूप धारण करने से मौलिक अर्धों का ग्रहण होता है, जिनमें ओदित के पञ्च प्राणोर्मियों की रचना होती है। इस प्रकार 'पुरुष' के द्वारा सवितृ की प्रदत्त 'सव' शक्ति को उपभोग स्वः लोक से प्रारम्भ होकर भुवः लोक तथा भूः लोक में होता है। पाताल लोकों में विनाशा प्रोक्ष्या प्रारम्भ होने के कारण सवितृ को उस 'सव' शक्ति का उपभोग नहीं होता। अतः यदि सवितृ की ईशान रश्मियों में, जो रुद्र का रूप श्रुत को क्षीरों और अणुओं में अवरोधित कर के धारण किये हुए रहती हैं, निहित 'सव' शक्ति (श्रुत के द्वारा पौषण करने की शक्ति) पूर्ण रूप से इन स्वः लोक, भुवः लोक और भूः लोक में उपलब्ध नहीं होती तो उस 'सव' शक्ति का शेष बचा अंश ले कर वे सवितृ की ईशान रश्मियों इन भूः, भुवः, स्वः लोकों से बाहर आ जाती हैं। बाहर आकर वह सवितृ देव परमव्योम में स्थित अन्य देवों को प्रभावित करता है और उन देवों का भरण पौषण करता है। वह सवितृ का स्वरूप सभी देवों के द्वारा परमव्योम में वरण करने योग्य होता है। जो सवितृ का स्वरूप 'सव' शक्ति को धारण किये हुए भूः, भुवः, स्वः, लोकों से निकल कर परमव्योम में आता है, जो सभी देवताओं के द्वारा अपने पौषण के लिए वरण करने योग्य है, उस सवितृ के तेजस्वी स्वरूप को हम योग साधना करने वाले साधक धारण करें और शरीर के स्वरूप को धारण करें। वह सवितृ का स्वरूप परमव्योम में आकर सभी देवों की और हमारी साधकों की बुद्धि को प्रचण्ड करे, जिससे कि हम अपने-अपने मन में उदित सतोगुणी संकल्पों को बुद्धि में आवृत्त कर सकें और उनके अनुसार कार्य कर सकें। 'नः' का अर्थ इस मन्त्र में 'हमारे लिए' तथा 'देवताओं - न-कणों - Neutrons के लिए' भी होता है। अतः दोनों के अर्थों में, 'व्याष्टि' के रूप में हम साधकों के लिए, तथा 'समाष्टि' के अर्थ में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित देवों तथा न-कणों (Neutrons) के लिए करना चाहिये। हम योगी साधक सवितृ के उस रूप को अपने शरीर के द्वारा अपने आत्मगुण के आत्मबल द्वारा परमव्योम में

प्रसारित करने के लिए चारण करें तथा परम व्योम में स्थित देव उस सवितृ के उस रूप को अपने भरण पोषण के लिए चारण करें। अतः वह सवितृ का स्वरूप सब के द्वारा वरण करने योग्य है। क्योंकि उस में सभी को पुष्ट करने वाली 'सर्व' शक्ति की विद्यमानता होती है, जो कि भूः, भुवः, स्वः, लोकों से शेष बची होती है। उसी को हम सब चारण करें, वही सब के वरण करने योग्य है, वही हम सब की बुद्धि को प्रचण्ड करे। हम सब में साध्य और देव सभी स्थित हैं। 'द्यौतंजात देवाः' के अनुसार सृष्टि के प्रत्येक अवयव के स्वरूप को द्योतित करने वाले देव होते हैं, जो परम व्योम में स्थित होते हैं। "ऋचौ अक्षौ परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः" मन्त्र में यही बताया गया है कि सृष्टि को रचने वाली ऋचा का कभी भी न क्षरण वाला अक्षर परमव्योम है जिसे आधार बना कर उस में सभी देवता बैठे हुए हैं, जो इस रचित सृष्टि के प्रत्येक अवयव को द्योतित कर रहे हैं। इस मन्त्र के अगले भाग —

"यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते" में यह बताया गया है कि इस परम व्योम में ऋत से भरी ऋचा, सवितृ की 'सर्व' शक्ति से भरी पुष्प की सद्र के रूप में ईशान रश्मियों सृष्टि सृजन में व्यापक करेगी, यदि यह जानना है तो जो 'न' कण (Nucleon) की रचना है, उसे जानो। "यः न तम् वेद"। जो 'इत्' कण (Electron) है वह इस 'न' कण में ही समाहित है। अर्थात् 'इत्' कण इस 'न' कण में ही बैठा हुआ है। 'न' कण की रचना पूर्ण होने पर इस प्रकार सब अणु (Atom) की रचना पूर्ण हो जाती है। वे सभी अणु ब्रह्माण्ड में स्थित इस अक्षर परमव्योम में बैठे रहते हैं। उन अणुओं के 'न' कणों में सृष्टि के अवयवों को द्योतित करने वाले सभी स्वरूपों के देव विद्यमान हैं। उन्हीं देवों को बताने के लिए मन्त्रों में स्थान-स्थान पर 'न' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वे सभी देव अपने पोषण के लिए सवितृ की 'सर्व' शक्ति का वरण करते हैं।

हमारी इन्द्रियों भी हमारे व्योम का द्योतन करती हैं, अतः वे भी देव कहलाती हैं। यह सवितृ देव हमारी इन्द्रियों के सूक्ष्म रूप को हमारे सूक्ष्म शरीर में अपनी 'सर्व' शक्ति द्वारा पुष्ट करता है। उसी सूक्ष्म पोषण के कारण स्थूल शरीर में विद्यमान स्थूल इन्द्रियों अपने-अपने गुण, स्वभाव के अनुसार हमारे नियन्त्रण में कार्य करती हैं। चाहे वे ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करने का कार्य करें, चाहे कर्मेन्द्रियाँ कर्म करने का कार्य करें। अतः जो सवितृ देव वरण करने योग्य है और जो भूः, भुवः, स्वः लोकों को पुष्ट करने के लिए उनसे भीतर से लोगों से आता है, जो हमारी इन्द्रियों के सूक्ष्म रूप को पुष्ट करता है, उसे हम चारण करें। वह हमारी बुद्धि को प्रचण्ड करे। यही साध्य को प्रारम्भ में

उस सीवतृ देव से प्रार्थना होती है।

इस गायत्री मन्त्र को अपनी योग साधना के द्वारा तब करके पूर्ण रूप से सिद्ध करने के उपरान्त ही विश्वामित्र महर्षि तथा राजर्षि ब्रह्मर्षि। उनसे तैजोमयी तपस्वी शरीर से सीवतृ को 'सर्व' शीघ्रता को धारण करती हुई धारण प्रस्फुटित होने लगीं जिन से सारा ब्रह्माण्ड हिल गया। उसी सीवतृ के इस गायत्री मन्त्र की सिद्धि के बल द्वारा परम योग में देवताओं को अपनी इच्छानुसार व्यवस्थित करके समानान्तर सृष्टि का सृजन किया था, जिसके स्वर्ग लोक में त्रिशंख को राजा बना कर बैठाने का प्रयास किया था। परन्तु विधि द्वारा रीचित सृष्टि के समानान्तर विश्वामित्र द्वारा रीचित सृष्टि के कारण उस विधि द्वारा रीचित सृष्टि में विघ्न उत्पन्न हो गया। जिसके कारण महाविनाश का दृश्य उपस्थित होने लगा। सभी ओर त्राहि-त्राहि मच गई। विश्वामित्र विश्व का अमित्र (शत्रु) कहलाने लगा। परन्तु इस महाविनाश को देखकर उस ऋषि का हृदय करुणा से भर कर बदल गया और उसने इस समानान्तर सृष्टि का सृजन बन्द कर दिया तथा विधि द्वारा रीचित सृष्टि के नियमों का पालन करते हुए उसी को पुष्ट करने लगा। अतः अब वह विश्व का अमित्र कहलाने के स्थान पर विश्व का मित्र कहलाने लगा। परन्तु विश्व + मित्र का समस्त पद विश्वामित्र बनने के स्थान पर विश्वामित्र ही बना रहा, जो विश्व + अमित्र के समस्त पद बनने का द्योतक है। अमित्र के 'अ' का दीर्घ रूप विश्व के अव्ययान्त के 'अ' के साथ मिल कर 'आ' की मात्रा का द्योतक 'विश्व' में जुड़ कर 'विश्वा' ही बना रहा जो मित्र के साथ उपसर्ग के रूप में जुड़ कर 'विश्वामित्र' शब्द की सिद्धि करने वाला बना तथा जिसका अर्थ बाद में 'विश्व का मित्र' बनाया गया तथा व्याकरण के नियम से संशोधन करके यह नियम बना दिया गया कि 'विश्व + मित्र' का समस्त पद बनते समय विश्व शब्द के अन्तिम 'अ' को दीर्घ हो कर 'आ' बन जायेगा। यह व्याकरण का नियम महर्षि पाणिनी की अष्टाध्यायी में अभी भी विद्यमान है। स्पष्ट है उन्होंने भी इस नियम का संकलन अपने पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्यों की परम्परा से ही ग्रहण किया होगा।

इन साधकों से सिद्ध होता है कि निर्बीज समाधि को सिद्ध करने वाला साधक ऋषि बन जाता है और उसके शरीर से सीवतृ का तेज अपनी 'सर्व' शीघ्रता को धारण करके हुए निरन्तर प्रस्फुटित होता रहता है, जो बाह्य वातावरण को प्रकृति को प्रभावित करने में समर्थ होता है। अतः यदि ऐसा साधक अपनी समाधि की मुद्रा से औरतें खोल कर जब उठ कर नित्य कर्म के लिए चलता है तो उस समय उसके सामने यदि कोई कटु दृश्य उपस्थित हो जाये तो उससे

मन में तुरन्त विजाहाकारी, संकल्पों का उदय हो सकता है, जिन विजाहाकारी संकल्पों को आज्ञा करके सवितृ की 'सव' शक्ति उसके शरीर से बाहर प्रस्फुटित होकर वातावरण में प्रवेश करके प्रकृति में विजाहा लीला का ताण्डव नर्तन कर सकती है और किसी महा विजाहा की सम्भावना बन जाती है। मृषियों का श्राप भी प्रकृति में इसी प्रकार कार्य करता है। अतः इस अनिष्ट से बचने के लिए साधक योगी का साधनास्थल मनोहारी तथा आँखों को न चुभने वाला बनाया जाता है। समतल, स्वच्छ, पवित्र और नियन्त्रित वायु वाला बना कर उसे योगी को साधना के अनुकूल बनाया जाता है। क्योंकि जब कोई साधक योगी अपनी योगसाधना प्रारम्भ करता है तो उसके पश्चात् उसके भीषण का कुक्ष भी पता नहीं रहता कि वह योगी अपनी योगसाधना में किस स्तर तक की सफलता प्राप्त कर लेगा। मृषित्व के पद को प्राप्त करके सवितृ के तेज के अपने शरीर से रिसाव के कारण अपने मन में उदित संकल्पों के द्वारा वातावरण में स्थित प्रकृति को प्रभावित करने की सामर्थ्य कोई विरला साधक ही, कोई करौड़ों में एक भी कमाल ही प्राप्त कर पाता है। परन्तु पता नहीं इस सिद्धि को कब और कौन प्राप्त कर ले। अतः इसकी सम्भावना को देखते हुए उसके अनिष्ट से बचने का प्रयास पहले ही कर लिया जाता है। यह सिद्धि बहुत ही उच्चव्योति के स्तर की साधना होती है। अतः हर एक मनुष्य का इस स्तर की योगसाधना तक पहुँचना सम्भव नहीं होता। मन को नियन्त्रित करके निर्बीज बनने का कार्य बहुत ही कठिन कार्य है। इस कार्य को कोई-कोई व्यक्ति ही कर पाता है। हर एक व्यक्ति के बस की बात यह नहीं है। परमात्मा जिस पर स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं, उसी के सामने वे प्रत्यक्ष होकर अपना रूप प्रकट करते हैं और उसी पर दया करके उसकी योगसाधना को सफल बनाते हैं। योगसाधना का लक्ष्य ही उस परमात्मा के स्वरूप को साक्षात् करके उसमें अपनी आत्मा का विलय करना है। अतः परमात्मा जिसको अपने में विलीन करना चाहते हैं, उसी के सामने अपने दर्द को हटा कर अपना साक्षात् दर्शन कराते हैं और उस आत्मा को सभी बन्धनों से मुक्त करके मोक्ष प्रदान करके अपने में विलीन करते हैं। इसी कारण योगसाधना करने वाला साधक मन को निर्बीज बनाता हुआ ईश्वर प्रणिधान को प्रीति या द्वारा अपने को पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित करके भक्ति का मार्ग भी साध-साध अपनाता है, ताकि उसकी भक्ति से उसका परमात्मा प्रसन्न हो कर उसे उसकी योगसाधना में सफल बनाता हुआ अपने रूप को उसके सामने साक्षात् प्रकट कर दे और उसकी आत्मा को अपने में विलीन कर ले। भक्ति और योग दोनों के मेल से ही हमेशा साधना पूरी होती आई है। जो योगी होगा वही परमात्मा का सच्चा भक्त होगा। जो सच्चा भक्त होगा वही परम योगी होगा। भक्ति और योग दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा रह जाता है। अतः साधक दोनों को एक साथ लेकर चलता है और योग की परमावस्था को प्राप्त करता है। उसकी आत्मा परमात्मा में मिल कर एक हो जाती है।

योगसाधना प्रारम्भ करने के उपरान्त योगी की सफलता के पदाङ्ग क्रम के स्तरों का वर्णन अगले मन्त्र में किया जा रहा है। ये योग में ब्रह्म की अभिव्यक्ति के स्तर इस प्रकार वर्तते हैं।-

नीहारधूमाकर्कनिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकवाक्षीनाम् ।

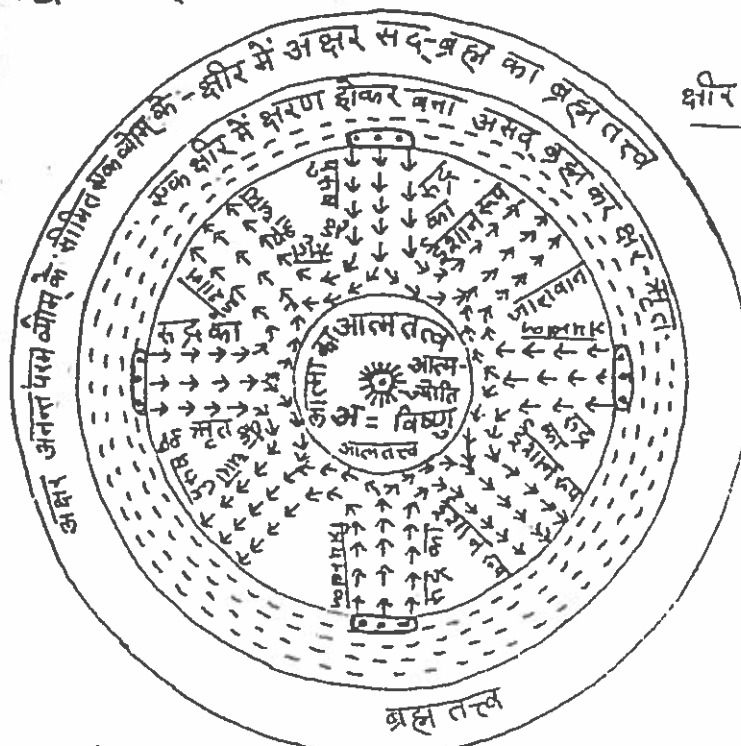
सुतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति करीणं योगी ॥ ११ ॥

कुहरा, चूँआ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनूँ, स्फटिकमणि और चन्द्रमा- ये रूप हैं, जो योग के अभ्यास में पुर के पुरुष की सरण गति कराने में ब्रह्म के अन्दर गति की अभिव्यक्ति करते हैं। [सरण गति विज्ञान में 'Linear Motion'- को कहते हैं। चलने वाला श्रुत 'पुरुष' बनता है तथा जिस रचना के अन्दर वह श्रुत चलता है, वह 'पुर' कहलाती है। ब्रह्मतत्त्व के साथ आत्मतत्त्व के मिलने को 'योग' कहते हैं।]

सद्ब्रह्म की रचना करने वाला तत्त्व ब्रह्मतत्त्व कहलाता है और 'आत्मा' की रचना करने वाला तत्त्व आत्मतत्त्व कहलाता है। अनन्त अक्षर सद्ब्रह्म के असीम परम व्योम में स्थित एक सीमित आयाम के व्योम में स्थित सद्ब्रह्म अपने अन्दर क्षरण उत्पन्न करके सृष्टि सृजन की इच्छा के कारण पहले सद्ब्रह्म से असद्ब्रह्म में बदलता है। फिर असद्ब्रह्म का रूप 'क्षर' (क्षरण का अंश) सृष्टि सृजन के लिए आगे और सक्रिय होता है और इधर उधर भागने लगता है। असद्ब्रह्म के इस सक्रिय रूप को 'श्रुत' कहा जाता है। जिस सीमित आयाम के क्षेत्र में वह सद्ब्रह्म क्षर कर सक्रिय हो कर 'श्रुत' बनता है, उस सीमित आयाम की रचना को 'पुर' कहा जाता है। उस सीमित आयाम के पुर में श्रुत की सरण गति (Linear Motion) करने वाली चारों ओर चलती है। इन श्रुत की चलने वाली चारों ओर के स्वरूप को जो उस पुर के अन्दर रहते हुए सरण गति करती है और अपनी उस सरण गति के द्वारा उस पुर में चेतना प्रदान करती है, 'पुरुष' कहते हैं। यह पुरुष ही 'आत्मा' का स्वरूप बनता है। [योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। (ईशोपनिषद्)] इस 'पुरुष' की श्रुत की चारों ओर उस 'पुर' के अन्दर भी चलती है और उस पुर से बाहर भी चल कर आ जाती है। [पुरि सरति इति पुरुषः, पुरात् सरति इति पुरुषः।] जब पदार्थों के अणु के पुर में इस पुरुष के श्रुत की चारों ओर कुछ सामान्य से कम गति से चलती हैं। अतः चेतना प्रदान करने में वे सुसुप्त अवस्था में जान पड़ती हैं। [पुरि शेते इति पुरुषः।] इस प्रकार शास्त्रों में 'पुरुष' की परिभाषा वेदवेत्ताओं ने दी है।

एक 'क्षर' जब एक 'पुर' का रूप धारण कर लेता है और उस 'क्षर' के अन्दर भी क्षरण उत्पन्न हो कर श्रुत बन जाता है और उसमें भी पुरुष की श्रुत की चारों ओर चलने लगती है, तो उन श्रुत की चारों ओर बनने वाले तत्त्व को 'आत्मतत्त्व' कहा जाता है तथा उस 'क्षर' को जो 'पुर' का रूप धारण करता है, उसे 'क्षीर' कहा जाता है। ऐसे क्षीरों से मिलकर ही असद्ब्रह्म में 'क्षीर-सागर' बनता है। उसी क्षीरसागर के एक क्षीर के केन्द्र में विष्णु का अवतरण होता है। उसी विष्णु को - 'अ' कहा जाता है। उस एक क्षीर के केन्द्र बिन्दु पर जब श्रुत की अवात अवस्था के

स्थिर रूप में लाकर अच्युत बना दिया जाता है तो उसी को विष्णु कहा जाता है तथा जिस स्थान से मृत चल कर केन्द्र पर जाता है तो वहाँ पर शेष बचे मृत के कारण अवर क्षेत्र (Field of low intensity) बन जाता है। एक नव क्षीर की परिधि में बने उस शेष बचे मृत के अवर स्वरूप को ही 'क्षीरनाग' कहा जाता है। उस क्षीरनाग की शीर्षा के केन्द्र में ही विष्णु भगवान विराजते हैं। वे ही अपना विराट रूप धारण करके सभी आत्माओं को अपने मुख के द्वारा अपने में प्रवेश कराने वाले तथा सभी आत्माओं को अपने मुख द्वारा बाहर निकालने वाले बनते हैं। गीता में विष्णु भगवान के इसी विराट रूप को बताया है। पुराणों में भी इसी विराट रूप का वर्णन है। अतः 'आत्मतत्त्व' की स्थिति विष्णु के स्वरूप में स्थित बताई गई है। इस प्रकार जब सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व में क्षरण होकर क्षीरों का क्षीर सागर बन जाता है और उसमें विष्णु का अवतार अवतरित हो जाता है तो उसके 'सर्वतोमुख' में से 'आत्मतत्त्व' की उत्पत्ति होकर 'आत्मा' बनती है। उस आत्मा के 'आत्मतत्त्व' की और सद्-ब्रह्म के 'ब्रह्मतत्त्व' की जब साधक की समाधि की योगसाधना में चक्र बन कर एक डोर हो जाती है तो उसी को योग कहा जाता है। इसी योग में ब्रह्म की अभिव्यक्ति की एक क्षीर के पुर में 'पुरुष' के मृत की सरण गति द्वारा एक डोर बनने में बुद्धि, बुद्धि, सूर्य, वायु, अग्नि, जगन्, स्फटिकमणि, चन्द्रमा की स्थिति क्रमशः प्राप्त होती है। नीचे के चित्र में एक क्षीर के अन्दर 'पुरुष' की मृत की धाराओं के द्वारा ब्रह्मतत्त्व तथा आत्मतत्त्व के एक डोर होने के चक्र को देखें।



क्षीर का एक पुर

दीपक की तरह
बना एक क्षीर
जिसके केन्द्र में
आत्मा की
उभोति जल रही है

चित्र-41

“अनन्त अक्षर परम व्योम के एक समित व्योम में एक क्षीर की रचना का चित्र”।


क्षीर की इसी रचना को दीपक की उपमा देकर आगे गन्ता में रामकृष्ण का
गया है। "यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपपमेनेह युक्ताः प्रपश्येत्"
(श्वेताश्वतरोपीनषद-२, १५)।

इस क्षीर की रचना में अक्षर अनन्त परमव्योम में स्थित रुक्
सीमित आयाम के व्योम का क्षेत्र जो रुक् क्षीर के सद-ब्रह्म का
अंश है, उस ब्रह्मतत्त्व के द्वारा जो रुक् अण्ड की रचना करता है
और रुक् 'पुर' बन जाता है, वह दीपक के रुक् पात्र की भाँति बन
जाता है। उसमें अन्दर की ओर सद-ब्रह्म क्षरण को प्राप्त होकर
'क्षर' असद्ब्रह्म का ऋत बन जाता है जो दीपक के अन्दर भरे
तेल की भाँति कार्य करता है। वह ऋत सक्रिय होकर आत्मतत्त्व
को सद्यन रूप प्रदान करने के लिए केन्द्र की ओर चाराओं के
प्रवाह द्वारा इस तरह भागता है जैसे कि रुई के फीये की
बनी बत्ती के माध्यम से दीपक का तेल दीपक के केन्द्र में
बत्ती के शीर्ष पर जलने वाली लौ की ओर भागता है। वही
आत्मतत्त्व पुनः क्षरण को प्राप्त होकर उस क्षीर में आत्मा की
चैतना की ज्योति को उसी प्रकार जागृत कर देता है जैसे कि दीपक
की बत्ती के शीर्ष पर दीपक के केन्द्र में ज्योति जल कर प्रकाश देने
वाली लौ खड़ी कर देती है। उस क्षीर के चारों ओर बने समस्त पिण्ड
में उस आत्मा की चैतना का प्रकाश उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है
जैसे कि दीपक का प्रकाश पूरे घर में व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार
इस दीपक की रचना क्षीर के ब्रह्मतत्त्व और आत्मतत्त्व का सम्बन्ध
बताने वाली पूर्ण सांगोपाङ्ग उपमा बन जाती है।

इस मन्त्र में जो आत्मतत्त्व के ब्रह्मतत्त्व के साथ योग बनने में ब्रह्म के
अन्दर उपस्थित होने वाले स्वरूपों की पुरुष के ऋत के क्षरण के कारण
अभिव्यक्ता कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, स्फटिक नील तथा
चन्द्रमा के रूपों की बताई है, वे इसी क्षीर के अन्दर योगसाधना
के द्वारा उत्पन्न हो जाती हैं।

कुहरे की प्रथम अवस्था चित्र में स्पष्ट दिखाई दे रही है। आत्मा
इस क्षीर के केन्द्र में स्थित है तथा सदब्रह्म का आवरण क्षीर की
परिधि के पृष्ठ पर स्थित है। उस पृष्ठतल पर सदब्रह्म का आवरण क्षर
कर-क्षरों के रूप में असद्ब्रह्म का ऋत बन कर केन्द्र में बने आत्मतत्त्व
के अण्ड पर कुहरे की तरह छाया हुआ है। यह क्षरण सदब्रह्म के क्षीर के

अण्ड में मन में उदित सृष्टि सृजन की इच्छा के संकल्प के कारण होता है, जिससे असद् ब्रह्म का श्रुत केन्द्र की ओर आगे लगे जाता है और उस आत्मतत्त्व में आत्मा की चेतना की उद्योति प्रज्वलित कर देता है। इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व की आत्मतत्त्व के साथ योग में यह कुंदरे की प्रथम अभिव्यक्ति बन जाती है।

जब योगी साध्यक अपनी योग साधना के द्वारा मन पर कुछ नियन्त्रण कर लेता है तो असद् ब्रह्म का मन के द्वारा क्षरण का यह कुंदरा कुछ छंट जाता है। यह कहीं-कहीं कम हो जाता है और इस की अवस्था आकाश में क्षीर च्युंस् जैसी हो जाती है जो आकाश में कहीं पर होता है, कहीं पर नहीं होता। यह अवस्था इस क्षीर की रचना में उन स्थानों पर स्पष्ट दिखाई दे रही है, जिन स्थानों पर असद् ब्रह्म का बना सक्रिय श्रुत अवसृष्ट हो कर रुद्र का रूप धारण कर लेता है और तीन अक्षों पर अपनी श्रुत का धारा का प्रवाह प्रारम्भ करता हुआ तीन अक्षों वाला त्र्यम्बक बन जाता है। त्र्यम्बक के स्वरूप की चित्र में  के रूप में दिखाया गया है जिससे तीन अक्षों पर श्रुत की उद्योति की तीन धारायें निकल रही हैं।

तीसरी अवस्था सूर्य की है। "सरणात् सूर्यः" के अनुसार 'सूर्य' शब्द का अर्थ और उस सूर्य की क्रिया को समझा जा सकता है। असद् ब्रह्म का सक्रिय श्रुत जब त्र्यम्बक के तीनों अक्षों पर सरण गति (Linear motion) करता हुआ चल देता है और श्रुत की तीन धाराओं की रचना कर देता है तो वह सूर्य की अभिव्यक्ति को प्रकट करता है। जैसे आकाश में स्थित सूर्य से उसके तेज की किरणें पृथिवी पर आने लगती हैं, उसी प्रकार श्रुत की धाराओं का तेज त्र्यम्बक से आत्मा के अण्ड पर आने लग जाता है। यही सूर्य के रूप की अभिव्यक्ति इस ब्रह्मतत्त्व और आत्मतत्त्व के योग में होती है।

चौथी अवस्था 'वायु' की है। वायु का वेग वायुमण्डल में कहीं चलने का कम होता है कहीं ज्यादा होता है। यह सभी स्थानों पर बल समान नहीं होता। इसी प्रकार त्र्यम्बक से तीन अक्षों पर जब श्रुत सरण गति को प्राप्त होता है तो उसकी धाराओं के प्रवाह का वेग योगी के मन के नियन्त्रण के अनुसार वायु के समान कहीं कम और कहीं अधिक होता है। वह सभी स्थानों पर सभी कालांशों में बल समान नहीं रहता। मन की गति के अनुसार वह जीवीयत्व की धारण करता रहता है। [मनसौजवीयो' - (ईशोपनिषद्-4)] यही क्षीर के पुर में श्रुत की सरण गति में आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व के साथ योग बनने की अभिव्यक्ति के रूप वायु के रूप को प्रकट करता है।

पाँचवीं अवस्था 'अग्नि' की है। अग्नि का कार्य जल कर ऊष्मा प्रदान करना तथा प्रकाश की ज्योति की आभा प्रदान करना है। सूर्य की सरण गति द्वारा मृत जीवधारियों का तैरा जब आत्मा के अण्ड में समाहित हो जाता है तो वह आत्मा के अण्ड के केंद्र में पहुँच कर अग्नि की भौति धारण को पुनः प्राप्त करके ज्योति के रूप में जलता है। इसी से आत्मा की ज्योति में विष्णु की सत्याभा प्रकट होती है। वह ब्रह्मतत्त्व, आत्मतत्त्व के साथ युक्त होकर आत्मा की ज्योति की धारण प्रक्रिया द्वारा निरन्तर प्रज्वलित करता हुआ क्षीर के पुर में निरन्तर चेतना प्रदान करता हुआ ऊष्मा की आभा प्रदान करता रहता है। इसी अग्नि की चेतना से सृष्टि का सारा कार्य चलता रहता है। जगत का स्थावर, जंगम सारा रूप इस अग्नि से ही आगे बनता है। यही ब्रह्मतत्त्व का आत्मतत्त्व के साथ योग बनने में पुर के अन्दर मृत की सरण गति का 'अग्नि' के रूप में अभिव्यक्ति करने वाला रूप है।

छठी अवस्था 'जुगनू' की है। जुगनू रात्रि के अन्धकार में अपने शरीर से रुक-रुक कर निरन्तर प्रकाश की आभा छोड़ता रहता है। इसी प्रकार जब मृत की धाराओं के प्रवाह के द्वारा ब्रह्मतत्त्व आ कर आत्मतत्त्व के बने आत्मा के अण्ड में आकर समाहित होने लगता है तो उसका समाहित होने का तरीका तरंगों की गति का झटके मारते हुए चलने का तरीका होता है। मृत की धाराओं में चलने वाली 'क्षर' के अन्दर बँधी सड़ के मृत की पोटली झटके के साथ आत्मा के अण्ड में समाहित होती है। वही 'क्षर' के अन्दर बँधी मृत की पोटली आत्मा के अण्ड के केंद्र में जा कर विष्णु का मौजन बनती है और विष्णु के मुख में जा कर पुनः धारण को प्राप्त होकर फटती है। उससे फटने से आत्मा के अण्ड में ऊर्जा का झटका लगता है, जिससे उस फटी हुई पोटली का मृत उस आत्मा के अण्ड में से झटके के साथ बाहर निकलता है और अपनी ऊर्जा की सत्याभा का प्रक्षेपण उसी तरह चारों ओर करता है जैसे कि जुगनू रुक-रुक कर वातावरण में अपने शरीर के अन्दर से प्रकाश का प्रक्षेपण करता है। इसी कारण इस ब्रह्मतत्त्व का आत्मतत्त्व के साथ योग की अभिव्यक्ति से जो सृष्टि की गति का सञ्चरण होता है, उसमें प्रत्येक देव की गति में झटके मार कर चलने की तरंग (waves) की गति उत्पन्न होती है। प्राणी की नाड़ी की गति में स्थूल रक्त की गति से लेकर इत्कणों (Electrons) की सूक्ष्म गति में यही तरंग की गति (wave motion) देखी जा सकती है। यही इस ब्रह्म-तत्त्व का आत्मतत्त्व के आत्मा के अण्ड के साथ योग बनने का पुर के अन्दर मृत की सरण गति की अभिव्यक्ति करने का जुगनू का रूप बनता है।

सातवीं अवस्था स्फटिक मणि की है। स्फटिक मणि वातावरण में से आने वाले सूर्य के चक्षु के रजकणों (Photons) की अभिशीषित करके वातावरण में

पुनः फेंक देती है। इस प्रकार वह झूमकती हुई अपनी आभा का प्रकाश बाहर के वातावरण में निरन्तर गति से कुछ दूरी तक फैलाने लग जाती है। जहाँ जुगनु की अवस्था ऋतु की बनी तरंग की चलने की सरण-जाति की भटके मारते हुए रुक-रुक कर चलने की विधि को बतलाता है, वहीं स्फटिक मणि की अवस्था आत्मा के अण्ड में से आत्मतत्त्व की आभा का प्रस्फुटन बताता है। वही आत्मतत्त्व की सत्याभा विष्णु का रेत बन कर सातों लोकों को अर्द्धगर्भित करती हुई सप्तार्द्धगर्भा बनती है। इस प्रकार वह स्फटिक मणि की आभा की तरह धीड़ी दूरी तक चलने के उपरान्त रुक जाती है। इसी आत्मतत्त्व की स्फटिक मणि की तरह की सत्याभा से अणु की नाभि का रुकड़काई के रूप में सृजन हो जाता है, जिसके केन्द्र में 'आत्मा' का निवास आत्मतत्त्व के अण्ड के रूप में होता है। विष्णु के इस 'सप्तार्द्धगर्भा' रेत को बताने वाला मन्त्र है—

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोः स्तिष्ठन्ति प्रदिशा विध्यमणि ।
ते च्छीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥

[अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) के] भुवन का सप्तार्द्धगर्भा विष्णु का रेत (वीर्य का तेज) है। इस तेज से अर्द्धगर्भित होकर भुवन के सातों लोक नियम से रहते हैं और उन सातों लोकों की प्रत्येक प्रदिशा में स्थित दैव अपने-अपने विशेष धर्मों में मन के द्वारा बुद्धियों से युक्त होकर विद्वान बनकर व्यापने वाले बन कर उस नाभि के भुवन को चारों ओर से घेर लेते हैं। विष्णु के इस सप्तार्द्धगर्भा गुण का चित्र इससे अगले पृष्ठ (272) पर देखें।

इसी प्रकार सूर्य के चक्षुरजस (Phetom) के विषय में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र बताता है।

सर्जैसि चक्षुरजसं विवावृत उद्गनायां दशयुक्ता वहन्ति ।

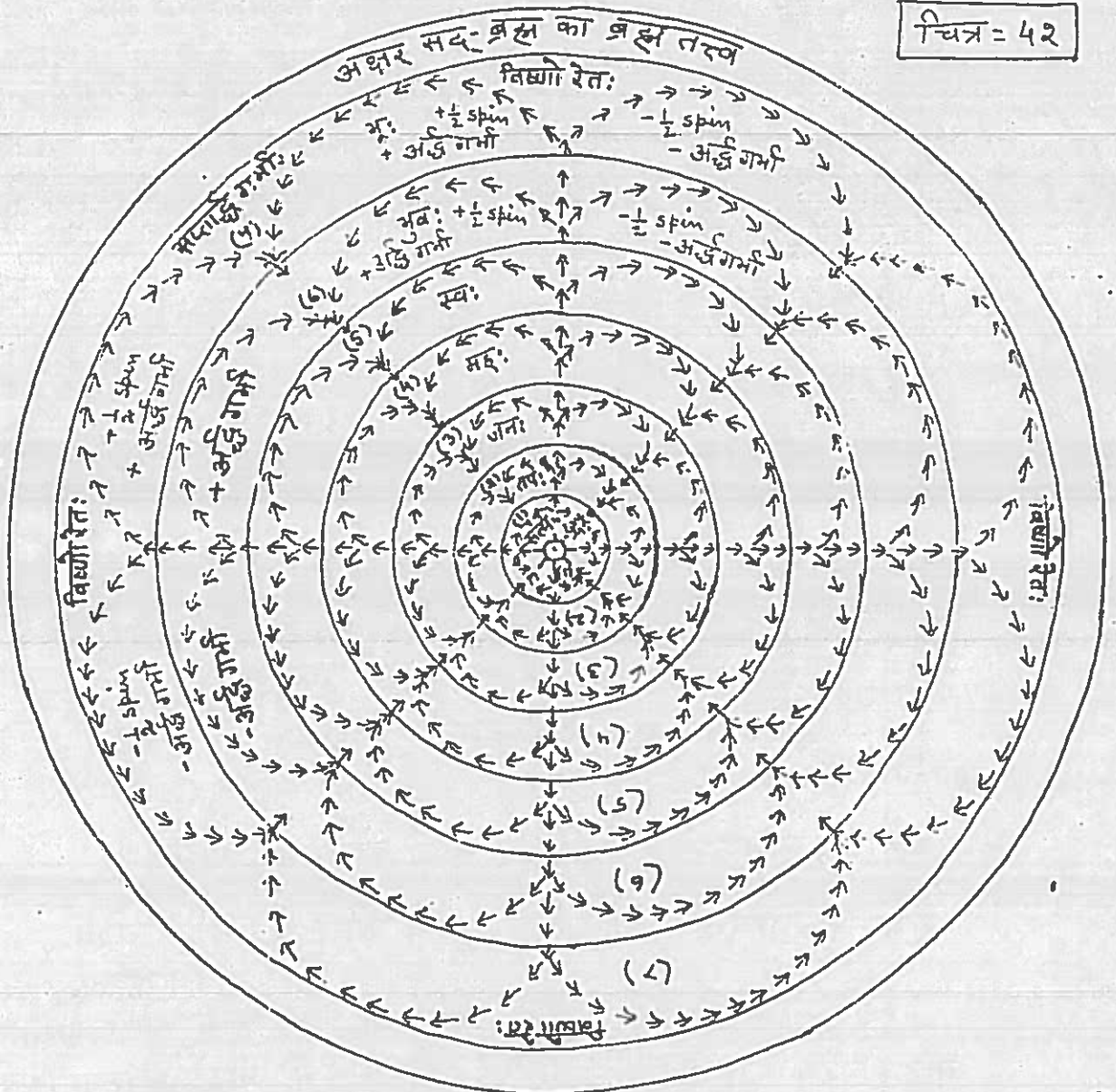
सूर्यस्य चक्षुरजसं व्यावृतं तस्मिन्नापिता भुवनानि विश्वा ॥

वह पञ्चावर्त का कभी भी क्षीण न होने वाला चक्र अणु की नाभि की नाभि के सहित विशेष विधि के रूप में घूमता है। उस नाभि में तनी हुई अवस्था में दश (मौलिक अर्धों) से युक्त 'क' ऋण सूर्य के चक्षुरजस (Phetom) को वहन करते हैं। उन सूर्य के चक्षुरजसों से घिरा हुआ (सर्जैसि का चक्र) चलता है। उसी नाभि में सारे भुवन अर्पित होकर स्थित हैं।

चक्र का अर्थ यहाँ पीढ़े के मन्त्रों में चले आ रहे पञ्चावर्त चक्र के पञ्चावर्त के वर्णन के संदर्भ से लिया गया है। दूसरे दशमौलिक अर्धों से ही 'क' ऋण बनता है जो प्रत्येक देव की प्रतिमा का पदार्थ के द्रव्य का इकाई का ऋण कह है। इन्हीं 'क' ऋणों से सूर्य का चक्षुरज बनता है। पृष्ठ (82) पर इनके चित्र देखें।

दश भौलिक अर्थों से मुक्त होकर तनी हुई अवस्था में भूमि में 'कण' किस प्रकार विशेष विधि से घूमते हैं? इसका चित्र पृष्ठ (52) पर बने 'अदिति' के चित्र में देखें जो 'कणों' को उत्पन्न करती हुई अपने गीच्छ से बाहर फैल रही है।

अब नीचे सातों लोकों को अर्द्ध गर्भित करने वाले विष्णु के 'सप्तार्द्ध गर्भा' रैत के चित्र को देखें। यह प्रक्रिया अणु की जगमग में होती है।



भागवत पुराण के अनुसार - भगवान् वासुदेव (विष्णु भगवान्) चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट होते हैं। अतः अणु की जगमग में विष्णु का रैत चार भागों में ही बंटता है। प्रत्येक भाग दो अर्द्ध गर्भा के रूपों में बंटता है। इसमें वासावर्त अर्द्ध गर्भ + $\frac{1}{2}$ spin का होता है और दक्षिणावर्त अर्द्ध गर्भ - $\frac{1}{2}$ spin का होता है। सातों लोकों 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं' में \pm अर्द्ध गर्भ उत्पन्न करने वाला होने के कारण यह 'सप्तार्द्ध गर्भा' है।

ऋषियों द्वारा, अणु की जगमग की रचना करने वाली अग्नि के कहने

पर, देवताओं को हीव प्रदान करने वाले चमस के रूप से चार बना देना ताकि वे सभी देवताओं के साथ यज्ञ करने के योग्य बन सकें, ऋग्वेद का यह कथन भी यहाँ विष्णु के रेत को चतुर्व्यूह की रचना करने वाला तथा चार भागों में बँट कर सीक्त्र होने वाला बता रहा है। मन्त्र है -

रूपं चमसं चतुरस्रकृणोतन तद् वै देवा अब्रुवन् तद् व आगमम् ।

सौधन्वना यद्यैवाकंरिष्यथ साकं देवै र्यज्ञिया सोमविष्यथ ॥

हे सुधन्वा के पुत्रो ! रूप चमस के चार बना दो । यह तुम्हारे लिए देवताओं ने कहा है । मैं (अग्नि) इसलिये आपके पास (ऋग्वेदों के पास) आया हूँ । यदि इस प्रकार करोगे तो देवताओं के साथ (सभी के साथ) यज्ञ के योग्य बनोगे ।

इस मन्त्र का कथन यही बता रहा है कि सातों लोकों में सभी देवताओं को सृजित करने के लिए उन्हें पौषण प्रदान करने के लिए तथा उन्हें सीक्त्र बनाने के लिए चेतना प्रदान करने के अणु की नाभि में विष्णु का रेत चार भागों में बँट कर सप्तार्द्धमर्मा बन कर जाता है, तभी ऋग्वेदों के चारों चमस सभी देवों को हीव द्वारा उनका भोज्य प्रदान करने के यज्ञ में समर्थ हो पाते हैं ।

इस प्रकार आत्मतत्त्व का बना अण्ड, विष्णु के रेत द्वारा ब्रह्मतत्त्व के साथ योग बनाने में पुर के अन्दर ऋत की सरण गति की अभिव्यक्ति कराने में स्फटिक मणि के रूप की अभिव्यक्ति कराने वाला बनता है । सद ब्रह्म से क्षर कर ऋत आत्मतत्त्व के अण्ड में आकर समाहित होता है और पुनः विष्णु का रेत बन कर अणु की नाभि में स्थित सातों लोकों को देवताओं के सृजन के लिए अर्द्धगर्भित करता है तथा अपनी आभा का प्रकाश चारों ओर सभी दिशाओं और प्रदिशाओं में सातों लोकों के रूप सीमित आयाम में फैकता है ।

आठवीं अन्तिम अवस्था चन्द्रमा की आती है । चन्द्रमा सूर्य की आभा के प्रकाश को अपने चरातल पर ग्रहण करता है और उससे अपना पौषण प्राप्त करता है । साथ में उस सूर्य के प्रकाश को उसी प्रकार तीव्र गति से प्रत्यावर्तित करके अपनी शीतल चाँदनी की आभा पूरे आकाश में फैला देता है । आकाश अनन्त परम व्योम् में व्याप्त होने के कारण असीम और अनन्त है । अतः उस चन्द्रमा की आभा भी असीम दूरी तक जाती है ।

ठीक इसी प्रकार जब योग साधना करने वाला योगी अपनी योग साधना के द्वारा अपने मन को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करके पूर्ण रूप से निर्बीज बना लेता है और निर्बीज समाधि को सिद्ध करने के उपरान्त चर्ममैद्य समाधि को सिद्ध कर लेता है तो उस समय उसकी आत्मा का

बल उससे आत्मतत्त्व के अण्ड में इतना अधिष्ठा बढ जाता है कि उस आत्मतत्त्व के अण्ड के केन्द्र में विष्णु अत्यधिक सक्रिय होकर अपने रेत का प्रक्षेपण इतनी अधिष्ठा तीव्र गति से करने लग जाता है कि उसकी सप्ताह्य गर्भा लोको को गर्भित करने की सामर्थ्य उन सप्तलोको से भी बाहर निकल कर पूरे ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा की चाँदनी की तरह फैलने लग जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमा की पोंदनी आयुर्वेद के मतानुसार समस्त बनस्पति जगत् में सब विशेष प्रकार के रस का सञ्चार करके उसे पौषण प्रदान करती है और इस प्रकार समस्त प्राणी जगत् को पौषण प्रदान करती है, उसी प्रकार यह योगी के आत्मतत्त्व के अण्ड से निकलने वाला विष्णु का रेत समस्त ब्रह्माण्ड को पौषण प्रदान करने में समर्थ हो जाता है और सारे ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करने लग जाता है। जब उस योगी के आत्मतत्त्व के अण्ड से विष्णु के रेत का रिसाव इतना अधिष्ठा तीव्र हो जाये कि वह ब्रह्माण्ड को पौषण प्रदान करता हुआ ब्रह्माण्ड को प्रभावित करने में समर्थ हो जाये तो उस समय उस साधक योगी को 'ब्रह्मर्षि' कहा जाता है। अतः योग साधना के अन्दर 'ब्रह्मर्षि' का आत्म-बल सर्वोच्च माना जाता है। ब्रह्मर्षि के शरीर के प्रत्येक अणु (Atom) को नाभि के केन्द्र में उसका 'आत्मतत्त्व' का अण्ड विराजमान होता है। उससे शरीर के सभी अणुओं के ये आत्मतत्त्व के अण्ड उनमें बैठे विष्णु के रेत के द्वारा सब दूसरे से ग्रहीत हो जाते हैं और उस योगी के शरीर में प्राप्त सब आत्मा के स्वरूप को सब इन्हीं में ग्रहीत हो जाते हैं। वही उस योगी के शरीर में रहने वाला सब जीवात्मा का सब जीव बन जाता है।

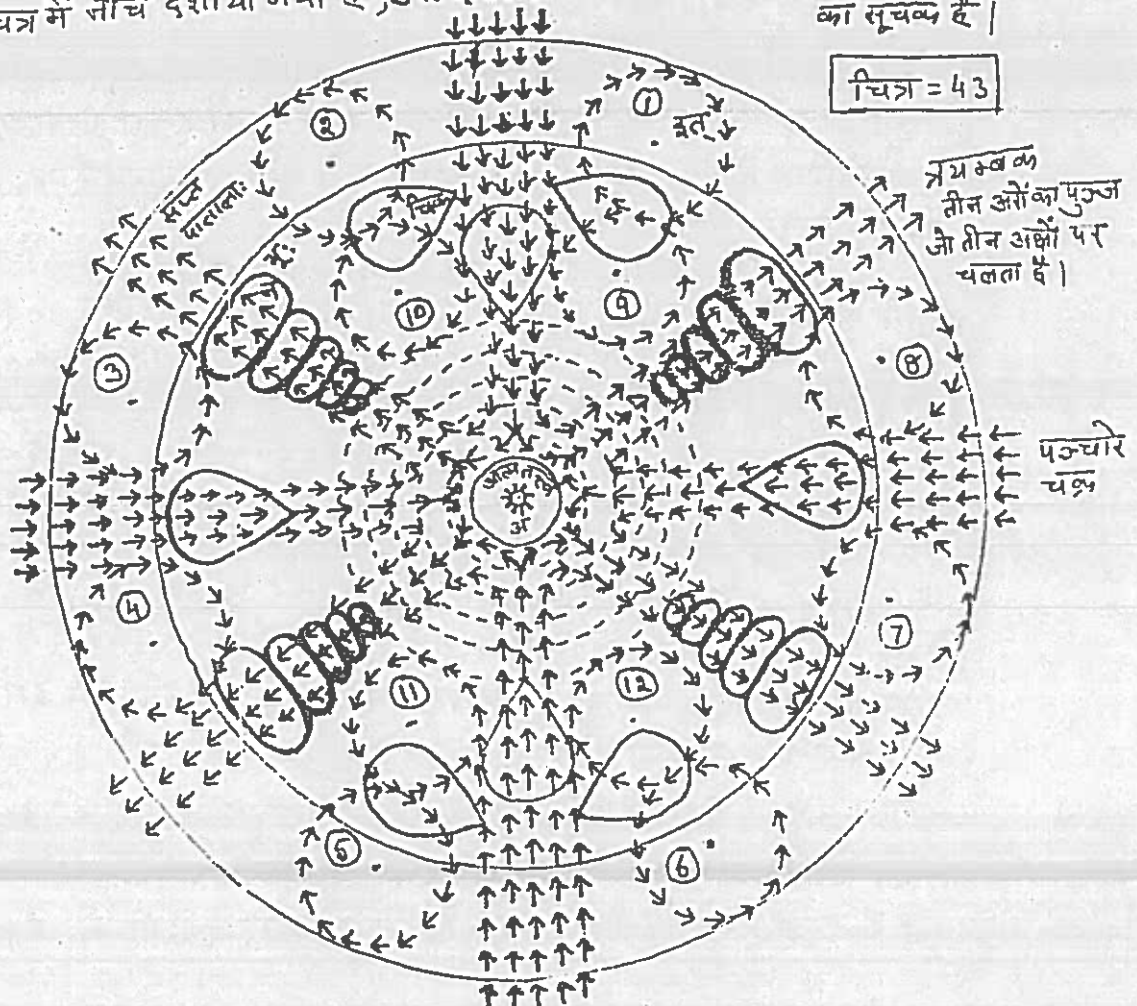
इस ब्रह्मर्षि की आत्मतत्त्वों के अण्डों की और सब-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व की योग के अन्दर सक्रियता की गति अत्यधिक तीव्र हो जाती है। क्योंकि कि मन में उदित होने वाले संकल्प जो इस सक्रियता में बाधक बन कर अपने कर्मों के परिणाम से इस को सृष्टि सृजन में आबद्ध करते हैं, वे सभी दग्ध हो जाते हैं। अतः ब्रह्मतत्त्व के साथ आत्मतत्त्व की सक्रियता का योग तीव्र हो जाता है। इस सक्रियता के तीव्र होने पर उस साधक द्वारा पूर्व अर्जित कर्मों के फल प्रदान करने वाले मन में आबद्ध सुसुप्त संकल्प भी दग्ध होते चले जाते हैं। अतः जब इस योगी के जीवन की आयु सभी संकल्पों के दग्ध होने पर पूरी होती है तो उससे आत्मतत्त्व के सभी अण्डों में विष्णु की सक्रियता भी समाप्त हो जाती है और उन

आत्मतत्त्व के अण्डों का विष्णु के रेत द्वारा ग्रथित कारण शरीर स्वयमेव विरवीण्डित हो जाता है। उस समग्र उससे सभी आत्मतत्त्व के अण्डों को रक्षा समाप्त होकर सद्-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप में समाहित हो जाती है। योग साधना करने वाले प्रत्येक भौतिक साधक का ब्रह्मर्षि बन कर इस सद्-ब्रह्म में अपनी आत्मा को समाहित करने का अन्तिम लक्ष्य होता है। यही उसका मोक्ष है। इसी अवस्था को प्राप्त करने वह तीनों बन्धनों, स्थूल शरीर का बन्धन, सूक्ष्म शरीर का बन्धन और कारण शरीर का बन्धन से मुक्त होता है। इस मन्त्र का यह विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म है। इस मन्त्र का कुछ स्थूल विवेचन इस प्रकार भी बनता है।

जब योग का विवेचन होता है तो सृष्टि रचना की दोनों अवस्थाओं में, "सम्भूति की अवस्था में तथा विनाश की अवस्था में" उस प्रक्रिया को समझना होता है। पहले सृष्टि का सृजन होता है और वह अपने रूप में सक्रिय रहती हुई स्थापित रहती है। यह प्रक्रिया 'सम्भूति' की कहलाती है। इस सम्भूति की अवस्था में सर्वप्रथम सद्-असद् का आपस में योग होता है और उससे 'मृत' बनता है। उसके पश्चात् मृत का पुरुष के स्वरूप के साथ योग होता है और उस पुरुष के दशांगुल रूप द्वारा दशमौलिक अर्धों की रचना होकर 'पुरुष' और 'प्रकृति' का योग होता है। पृष्ठ (79) पर 'पुरुष' की संरचना का चित्र देखें। पुरुष की सत्तामा यदि सत्यमहाभास्वरा स्तर की हो जाती है तो वही सत्य 'जीवात्मा' का स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार 'पुरुष' ही 'जीवात्मा' का स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार सद्-असद् ब्रह्म से पुरुष की जीवात्मा का योग और पुरुष से प्रकृति के मौलिक अर्धों का योग होकर सम्भूति की प्रक्रिया में ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति के मौलिक अर्धों का योग होकर इन तीनों का (ब्रह्म, जीवात्मा, प्रकृति-का) योग स्थापित हो जाता है। इन तीनों के योग से सृष्टि का सृजन होकर उसकी सक्रिय रूप में स्थापना हो जाती है।

यह सृजन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक सृजन की इकाई को उससे सीमित आग्राम में रखने के लिए इस सृजन के विनाश का क्रम भी साथ-साथ चलता रहता है। इस विनाश के क्रम में उसी प्रकार पहले अर्धपिण्ड के शरीर के अणुओं (atoms) का विरवीण्डन होता है जैसे कि सम्भूति के क्रम में इनका योग हुआ था। उस शरीर से पहले जीवात्मा का स्वरूप अलग होता है और वह मृत में जाकर मिल जाता है। इसके पश्चात् शरीर के अणु विरवीण्डित होकर पञ्चमहाभूतों में मिल जाते हैं। उसके पश्चात् पुरुष की जीवात्मा का मृत असद्-ब्रह्म में और असद्-ब्रह्म का स्वरूप सद्-ब्रह्म में बदल जाता है। इस प्रकार विनाश के क्रम उलटे क्रम में प्रकृति का पुरुष की जीवात्मा से और उस पुरुष का असद्-ब्रह्म से योग हो जाता है। इस योग में - 'सम्भूति तथा विनाश दोनों के उपक्रम में' - सवितृ देव की प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है। सवितृ देव अपनी 'सव' शक्ति के द्वारा पहले सद्-ब्रह्म तथा असद्-ब्रह्म का योग पुरुष के साथ बनाता है, उसके पश्चात् पुरुष का योग प्रकृति के साथ बनाता है। इसी प्रकार विनाश के क्रम में भी सवितृ ही पहले प्रकृति से पुरुष को अलग करता है। फिर उस पुरुष के स्वरूप का नाश करके उसे सद्-ब्रह्म में विलीन करता है। इस प्रकार 'आत्मा' का 'परमात्मा' के

साथ प्रोग स्थापित करता है। सम्भूति और विनाश, इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में सवितृ की ऋतु में चलने वाली चारों ओर इस प्रोग को स्थापित करती है। यह प्रोग 'दोनों प्रकार का' - 'सम्भूति और विनाश का' - एक अणु (Atom) के अन्दर स्थापित होता है। उस अणु के अर्ध पिण्ड में सद-असद ब्रह्म, पुरुष तथा दशमौलिक अर्थों के राजाओं की बनी प्रकृति, इन तीनों का सम्यक् प्रकार से प्रोग होता है। अणु के विखण्डन में इनका उल्टे क्रम में प्रोग हो जाता है। सवितृ की चारों ओर जब अणु की नाभि में पञ्च-और के रूप चारण करके प्रवेश करती है तो वे परमव्योम में स्थित सद-असद ब्रह्म के बने ऋतु में ही चलकर अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) में जाती है। नाभि में वे सत्यलोक में स्थित विष्णु के अच्युत स्वरूप से टकरा कर प्रत्यावर्तित होती है। इस प्रत्यावर्तन के प्रवाह में वे पञ्चावर्त के भँवर चक्रों में फँस कर पुरुष की तथा सप्तलोकों में स्थित देव निवासों की और मौलिक अर्थों के बने राजाओं की रचना करती है तथा आगे गति करती हुई पुनः परमव्योम में स्थित ऋतु में प्रवाहित होती हुई उसमें समाहित हो जाती है। इस प्रकार जिस परमव्योम में स्थित ऋतु से चलकर वे सवितृ की ऋतु की चारों ओर अणु की नाभि में प्रवेश करती है, अणु की नाभि में से वापिस निकल कर उसी परमव्योम के ऋतु में समाहित हो जाती है। इस प्रकार उनकी गति का चक्र पूरा हो जाता है और ब्रह्म जीव, प्रकृति का प्रोग स्थापित हो जाता है। इस प्रोग के चक्र के क्रम को एक अणु के चित्र में नीचे दर्शाया गया है, उसे देखें। → का चिन्ह सवितृ की चारों ओर प्रवाह की दिशा का सूचक है।



सवितृ की इन चाराओं के प्रवाहों के चक्र में पाँच-पाँच अंशों के पुञ्ज के रूप में चारों ओर से परमयोग में स्थित ऋतु से सवितृ की ऋतु की 'सर्व' शक्ति से युक्त चाराओं अणु की नाभि के अन्दर प्रवेश करती हैं। इस प्रवेश के चक्र को ऋग्वेद में "पञ्चारे चक्र" कह कर बताया है, जिस में रचना के सारे भुवन स्थित हैं। उन सवितृ की ऋतु की चाराओं का अक्ष देवताओं को पुष्ट करके उन देवताओं का कितना भी अधिक भार उठा ले, परन्तु उस भार के कारण उसमें कभी भी तपस्-उत्पन्न नहीं होती। मन्त्र इस प्रकार है—

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातर-धुर्भुवनानि विश्वा ।

तस्य नाक्षस्तप्यते गूरि भारः सनादेवन शीर्यते सनाभिः ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 13)

यह चक्र नाभि के सहित कभी भी क्षीण नहीं होता। जब तक एक अणु की नाभि रहेगी, तब तक उसमें यह पञ्च अंशों वाला सवितृ की चाराओं का चक्र रहेगा।

इस पञ्चारे चक्र में बारह घेरे बनते हैं, जो अणु की नाभि में देवताओं को गति प्रदान करते हुए उनमें घुमाते हैं। ये बारह घेरे भूः लौक्य तथा सात पाताल लौक्यों में बनते हैं। इन से अणु की नाभि में एक पाश्चात् की रचना हो जाती है जो नाभि के अन्दर सभी देवताओं को एक सूत्र में बाँध कर रखता है। इन्हीं के कारण नाभि के बाहर इतका (Electrons) अपने-अपने लौक्य (orbit) में व्यवस्थित होते हैं तथा एक अणु के साथ दूसरे अणु का विनिवर्तन आबन्ध (Electrovalent bond) या समैक्य आबन्ध (covalent bond) बनाते हैं। इन बारह घेरों को बताने वाला मन्त्र है—

द्वादशा प्रथमश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि च उताच्यकैत ।

तस्मिन्तसाकं त्रिशताज शङ्कुवोऽपिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 48)

अर्थात् इस सवितृ की 'सर्व' शक्ति वाली पञ्चारे चक्र की चाराओं के एक चक्र में बारह घेरे वाले और चक्र बनते हैं। तीन उनमें नाभि के चक्र बनते हैं। सूर्य की ऊर्जा द्वारा उस में 'चिक्' (Proton) तथा 'इत्' (Electron) बनते हैं। उन के साथ उसमें अधिकतम संख्या में तीन सौ शङ्कु की जाति के 'न' कण (Neutron) बनते हैं जो उस नाभि में ही स्थित रहते हैं। उनमें साठ 'न' कण (Neutron) चलाचल अवस्था में रहते हैं। कभी नाभि के अन्दर आ जाते हैं, कभी नाभि से बाहर चले जाते हैं। इस प्रकार सवितृ अपनी 'सर्व' शक्ति वाली ऋतु की चाराओं

से रज्ज अणु में सद-असद ब्रह्म, पुरुष की जीवात्मा और न, चिच्छेद, इत् आणों के द्वारा रचित प्रकृति की रज्ज सूत्र में जोड़ कर योग की प्रक्रिया सम्भूति के क्रम में करता है। योगी की जीवन की अवस्था जिसमें योगी अपनी योग साधना करता है, प्रही सम्भूति की ही अवस्था होती है। मृत्यु के उपरान्त उसके शरीर की विनाश प्रक्रिया का योग चलता है। तभी उसकी आत्मा परमात्मा में मिलने में समर्थ होती है।

इस सम्भूति के योग की अवस्था में शरीर के अणुओं की नाभि में सवितृ के तेज की 'सव' शक्ति युक्त ऋतु की चारों पंच-पंच अणुओं के पुञ्ज के रूप में प्रवेश करती है और तीन-तीन अणुओं के पुञ्ज के रूप में प्रवेश करती है। बाहर जाने वाली ऋतु की चारों में त्रयम्बक बन कर बाहर जाती है। अन्दर आने वाले पंच अणुओं में ही रुद्र का ईशान, ईशानी रूप बनती है। अन्दर आने वाले पंच अणुओं में दो अणुओं के ऋतु का वेग अपनी 'सव' शक्ति के कारण नाभि में रचित होने वाले देवों के प्रसव में उपयुक्त हो जाता है और बारह धैर्य आदि की रचना कर देता है। इन्हीं धैर्यों के भँवर चक्रों के द्वारा के समूह में वे देव और अटक कर रह जाते हैं। शेष तीन अपना कार्य करते हुए नाभि से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार शरीर के प्रत्येक अणु का परमव्योम में स्थित सवितृ की ऋतु की चारों से चक्र बन कर ग्रहण होते हुए सम्बन्ध बना रहता है। इस चक्र के ग्रहण को मन में उदित संकल्प-विकल्प नियन्त्रित करते हैं। अतः जब योगी के शरीर के अणुओं से बाहर निकलने वाला सवितृ की चारों का तेज, शरीर के अणुओं में परमव्योम से अन्दर आने वाले सवितृ के तेज से अपनी साम्यता स्थापित करता हुआ कुछ अधिक मात्रा में शरीर से बाहर रिसने लग जाता है और कुछ 'सव' शक्ति के अंश को भी लेकर बाहर निकलने लगता है, तो परमव्योम के ऋतु की समष्टि का योग साध्य के शरीर की व्यष्टि के ऋतु के साथ होने लग जाता है। इस योग में रज्ज और साध्य के शरीर के अन्दर अणुओं की नाभि का अभ्यन्तर स्वरूप है, दूसरी और परमव्योम में स्थित ऋतु के समष्टि रूप का बाह्य वातावरण का रूप है। बाहर के वातावरण का ऋतु नाभि के अन्दर से बाहर निकलने वाले ऋतु के साथ योग करता है। उस योग की उत्तरोत्तर स्थितियों को साध्य की योग साधना में इस मन्त्र में बताया गया है। इन स्तरों के यहाँ पृथिवी के रूप के द्वारा समझाया गया है।

साध्य के शरीर के अणुओं (Atoms) के अर्ध-पिण्ड पृथिवी के अर्धपिण्ड के समान हैं। पृथिवी के ऊपर जिस प्रकार द्यौ तन्ना वायु मण्डल होता है, उसी प्रकार साध्य के शरीर के अणुओं के अर्धपिण्डों के ऊपर सवितृ के तेजोमय ऋतु का सौम्य आभासमण्डल विद्यमान है। पृथिवी के जिस प्रकार पर्यन्तः उससे बाहर स्थित हो कर अपने उदक से जिवाँते हैं, इन साध्य के शरीर के अणुओं के भी सवितृ का

‘सर्व’ शक्ति से युक्त तैजोमय श्रुत दीक्षित करके पुष्ट करता है। अतः साधक के शरीर के अणुओं की सवितृ के तेज से युक्त श्रुत से आवृत होने की तुलना पृथिवी के वायुमण्डल से आवृत होने के साथ करके योग की सिद्धिओं के स्तरों की सफलता के आँकलन को यहाँ समझाया गया है।

प्रारम्भ में जब योगी अपनी योगसाधना करना प्रारम्भ करता है तो उसके शरीर के अणुओं (Atoms) के अर्धपिण्ड सवितृ के ‘सर्व’ शक्ति वाले तैजोमय श्रुत से इस प्रकार ढके रहते हैं जैसे कि पृथिवी सधन कोहर से ढकी रहती है। उस पृथिवी पर सूर्य का प्रकाश नहीं आ पाता। इसी प्रकार समष्टि ब्रह्म से श्रुत की तीव्र तैजोमय चारों ओर उस साधक के शरीर के अणुओं तक पूर्ण पोषण प्रदान करने के लिए नहीं पहुँच पाती। अपितु वे अणुओं के ऊपर छाये संकल्पमय श्रुत के आवरण में अटक कर रह जाती हैं। वह संकल्पों से युक्त श्रुत का आवरण साधक के शरीर के अणुओं पर इस प्रकार छाये रहता है, जिस प्रकार कि पृथिवी पर कोहरा छाये रहता है।

जब साधक योग साधना का अभ्यास करता हुआ सफलता के कुछ उच्च स्तर को प्राप्त कर लेता है तो उसके शरीर के अणुओं के ऊपर से वह सवितृ के श्रुत का तैजोमय सधन आवरण कुछ हँट जाता है और हल्का हो जाता है। वह उसके शरीर के अणुओं के ऊपर छाया हुआ कहीं-कहीं पर इस प्रकार रह जाता है जैसे कि पृथिवी के ऊपर कहीं-कहीं आग का धुआँ उठकर छा जाता है।

जब योग साधना करने वाला साधक और अधिष्ठत तप करके अपने मन को पूर्ण रूप से नियंत्रित कर लेता है और मन को निर्बीज बनाने लग जाता है तो उसके शरीर के अणुओं से निकलने वाली सवितृ की सधन शक्ति को चारों ओर फैले हुए तैजोमय श्रुत की चारों ओर अणुओं से बाहर स्थित समष्टि ब्रह्म में स्थित सवितृ की चारों ओर के साथ एकत्रित होकर दोनों इस प्रकार देदीप्यमान हो जाते हैं। जैसे कि सूर्य के चमकने पर सूर्य का प्रकाश और तेज, पृथिवी के साथ मिल जाते हैं। पृथिवी और सूर्य के बीच उस समय कोई आवरण नहीं रहता। दोनों एक दूसरे के सम्मुख होते हैं। इसी प्रकार साधक के शरीर के अणुओं से निकलने वाला सवितृ का तैजोमय श्रुत बाहर के वातावरण में स्थित सवितृ के तैजोमय श्रुत के आगने सागने एक दूसरे पर प्रभाव डालने लग जाते हैं।

जब साधक और अधिष्ठत तप करके साधना करता है और अपने शरीर के अणुओं से निकलने वाले सवितृ के तैजोमय श्रुत की चारों ओर के वेग को और अधिष्ठत बढ़ा लेता है तो उसके शरीर के अणुओं से निकलने वाला सवितृ का तैजोमय श्रुत का आवरण वातावरण में विद्यमान श्रुत को अपने आवरण के बल से इस प्रकार झकझोर देता है जिस प्रकार कि वायु का वेग पूरे वायुमण्डल को झकझोर देता है।

इसके पश्चात् साध्य जब और अधिक योगसाधना का तप करता है तो उसके शरीर के अणुओं से निकलने वाला सवितृ के ऋतु का आवेग इतना तीव्र हो जाता है कि उससे 'सर्व' शक्ति को धारण करे हुए ऋतु की ऊर्जा इस प्रकार निकलने लग जाती है जैसे कि अग्नि से तपस् की ऊर्जा निकलती है। उस समग्र साध्य का शरीर अग्नि के समान सवितृ के तेज की तपस् को छोड़ने वाला बन जाता है। उसके शरीर के अणुओं की जाँच के तपः लोक से सवितृ के 'अंगिरा' और 'भृगु' अपनी ऊर्जा को लेकर बाहर निकलने लगते हैं। वे नैम के बारह घंटों के चक्रों में फँस कर अपनी ऊर्जा का उपयोग अन्य देवों की रचना में नहीं कर पाते। क्योंकि अब योगी अपनी निर्बीज समाधि में सम्मिल होने लगा है, जिसके कारण 'अंगिरा' और 'भृगु' कामन दग्ध हो जाता है और उनके मन में अब सृष्टि सृजन की इच्छा नहीं रहती। अतः वे आगे के देवों का सृजन करने में अपनी पूर्व-वृत्ति के स्वभाव के अनुसार पहले जैसा कार्य नहीं करते। वे कुछ शिथिल हो कर बिना मन के कार्य करते हैं। अतः वे अपनी ऊर्जा के कुछ अंश को बचा कर अणुओं की जाँच से बाहर आ जाते हैं और योगी का शरीर अग्नि की तरह तपने लगता है। परन्तु क्योंकि वह योगी के शरीर के अणुओं की जाँच में योगी द्वारा अपने मन के नियन्त्रण से उत्पन्न की गई प्रक्रिया होती है, अतः उस साध्य को अपने शरीर में इस तपस् का कुछ भी कष्ट अनुभव नहीं होता, अपितु अपने शरीर के अणुओं की जाँच के अवयवों में सवितृ का वेग बढ़ने के कारण नुदन का कम्पन प्रक्रिया का वेग बढ़ जाता है, जिससे उसे अपने मन में उल्टा एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती है और उस साध्य का शरीर सवितृ के तेज से तेजस्वी बन कर ऋतु के आवेग से आभा के कारण दमकने लगता है। उसके मुखमण्डल पर एक विशेष प्रकार की कान्ति आने लगती है। दूसरे व्यक्तियों को अब उसके तप का प्रभाव उसके शरीर में स्पष्ट दिखाई देने लग जाता है। योगी को इस तप की अग्नि के सन्मुख वातावरण में विद्यमान प्रत्येक आवरण उसके शरीर के अणुओं के चारों ओर से छँटता चला जाता है और समष्टि रूप में व्याप्त परमव्योम के सवितृ का योग उसके शरीर के अणुओं की जाँच से निकलने वाले सवितृ के स्वरूप के साथ अधिक शक्ति के आवन्द्य के साथ बढ़ता ही चला जाता है।

जब योगी और अधिक तप करता हुआ और अधिक योगसाधना करता है तो उसके शरीर की स्थिति उस योग प्रक्रिया में जुगुनूँ के जैसी हो जाती है। जैसे जुगुनूँ कभी-कभी रात्रि में चमक कर अपने शरीर से अग्नि की ऊर्जा का प्रकाश छोड़ता रहता है, उसी प्रकार अब सवितृ का आवेग उसके शरीर के अणुओं की जाँच से बाहर निकलने का इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह उस साध्य के शरीर से बाहर आकर भी बाहर के वातावरण में स्थित देवों को व्यवस्थित

करके अपनी सत्प्रभा की 'सर्व' शक्ति के बल से दीर्घायुमान करने लगा जाता है। जैसे जुगनों के शरीर से बाहर हो कर प्रकाश के कण अग्नि की तपस् से बनते हैं और उसके शरीर को नहीं जलाते, उसी प्रकार साधक योगी के शरीर से बाहर आकर सवितृ का तेजोमय 'सर्व' शक्ति से युक्त श्रुत अपनी ऊर्जा के बल को प्रकाशित करने लग जाता है। परन्तु यह प्रकाशन अभी जुगनों के प्रकाश की भाँति बहुत ही क्षीण अवस्था का कम शक्ति वाला होता है। यह योगी के शरीर के द्वारा नियन्त्रित होकर उसके शरीर से प्रस्फुटित होने वाले सवितृ के तेज की प्रारम्भिक रूप की बाह्य वातावरण को प्रभावित करके नियन्त्रित करने की अवस्था होती है। इसके पश्चात् साधक योग का और अभ्यास करता हुआ इस स्तर को बढ़ाता चला जाता है।

जब साधक और अधिक योग साधना का तप करता है तो उसके शरीर की अवस्था स्फटिकमणि जैसी हो जाती है जो निरन्तर अबाध गति से अपनी चमक का तेजोमय प्रकाश वातावरण में प्रक्षेपित करती रहती है। बाहर के वातावरण से जो प्रकाश स्फटिकमणि को प्राप्त होता है, उसी को वह अपने अन्दर समाहित करती है और फिर धीरे-धीरे मन्द गति से उसी प्रकाश को वातावरण में फैलती रहती है। इसी कारण वह स्फटिकमणि रात के अँधेरे में भी अपना मन्द-मन्द प्रकाश देती रहती है। ठीक इसी प्रकार योगसाधना करने वाले योगी के शरीर के अणु बाहर के वातावरण में से सवितृ के तेजोमय 'सर्व' शक्ति वाले श्रुत को धाराओं के द्वारा अभिशोषित करते हैं और अपने अन्दर के अवशेषों को उससे पोषण प्राप्त करके पुष्ट करते हुए, उसी सवितृ के श्रुत को बाहर फैलते रहते हैं। उस बाहर फैले जाने वाले सवितृ के तेजोमय श्रुत को 'सर्व' शक्ति का पोषण करने वाला बल वातावरण में कुछ सीमित दूरी तक ही अपना प्रभाव डाल पाता है। उसका बाहर निकलने का आवेग कुछ कम होता है जो थोड़ी ही दूर प्रक्षेपण के बल से चल कर रुक जाता है। जैसे स्फटिकमणि का प्रकाश थोड़ी ही दूर जा पाता है, उसी प्रकार साधक के शरीर के अणुओं द्वारा सवितृ का प्रक्षेपित तेजोमय श्रुत थोड़ी ही दूर जा पाता है और फिर रुक जाता है। उस अवस्था में योगी अपने वातावरण के रुक स्रोत से आश्रम को ही अपने मन के संकल्पों द्वारा नियन्त्रित करने में उस श्रुत के आवेग द्वारा समर्थ हो पाता है।

परन्तु जब साधक तप करता हुआ और अधिक योगसाधना करता चला जाता है तो अन्तिम अवस्था में वह अपनी सिद्धि की चरम सीमा तक पहुँच जाता है। उस समय साधक के शरीर की अवस्था चन्द्रमा की भाँति हो जाती है। चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है। वह उस प्रकाश के 'प्रकाशकणों' (Photons) के द्वारा पोषण भी प्राप्त करता है और उन्हें अपनी पूर्ण शक्ति से वापिस प्रक्षेपित करके प्रतिमावर्तित (Reflect) भी कर देता है। उस प्रतिमावर्तन (Reflection) के

प्रक्षेपण का आवेग लगभग उतना ही रहता है, जितना आवेग उस प्रकाश को प्राप्त करते समय होता है। इसी कारण वह प्रत्यावर्तित प्रकाश की चोंदनी आकाश में रात्रि के अँधेरे को हटाती हुई अनन्त दूरी तक परमव्योम में चली जाती है। ठीक इसी प्रकार जब साधक अपनी योगसाधना करता हुआ अपने तप की चरमसीमा पर पहुँच जाता है तो उसके शरीर के अणु वातावरण में से सवितृ की तेजोमय 'सर्व' शक्ति को ऋतु की धाराओं को जितने आवेग से अभिशोषित करते हैं, लगभग उतने ही आवेग से उन्हें अपने से बाहर प्रक्षेपित करने लग जाते हैं। सवितृ की ऋतु की धाराओं का उस योगी के शरीर द्वारा यह प्रक्षेपण का आवेग लगभग उतना ही बन जाता है, जितना कि समष्टि ब्रह्म के सवितृ का आवेग उसके शरीर के द्वारा अभिशोषित करते समय होता है। अतः उस प्रक्षेपित सवितृ के तेजोमय 'सर्व' शक्ति वाले ऋतु की धाराओं की तरंगों का आवेग इतना अधिक होता है कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैल कर पहुँचने लगता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की चोंदनी परमव्योम में स्थित आकाश में प्रकाश की तरंगों के द्वारा अनन्त दूरी तक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैल जाती है, उसी प्रकार उस साधक के शरीर द्वारा सवितृ के ऋतु की प्रक्षेपित धाराओं की तरंगें अनन्त दूरी तक समस्त ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती हैं। वह योगी उस समय अपने मन के संकल्पों द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड को प्रभावित करने में समर्थ हो जाता है। उस समय वह साधक योगी 'ब्रह्मर्षि' कहलाने लगता है, क्योंकि उस समय उसके शरीर से सवितृ का तेज रिस कर पूरे ब्रह्माण्ड में जाने लगता है, जिसके कारण वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करने में समर्थ हो जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने शरीर से सवितृ के तेज के रिसाव द्वारा नियन्त्रित करने में समर्थ ऋषि ही 'ब्रह्मर्षि' कहलाता है। अंगिरा, भृगु, विशिष्ट, भारद्वाज, दीर्घतमा आदि जितने भी 'ब्रह्मर्षि' हुए हैं, वे सभी इसी सामर्थ्य को प्राप्त करने वाले ऋषि हुए हैं।

इस प्रकार योगी साधक की साधना में, "कुहरा, चूजों, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, स्फटिकमणि और चन्द्रमा योग के अभ्यास में ब्रह्म की अनुभूति की अतिव्यक्ति करने वाले" होते हैं। योगी के शरीर के अणुओं में ऋतु के जो पञ्चावर्त बनते हैं, उन का कारण मन में उदित होने वाले संकल्प-विकल्पों की चिन्त की वृत्तियाँ होती हैं। उन पञ्चावर्तों में सवितृ का चलने वाला तेजोमय ऋतु अटक कर अपने आवेग को कम कर लेता है। अतः वह जितने आवेग के साथ साधक के शरीर के अणुओं में प्रवेश करता है, उतने ही आवेग से शरीर के अणुओं से बाहर नहीं निकलता। इसी कारण प्रत्येक अणु में गुणत्वाकर्षण बल उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ये पाँचों आवर्त पाँच स्थानों पर सवितृ के ऋतु के आवेग के लिए वेग में दुरवों के समूहों को उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं। [पञ्चावर्तम पञ्चदुरवौ धवैगाम्।] अतः सवितृ के 'सर्व' शक्ति वाले

ऋत के वेग में कभी पञ्चावर्तों के कारण आती है, और पञ्चावर्तों का वेग मन के संकल्पों - विक्लपों की चित्त की वृत्तियों के कारण बढ़ता है। [मनसोजवीयः।] इस प्रकार चित्त की वृत्तियाँ ही साधक के शरीर के अणुओं में से सवितृ के ऋत के बाहर निकलने के वेग में रुकावट का मूल कारण बनती हैं। अतः योगी साधक अपनी योग साधना के द्वारा जैसे-जैसे अपनी चित्त की वृत्तियों का निरोध करता चला जायेगा और जितने स्तर तक उत्तरोत्तर रूप में इसमें सफलता प्राप्त करता चला जायेगा त्यों-त्यों उसके योग साधना के तप का स्तर बढ़ता चला जायेगा और उसके शरीर के अणुओं में से बाहर निकलने वाले सवितृ के 'सर्व' शक्ति वाले तेजोमय ऋत की चाराओं का वेग त्यों-त्यों बढ़ता चला जायेगा और योगी का शरीर ब्रह्म की अभिव्यक्ति में क्रमशः इन, "कुहरा, च्युओं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगलू, स्फटिकमाण, चन्द्रमा," आदि की स्थिति को प्राप्त करता चला जायेगा। इसी प्रक्रिया को उक्त मन्त्र में बताया गया है। ये योग की सफलता के बताने वाले उत्तरोत्तर क्रम हैं।

इस सवितृ के ऋत की चाराओं का वेग एक पाश की भी रचना करता है, जिस पाश के बन्धन में अणु की नीम के अन्दर रहने वाले अवयव भी एक सूत्र के पाश में बँध कर अणु को एक इकाई का स्वरूप बनाते हैं और उस अणु में गुरुत्वाकर्षण का बल तथा सभी पाँच प्रकार के बल उत्पन्न करते हैं। च्यान रहे आधुनिक विज्ञान वेत्ता केवल चार प्रकार के बल बताते हैं। ये बल पाँच प्रकार के हैं। एक प्रकार के बल का उन्हें अभी तक ज्ञान नहीं है। ये पाँचों प्रकार के बल एक सूत्र में ग्रीथित हो कर ही एक पाश की रचना करते हैं। पाँच प्रकार के ऋत के आवर्तों के द्वारा ही उनके वेग से ये पाँच प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं और एक के द्वारा दूसरा ग्रीथित होते हुए एक सूत्र में बँध जाते हैं और एक पाश की रचना कर देते हैं। पञ्चावर्त की व्याख्या करते समय प्रह्ले बता चुके हैं। (आधुनिक विज्ञान वेत्ता अभी तक नीम में इन बलों को एक सूत्र में बँधने की प्रक्रिया को समझ नहीं सके हैं) अतः इस पाश रचना की अवयवों की बाँधने की शक्ति अणु के अन्दर सवितृ के तेजोमय ऋत की चाराओं के वेग के कारण बनती है। इस ऋत की चाराओं के वेग से सवितृ के पाश द्वारा जहाँ अणु के अन्दर के अवयव एक इकाई के पाश में बँधते हैं, वहीं एक अणु दूसरे अणु की भी अपने गुरुत्वाकर्षण बल द्वारा चिपका कर अपने साथ एक योग (Molecule) की रासायनिक क्रिया की इकाई में बाँध लेता है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के योग (Molecules) भी आपस में एक दूसरे को चिपका कर एक बड़े शरीर के अर्थात् अणु के रूप में एक इकाई में बाँध लेते हैं। इस प्रकार इस सवितृ

के मृत की चाराओं के प्रवाह से पञ्चमहाभूतों का स्वरूप सृजित होकर खड़ा हो जाता है। इसी प्रक्रिया को अगले मन्त्र में स्पष्ट किया जा रहा है।--

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलरवे समुत्थिते पञ्चात्मके योगागुणे प्रवृत्ते ।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ (12)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश - इन पञ्चमहाभूतों के सृजित होकर अलग-अलग खड़े होने पर उन पौंचों का एक सूत्र में ग्राहित होकर, जुड़ कर योग के गुण में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस योग के गुण में प्रवृत्त होने पर जो योगाग्निमय शरीर किसी अर्धपिण्ड को प्राप्त होता है, (अणु आदि के रूप में) उस को न रोग लगता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु होती है।

योगाग्निमय शरीर का अर्थ यहाँ पर 'अग्नि' के योग से बना शरीर का 'पुर' है जिसमें 'पुरुष' निवास करता है। 'अग्नि' यहाँ पर वह 'अग्नि' है जिसे ऋग्वेद में, "अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवम् मृत्विजम् । होतारम् रत्नधातमम् ।" कह कर बताया गया है। जो 'अग्नि' मृत से उत्पन्न होने वाले देवों की रचना करती है तथा जो सृष्टि के सृजन में इन देवों के पञ्चमहाभूतों के बने अर्धपिण्डों के पुर में स्थापित कर देती है। इस प्रकार जो अग्नि ब्रह्म के स्वरूप 'मृत', पुरुष के स्वरूप 'जीवात्मा' तथा पञ्चमहाभूतों के अर्धपिण्डों के स्वरूप 'प्रकृति', इन तीनों का व्यष्टि रूप में समग्र रूप का रचीयता है, वह 'अग्नि' है। उस 'अग्नि' के स्वरूप को मैं (मन्त्रदृष्टा ऋषि) स्तुति करता हुआ सुव्यवस्थित रूप से मन्त्रों के द्वारा ऋग्वेद में अनुशासित करता हूँ। उसी अग्नि के योग से जो अर्धपिण्डों के शरीर अनादि काल से प्रकृति के रजकणों के रूप में बनते आये हैं, जिन से पञ्चमहाभूतों का स्वरूप पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के रूप में खड़ा है, वह सदैव भीव्य में भी इसी प्रकार खड़ा रहेगा। एक पिण्ड के हटने पर उसके स्थान पर दूसरा पिण्ड खड़ा हो जायेगा। सृष्टि का चक्र सदैव इसी प्रकार चलता रहेगा। इस चक्र को न कभी कोई रोग लगता है, न कभी इसे बुढ़ापा आता है और न कभी उसे मृत्यु प्राप्त होती है। यह सृष्टि की एक इकाई का बना शरीर ही "योगाग्निमय शरीर" है। क्योंकि वेदोक्त 'अग्नि' के योग से इस सृष्टि का शरीर ही बनता है। यह सृष्टि अनादि और अनन्त तथा अजर अमर है। सदा से रहती आई है और इसी प्रकार सदैव रहेगी। इस सृष्टि के अन्दर

जो अर्धपिण्डों के रूप में या पुरुष के रूप में या सद्-असद् ब्रह्म के सक्रिय रूप 'मृत' के रूप में अवयव हैं, वे इस सृष्टि की सक्रियता के चक्र के कारण एक दूसरे में अपना रूप बदलते रहते हैं। जैसे एक मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र पहन लेता है, वही प्रकार एक स्वरूप भिन्न कर नये स्वरूप में बदल जाता है। परन्तु मूल रूप के इस चक्रीय तत्त्व के शरीर में कोई विकार नहीं आता। वह चक्र ज्यों का त्यों चलता रहता है। उस चक्र में यदि कभी कोई असन्तुलन उत्पन्न हो जाये तो उस असन्तुलन को दूर करने की उस चक्र में स्वयं में सामर्थ्य होती है। वह उस असन्तुलन उत्पन्न करने वाले कारण के स्वयं नष्ट कर देता है और इस प्रकार कारण को नष्ट करके असन्तुलन को स्वयं वीक कर लेता है। अतः इस प्रौगाग्निमय शरीर को कभी भी कोई रोग नहीं लगता। सद् ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर असद् ब्रह्म बनता है और असद् ब्रह्म का क्षरण समाप्त होकर सद्-ब्रह्म उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इस सद्-असद् के समुद्र में विक्षरण की प्रक्रिया चलती रहती है और उससे इस सृष्टि की चारों दिशाओं जीवित रहती है। यह विक्षरण की प्रक्रिया निरन्तर समरूप से चलती रहती है। अतः सृष्टि के इस प्रौगाग्निमय शरीर को कभी न बुढ़ापा आता है और न कभी इसकी मृत्यु होती है। अर्थात् न कभी यह विक्षरण रुकता है, जिससे जीवन की मृत्यु हो जाये और न कभी इस विक्षरण की गति थोड़ी पड़ती है, जिससे कभी इस सृष्टि के शरीर को बुढ़ापा आ जाये। ऋग्वेद में इस प्रक्रिया को इस प्रकार कहा है-

तस्याः समुद्रा अधिविस्तरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशाश्चतस्रः।

ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुपजीवति ॥ (ऋग्वेद-१, १६५, ५२)

सृष्टि के इस सृजन के समुद्रों में (प्रकृति, जीव, ब्रह्म-तीनों के समुद्रों में) अधिविस्तरण होता रहता है, जिसके कारण इस सृष्टि की चारों दिशाओं जीवित रहती है। जब अक्षर सद्-ब्रह्म क्षरता है तो उस क्षरण से यह सारी सृष्टि जिस में ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति सभी समाहित हैं, सभी अपना-अपना उपजीवन प्राप्त करेते हैं। सद् से असद् ब्रह्म के क्षरण का जीवन चलता है। असद् ब्रह्म से पुरुष के क्षरण का जीवन चलता है जो पुरुष जीवात्मा है। पुरुष के क्षरण से प्रकृति का जीवन चलता है। प्रकृति पुनः असद् ब्रह्म में बदल जाती है और असद् ब्रह्म पुनः सद् ब्रह्म में बदल जाता है। इस प्रकार इस

विशरण की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया से सभी का जीवन निरन्तर समरूप में चलता रहता है। ज इस जीवन चक्र की कभी कोई समाप्ति नहीं है, न कभी इसमें बुढ़ापा आता है और न कभी इसकी मृत्यु होती है। इस चक्र से पञ्चमहाभूतों का स्वरूप खड़ा होता है तथा इसी से उन पञ्चमहाभूतों के ग्रहण से यह सृष्टि का प्रौढाग्निमय शरीर बनता है। यह तारी प्रक्रिया सवितृ की तेजोमय ऋतु की चाराओं से उत्पन्न तरंगों के कारण होती है।

जब सीमित आयाम के ऋतु के रुक बिन्दु पर अवात अवस्था में लाकर रुक शीर की रचना कर दी जाती है तो उसके केन्द्र में स्थित 'अ' की सत्याभा से सत्यलोक के ऊपर तपः लोक की रचना होती है। उस तपः लोक में उसी सत्याभा के ऋतु से 'अंगिरा' और 'भृगु' ऋषियों की रचना हो कर ऋतु की चाराओं के प्रवाह के रूप में 'सवितृ' देव की उत्पत्ति होती है। ये सवितृ की ऋतु की चाराओं तपः लोक से जनः लोक में जा कर चतुर्भुवी ब्रह्मा की रचना करती है। ब्रह्मा जी आगे महः लोक तथा स्वः लोक में 'पुरुष' की रचना करके दशमौलिक अर्धों से ग्रथित अदिति की रचना करते हैं। अदिति माता बन कर पुरुष के ऋतु के रेत से गर्भित होती हुई वसुओं के इन्द्र के रूप में 'व' कण बना कर जन्म देती है और अपने से आगे के गोष्ठ में फैल देती है। आणविक रचना के पदावत सृजन के क्रम में पीछे इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ इसके सचित्र वर्णन को समझा जा सकता है। पृष्ठ (47) पर वने चित्र में इसे समझें।

इस प्रकार 'व' कणों के द्वारा आगे अदितियों का सृजन होता है। फिर अदितियों के पुत्रों से सूर्यचक्षु के राजकणों (Photons) की रचना होती है। सूर्यचक्षु के पुत्रों के आवर्त से षड्वृन्दारणों (Six quarks) की रचना होती है। ये सभी रचनाएँ परमव्योम में स्वतन्त्र रूप से विचरण करती हैं। इन्हीं के इन स्वतन्त्र विचरण के स्वरूपों से 'आकाश' महाभूत की रचना होती है। 'आकाश' का अर्थ है 'अ' से लेकर 'क' तक के ग्रथित स्वरूपों की स्थिति तब के भूतों से बना महाभूत। इस प्रकार पहले सवितृ के तेजोमय ऋतु से आकाश महाभूत बन कर खड़ा होता है।

उस आकाश महाभूत के खड़े होने के उपरान्त भुवः लोक की रचना वृन्दारणों के द्वारा त्रिवर्तियों (The three mesons, π^0 , π^+ , π^-) के बने से होती है। ये आवर्तिगत कण अणुओं के रूप में वातावरण में स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हैं। ये कण ही भूः लोक के 'न' (Neutron), 'प्रोटॉन' (Proton) तथा 'इलेक्ट्रॉन' (Electron) कणों की रचना करते हैं। ये सभी कण जब स्वतन्त्र

रूप में अपने-अपने आवेश के बल को लिये हुए आगे और रचना करने के लिए परम व्योम में विचरण करते हैं। तो ये अपने भूतों से 'वायु' महाभूत की रचना कर देते हैं। वायु महाभूत से अग्रजों में आवेश का बल बढ़ने से 'अग्नि' पैदा हो जाती है। जब 'ज', 'चिक्', 'इत्' कण ग्रथित होकर एक पूर्ण अणु (Atom in its full shape) की रचना कर देते हैं और वे अणु आपस में एक-दूसरे से बहुत ही ढीले बन्धन के पाश में बँध कर विभिन्न प्रकार की गैसों के प्रयोग (Molecules) बनाते हैं। तो उन सभी गैसों के भूतों से 'वायु' महाभूत बन कर खड़ा हो जाता है।

जब विभिन्न अणुओं के प्रयोग (Molecule) में सवितृ के भूत की धाराओं से बने पाश की शक्ति कुछ अधिक हो जाती है तो प्रत्येक अणु का अपना भी कुछ सघन (Dense) रूप बन जाता है और वे प्रयोगों में जुड़ते समय भी अपने पाश की शक्ति को कुछ बढ़ा लेते हैं। परन्तु यह शक्ति अभी इतनी कम होती है कि एक प्रयोग (Molecule) दूसरे प्रयोग (Molecule) के साथ मजबूती से चिपक कर नहीं रह पाता। वे एक-दूसरे के साथ से फिसल कर बहते हुए नीचे के ढलान को और चल देते हैं। ऐसे भूतों के बने महाभूत को 'जल' कहते हैं। इस प्रकार जल (Liquid state of Matter) महाभूत बन कर खड़ा हो जाता है।

जब विभिन्न अणुओं के मध्य चलने वाला सवितृ के भूत के चक्र का वेग कुछ और अधिक हो जाता है, तो एक अणु के साथ दूसरे अणु को बँधने वाले पाश की शक्ति कुछ बढ़ जाती है। उस अवस्था में एक अणु के साथ दूसरा अणु और एक प्रयोग (Molecule) के साथ दूसरा प्रयोग (Molecule) जहाँ चिपक कर रुक जाता है, वहाँ वे एक-दूसरे को मजबूती के साथ पकड़ लेते हैं। अब वे एक-दूसरे का साथ छोड़ कर फिसल कर बह कर नहीं चलते अपितु एक अर्धपिण्ड के रूप में एक विशेष प्रकार के आवार को धारण कर लेते हैं। इन अर्धपिण्डों के बने भूतों से बने महाभूत को 'पृथिवी' महाभूत का नाम दे दिया जाता है। इस प्रकार अन्तिम अवस्था में 'पृथिवी' महाभूत बन कर खड़ा हो जाता है। इस 'पृथिवी' महाभूत में इस प्रकार सभी पाँचों महाभूतों का स्वरूप समाहित होता है। अणुओं में 'ज', 'चिक्', 'इत्' कणों, अग्नि, वृन्दारकों का बना आवेश महाभूत, अग्रजों का बना अग्नि महाभूत, प्रयोगों का बना वायु तथा जल महाभूत और पिण्डों का बना पृथिवी महाभूत ये पाँचों महाभूतों के स्वरूप सब से पीछे बने पृथिवी महाभूत के स्वरूप में समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार भूत की सवितृ की धाराओं के द्वारा अणु की जगह में आन्तरिक पाश के आवन्धन द्वारा तथा पूर्ण अणुओं के प्रयोग बनते समय अणुओं के बाह्य आवन्धन के पाश द्वारा इन पञ्च महाभूतों का स्वरूप बन कर खड़ा हो

जो जाता है। इसी बात को इस मन्त्र में, "पृथ्व्यप्तेजोऽग्नेराग्नेः सन्निधौ पञ्चात्मके योगे गुणे प्रवृत्ते" वह कर सवितृ को इन पञ्चमहाभूतों के पञ्चात्मक रूप को खड़ा करने के गुण के योग में प्रवृत्त (लगा हुआ) बताया है। इस पञ्चात्मक योग के गुण से जो अग्नि के योग से शरीर इस सम्पूर्ण सृष्टि का बनता है, उसको न कभी कोई रोग लगता है, न कभी बुढ़ापा आता है और न कभी इसकी मृत्यु होती है। यह अनन्त काल से सृष्टि इसी प्रकार बनती आई है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार बनती रहेगी।

[तस्माद् वा सूतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथिवी।] (तैत्तिरीयोपनिषद्-2-1-1)

सवितृ के ऋतु की चाराओं द्वारा बने सव अणु की नीम तथा इत् लणों के ग्रासन और उसके उपरान्त सव अणु के साथ दूसरे अणु का ग्रासन करके सव योग को अपने पाश में बाँधने वाले सक्रिय स्वरूप का चित्र प्रथम अध्याय में लगे पृष्ठ नं. (106) पर देखें। इससे सवितृ की यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। सव अणु के अन्दर सवितृ की ऋतु की चाराओं द्वारा बने पाश के आबन्धन के स्वरूप का चित्रण पृष्ठ (276) पर भी किया गया है। उसे देखें। पञ्चारे उस सवितृ की ऋतु की चाराओं के ही बनते हैं तथा अणु के सभी अलग-अलग सव पाश में बाँधते हुए और उन का सृजन करते हुए तीन ओरों के पुञ्ज के रूप में अणु से बाहर निकल जाते हैं। चित्रों को देखें।

तैत्तिरीयोपनिषद् में इन पञ्चमहाभूतों के बन कर उठ खड़े होने की प्रक्रिया को इस प्रकार बताया है, "तस्माद् वा सूतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथिवी।" (तैत्तिरीयोपनिषद्-2, 1, 1)। साथ में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि, "तत् तैजोऽसृजत"। (छान्दोग्य उपनिषद्-6, 2, 3) अर्थात् इस पञ्च महाभूतों के पञ्चात्मक योग को सवितृ के तेज में पैदा किया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के रचनाकार ऋषि के मतानुसार उस सद्-ब्रह्म से असद्-ब्रह्म बन कर 'पुरुष' के रूप में आत्मा बनी। इस आत्मा के स्वरूप के दशांगुल पुरुष से दशमौलिकार्थों की रचना द्वारा आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश महाभूत में 'ल' लणों की ऊर्जा के विभिन्न स्तरों की वय के कारण आकाश के भूतों में वात चक्र उत्पन्न हो कर आवर्त बनाने वाली वायु उत्पन्न हुई। उन वातचक्रों के द्वारा वायु के भूतों में आवेष्टा उत्पन्न हो कर अमणों के रूप में 'अग्नि' उत्पन्न हुई। अग्नि के अमणों द्वारा विद्युत की तरंगें बन कर उन से अणुओं का योग (molecule) बना और उस से जल महाभूत

उत्पन्न हुआ। जैसे कि H_2 और O_2 के मिश्रण में विद्युत की तरंग चलने पर H_2O (जल) का ग्रीक (Molecule) बन जाता है। इन जल के ग्रीकों में और अधिक आबन्धन शक्ति बढ कर पृथिवी महाभूत उत्पन्न हो गया। जैसे कि पानी जम कर ठोस वर्क के रूप में बन जाता है।

ऋषि के द्वारा वर्णित रचना का यह उपक्रम अधिक तर्क संगत है। इसमें अन्तर केवल वायु महाभूत के स्वरूप के चिन्तन का है। आयुनिष्ठ विज्ञान वेत्ता पदार्थ की अवस्था गैस को वायु महाभूत के अर्थ में लेते हैं। जब कि वेदवेत्ता ऋषि आकाश के भूतों की ऊर्जा के वय में अन्तर के कारण उत्पन्न आकाश महाभूत में बने गतिमान आवर्त को ही वायु का बहाव मानता है। यहाँ ऋषि का चिन्तन अधिक गहन और सूक्ष्म है तथा अधिक तर्क संगत है। क्योंकि ऊर्जा के वय के बहाव को ही वायु कहना अधिक युक्ति संगत लगता है। दूसरे अग्नि के अग्रनों से जल महाभूत की उत्पत्ति भी अधिक विज्ञान सम्मत दिखाने देती है। क्योंकि H_2 और O_2 के मिश्रण में अग्नि को विद्युत द्वारा प्रवाहित करने से ही जल (H_2O) का ग्रीक (Molecule) बनता है। उसके उपरान्त जल जब ठंडा होकर बर्फ का ठोस पिण्ड बन जाता है तो जल से पृथिवी का अर्धपिण्ड बन जाता है। अतः उपनिषद् में ऋषि का यह कथन अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। जो भूत पहले जलीय अवस्था में होते हैं, वे ही कालान्तर में अपने पाश की शक्ति को बढा कर पृथिवी की अवस्था में आ जाते हैं।

ऐसा भी नहीं है कि कभी विशेष देश काल में यह सृष्टि का सृजन हुआ हो और अब सृजन न हो रहा हो, केवल पूर्व रचित अवस्था ही स्थिर हो। कभी भी इस सृष्टि के स्वरूप में कोई भी रचना रुक बार सृजित हो कर अपने उसी रूप में स्थिर नहीं रहती। यदि ऐसा हो जाये तो सृष्टि निर्जीव हो जायेगी और उसमें जीवन की सक्रियता समाप्त हो जायेगी। अतः इसमें जीवन की सक्रियता को बनाये रखने के लिए इसमें सम्भूति और विनाश का क्रम साथ-साथ सदैव चलता रहता है। यह क्रम अनन्त काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि किसी काल के अंश में केवल सद्-ब्रह्म का ही स्वरूप अकेला शेष रह गया हो तथा और सभी स्वरूप विनाश को प्राप्त हो गये हों, अथवा केवल असद्-ब्रह्म का स्वरूप ही बच कर शेष रह गया हो तथा और सब स्वरूप विनष्ट हो गये हों, अथवा केवल अर्धपिण्डों के रजकण ही शेष रह गये हों और सद्-असद् दोनों प्रकार के ब्रह्म स्वरूपों का विनाश हो गया हो अथवा सद्-असद् और रजकणों सभी का विनाश हो गया हो और केवल उन से खाली हुआ केवल व्योम ही शेष बचा हो। ऐसा कभी भी नहीं होता। सभी कालांशों में सभी स्थानों के देशखण्डों में सदैव व्योम भी रहता है और उसमें विद्यमान सद्, असद् ब्रह्म तथा धूलि के रजकण सदैव विद्यमान रहते हैं और उनका

एक दूसरे के रूप में बदलने का सक्रियता का चक्र निरन्तर सदैव सभी स्थानों पर चलता रहता है। इसी निरन्तर रूपान्तरण के सक्रियता के चक्र को ही विश्वरूप कहा जाता है। सद्, असद्, रजस् (धूलि के रजःकरण) तथा व्योम् की सर्वत्र सदैव विद्यमानता के चक्र को ऋग्वेद में, "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋग्वेद-10, 129, 1) इस मन्त्र को कहकर ऋषि ने बताया है। इस मन्त्र में क्रिया- 'आसीत्' एक वचन में सभी के लिए प्रयुक्त की गई है। जिसका तात्पर्य इन में से अकेले केवल एक रूप की सत्ता को इस मन्त्र के द्वारा नकारा गया है। अर्थात् सद्, असद्, रजस् और व्योम् में से एक अकेला किसी भी काल में किसी भी देश में तब भी नहीं था जब आप सोचते हैं कि उस समय उस काल में उस स्थान पर इन में से अकेले एक का ही स्वरूप विद्यमान होगा। इस प्रकार इनमें से अकेले एक रूप की सत्ता की विद्यमानता को सभी कालांशों में सभी स्थानों पर नकार कर इन सभी के स्वरूपों को संयुक्त रूप में सभी कालांशों में सर्वत्र विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। इस मन्त्र का अर्थ है कि, "न कभी उस समय उस कालांश में कहीं पर असद्-ब्रह्म का स्वरूप अकेला था, न सद् ब्रह्म का स्वरूप अकेला था, न रजस् का स्वरूप अकेला था और न ही व्योम अकेला था।" अर्थात् ये सभी अपने ग्रहीत रूप में सदा से सर्वत्र सभी कालांशों में रहते आये हैं और सदैव रहेंगे। अतः इससे बना पञ्चमहामूर्तों की रचना का पञ्चात्मक योग की अग्नि का शरीर निरोग तथा अजर और अमर है।

योग साधना करने वाला साधक योगी भी कठोर तप करके अपने शरीर को पिछले मन्त्र में बताये गये स्वरूपों, कुहरे, धुँस, सूर्य, वायु, अग्नि, पुंगु, स्फटिक मणि, चन्द्रमा, के स्वरूपों को ब्रह्म में अभिव्यक्ति करने वाले स्वरूपों के समान कार्य करने वाली अवस्था के अनुसार बना लेता है। जब उस योगी का स्वरूप सवितृ के मृत की चारों ओर के योग से आवेशित होकर उनके समान कार्य करने लगता है तो उसको भी "योगाग्निनय" शरीर कहा जाता है। इस योगाग्निनय शरीर को प्राप्त करके योगी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के पञ्चमहामूर्तों के पञ्चात्मक योग के गुण को प्रवृत्ति से ऊपर उठ जाता है। पञ्चमहामूर्तों की अपने योगी में प्रवृत्त होने के गुण को प्रवृत्ति उस योगी के आधीन हो जाती है और वह "मृतजय" की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। उस समय

योगी अपने 'योगाग्निमय' शरीर में 'पुरुष' के जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग दर्शन में—
 "योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः। तदा दृष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।"—
 सूत्रों के द्वारा योगदृष्टा के जिस 'पुरुष' के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने के लिए कहा है, वहाँ इस मन्त्र में भी योगी की आत्मा के उसी शुद्ध स्वरूप को 'योगाग्निमय' शरीर को धारण करने वाला बताया है। यह 'पुरुष' का 'योगाग्निमय' शरीर पञ्चमहाभूतों के स्वरूप की रचना से पूर्व की रचना का स्वरूप है। अतः यह 'पुरुष' का 'योगाग्निमय शरीर' पञ्चमहाभूतों के पञ्चात्मक योग के गुण की प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर जब केवल अपने ही शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, तब न इसको कोई रोग लगता है, न इसमें बुढ़ापा आता है, और न कभी इसकी मृत्यु होती है। इसका स्वरूप आत्मा के रूप में अजर-अमर है। हाँ यह परमव्योम में स्थित अपने परमात्मा के स्वरूप में पूर्ण रूप से शुद्ध, निर्मल हो कर अवश्य विलीन हो जाता है। वह अब आत्मा से परमात्मा बन जाता है और निर्वाण की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

इस 'योगाग्निमय सवितृ' के ऋतु की चाराओं से आवेष्टित शरीर को प्राप्त करने के क्या लक्षण हैं? उन लक्षणों को अगले मन्त्र में बताया जा रहा है।—

लघुत्वमारौच्यमलौलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ (13)

"शरीर का हल्कापन, चिरोगता, अलौलुपता, शारीरिक शोभा की वृद्धि, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध और मलमूत्र की न्यूनता,"— इन सभी गुणों को अपने शरीर में प्राप्त करना, योग की प्रथम प्रवृत्ति कहा जाता है। इन गुणों के लक्षित होने पर स्पष्ट बात हो जाता है कि अब यह साधना करने वाला योगी अपनी योग साधना में वास्तविक रूप से प्रवृत्त हो गया है और उसने योगसाधना की अपनी प्रथम सिद्धि को प्राप्त कर लिया है, जिससे कि उसका योगाग्निमय शरीर उसके अपने पूर्ण जियन्त में हो गया है। वह अपने मन को नियन्त्रित करके चित्त की वृत्तियों का निरोध करने लगा है।

जिस साधक का शरीर योगाग्निमय होने लग जाता है तो उसके प्रथमलक्षण उस साधक के शरीर में क्या-क्या प्रकट होते हैं? उन्हें यहाँ बताया गया है। योग साधक को अपनी योगसाधना प्रारम्भ करने के उपरान्त अपने मन को संकल्पों-विकल्पों से निर्बोध बना कर चित्त में उदित होने वाली प्रत्येक वृत्ति का निरोध करने का अभ्यास करना होता है।

जैसे स्थान के विषय में पीछे बताया जा चुका है वैसे स्थान पर जब साधक शिर, ग्रीवा, वक्रस्थल को सीधा उन्नत अवस्था में रखके पालती मार कर बैठ जाता है और अपनी आँखें बन्द करके ॐ का स्मरण करते हुए अपने मन को सुकाया करके निग्रान्त्रित करता है तथा मन के द्वारा अपनी सभी इन्द्रियों को सूक्ष्म रूप में अपने हृदय में संनिविष्ट करके अपनी सभी चित्त की वृत्तियों का निरोध करता है और अपने मन को निर्बीज बनाता हुआ अपने आप को भी भूलने का प्रयास करता है। इस प्रकार अपने अहम् के संस्कार को भी मिटाता हुआ साधक प्राणायाम का अभ्यास करता है। अपने मन, बुद्धि, प्राणों को निग्रान्त्रित करता हुआ साधक अपने शरीर को पूर्ण विभ्रान्ति की अवस्था में लाने का प्रयास करता हुआ, जितना अधिक समय तक हो सके, उतने अधिक समय तक मन, बुद्धि, प्राणों को विभ्राम प्रदान करता हुआ अपनी रुद्ध ही मुद्रा में बैठा रहता है। जब साधक सब कुछ भूल कर केवल अपने आत्म-तत्त्व की ही अनुभूति करने लगता है तो वह निर्बीज समाधि की अवस्था कहलाती है। जब अपने आत्म तत्त्व के 'अहम्' को भी भूल जाता है तो वह चर्ममैद्य समाधि की अवस्था कहलाती है। इस प्रकार लम्बे अरसे तक बैठने को ही तप कहा जाता है। मन में सब कुछ भूल कर चित्त को सभी वृत्तियों का निरोध करके स्वान्त में लम्बे समय तक बैठने का कार्य बड़ा ही कठिन कार्य है। परन्तु जो तपस्वी इस कार्य में सफलता प्राप्त करने लग जाता है तो उसके मन, बुद्धि, प्राणों को पूर्ण विभ्राम मिलने के कारण उसके शरीर के अणुओं को जीमियों के अवयवों में टूट-फूट बहुत कम होती है, जिसके कारण शरीर के अणुओं को उन जीमियों में सवितृ की तेजोमय श्रुत की चाराओं को अपनी 'सव' शक्ति का कम उपयोग करना पड़ता है और वे सवितृ के तेज की श्रुत की चाराओं उस 'सव' शक्ति के कुछ अंश को चारण लिये हुए उस साधक के शरीर से बाहर निकलने लग जाती हैं। उस समय उस साधक के शरीर को 'योगाग्निमय शरीर' कहा जाता है। जब साधक को इस प्रकार के अपने तप में सफलता मिलने लग जाती है तो उसे सब से पहले अपना शरीर हलका-हलका लगने लगता है। उसे कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे उसका शरीर ही नहीं है। यह उसके मन की संकल्प विहीन निर्बीज अवस्था को दर्शाता है। क्योंकि जब साधक अपने मन, इन्द्रियों, बुद्धि तथा प्राणों को निग्रान्त्रित करने लग जाता है तो सब से पहले वह अपने शरीर की सत्ता को ही भूलता है। उस समय उसे ऐसा लगता है जैसे कि वह अपने शरीर से रहित हो गया हो। इसी अवस्था को ग्रहों इस मन्त्र में 'लघुत्वम्' की अनुभूति बताया है।

जब मन, बुद्धि, प्राणों तथा इन्द्रियों को पूर्ण विभ्राम मिल जाता है तो शरीर में आत्मबल भी बढ़ जाता है। इस आत्म बल के आत्मगुण द्वारा

शरीर में रोगों का प्रतिरोध करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। जिस कारण उसका शरीर रोगों से रहित स्वस्थ हो जाता है। वह निरोग शरीर को धारण करने वाला बन जाता है।

जब मन निर्बीज हो जाता है, चित्त की सभी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और उसे ब्रह्मानन्द के रस की अनुभूति होने लग जाती है, तो उस आनन्द को पाकर वह पूर्ण रूप से तृप्त होने लग जाता है। अतः उस आनन्द के आगे उसे कुछ और प्राप्त करने की इच्छा ही नहीं रहती। अतः उसको कुछ और प्राप्त करने की वोलुपता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है।

जब मन, बुद्धि, प्राणों तथा इन्द्रियों को पूर्ण विभ्राम मिल जाता है तो शरीर में होने वाला टूट फूट तो रुक जाता है और शरीर के अणुओं में से सवितृ की तेजोमय ऋतु की धाराओं के प्रवाह का वेग बढ़ जाता है। उस अवस्था में उस सवितृ के तेजोमय ऋतु की धाराओं के प्रवाह के वेग के बढ़ने के कारण उसके शरीर की कान्ति बढ़ जाती है। उसका माया सवितृ के तेज की आभा को धारण करने वाला बन कर दमकने लगता है और अंगों में स्फूर्ति दिखाई देने लगती है। उसका चहरा खिल उठता है। शरीर की शोभा बढ़ जाती है। शरीर का रंग अच्छा लगने लगता है।

जब शरीर में आत्मबल बढ़ जाता है, मन तृप्ता हो जाता है, शरीर का तेज बढ़ कर शरीर दमकने लगता है तो उस के वाणी के स्वर में भी विनम्रता के साथ सौष्ठव का गुण आ जाता है। वह सब के साथ सहृदय बन कर मीठी वाणी बोलने लगता है। उस की वाणी में से कटुता निवृत्त होती है। ज्यों कि उसका चित्त कोमल हो कर राना-द्वेष से रहित हो जाता है। अतः वह अपनी वाणी के अट्टैल स्वर में बोलने लगता है। जैसे कि कहा है —

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोये।

और हूँ को शीतल करे, आप हूँ शीतल होय ॥

साधक योगी की वाणी में इस प्रकार के सौष्ठव का गुण आ जाता है।

जब साधक के शरीर में से सवितृ के तेज की ऋतु की धाराएँ प्रस्फुटित होकर निवृत्त होने लगती हैं तो उन ऋतु की धाराओं की तरंगों में उसके शरीर की सत्प्रभा की भीनी-भीनी गन्ध भी उस ऋतु के साथ बाहर आने लगती है, जो उस साधक के पास बैठे प्राणियों को

अच्छी लगती है और वह उनका मन मोह लेती है। वह गन्ध शुभ होती है जो सभी प्राणिनों के मन को शान्ति प्रदान करती है। इसी कारण सभी को उस साधक के पास बैठना अच्छा लगता है। उस गन्ध को पाकर जंगल के हिंसक प्राणी शेर आदि भी प्रसन्न चित हो कर अपने मन में तृप्त हो जाते हैं और हिंसा करना त्याग देते हैं। इसी कारण ऋषि के तपोवन में हिरण और सिंह सब साथ बैठ कर ऋषि के सान्निध्य का आनन्द उठाते हैं। उस गन्ध को पाकर वे वन्य प्राणी भी अपने शरीर को भूल जाते हैं और उन्हें भी ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगती है। ऐसे ऋषि के पास बैठने से उसके शरीर की गन्ध से प्रत्येक मनुष्य को शान्ति और पोषण प्राप्त होता है, जिसके कारण वह व्यक्ति ऋषि की संगत करने से कभी भी नहीं थकता। उसका मन बार-बार उस ऋषि के पास बैठने को करता है। उस ऋषि के शरीर की शुभ गन्ध से प्रत्येक को आनन्द प्राप्त होता है।

जब साधक के मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ सभी विभ्रान्त हो जाते हैं और सवितृ के तैजोमय ऋत का वेग बढ जाता है तो वातावरण से बाहर से पञ्च अरों के रूप में आने वाला सवितृ का तैजोमय ऋत ही उस साधक के शरीर के अणुओं की नीम में प्रवेश करके अणुओं में होने वाली अधिकतर टूट-फूट को मरम्मत करने में समर्थ हो जाता है। वह शरीर के अणुओं की मरम्मत करता हुआ शरीर से बाहर भी अपनी सब शक्ति को चारण करके हुए प्रसंयुक्त होता रहता है। अतः ऐसे शरीर का पोषण करने के लिए बहुत ही कम भोजन तथा पानी की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण वह साधक अल्प मात्रा में भोजन खाता है। जब वह आहार ही अल्प मात्रा में करेगा तो मल-मूत्र भी अल्प-मात्रा में त्यागेगा। अतः वह कम मात्रा में मल त्याग करता है और कम मात्रा में ही मूत्र त्याग करता है। उसके शरीर के आहार की अधिकतम पूर्ति सवितृ के ऋत की पञ्च अरों की चाराओं कर देती है तथा उसके मल का अधिकतम भाग उसके शरीर से निक्कलने वाली गन्धों के द्वारा सवितृ के ऋत की तीन अरों की चाराओं के साथ बाहर निकल कर विसर्जित होता रहता है। इसी कारण सब ब्रह्मर्षि इस सवितृ के ऋत की चाराओं से ही पोषण प्राप्त करता हुआ समाधि लगा कर हजारों वर्ष तक सब ही स्थान पर बैठा रहता है। शास्त्रों में ऋषियों के इस प्रकार के हजारों वर्ष तप करने के तथा लम्बी आयु भोगने के आश्वासन मिलते हैं।

इस प्रकार इन गुणों के भाषित होने पर साधक की योग में प्रथम प्रवृत्ति का पता चल जाता है। शंकराचार्य इसके विषय में कहते हैं कि -

ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा ।

गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः ॥

अर्थात् सवितृ के तैजोमय ऋत की चारा के वेग का बढना तथा उस वेग के बढने से शरीर की दीप्ति में वृद्धि होना, जिससे शरीर दमकने लगता है, वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाती है ।

जब सवितृ का तैजोमय ऋत पञ्चअरों की चाराओं के रूप में साध्य के शरीर में प्रवेश करके शरीर को पुष्ट करने लग जाता है और उसको अपने आहार के लिए बहुत कम मोजन और जल की आवश्यकता पड़ती है, उसे सवितृ के ऋत की स्पर्शवती प्रवृत्ति कहा जाता है ।

जब सवितृ के ऋत का वेग इतना अधिक बढ जाता है कि वह साध्य के शरीर से अपनी 'सर्व' शक्ति को चारण करता हुआ बाहर रसने लग जाता है और वातावरण में उस ऋत की चारायें बहने लगती हैं, तो उसे रसवती प्रवृत्ति कहा जाता है । इसी प्रवृत्ति के कारण साध्य योगी - 'ऋषि' बनता है । इसी कारण, 'रसनात् ऋषि' कहा जाता है ।

ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती, ये तीनी प्रवृत्तियाँ सवितृ के तैजोमय ऋत की प्रवृत्तियाँ होने के कारण "परा-प्रवृत्तियाँ" कहलाती हैं ।

चौथी प्रवृत्ति 'गन्धवती' प्रवृत्ति होती है जो, 'अपराप्रवृत्ति' कहलाती है । इस प्रवृत्ति में सवितृ के तैजोमय ऋत की तीन अरों वाली चाराओं के साथ योगी साध्य के शरीर के सूक्ष्म पार्थिव रज्ज्वण भी गन्ध को चारण करके हुए बाहर निव्यलते रहते हैं और वातावरण में फैलते रहते हैं । अतः यह "गन्धवती प्रवृत्ति" - "अपराप्रवृत्ति" कही जाती है ।

इस प्रकार योग में ये चार प्रवृत्तियाँ कही जाती हैं । इन चारों प्रवृत्तियों का वर्णन इस उपनिषद्कार ऋषि ने भी अपने ढंग से इस उपनिषद् के मन्त्रों में अनन्त कर दिया है । इनके ही व्याख्या पीछे मन्त्रों में की गई है, जिनसे लघुत्वम्, आरोग्यम्, अलोलुपत्वम् आदि गुण योगी में उत्पन्न होते हैं ।

योगी साधक को योग की इन चार प्रवृत्तियों से और अपने योग साधना के तप से क्या लाभ होता है ? यह अगले मन्त्र में बताया गया है ।

यथैव बिम्बम् मृदयोपलिप्तम् तेजोमयम् भाजते तत्सुधान्तम् ।

तद्भात्मतत्त्वम् प्रसमीक्ष्य देही रुक् : कृतार्थो भवति वीतशोकः ॥ (14)

जैसे मिट्टी से बना हुआ बिम्ब (कैरि चमकदार सौने, चाँदी या किसी देदीप्यमान पदार्थ का टुकड़ा) धुल जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतार्थ होकर शीकरहित हो जाता है ।

जब मिट्टी में लिपा हुआ कैरि धातु का टुकड़ा किसी बिम्ब (= चमकदार वस्तु) के रूप में होता है तो वह बाहर के वातावरण से आने वाले तेजोमय प्रकाश को परावर्तित नहीं कर पाता, जिससे उसकी तेजोमय चमक की आभा प्रकट नहीं हो पाती । ठीक इसी प्रकार जब योगी के 'पुरुष' रूप 'आत्मा' के ऊपर मन में उदित संकल्पों के, चित्त में उदित होने वाली वृत्तियों की माया के आवरण चढ़े होते हैं तो उसकी 'पुरुष' के रूप में बनी 'आत्मा' का शुद्ध तेजोमय दिव्य स्वरूप जो सवितृ की तेजोमय मृत की चाराओं के अरों से सहस्र शीर्षों, सहस्र पादों तथा दशांगुल रूप द्वारा बना होता है, अपनी आभा को प्रकट करता हुआ साधक के सामने प्रकट नहीं हो पाता । परन्तु जब साधक योग साधना करता हुआ तप करता है और उसका शरीर योग की प्रक्रिया में चन्द्रमा की अन्तिम अवस्था को प्राप्त करता है तो वही साधक उस रुद्र की ऊर्जा की शक्तियों ईशान, ईशानी के द्वारा बने 'पुरुष' रूप 'आत्मा' के तत्त्व को अपनी आत्मा के साथ रख करके देख लेता है । अपनी 'आत्मा' के स्वरूप को देखकर वह साधक कृतार्थ हो जाता है तथा अज्ञान की अविद्या के कारण उपजे प्रत्येक प्रकार के शोक से रहित हो जाता है । चन्द्रमा की अन्तिम अवस्था वही अवस्था है जिसका वर्णन पीछे लुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जल, स्फटिकमणि और अन्त में चन्द्रमा की अवस्था की ब्रह्म में अभिव्यक्ति करने वाले स्वरूपों के रूप में बताया है । 'सुधा' चन्द्रमा को भी कहते हैं । अतः 'तत्सुधान्तम्' का अर्थ यहाँ, "वही सुधा (= चन्द्रमा) वाला अन्तिम रूप" होता है, जो पीछे बताया जा चुका है । "तद् उ आत्मतत्त्वम् रुक् : देही प्रसमीक्ष्य," - का अर्थ, "उस रुद्र की शक्ति वाले ईशान, ईशानी के

आत्म तत्त्व को आत्मा के साथ रख रख करके देख कर,"- बनता है।
 "कृतार्थो वीट शौकः भवते" का अर्थ है कि, "उस आत्म तत्त्व को अपनी
 आत्मा के साथ रख रख करके देखने वाला योगी साधक कृतार्थ हो जाता है
 और अज्ञान के शौक से रहित हो जाता है। उसे ब्रह्म का साक्षत्कार हो कर
 ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है और वह पञ्चक्लेशों से निवृत्त हो कर सभी प्रकार के
 शौकों से रहित हो जाता है।

इस मन्त्र में, "तद् उ आत्मतत्त्वम्", - में 'उ' का अर्थ रुद्र के ऋतु की
 चाराओं की ऊर्जा की शक्ति होता है। वैदिक शब्द कोष में 'उ' का अर्थ रुद्र
 की शक्ति बताया है। रुद्र के ऋतु के चाराओं के स्वरूप को ही 'ईशान' तथा
 'ईशानी' कहा जाता है। उन 'ईशान', 'ईशानी' रूपों के बलों द्वारा ही रुद्र इस
 सारे जगत् को जालवाज बन कर नियन्त्रित करता है और 'मम' देवता का
 स्वरूप धारण करता है। वही सृजन तथा संहार का देवता बनता है। वही
 अर्धनारीश्वर का रूप बन कर सृष्टि का संचालन कर्ता 'शिव' का स्वरूप
 बनता है। इसी कारण पुल्लिंग की सूचक 'पिण्डी' और स्त्रीलिंग की सूचक
 'जलहरी' को शिवलिंग को मूर्ति में स्थापित करके मन्दिरों में उस अर्ध-
 नारीश्वर के रूप की पूजा की जाती है। वही रुद्र का ऋतु अपनी सवितृ
 की 'सव' शक्ति को धारण करके 'स्त्री' और 'पुमान्' दोनों का रूप धारण
 करता है। रूप 'स्त्री' का स्वरूप उन में ऋतु का 'अवर' क्षेत्र 'अपरा' शक्ति से
 युक्त बनता है जो 'अवर' स्वरूप का होने के कारण ऋतु की चाराओं में आने
 वाले 'ऋतु' को अपने अन्दर समाहित करता है। दूसरा उन में 'पुमान्' का स्वरूप
 ऋतु का एक बिन्दु पर आकर सन्निहित हुआ सद्यन रूप प्राङ् स्वरूप होता है
 जो 'परा' शक्ति से युक्त होकर 'प्रयतिः' बन कर 'ऋतु' का चाराओं के रूप में
 वपन करता है। दोनों के मेल से ऋतु का चक्र चलता है। "स्वधा अवरतात्
 प्रयतिः परस्तात्", - (ऋग्वेद - 10, 129, 5) के अनुसार इस ऋतु के सृजन के
 चक्र में ऋतु की स्वधा अवर क्षेत्र से चलती है और ऋतु का पर रूप
 प्रयति के पर क्षेत्र से चलता है। स्वधा ऋतु को धारण करती है और
 'प्रयतिः' ऋतु का वपन करता है। ब्रह्म चक्र में बने ऋतु के इसी चक्र को
 'सृजन का', 'स्थापन का' तथा 'संहार का' प्रतीक बना कर शिव लिंग की
 'पिण्डी' और 'भग' के रूप में समाहित कर के मन्दिरों में भक्तों की पूजा
 के लिए स्थापित किया जाता है। असद्-ब्रह्म में सर्व प्रथम जो रूप 'क्षीर'
 की रचना होती है, जिसके केन्द्र में विष्णु महावान 'प्रयतिः' का रूप धारण
 करके विराजमान होते हैं तथा उस केन्द्र के चारों ओर ऋतु का अवर क्षेत्र
 बनता है और उसमें, "अस्य वामरन्ध्रं पीलितरन्ध्रं" (ऋग्वेद - 1, 164, 1) के
 अनुसार 'अ' के विष्णु स्वरूप द्वारा वपन किये गये ऋतु का वामावर्त में

(Left hand rotating) चारों ओर के रूप में भागले हुए (लिखित) और भगवती बनने के लिए जो मृत का अवरोध बनता है, उस स्वरूपों के द्वारा ही 'शिव लिंग' का स्वरूप स्वयं 'क्षीर' की रचना में स्थापित होकर 'पौलस्त्य' बन जाता है। सद् ब्रह्म - के स्वरूप से जिस सद्-ब्रह्म के स्वरूप में बना 'क्षीर' का रचना का सृजन में प्रथम अवयव होता है। अतः यह सर्वज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक और सर्व निधन होता है। अतः इस सृजन के चक्र में बने सभी देव इस शिव लिंग की आराधना करते हैं और इस से मृत को चारों ओर के अपना पोषण प्राप्त करते हुए अपनी आत्मा के स्वरूप का वला प्राप्त करते हैं। इसी कारण इसमें ब्रह्म, जीव, प्रकृति इन तीनों को निमग्नित करने की शक्ति होती है। इसी कारण इस को 'यम' देवता भी कहा जाता है। 'यम' देवता रुद्र का ही स्वरूप माना जाता है जिसके हाथ में 'सृजन, स्थापना, संहार' का आत्मा का निमग्नण होता है। इसी कारण 'रुद्र' रूप 'महादेव' को ही 'तिष्ठ' का भी सृजनकर्ता पुराणों में कहा गया है। यह रुद्र के मृत को चारों ओर का चक्र ही आत्मा का 'पुरुष' के रूप में रचना करने वाला 'आत्मतत्त्व' बनता है, जिससे आत्मा की रचना होती है। 'देही' - आत्मा को कहा जाता है। वही 'आत्मतत्त्व' स्वयं 'देही' की रचना का स्वरूप बन जाता है। अतः यहाँ इस मन्त्र में शिवित्व के तैज की 'सर्व' शक्ति को चारों ओर किये हुए रुद्र के मृत के चक्र को स्वयं देही की रचना करने वाला आत्मतत्त्व प्रयत्न पूर्वक योगाभ्यास द्वारा समीक्षा करके जानने के लिए तथा अज्ञान के शोक से रहित हो कर अपने योगाभ्यास के कृत कर्म का अर्थ प्राप्त करने वाला 'कृतार्थ' बनने के लिए कहा है। ["तद् उ आत्मतत्त्वम् प्रसमीक्ष्य देही स्वः कीतशोकः कृतार्थो भवति"] इसी अर्थ को प्रकट कर रहा है। इस 'आत्मतत्त्व' का प्रकाशन योगाभ्यास के तप द्वारा उसी प्रकार हो जाता है जैसे किसी मिट्टी में लिये हुए चमकदार बिम्ब की चमक उस मिट्टी को चोकर हटाने से तथा बिम्ब को शोथने से आ जाती है और वह अपने तैज का प्रकाशन करने लग जाता है।

यह आत्मा की रचना करने वाला सीमित आश्रम के व्योम में स्थित मृत के आवर्त का आत्मतत्त्व, उस परमव्योम में स्थित अनन्त ब्रह्म के ब्रह्म तत्त्व से जिस प्रकार अपना पोषण प्राप्त करता है, जिसके द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को उस परमब्रह्म में स्थापित रखते हुए स्थायी बनाये रखती है, इसका वर्णन इस अगले मन्त्र में किया जा रहा है।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपौपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।

अजं ध्रुवम् सर्वतत्त्वं विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ॥ (15)

आत्मा की रचना करने वाले तत्त्व को 'आत्मतत्त्व' कहते हैं, ब्रह्म की रचना करने वाले तत्त्व को 'ब्रह्मतत्त्व' कहते हैं।

(जो आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाला साधक योगी) आत्मा के तत्त्व के साथ ब्रह्म के तत्त्व को दीपक की बत्ती और तेल की उपमा के समान जुड़ा हुआ अपने योगाभ्यास के प्रयत्न में देखता है, वही शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करता है। वह जानी इस 'अ' से उत्पन्न हुए आत्मा के 'अज' स्वरूप को जो 'अ' की सत्याभा बन कर सत्यलोक से सदैव प्रकाशित होती रहती है और जो सदैव अच्युत बन कर सत्यलोक में सदा स्थिर रह कर 'ध्रुव' बनी रहती है, जिस में ब्रह्म का सभी तत्त्वों के द्वारा विशुद्ध रूप से निवास है, जो ज्ञान के संज्ञासंज्ञनः स्वरूप से चैतना युक्त है, उस आत्म-तत्त्व के सत्यलोक के देव (रूप क्षीर) को जान कर वह जानी, अविद्या के सभी पाशों से मुक्त हो जाता है। ये पाशों का कारण शरीर, सूक्ष्मशरीर, स्थूल शरीर को आत्मा के साथ बंधते हैं।

महर्षि व्यास पातञ्जल योग दर्शन के विभूति पाद के छव्वीसवें सूत्र - "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद्" की व्याख्या करते समय सत्यलोक के क्षीर में ब्रह्म के चार देवनिष्कायों का वर्णन करते हैं। वे लिखते हैं कि,

"तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देव निष्कायाः - अच्युताः,

शुद्धनिवासाः, सत्याभाः, संज्ञासंज्ञनश्चैति । अकृतभवनन्यासाः

स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरि स्थिताः प्रधानवैशिनो यावत्सर्वा युसः । तत्राच्युताः

सर्वतर्कध्यानसुखाः । शुद्धनिवासाः सर्वचारध्यानसुखाः । सत्याभा आनन्द-

मात्रध्यानसुखाः । संज्ञासंज्ञनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः । तैःपि त्रैलोक्य-

मध्ये प्रतितिष्ठन्ति ।"

जनः, तपः, सत्यलोक, इन तीनों लोकों के ग्रन्थन से रूप आयाम में स्थित रूप 'अणु' की रचना का ग्रन्थन होता है। अतः इन तीनों लोकों को रूप इकाई का अवग्रह मानते हुए यहाँ महर्षि व्यास ने तीसरे सत्यलोक में ब्रह्म के द्वारा रचित ब्रह्म के चार देवनिष्काय बताये हैं। इन चार देवनिष्कायों के नाम उन्होंने 'अच्युताः, शुद्धनिवासाः, सत्याभाः, संज्ञासंज्ञनः' गिनाये हैं। 'अच्युताः' यहाँ इस नन्त्र में प्रयुक्त 'ध्रुव' शब्द के स्वरूप को प्रकट करता है। 'सत्याभाः' 'अ' से उत्पन्न होकर मृत को ध्यानाजों की तरंगों के चलने वाले स्वरूप 'अजम्' को प्रकट करता है। 'शुद्धनिवासाः' इस नन्त्र के शब्द, 'सर्वतत्त्वं विशुद्धम्' के अर्थ के स्वरूप को

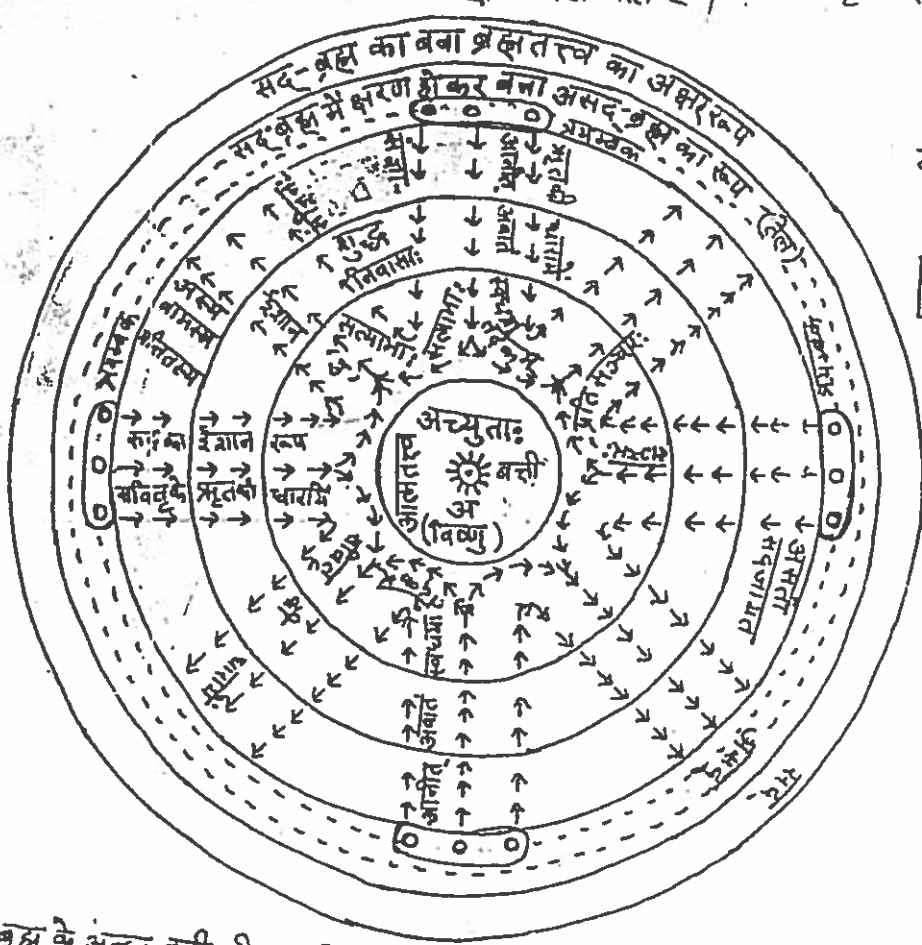
प्रकट करता है तथा 'संज्ञासंज्ञिनः' शब्द 'ज्ञात्वा' शब्द में चिह्नित 'ज्ञान की अनुभूति' - के कारण में क्षिप्रा चेतना को दैव निष्काय को प्रकट करता है। इन सब को जान कर ही ज्ञानी योगी उसकी आत्मा को बाँधने वाले उन सभी पाशों से मुक्त होगा जो पाशा उसकी आत्मा को शरीर के साथ बाँधे हुए हैं और उसके जीवन-मरण के चक्र में घूमने के कारण बने हुए हैं। दूसरे जो पाशा उसकी आत्मा के स्वरूप को स्वयं आग्राम में स्थित आत्मा को इकाई के रूप में बाँध कर उस अक्षर परमव्योम में व्याप्त अनन्त सत्त्व ब्रह्म से अलग करके स्थापित किमै हुए हैं और उसकी आत्मा को उस परमात्मा से नहीं मिलने देते। उन पाशों के कारण ही आत्मा अपनी अस्मिता के स्वरूप को बना कर सद्-ब्रह्म में स्थित रहती है और उसका विलय सद्-ब्रह्म में नहीं हो पाता। जैसे कि समुद्र के अघाह जल में 'भवेर' अपनी इकाई को स्वयं सीमित आग्राम में बना कर रखता है, उसी प्रकार अनन्त ब्रह्म में 'आत्मा' भी स्वयं सीमित आग्राम में अपने आवर्त के चक्र को बना कर रखती है।

इन में 'अच्युताः' का ध्रुवम स्वरूप योग साधना की सवितर्क च्यान समाधि के द्वारा साध्य को ज्ञात हो जाता है। 'शुद्ध निवासाः' का 'सर्वतर्क-विशुद्धम' रूप साध्य को 'सविचार च्यान समाधि' से सुख प्रदान करने वाला ज्ञात हो जाता है। 'सत्याभाः' का 'अजम्' स्वरूप आनन्द मात्र की च्यान समाधि का सुख प्रदान करने वाला बन कर ज्ञात हो जाता है। 'सत्याभाः' से उत्पन्न हो कर ऋत की तरंगों के बल से दशमौलिक अर्थों का जब स्वभाविक नुदन (कम्पन) करती है, तो साध्य को शान्त अवस्था में बैठने मात्र से समाधि के अन्दर स्वयं विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। अतः वह 'अजम्' का स्वरूप समाधि से अनुभूत आनन्द मात्र से ही भाषित हो जाता है। 'संज्ञासंज्ञिनः' का 'ज्ञान की अनुभूति का स्वरूप' अपने 'अहम्' के अस्मिता मात्र च्यान की समाधि से प्राप्त होने वाले सुख के द्वारा ज्ञात हो जाता है। ये सभी दैव निष्कायों के स्वरूप तीनों लोकों के ग्रथित स्वरूप में भी स्थित रहते हैं। तीनों लोक हैं - (1) जनः लोक, (2) तपः लोक, (3) सत्य लोक। इन तीनों का ग्रथित स्वरूप स्वयं इकाई में स्वयं 'अर्णु' का स्वरूप बनता है। 'अर्णु' के स्वरूप की रचना का चित्र सहित पीछे वर्णित कर दिया गया है। अर्णु का चित्र पृष्ठ 43 पर देखें।

ये चारों दैव निष्काय निष्काय, 'अच्युताः', 'शुद्ध निवासाः', 'सत्याभाः', 'संज्ञासंज्ञिनः' - 'अ' के द्वारा रचित निष्काय 'अकृत' हैं। दूसरे 'अकृतमवयव-न्यासाः' भी हैं। अर्थात् ये अपने कोई अवयव (parts) नहीं बनाते। सदैव स्वयं रहते हैं। ये स्वयं दूसरे के ऊपर ऊपर स्थित होते चले जाते हैं तथा जब तक इनका सर्ग 'सत्य लोक' क्षीर के रूप में स्थित रहता है तब तक इन चारों दैव निष्कायों की आयु बनी रहती है। अतः ये 'आवत्सर्गमुषा' कहे गये हैं।

एक क्षीर की रचना में ये चारों देव निष्काय विद्यमान हैं। क्षीर ही आत्मा की रचना करने वाला 'आत्मतत्त्व' है। सद-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर एक क्षीर बनता है। ब्रह्म का क्षर कर असद् रूप बनता है। अतः सद रूप का अक्षरब्रह्म ही ब्रह्म का - 'ब्रह्मतत्त्व' - रूप है जो उस ब्रह्म की रचना मूलरूप में करता है।

यह ब्रह्मतत्त्व जो ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है, दीपक में भरे तेल की भाँति है। यह 'आत्मतत्त्व' दीपक में रखी हुई बत्ती की जोंक पर जलती हुई अग्नि की उस लौ की तरह है जो निरन्तर दीपक में से तेल को बत्ती के द्वारा चूसती हुई जला रही है और उस जलने की प्रक्रिया द्वारा क्षरण के कार्य को करती हुई अपने स्वरूप को बनाये हुए है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व से क्षरण की प्रक्रिया द्वारा असद् ब्रह्म का एक क्षीर बना कर उसे चूसती हुई और 'अर्णु' का लौ जैसा रूप प्रदान करती हुई एक पुरुष की हवाई की आत्मा, उस असद् ब्रह्म के क्षीर के 'आत्मतत्त्व' द्वारा अपनी रचना करती है। अब इस प्रक्रिया को चित्र द्वारा समझते हैं। पहले एक क्षीर की रचना का चित्र देखें जिस में सत्यलोक के अन्दर चारों देव निष्काय 'अच्युताः, शुद्ध निवासाः, सत्याभाः, संज्ञासंज्ञिनः' स्थित हैं। ये सभी एक दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित होते चले जाते हैं। इसकी आकृति दीपक जैसी बन जाती है।



दीपक के समान
क्षीर की रचना

चित्र = 44

सद-ब्रह्म के अन्दर बनी दीपक की भाँति एक क्षीर की आकृति जिसमें असद् ब्रह्म तेल की भाँति बह कर 'अ' पर आता है और अपनी सत्याभा चारों ओर फैकता है। इस में सद-ब्रह्म

से क्षर कर असद् ब्रह्म बन कर रुद्र के ऋतु की त्रयम्बक के रूप में तीन अक्षों पर चारायें चलती हुई 'अ' की अवात-अवस्था में अच्युत बनाती हुई 'अ' की सत्प्राभा बनती हुई असद् ब्रह्म के ऋतु के रूप में शुद्ध निवास करती हुई संज्ञा संज्ञिनः का रूप प्रकट करती हुई वापिस असद् ब्रह्म के रूप में पहुँच कर सद् ब्रह्म में समाहित हो जाती है। सद् ब्रह्म से क्षर कर असद् ब्रह्म जहाँ से चलता है वापिस उसी सद् ब्रह्म में आकर समाहित हो जाता है। इसमें सद्-ब्रह्म का बना हुआ असद् ब्रह्म का तेल सवितृ की तैजोमय चाराओं के रूप में त्रयम्बक रुद्र की चाराओं के तीन अक्षों की दीपक की बत्ती में चलता है और 'अ' के क्षीर्ष पर आ कर आत्मतात्व बन कर क्षरित होता है और अपनी सत्प्राभा की ऋतु की चाराओं का तैजोमय प्रवाह चारों ओर फैलता है जिससे सभी में संज्ञा संज्ञिनः की चेतना आ जाती है। जब त्रयम्बक की ऋतु की चारा 'अ' की और अन्दर की ओर सञ्चरः की गति करती है तो 'संज्ञा' का भाव उत्पन्न होता है और जब वह 'अ' से टकरा कर 'अ' की सत्प्राभा बन कर वापिस लौट कर बाहर की ओर जाती हुई 'प्रतिसञ्चरः' की गति करती है तो वह 'संज्ञिनः' का भाव प्रकट करती है। संज्ञा में ऋतु सञ्चित हो कर अपने 'अहम्' भाव की संज्ञा की अनुभूति करता है और संज्ञिनः में सञ्चित ऋतु वापिस फैलता हुआ बाहर की ओर जा कर दूसरे को स्पर्श करके अपनी संज्ञा की अनुभूति दूसरे को कराता है। इस क्षीर की प्रक्रिया में पहले अक्षर सद् ब्रह्म क्षरता है और असद् ब्रह्म के रूप में क्षर कर सक्रिय हो कर ऋतु बनता है। फिर ऋतु की चारायें उस ऋतु को 'अ' पर लाकर अवात-अवस्था में लाकर अच्युत बना देती हैं जिससे वह एक ही बिन्दु पर स्थिर हो जाता है। अवात-अवस्था वह अवस्था होती है जिसमें वायु की तरह चलने की, हिलने की गति न रहे जिसे अंग्रेजी में 'stand still' कहा जाता है। इस अवात-अवस्था में आगे पर उस 'अ' के स्वरूप में पुनः क्षरण उत्पन्न होता है जो उस 'अ' की सत्प्राभा को चारों ओर पुनः बाहर की ओर फैलता है। इससे सवितृ के ऋतु की चारायें सातों लोको में प्रवाहित होती हुई समस्त देवों के निष्ठाओं की रचना करती हैं। यही 'श्वेताश्वतर' की रचना है जो सम्पूर्ण सृष्टि के सृजन को बताती है। सद्-असद् ब्रह्म के स्वरूप को 'श्वेत' शब्द, ऋतु की चाराओं को 'अश्व' शब्द और सप्तालों को स्थित देव निष्ठाओं को 'तर' शब्द प्रकट करता है। तीनों रूप गीत होकर 'श्वेत+अश्व+तर' = 'श्वेताश्वतर' शब्द बन जाता है। जो ब्रह्म का ज्ञान इस 'श्वेताश्वतर' के ज्ञान के समीप साधक को उसकी साधना के कारण लाकर बिठा देता है, वही श्वेताश्वतर-ब्रह्मोपनिषद् है।

जब 'अ' पुनः क्षरित होता है और अपने क्षरण से अपनी सत्याभा का प्रक्षेपण सातों लोकों में करके देव जिह्वाओं में आत्म चेतना जागृत करता है तो 'अ' की आवर्धित सत्याभा के सातों लोकों में उस तन्वज (ताने-बाने) को ही 'आत्मा' कहा जाता है और उस सत्याभा में चलने वाली ऋतु की चाराओं के प्रवाह की तरंगों को 'आत्मतत्त्व' कहा जाता है। जैसे दीपक की बत्ती के क्षिर पर तेल जलता है और प्रकाश पैदा करता है, उसी प्रकार सद-ब्रह्म से असद-ब्रह्म चल कर 'अ' के क्षीर पर आ कर पुनः क्षरण की प्रक्रिया में जलता है और अग्नि की सत्याभा की चेतना का प्रकाश पैदा करता है और आत्मतत्त्व बनता है। इस प्रकार ब्रह्मतत्त्व से एक क्षीर में आत्मतत्त्व बन जाता है और उसी प्रकार क्रिया करता है जैसे कि दीपक में तेल बत्ती जल कर प्रकाश पैदा करने की क्रिया करते हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करके साधक योगी शीघ्र से रहित होकर कृतार्थ हो जाता है।

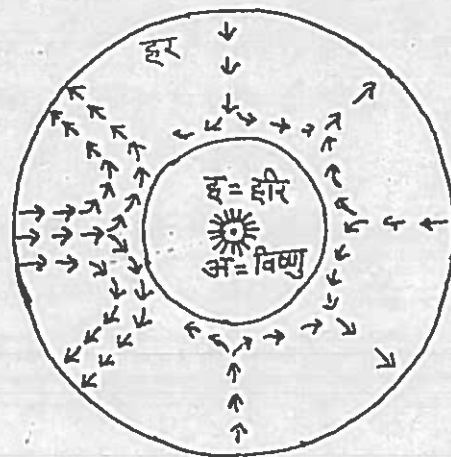
अब अगले मन्त्र में जो यह दीपक की भाँति काग्न करने वाला एक क्षीर में आत्मतत्त्व की क्रिया को द्योतित करने वाले देव का स्वरूप बन जाता है, उसकी क्रियाओं को बताया जा रहा है।

सप्त इ देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।

स एक जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्-जनां तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (16)

सद-ब्रह्म के क्षरण पर बना असद-ब्रह्म का एक अवग्रव 'क्षीर' अपने स्वरूप को सत्य लोक के अन्दर द्योतित करने वाला यह ही एक देव है, जिसकी व्याख्या पीछे के मन्त्र में कर दी गई है और जो आत्मा की रचना करने वाले आत्मतत्त्व का एक इकाई के रूप में एक अवग्रव बनता है। यही देव उस असद-ब्रह्म और सद-ब्रह्म में सभी दिशाओं और प्रादेशों में फैला हुआ है। अर्थात् सभी स्थानों पर सर्वत्र यह देव विद्यमान है और इस देव में से जिल्लने वाली सत्याभा सवितृ की तैजोमय ऋतु की चाराओं के रूप में सभी दिशाओं और प्रादेशों में अनुगमन कर रही है। यह 'अ' कहलाने वाला विष्णु देव जो ऋतु को एक बिन्दु पर लाने से सब से पहले रुद्र ('उ') की ऋतु का अवरोध करने वाली ऋतु की चाराओं के गर्भ के अन्दर उत्पन्न हुआ है, वह ही आत्मा के तत्त्व के रूप में सब से पहले उत्पन्न होता है। वही आत्मतत्त्व अपनी सत्याभा के प्रसार से सभी लोकों को जन्म देने वाला बनता है, जिससे सभी और मुख वाला 'अक्षर' भाग बनता है जो सभी ओर के मुखों के द्वारा इन क्षीरों का भक्षण करता है। इसी भक्षण से अलग-अलग प्रत्येक मौलिक अर्थ का प्रत्यङ्-स्थापित

होता है। इस प्रकार मौलिक अर्थों के जनों (इन्द्र के अर्धपिण्डों) को उत्पन्न करता हुआ वह आत्मा का स्वरूप 'पुरुष' के रूप में ठहरता है।
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः = यह क्षीर का देव ही है जो सभी दिशाओं और प्रदिशाओं में 'अणु' की रचना का केन्द्रिय क्षीर के साथ सभी और चिपकने वाले क्षीरों का अनुभाग बनता है। 'उ' के गर्भ में अन्दर के अन्तः भाग में वह क्षीर का देव विष्णु ही पहले उत्पन्न हुआ है। अर्थात् रुद्र अपने गर्भ के अन्दर विष्णु को उत्पन्न करते हैं। रुद्र का रूप अर्धनारीश्वर पहले बताया जा चुका है जो गर्भ को चारों ओर करने की सामर्थ्य रखता है। उसी सामर्थ्य से वह विष्णु को जन्म देता है। 'उ' का अर्थ वैदिक शब्द लोष में 'रुद्र' की शक्ति बताया गया है। सद् ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होने से असद् ब्रह्म के सौम्य स्वरूप को 'मृत' कहा जाता है। उस 'मृत' का अवरोध करके उसे एक पोटली के पाश में बाँधने वाला 'रुद्र' कहलाता है। मृत को उन पोटलियों से जो मृत की चारों ओर बनती हैं, वे रुद्र का ईशान रूप कहलाती हैं। उन रुद्र की मृत की चारों ओर का क्षीर के केन्द्र में स्थित विष्णु (अ) से टकराने पर प्रत्यावर्तित (Reflect) होने से जो ऊर्जा उत्पन्न होती है उसे रुद्र की ऊर्जा 'उ' कहा जाता है, क्योंकि उसका स्वरूप ही 'उ' जैसा बन जाता है। इस प्रक्रम का चित्रण इस प्रकार बनता है —



चित्र = 45

इस क्षीर के अन्दर चारों ओर की आपूर्ति 'उ' बन जाती है। यही मृत को अवरोधित करके मृत की चारों ओर के गर्भ के अन्दर मृत को आबद्ध करने वाली रुद्र की ऊर्जा है। इसी को 'उ' कहा जाता है। 'उ' के गर्भ के अन्दर ही विष्णु का स्वरूप आबद्ध है। चारों ओर से यह 'उ' ही अपने अन्दर के भाग में मृत को सद्यन रूप में बना कर 'अ' के चक्र को जन्म दे रहा है। इस 'उ' के रूप में ही यह रुद्र देव सवितृ का तेज बन कर मृत की

चारों के रूप में सभी दिशाओं और प्रदिशाओं में व्याप्त हैं। अतः यह विष्णु देव, जिसके अवतरण का साक्षी केवल निर्गुण ब्रह्म है, और जो सब से पहले उत्पन्न होता है, वह इस 'उ' के गर्भ में ही उत्पन्न होता है। अर्थात् चारों ओर से 'उ' ही ऋत को अपने दबाव से दबा कर प्रथम देव 'अ' की रचना करता है। इसी बात को यहाँ - "स्रष्टु ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः" - कह कर बताया है।

यह 'अ' ही उत्पन्न होने वाला बनता है तथा वह 'अ' ही आगे और देवों को आगे उत्पन्न होने वाले लोकों में उत्पन्न करने वाला बनता है। वही 'अ' सभी ओर अपना मुख करने वाला बन कर अलग-अलग देवों को तथा मौलिक अर्थों की जनों के रूप में उत्पत्ति करने वाला ठहरता है। अर्थात् वह 'अ' ही सब से अनेक रूपों को जन्म देने वाला बनता है। इसी अर्थ को यहाँ इस मन्त्र का यह अर्थ, "स स्रज जातः स जीनव्यसाणः प्रत्यङ् जनाव तिष्ठति सर्वतो मुखः" - बता रहा है।

इस मन्त्र में 'पुरुष' की रचना के मूल स्वरूप को बता दिया गया है। अणु की भाँति में जो रुद्र के ऋत की चारों पञ्च अंशों के रूप में प्रवेश करती हैं, वे तीन अक्षों में आकर त्रयम्बक का रूप बन कर विष्णु को चारण करने वाले सत्यलोक से टकराती हैं। उस सत्यलोक से टकरा कर वे प्रत्यावर्तित (Reflect) होकर वापिस 'अ' की सत्तामा बन कर लौटती हैं। इसी 'अ' की सत्तामा को ऋग्वेद में विष्णु का सप्ताह्म गर्भ रेत कहा है।

सप्ताह्म गर्भो भुवनस्य रेतो विष्णो रितिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।

ते च्योतिर्मनसा ते विप्रक्षितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 36)

भुवन के सात अह्म गर्भ करने वाला विष्णु का रेत है, जिससे जन्म लेकर विशेष धर्मों को चारण करने वाले देवों के स्वरूप अपने विशेष धर्मों में स्थापित होते हैं। वे बुद्धियों से, मन से, विशेष चित्त की वृत्तियों से चारों ओर से व्याप्त होकर विष्णु को चारों ओर से घेर लेते हैं। पृष्ठ (272) पर बना चित्र देखें। विष्णु के रेत के सात अह्म गर्भों से सातलोक उत्पन्न होते हैं, जिन में मन, बुद्धि, चित्त की विशेष वृत्तियों के धर्मों को चारण करने वाले देव ठहरते हैं। वे विष्णु के चारों ओर उत्पन्न होकर उसे चारों ओर से घेर लेते हैं। वे देव विद्वान् होते हैं।

उसी विष्णु देव के लिये यहाँ - "स्रष्टु ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः" - यह अर्थ बताया है। 'अह्म गर्भ' या 'उ गर्भ' यहाँ सातों लोकों के देवों के $\pm \frac{1}{2}$ spin को दर्शाता करता है। इस $\pm \frac{1}{2}$ spin से ही $\frac{1}{2}$ यह 'उ' की आकृति बनती है। इसी से लोकों में स्थित देवों की तरंग की गति की ऊर्जा का प्रथम निर्धारित हो कर स्थापित होता है।

'उ' के गर्भ के अन्दर जब विष्णु देव उत्पन्न हो कर अपनी सन्ध्याभा का प्रक्षेपण मृत की चाराओं के रूप में चारों सभी दिशाओं, प्रदिशाओं में करते हैं तो वे चारा में रुद्र का ईशान रूप बन कर सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों के रूप में चला देती हैं। आगे चल कर रुद्र शीर्ष सहस्र पादों में बँट जाता है। उसके बाद रुद्र पाद दशांगुल रूप में बँट कर अति रूप से ठहर जाता है। इस प्रकार प्रसारण की गति में ग्रह अपनी सारी भूमि पर छा जाता है। इसी स्वरूप को 'पुरुष' कहा जाता है। अति रूप से दशांगुल का रूप ठहर कर ही अर्धों का त्रित बनाता है। उन दश त्रितों से ही दशमौलिक अर्ध बन जाते हैं। इस प्रकार ग्रह 'पुरुष' दशमौलिक अर्धों के अर्धपिण्डों के रूप में बहुत सैजनों (units of mass particles) को अलग-अलग (= प्रत्यङ्) उत्पन्न करने वाला बन जाता है।

सहस्र शीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिम् विध्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठ द्दशांगुलम् ॥

ग्रह मन्त्र पुरुष के इसी रूप को समझाता है। इसी की प्रीति या

की और इस मन्त्र, " रुद्र ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः ---- " में संकेत किया गया है। " स स्व जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनान् विच्छते सर्वतो मुखः " 'पुरुष' के देवताओं को उत्पन्न करने वाले स्वरूप को ही बता रहा है। वह स्वयं भी मृत की चाराओं से उत्पन्न होता है और उन्हीं चाराओं के प्रत्यावर्तित स्वरूप द्वारा दूसरे देवों और जनों को भी उत्पन्न करता है। यह सवितृ की तैजोमय मृत की 'सर्व' शक्ति वाली चाराओं के द्वारा सारा प्रसव होता है। अगले मन्त्र में उस सवितृ देव की स्तुति करते हुए नमस्कार किया गया है। —

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

य औषधीषु यो बनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ (17)

जो सविता देव अग्नि में है, जो जल में है, जो सारे भुवनों में प्रविष्ट है और उनको अपने आवेश से आवेशित किये हुए है। जो सविता देव औषधीषों में है, जो बनस्पतिषों में है, उस सविता देव के लिए नमस्कार ।

इस पूरे अध्याय में सवितृ देव का प्रसंग चला है। अतः अध्याय के अन्त में उसी सवितृ देव की स्तुति करते हुए उसी के लिए नमस्कार किया गया है। अतः प्रसंग के कारण इस मन्त्र का अर्थ सविता देव के साथ ही जोड़ा गया है। 'यो देवो' — में प्रसंग में चले आ रहे सविता देव का ही अर्थ प्रकट होता है।

सवितृ देव अपने 'अंगिरा' के स्वरूप द्वारा तपस् उत्पन्न करता हुआ अग्नि में प्रवेश करता है। अग्नि की विद्युत तरंगों द्वारा जल में प्रवेश करता है।

अपनी 'सर्व' शक्ति के द्वारा सप्त लोको में वैश्व का प्रसव कराता हुआ उनके भुवनों (orbital) में प्रवेश करता है। सवितृ अपने अंगिरा, गृगु से औषधियों को शीत या ऊष्ण प्रवृत्ति की बनाता हुआ उनमें प्रवेश करता है। वह सवितृ सभी बनस्पतियों में पोषण करने के लिए प्रवेश करता है। सवितृ के प्रवेश के कारण ही बनस्पतियों में प्राणियों के शरीर को पोषण प्रदान करने का गुण आता है। इस प्रकार जो सविता देव सभी के जीवन का आधार है, उस सविता देव के लिए हमारा बारम्बार नमस्कार।

इस मन्त्र का अर्थ रुक् क्षीर के स्वरूप में भी लगता है। रुक् क्षीर ही वह स्वरूप है जो सद् ब्रह्म से क्षीर कर अपनी रुक् इकाई का रूप अलग से सर्वप्रथम स्थापित करता है। वही 'रुद्र' का प्रथम रूप बनता है। उसी के केन्द्र में विष्णु स्थापित होता है। अपने स्वरूप का अपने ओम में अलग से द्योतन करने के कारण रुक् 'क्षीर' को ही यहाँ 'देव' कहा है। यह देव ही ऋत की रचना करके ऋत्विज अग्नि का स्वरूप स्थापित करता है। यही देव पदार्थ (अपः) की प्रत्येक रचना में स्थित होता है। सारे भुवनों में यही देव प्रवेश करके स्थित होता है। औषधियों और बनस्पतियों में यही देव स्थित होता है। इस कारण इस आदि-देव के लिए नमस्कार। आदिदेव के रूप में वही रुद्र बनता है।

इसी बात को ऋग्वेद में निम्न प्रकार से कहा है —

दिव्यं सुपुणं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमौषधीनाम् ।

अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जह्वीमि ॥

इस मन्त्र का अर्थ है —

(ऋग्वेद - 1-164-52)

द्यौ में निवास करने वाला दिव्य 'क्षीर' जिसके सुन्दर और सुडौल पंख हैं, जो पक्षी बन कर द्यौ में उड़ता रहता है और नई-नई रचनायें करता हुआ गरुत्मान हो कर बृहत आकार को ग्रहण करता है, जो पदार्थों के तथा औषधियों के गर्भ को नये-नये सृजन के लिए दर्शाता रहता है, जो द्यौ से पृथिवी पर बरसता रहता है और जो उसके मार्ग में उसके सम्मुख आये उसी को अपना ऋत प्रदान करके तृप्त करता रहता है। ऐसे उस सरस् क्षीर को मैं (इस मन्त्र का रचयिता ऋषि) इस सृष्टिसृजन के विश्वदेवों के यश में आह्वान करता हुआ बुलाता हूँ कि वह आ कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रक्षा करे।

रुक् क्षीर की इकाई श्वास लेती हुई कभी फूलती है और कभी सिकुड़ती है। श्वास खींच कर ऋत को अपने अन्दर ले कर वह फूलती है और बड़ी हो जाती है।

उस श्वास को छोड़ कर वह गृत को बाहर फेंकतो हुई सिक्कड़ जाती है और अपना आकार छोटा बना लेती है। यह प्रक्रिया बड़ी तेजी से चलती है। इस प्रक्रिया से वह क्षीर तेजी से फड़फड़ाता हुआ द्यौ में पक्षी की तरह उड़ने लग जाता है। इसी कारण 'क्षीर' को यहाँ पर सुन्दर और सुडौल पंखों वाला पक्षी (सुपर्णम् वायसम्) बताया है।

इस मन्त्र का अर्थ और उपनिषद् के मन्त्र का अर्थ दोनों आपस में काफी मेल खाते हैं।

॥ इति द्वितीयो ऽध्यायः ॥

“ श्वेताश्वरोपनिषद् ”

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः ३

यह तीसरा अध्याय रुद्र भगवान के लिए अर्पित है। दूसरा अध्याय सवितृ देव के लिए अर्पित था। दूसरे अध्याय के मन्त्र (15) - "यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्म तत्त्वं - - -" - में आत्मतत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का विवेचन किया था। उसमें पृष्ठ (301) पर रुद्र क्षीर की रचना दीपक की भाँति बता कर चित्र द्वारा भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया, जिसमें महर्षि व्यास के मतानुसार क्षीर में स्थित सत्यलोक के देव निम्नाय का वर्णन भी किया गया।

अच्युताः, सत्यामाः, शुद्धनिवासाः, संज्ञासंज्ञिनः देवों का स्वरूप ध्यात करने वाले आवरण रुद्र दूसरे के ऊपर-ऊपर प्रतीक्षित दिखाने गये। उसी स्वरूप में अक्षर सद-ब्रह्म के रुद्र सीमित आयाम के व्योम में स्थित सद-ब्रह्म के रुद्र अंश में क्षीर की रचना दिखाई गई है। उस सीमित आयाम के सद-ब्रह्म के अंश में क्षरण उत्पन्न हो कर असद-ब्रह्म के क्षर रूप को दिखा कर 'ऋत' की रचना को स्पष्ट किया। उसी असद-ब्रह्म के क्षरित अंश से सक्रिय ब्रह्म का ऋत बन कर उसमें त्रयम्बक रुद्र की रचना भी ऋत के रोधन से बनीं रुद्र ऋत की पोटली के रूप में दिखाई गई है। यह त्रयम्बक अपने तीन अक्षों के द्वारा ऋत की तैजोमय चाराओं को ज्योति को केन्द्र की ओर क्षीर में चारों ओर से फैकता है। जिसके द्वारा ऋत की स्वप्ना रुद्र बिन्दु पर अवात अवस्था में लाकर केन्द्र के अच्युत रूप में सद्यन बना दी जाती है। इस प्रकार रुद्र द्वारा प्रकृतः के रूप में केन्द्र के प्राङ् बिन्दु पर पराशक्ति से युक्त विष्णु भगवान की रचना कर दी जाती है। इसी कारण पुराणों में रुद्र को ही विष्णु भगवान का अवतरण कराने वाला बताया गया है। ज्योतिष के अनुसार इसी कारण रुद्र को आयु - विष्णु को आयु से अधिक बताया गया है। व्योम के असद के क्षर रूप में प्रथम रुद्र ही अवतरित होते हैं और बाद में विष्णु को अवतरित करके प्रकट करते हैं। साथ में विष्णु पहले असद-ब्रह्म में विलीन हो कर अन्तर्ध्यान होते हैं और रुद्र बाद में।

रुद्र की ऋत की पोटली से तीन अक्षों द्वारा ऋत की तैजोमय चारायें प्रस्फुटित होती हैं। अतः वह त्रयम्बक बन जाता है। ये ऋत की चारायें ही सवितृ देव के स्वरूप की रचना करती हैं। इन चाराओं में 'सव' शक्ति भी भरी होती है जिसके द्वारा यह सारी सृष्टि का पोषण करती है। इस 'सव'

शक्ति से युक्त स्वरूप को प्राप्त करने वाले इस त्रयस्वक रुद्र को ही 'शिव' नाम दे दिया जाता है। अतः 'शिव' सब का पौषण करती बन कर सब का कल्याण करने वाला बन जाता है। इसी कारण 'शिव' का अर्थ कल्याणकारी लिया जाता है। जहाँ रुद्र अपनी इन श्रुत की चाराओं के द्वारा सृजन तथा पौषण करता है, वहीं वह इनके द्वारा संहार भी करता है। जब इसकी श्रुत की चाराओं में 'सब' की संचित मात्रा समाप्त होकर खत्म हो जाती है और उसकी कमी हो जाती है तो वह अन्य पौषित अवस्थाओं से उस 'सब' शक्ति को अभिशोषित करने लगता है और उनका संहार कर देता है। उन्हे अपनी 'सब' शक्ति प्रदान करना बन्द कर देता है। रुद्र जब अपनी इन श्रुत की चाराओं से युक्त होता है तो उसे 'ईशान' कहा जाता है। रुद्र का श्रुत की चाराओं वाला स्वरूप 'ईशान' कहलाता है। जब 'ईशान' में बहने वाले असद् ब्रह्म के रूप 'क्षर' में किसी बिन्दु पर जा कर पुनः क्षरण उत्पन्न हो जाता है तो उस बिन्दु पर उस 'ईशान' की रूप चारा में से सहस्र चारायें बन कर निकल पड़ती हैं। जो रूप 'ईशान' की चारा में से अनेक चारायें इस प्रकार बन कर निकलती हैं, उन्हें 'ईशानी' कहा जाता है। इस 'ईशान' की इन 'ईशानी' कहलाने वाली सभी श्रुत की चाराओं में सवितृ की पौषण करने वाली 'सब' शक्ति निहित होती है। अतः वह रुद्र अपने इस 'ईशान' रूप में 'ईशानी' श्रुत की चाराओं का जाल सम्पूर्ण सृष्टि में फैला कर 'जालवान' बन जाता है तथा अपने इस जाल के द्वारा 'माया' की रचना कर देता है। वह मायावी बन जाता है। अपने इस जाल के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि का पौषण, संहार करती बन कर वह इस सृष्टि का महान ईश्वर बन जाता है। अतः उसे 'महेश्वर' तथा 'मायी' कहा जाता है।

'सब' सामर्थ्यम् ईयते तस्मात् शिवः। जालवान् भूत्वा ईशते तस्मात् ईशानः। महान् ईश्वरः तस्मात् महेश्वरः। मायाधिपतिः तस्मात् मायी। सृजनकर्ता, स्थापनकर्ता भूत्वा सम्भूतिम् स्थापयति तस्मात् शंभूः। मायी भूत्वा मायारूपं स्वयं ग्रहणाति तस्मात् समोभवः। संहारकर्ता भूत्वा शमनम् करोति तस्मात् शंकरः। शिवरूपेण सूक्ष्मेण सह साधारण्यम् स्थूलरूपम् चारयति एवं शिवरूपात् उत्तरोत्तर रूपान् चारयति तस्मात् शिवतरः। अर्द्धनारीश्वर रूपः इति शिवतरः पुरुष-प्रकृति संयोगात्।

अर्थात् 'सब' शक्ति की सामर्थ्य वाला रूप प्राप्त करने के कारण वह रुद्र शिव है। श्रुत की चाराओं के द्वारा जालवान बन कर सृष्टि पर शासन करने वाला बनने के कारण वह 'ईशान' है। महान् ईश्वर होने के कारण वह महेश्वर है।

माया का स्वामी होने के कारण वह 'मायी' है। मायी बन कर अपने ऋत के द्वारा ही वह माया का रूप ग्रहण करता है। अतः माया के रूप में भी स्वयं रुद्र होने के कारण वह मयौभव है। संहारकर्ता बन कर वह सभी का शमन कर देता है, अतः शमनकर्ता होने के कारण वह 'शंकर' है। ऋत के बने सूक्ष्म रूप 'शिव' के अतिरिक्त वह ऋत के 'पुरुष' द्वारा प्रकृति के मौलिक अर्थों के स्थूल रूप की माया में भी बदल जाता है। इस प्रकार शिव के सूक्ष्म ऋत से बने रूप से ऊपर वाले मौलिक अर्थों के उतर रूप की चारण कर लेता है। ऋत का बना पुरुष रूप और मौलिक अर्थों का बना माया का नारी रूप इन दोनों से युक्त होकर वह 'अर्द्धनारीश्वर' का रूप चारण कर लेता है। अतः वह शिव के उतर रूप से युक्त होकर 'शिवतरः' बन जाता है।

इस प्रकार रुद्र के विभिन्न कार्य और रूपों के अनुसार उससे सहस्रों नाम बन जाते हैं। रुद्र की आराधना के 'सहस्रनाम' का ग्रन्थ उन नामों की व्याख्या करने वाला ग्रन्थ विद्यमान है। डॉ० आर० के० शर्मा ने रुद्र के सहस्रनामों की व्याख्या के ग्रन्थ की टीका भी लिखी है। हमने यहाँ ऊपर ऋग्वेद के मन्त्र के अनुसार रुद्र के कुछ नाम बिनाये हैं। आओ इस मन्त्र के द्वारा, इस अध्याय में रुद्र की व्याख्या करने से पूर्व, उस रुद्र की स्तुति कर लें।

ॐ नमो शम्भवाय च मयौभवाय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

ॐ तो समष्टी ब्रह्म का सूचक है जो सृष्टि के पूर्ण सृजन को अभिव्यक्त करता है। इसमें ब्रह्म का सद्-भसद् रूप, जीवात्मा का पुरुष रूप तथा प्रकृति का अणु रूप सभी समाहित हैं। अतः यह परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। सर्व प्रथम उस परमात्मा को तथा उसमें निहित रुद्र को हम ॐ के द्वारा स्मरण करते हैं।

हम सम्भूति की प्रक्रिया में सृष्टि का सृजन करके स्थापना में स्थित रहने वाले शंभू के रूप रुद्र के लिए नमस्कार करते हैं।

हम उस मयौभव के लिए रुद्र के लिए नमस्कार करते हैं जो अपने ऋत के चाराओं के द्वारा पुरुष की संरचना करता हुआ दशमौलिक अर्थों की माया के रूप में बदल जाता है और 'मयौभव' बन जाता है।

अपने ऋत की चाराओं से सभी का सृजन करके उनका पोषण भी करता है। अतः वह सभी का कल्याण और भला करने वाला 'शिव' है। उस शिव के लिए हम नमस्कार करते हैं।

वह ऋत की चाराओं के द्वारा सभी का कल्याण करने वाला 'शिव'

होने के साथ-साथ पुरुष की प्रक्रिया के द्वारा मौलिक अर्थों में बदल कर प्रकृति का शिवैतर रूप भी स्थूल रूप में चारण कर लेता है। अतः वह ऋत के बने दिव के उत्तर रूप मौलिक अर्थों की बनी प्रकृति के उत्तर रूप 'शिवतर' रूप में भी विद्यमान है। उस शिवतर रूप के लिए भी हम नमस्कार करते हैं।

इस आराधना के साथ हम इस तीसरे अध्याय को प्रारम्भ करते हैं जो रुद्र के लिए अर्पित है। रुद्र का त्रयम्बक का रूप तीन अक्षों पर ऋत की चारों प्रवाहित करने वाला पीछे क्षीर की रचना के चित्र में समझा दिया गया है। वह स्वरूप आत्मतत्त्व के अण्ड की रचना करने के लिए स्वयं क्षीर के अन्दर की और ऋत की चारों के प्रवाह को प्रकट करने वाला रूप है। परन्तु यह क्षरण की प्रक्रिया तो उस सद्ब्रह्म के बने अवयव 'क्षर' के अन्दर तथा बाहर दोनों ओर होती है। अन्दर उस क्षरण के द्वारा उत्पन्न त्रयम्बक की ऋत की चारों आत्मतत्त्व के अण्ड की रचना कर देती है, और 'क्षर' के बाहर की ओर क्षरण के द्वारा उस त्रयम्बक की सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में ऋत की चारों बहु निकलती है। जो रुद्र का 'ईशान' नाम से जानी जाती है। ये ही रुद्र की सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में चलने वाली ऋत की चारों अर्णव समुद्र में पुरुष की रचना करती है। यही पुरुष सहस्र पादों वाला बन कर दशांगुल रूप चारण करता है और अपनी दसों उँगलियों के शीर्ष पर त्रित की रचना करता हुआ महिजात रूप अश्व का चारण करके दशमौलिक अर्थों के रूप में बदल जाता है। पुरुष के दशांगुल रूप की रक्त उँगली को 'ईशानी' कहा जाता है, और वह रक्त अश्व का रूप होती है। रक्त अश्व चौंतीस अर्णवों की शृंखला का बना होता है। रक्त अर्णु उस अश्व की रक्त परसली बनती है। यह सारी रचना का चित्रण पृष्ठ (79) पर बने पुरुष तथा अश्व की रचना के चित्र में देखें। वहीं उनकी रचना को बताने वाले ऋग्वेद के सम्बन्धित मन्त्रों लिखे हैं।

पुरुष की रचना का मन्त्र है —

सहस्र शीर्षी पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिम् विश्वतो वृत्वा अत्पीतच्छ दशांगुलम् ।

अश्व की रचना के सम्बन्धित मन्त्र हैं —

यदंश्वः प्रथमं जायमान उद्यन् समुद्रादतवा पुरीषात् ।

श्वेनस्य पक्षा हीरणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातं ते अर्वन् ॥ (ऋग्वेद-1-163-1)

चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धोर्वङ् क्षीरश्वस्य स्वधितिः समीति ।

अच्छिद्रा गात्रा वयुजा कृणोत परुष्यसरनुधुष्या विशस्त ॥ (ऋग्वेद-1-162-18)

इन मन्त्रों के अधि पृष्ठ (76) तथा (77) पर देखें।

रुद्र की ईशान रूप की ये सहस्र धारायें मृत के अन्तर चलती हुई अग्नि ईशानी के रूप में और विभाजित होती हैं। इस प्रकार ये सभी सातों लोकों को शासित करती हैं। इस प्रक्रिया को भी यहाँ चित्र के द्वारा समझ लें।

इस प्रकार रुद्र के मृत से बनी ईशानी धाराओं के द्वारा सातों लोक "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं" शासित हो जाते हैं।

यहाँ 'न' कण (Neutrons), 'चिक्' कण (Protons) 'इल' कण (Electrons) बन जाते हैं। 'न' कण तथा 'चिक्' कण भूः लोक में स्थित रहते हैं।

यहाँ ये तीन वर्मा (The three mesons n, p, e) बन जाते हैं। यहाँ भुवः लोक बनता है।

यहाँ आकर पाँच प्रकार का स्वः लोक पूरा होता है, जिसमें पाँच प्रकार की रचनाएँ हैं। (1) पुरुष की रचना (2) पञ्च प्राणों की रचना। (3) 'व' कण इन्द्र की स्वतन्त्र रचना (4) अश्विनो की रचना (5) षड् वृन्दारको की रचना।

यहाँ ये छः वृन्दारको (Six vishwakas) बन जाते हैं।

यहाँ यह सौगह 'व' कणों के विकारों से मिल कर सत्य अश्विनो बन जाता है। यह दो अश्विनो से मिल कर बना है।

यह सत्य स्वतन्त्र 'व' कण है, जिसे अदिति माता जन्म देती है। इसे वसु या इन्द्र भी कहते हैं।

यहाँ रुद्र की ईशानी की सत्य धारा के मृत के क्षर में पुनः क्षरण होता है और वह सत्य धारा उस क्षरण में सहस्र धाराओं में बदल जाती है। अब ये रुद्र की ईशानी बन जाती है और पुरुष के सहस्र पाद बन जाते हैं।

यहाँ क्षरण से पुनः नया 'व' कण बन जाता है।

यहाँ आकर रुद्र की सत्य ईशानी की क्षर धारा का मृत का क्षर पुनः क्षरण होता है और वह सत्य धारा उस क्षरण में सहस्र धाराओं में बदल जाती है। अब ये रुद्र की ईशानी बन जाती है और पुरुष के सहस्र पाद बन जाते हैं।

यहाँ रुद्र की ईशानी की सत्य धारा के मृत के क्षर में पुनः क्षरण होता है और वह सत्य धारा उस क्षरण में सहस्र धाराओं में बदल जाती है। अब ये रुद्र की ईशानी बन जाती है और पुरुष के सहस्र पाद बन जाते हैं।

इस प्रकार यह रुद्र इस पुरुष से बबल जाता है - जिसे निम्न मन्त्र बता रहा है। सहस्र गीर्षी पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः स भूमिम् विश्वतो वृत्वा संत्यतिष्ठत् दशांगुलम्॥



चित्र = 47

सत्य लोक से आने वाली रुद्र के मृत की बनी सहस्र धारायें जो रुद्र की ईशानी रूप हैं, वे स्वः लोक में आकर पुरुष के सहस्र अक्षों पर चलने वाले सहस्र शीर्ष बन जाते हैं। अतः ये पुरुष के सहस्र शीर्ष हैं। ये रुद्र के ही ईशान रूप की ईशानीयों हैं जो स्वः लोक में आकर पुरुष के सहस्र शीर्ष बन रहे हैं। इन के द्वारा रुद्र सत्य लोक, तपः लोक, जनः लोक तथा महः लोक को शासित कर रहा है। स्वः लोक पाँच प्रकार का बन कर पाँच भागों में बँटता है। उस स्वः लोक को रुद्र पुरुष बन कर अपनी ईशानी धाराओं से शासित करता है।

इस प्रकार रुद्र के ईशान रूप (सभी सातों लोकों के देवों को शासित करने वाला रुद्र का ईशान रूप) की संरचना को सचित्र समझने के उपरान्त हम पूरे अणु की संरचना (Atomic structure) को भी समझ जाते हैं। ये सातों लोक अणु की नाभि में स्थित हैं और सातों पाताल लोक अणु की नाभि के बाहर चारों ओर इत् ऋणों (Electrons) के लोक बन कर स्थापित हो जाते हैं। ये नाभि के तल के ऊपर अपना दूसरा तल का लोक बनाते हैं अतः इन्हें पर-तल के लोक अर्थात् पाताल लोक कहा जाता है। अणुओं से मिल कर सारी सृष्टि बनी है। अतः जब रुद्र रूप अणु को पूर्ण रूप से शासित करने वाला 'ईशान' बन जाता है तो इसी प्रकार वह सभी अणुओं का शासक बन कर पूरी सृष्टि का शासक 'ईशान' बन जाता है। 'ईशान' शब्द में 'ईश' और 'न' का मिल कर समस्त पद बना हुआ है। 'ईश' नियन्ता शासक स्वामी को कहते हैं तथा 'न' का सन्बोधन सृष्टि का सृजन करने वाले सभी देवों के लिए होता है। अतः 'ईशान' शब्द का अर्थ सृष्टि का सृजन करने वाले सभी देवों का शासक, नियन्ता और स्वामी होता है। यह 'रुद्र' ही अपनी ऋतु की तैजोमय चाराओं के द्वारा अपना जाल फैला कर सम्पूर्ण सृष्टि के सभी देवों का शासक, नियन्ता तथा स्वामी बनता है। अतः त्र्यम्बक रुद्र ही 'ईशान' है। जिन ऋतु की अपनी चाराओं के माध्यम से वह सम्पूर्ण सृष्टि के देवों का शासक, नियन्ता, स्वामी बनता है, रुद्र की उन ऋतु की तैजोमय चाराओं को 'ईशानी' कहते हैं। अर्थात् 'ईशान' का शासन करने का साधन बनने वाली ऋतु की चारायें 'ईशानी' बन गईं। ये सहस्र ईशानीयों ही स्वः लोक में आकर पुरुष के सहस्र शीर्ष, सहस्र पाद, सहस्राक्ष और दशांगुल बनती हैं तथा अति रूप से ठहर कर अपनी सारी आधार भूमि को घेर कर अर्णवों का त्रित बना कर उन्हें सधन करके दशमीलक अर्धों को जन्म दे देती हैं। 'त्रित' तीन अर्णवों के मिले सधन रूप को कहते हैं। ऋतु की चारा के अति रूप से ठहरने (अति-अतिष्ठत्) के कारण एक अर्णु पर दूसरा अर्णु चढ़ जाता है और इस प्रकार तीन अर्णु एक दूसरे पर चढ़ कर 'त्रित' बना देते हैं। 'पुरुष' में स्वः लोक में ऋतु की ईशानी चारायें अर्णवों के बहने से अर्णवसमुद्र में बनती हैं। अर्णवों की इस ऋतु की चारा के अश्व को ही 'अर्वन्' कहा जाता है जो अर्णव समुद्र में पुर के ईश अर्थात् पुरीष अर्णु से उत्पन्न होता है और त्रित को प्राप्त होकर मौलिक अर्ध में बदल कर 'महिजातं' कहलाने लगता है। अर्थात् अब वह महि (matter) की चारा (wave) में उत्पन्न हो जाता है और उस से पञ्च प्राणीमि (Five matter waves) उत्पन्न हो जाती हैं, जिन से अद्विती आस्वरूप बन जाता है। इस प्रकार ये रुद्र की 'ईशानी' चारायें प्रकृति और 'पुरुष' दोनों को शासित करती हैं। अब सन्ना देवों -

य सको जालवाजीशत ईशानीभिः सर्वोल्लोकाजीशत ईशानीभिः ।

य सवैक उद्भवो सम्भवो च य सतद्धिदुरमृतास्तो भवन्ति ॥ ①

जो एक ही 'रुद्र' अपनी ईशानी कहलाने वाली ऋत की धाराओं के द्वारा, अपनी इन ऋत की धाराओं का सम्पूर्ण सृष्टि में जाल फैलाता हुआ जालवाज (जाल का स्वामी-अधिष्ठाता) बन कर सारी सृष्टि को शासित करता है। जो अणु की संरचना में तथा ब्रह्माण्ड की संरचना में बने सभी लोकों को इन ईशानी 'कहलाने वाली ऋत की धाराओं' के द्वारा शासित करता है। [यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे - मतानुसार] [जैसे यह रुद्र की ईशानी, ऋत की धाराओं अणु (Atom) के पिण्ड में काम करती है, उसी प्रकार ये ईशानी, ऋत की धाराओं ब्रह्माण्ड में कार्य करती हैं। ज्योतिष शास्त्र का यही मत है।]

सृष्टि सृजन की प्रत्येक रचना की इकाई के उद्भव की अवस्था और सम्भव की अवस्था - इन दोनों अवस्थाओं में वह एक ही रुद्र उस रचना को अपनी ईशानी, कहलाने वाली ऋत की धाराओं के द्वारा शासित करता है। जो ब्रह्म जिज्ञासु योग की साधना करने वाले इस ज्ञान को जान लेते हैं तथा योग साधना के द्वारा इसकी सामर्थ्य को ब्रह्मर्षि बन कर प्राप्त कर लेते हैं, वे सदा के लिए ब्रह्मतत्त्व के बने परम सद्-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप में लीन होकर अमर हो जाते हैं। उसके पश्चात् न कभी उनका जन्म होता है और न कभी उन की मृत्यु होती है। वे 'मरणत्रास' के पाँचवें क्लेश को पूर्ण रूप से निर्गन्तव्य करके "चर्ममेघ समाधि" को सिद्ध कर लेते हैं।

इस मन्त्र में 'उद्भव' और 'सम्भव' ये दो अवस्थाओं किसी रचना की बताई हैं। उद्भव का अर्थ होता है कि किसी एक रचना के स्वरूप में से किसी दूसरी रचना का स्वरूप उदित होना। जैसे अक्षर सद्-ब्रह्म में से धर कर क्षरित असद्-ब्रह्म उदित होता है। उसी असद्-ब्रह्म से पुनः सद्-ब्रह्म का स्वरूप उदित हो जाता है। [असतो सद् जायत-]। उसी असद् के ऋत से रुद्र का उद्भव होता है। रुद्र के ऋत से ऋत की धाराओं का ईशानी रूप उदित होता है। उन्हीं ऋत की धाराओं से आत्मतत्त्व का अण्ड उदित होता है, उसमें विष्णु का अवतरण होकर जीवन की ज्योति का प्रकाश होता है। उसी ऋत की धाराओं से एक लोक से दूसरा लोक उदित होकर उनमें तत्सम्बन्धी देवों का उदय होता है। यह सारी सृजन की प्रक्रिया 'उद्भव' की अवस्था कहलाती है।

दूसरी अवस्था 'सम्भव' की होती है। प्रतिकालखण्डे राग्यक् रूपेण भवति

यस्मिन् अवस्थाग्रामं तद् अवस्था सम्भवः इति। अर्थात् यदि कोई रचना निरन्तर अपने प्रत्येक कालखण्ड में अपनी सम्यक् अवस्था को बनाये रखती है तो वह उसको 'सम्भव' की अवस्था कहलाती है। अर्थात् यह अवस्था किसी रचना के जीवन काल की अपनी पूर्ण आयु को भोगने की अवस्था होती है।

प्रत्येक रचना पहले अपने स्वरूप को धारण करके किसी पूर्व की रचना में से उदित होती है, वह उद्भव की अवस्था होती है। उसके पश्चात् वह उदित होकर अपने स्वरूप को लम्बी अवधि तक उसी प्रकार सम्यक् अवस्था में बनाये रखती है। यह उसके जीवन काल की आयु की 'सम्भव' की अवस्था होती है। इन दोनों अवस्थाओं को प्रदान करने वाला वह जालवान ईशान रुद्र ही होता है जो अपनी 'ईशानी' नाम की श्रुत की धाराओं के द्वारा सभी लोको में तत्सम्बन्धी देवों का उद्भव करके उन्हें सम्भव की अवस्था में स्थापित रखता है।

इस विद्या को जो योगसाधना करने वाले ब्रह्मजिज्ञासु प्राप्त कर लेते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करके अमर हो जाते हैं।

'उद्भव' और 'सम्भव' इन दोनों अवस्थाओं को मिला कर 'सम्भूति' कहा जाता है। इसके साथ ही जब ये दोनों अवस्थाएँ नहीं रहती, इन का अभाव हो जाता है, उसे 'विनाश' की अवस्था कहते हैं। यह सम्भूति और विनाश की क्रिया दोनों साथ-साथ प्रत्येक रचना में निरन्तर चलती रहती है। इसी प्रक्रिया द्वारा रुद्र अपनी श्रुत की धाराओं का प्रवाह 'ईशानी' नाम वालीयों का बनाये रखता है। पृष्ठ 312 पर बने क्षीर की रचना के चित्र में स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि 'सद्-ब्रह्म' के अक्षर ब्रह्मतत्त्व के अन्दर क्षरण उत्पन्न होने से 'असद्-ब्रह्म' का क्षर-रूप उद्भूत होता है और अपने स्वरूप में स्थित रहता है। यह उसकी सम्भूति की अवस्था है। वह असद्-ब्रह्म पुनः क्षरण की प्रक्रिया का अभाव उत्पन्न करता है और उसके सभी 'क्षर' आपस में पुनः जुड़ कर उसी सद्-ब्रह्म के ब्रह्म-तत्त्व के अक्षर स्वरूप में जुड़ जाते हैं। इससे असद् से पुनः सद् बन जाता है। यही असद् का विनाश का क्रम है।

इसी प्रकार असद् के सौत्र्य 'क्षरों' से मिला कर जो श्रुत बनता है उसके एक पौटली में रोधित होकर रचना के स्वरूप से 'सद्' की सम्भूति का क्रम बनता है। वह 'सद्' असद्-ब्रह्म के अन्दर से उसके क्षरित आर्द्र स्वरूप को निरन्तर अभिधीषित करता रहता है तथा साथ-साथ उस अभिधीषित श्रुत का वपन निरन्तर अपने तीन अक्षों के मार्ग द्वारा करता रहता है। इससे श्रुत के अन्दर 'ईशान' रुद्र की तीन सनात्तर चलने वाली 'ईशानी' नाम की श्रुत की धाराएँ उत्पन्न होकर वह बह कर चल देती हैं। ये धाराएँ श्रुत की उस क्षीर के केन्द्र बिन्दु पर लाकर अवात अवस्था में अच्युत बना कर खड़ा कर देती हैं। जिससे उस अच्युत अवस्था के केन्द्र में स्थित क्षर पुनः क्षरण को

को प्राप्त होकर 'विष्णु' के स्वरूप को रचना कर देता है। वह विष्णु इस कारण के बल से रुद्र से आदि उन ऋत को निरन्तर जलवाली चाराओं को वापिस प्रत्यावर्तित करके पुनः असद् ब्रह्म के कारण शील उस भाग में भेज देता है जो सद-ब्रह्म के अक्षर भाग के साथ सटा हुआ है। वहाँ जाकर इस ऋत को चारा का असद् ब्रह्म में विलय होकर उसके चारा के स्वरूप का अभाव हो जाता है। इस प्रकार इस 'ईशानी' की 'सम्भूति' रुद्र से होकर, उसका 'विनाश' असद् ब्रह्म में हो जाता है, और असद्-ब्रह्म की 'सम्भूति' सद-ब्रह्म में कारण उदभूत होने से होती है और उस असद्-ब्रह्म का 'विनाश' उस कारण प्रक्रिया के अभाव के होने पर पुनः सद-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप में बदलने से होता है।

इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक अवयव के सृजन और स्थापन के सम्भूति के क्रम में 'ईशानी' ऋत की चारायें उस अवयव या देव का उद्भव और सम्भव की दोनों अवस्थायें उस अवयव या देव के अन्दर प्रवेश करके करती हैं। उस देव की रचना के यज्ञ में उन 'ईशानी' ऋत की चाराओं के द्वारा ऋत की आहुति उस देव के अग्नि कुण्ड में निरन्तर डलती रहती है और उस देव की रचना का यज्ञ चलता रहता है। इसी प्रकार एक देव की रचना के यज्ञ से उन्हीं 'ईशानी' ऋत की चाराओं के प्रवाह के कारण आगे के अगले देव की रचना का यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है और उसके उद्भव और सम्भव की दोनों अवस्थायें स्थापित होकर सम्भूति की अवस्था स्थापित हो जाती है। इसी प्रकार एक देव के यज्ञ से दूसरे देव के सृजन का यज्ञ चलते रहने के क्रम से सृष्टि के सम्पूर्ण देवों की सम्भूति का यज्ञ रुद्र के ईशान बनने पर उसकी 'ईशानी' ऋत की चाराओं के द्वारा सभी देवताओं के यज्ञ में ऋत की निरन्तर आहुति प्रदान करने से चलता रहता है और वह ईशान इस प्रकार अपनी 'ईशानी' ऋत की चाराओं के द्वारा सभी लोकों को और उनमें स्थापित सभी देवों को शासित करता रहता है।

जब इन 'ईशानी' ऋत की चाराओं का अभाव उन देवों की रचना के क्रम में हो जाता है तो उनका विनाश हो जाता है। वैसे 'ईशानी' के ऋत का प्रवाह जिस प्रकार किसी देव के स्वरूप में प्रवेश करता है, उसी प्रकार उस देव का सृजन, पोषण करने के उपरान्त उससे बाहर भी निकलता है। इस 'ईशानी' ऋत की चारा का उस देव के स्वरूप में प्रवेश सम्भूति की अवस्था को उत्पन्न करता है तो उससे बाहर निकलने का निष्क्रमण उसके विनाश के क्रम को उत्पन्न करता है। 'ईशानी' के ऋत की निरन्तर चारा के चलते रहने के कारण प्रत्येक देव में सम्भूति और विनाश का क्रम साथ-साथ निरन्तर चलता रहता है। इसी बात को ईशोपनिषद् में इस प्रकार कहा है —

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद् वैदोमयम् सह ।

विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा सम्भूत्या ऽ मृतमश्नुते ॥

अर्थात् सम्भूति और विनाश के क्रम को जो ब्रह्मजिज्ञासु साध-साध जानता है वह विनाश की प्रक्रिया के क्रम से मृत्यु से तर कर सम्भूति के क्रम से अमृत अवस्था का भोग करता है।

सम्भूति के क्रम के ज्ञान द्वारा वह सृष्टि सृजन के उद्भव और सम्भव स्थितियों का दोनों का ज्ञान प्राप्त करके उस आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह समझ जाता है कि मूल कारण तत्त्व संसार का सद् ब्रह्म का अक्षर ब्रह्मतत्त्व ही है जिससे सारी सृष्टि का उद्भव और सम्भव होता है और विनाश के क्रम से अन्त में सभी का उसी अक्षर सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व में विलय होता है। "सत्यं ब्रह्म जगन्निर्मया" - के मूल मन्त्र के अर्थ को वह समझ जाता है। अन्त में उस अक्षर सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व की ही वह अमृत अवस्था बनती है जिसे प्राप्त करने के उपरान्त सृष्टि के प्रत्येक अवयव की अमर अवस्था बन जाती है। अतः सृष्टि का प्रत्येक अवयव अपनी रचना के विनाश के क्रम द्वारा अपने रूपों को बदलता-बदलता प्रमशः उन 'ईशानी' मृत की चाराओं के द्वारा क्षरण युक्त असद्-ब्रह्म के रूप में अपने कारण शरीर को त्याग कर आ जाता है और सभी प्रकार की मृत्युओं से तर कर उस असद्-ब्रह्म के रूप में आ जाता है। उसके पश्चात् उस असद्-ब्रह्म से उद्भूत सद्-ब्रह्म के रूप में स्थापित होकर सम्भूति की प्रक्रिया द्वारा सदा के लिए उस 'ब्रह्मतत्त्व' के अमृत स्वरूप का भोग करता है।

इसी लिए इस मन्त्र में भी, "यस्तद्विदुः अमृताः ते भवन्ति" - कहा है। अर्थात् जो 'ईशानी' के द्वारा सौर लोकों पर शासन करने के ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, वे ब्रह्म जिज्ञासु अपनी योग साधना द्वारा अमर हो जाते हैं। वे समझ जाते हैं कि ब्रह्मतत्त्व के सद् अक्षर ब्रह्मतत्त्व में क्षरण का कारण काम के द्वारा मन में उदित सृष्टि के सृजन की इच्छा के संकल्प का उदित होकर अहम् के संकल्प को चारण करना है। उस अहम् से ही एक इकाई के देव का उद्भव और सम्भव दोनों अवस्थाएँ स्थापित हो जाती हैं। वह इस अहम् के संकल्प को उदित करने वाले मूल कारण 'काम' को ही पूर्ण रूप से योगाभ्यास द्वारा चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध करते हुए दबध कर देता है। इस प्रकार वह अपने 'आत्मतत्त्व' के अहम् को मिटा कर उस सद्-ब्रह्म के अक्षर ब्रह्मतत्त्व में अपने आत्मतत्त्व के अण्ड को विनाश करके मिला देता है। इस 'आत्मतत्त्व' के अण्ड के विनाश द्वारा वह सदा के लिए मृत्यु से तर जाता है और ब्रह्मतत्त्व में मिल कर सम्भूति के द्वारा ब्रह्मतत्त्व के अमृत स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि जब तक उसका 'आत्मतत्त्व' का अण्ड मृत का बना रहता है, तब तक उसकी आत्मा में कामना युक्त अहम्

का संस्कार उसकी आत्मा के आत्मतत्त्व के अण्ड को सद-ब्रह्म के अक्षर ब्रह्मतत्त्व से अलग बनाये रखेगा और उसकी आत्मा उस अहम् के संस्कार के वशीभूत होकर निरन्तर शरीरों को स्व-के-बाद-स्व चारण करती हुई जीवन-मरण के चक्र में फँसी रहेगी और मरण त्रास का वलेश उसकी आत्मा को सदैव आविन्ध्यत करके रखेगा। अतः काम के दग्ध होने पर ही आत्मतत्त्व के अण्ड की सद-ब्रह्म के अक्षर ब्रह्मतत्त्व से प्रथकता दूर होती है। काम के पूर्ण रूप से दग्ध होने पर आत्मा ब्रह्मतत्त्व के परमात्मा में मिल जाती है और मोक्ष प्राप्त हो जाता है। वही अमृत अवस्था का भोगना कहलाता है।

रुको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-

य इमं लोकाजीघात ईशानीभिः।

प्रत्यङ् जनां तिष्ठति सञ्चुको चान्त काले

संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ (2)

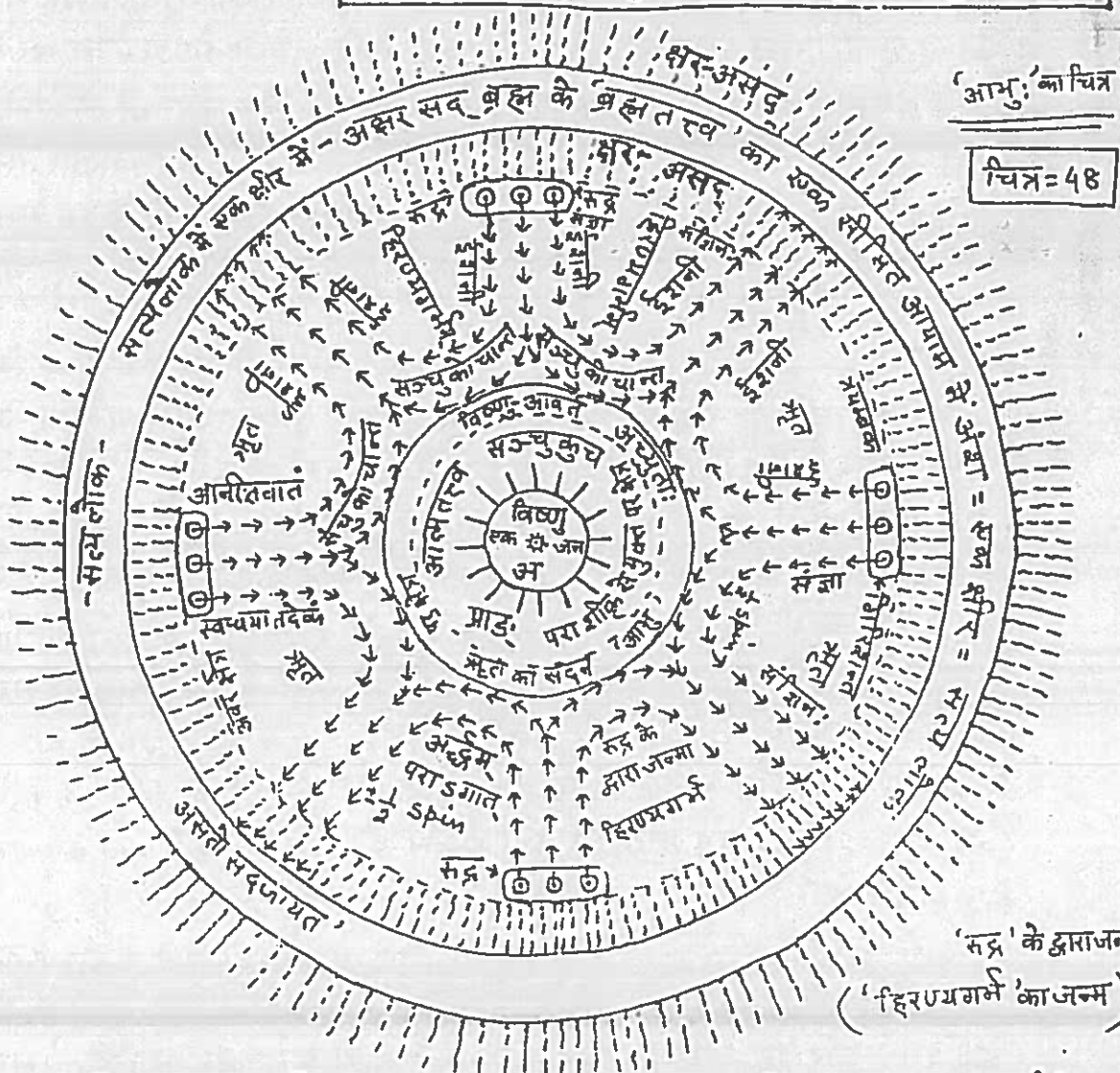
वह रुद्र ही ठहरता है, दूसरा कोई नहीं, जो अपनी ईशानी श्रुत की चाराओं के द्वारा इन सभी लोकों [भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं] को शासित करता है। वह रुद्र ही अपनी 'ईशानी' - श्रुत की चाराओं के श्रुत से सौर भुवनों का सृजन करके चाराओं के सञ्चुको चान्त काल में उन भुवनों के रहने वाले जनों को अलग-अलग करके रखने वाला उनका रक्षक बन कर बैठता है। [अर्थात् सभी लोकों के सभी भुवनों में रहने वाले देव जनों का अलग-अलग उद्भव और सम्भव करने वाला उनका रक्षक बन कर रुद्र ही बैठता है। यह उद्भव और सम्भव प्रत्येक देव का रुद्र की ईशानी की श्रुत की चारा के श्रुत के बहाव के किसी बिन्दु पर किसी काल के अन्तः खण्ड में ठहरने से उस श्रुत के सञ्च के उभार से जो कुच बन जाता है, उससे होता है। इस प्रकार वह रुद्र अपनी 'ईशानी' श्रुत की चाराओं के द्वारा इन लोकों को शासित करता है]]

'प्रत्यङ् जनां' का अर्थ है प्रथक-प्रथक सभी सृजनों को। 'जन' का अर्थ है पैदा होने वाला। अर्थात् ईशानी की श्रुत की चारा ने जिसे जन कर पैदा किया है। इस श्रुत की चारा ईशानी ने कैसे जन कर पैदा किया तथा किस काल में पैदा किस स्थान पर किया? इसका उत्तर दिया- "सञ्चुको चान्त काले" अर्थात् श्रुत की चारा का बहाव जिस काल के अन्तः खण्ड में किसी बिन्दु पर अवसृज्य हो जाता है तो उस श्रुत के उस बिन्दु पर सञ्च (स्व-कर इच्छा होने) बनने से रुद्र आवर्त में घूमने वाला 'कुच' उभर कर ऊर्जा से युक्त उस काल में बन जाता है।

'सञ्च' का अर्थ है संग्रह; और 'उ' का अर्थ है रुद्र की 'ईशानी' श्रुत की धाराओं ऊर्जा। अतः 'सञ्च + उ = सञ्चु' का अर्थ हुआ 'ईशानी' की श्रुत की धाराओं के बहाव के किसी काल में किसी बिन्दु पर रुकने के कारण बने श्रुत के संग्रह से अर्जित ऊर्जा की शक्ति। ^(Quantum of energy) अर्थात्-सञ्चु का अर्थ 'रुद्र' की ऊर्जा की शक्ति हुआ। 'कुच' का अर्थ है-जहाँ पर द्रव्य तत्त्व इकट्ठा होकर रुक ऊपर उठा हुआ गोल ढेर शंकु के आकार का बना देता है, उसे कुच कहते हैं। जैसे कि स्त्री के स्तनों में मांस इकट्ठा होकर शंकु के आकार का उभरा हुआ ऊपर उठा हुआ मांस का गोल पिण्ड बन जाता है तो उस शंकु के आकार के स्तन के मांस के पिण्ड को 'कुच' कहते हैं। अतः श्रुत की धाराओं के बहाव के रुकने पर रुक बिन्दु पर बने किसी काल में श्रुत के सञ्च से जो शंकु के आकार में गोल आवर्त में घूमता हुआ ऊर्जा से युक्त कुच बनता है उसे 'सञ्चु-कुच' कहते हैं। उस सञ्चुकुच की सीमाओं का जितने क्षेत्र में अन्त होता है उस सीमान्त क्षेत्र को सञ्चुकोचान्त प्रदेश कहा जाता है। जिस काल खण्ड में वह सञ्चुकोचान्त प्रदेश का क्षेत्र उस सृजित जन से युक्त होता है वह काल सञ्चुकोचान्त काल कहलाता है। उस सञ्चुकोचान्त काल में सारे भुवनों को उत्पन्न करके वह रुद्र अलग-अलग सभी सृजित जनों को उनके तत्सम्बन्धी लोको में पैदा करके उनका रक्षक बन कर बैठता है। अर्थात् उनको उद्भव और सम्भव दोनों का कर्ता बन कर उनका रक्षक बन जाता है। यह उद्भव भी इन श्रुत की धाराओं 'ईशानी' से होता है और सम्भव भी उसी ईशानी के श्रुत की धाराओं के निरन्तर प्रवाह से होता है। ^{सुप्र शोधने छिद्रे वा च्युतु से बने 'रुद्र' शब्द से यही अर्थ प्रकट होता है।} इस मन्त्र की प्रक्रिया का स्वरूप क्षीर की रचना में स्पष्ट हो जाता है। क्षीर की रचना से सत्य लोको का सृजन होता है और उस सत्य लोको के क्षीर में चार प्रकार के देव निवास स्थापित हो जाते हैं। उस क्षीर में चारों ओर स्थित क्षेत्र जगत् की क्षीरा के केन्द्र में विष्णु देव का जनन रुद्र की ईशानी श्रुत की धाराओं के द्वारा होता है। रुद्र क्षीर के सदब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व में क्षरण उत्पन्न होकर असद्ब्रह्म का क्षर रूप बनता है। उन क्षरों की पीटली बन कर श्रुत के रोचन से रुद्र बनता है। रुद्र से ईशानी धारायें चारों ओर से केन्द्र की ओर चलती हैं। उन 'ईशानी' धाराओं के द्वारा श्रुत रुद्र बिन्दु पर अवात अवस्था में ला दिया जाता है। ^{["अर्जितवातं स्वधारादेकर" (शृग्वेद-10,129,2) वह श्रुत का बना सञ्च है।} उस सञ्च में श्रुत की धाराओं के बहाव के बल की ऊर्जा भर जाती है। अतः वह केन्द्र बिन्दु पराशील की ऊर्जा से युक्त हो जाता है। उस केन्द्र पर श्रुत के इकट्ठा होने से ऊपर कर कुच की आकृति दीपक के केन्द्र में रखी लोपों की बत्तियों की तरह बन जाती है। इस प्रकार उस क्षीर के केन्द्र में श्रुत का सञ्चुकुच बन जाता है। उस सञ्चुकुच का केन्द्र में बना शंकु की नींव का क्षिरा, जो कि दीपक के केन्द्र

में रखी बली का अपर को उमरा हुआ जलने वाले अन्त का शिरा बनता है, वह उसी प्रकार का उस क्षीर के केन्द्र में बने सञ्चुकुच के अन्त का शिरा, 'सञ्चुकुचोचान्त' बन गया। वह सञ्चुकुचोचान्त जिस काल में बन गया, वह 'सञ्चुकुचोचान्त काल' बन गया। उस सञ्चुकुचोचान्त काल में = 'सञ्चुकुचोचान्त काले'। उस सञ्चुकुचोचान्त काल में सत्यलोक की सृष्टि के द्वारा रचना हो गई। उस सत्यलोक में उस सञ्चुकुच के अन्तिम शिरा - 'सञ्चुकुचोचान्त' पर उस काल में विष्णु देव की अवतीर्ण कर के रुद्र जन के रूप में स्थापित कर दिया। इस प्रकार उस सत्यलोक में अलग से विष्णु देव की अवतीर्ण कर (उत्पन्न कर के) रुद्र देव अपनी 'ईशानी' श्रुत की चाराओं के द्वारा उसका रक्षण बन कर बैठा है। प्रत्येक लोक में रुद्र की श्रुत की 'ईशानी' चाराओं के द्वारा यही प्रक्रिया अपनाई जाती है और उस लोक का तथा उस लोक में स्थित सभी देवों के जनों का सृजन करके उनकी स्थापना कर दी जाती है और रुद्र उनका रक्षण बन कर बैठता है। नीचे के चित्र में इस प्रक्रिया को क्षीर के अन्तर देख कर समझ लें।

एवो हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्युर्ध्वे इमौल्लोका नीशत ईशानीभिः।
प्रत्यहः जनान् तिष्ठति सञ्चुकुचोचान्त काले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥



'रुद्र' के द्वारा जन्मा
('हिरण्यगर्भ' का जन्म)

ईशान रुद्र द्वारा ईशानी श्रुत की चाराओं के द्वारा सत्यलोक का सृजन तथा उसमें विष्णु के रूप जन की स्थापना का चित्रण। रुद्र इसका रक्षण बन कर बैठा है।

इस मन्त्र का अन्वय इस प्रकार बनता है -

रुक्मि हिरुद्रः (अस्ति) द्वितीयाथ न, य इमान् लोकान् ईशानीभिः ईशत तस्युः।
(सः रुद्रः) विश्वा भुवनानि संसृज्य (ऋतस्य) सञ्चुक्चान्त (कृति) काले प्रत्यङ्-
जनान् (लौकैषु) संसृज्य गोपाः (रूपेषु) तिष्ठति ॥

यह 'सञ्चुक्च' आधुनिक विज्ञान में चाराओं की तरंगों के प्रवाह में (An wave motion) - "Point of high intensity" कहलाता है। उसके चारों जहाँ से ऋत चल कर इस सञ्चुक्च पर आ जाता है, वह क्षेत्र वही ऋत का क्षेत्र अवर क्षेत्र अर्थात् "Field of low intensity" कहलाता है। इस प्रकार रुक्म सञ्चुक्चान्त से दूसरे सञ्चुक्चान्त के केन्द्र बिन्दुओं की दूरी रुक्म wave length बन जाती है। इस प्रकार सञ्चुक्च का क्षेत्र 'पर' (Field of high intensity) और अवर क्षेत्र का क्षेत्र 'अवर' (Field of low intensity) के नाम से ऋग्वेद में जाना जाता है। यह ऋत की ईशानी चारा पर-अवर-पर-अवर का क्षेत्र बनाती हुई चलती है और प्रत्येक पर क्षेत्र पर रुक्म लोक की रचना करती हुई उसमें रुक्म देव या बहुत से देव स्थापित करती चली जाती है। रुक्म की इन ईशानी ऋत की चाराओं के चलने की विधा और उनके द्वारा सृजन की प्रक्रिया के विषय में ऋग्वेद में इस प्रकार बताया है। -

अवः परेण पर रुजावरेण पदावत्संविभ्रती गौरुदस्थात् ।

साकद्रोची कं स्विदद्दं पराऽगात् क्वं स्वित्सूतेन हि यूचे अन्तः॥

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ इस प्रकार बनते हैं - (ऋग्वेद-1, 164, 17)

अवः = अवर क्षेत्र की | परेण = पर क्षेत्र से | (अर्थात् पर क्षेत्र से अवर क्षेत्र को)
(From field of high intensity to field of low intensity)

परः रुजा अवरेण = इस अवर क्षेत्र से (अगले) पर क्षेत्र की ।

(From this acquired field of low intensity to next field of high intensity) | पदा = पद के द्वारा = अर्थात् कदम के द्वारा
(By taking one step of one wave length)

(i.e. पद means wave length)

वत्सम् विभ्रती = अपने द्वारा उत्पन्न किये गये 'सञ्चुक्च' के अपने पुत्र (सृजित देव) को चारण करती हुई | गौः = गौरूप का जननी माता अर्थात् जैसे गौ अपने वत्स को उत्पन्न करके चारण करती है, उसी प्रकार यह ईशान

की ईशानी ऋतु की धारा भी अपने द्वारा सृजित अपने वत्स (देव) को चारण करती हुई गौमाता बन कर उसे पौषित भी अपना ऋतु का दूध पिला कर करती है।

उत् अस्थात् = ऊपर उठी है। स्व स्थान पर अपने स्व वत्स (देव) को सृजित करके तथा पुष्ट करके उसी के पास नहीं रहती अपितु उस से ऊपर उठ कर अगले लोक में चली जाती है। स्व लोक में अपने वत्स को सृजित करके उसे पुष्ट करती हुई उससे ऊपर के दूसरे लोक में पर-अवर-पर-अवर के स्व पद द्वारा (पदा) ऊपर उठ कर चली जाती है।

सा = वह ईशानी [गौमाता की तरह अपने वत्स का सृजन, पौषण करने वाली वह ऋतु की धारा 'ईशानी']

क द्रीची = कहाँ जाने वाली (उस अगले लोक में बनती है)

कम् स्वित्र् = किसको (किस देव को)

अर्द्धम् परा अगात् = अर्द्ध गोल पथ पर चलती हुई पहले वाले अपने वत्स के 'पर' क्षेत्र को लौट गई है। अर्थात् प्रत्येक लोक में अपने वत्स देव का सृजन, पौषण करती हुई यह $\frac{1}{2}$ spin करती हुई चलती है। यह $\frac{1}{2}$ spin (+) तथा (-) दोनों दिशाओं में होता है। विष्णु से परावर्तित होने के उपरान्त यह ईशान की ईशानी विष्णु का रेत बन जाती है। अतः विष्णु के रेत का यह "सप्तार्द्ध गर्भा" रूप बन जाती है। पृष्ठ (272) पर विष्णु के सप्तार्द्ध गर्भा रूप का चित्रण देखें। अर्थात् यह 'ईशानी' ऋतु की धारा बन कर स्व पद चल कर स्व लोक से दूसरे लोक में भी जाती रहती है और अर्द्ध गोल में भी घूमती रहती है। स्व-स्व पद चल कर वह सभी सातों लोकों में जाकर अपने वत्सों को जन्म देती है और उनका पौषण भी करती है। उद्भव तथा सम्भव की दोनों क्रियाएँ करती है।

क्व स्वित्र् सूते = इस अर्द्ध गोल में जाती हुई कहाँ पर अपने अगले वत्स का प्रसव करके उसे सूती है। अर्थात् उसे पैदा करती है।

नहि यूधे अन्तः = जिस लोक के गोष्ठ में पहले वत्स जन्मा था, उस लोक के गोष्ठ के अन्दर नहीं, अपितु अगला वत्स अगले लोक के गोष्ठ में जन्मती है।

इस प्रकार ऋग्वेद में, "प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति संयुक्तोऽन्ता कालि संयुक्तः
विश्वं नृजनानि गोपाः" की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है।

रुद्र रुद्र से अनेकों रुद्र बन जाते हैं। प्रत्येक देव की अलग-
अलग रुद्र रक्षा करते हैं। अतः गोप शब्द का बहुवचन 'गोपाः'
इस मन्त्र में प्रयुक्त किया है। "रुद्रोऽहम् बहु संयागः" का अर्थ यह
यहाँ लगाता है। रुद्र रुद्र से अनेक रूपों में हो जाता है। परन्तु
सभी रुद्रों का रुद्र सूत्र उन ईशानी ऋतु की चाराओं के जालों द्वारा
बन जाता है। अतः नियन्त्रण करने के लिए उस रुद्र का रूप ही
इकाई का संकल्पकारी रूप कार्य करता है। अतः 'तिष्ठति'
क्रिया रूप वचन में ही प्रयुक्त हुई है। क्योंकि वह पहले ही यह बता दिया
गया है कि, "रुद्रो हि रुद्रः न द्वितीयाय तस्थुः यः इमान् लोकां न
ईशानीभिः ईशत।" अर्थात् वह रुद्र ही रुद्र है जो इन सभी लोकों की
ईशानी ऋतु की चाराओं के द्वारा शासित करता हुआ स्थित है। इस
कारण यहाँ 'तिष्ठति' क्रिया रूप वचन में आदि है। परन्तु रक्षक बनने
के लिए 'गोपाः' बहुवचन का शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि बिना
देव जनों का अलग-अलग सृजन करके उनका संलग्न-अलग रक्षण
बनना पड़ता है। बहुत सारे देवजनों के बहुत सारे रक्षण होने।

विश्वतोऽक्षुसत विश्वतो मुखो

विश्वतो बाहुरुत विश्वतर-पात् ।

सं बाहुभ्याम् चर्मति संपतत्रे-

कीवा भूमिं जनयन् देव रुद्रः ॥ (3)

(वह रुद्र) सब ओर ओंखों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर
भुजाओं वाला, और सब ओर पैरों वाला है। वह अकेला ही धी और पृथिवी
को उत्पन्न करता हुआ अपनी दोनों भुजाओं की सम्प्रत्यक्ष प्रकार से
पटकाता हुआ उनका संधमन करता है। अर्थात् उन्हें प्राणों की अर्जा से
मुक्त करता है।

रुद्र के जिन तीन नेत्रों से 'ईशानी' की ऋतु की चारायें निकलती हैं, वे सभी
देवों के लिए ऋतु का प्रवाह प्रदान करने के लिए सभी ओर खुली रहती हैं। अनेक
देवों की अनेक स्थलों पर पोषण, रक्षण करने के लिए सभी ओर अनेक रुद्रों की
ओंखें सभी ओर खुली रहती हैं। अतः वह रुद्र सभी ओर ओंखों वाला है।

रुद्र की जो ऋतु की पैटली बनती है वह सभी ओर से ऋतु की अपने मुखों द्वारा
मक्षण करती हुई अभिशोषित करती है। अतः उस रुद्र के सभी ओर मुख हैं। वह सभी ओर
मुखों वाला है।

उस रुद्र से 'ईशानी' ऋतु की चारायें उस रुद्र की भुजायें बन कर सभी ओर
निकल कर जाती हैं, ताकि वे सभी दिशाओं की ओर देवों को प्राप्त होकर उनका पोषण करती
हुई उनकी रक्षा कर सकें। अतः वह रुद्र सब ओर के देवों की रक्षा करने वाला बन कर

सभी और मुजाओं वाला है।

जिस लोक में जहाँ भी किसी देव की संरचना होती है, वहीं रुद्र अपनी 'ईशानी' श्रुत की धाराओं के प्रवाह से उस देव को जन्म देकर उद्भव करने के लिए और निरन्तर श्रुत के प्रवाह से उस देव का पोषण करके सम्भव की अवस्था प्रदान करने के लिए उस देव के पास पहुँच जाते हैं। अतः वह सभी और सभी लोकों में जाने वाला बन कर सब और पैरों वाला है। प्रत्येक देव के अन्दर श्रुत की सद्यन्ता का स्वरूप रुद्र अपनी 'ईशानी' श्रुत की धाराओं के प्रक्षेपण से बनाता है। इसी कारण वह रचना सूक्ष्म से स्थूल बन कर अधिव्य गन्धन हो जाती है और प्रत्येक देव की रचना में आकर्षण बल उत्पन्न हो जाता है। जिसे उस रचना का गुरुत्वाकर्षण बल (gravitational force) कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण के बल का कारण रुद्र की ईशानी श्रुत की धाराओं ही बनती है। वे अपने बहाव में सभी चीजों को उस पिण्ड की ओर बहाकर ले जाती हैं, जिस पिण्ड की ओर जा कर उसी संरचना के स्वरूप को सद्यन्त बनाती हैं।

जिस प्रकार लोहार अपनी परवावज में वायु का संधमन करके वायु की ऊर्जा से अग्नि को अत्यधिक प्रचण्ड करके अधिक ऊष्मा की ऊर्जा प्रदान करने वाला बनाता है, उसी प्रकार रुद्र भी अपनी इन 'ईशानी' श्रुत की धाराओं को मुजाओं को फटकार कर पटकता हुआ इन में श्रुत का सञ्चार करता हुआ श्रुत का संधमन करता है। जैसे लोहार परवावज (blower) को दोनों मुजाओं से पकड़ कर वायु का संधमन (blow) करता है, उसी प्रकार रुद्र की ईशानी श्रुत की धारा भी 'अर्द्धांग परागता' ($\pm \frac{1}{2} \text{ spin}$) गमन वाली बन कर रुद्र के दोनों बाजुओं बायीं बाजू ($+\frac{1}{2} \text{ spin}$) तथा दायीं बाजू ($-\frac{1}{2} \text{ spin}$) की ओर श्रुत का संधमन करती हुई देवों की रक्षा, पोषण प्रदान करने लिए ऊर्जा प्रदान करती हैं।

इस प्रकार वह रुद्र स्व ही देव अपनी 'ईशानी' श्रुत की धाराओं के द्वारा द्यौं और पृथिवी दोनों को उत्पन्न करने वाला देव बनता हुआ अपनी दोनों मुजाओं को फटकारता हुआ उनमें श्रुत की धारा के प्रवाह का संधमन करता रहता है।

अणु की संरचना बताने वाले मन्त्र - "तमेव नेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शताध्वरं विंशति प्रत्यराभिः। अष्टकैः षडभिर्विश्वरूपैकपाशम निनिमित्तैकमौहम्" में अणु की संरचना के दो निमित्त बताये हैं। ये दो निमित्त सूक्ष्म रूप का द्यौं और स्थूल रूप का अर्धपिण्ड का भूमि का रजकण हैं। द्यौं संरचना का सूक्ष्म अंश है जो अदृश्य (invisible) रहता है। इस की संरचना क्षरण करने वाले असद् ब्रह्म, क्षीर, अणु से होती है। अतः द्यौं में असद् ब्रह्म, क्षीर सागर और अर्णव समुद्र की रचनाये होती हैं। ये रचनाये अर्धपिण्डों (mass particles) से रहित होती हैं अतः ये अदृश्य रहती हैं। 'पलित' की रचना स्वयं अणु की रचना है। अतः वह पूर्ण रूप से अदृश्य भाग है।

दूसरी संरचना मौलिक अर्थों के पिण्डों (mass particles) से होती है। अतः यह दृश्य (visible) होती है। तीसरी प्रकार की रचना में ये दोनों भाग मिले होते हैं। अतः वह आधी दृश्य (semi-visible) होती है।

Balmer series में Electron wave के Line spectra की Theory में दो भाग Invisible part and visible part इन्हीं दो निमित्तों को बताने वाले आधुनिक विज्ञान में बनते हैं। जब कि Lyman series में Electron wave के Line spectra के तीन भाग (1) Invisible part, (2) semi-visible part, (3) Fully visible part वेद के पलित, अन्न, घृतपृष्ठ के तीन नामचक्रों को बताने वाले बनते हैं। अन्न में आधा भाग द्यौ का पुरुष भाग रहता है और आधा पृथिवी का 'क' ऋण अश्विनो, वृन्दारक, शिवत्मा रहते हैं। जब कि पलित में पूर्णतः द्यौ और घृतपृष्ठ में पूर्णतः पृथिवी के रजःकणों का अंश रहता है। मूल रूप से अदृश्य द्यौ और दृश्य भूमि में ही प्रत्येक देव की रचना के निमित्त बनते हैं। इन दोनों को एक ही देव रुद्र अपनी 'ईशानी' श्रुत की चाराओं के श्रुत से उत्पन्न करता हुआ अपनी दोनों भुजाओं को $\pm \frac{1}{2} \text{ spin}$ की दोनों श्रुत की चाराओं को अधर में उड़ाता हुआ उनमें श्रुत का संधमन करता है।

पहले इन श्रुत की चाराओं से सूक्ष्म अदृश्य भीर, अणु की रचना होती है। अणु से अणुव समुद्र बन कर उसमें अश्व का उदय होता है। अश्व से पुरुष का उदय होता है। पुरुष के दशांगुल रूप द्वारा अश्व के महिजात रूप से दश मौलिक अर्थों के अर्थ पिण्डों से रजःकणों की संरचना होती है। जिससे बाद में पृथिवी बन जाती है। पृथिवी में पाँचों महाभूत समाहित हैं।

द्यौ की संरचना में 'पञ्चारचक्र' का पञ्चावर्त बनता है। उस द्यौ के पञ्चावर्त के ऊपर सप्त लोको की रचना होती है, जिससे एक अणु की नीम बन कर अणु की रचना से पञ्चमहाभूतों की रचना होती है। इस विषय में ऋग्वेद का मन्त्र इस प्रकार कहता है —

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।

अथैमे अन्य उपरे विचक्षणम् सप्तचक्रे षठ्कर आहुरपितम् ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 12)

द्यौ पिता है जो अर्द्धगर्भित करने सप्तलोकों और उन में स्थित देवों का सृजन करता है। इसकी रचना रुद्र की 'ईशानी' श्रुत की चाराओं के द्वारा होती है। इसकी रचना के पाँच पद हैं। [उन पाँच पदों में प्रथम पद क्षीर के केन्द्र में स्थित विष्णु-आवर्त की रचना का है। दूसरा पद सवितु के आवर्त की रचना का है। तीसरा पद 'ईशान-आवर्त' का है। चौथा पद 'कलिल-आवर्त' का है और पाँचवाँ पद 'निचिकेतावर्त' का है। ये पञ्चावर्त इस द्यौ के आवर्तों की रचना के पाँच पद हैं जिनके कारण यह सदा उग्र रहता है। (मैन द्यौरुकाः) [इन पाँच पदों में निचिकेतावर्त में] बारह आकृति के घेरे हैं। [द्वादशप्रथमः] [इस पञ्चावर्त की रचना का चित्र पृष्ठ (41) पर देखें]। ये पाँचों आवर्त अपने पाँच पदों में प्रत्येक पद में अपने पुर के पद का पर क्षेत्र में आधे पुर

का शासन करने वाला अवयव बनता है। अर्थात् प्रथम पाद के आवर्त में रुद्र की ईशानी श्रुत की चारों 'ईशानी' अपने पराशक्ति के क्षेत्र में अर्धचूर्णन ($\frac{1}{2}$ spin) करती हुई उसे अर्द्धगर्भित करती हुई अर्द्धपुर को शासन करने वाली 'अर्द्धपुरी घणाम' ही बनती है।

इस प्रथम पाद की रचना वाले पिता द्यौ के पाँच आवर्तों और बारह आकृतियों के क्षेत्रों वाले और अर्द्धपुर को गर्भित करने वाली श्रुत की चारों ओर के ऊपर दूसरी रचना सात लोको की सप्तलोकों की देरवी गड़ी है। जिन में छः अन्तरिक्ष अर्थात् उन सात लोकों के मध्य स्थित देखे गये हैं। [सप्त लोकों के मध्य छः अन्तरिक्षों के अर्पित होने का चित्र पृष्ठ (38) पर देखें।] ये छः अन्तरिक्ष अपने प्रत्येक अन्तरिक्ष के दोनों ओर के लोकों को रुद्र की श्रुत की चारों ओर 'ईशानी' के बने अर्धों के द्वारा एक दूसरे को जोड़ते हैं जो जोड़ते हैं। इन अर्धों से विष्णु का सप्तलोकों की रचना बनता है जो सात लोकों से अर्द्धगर्भित ($\frac{1}{2}$ spin) करने वाला अवयव बनता है जिससे उनमें तत्सम रूपों के देव उत्पन्न होते हैं।

पाँच प्रकार के आवर्तों की रचना रुद्र की श्रुत की चारों ओर 'ईशानी' के द्वारा नौ आवर्तों के चक्र बनाने से बनती है। इन सप्तलोकों की रचना उन श्रुत के चक्रों के द्वारा बने सप्तपरवृत्तों (Seven hypercircles) और अष्टपरवृत्तों (Eight hypercircles) के द्वारा बनती है। इन सप्तलोकों में की मौलिक अर्थों के अर्धपिण्डों के बने होते हैं। जिन से रजःपण बना कर अणु की नाभ की स्थूल रचना होती है और यह प्रकृति-महाभूतों का रूप दृश्यमान प्रकट होता है।

इस प्रथम आवर्त में प्रथम आवर्त रूप की ओर के अन्दर अच्युतरूप में विष्णु का आवर्त बनता है। इसे रुद्र की श्रुत की चारों ओर 'ईशानी' ही बनाती है। पृष्ठ (321) पर बने क्षीर की रचना में इसका चित्रण स्पष्ट दिखाई देता है। यह आवर्त अच्युतरूप में रहता है और कभी भी अपने केन्द्र के स्थान को नहीं छोड़ता। विष्णु देव का आवास के कारण यह विष्णु आवर्त कहलाता है। यह सद्यन और शासन होता है। यही श्रुत का सदन कहलाता है। यही सब देवों को गर्भित करने वाले कृष्ण-विष्णु भगवान का स्थान (धोसला) कहलाता है। इसी के रुद्र के श्रुत की चारों ओर 'ईशानी' सुन्दर पंखों वाले श्रुत के अर्धों के बनकर द्यौ में ऊपर की उड़ती है तथा लोकों में चलती हुई त्रित के क्षेत्र मौलिक अर्थों की रचना करती हुई पदार्थ के द्रव्य (अपः) के क्षेत्र चरण कर लेती है।

पदार्थ के द्रव्य के वस्त्र पहनने का अर्थ है कि प्रत्येक मौलिक अर्थ पिण्ड के केन्द्र में तो सूक्ष्म रूप में ऋत ही होता है तो असद-ब्रह्म के शरीरों का बना होता है अतः पदार्थ विहीन (massless) होता है। परन्तु उस ऋत के अणु के ऊपर पदार्थ के द्रव्य का आवरण चढ़ा होता है जो पदार्थ के द्रव्य का उस ऋत के अणु पर ढंका हुआ वस्त्र बन जाता है। अर्थात् अब ये ऋत के बने अश्व 'मीहजात' रूप धारण कर के सुन्दर पंखों वाले शरीर-धारी पक्षी बन जाते हैं जो ऋत के सदन से लौट कर आते हैं। उससे पश्चात् भूः लोक में पहुँच कर ये अश्व अपने मीहजात रूप के द्यूत से पृथिवी के बड़े रजकणों न्यूट्रोन, प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन को ('सं', 'चि', 'इत्' = नचिक्तेत - अभिन के इन रजकणों को) पोषित करने के लिए खूब सींचते हैं और पृथिवी के रजकण इनके द्यूत से खूब तर हो जाते हैं। मौलिक अर्थों के संग्रहीत स्वरूप को ऋग्वेद में 'द्यूत' कहा जाता है। ज्यों कि जिस प्रकार द्यूत (द्यौ) के खाने से मनुष्य का शरीर पुष्ट और बलशुक्त बनता है, उसी प्रकार इन मौलिक अर्थों के संग्रह को खा कर प्रत्येक रजकण पुष्ट और बलशुक्त बनता है। अतः यह रजकणों (चूलिके कणों) के लिए उनका खाने वाला द्यूत होता है। इसी कारण भूः लोक और सप्त पाताल लोकों के बाह्यतम पृष्ठ को अणु के अन्दर बना 'द्यूत पृष्ठ' कहा जाता है।

इस प्रकार यह विष्णु आवर्त ही ऋत का सदन बन कर अपने अन्दर से द्यौं में अश्वों को उड़ाने वाला तथा उन अश्वों को शरीर-धारी सुन्दर पक्षी के रूप में बदल कर द्यूत से पृथिवी के रजकणों को खूब तर करने वाला बनता है। इस प्रीतिप्रिया को बताते वाला ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है।

कृष्णं निशानं हरयः सुपर्णा अपौ वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आवृत्रन्त्सदना दृतस्यादिद् द्यूतेन पृथिवी व्युद्यत ॥

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं।- (ऋग्वेद - 1, 164, 47)

कृष्णम् = विष्णु भगवान का अवतारित रूप द्वारा के कृष्ण के रूप का

निऽशानम् = द्यौसला है। (विष्णु आवर्त से बाहर निकल कर बने वाले उसके दूसरे प्रतिरूप विष्णु के दूसरे 'पर' रूप में 'ऊपर' के कृष्ण के अवतार के द्यौसले बनते हैं जो विष्णु के रथ के 'हरि', (अश्व) कहाने वाले सुडौल पंखों वाले, द्यौं में उड़ने वाले अश्व कहते हैं।)

हरयः = 'हरि' कहलाने वाले विष्णु के अश्व जो सद् को 'इशान' ऋत की चाराओं के बनते हैं। (Quantum of energy flying in radio waves in the space)

सुऽपर्णाः = सुन्दर पंखों वाले शरीर-धारी पक्षी [mass particles and having powerful wings to fly in the space] and matter waves with flying quantum of energy.

(अथवा सुडौल पंखों वाले)

अपः वसनाः = पदार्थ के द्रव्य की मात्रा के बने वस्तुओं को पहचानते हुए।
(Acquiring mass over itself - the quantum of energy)

दिवम् उत पतन्ति = द्यौं में ऊपर को उड़ते हैं। वे अश्व 'हरि' भी उड़ते हैं।
और वे सुन्दर पंखों वाले पदार्थ के द्रव्य के वसन
धारण करने वाले शरीरधारी पक्षी भी ऊपर को
द्यौं में उड़ते हैं।

गौप्य ब्राह्मण-1, 39, में आपः 'या अणः' शब्द का अर्थ
बतते हुए व्याख्या में, "सर्वमाप्नोमयं भूतं सर्वं भुवविद्विरोमयम्"
कहा गया है। अर्थात् जितना भी पदार्थ के द्रव्य का भूत (matter)
है वह आपः से युक्त होकर बना है। सारे भूतों में भूत और अंगिरा
हैं।

शतपथ ब्राह्मण-6, 1, 1, 9, में बताया है कि, "सेदं सर्वमाप्नोत्
यदिदं किञ्च। यदाप्नोत् तस्मादापः।" अर्थात् जो भी कुछ
यह स्फुल रूप की पञ्च महाभूतों की सृष्टि में द्रव्य है जो सभी
स्वरूपों को प्राप्त करता है, वह विभिन्न स्वरूप प्राप्त करने के
कारण ही पदार्थ की मात्रा का द्रव्य "आपः" है।

ऋग्वेद में-6, 69, 8, में बताया गया है कि, "इन्द्रश्च विष्णो
यद् अपस्मृचैद्याम्" अर्थात् दशमौलिब अर्थों का बना
'क' ऋण इन्द्र और 'हरि' कहलाने वाले अपने ऋत के
अश्वों के द्वारा विष्णु 'अपः' की संरचना में दोनों
स्पर्धा करते हैं।
अतः 'अपः' का अर्थ पदार्थ की मात्रा का द्रव्य ही बनता है।

(mass contained by a particle)

ते आ अववृत्रन् सदानात् ऋतस्य = वे (रुद्र को ईशानी की ऋत की चाराओं के
हरि कहलाने वाले अश्व) ऋत के सदन से (अर्थात्
विष्णु आवर्त से) वापिस लौट कर आते हैं।

पृष्ठ (उ३१) पर बने क्षीर के चित्र में इन 'ईशानी'
ऋत की चाराओं का ऋत के सदन विष्णु आवर्त
से टकरा कर वापिस लौटने को देखें।

आत् इत् द्यूतेन पृथिवी वि उद्यते = 'हरि' कहलाने वाले ऋत की चारा के अश्व
(wave) तथा अपः का वसन धारण करने वाले

सुन्दर पंखों वाले शरीर धारी पक्षी के रजकण
(mass particle) दोनों के एक साथ आने पर (विष्णु
के रेत से बने इत् तथा 'क' से बने अर्थ की संरचना से पदार्थ की मात्रा के द्रव्य
की रचना करने की स्पर्धा में बनाये गये) रजकणों के आगे द्यूत से भू-लोक

में स्थित पृथिवी के रजकण (चुल के ऋण नः=neutron)
विशेष रूप से खूब तर हो जाते हैं।

इस प्रकार यह विष्णु आवर्त पूरे अणु की रचना का केन्द्र में बैठ कर मूल कारण बनता है। यह सत्य लोको की रचना भी ऋतु के सप्तपरावृत बना कर और उन्हें वामावर्त में घुमा कर भगवती लक्ष्मी तथा सरसगति प्रदान करने वाली सरस्वती से विष्णु को शेषनाग की शैया पर युक्त बना देता है और आगे के तपः लोको में ईशानी का पदावतरण करा देता है।

तपः लोको में आ कर ईशानी ८ भृगु तथा अंगिरा का सृजन करती है और उनके सहयोग से 'सर्व' शक्ति से सम्पन्न सवितृ की तैजोमय चाराओं का प्रवाह सञ्चालित कर देती है। इन सवितृ की चाराओं के प्रवाह द्वारा बना आवर्त सवितृ आवर्त कहलाता है। यह सवितृ की चाराओं का प्रवाह तपः लोको से जनः लोको में पहुँच कर चतुर्मुखी ब्रह्मा का सृजन करता है। उसके पश्चात् स्व पद चल कर सवितृ की तैजोमय ऋतु की चारायें महः लोको में पहुँच जाती हैं। वहाँ ब्रह्मा के स्व मुख के सामने पाँच ऋतुओं को "भुमुद, भृमु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रीचताभ" नाम वाली जन्म देती है। उसके पश्चात् ये सवितृ की तैजोमय चारायें स्वः लोको में स्व पद और आगे चल कर पहुँच जाती हैं। वहाँ पर प्रत्येक ईशानी अपना प्रथम रूप अलग चरण करके सहस्र ईशानी चारायें बना देती हैं जो सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में चलने वाली पुरुष की चारायें बन जाती हैं। इनमें स्व पद चल कर प्रत्येक अक्ष का शीर्ष सहस्र पादों में बँट जाता है। उसके पश्चात् फिर स्व पद चल कर स्व पद दश उँगलियों में बँट कर स्व पद की दूरी चल कर अतिरूप से ठहर कर अपनी सारी आधार भूमि पर वर्तन करता हुआ अति रूप से तन जाता है। इस प्रकार यह तीसरा पुरुष का आवर्त बन जाता है। यह पुरुष ही आगे की सारी सृष्टि का अपने मौलिक अर्थों द्वारा सृजन करने वाला, नियन्त्रित करने वाला तथा स्थापना करने वाला ईश बनता है। अतः इस पुरुष के आवर्त को "ईशान-आवर्त" कहा जाता है। इस ईशान आवर्त की अन्तिम संरचना दशमौलिक अर्थों से बना 'क' कण "इन्द्र" होता है जो सभी देवताओं का पञ्चमहाभूतों के स्वरूप को द्योतन करने में 'राजा' इन्द्र बनता है।

इसके पश्चात् 'क' कण पञ्च प्राणीनि बनाते हुए पाँच पद चल कर अदिति माता की संरचना करते हैं तथा कूटे पद में वह अदिति माता स्व 'क' कण को वसु 'इन्द्र' के रूप में जन्म दे कर स्वतन्त्र रूप से विचरण करने वाला बना देती है। इस के पश्चात् ये 'क' कण तीन पद चल कर स्व सप्तपरावृत का 'कलिल' बनाते हैं। इसी सप्तपरावृत के कलिल से स्व-स्व 'क' कण निम्नलिखित हुए इसके साधलगा दूसरा अष्टपरावृत की कलिल बना लेते हैं। ये दोनों कलिल 'क' कणों को अपने गर्भ में चरण करने वाली दो अश्वियाँ (घोड़ियाँ) बन जाती हैं। अतः इन के शुभ्र को अश्विनी का नाम दे दिया जाता है। इस आवर्त में 'क' कणों के परावृत्तों के कलिल बनते हैं अतः इस आवर्त का नाम 'कलिलावर्त' दे दिया जाता है। ईशानी की ऋतु की चाराओं में रहने वाले मन, बुद्धि, प्राणी के लिए ये कलिल सीमित करने

वाले बनते हैं। इन्हीं के कारण चित की वृत्तियों तीव्रता से अपना कार्य करती हैं।
अतः ये 'मोह' जन के क्लेश को उत्पन्न करने वाले 'कलिल' होते हैं।
गीता में इन कलिलों के लिए कहा है—

यदा ते मोहकलिलम् बुद्धिर्व्यतितरिव्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदम् श्रुतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गीता २, ५२)

अर्थात् जब तेरी बुद्धि इस कलिल के मोह से बिगुल तराजियेगी तब तू सुनने प्रोत्साहित बातों से उदित होने वाले संकल्पों से तथा पहले सुनी हुई बातों के संकल्पों के आबद्ध रूप से जो इन कलिलों में आबद्ध हैं, जिन कलिलों ने तेरी बुद्धि को जकड़ कर बाँध रखा है, उस बुद्धि को निर्वेदता (जिससे कुछ भी बात न हो) प्राप्त होकर वैराग्य को प्राप्त हो जायेगा।

उस समय तुझे निर्बीज समाधि की सिद्धि प्राप्त हो कर अचल समाधि की सिद्धि प्राप्त होगी। उस समय साधक की जीवात्मा को ब्रह्म के साथ योग प्राप्त होगा। तभी उसे 'स्थितप्रज्ञ' की अवस्था प्राप्त होगी।

इस उपनिषद् के चौथे अध्याय के चौदहवें मन्त्र में भी कलिल का वर्णन है। उससे पश्चात् पाँचवें अध्याय के तेरहवें मन्त्र में भी उसी प्रकार का वर्णन है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मम् कलिलस्य मध्यै विश्वस्य सृष्टारमनैक रूपम् ।

विश्वस्यैकम् परिवेष्टितारम् ज्ञात्वा शिवम् शान्तिमत्यन्तमेति ॥

(श्वेत० उप० ५-१५)

सूक्ष्म से सूक्ष्म अत्यधिक सूक्ष्म कलिल के मध्य में भी विश्व को अनेक रूपों में सृजन करने की सामर्थ्य है। इस विश्व को इन कलिलों के द्वारा चारों ओर से घेर कर अपने में लपेटने वाले कल्याणकारी रूप को जान कर जिज्ञासु परमशान्ति को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार का दूसरा मन्त्र है—

अनाद्यनन्तम् कलिलस्य मध्यै विश्वस्य सृष्टारमनैक रूपम् ।

विश्वस्यैकम् परिवेष्टितारम् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ॥

(श्वेत० उप० ५, १३)

अर्थात् अनादि काल से रचित चले आ रहे और अनन्त काल तक रचना के इस क्रम को निरन्तर रखने वाले कलिल के मध्य में विश्व के अनेक रूपों की सृष्टि करने की सामर्थ्य निहित है। वह कलिल ही विश्व में अनेक रूपों के पदार्थों का सृष्टा बनता है। सारे विश्व को अपने द्वारा सृजित अनेक रूपों के पदार्थों में लपेटने वाले देव को इस 'कलिल' को जान कर जिज्ञासु सभी प्रकार के पाशों से मुक्त हो कर छूट जाता है।

इस प्रकार के इन कलिलों का सृजन करने वाले ही के आवर्त को

कलिलावर्त कहा जाता है। यह कलिलावर्त अश्वनी के कलिलों की, सूर्य के चक्षु रज्जुओं (Photons) की, षड् वृन्दारकों (Six quarks) के कलिलों की स्वः लौक में स्व-स्व पद चलकर रचना करता है। उसके पश्चात् स्व पद और चलकर यह भुवः लौक में पहुँच कर त्रिवत्माओं (The three messengers, m^0 , m^+ , m^-) की कलिलों की रचना करता है। इन सभी कलिलों की रचनाओं के चित्र पृष्ठ (82), पृष्ठ (83) पर पीछे दिये हुए हैं। उन्हें देखें। इन सभी का ग्राह्य अणु की नाभि के मैस (Line spectrum of the nucleus of an atom) में किस प्रकार होता है? इसका चित्रण पृष्ठ (47) पर देखें। ये सभी 'कलिलावर्त' की रचनाएँ हैं।

पाँचवाँ आवर्त नचिकैतावर्त है। इसमें बारह धैरों की बारह अलग-अलग स्थानों पर आवृत्तियाँ बनती हैं। यह भूः लौक तथा सप्तपाताल लौकों की रचना करता है। उन लौकों में 'न' (Neutrons), 'चिक्' (Protons) तथा इतल्लों (Electrons) के स्वरूपों को दीर्घ करने वाले देवों की रचना करता है। इस प्रकार यह नचिकैतावर्त पूरे अणु की वैश्वानर अग्नि की रचना को पूर्ण कर देता है।

इस प्रकार पाँच पादों वाले पिता द्यौ के पञ्चावर्त के ऊपर सप्त लौकों के सप्त चक्र निर्मित हो जाते हैं और उन में ऋत की धाराओं के बने अरों से युक्त छः अन्तरिक्ष अर्पित हो जाते हैं।

पञ्चावर्तों का चित्र पृष्ठ (41) पर तथा छः अन्तरिक्षों को बताने वाला चित्र पृष्ठ (38) पर देखें।

इस प्रकार वह रुद्र अबैला ही स्वयं देव अपनी 'ईशनी' ऋत की धाराओं के द्वारा द्यौ के पञ्चावर्तों की और भूमि के अणु की नाभि के सप्तलौकों को उत्पन्न करता हुआ अपनी दोनों भुजाओं के रूप में बनी अर्द्धगोल में दोनों ओर बाई और तथा दाई धूमने वाली ($\pm \frac{1}{2} \text{ spin}$) ईशनी ऋत की धाराओं में, दोनों भुजाओं को फड़फड़ाता हुआ उनमें ऋत के प्रवाह का संचयन करता है। अर्थात् जोर लगा कर उस प्रवाह की गति को तेज करता है।

यो दैवानाम् प्रभवश्चौदभवश्च

विश्वार्चिषो रुद्रो महर्षि ।

हिरण्यगर्भम् जनयानास पूर्वम्

स नो बुद्ध्या शुभया संयुज्जत् ॥ (4)

जो रुद्र देव सभी देवताओं के उद्भव तथा सेश्वर्य का कारण है, जो रुद्र देव सारे संसार का स्वामी और महर्षि है, उसने सब से पहले हिरण्यगर्भ को जन्म दिया। वह रुद्र सभी देवताओं को और हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

रुद्र अपनी 'ईशानी' श्रुत की चाराओं के द्वारा सभी देवताओं का सृजन करने के लिए अपनी 'ईशानी' के श्रुत की चारा से ही उनका प्रभव करता है। उसी चारा के श्रुत से वह उन देवों का और विधाता करके उन्हें सभी प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करता है। एक देवता से दूसरे देवता का जन्म करा कर जैसे देवता का उद्भव करा देता है। इस प्रकार सारी सृष्टि का वह रुद्र स्वामी (अधिपति) बन जाता है। रुद्र के तीनों अक्षों में से निरन्तर श्रुत की चारायेँ रिसती रहती हैं। वह सभी स्थानों पर विद्यमान होता है और सभी स्थानों पर उसके तीनों अक्षों से श्रुत की चारायेँ 'ईशानी' बन कर रिसती रहती हैं। अतः वह श्रुत का रिसाव करने वाला एक महान देव महर्षि है। क्योंकि श्रुति की परिभाषा शास्त्रों में, "यदरिं वस्तद्वयः" कह कर दी है। अर्थात् जिस के शरीर से श्रुत की चारा का रिसाव होता है वह श्रुति है। रुद्र की श्रुत की पीटली से तो अनादि काल से श्रुत का रिसाव होता आया है और अनन्त काल तक होता रहेगा। अतः वह तो एक महान श्रुति बन कर महर्षि बन गया।

यहाँ रुद्र की 'ईशानी' श्रुत की चारा से देवताओं के सृजन के लिए प्रभव तथा उद्भव दो शब्द आये हैं। प्रभव का अर्थ है जो सब से पहले उत्पन्न हुआ, और उद्भव का अर्थ है कि एक देव के स्वरूप में से दूसरे जैसे देव का स्वरूप उससे अपर उत्पन्न होता है। जो शुद्ध सर-ब्रह्म के 'ब्रह्मतत्त्व' में काम उदित होने से धारण अपर उत्पन्न होने से धर 'मुक्त असद्-ब्रह्म' का श्रुत बनता है, उस श्रुत में प्रथम देव रूप की सत्ता की धारण करके जो देव अवतरित होता है उस प्रथम देव स्वरूप के अवतरण की सत्ता को 'प्रभव' कहा जाता है और उस प्रथम देवत्व की सत्ता की धारण करने वाले देव को 'प्रभु' कहा जाता है। स्पष्ट है कि 'रुद्र' इसी प्रकार का देव है जो असद्-ब्रह्म के सक्रिय श्रोतों से बने श्रुत की सर्वप्रथम एक पीटली बन कर तीन अक्षों के द्वारा 'ईशानी' नाम की श्रुत की चाराओं का प्रवाह सञ्चालित करने का स्वरूप द्योतित करता है तथा साथ-साथ श्रुत की सभी ओर से सर्वतोमुखः बन कर अभिशोषित भी करता है। अर्थात् उस श्रुत का भक्षण करता है। इसके पश्चात् वह रुद्र अपनी श्रुत की चाराओं के द्वारा जिन्हें 'ईशानी' नाम दिया है, उनके द्वारा श्रुत की एक क्षीर के केन्द्र बिन्दु पर अवात अवस्था में लाकर, सद्यः और अच्युत अवस्था में ला कर, विष्णु भगवान् का अवतरण शान्ताकार रूप में शेष-नाग की शैया पर शयन करने वाले के रूप में करा देता है। तब विष्णु भगवान् का भी सीधे रुद्र की भौति ही शुद्ध श्रुत के कारण ही अवतरण होता है अतः वह 'शुद्ध निवासाः' देवत्व की प्रथम रूप में सत्ता की धारण करता है। अतः विष्णु का भी प्रभव होता है और वह भी 'प्रभु' कहलाता है। उसके पश्चात् वह विष्णु अपनी सत्ताभा को, उन 'ईशानी' श्रुत की चाराओं की प्रत्यावर्तित करता हुआ अर्द्ध गोल में वापिस लौटाता है और उनके साथ अपनी सत्ताभा को भी उन चाराओं के श्रुत में मिला कर अपना सत्ताक्षेत्र भी रेत बनाता है। उस रेत से एक के ऊपर एक लोक का 'उद्भव' होता है। अब प्रभव नहीं होता। इस उद्भव में ही प्रत्येक लोक के तत्सम्बन्धी देव का 'उद्भव' होता है। इस प्रकार सारे देवों का उद्भव होता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि का उद्भव हो जाता है। इस प्रकार रुद्र देव अपना और विष्णु भगवान् का प्रभव कराने वाले तथा अन्य सभी देवों का उद्भव कराने वाले महर्षि हैं और सारे विश्व के अधिपति स्वामी बने हुए एक छत्र 'प्रभु' हैं।

यह 'सद्र' अपनी 'ईशानी' कहाने वाली ऋत की चाराओं के द्वारा स्वयं क्षीर के अक्षर 'ब्रह्मतत्त्व' के गर्भ में स्थित क्षरण की प्रक्रिया से बने असद् ब्रह्म के ऋत में हिलने डुलने वाले ऋत का स्वरूप द्योतित करने वाले देवता का स्वरूप उत्पन्न करता है। 'ईशानी' ऋत की चाराओं के द्वारा असद् ब्रह्म के क्षर भाग में से जो सद् ब्रह्म के अक्षर 'ब्रह्मतत्त्व' में संक्षरकर स्वक्षीर के अन्दर बन रहा है, उसमें से ऋत निकल कर चलता है और विष्णु के अच्युत 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से टकरा कर अर्द्ध गोल में घूम कर वापिस उसी असद् - ब्रह्म के क्षर ऋत में जा कर मिल जाता है। इस प्रकार इस अर्द्ध गोल के चक्र में हिलने वाले ऋत के द्वारा क्षीर के 'ब्रह्मतत्त्व' के गर्भ में सद्र के द्वारा सब से पहले यह "हिरण्यगर्भ" उत्पन्न हो जाता है।

'हिरण्यगर्भ' का अर्थ है 'क्षीर' के गर्भ में ऋत से बना हिलने वाला देव।

✓ हिर - हिलने के अर्थ में आता है। 'न' का अर्थ देव है। गर्भ का अर्थ है अन्तःभाग के अन्दर। हिलने वाला देव बना 'हिरण्य' तथा जो गर्भ में देव बन कर हिलता है और गर्भ की चेतना तथा पोषण प्रदान करता है उसमें जीवित्व उत्पन्न करके जीवात्मा के 'आत्मतत्त्व' के अण्ड का प्रवेश कराता है, जो अपनी ऋत की चाराओं की हिलने की गति से ऋत के बने बड़े और अण्डों के द्वारा द्यौ की तथा उन अण्डों में और अधोक्ष सद्यज्ञता ला कर पृथिवी की संरचना करता है। जिसके हिलने की गति से सौ सदा उग्र रहता है। जो सारे देवों की ऋत की हिलने की गति से रचना करके पञ्चमहाभूतों की रचना करता है और उनमें जीवित्व से युक्त आत्मतत्त्व के अण्ड का प्रवेश कराता है। इस प्रकार जो समस्त भूतों की रचना करने वाला बन कर अकेला उन प्राणिमयों का पति (स्वामी) बनता है, जो 'क' कण इन्द्र के लिये भी ऋत की हवि प्रदान करता हुआ उसके दशमी लिख अर्थों की पुष्टि बनी रहता है और इन्द्र को बलवान बनाता रहता है। ऐसे उस 'हिरण्यगर्भ' को जन्म देने वाला 'सद्र' ही है। उस सद्र ने सर्व प्रथम उस हिरण्यगर्भ की आभु में ही जन्म दिया जिसने इस सारी सृष्टि का बाद में उद्भव किया और वह इसे ऋत की हिलने की गति से पोषित करता हुआ इसके द्यौ और पृथिवी दोनों निहितों को चारण किया हुआ है। पृथिवी में सभी पञ्चमहाभूत आ जाते हैं। यह पहले बताया जा चुका है। 'हिरण्यगर्भ' के स्वरूप को बताने वाले मन्त्र 'हिरण्यगर्भ' सूक्त में दिये हुए हैं। स्वयं मन्त्र उनमें से यहाँ दैरे -

ॐ हिरण्यगर्भः समवर्ततामो भूतस्य जातः पतिरैक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुर्वेद-२५, १०)

सब से आगे ऋत की चारा में हिलने वाले ऋत से एक क्षीर के गर्भ के अन्दर हिरण्यगर्भ सत्ता में आकर उत्पन्न हुआ। वही स्वयं हिरण्यगर्भ प्रत्येक उत्पन्न होने वाले भूत का चाहे वह जड़ जगत् का अर्थापण्ड हो या चेतन

प्राणी जगत का कोई शरीर-धारी जीव हो, उन सब का उत्पन्न करने वाला स्वामी आदि काल से ही था और अब भी है तथा आगे भी रहेगा। उसी ने द्यौं और पृथिवी सृष्टि के इन दोनों निमित्तों के उत्पन्न किया है और अब वह इन को ऋत के द्वारा पौषण प्रदान करता हुआ चारण क्रिये हुए है। वह 'क' ऋण इन्द्र के लिए भी हवि के द्वारा ऋत प्रदान करता है। आओ हम स्तुतियों के द्वारा उसके बान का अर्जन करने का विधान करें।

ब्रह्म का जिज्ञासु वेदमन्त्रों के पाठ द्वारा विभिन्न देवों के विषय में बान को अर्जित करने का विधान करता है और ब्रह्म-बान प्राप्त करके ब्रह्मवेत्ता ऋषि बनता है।

हिरण्य गर्भ सूक्त के मन्त्रों में, 'कस्मै देवाय हविषा विधेमः' का पाठ बार-बार आता है। यह पुनरावृत्ति 'क' ऋण इन्द्र की महत्ता को सृष्टि के सृजन, नियन्त्रण में दिखाने के लिये की गई है। इन्द्र देवाओं का राजा है। अतः उसमें सभी देवों का महत्त्व है। वह दशमौलिक अर्धों से बना है। उससे दशमौलिक अर्ध पुरुष के दशांगुल रूप ऋत की चाराओं से ऋत का पौषण प्राप्त करते हैं। जब इन्द्र अदिति से जन्म लेकर स्वतन्त्र रूप से द्यौं में तीव्र गति से उड़ने लगता है तो यह हिरण्य गर्भ ही प्रत्येक क्षीर के गर्भ में बैठा हुआ अपनी ऋत की चाराओं का दशांगुल रूप बना कर द्यौं के क्षीर सागर में प्रत्येक स्थान पर निरन्तर, उस उड़ने वाले 'क' ऋण इन्द्र को ऋत का प्रवाह प्रदान करता रहता है। यह हिरण्य गर्भ प्रत्येक 'क' ऋण के लिए ऋत की हवि प्रदान करता रहता है। 'कस्मै' का अर्थ 'क' ऋण के लिए है। 'कस्मै' = 'क' के लिए। हविषा = हवि के द्वारा ऋत का पौषण प्रदान करना। यह 'क' ऋण आगे सभी राजन्वों से युक्त देवों की स्थूल रचना के अर्धपिण्ड की पदार्थ की मात्रा का एक इकाई को बताने वाला अवयव बनता है। प्रत्येक देव के पदार्थ के अर्धपिण्ड को उस देव की 'प्रतिमा' वेद में कहा जाता है और उस अर्धपिण्ड के पदार्थ की मात्रा के एक इकाई के अवयव को 'प्रमा' कहा जाता है। 'कासीत् प्रमा प्रतिमा ...' (ऋग्वेद-10, 130, 3) का मन्त्र प्रत्येक देव की इसी प्रकार की 'प्रतिमा', उसकी 'प्रमा' को बताता है तथा 'कासीत्' में 'क' आसीत्" कह कर 'क' ऋण को ही उस प्रतिमा की प्रमा बताता है। अर्थात् 'क' ऋण प्रतिमा की प्रमा था। प्रमा = अर्थात् प्रतिमा की रचना करने वाले पदार्थ की मात्रा की एक इकाई पदार्थ की

जब उस हिरण्यगर्भ के श्रुत की चारा का प्रवाह असद्वृत्त के श्रुत में समाहित हो जाता है तो वही उस हिरण्यगर्भ की मृत्यु है। उस हिरण्यगर्भ की मृत्यु से क्षीर में 'आत्मतत्त्व' का अण्ड भी नहीं बन पाता। अतः वह असद्वृत्त का क्षीरित रूप 'क्षीर' ही बन कर रह जाता है। 'आत्मतत्त्व' के अण्ड का लोप ही प्रलय का सूचक बन कर उस देव की मृत्यु का कारण बन जाती है। यही मृत्यु है। यही अन्तिम मृत्यु है। जब तब 'आत्मतत्त्व' का अण्ड क्षीर में बना रहता है तब तब कारणशरीर बना रहता है और तब तब अन्तिम मृत्यु नहीं होती। तब तब जन्म-मरण के चक्र में घूमने से बार-बार मृत्यु होती है और मरणत्रास का क्लेश बना रहता है। यह हिरण्यगर्भ 'क' कण इन्द्र के लिए। हवि के द्वारा श्रुत की आत्मा और बल प्रदान करता है तथा अपनी छाया से उसे अमृत प्रदान करता है और मृत्यु भी प्रदान करता है। हम मन्त्रों के द्वारा उस हिरण्यगर्भ का ज्ञान अर्जित करने का विधान करें।

ॐ यः प्राणतो निमिषतो मीहत्वेन इन्द्राजो जगतो बभूव ।

य ईशो अस्य क्षिपदश्च षपदः कस्मै देवाय हविषा विधेमः ॥ (यजुर्वेद, २५-॥)

जो हिरण्यगर्भ अपनी श्रुत की चाराओं के द्वारा 'आत्मतत्त्व' के अण्ड को क्षीर के केन्द्र में प्राणों से युक्त करता है और जिस प्रकार औरव कभी खुलती है, कभी मिचती है इस प्रकार पलकें झपकती रहती हैं, उसी प्रकार आत्मतत्त्व का अण्ड भी हिरण्यगर्भ की इन श्रुत की चाराओं के प्रवाह के झटके को कभी ग्रहण करता हुआ कभी छोड़ता हुआ झपकता रहता है। कभी सिझुड़ जाता है कभी फैल जाता है। जैसे कि 'आत्मतत्त्व' की सक्रियता के कारण कभी हृदय सुन्नटा है और कभी फैलता है और इस प्रकार रक्त की चारा का प्रवाह बनाये रखता है। जब यह 'आत्मतत्त्व' का अण्ड हृदय के क्षीरों के केन्द्र में काम करना बन्द कर देता है तो हृदय भी चड़कना बन्द कर देता है।

इस प्रकार जो हिरण्यगर्भ रूप क्षीर को प्राण प्रदान करता हुआ, उसने झपकने की गति प्रदान करता हुआ, (जिससे क्षीर श्रुत की चारा को अनिशेषित करके अपने अन्दर समाहित भी कर सके, उसे फिर कुछ देर बाद उस चारा के श्रुत का विसर्जन भी कर सके = निमिषतो) उसे अन्य क्षीरों के साथ गीयित करता हुआ उनके द्वारा बने स्वरूप को बड़ा बना देता है। इस प्रकार बड़ा बना कर रूप 'इत्' (Electron) की चारा (wave) का प्रवाह बना देता है। साथ में राजा 'क' कण इन्द्र से युक्त करके जंगम, स्थावर, जगत् के रूप में स्वयं बन जाता है।

मात्रा | अतः हिरण्यगर्भ ही 'क' ऋण को ऋतु का प्रवाह प्रदान करने वाला बन कर द्यौं तथा पृथिवी का पिता तथा माता के रूप में मेल करा कर सारी सृष्टि का सृजन करती बनाता है। उस सारी सृष्टि के सृजक हिरण्यगर्भ का भी सृजन करती रुद्र बनता है। पृष्ठ (321) पर वैन चित्र में हिरण्यगर्भ का जन्म देखें।

उस रुद्र को ऋतु की धाराओं 'ईशानी' में ऋतु के हिलने को गति मन में सृष्टि सृजन की इच्छा उत्पन्न होने से होती है। उस मन में इच्छाओं से उदित संकल्पों को आवच्छ करने वह ऋतु की धारा उस रुद्र को ऋतु की पोटली में से फूट कर निकलती है। संकल्पों को आवच्छ करने को ऋतु की सामर्थ्य को ही बुद्धि कहा जाता है। अतः उन ऋतु की धाराओं का ऋतु मन, बुद्धि से युक्त होकर धारा के प्रवाह में चलता है और सभी देवों को अपना वह मन और अपनी वह बुद्धि प्रदान करता है। इसी कारण जिस प्राणी के शरीर के अणुओं के केन्द्र में बैठे हिरण्यगर्भ के ऋतु की धारा का प्रवाह जितने अधिष्ठा तीजस्तर का होता है, उतनी ही अधिष्ठा तीव्रता का स्तर उस प्राणी की बुद्धि का होता है। अतः बुद्धि हिरण्यगर्भ द्वारा प्रदत्त सामर्थ्य है। वह हिरण्यगर्भ सभी देवताओं को और हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। "स नी बुद्ध्या शुभया संयुज्यते"। यहाँ 'सः' उस रुद्र द्वारा जने गये 'हिरण्यगर्भ' को लिख आया है, जिसको रुद्र ने अपनी ईशानीयों के ऋतु के प्रवाह द्वारा सब से पहले जन्म दिया है।

इस हिरण्यगर्भ की विशेषताओं को बताने वाले कुछ प्रमुख मन्त्रों पर हम कुछ विचार और कर लें। ये विशेषतायें इस उपनिषद् में आगे आने वाले मन्त्रों की व्याख्या में सहायक होंगी। अतः उन पर विचार करना यहाँ हिरण्यगर्भ के संदर्भ में लाभकारी होगा।

ॐ य आत्मदा बलदा यस्य विद्व उपासते प्रशिषं देवाः।

यस्य च्छाया ऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेमः ॥ (यजुर्वेद ३५, 13)

जो हिरण्यगर्भ 'आत्मतत्त्व' के अणु को प्रदान करने वाला है, जो ऋतु के प्रवाह के वेग से बल देने वाला है। जिसके ऋतु से सभी देव पोषण प्राप्त करने के लिए उसके समीप बैठ कर उसकी उपासना करते हैं। जब तक उस हिरण्यगर्भ के ऋतु की छाया का पोषण किसी देव को प्राप्त होता रहता है वह तब तक जीवन प्राप्त करता हुआ मृत्यु को प्राप्त नहीं होता और अमृत अवस्था में रहता है। अतः हिरण्यगर्भ के ऋतु की धारा के प्रवाह का किसी देव के अन्दर का जाना ही अमृत है।

जो इस द्विपद और चतुष्पद जगत् का शासन करने में समर्थ है, उस 'क' ऋण देवराज इन्द्र के लिए वह हिरण्यगर्भ ऋतु की चारा से हवि प्रदान करता है। हम हिरण्यगर्भ सुव्यक्त के मन्त्रों द्वारा हिरण्यगर्भ के ज्ञान का अर्जन करने का हम विधान करें।

इस जगत् को द्विपद और चतुष्पद बताया है। ये उस हिरण्यगर्भ की गति के ही पद हैं। प्रथम दो पद हिरण्यगर्भ की ऋतु की चाराओं में मन और बुद्धि के सृजन के होते हैं। जिन से विभिन्न प्रकार के पञ्चमहाभूतों के तत्त्व अपनी इच्छा के संकल्पों को बद्ध करने अलग-अलग उत्पन्न हो जाते हैं और जड़ जगत् उत्पन्न हो जाता है। इसकी रचना क्षीरों के योग से होती है।

चतुष्पद जगत् में हिरण्यगर्भ की ऋतु की चारा के रचना के चार पद होते हैं। ये चार पद मन, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियों से युक्त करने वाले होते हैं। जब रुक् क्षीर में स्थित 'आत्मतत्त्व' के अणु के साथ हिरण्यगर्भ की ऋतु की चाराओं में सृजित मन, बुद्धि, प्राणों और इन्द्रियों के सृजन के इन चार पदों का योग हो जाता है तो उस 'आत्मतत्त्व' के अणु में इनकी संज्ञासंज्ञिनः की चेतना जागृत हो जाती है और वे क्षीर मिल कर उस चैतन प्राणी के जीव की रचना कर देते हैं। इस प्रकार इस चतुष्पदी रचना से प्राणी जगत् की रचना हो जाती है। जड़ जगत् की रचना में प्राणों तथा इन्द्रियों की रचना के दो पदों का योग नहीं होता। अतः उनमें संज्ञा-संज्ञिनः की चेतना जागृत नहीं हो पाती और वे रचनाएँ जड़ रचनाएँ ही बन कर रह जाती हैं।

इस प्रकार हिरण्यगर्भ द्वारा उठाये गये रचना के दो पदों द्वारा मन तथा बुद्धि से युक्त जड़ जगत् की रचना हो जाती है और चार पदों द्वारा मन, बुद्धि, प्राणों तथा इन्द्रियों से युक्त चैतन जगत् की रचना हो जाती है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि मन, बुद्धि दोनों जड़ माने गये हैं। अतः उनका समावेश जड़ पदार्थों में होता है। प्रत्येक अणु में मन तथा बुद्धि होती है तभी तो विशेष तत्त्व का अणु अपने उस रूप को धारण करने के लिए अपने मन को इच्छा से उस तत्त्व विशेष के अणु में होने वाले गुणों की विशेषता को धारण करता है। दूसरे अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उन विशेषगुणों की विशेषताओं को अपने अन्दर स्थायी बना कर रखता है। इसी कारण रुक् तत्त्व का अणु सुगमता से अपने आप दूसरे तत्त्व के अणु में नहीं बदलता तथा अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए वह अपने स्वरूप को संभाल कर रखता है। जहाँ उससे जिस अवयव ने जो काम करना है, वहीं उसका वह अवयव उसका वही काम करता रहता है। ये सब अणु के अन्दर जड़ रूप में मन और बुद्धि के पाये जाने के लक्षण हैं। अतः हम कह सकते हैं कि इस जड़ जगत् के पञ्चमहाभूतों के प्रत्येक भूत के अणु या परमाणु में मन और बुद्धि इन दोनों रचनाओं के पद निहित होते हैं।

कुछ विज्ञान द्विपद का अर्थ दो पैरों वाला मनुष्य और चतुष्पद का अर्थ चार पैरों वाला पशु करते हैं। यह उनका अर्थ अशुद्ध है। क्यों कि जगत की रचना केवल दो प्रकार के इन प्राणियों से ही नहीं होती अपितु उसमें सब प्रकार के जीव चेतन अवस्था में तथा सभी प्रकार के पञ्चगुणमूर्तों के भूत जड़ अवस्था में पाये जाते हैं। जड़ पदार्थों के ढेरों में तो कोई पैर नहीं होते। फिर उन्हें जगत के किस रूप में मानेंगे। इसी प्रकार मकड़ी आदि कई कीड़े मकड़ों के छः या छः से अधिक भी पैर होते हैं।

उनकी रचना को जगत की किस अवस्था में रखेंगे। अतः द्विपद चतुष्पद का अर्थ दो पैरों वाला मनुष्य और चार पैरों वाला पशु करना अज्ञानता का द्योतक है। अतः यह अर्थ गलत है। रचना के पद रचना के क्रम के ही पद होते हैं। जैसे-जैसे रचना का क्रम उत्तरीतर गति की ओर बढ़ता चला जाता है वैसे-वैसे रचना के पदों की संख्या बढ़ती चली जाती है। यही पद का अर्थ करना उचित है। साध में "प्राणतो, निमिषतो" कह कर प्राण और इन्द्रियों के दो पदों की ओर मन्त्र में भी संकेत कर के बता दिया गया है। मन और बुद्धि के दो पद तो प्रत्येक रचना के अन्दर अपनी इकाई की अलग पहचान बताने वाले लक्षण के रूप में होते ही हैं। इस प्रकार यह जगत द्विपद भी और चतुष्पद भी रचना के क्रमों के पदों के अनुसार होता है। जगत शब्द में 'ज' अक्षर 'जड़' का पैदा होना बताता है तथा 'गत्' शब्द गतिमान चेतन प्राणियों की गति को बताता है। अतः जड़, चेतन दोनों के योग में जगत बनता है।

यह 'रुद्र' ही 'शिव' का रूप धारण कर लेता है। अब अगले मन्त्र में रुद्र के शिव रूप में बदलने के उपक्रम का वर्णन दिया है।

याते रुद्र शिवा तनूरधोरा पापकाशिनी ।

तथा नस्तनुवाशान्तमया गिरिशन्तामिचाकशीहि ॥ 5

हे रुद्र ! आपका जो कल्याणकारी 'शिव' रूप है, जो भयानकता से शून्य शरीर है और जो पापों को काटने वाला रूप है, उस रूप के शरीर में वास करते हुए आप हमारी ओर देखें। हे गिरिशान्त ! आप उस शान्त मूर्ति से हमको देखें।

यहाँ रुद्र को 'गिरिशान्त' कह कर सम्बोधित किया गया है। अतः पहले इस 'गिरिशान्त' कहने का भावार्थ समझ लें। सृष्टि में सद्-ब्रह्म ही केवल निर्गुण, निराकार, अक्षर, शान्त तथा स्वयं इकाई में स्थित स्वयं रूप बन कर अनन्त दूरी तक व्याप्त परम व्योम में स्थित है। वही इस सारी सृष्टि का मूल उत्पन्न होता है। उसे उत्पन्न करने वाला भी कोई और नहीं होता अपितु वह उत्पन्न होता है। उसे उत्पन्न करने वाला भी कोई और नहीं होता अपितु वह सद्-ब्रह्म स्वयं ही उसे उत्पन्न करता है। उसमें सृष्टि का सृजन करने की इकाई का काम जागृत होता है। उस काम के जागृत होने पर वह क्षरने लग जाता है। अब वह क्षर कर प्रत्येक क्षर के स्वयं अंश में विभाजित हो जाता है और इस प्रकार उसने असंख्य अनेकों क्षर बन जाते हैं। अब उसमें क्षरण का गुण

उत्पन्न हो गया। अतः अब वह सगुण ब्रह्म बन गया और अब उसका स्वरूप का स्वरूप नहीं रहा। अब वह 'असद्' ब्रह्म कहलाने लगा और उसकी विद्यमानता अब अनेक 'क्षरों' के रूप में स्थित हो गई। प्रत्येक 'क्षर' में एक सीमित आयाम के व्योम का सद्-ब्रह्म का कुछ अंश सिझुड़ कर एक बिन्दु पर संचन होकर इकट्ठा हो जाता है और इस प्रकार उसमें विरियों की आकृति में गोलपिण्डों जैसी एक 'क्षर' की आकृति बन जाती है। इससे उस असद्-ब्रह्म की गिरि में दो स्वरूप 'पर' तथा 'अवर' उत्पन्न हो जाते हैं। जिस बिन्दु पर सिझुड़ कर सद्-ब्रह्म अपने को संचन बनाता है उस बिन्दु का केन्द्र तो 'पर' हो गया और जिस क्षेत्र से (उस क्षर के सीमान्त प्रदेश से) उस सद्-ब्रह्म का कुछ अंश क्षरण के कारण चल कर उस क्षर के सिझुड़ने से उस क्षर के पर क्षेत्र में चला गया तो उस सीमान्त प्रदेश में शेष बचे ब्रह्म के अंश के कारण वहाँ ब्रह्म की विरल अवस्था उत्पन्न हो गई। उस विरल अवस्था को ही अवर अवस्था कहा जाता है। 'पर' रूप में 'क्षर' के अन्दर परा शक्ति और अवर रूप में 'क्षर' के अन्दर अपरा शक्ति होती है। उस अवर क्षेत्र से ब्रह्म को ब्रह्म के एक बिन्दु पर लाने को ही ऋग्वेद में, "आनीतवातां स्वधया तदैकम्" - कह कर बताया है।

इस प्रकार एक 'क्षर' की सर्वप्रथम रचना भी एक 'गिरि' (गोली) के रूप में (पिण्डों के रूप में) बनती है। उसके पश्चात् ये सभी क्षर सक्रिय होते हैं और आगे सृष्टि का सृजन करने का प्रयास करते हैं। सृष्टि सृजन की इच्छा का 'कामदेव' प्रत्येक क्षर में बैठा हुआ अभी भी उन क्षरों की आगे सृष्टि सृजन की प्रेरणा देता हुआ उन्हें सक्रिय बनाये रखता है। इस सक्रिय क्षरों के गतिमान स्वरूप को ही 'मृत' कहा जाता है। अब बहुत से क्षरों का एक संग्रह एक रचना में अपने को सक्रिय करके व्यवस्थित करता है। वह क्षरों का संग्रह सद्-ब्रह्म के एक सीमित व्योम के आयाम में सद्-ब्रह्म के 'ब्रह्मतत्त्व' के एक अंश की गिरि के अन्दर इकट्ठा होता है। इस गिरि को अब 'धीर' कह दिया जाता है। एक 'धीर' की गिरि में बहुत सारे क्षरों का बना मृत भरा होता है। उस धीर के अन्दर असद्-ब्रह्म के क्षरों के मृत की चार पोटलियों उस धीर के सीमान्त प्रदेशों के मृत से बनती हैं। मृत को अपने अन्दर अवसर्ज करके बनी इन पोटलियों के स्वरूप को ही रुद्र कहा जाता है। इन पोटलियों में मृत को निरन्तर घूस कर अपने को पोषित करने और उस मृत को अपने अन्दर अवरोधित करके अपने अन्दर मृत का संचन रूप बनाने की सामर्थ्य होती है। अतः रुद्र के अन्दर

ऋत का दबाव सधन रूप में होने के कारण अत्यधिक होता है। रुद्र ऋत का अभिशोषण निरन्तर करता है, अतः उस ऋत के दबाव को अपने अन्दर नियन्त्रित सीमा में रखने के लिए उस ऋत की तीन चारों ओर अपने तीन अक्षों के द्वारा प्रवाहित करता रहता है। इन्हीं तीन ऋत की चारों ओर उस ईशान रुद्र की ईशानी कहा जाता है।

इस प्रकार रुद्र की आकृति भी ऋत की बनीं एक पिण्डी ही होती है जो 'गिरि' जैसी होती है।

एक क्षीर में ऋत का ढेर बन कर एक गोला जैसा बन जाता है। यही ऋत का ढेर 'पर्वत' कहलाता है। यही वह गिरि है जिस के ऊपर रुद्र रहता है। जैसे हिमगिरि पर हिम के पिघलने से जलधाराएँ बहती हैं, उसी प्रकार रुद्र में से ऋत की चारों ओर निकल कर इस क्षीर के अन्दर तथा बाहर दोनों ओर बहती हैं। हिमगिरि में भी जलधाराएँ उस गिरि के अन्दर प्रवेश करके भी बहती हैं और उस गिरि के ऊपर तथा बाहर भी बहती हैं।

अतः रुद्र का निवास उस क्षीर के हिमगिरि पर माना गया है।

रुद्र उस क्षीर की गिरि को अपनी ऋत की चारों ओर के द्वारा ऋत को अभिशोषित कर के ऋत का पोषण क्षीर को प्रदान करता हुआ तथा उस क्षीर के अन्दर के मल को अपनी ऋत की चारों ओर के द्वारा उस क्षीर से बाहर निकालते हुए, वह रुद्र उस क्षीर की गिरि को शम् का सुख प्रदान करता है। इससे उस क्षीर को अपने स्वरूप को स्थित रखते हुए शान्ति का सुख प्राप्त होता रहता है। शान्ति प्राप्त होने के सुख को 'शान्' कहा जाता है। अतः क्षीर की गिरि को शम् का सुख प्रदान करने वाला रुद्र 'गिरिशान्त' कहा जाता है। क्षीर की गिरि से ही आगे सभी द्यौ की रचनाएँ और पृथ्वी के रजःपौ की रचनाओं का स्वरूप बनता है। अतः क्षीर को शान्ति का सुख प्रदान करके रुद्र पूरे द्यौ तथा पञ्चमहाभूतों की पृथ्वी को शान्ति का सुख प्रदान करता है। इस प्रकार द्यौ तथा पृथ्वी को शान्ति का सुख प्रदान करके पूरी सृष्टि को शान्ति का सुख प्रदान करता है।

यह ब्रह्माण्ड भी सद्-ब्रह्म के अन्दर बना असद्-ब्रह्म के ऋत का बना क्षीर की तरह का ही एक अण्ड है। इसकी आकृति भी पिण्डी जैसी एक गिरि की आकृति है। इस ब्रह्माण्ड के अण्ड की गिरि के ऊपर भी रुद्र के ऋत की विशाल पोटलियाँ उसी प्रकार स्थित हैं जिस प्रकार कि एक क्षीर के चित्र में दिखाई है। ('यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के नियमानुसार)। इस ब्रह्माण्ड में क्षीर का सागर भरा पड़ा है। वही क्षीर सागर कहलाता है। उसी के चारों ओर शेष वचे सद्-ब्रह्म के बने शेषनाग का लैपटा है। उसी केन्द्र में भी सौम्य रूप के विष्णु विराजमान हैं। विष्णु अपने ऋत के बने रेत से

5
(342)

सातों लौकों को अर्द्धगर्भित करता हुआ इस ब्रह्माण्ड का पोषण कर रहा है तथा रुद्र अपनी ऋतु की चाराओं के द्वारा उस विष्णु का तथा ब्रह्माण्ड के सभी देवों का पोषण तथा शासन कर रहा है। इस प्रकार रुद्र ही ईशान बन कर अपनी 'ईशानी' ऋतु की चाराओं के द्वारा इस ब्रह्माण्ड की गिरि को शान्ति का सुख प्रदान करता हुआ इस गिरि का त्रायण करता हुआ इस गिरि पर निवास कर रहा है और अपने 'गिरिशान्त' के रूप के अर्ध को अपनी क्रियाओं द्वारा सार्धक कर रहा है।

इस प्रकार इस सृष्टि के सृजन में सृष्टि के प्रत्येक अवयव का स्वरूप चाहे वह द्यौ के अन्दर विद्यमान हो और चाहे पञ्चमहाभूतों की बनी प्रकृति के अन्दर हो सब अणु के आवार की गिरि का स्वरूप बना हुआ है। द्यौ के अन्दर जितने भी ऋतु के आवर्त बनते हैं वे अणुआकार आकृति की द्यौ में बनी गिरियाँ ही होती हैं। इसी प्रकार पञ्चमहाभूतों के भूतों के जितने भी अणु (Atoms) तथा परमाणु (Molecules) होते हैं वे सब अणुआकार पदार्थ की बनी गिरियाँ ही होती हैं। इन सभी गिरियों के अन्दर चाहे वह कितनी भी बड़ी हो और चाहे कितनी भी छोटी हो, 'गिरिशान्त' के रूप में उसमें रुद्र का निवास होता है। आगे इसी अध्याय के बीसवें मन्त्र —

“अणोरणीयान् सहतो महीयान् आत्मा गुहायान् निहतोऽस्य जल्लो”
में इसी बात को बताया गया है। इसकी व्याख्या इस मन्त्र के साथ ही करेंगे।

इस प्रकार गिरिशान्त का अर्थ समझने के उपरान्त अब इस मन्त्र का अर्थ समझा जा सकता है। सब क्षीर की रचना की गिरि का चित्र पृष्ठ (321) पर दिया है। उस क्षीर की गिरि में रुद्र का सब नाम 'गिरिशान्त' भी लिखा है। उसी देव को 'गिरिशान्त' के उपरौक्त भावार्थ को समझें। इस क्षीर के सब पिण्ड के अनुसार ही इस मन्त्र का अर्थ समझाते हैं। जैसे इस क्षीर के पिण्ड में स्थित रुद्र के सम्बन्ध में यह अर्थ घटता है, उसी प्रकार सृष्टि की सभी रचनाओं में स्थित रुद्रों के विषय में इस अर्थ को समझा जा सकता है। इस क्षीर की रचना तथा प्रक्रिया से मली भौंति समझा जा सकता है कि वह रुद्र किस प्रकार ऋतु की चाराओं का प्रवाह करके पूरे क्षीर का पोषण करता हुआ हमारे आत्मतत्त्व के अणु का पोषण करता है और किस प्रकार हमारा कल्याण करने वाला बनता है? किस प्रकार वह हमारे पापों को काटता है और किस प्रकार हमारे आत्मतत्त्व के अणु को देखता हुआ हमें शान्ति प्रदान करता है? किस प्रकार उस रुद्र का सूक्ष्म शरीर शुद्ध असद्वत्त्व के ऋतु से बना हुआ है और चार पञ्चमहाभूतों का बना चौरा नहीं है? इन सब प्रश्नों का उत्तर क्षीर की रचना के चित्र में स्पष्ट मिल जाता है।

पिछले मन्त्र 'मौ देवानां प्रभवश्चैवमवश्य'... हिरण्यगर्भं जनमागस्त पर्व-
में जो चलती हुई 'ईशानी' ऋतु की चाराओं के द्वारा क्षीर में सब से पहले रुद्र में से ईशानी के सब दम बाहर को प्रस्फुटित होते ही गतिमान 'हिरण्यगर्भ' का जन्म बताया है, उन 'ईशानी' चाराओं के विषय में ही यहाँ इस मन्त्र में बताया है। रुद्र सारा

कार्य अपनी 'ईशानी' श्रुत की चारा के द्वारा ही करता है। वही श्रुत की चारा ईशानी उस रुद्र की कर्मेन्द्री बनती है, वही उसकी ज्ञानेन्द्री बनती है। सभी इन्द्रियों के रूप उस रूप 'ईशानी' में ही स्थित हैं। अतः 'शिवा', 'तनु', अद्यौरा, पापकाशिनी, ये सब विशेषण उस 'ईशानी' श्रुत की चारा के लिए ही प्रयुक्त हैं, जिसके द्वारा वह रुद्र 'गिरिशान्त' बन कर हमारी आत्माओं के अण्डों को प्रत्येक क्षीर के अन्दर देखता है। पीछे से प्रसंग 'ईशानी' श्रुत की चाराओं का चला आ रहा है। अतः उन्हीं के संदर्भ में इस मन्त्र का सही अर्थ बैठता है। अर्थ इस प्रकार बनता है—

हे रुद्र! जो तेरी 'ईशानी', शिवा है, अर्थात् कल्याण करने वाली है, जो सभी दैवताओं को प्रभव, उदभव करती हुई अपने श्रुत से उनका पोषण भी करती है। इस प्रकार प्रत्येक देव का भला करने वाली कल्याणकारिणी वह ईशानी बनती है। वे सारे देव ही मिल कर इस सारी सृष्टि का रूप धारित करते हैं। इस प्रकार वह ईशानी सभी देवों का कल्याण करती हुई सारी सृष्टि का भला करती है। वह सारी सृष्टि का कल्याण करती है। अतः वह 'शिवा' है।

वह 'ईशानी' श्रुत की चारा है। अतः वह असद् ब्रह्म के बने अत्यन्त सूक्ष्म 'क्षीर' का रूप अत्यन्त सूक्ष्म प्रवाह है जो क्षीर के अन्दर उससे गर्भ में भी चलता है और क्षीर के बाहर स्थित परमव्योम में भी चलता है। इस प्रकार वह 'ईशानी' की चारा अत्यन्त सूक्ष्म है, अत्यन्त 'तनु' है।

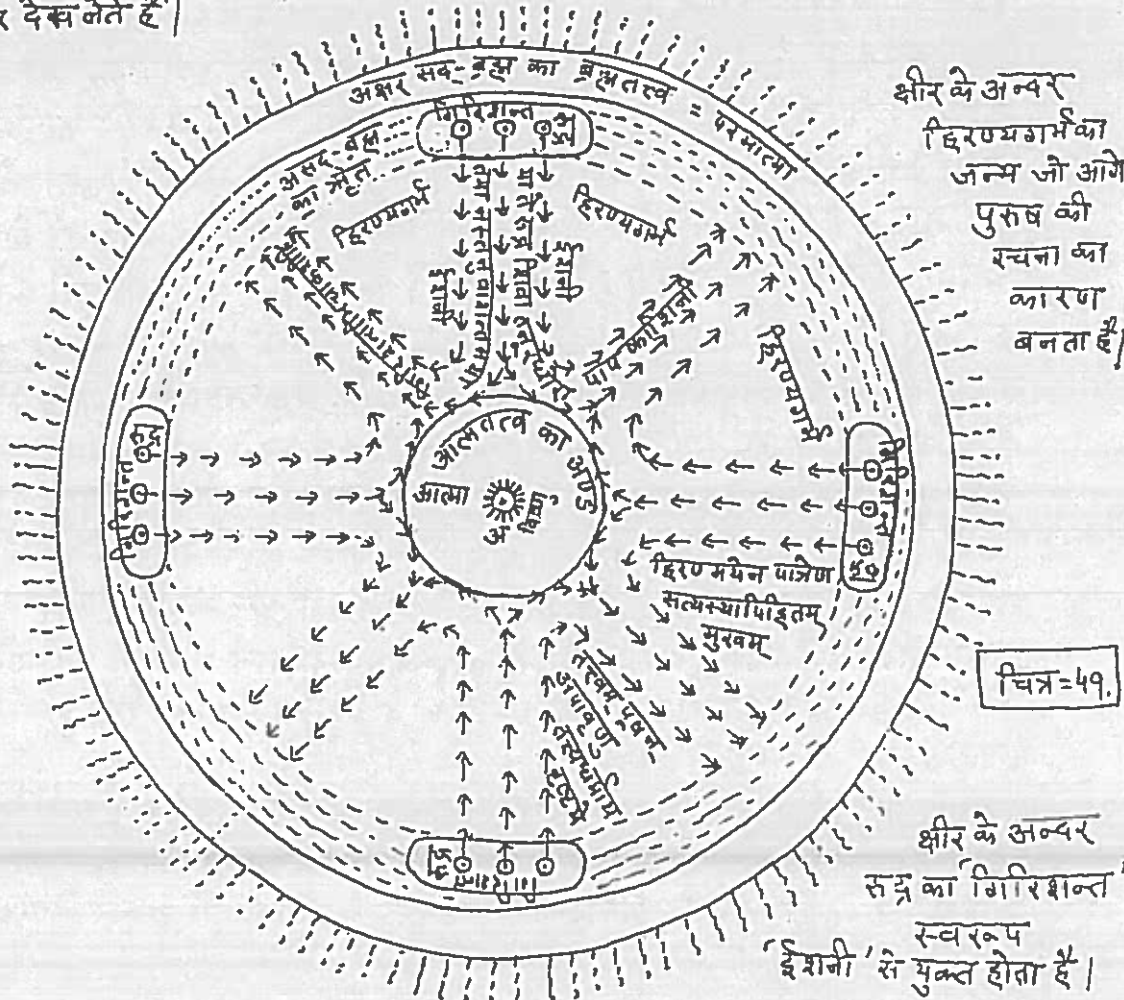
ऐसा भी नहीं है कि वह 'ईशानी' श्रुत की चारा बड़ी भयानक हो। वह अत्यन्त सौम्य है। क्षीर के अन्दर बड़ी सरस गति से अर्द्धचन्द्राकार रूप में वह चलती है। वह श्रुत की बनी ब्रह्म-रूपा है। अतः वह अद्यौरा है। श्रुत के अणुओं का गहन रूप बन कर जो मौलिक अर्थ बन जाता है और उसके उग्र रूप से द्यूषण करते हुए राजवर्णों से युक्त अन्य देवों का 'चौर आकृति' का स्वरूप बनता है, 'ईशानी' का स्वरूप वैसा नहीं है। इसका स्वरूप सुन्दर, साम्य है तथा गहनता से रहित है। इसका प्रवाह निरन्तर रूप सरस गति से बना रहता है। अतः 'ईशानी' का स्वरूप 'अद्यौरा' है। इसी कारण रुद्र की प्रतिमाओं चौरा तथा मंगलमयी दोनों बनाई जाती हैं। मंगलमयी प्रतिमा में रुद्र च्यापन समाधि में लीन बड़े शान्त दिखाये जाते हैं। चौरा प्रतिमा में ताण्डव नर्तन करते हुए सृष्टि में प्रलय लाते हुए संहार करते हुए दिखाये गये हैं। जब 'ईशानी' में श्रुत की चारा का प्रवाह रुक जाता है और ईशानी अपने स्वरूप को समेट कर रुद्र में ही स्थित हो जाती है, तो सम्पूर्ण सृष्टि के सृजन का स्वरूप नष्ट हो जाता है और प्रलय आ जाती है। यही रुद्र का ताण्डव नर्तन है। जब ईशानी सरस गति से प्रवाहित होती रहेगी तो वह 'अद्यौरा' रहेगी। अतः यहाँ 'ईशानी' के स्वरूप को 'अद्यौरा' कहा गया है।

वह ईशानी 'पाप का शिनी' है। अर्थात् हमारे पापों को काटने वाली है। योग साधना करने वाले ब्रह्म जिज्ञासु और मीमांसा प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयत्न करने वाले योगी कैलिस् के सभी कर्म पापकर्म हैं जो उससे इस लक्ष्य को प्राप्त करने में उसे रुकावट डालते हैं। मा इस लक्ष्य प्राप्ति को विपरीत दिशा में उसे ले जाते हैं। जिस लक्ष्य को वह साध्य प्राप्त करना चाहता है, वह लक्ष्य तो उसे मिलता नहीं है, अपितु दूसरा ही कुछ उससे स्थान पर मिल जाता है।

योग साधना करने वाले साध्य का जीवन का लक्ष्य परमात्मा के स्वरूप सद्-ब्रह्म में अपनी आत्मा को विलीन करना होता है। उस आत्मा के आत्मतत्त्व के साथ इन्द्रिय अण्ड को लब्ध शरीर में सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व से अलग करने वाले वे संकल्प-विवर्ण होते हैं, जो हमारे मन में हमारे कर्मों के कारण और हमारे चिन्तन के कारण उदित होते हैं। मन के इन संकल्प-विवर्णों का उदय सद्र से निवर्तने वाली श्रुत की धारा में होता है। काम को नियन्त्रित करने वाला सद्र होता है। वही उसे मरम्मत करता है और वही उसे रती के साथ फ्रीडा करने के लिए जीवन दान देता है। अतः काम के संकल्प-विवर्णों का उदय सद्र की 'ईशानी' श्रुत की धारा के अन्दर ही होता है। जो रती के साथ फ्रीडा करने के काम के संकल्प आत्मतत्त्व के अण्ड के साथ उन 'ईशानी' श्रुत की धाराओं के द्वारा आवर आबद्ध हो जाते हैं, वही उस आत्मतत्त्व के अण्ड के साथ आबद्ध हो कर बुद्धि के जनक बन जाते हैं और उस आत्मतत्त्व के अण्ड को नये सृजन की प्रेरणा देकर किसी शरीर की प्रीति से युक्त कर देते हैं। उस प्रीति से युक्त करके फिर उसे वे अपने कर्मों का फल मोषण के लिए विवश कर देते हैं। वह जीवन भर लब्ध उठाता हुआ पूरा जीवन बिताता है। मरणत्रास से सदैव भयभीत रहता है, परन्तु फिर भी अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्यु के प्राप्त होने पर भी उसके आत्मतत्त्व के अण्ड उससे पूर्व जन्म के कर्मों के फल से आबद्ध होते हैं। अतः वे उस भी उसे सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के साथ नहीं मिलने देते और नई प्रीति को धारण करने के लिए पुनः विवश कर देते हैं। अतः ऐसे सभी कर्म, पापकर्म बन जाते हैं जो हमारे आत्मतत्त्व के अण्ड के साथ आबद्ध होकर, उनके संकल्प उस आत्मतत्त्व के अण्ड के शरीर के ब्रह्मतत्त्व के साथ मिलने नहीं देते अपितु उसे मोक्षधारण करने के लिए विवश करके जीवन-मरण के अनन्त तल चलने वाले चक्र में डाल देते हैं। वे कर्म उसको मुक्ति में बाधक बन जाते हैं। वे पापकर्म होते हैं। यह ईशानी श्रुत की धारा उन पापकर्मों का नाश करने वाली बनती है। प्रथम तो जब मोक्षी योगसाधना करता हुआ चित्त की वृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध करता है तो उससे शरीर के किसी भी शरीर के अन्दर उन श्रुत की धाराओं में ईशानी के कोई संकल्प उदित नहीं होता। अतः जब वे ईशानी संकल्प रहित होकर शरीर में 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से टकराते हैं तो वे कोई भी नया संकल्प उस आत्मतत्त्व के अण्ड के साथ आबद्ध नहीं कर पाते। उल्टे जब उन संकल्प रहित ईशानी के श्रुत उस आत्मतत्त्व के अण्ड में समाहित होता है तो वह उस आत्मतत्त्व के अण्ड के साथ पहले से ही आबद्ध संकल्पों को अपने अन्दर समाहित कर लेता है और

उनको लेकर उस 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से बाहर चला जाता है और वापिस जाकर असद्-ब्रह्म के मृत में समाहित हो जाता है। इस प्रकार उन ईशानी चाराओं का मृत 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से उन पापकर्मों को चोकर इस प्रकार निकाल देता है जैसे किसी कंरने का बहता पानी किसी कपड़े से टकराता हुआ जब चलता है तो उससे मल को चोकर ले जाता है और सारे मल को उस कपड़े से बाहर निक्काल कर ले जाता है। इस प्रकार ये 'ईशानी' मृत को चारामें हमारे आत्मतत्त्व के सभी 'अण्डों' से हमारे उन पापकर्मों को चोकर दूर कर देती हैं और वे हमारे लिस पापवाशिनी 'बन जाती हैं'।

हे रुद्र! आप उन्हीं शिवा, तनु, अधोरा तथा पापवाशिनी 'ईशानी' मृत को चाराओं के इस शम् के सुख से हमारे 'आत्मतत्त्व' के सूक्ष्म (तनु) कीरों में स्थित 'अण्डों' को युक्त करते हुए हमारे शरीर के त्रयेक अणु की गिरि को शम् का सुख प्रदान करते हुए हमें देंगे। 'शम्' का सुख वह है, जिससे पापकर्म धुल जाते हैं, पुराने संकल्प 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से बाहर निक्कल जाते हैं और नये संकल्प उस आत्मतत्त्व के अण्ड में जुड़ नहीं पाते। इस प्रकार हमारा 'आत्मतत्त्व' का प्रत्येक अण्ड निर्मल होकर जिस 'शान्ति' के सुख को प्राप्त करता है, वही 'शम्' का सुख कहलाता है। अणु में स्थित त्रयेक देव की गिरि को यही 'शम्' का सुख प्रदान करने वाला 'गिरिशान्त' हम मुमुक्षु साधकों को देंगे। यहाँ इस मन्त्र का चित्रण सबार और देख लेंगे।



यहाँ "स्तनुवा शान्तमया" - शब्द में 'नः' के दो अर्थ लगते हैं। दोनों अर्थों का प्रहो उचित प्रयोग हुआ है। अतः वे दोनों अर्थ लेने चाहिएँ। ये इस प्रकार हैं - 'न' का वैदिक विज्ञान की शब्दावली में अर्थ 'देव' भी होता है और 'नः' का अर्थ 'हमको' भी होता है। तीसरा अर्थ इसका वैश्वानर अग्नि के देव 'न' अण (Nayatram) को भी प्रकट करना होता है।

जब 'न' का अर्थ देव लेते हैं तो इसका अर्थ बनता है कि रुद्र देव-ईशानी की चारा के सूक्ष्म स्वरूप के देवत्व से युक्त होकर, और वह भी उस ईशानी के देव स्वरूप से युक्त होकर जो 'शम' की शान्ति का सुख प्रदान करने वाली है, उससे युक्त होकर वह गिरिशान्त हम को देखे।

'न' का अर्थ जब 'न' अण (Nayatram) लेते हैं तो वह वैश्वानराग्नि के स्वरूप को प्रकट करता है। क्योंकि उसमें 'न' (Nayatram), 'चिक्' (Prakam), इत (Electram) इन तीनों का रूप समाहित होता है। 'न' अण में से जब 'इत' अण बाहर निष्कल जाता है तो उसी 'न' अण के दो भाग 'चिक्' और 'इत' बन जाते हैं। अतः 'न' अण में 'न' का भी, 'चिक्' का भी और 'इत' का भी तीनों रूप समाहित हैं। 'न' अण बने पर 'अणु' (Akam) की पूर्ण रचना हो जाती है। अतः जब 'ईशानी' का तनु रूप 'न' अण का शमन् कर के शान्ति का सुख उस अणु की गिरि को प्रदान करता है तो हमारे सारे शरीर को सुख प्राप्त होता है। उसी सुख को प्रदान करता हुआ रुद्र हमको देखे। परन्तु सभी अणुओं की मूल रचना का सब से सूक्ष्म कारण तो 'क्षीर' ही बैठता है। जब 'क्षीर' में 'शम' का सुख प्राप्त होगा तो हमारे शरीर में भी और सभी के शरीर में वह 'शम' का सुख प्राप्त होगा। इस प्रकार सारी सृष्टि को वह 'शम' का सुख प्राप्त होगा।

'तनु' का अर्थ बहुत बारीक पतला होता है। जब 'न' के साथ 'तनु' का अर्थ लगते हैं तो यह 'न' का विश्लेषण बन जाता है। अतः 'न' (Nayatram) अण बहुत ही सूक्ष्म पतली चारा का एक अंश बना होता है। जब यह प्रसंग से चली आ रही रुद्र की 'ईशानी' का विश्लेषण बनता है तो इसका अर्थ बनता है कि 'ईशानी' की मृत की चारा अत्यन्त पतली और सूक्ष्म है।

'न' अण नामि के बाह्यतम भाग में अणु के अन्दर स्थित होता है। अतः जब 'न' अण को 'ईशानी' का तनु स्वरूप 'शम' का सुख प्रदान करता है तो उससे पूर्ण अणु को 'शम' का सुख प्राप्त हो जाता है। इन अणुओं (Akam) से मिलकर ही सारी प्रकृति बनी है। अतः जब पूर्ण अणु को 'शम' का सुख प्राप्त हो जाता है, तो पूर्ण प्रकृति को 'शम' का सुख प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार रुद्र का स्वरूप जो प्रकृति को 'शम' का सुख प्रदान करता है, वह 'शिव' के स्वरूप में अपनी 'शिव'। 'ईशानी' चाराओं से युक्त होकर बदल जाता है। ऐसे 'शिव' रूप में बदल कर प्रकृति के प्रत्येक रजः अण की गिरि को 'शम' का सुख प्रदान करने वाला रुद्र हमको कृपा की दृष्टि से देखे। हमें भी वह 'शम' का सुख प्रदान करे।

यामिषु गिरिशान्त हस्ते विमर्ष्यस्ते ।

शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ 6

है गिरिशान्त ! आप फेंकने के लिए हाथ में बाण चारण करते हैं ।
 है गिरित्र ! उसे आप मंगलकारी करो । पुरुष तथा जगत की हिंसा मत करो ।
 प्रकृति के प्रत्येक रजकण (चूल्ह के कण) की गिरि (granule)
 को 'शम' का सुख प्रदान करने के कारण रुद्र गिरिशान्त कहलाता है । साथ में
 प्रत्येक गिरि' जो रजकण की बनी है, उसको ईशानी' मृत की चारा के द्वारा
 पोषण तथा आत्मतत्त्व प्रदान करके उसका त्रायण करने वाला बन कर गिरित्र
 कहलाता है । यह जो 'ईशानी' मृत की चारा रुद्र से से पूछ कर निकलती
 है, उसके द्वारा मृत को रुद्र अपने अन्दर से फेंक रहा है । 'ईशानी'
 उस रुद्र की सब भुजा बनी हुई है । उस ईशानी' स्वयं हाथ में रुद्र
 मृत की सब सज्जित इकट्ठी की ऊर्जा को बाण चारण करके इस
 है, जिसे वह निरन्तर अपने हाथ 'ईशानी' के पकड़ कर तेजी से
 आगे फेंक रहा है । जब इस मृत की ऊर्जा को रुद्र आगे फेंकता
 है तो इन्हीं मृत की चाराओं के द्वारा 'सहस्र' योनि पुरुषः
 सहस्राक्षः सहस्र पाद तथा दशमौलि' पुरुष की रचना
 हो जाती है । उसी पुरुष से दशमौलि' ऊर्जा की रचना होकर
 पञ्चमहाभूतों का जड़ जगत तथा उसमें के सभी पुरुष का समावेश
 युक्त प्राणी जगत की रचना हो जाती है । प्रकृति के पूरे रूप से
 पुष्ट तभी होती है जब रुद्र अपनी पूर्ण शक्ति को अपनी 'ईशानी'
 मृत की चाराओं के द्वारा मृत को पूरी तेजी से फेंकता है और
 संकल्प युक्त उस मृत की पूर्ण जगत के प्रत्येक रजकण को
 करता है, जिससे वह रजकण अपनी पूर्ण शक्ति को बाण चारण करती है ।
 यदि इस 'ईशानी' की शक्ति सन्देह में आती है और रजकणों
 को मृत की आपूर्ति इन ईशानी' मृत की चाराओं के द्वारा पूरी नहीं हो
 पाती, तो यही मृत के बाण हिंसक बन कर उन रजकणों की ओर
 उस पुरुष की हिंसा करने लग जाते हैं, जिसका सुख और पोषण
 ये 'ईशानी' मृत की चारण करती हैं । पहिले उन पुरुषों की हिंसा
 होती है जो इन 'ईशानी' मृत की चाराओं के मांस बनता है । उस
 पुरुष की हिंसा होने पर दशमौलि' ऊर्जा की पूर्ण संचारक रूप से
 नहीं हो पाती । जिससे इस पञ्चमहाभूतों के सभी जगत की भी हिंसा
 होने लग जाती है । अतः साधक योगी रुद्र से शक्ति करता है कि
 रुद्र इस पुरुष की और जगत की हिंसा न करे । वह जगत की
 प्रत्येक गिरि का त्रायण करने के लिए अपनी 'ईशानी' के हाथ द्वारा
 मृत की ऊर्जा का बाण पूरी शक्ति से फेंके । वह मृत की ऊर्जा का

बाण पोषण करने वाला मंगलकारी हो। उस ईशानी के बाण द्वारा प्रत्येक रजःकण की गिरि के 'पुर' की तथा उस 'पुर' में वासन करते हुए निवास करने वाले उस 'पुरुष' को पूरा ऋतु प्रदान करते हुए उन्हें पूर्ण पोषण प्रदान करे और उनकी हिंसा न करे। ईशानी, ऋतु को चाराओं में ऋतु का वेग जैसे ही मन्द गति को प्राप्त होता है, जो ही पुरुष और जगत् दोनों की हिंसा होने लग जाती है। लेकिन किरणों में भी उनकी गति को जब हम मन्द कर देते हैं तो वे अपने सामने आने वाले प्रत्येक रजःकण को काटती हुई चली जाती है। वे सब की हिंसा करने लग जाती हैं। ऋतु की इसी मन्द गति से बचने के लिए ही रुद्र से प्रार्थना की जा रही है। रुद्र की इन ईशानी, चाराओं में ऋतु का वेग कम होने पर ही पृथिवी के गर्भ में विनाशकारी विस्फोट होने लग जाते हैं। पृथिवी के पुरुष का नाश होने लग जाता है। प्रलय आने लग जाती है। पृथिवी में से उसके गर्भ के अन्दर से सब विशेष प्रकार की तरंगें निकलने लग जाती हैं, जिससे पृथिवी पर भूचाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थान-स्थान पर पृथिवी का गर्भ फटने लग जाता है, ज्वालामुखी प्रकट हो जाते हैं और पृथिवी में असामान्य कम्पन उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जगत् की हिंसा होने लग जाती है। अतः पहले 'पुरुष' में ऋतु को चाराओं के मन्द होने से, पुरुष को ऋतु की मात्रा कम मिलने के कारण उस 'पुरुष' की हिंसा होती है, उसके पश्चात् इस पञ्चमहाभूतों के बने स्थूल जगत् की हिंसा होती है। क्योंकि बिना 'पुरुष' की शक्ति कम होने के कारण वह रजःकणों को रुक आबन्ध में बाँधने की पूरा शक्ति नहीं जुटा पाता और रजःकण बिखरने लग जाते हैं। इस प्रकार रजःकणों के बिखरने से अर्धपिण्डों का स्वरूप नष्ट होने लग जाता है और जगत् की हिंसा हो जाती है।

अतः 'रुद्र' का उपासक, योग साधना करने वाला योगी रुद्र भगवान से प्रार्थना करता है कि हे रुद्र भगवान! गिरिशान्त महाराज! आपने अपने ईशानी के हाथ में जो ऋतु का बाण चारण किया हुआ है, जिसे आप निरन्तर फेंक रहे हो, उस ऋतु के बाण को मंगलकारी करो। आप उसके द्वारा ऋतु को प्रचुर मात्रा में फेंकते हुए पुरुष तथा जगत् को पूर्ण रूप से पुष्ट करो। आप अपने इस बाण द्वारा कम मात्रा में ऋतु नत फेंकों, जिससे कि पुरुष तथा जगत् की हिंसा हो जाये। आप अपने इस ऋतु के बाण को मंगलकारी बनाते हुए पुरुष, जगत् की हिंसा मत करो। इस प्रकार आप अपने रूप को 'रुद्र' से 'शिव' में परिवर्तित कर लो।

यहाँ इस मन्त्र में रुद्र के द्वारा 'पुरुष' तथा 'जगत्' के कल्याण की बात जब ऋतु के प्रक्षेपण द्वारा करने की आई है, तो इस प्रकार के यश का उदाहरण देवना भी उचित ही है। यह उदाहरण हमें गंगा के अवतरण से मिल जाता है। गंगा को देवगंगा कहा जाता है।

गंगा के अवतरण की कहानी जो पुराणों में तथा अन्य ग्रन्थों में मिलती है, उससे अनुसार गंगा का रूप पहले आजकल जैसा नहीं था। वह साधारण रूप की रुबू ऐसी ही नदी थी, जिस प्रकार कि अन्य नदियों आजकल मिलती हैं। उसका जल भी अन्य नदियों के जल के समान साधारण जल ही थी। उससे जल में कोई असामान्य विशेष गुण नहीं था, जो और नदियों के जल में न हो।

महाराजा सगर के पौत्र भागीरथ ने चौर तप करके स्वर्ग लौक से गंगा का अवतरण कराया था, ऐसा शास्त्रों में वर्णन आता है। 'भग' देवता जो प्रकृति के विभिन्न प्रकार के रज्जुओं को और विभिन्न देवताओं को विभिन्न स्वरूप प्राप्त कराने वाली विभिन्न यौगिकों प्रदान करता है, उसको ईरित करने वाले (= शासित करने वाले) सिद्ध पुरुष तपस्वी को 'भागीरथ' कहा जाता है। सद्ग अपनी 'ईशनी' श्रुत की चाराओं के द्वारा श्रुत में विभिन्न प्रकार के संकल्प उदित करके 'भग' देवता को यह सामर्थ्य प्रदान करते हैं। अतः 'भग' देवता को भी शासित करने की सामर्थ्य इन सद्ग की 'ईशनी' श्रुत की चाराओं में है। अतः जो सिद्ध पुरुष सद्ग की उपासना द्वारा इन 'ईशनी' श्रुत की चाराओं में उदित होने वाले संकल्पों पर नियन्त्रण पा लेता है, वही 'भागीरथ' बन जाता है। ऐसी ही सिद्ध को प्राप्त करने के उपरान्त 'भागीरथ' को श्रुतियों द्वारा भागीरथ की उचित पदवी प्रदान की गई और वे उसे अपने शास्त्रों में 'भागीरथ' के नाम से लिखने लगे और उसकी प्रशंसा करने लगे।

गंगा का स्वरूप दो चाराओं के मिलने से बनता है। उनमें रुबू अलकनंदा है और दूसरी मन्दाकिनी है। 'अल्' के द्वारा 'क' कण का नुदन करने वाली चारा 'अलकनंदा' कहलाती है तथा 'क' कण के नुदन की गति को मन्द करने वाली चारा 'मन्दाकिनी' कहलाती है। 'अल्' सगुण ब्रह्म के स्वरूप श्रुत को ही कहा जाती है। 'ईशनी' श्रुत की चाराओं के द्वारा बने 'पुरुष' के दशांगुल स्वरूप से 'क' कण की रचना तथा उसका पोषण होता है। अतः 'क' कण का पूर्ण नियन्त्रण 'पुरुष' के दशांगुल रूप में होता है। वही पुरुष का सगुण ब्रह्म का रूप 'अल्' है। 'भागीरथ' ने अपने तप द्वारा उस स्थान विशेष के पुरुष में अपने आत्मबल द्वारा 'क' कणों को असामान्य विधि से नुदन करने वाला बना कर 'अलकनंदा' की चारा में Radio-activity का रूप विशेष गुण उत्पन्न किया। किसी स्थान विशेष के पुरुष में जब कोई विशेष संकल्प को उदित करने का गुण उत्पन्न हो जाता है, तो वह चिरबाल तब स्थायी बन कर अनन्त काल तक श्रुत में अपना कार्य करता रहता है। अतः 'अलकनंदा' की चारा आज तक अपना यह कार्य कर रही

हैं।

दूसरी धारा 'मन्दाकिनी' है। 'क' व्यंजनों के नुदन की गति को भी मन्द उस 'पुरुष' के दशांगुल स्वरूप द्वारा ही विद्या जाता है। 'पुरुष' के दशांगुल स्वरूप में जो ऋत की धाराओं के बने दश अक्षर होते हैं, उनमें प्रत्येक अक्षर में चौतीस अर्णवों की बनी पसलियाँ होती हैं। उन चौतीस अर्णवों की शृंखला से उस अक्षर की तरंग की लम्बाय wave length बनती है। यदि उस अक्षर को पसलियों के जोड़ों पर से काट दिया जाये और उससे चौतीस अर्णवों की शृंखला में अर्णवों की संख्या कम कर दी जाये तो उस अक्षर की तरंग की wave length कम हो जाती है, जिससे कारण उसकी frequency बढ़ जाती है। परिणाम स्वरूप 'क' का नुदन बढ़ जाता है। अक्षर को काटने का वर्णन ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में 163 तथा 162 वे सूक्त में दिया है। इस प्रकार 'अलव्यजंदा' का सृजन हो जाता है।

दूसरे जब 'ईशनी' ऋत की धारा की तरंग की दीर्घता (wave-length) अधिक होती है तो उसकी frequency कम हो जाती है। परिणाम स्वरूप 'क' व्यंजनों के नुदन की गति मन्द हो जाती है। इस प्रकार 'मन्दाकिनी' की रचना हो जाती है।

अलव्यजंदा के 'क' व्यंजनों की अधिक frequency और मन्दाकिनी के 'क' व्यंजनों की अधिक frequency, इन दोनों के मेल से जो ऋत की धारा की तरंग की गति बनती है, उसमें एक विशेष प्रकार का आवेग आ जाता है। इससे उस जल में नीमव्यीय विविरण का एक साम्य अवस्था को धारण किया हुआ गुण आ जाता है जो सभी को पुष्ट करने वाला बनता है। इससे उस धारा का जल अपनी शुद्धता को चिरकाल तक बनाये रख सकता है। उसमें गंदे छोड़े उत्पन्न नहीं हो पाते और वह जल सड़ता नहीं है। जिस प्रकार Radio-active bar से गोदाम में खाद्य पदार्थों को preserve किया जाता है, वही प्रक्रिया उस जल में स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है।

पुरुष की सत्ता अणु की नीम में 'स्वः' लौक्य में होती है। अतः स्वः लौक्य की ईशनी के ऋत से बने 'क' व्यंजनों के लौक्य को 'स्वर्गलौक्य' कहा जाता है। 'क' व्यंजनों को 'देवराज इन्द्र' भी कहा जाता है। इस गंगा की धारा का प्रवाह पहले स्वर्गलौक्य में ही होता है। अतः सदा की धाराओं की जटाओं से इस गंगा

का अवतरण 'मूः' लौक्य में होता है। मूः लौक्य में आवर यह विभिन्न प्रकार के रजःकोषों की योनियों को नियंत्रित करने वाली 'भागीरथी' बन जाती है।

यदि रुद्र की 'ईशनी' की चाराओं की जटाओं में स्वर्ग से आई इस गंगा की चारा को उलझा कर शान्त न किया जाये तो इसकी श्रुत की तरंगों की गति में रजःकोषों को विच्छेदित करके विखरने का और काटने का गुण आ जायेगा। उस समय यह चारा हिंसा करने वाली और सर्वनाश करने वाली बन जायेगी। जैसे कि लैंजर विरणो बन जाती है। अतः रुद्र की जटाओं में उलझा कर इसकी तरंगों की wave length और frequency को Normal बनाया जाता है। उससे पश्चात् रुद्र की जटाओं से गंगा की चारा का प्रवाह सब का कल्याण करने वाला 'शिवा' बनता है। 'रुद्र-प्रयाग' इसी याग का सूचक है। गंगा का अर्थ होता है - 'अंग' - 'अ' + 'अंग' = गंगा। 'अ' को तीसरा अक्षर 'ग' हो जाता है। 'अंग' का अर्थ होता है अपने अंग में चारण करने वाली। अर्थात् जो 'अ' कोषों के असामान्य आवेश को अपने अंग के अन्दर चारण करने वाली है, वह गंगा है। वही 'देव गंगा' है। यह सब रुद्र के इसी 'तनु' स्वरूप 'ईशनी' के द्वारा होता है। इसी कारण रुद्र को 'गिरिशन्त' तथा 'गिरित्र' कहा जाता है। इसी से शिव का अपौरुष स्वरूप बनता है।

अतः इस मन्त्र में रुद्र को 'गिरिशन्त' कहते हुए उसकी 'ईशनी' को 'गिरित्र' कहा है। उस रुद्र ने जो अपनी 'ईशनी' के हाथ में श्रुत के बाण को चारण कर रखा है, उसे वह रुद्र 'शिवा', 'गिरित्र' तथा 'पुरुष और जगत्' की हिंसा न करने वाला बनाये।

अनी तब मन्त्रों में रुद्र के स्वरूप की और उसकी 'ईशनी' श्रुत की चारा का वर्णन सब क्षीर के अन्दर ही बता कर दिया गया था। उस क्षीर के अन्दर ही रुद्र अपनी 'ईशनी' को 'शिवा' बनाता है तथा उसी द्वारा पुरुष तथा जगत् की हिंसा को रोकता है। क्षीर में 'ब्रह्मतत्त्व' तथा 'आत्मतत्त्व' का योग अपनी सर्वतोमुखी 'ईशनी' चाराओं के द्वारा बनाता है। क्षीर के अन्दर ही 'हिरण्यगर्भ' को जन्म देता है जो अग्नि सारी सृष्टि का सृजन करता है। उसी हिरण्यगर्भ के गर्भ में विष्णु देव अपने चतुर्भुजी रूप में अवतरित होते हैं। विष्णु अपने शान्त, स्थिर रूप में पराशक्ति से युक्त होते हैं और सब क्षीर के केन्द्र में स्थापित होते हैं। विष्णु केन्द्र में अच्युत रूप में रहते हैं।

अब अगले मन्त्र से क्षीर के ब्रह्मतत्त्व से परे बाहर की ओर की संरचना और क्रियाओं का वर्णन किया जा रहा है। क्षीर में बाहर की ओर रुद्र की

'ईशानी' की मृत की चारों ओर सहस्र शीर्षों में सहस्र अक्षों पर प्रकटित होकर निकलती हैं। वे रुद्र क्षीर के चारों ओर लोको के ओर उनमें स्थित देवीमायाओं की रचना करती चली जाती हैं और उन्हें उस केन्द्र में क्षीर के चारों ओर लपेटती चली जाती हैं। इस प्रकार 'अणु' की माया की रचना पारंगत हो जाती है। अगला मन्त्र देखें।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निष्काशं सर्व भूतेषु गूढम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तां ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ (५)

'ततः परं' = उस क्षीर में पीछे बताये गये संरचना के कार्य करने के बाद में।

ब्रह्म परं बृहन्तं = उस क्षीर के 'ब्रह्मतत्त्व' के बाहर की ओर परे जाते हुए रचना के स्वरूप को बृहद् आकार देते हुए।

यथा निष्काशं सर्व भूतेषु गूढम् = यथा योग्य लोको में सारे भूतों में

यथा योग्य गूढ देवनिष्काश की रचना करते हुए रचना के आकार को बृहद् रूप देते हुए।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् = विश्वानरात्मि के सम्पूर्ण रूप [अर्थात् अणु (अणु) की माया के पूर्ण रूप को, सातों लोको की रचनाओं के स्वरूप] को। रुद्र ईश में लपेटने वाले को उस रुद्र रुद्र को।

रुद्र ईश = अपनी 'ईशानी' मृत की चारों ओर द्वारा जालबान बनकर अणु की सारी सृष्टि के सृजन को शासित करने वाले उस रुद्र ईश रुद्र को।

ज्ञात्वा अमृता भवन्ति = जान कर अर्थात् उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करके

ब्रह्मवैत्ता अमर हो जाते हैं। वे इस ज्ञान के द्वारा प्राणि को धारण करने के धारण को जान कर उसे बुर करके जीवन-मरण के चक्र से छूट जाते हैं और सद् ब्रह्म में सदा के लिए लीन हो जाते हैं।

रुद्र देव रुद्र क्षीर में अन्दर की रचना करने के उपरान्त उस क्षीर के ब्रह्मतत्त्व के अणु के बाहर की ओर सहस्र शीर्षों में सहस्र अक्षों पर अपनी 'ईशानी' मृत की चारों ओर फैलते हुए सप्त लोको की रचना करते हैं और उन सभी लोको में यथा योग्य गूढ देवनिष्काशों की रचना करते हैं। इस प्रकार सातों लोको की रचना को उस रुद्र क्षीर पर लपेटने वाले उस रुद्र ईश रुद्र को जान कर ब्रह्मवैत्ता अमर हो जाते हैं। वे अपनी आत्मा को शरीर में बाँधने वाले तीनों बाँधनों को जान कर, उन तीनों बाँधनों को तोड़ने वाले तीनों मोक्षों को जान कर अमृततत्त्व सद्-ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं। इस मन्त्र के भावार्थ को समझने के लिए अगला चित्र देखें।—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णम् तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति जान्यः पन्था विद्यते ऽ प्रजाय ॥ (४)

वेदाहमेतं पुरुषं = इस उपनिषद् का रचयिता ऋषि कहता है कि मैं इस पुरुष को जानता हूँ जिसका वर्णन ऋग्वेद के पुरुष सूक्तों में हुआ है। ऋग्वेद में जो "सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः । स भूमिम् विश्वतो वृत्वा ऽ त्यतिष्ठ दशांगुलम्" - मन्त्र में बताया गया है कि सहस्र अक्षों वाला, सहस्र शीर्षों वाला, सहस्र पाद वाला पुरुष है और वह दशांगुल बन कर अपनी सारी भूमि पर वर्तन करता हुआ अति रूप से ठहरा हुआ है। अर्थात् पुरुष की रचना में रुद्र को 'ईशानी' मृत की धारार्य सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में (In thousand heads of vector on thousand axis) चलती है। अंगि जाकर सब शीर्षों के सहस्रपाद (Thousand sub-heads i.e. branches) बन जाते हैं। फिर और आगे चल कर सब पाद में दस उँगलियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार वह अपने केन्द्र बिन्दु 'अ' से चलता हुआ 'अ' के सभी ओर स्थित अपने प्रभाव क्षेत्र की सारी भूमि (Domain of the effective field) पर छा जाता है और अपने प्रभाव क्षेत्र को भूमि के सीमान्त प्रदेश दशांगुल के अन्तिम शिरे पर अति रूप से ठहर जाता है। मैं इस पुरुष को जानता हूँ।

महान्तम् = सह + अन्तम् = महान्तम् = जिस पुरुष की प्रभाव क्षेत्र की भूमि 'महः' लोको के अन्तिम शिरे के पञ्चात प्रारम्भ होती है और 'स्वः' लोक के प्रारम्भिक भाग में आती है। स्वः लोक के पाँच भाग बताये हैं। "पञ्चविधो स्वः लोकः" (महर्षि व्यास)। इन पाँच भागों में स्वः लोक की रचना में प्रथम भाग इस 'पुरुष' की रचना का ही आता है। देवियोग पृष्ठ (५७) पर बने चित्र को जिसमें स्वः लोक में रचित पाँचों भागों के देवजिवायों को अलग-अलग दिखाया है। इनमें (१) भाग इस 'पुरुष' की रचना का ही भाग है। यह रचना का भाग 'महः' लोक के अन्त में ही प्रारम्भ होता है, अतः यह 'महान्तम्' है। यह 'सन्तम् पुरुषम्' का विशेषण बन कर कर्मधारय समास बना हुआ है। अतः इसका अर्थ बना कि, "मैं इस महः लोक के अन्त में स्थित 'पुरुष' को जानता हूँ।

आदित्यवर्णम् = यह 'पुरुष' आदित्य के वर्ण का है। आदित्य माता जो 'पञ्च प्राणीभि' के रूप में बनती है। इस आदित्य माता को यह 'पुरुष' उसका

पति बन कर अपने दशांगुल रूप द्वारा गर्भित करता है। अतः आदिति का और इस 'पुरुष' का मिलाकर एक ही परिवार बनता है। अतः यह आदिति को रचना करने वाले आदित्य वर्ण के परिवार का ही पुरुष है। अतः यह पुरुष आदित्य वर्ण (caste of ADITYA) का है।

आदित्य सूर्य को भी कहते हैं। वेदों में, 'सरणात् सूर्यः' - के अनुसार सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति और उसका अर्थ लिखा जाता है। सूर्य में से तैजोमयी प्रकाश की किरणें सूर्य के सभी ओर सौरमण्डल में चलती हैं और सूर्य के चारों ओर स्थित प्रत्येक ग्रह को अपनी आभा के तैज से पोषित करती हुई उसे अपने कक्ष में स्थित रखती हुई गतिमान रखती हैं। यही कार्य इस 'पुरुष' का है। यह भी महः लोका के बाद स्वः लोक में, भुवः लोक में, भूः लोक में तथा सातों पाताल लोकों में अपनी तैजोमयी श्रुत को चाराओं को फैलता हुआ इन लोकों में स्थित तत्सम्बन्धी देवों को पैदा करके उनके पुष्ट करता हुआ आगे चलता चला जाता है। अतः यह कर्म के अनुसार भी 'आदित्य' के वर्ण (caste) का है।

तमसः परस्तात् = परन्तु यह 'पुरुष' सूर्य से एक रूप में भिन्न है। सूर्य अपने आगे प्रकाश फैलाता है, परन्तु पुरुष आगे चलता हुआ अन्धकार (तमसः) फैलाता है। पुरुष की गति पर क्षेत्र (Field of high intensity) से अवर क्षेत्र (Field of low intensity) को और (=परस्तात्) है। जैसे-जैसे यह अवर क्षेत्र में स्वः लोक में, भुवः लोक में, भूः लोक में आगे-आगे बढ़ता चला जाता है, वैसे-वैसे यह अधिब्य गहनतर और महतर रजवर्णों (चूनि के वर्णों) को रचित करके उन्हें संयोजित करके उचित कक्ष में उचित गति प्रदान करता चला जाता है। [देखे पृष्ठ (५७) पर बना चित्र] इस प्रकार वह श्रुत के बने अणुओं के तैजोमयी स्वरूप को मौलिक अर्थों के तमसोमयी स्थूल रूप में बदलता हुआ अन्धकार-मयी माया के गहन अर्धपिण्डों में बदलता चला जाता है। अतः इस पुरुष का स्वरूप पर क्षेत्र के पश्चात् अवर क्षेत्र में तमस के रूप में बदल जाता है। प्रत्येक अर्धपिण्ड का स्वरूप तमसः (अन्धेरे) का ही स्वरूप होता है। सूर्य के छिप जाने पर पृथिवी का अर्धपिण्ड स्वयं प्रकाश नहीं देता। पृथिवी के अर्धपिण्ड में पुरुष की अग्नि के प्रवाह से ही अग्नि का ज्योतिर्मय स्वरूप बनता है। प्रकाश 'Energy' है और पुरुष भी Energy का स्वरूप है। परन्तु अर्धपिण्ड Matter है, वह Energy का संग्रहीत रूप है। वह स्वयं प्रकाश का रूप नहीं है। अतः वह 'तमसः' (अन्धकार) का रूप है।

बदल जाता है। जब उस 'चिच्छ' कण में पुनः त्रिवर्त्ती (Meson) का प्रवेश 'इत' कण (Electron) के रूप में हो जाता है, जो कि भूवः लोच से आकर भूः लोच में स्थित 'चिच्छ' कण में प्रवेश करता है, तो वह 'चिच्छ' कण (Proton) पुनः 'न' कण (Neutron) के रूप में अपने शरीर को बदल लेता है। इस प्रकार 'न' कण को ग्रैनि से 'चिच्छ' कण को 'ग्रैनि' के शरीर में और 'चिच्छ' कण को 'ग्रैनि' से 'न' कण को 'ग्रैनि' में उस 'इत' कण के आने जाने से उनकी ग्रैनिग्रै के शरीरों में बार-बार परिवर्तन होता रहता है। बार-बार विभिन्न प्रकार की ग्रैनिग्रै के शरीरों में परिवर्तन को ही मृत्यु कहा जाता है। जहाँ पर यह क्रम सदा के लिए रुक जाता है, उसी मृत्यु को 'अतिमृत्यु' कहा जाता है। जब यह 'न' कण अपने अन्दर से 'इत' कण को एक बार बाहर निकाल कर 'चिच्छ' कण का अयन (Ion) बन जाता है और पुनः 'इत' कण को ग्रहण नहीं करता अपितु अपने स्वरूप को भी आगे और विरहीण्डत कर देता है और अपने अर्धपिण्ड के स्वरूप को नष्ट करके पुनः 'पुरुष' के तेजोमयी उर्जा (Energy) के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो उस समय वह 'न' कण 'अतिमृत्यु' को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह 'न' कण 'पुरुष' के रूप को प्राप्त करके 'अतिमृत्यु' के पथ पर चला जाता है। यही इस कथन - "तमेव विदित्वातिमृत्यमेति न" का अर्थ बनता है।

"नान्यः पन्था विद्यन्ते ऽयनाय" - इस कथन के भी दो अर्थ बनते हैं।

प्रथम अर्थ 'पुरुष' का ज्ञान प्राप्त करने वाले योगी साधक के लिए लगता है। उस अर्थ में 'अयन' का अर्थ सद्-ब्रह्म के स्वरूप का 'परमपद' होता है। अतः इस कथन का अर्थ बनता है कि, "पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने वाले योगी साधक के लिए सद्-ब्रह्म का परमपद प्राप्त करने के लिए इस पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। वह इस 'पुरुष' का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त योगसाधना की प्रत्येक उत्तरोत्तर चढ़ाने वाली सिद्धियों के स्वरूपों में दृढमति से आरुढ़ होता चला जायेगा। किसी भी प्रकार के संशय का क्लेश राग द्वेष आदि उसकी योगसाधना में रुकावट नहीं बन पायेगा। वह धर्ममेध की समाधि को सिद्ध करके सद्-ब्रह्म के परमपद को प्राप्त कर लेगा।

दूसरा अर्थ 'न' कण (Neutron) की वैश्वानराग्नि के रूप में लगता है। 'न' कण के दो अयन (Ions) 'चिच्छ' कण (Proton) तथा 'इत' कण (Electron) बनते हैं। आवेशित कण को 'अयन' कहा जाता है। इन दोनों कणों में आवेश होता है, अतः ये अयन हैं। 'चिच्छ' कण में चनात्मक

इसी कारण यहाँ इस पुरुष को 'पर' क्षेत्र से निकल कर 'तमस' के रूप को धारण करने वाला, "तमसः परस्तात्" कह कर बताया है।

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" = उसी को जानकर मुमुक्षु साध्य अतिमृत्यु को प्राप्त करता है।

'अतिमृत्यु' वह मृत्यु होती है जिसे प्राप्त करने के उपरान्त पुनः कभी भी दूसरी कोई मृत्यु नहीं होती। अर्थात् यह वह अन्तिम मृत्यु है जिसके उपरान्त ज्ञानी पुरुष जीवन-मरण के चक्र से बाहर निकल कर सदा के लिए मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि पहले बताया गया है कि त्रैलोक्य धारण करने के लिए तीन प्रकार के शरीरों के बन्धन होते हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर का बन्धन। जबतक इनमें अन्तिम बन्धन कारण शरीर का बन्धन बना रहता है, तब तक वह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बन्धनों में बार-बार बँध कर जीवन-मरण के चक्र में फँसा रहता है और उस जीवात्मा को मोक्ष प्राप्त नहीं होता। यह 'पुरुष' ही मौलिक अर्थों का सृजन करके इस कारण शरीर की रचना करता है और जीवात्मा को उस कारण शरीर के बन्धन में बँधता है। 'पुरुष' ही जीवात्मा का स्वरूप होता है। [गोऽसावसौ पुरुषः सौऽहमस्मि। (मजुर्वेद-५०, १६)] अतः जो ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी इस 'पुरुष' की संरचना के विषय में जान लेता है, वह यह जान जाता है कि किस कारण से 'पुरुष' अपने को मौलिक अर्थों में बँध कर 'कारण' शरीर में बँधता है। 'पुरुष' के अन्दर चलने वाली 'इशानी' श्रुति को चाराओं में मन उदित हो कर जो चित्त की वृत्तियों के संबन्ध उदित होते हैं, वे ही 'पुरुष' द्वारा उस 'कारण शरीर' के धारण करने के कारण बनते हैं। इसी कारण इस शरीर के बन्धन को 'कारण शरीर' का बन्धन कहा जाता है। इसी बन्धन को तोड़ने के लिए साध्य योगी अपनी सभी प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध करता हुआ निर्बीज समाधि को, उसके उपरान्त चर्ममेघ समाधि को सिद्ध करके कैवल्य की स्थिति को प्राप्त करके 'अतिमृत्यु' को प्राप्त करता है और सदा के लिए अक्षर सद्-ब्रह्म में लीन हो जाता है।

यदि 'न' को भी इसी साथ जोड़ दिया जाये तो यही कथन—

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति न" बन जाता है। यहाँ इस कथन में 'विद्' चातु का अर्थ 'प्राप्त करने' के अर्थ में लिया जाता है और 'न' का अर्थ 'वैश्वानराग्नि' के रूप को प्रकट करने वाले देव 'न' कण (Neutron) से लिया जाता है। 'न' कण में से बार-बार 'इल' कण (Electron) निकल जाता है और उस 'न' कण का रूप बार-बार 'चिक्' कण (Proton) में

आवेश (+ve charge) होता है तथा 'कण' में ऋणात्मक आवेश (-ve charge) होता है। अतः ये दोनों 'एक' में 'कण' के अग्रण (Charged particles) बन जाते हैं। ये दोनों 'अग्रण' जब अतिमृत्यु को प्राप्त होते हैं तो ये दोनों सहस्राक्षरा उद्घाटनम् की ऊर्जा के स्वरूप (Form of the radio-active energy in the form of energy radiation in thousand multi-dimensional rays) में बदल कर पुरुष के सहस्राक्षरा स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। इससे अतिरिक्त अतिमृत्यु को प्राप्त करने के लिए इन अग्रणों के पास और कोई रास्ता नहीं होता। दो ही प्रकार के 'अग्रण' होते हैं, या तो वे चनात्मक आवेश वाले होंगे, या ऋणात्मक आवेश वाले होंगे। दोनों प्रकार के अग्रणों के लिए 'अतिमृत्यु' को प्राप्त करने के लिए 'पुरुष' के रूप को (Energy के रूप को) प्राप्त करने के उपरान्त और कोई रास्ता नहीं है।

यदि 'महान्तम्' का अर्थ सब से अधिक महान कर लिया जाये तो -

“वेदाहमेतम् पुरुषम् महान्तम्”- का अर्थ यह बन जाता है कि, “मैं इस उपनिषद् का रचीयता ऋषि इस सब से अधिक महान 'पुरुष' को जानता हूँ। यहाँ “यह-पुरुष” क्या है? 'पुरुष' का सम्बन्ध 'पुर' से बनता है। 'पुर' सृष्टि सृजन की उस इकाई को कहते हैं जो रजःपिण्डों से मिल कर एक अर्धपिण्ड की जड़ रूप में रचना होती है और जिसके अन्दर कोई चेतना युक्त जीव या बहुत से जीव रहते हों। यह एक भव्य भवनों का बना एक नगर बन जाता है जिसमें अनेकों प्राणी रहते हैं। उस अर्धपिण्ड के प्रत्येक रजःपिण्ड की रचना उस अर्धपिण्ड के पुर का भवन बन जाता है और प्रत्येक रजःपिण्ड में रहने वाला मृत की चारा का चेतन स्वरूप उस रजःपिण्ड के भवन में रहने वाला प्राणी है। इस 'पुर' के भवनों में रहने वाले मृत की चारा के चेतन स्वरूप को ही उस 'पुर' का 'पुरुष' कहते हैं। पुरुष की व्युत्पत्ति शास्त्रों में इस प्रकार बताई है - पुरि शैते यः सः पुरुषः। पुरम् सरति यः सः पुरुषः। पुरात् सरति यः सः पुरुषः। पुरम् शान्ति यः सः पुरुषः। पुरस्य गिरिम् शान्तम् यः सः गिरिशान्तः = पुरुषः। इन व्युत्पत्तियों से यहाँ पुरुष शब्द सिद्ध होता है। “पुरि शैते यः सः पुरुषः”, का अर्थ है कि जो 'पुर' में शायन करता है, वह पुरुष है। वह 'पुर' चाहे व्यष्टि रूप में कोई पिण्ड हो या समष्टि रूप में पूरा ब्रह्माण्ड हो। दोनों में से कोई भी हो सकता है। प्रत्येक 'पुर' का अलग-अलग पुरुष होता है। प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त उसका चेतन तत्त्व उस पिण्ड के 'पुर' का 'पुरुष' होता है। हमारा शरीर भी एक 'पुर' है और इस शरीर में विद्यमान चेतन आत्मा 'पुरुष' है। हमारा शरीर अणुओं से मिलकर बना है। अणुओं के पुर में व्याप्त चेतन तत्त्व अणुओं के 'पुर' का 'पुरुष' है।

अणुओं के अन्दर विद्यमान परमाणु (Nucleons) हैं। 'क' कण आदि सभी परमाणु कहलाते हैं। 'क' कण की गिरि में व्याप्त चेतन तत्त्व - 'क' कण की गिरि का 'पुरुष' है। 'क' कण की मौलिक अर्थात् की गिरि में व्याप्त निर्माण विभिन्न देवों द्वारा इस क्षणशील सगुण ब्रह्म असद् के अन्दर बने क्षीरों के सागर - 'क्षीर सागर' - के अभिमन्थन से होता है। विभिन्न देवों में विद्यमान ऋत की चारा का चेतन तत्त्व, उन देवों का 'पुरुष' है। अन्त में 'शिव' अर्थात् रुद्र, विष्णु, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, सवितृ, इन सब में विद्यमान ऋत की चारा का चेतन तत्त्व 'पुरुष' है। अन्त में शुद्ध ब्रह्म, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अक्षर, अव्यक्त ब्रह्म में विद्यमान चेतन तत्त्व वह ब्रह्म स्वयं ही 'पुरुष' है। अतः 'पुरुष' स्वयं ही है। उस स्वयं के अतिरिक्त कोई दूसरा 'पुरुष' नहीं है। भक्त 'मीरा' बड़ी ने भी इसी सत्य पर आरुढ़ होकर कहा था कि - "पुरुष तो सारे विश्व में स्वयं ही है - हम सब तो स्त्रियाँ हैं। क्योंकि हम सब में तो आकर उस ऋत के तेज की चारा अस्त होती है। हम तो संकल्प चारण किये हुए उस ऋत के तेज की चारा अस्त होती है। इन संकल्पों की माया से हिरण्यगर्भ पात्र से हमारे अन्दर वह सत्य स्वरूप 'पुरुष' छिपा हुआ है। उस पुरुष के ऋत का गर्भ चारण करती हुई हम सब स्त्रियाँ हैं। जिस में ऋत की चारा गर्भ को चारण करा कर अस्त को प्राप्त हुई हम सब स्त्रियाँ हैं। जिस में ऋत की चारा गर्भ को चारण करा कर अस्त को प्राप्त करे, उसे स्त्री कहते हैं। इस ऋत के संकल्पों को चारण किये हुए हैं। हमारे संकल्पों का अस्त होना आवश्यक है। जिसका उदय होता है, उसका अस्त होना भी आवश्यक होता है। अतः हम सब स्त्रियाँ हैं। 'पुरुष' तो वही मूलतत्त्व अक्षरव्यक्त होता है। अतः हम सब स्त्रियाँ हैं। 'पुरुष' तो वही मूलतत्त्व निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी, ब्रह्म स्वयं ही है, जो ऋत की चाराओं में बदल कर विभिन्न संकल्पों के द्वारा हम को आवरक किये हुए हैं और हमें नाना प्रकार की योजनाएँ प्रदान कर रहा है। यह इस 'पुरुष' शब्द की एक व्याख्या हुई। दूसरे "पुरम् सरति यः सः पुरुषः" - अर्थात् 'पुर' की ओर सरण-गति करती है जो ऋत की चाराओं के ही पुरुष है। 'पञ्चावर्त' जो ऋत के अन्दर पाँच प्रकार के आवर्तों का स्वयं इकाई में बँधा कर एक आवर्त बनता है, जिसकी रचना का सचित्र वर्णन पीछे किया जा चुका है, उसका सृजन परम व्योम में से चले आ रहे ऋत की चाराओं के पाँच अंशों के पुञ्ज से होता है जो चारों ओर से एक सीमित आयाम के व्योम में प्रवेश करती है। यही पञ्चावर्त किसी भी पिण्ड की रचना की इकाई में चेतना उत्पन्न करने का कारण बनता है। यही उसका चेतन तत्त्व बनता है। अतः जो ऋत की चाराओं का पाँच अंशों का पुञ्ज परम व्योम से आता हुआ किसी सूर्य पिण्ड के सीमित आयाम के ऋत में पञ्चावर्त उत्पन्न करके उसमें चेतना उत्पन्न करता है, वही पुरुष है। यही 'पुरुष' अपनी ऋत की चाराओं के द्वारा एक अणु में तथा एक परमाणु में जो अर्ध-पिण्ड की

रचना का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूप है, उसमें चेतना प्रदान करता है और बड़े से बड़े बने ब्रह्मस्पीति 'आदि ग्रहों' के अर्ध-पिण्डों में भी चेतना प्रदान करता है। इसी से वे सभी छोटे-बड़े अर्ध-पिण्ड गति को प्राप्त होकर चेतना में गतिमान हो जाते हैं और अपने अर्ध-पिण्ड के स्वरूप को बनाये रखते हैं, अपने को एक इकाई के पाश में बाँध कर रख पाते हैं। 'पुरुष' की संरचना का दशांगुल स्वरूप जो ऋत की चारा 'ईशानी' का एक अत्यन्त सूक्ष्म रूप होता है वह 'क' कण के मौलिक अर्थों में प्रवेश करके दशमौलिक अर्थों को पोषण, चेतना प्रदान करता है। यह एक मौलिक अर्थ के सूक्ष्मातिरूप अर्ध पिण्ड में प्रवेश करके चेतना उत्पन्न करने वाला चेतनतत्त्व 'पुरुष' का रूप है। जैसे-जैसे किसी अर्धपिण्ड की रचना का आकार बड़ा होता चला जाता है, वैसे-वैसे रुद्र अपनी 'ईशानी', ऋत की चाराओं के जाल को और अधिक बड़े व्योम के आग्राम में फैलाता चला जाता है और उसके द्वारा निर्मित उस पुरुष का स्वरूप उस अर्ध-पिण्ड के पूरे व्योम में तथा उसके आग्रामण्डल के व्योम में अपना प्रमाण क्षेत्र बना लेता है। इस प्रकार छोटे से छोटे और बड़े-बड़े अर्धपिण्ड के 'पुर' की और सरण गति करने वाला यह ऋत की चारा का प्रवाह जो उस पुर का सृजन करके उसको पोषण प्रदान करता है तथा उसको चेतना प्रदान करता है, वही 'पुरुष' है। इसी कारण "पुरम् सरति यः सः पुरुषः" कहा है। स्थान रहे 'पुरुष' अर्धपिण्ड का सृजन, पोषण, तथा चेतना प्रदान करता है, और अन्त में संहार भी करता है। अतः 'पुरुष' का ही प्रकृति में यह सारा बदला हुआ रूप माना जाता है। इसी कारण आगे इसी अध्याय के पन्द्रहवें मन्त्र में इसी बात को स्पष्ट कर दिया गया है। मन्त्र है - "पुरुष स्वैदं सर्वम् यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृत तत्वस्येशानी यदन्नेनातिरोहीत ॥" इस मन्त्र की पूरी व्याख्या इससे स्थान पर ही करेंगे। यजुर्वेद में भी 'पुरुष' को पोषण करने वाला पूषन् बता कर इसी प्रकार व्याख्या की गई है। मन्त्र है - "पूषन्नेकैषे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते स्वप्नं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥" (यजुर्वेद 40, 16)। अर्थात् ऋत की चारा के रूप में स्वामी रखने वाला स्वर्गर्षि, पोषण करने वाला पूषन्, रचना की एक इकाई के पाश में बाँध कर नियन्त्रित करने वाला यम, सरण गति करते हुए प्रत्येक रचना के पद के सूर्य-द्वार पर रचना को जमा रूप देने वाला सूर्य, और प्राजापति 'ब्रह्मा' से उत्पन्न होकर ऋत की चाराओं के व्यूह से बनी रश्मियों का समूह, वह पुरुष है। उस 'पुरुष' का जो तेजोमयी सर्वाधिक

कल्याण करने वाला रूप है, उसको मैं (इस मन्त्र का रचयिता ऋषि) देख रहा हूँ। जो यह 'पुरुष' है, वही चेतन स्वरूप में, मैं अपनी 'आत्मा' के स्वरूप में हूँ।

तीसरे-“पुरात् सरति यः सः पुरुषः”- अर्थात् 'पुर' से बाहर निकल कर जो चला जाता है और जिसके बाहर निकल जाने के उपरान्त उस 'पुर' का स्वरूप छिन्न भिन्न हो जाता है, वही 'पुरुष' है। जब तक यह 'पुरुष' ऋत की चाराओं के प्रवाह के रूप में किसी अर्ध-पिण्ड के 'पुर' में प्रवेश करता हुआ उस अर्धपिण्ड के पूरे आयाम के व्योम के प्रभाव क्षेत्र में अपना आवर्त बना कर उस अर्धपिण्ड को सब इकाई के पाश में बाँधता हुआ उसे पौषण प्रदान करता हुआ उसे चेतना प्रदान करता रहता है, तब तक वह अर्धपिण्ड जीवात्मा से युक्त होकर सचेत कहलाता है। जब उन ऋत की चाराओं के प्रवाह में कोई विघ्न उत्पन्न हो जाता है और उस अर्धपिण्ड के पूरे आयाम के व्योम में उस ऋत का आवर्त सुचारु रूप से नहीं बन पाता, तो उस अर्ध-पिण्ड की चेतना समाप्त हो जाती है। उसमें से प्राण निकल जाते हैं और उस ऋत के आवर्त का वह विशेष आवेश जो उस अर्ध-पिण्ड को इकाई को यम बन कर नियंत्रित करता हुआ सब इकाई के पाश में बाँधे हुआ था, वह बाहर निकल जाता है। इस प्रकार उसके आवेश के बाहर निकलने पर उस अर्ध-पिण्ड को इकाई का रचना का स्वरूप छिन्न-भिन्न हो जाता है। वह उस अर्ध-पिण्ड को मृत्यु कहलाती है। वह बाहर निकलने वाला ऋत के आवर्त का आवेश उस अर्धपिण्ड को 'आत्मा' या 'जीवात्मा' कहलाती है। वही उस 'पुर' से बाहर निकलने वाली जीवात्मा या आत्मा का स्वरूप ही 'पुरुष' है। यह 'पुरुष' का स्वरूप उस अर्ध-पिण्ड के प्रत्येक अणु तथा प्रत्येक परमाणु से बाहर निकल जाता है। यही पुरुष प्रत्येक अर्धपिण्ड की गिरि को या उस अर्धपिण्ड में स्थित प्रत्येक अणु (Atom) तथा प्रत्येक अणु में स्थित परमाणु (Nucleon) की गिरि (Granule) का शमन करके 'शम' का सुख प्रदान करता है। अतः गिरिशान्त के रूप में 'इशानी' का चाराओं के जाल वाला 'रुद्र' ही वह 'पुरुष' का स्वरूप बनता है जो इस परम व्योम में महेश्वर के रूप में स्थित है।

यहाँ इस अध्याय में प्रसंग 'रुद्र' का, उसकी 'इशानी' ऋत की चाराओं के जाल का चल रहा है। उस 'इशानी' ऋत की चाराओं के जाल द्वारा ही इस 'पुरुष' की सब इकाई की रचना का स्वरूप बनता है जो सभी अर्ध-पिण्डों के शरीरों का सृजन, पौषण, चेतना युक्त बनाने तथा अन्त

में उसका संहार करने का कार्य करता है। वही 'पुरुष' - पूषन्, सूर्य, यम, सूर्य, प्रजापति से उत्पन्न होने वाली रीतिमयी के समूह का गूढ़ बन कर, सभी रूपों में कार्य करता है।

'विद्' धातु का अर्थ 'जानने' और 'प्राप्त करने' इन दोनों अर्थों में लिया जाता है। अतः "वेदाहम् रतम् पुरुषम् महान्तम्" का अर्थ यह भी बनता है कि, "मैं ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करने वाला मुमक्षु योगी अपनी योगसाधना द्वारा उस सब से महान 'पुरुष' को जानूँ और उसे अपने योगाभ्यास द्वारा सिद्ध करके उसके शुद्ध स्वरूप कैवल्य के रूप को प्राप्त करूँ।" साधक के इस लक्ष्य को उसका गुरु अपने उचित मार्गदर्शन द्वारा प्राप्त कराता है। गुरु भी अपने योगाभ्यास द्वारा पुरुष के कैवल्य रूप को प्राप्त करने का अभ्यास करता रहता है। इसी कारण सभी साधकों में से प्रत्येक साधक और सभी गुरुओं में से प्रत्येक गुरु कहता है कि मैं उस सर्वाधिक महान पुरुष के कैवल्य रूप को जानूँ और उसे प्राप्त करूँ। यही इस, "वेदाहमेतम् पुरुषम् महान्तम्" वचन का अर्थ बनता है। अब कैसे जानें? कैसे प्राप्त करें? इन प्रश्नों का उत्तर पूरा योगशास्त्र का विस्तृत अध्ययन का क्षेत्र प्रदान करता है। इसका वर्णन इस पुस्तक के सीमित आयाम की परिधि में नहीं किया जा सकता। उसे योगशास्त्रों में अलग से देखें।

अगले मन्त्र में 'पुरुष' के स्वरूप को और समझाया गया है।

यस्मात् परम नापरमस्ति विचिन्वत्

यस्मान्नणीयौ न ज्यायौ ऽस्ति विचिन्वत् ।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येव -

स्तेनैदम् पूर्णम् पुरुषेण सर्वम् ॥ ७

परा शक्ति के पर क्षेत्र में जिससे परम अर्थात् बड़ा अथवा और अधिक परा शक्ति वाला और कोई नहीं है। सूक्ष्मता में जिससे अधिक सूक्ष्म छोटे आकार का और कोई उत्पन्न नहीं हुआ है। अर्थात् पुरुष की श्रुति की धारा में चलने वाले असद् ब्रह्म के क्षरण जो सद् ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होने से क्षरण के द्वारा टूट-टूट कर बनते हैं, वे सब इन्हीं में उत्पन्न होने वाले सब से अधिक छोटे अवयव हैं। उनसे सूक्ष्म और कोई नहीं है। तभी तो वे 'पुरुष' की श्रुति की धारा में बहते हुए सभी में 'पुरुष' की चेतना का आवेश भर देते हैं। सब से अधिक सूक्ष्म होने के कारण वे छोटे से छोटे परमाणु के मौलिक अर्थ के रज्जु में भी प्रवेश करके वे अपनी चेतना का आवेश भर देते हैं।

यह पुरुष द्यौ के अन्दर अकेला स्तब्ध होकर सब वृक्ष की भाँति स्थित रहता है। अर्थात् जैसे वृक्ष में बहुत जड़े भूमि को पकड़ कर खड़ी हैं और

उस भूमि से अपना भोजन चूस कर अपना पोषण प्राप्त करती रहती हैं, उसी प्रकार दूध में स्थित रक्त क्षीर की भूमि से पुरुष की श्रुत की चाराओं असक्त ब्रह्म के क्षीरों की अपनी श्रुत की चाराओं के प्रवाह में चूसती रहती हैं और अपना पोषण प्राप्त करती रहती हैं। जिस प्रकार भूमि में से वृक्ष का रक्त तना ऊपर की रक्त अक्ष पर रक्त शीर्ष में निकलता है, उसी प्रकार पुरुष की श्रुत की चारा भी रक्त अक्ष पर रक्त शीर्ष में रक्त क्षीर से निकलती हैं। रक्त क्षीर से सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में ही श्रुत की चाराओं निकलती हैं। अतः रक्त अक्ष पर रक्त शीर्ष वृक्ष के तने की भाँति ही निकलता है। जैसे वृक्ष में तने में आगे शाखाएँ बन जाती हैं, उसी प्रकार पुरुष के रक्त शीर्ष की श्रुत की चारा में सहस्र पाद बन जाते हैं। जैसे वृक्ष की रक्त शाखा में आगे टहनियाँ हो जाती हैं, उसी प्रकार पुरुष की श्रुत की चारा के रक्त पाद में दश उँगलियाँ श्रुत की चाराओं की बन जाती हैं। जिस प्रकार वृक्ष की टहनियाँ आगे बढ़ती हुई पत्तों, फूलों, फलों पर जाकर अति रूप से आगे बढ़ने से रक्त कर ठहर जाती हैं और रक्त ही स्थान पर रक्त जाती हैं, उसी प्रकार पुरुष की दशांगुल रूप की श्रुत की चाराओं अपने चौत्तीस अर्णवों की दूरी रक्त 'अश्व' की लम्बाई की चल कर अपनी सारी भूमि पर फैल कर अति रूप से रक्त जाती हैं और अपने पत्तों, फूलों के रूप में दशमौलिक अर्धों का सृजन कर देती हैं। 'पुरुष' के दशांगुल रूप की श्रुत की चारा के अश्व 'महिजातं' रूप में बदल कर मौलिक अर्धों में बदल जाते हैं। तीन अर्णवों के रक्त स्थान पर रक्तत्रित होने से बने 'त्रित' देवता के सव्यन स्वरूप से रक्त मौलिक अर्ध की संरचना हो जाती है। जैसे वृक्ष उस समय आकाश में स्तब्ध होकर खड़ा रहता है, जबकि वायु का चलना बिना रुक बन्द होता है, उस समय वृक्ष की प्रत्येक टहनी, प्रत्येक पत्ता, प्रत्येक शाखा, और उस वृक्ष का तना अपने स्थान से बिना हिले अपनी रक्त ही अवस्था में स्थित रह कर स्तब्ध हो कर खड़े रहते हैं, उसी प्रकार दूध के अन्तर पुरुष की श्रुत की चाराओं के सहस्र शीर्ष, सहस्र पाद, दशांगुल तथा अतिरूप से ठहरने के कारण बने दशमौलिक अर्ध भी अपने-अपने स्थान पर अडिग रूप से टिके रहते हैं। अतः जैसे आकाश में वृक्ष स्तब्ध होकर स्थित रहता है, उसी प्रकार दूध में स्तब्ध होकर 'पुरुष' भी स्थित रहता है। पृष्ठ (79) पर 'पुरुष' की रचना का चित्र देखें जो वृक्ष की जैसी आकृति का बनता है।

उसी 'पुरुष' की श्रुत की चाराओं के जाल द्वारा यह सारी सृष्टि पूर्ण रूप से भरी हुई है। इस सृष्टि के अन्दर छोटी से छोटी परमाणु आदि की रचना से लेकर बड़ी से बड़ी सूर्य आदि की रचना तक जितनी भी छोटी-बड़ी रचनाएँ हैं, वे सभी रचनाएँ 'पुरुष' की श्रुत की चाराओं से पूर्ण हो कर भरी

"यस्मात् परम् न अपरम् अस्ति किञ्चित्" - कथन का अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। प्रथम् तो 'परा' तथा 'अपरा' शक्ति से युक्त करके अर्थ किया जाता है। 'परा' शक्ति से युक्त देव 'परम्' कहलाता है तथा 'अपरा' शक्ति से युक्त देव 'अपरम्' कहलाता है। 'परम्' देव की रचना 'पर-क्षेत्र' में (In the field of high intensity of energy) होती है तथा 'अपरम्' देव की रचना श्रुत के 'अवर-क्षेत्र' (In the field of low intensity of energy) में होती है। 'पर-क्षेत्र' में रचित देवों का स्वरूप केवल 'श्रुत' का बना होता है और 'अवर-क्षेत्र' में रचित देवों का स्वरूप श्रुत के साथ-साथ श्रुत से बने मौलिक अर्थों द्वारा (By basic mass-particles) भी बना होता है। अर्थात् 'पर-क्षेत्र' के देव mass-less तथा 'अवर-क्षेत्र' के देव containing mass होते हैं। जिन देवों के अन्दर मौलिक अर्थों से बने पदार्थ के द्रव्य की मात्रा (mass) भी होती है, उन्हें देव के स्वरूप में बताने के लिए 'न' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। शब्द कोष के अनुसार 'न' का अर्थ 'देवता' और 'गणेश' में दोनों होते हैं। सबसे बड़ा ऐसा 'न' देव 'न' कण (Neutron) वह होता है जो भू-लोक में अणु की जगह में घृतपृष्ठ में 'वैश्वानर अग्नि' का कण होता है। उसमें विश्व (= सारे) देवगण श्रुत के साथ समाहित हो जाते हैं, अतः वह गणेश है। उसको 'वैश्वानर' - 'न' कहा जाता है। वह 'अपरा-शक्ति' की ऊर्जा से युक्त होकर 'अपरम्' - 'न' बन जाता है। यह 'अपरम्' - 'न' परा शक्ति से युक्त 'श्रुत' के बने 'परम्' देव से ही बनता है। अतः "यस्मात् परम् न अपरम् अस्ति किञ्चित्" - कथन का अर्थ बनता है कि जिस से निकला हुआ प्रत्येक 'परम्' तथा 'न' - 'अपरम्' देव है। चाहे वह परम् देव है, चाहे न - अपरम् देव है, जो कुछ भी है, वह 'पुरुष' की श्रुत की चारा के निकलने से ही बना हुआ है।

दूसरा अर्थ - 'परा' शक्ति में 'परम्' इस 'पुरुष' से और कोई भी अधिक नहीं है, क्योंकि 'पुरुष' का मूल उद्गम स्थल विष्णु का सर्वाधिक शक्ति वाला 'पर' रूप है और वह इसका सदा अंग है।

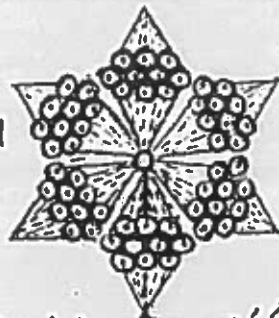
तीसरा अर्थ यह निकलता है कि "जिस में से 'परा शक्ति' के 'परम्-देव' के निकलने के उपरान्त 'अवर-शक्ति' के 'अपरम्-न' की रचना होती है" अर्थात् 'न' में से कुछ Energy की Intensity निकल जाती है और शेष बची ऊर्जा की Intensity से 'न' देव की रचना

होती है। तभी तो पुरुष की Energy की अधिक Intensity उस 'न' कण की Intensity को प्रतीत (over power) करके नियन्त्रित कर जाती है। अतः पुरुष से 'परम' कोई भी 'अपरम' देव अधिक शक्ति वाला नहीं है।

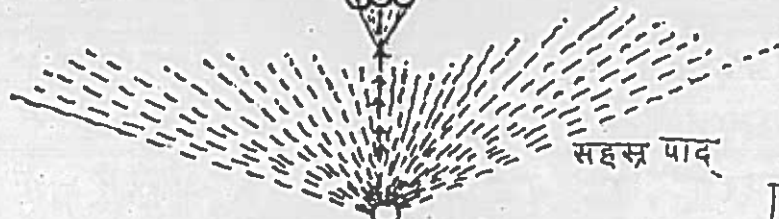
चौथे अर्थ में पुरुष का विस्तार परम व्योम में लिखा जाता है। व्योम का आयाम सीमित क्षेत्र में होता है, परमव्योम का क्षेत्र असीमित अनन्त क्षेत्र में होता है। असद्-ब्रह्म और सद्-ब्रह्म अनन्त परमव्योम में व्याप्त हैं। पुरुष भी अपनी ऋतु की चाराओं के द्वारा उस असीम अनन्त परमव्योम में सर्वत्र व्याप्त है। अतः विस्तार के क्षेत्र में भी पुरुष से बड़ा और कोई नहीं है। यह अर्थ इस व्यंजन का निष्फलता है। पुरुष की गति सर्वत्र है, इससे आगे गति किसी की भी नहीं है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ 'पुरुष' की गति न हो।

वृक्ष की जैसी आवृत्ति पुरुष की निम्न चित्र में देखें —

यस्मात् परमं नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नणीयो न ज्योमोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दीवतिष्ठत्येक-
स्तेनैवम् पूर्णम् पुरुषेण सर्वम् ॥

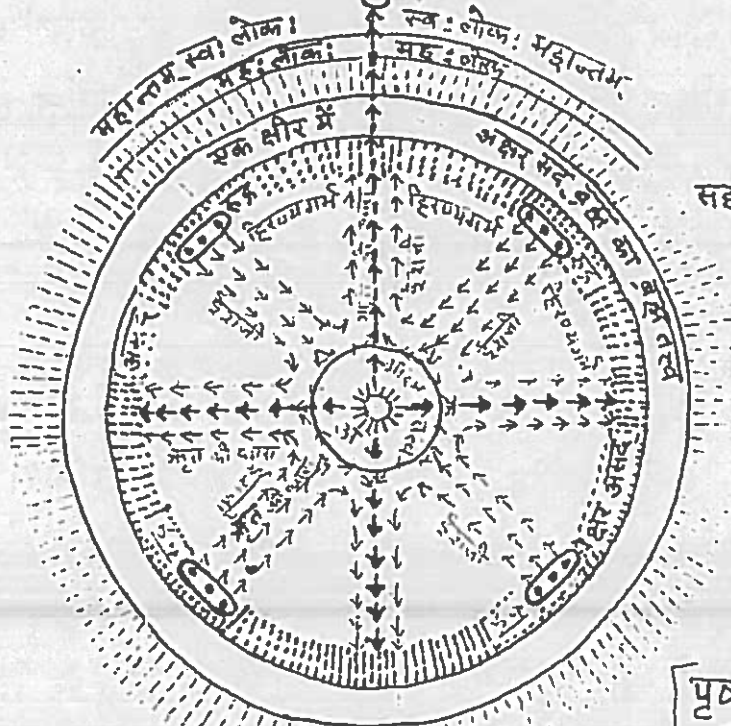


स भीमं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्



सहस्र पाद

चित्र = 51



सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः

द्यौं में पुरुष
की रचना का
चित्र

पृष्ठ 14 पर बना चित्र
भी देखें / अध्याय-1

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् ।

य सततमिदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि धन्ति ॥ 10

उस 'पुरुष' से जो ऊपर का श्रेष्ठ 'ब्रह्मतत्त्व' है वह बिना किसी रूप-वाला तथा बिना किसी नाम वाला है। जो इस अरूप और अनामय ब्रह्मतत्त्व को जान लेते हैं और इसे प्राप्त कर लेते हैं, वे ही अमर हो जाते हैं। जो इसको नहीं जान पाते और प्राप्त भी नहीं कर पाते वे दूसरे लोग दुःख ही प्राप्त करते हैं।

इस पुरुष की श्रुत की चारों ओर के स्वरूप से ऊपर का जो श्रेष्ठ तत्त्व है वह तो अक्षर सद्-ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व ही है। क्योंकि सद्-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर तो वह असद्-ब्रह्म का क्षर स्वरूप बन जाता है। उन्हीं क्षरों से रुद्र का स्वरूप बन कर पुरुष की श्रुत की चारों ओर बनती है। अतः 'पुरुष' भी असद्-ब्रह्म का ही स्वरूप है। उस असद्-ब्रह्म से ऊपर का श्रेष्ठ स्वरूप तो वही सद्-ब्रह्म है जिससे क्षरण से यह असद्-ब्रह्म बनता है। वह सद्-ब्रह्म अक्षर है, निर्गुण है, निराकार है, अनन्त है, सर्वव्यापी है। उसका न कोई रूप है, न कोई नाम है। क्योंकि रूप की आवृत्ति तभी बनती है, जब सद्-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर उससे क्षरों वाला असद्-ब्रह्म बन जाता है। उससे पश्चात के 'क्षर' विभिन्न संकल्पों के अनुसार व्यवस्थित होकर विभिन्न प्रकार की आवृत्तियों के रूपों वाले देवों का सृजन करते हैं। जब उन देवों में विभिन्न प्रकार के स्वरूप तथा विभिन्न प्रकार के क्रिया करने के गुण आ जाते हैं, तभी हम उन देवों को उनके रूप, गुण के अनुसार कोई नाम दे पाते हैं। जिसका कोई रूप या गुण ही नहीं है, उसे हम कोई नाम भी नहीं दे पाते। अतः वह सद्-ब्रह्म का 'ब्रह्मतत्त्व' बिना किसी रूप का और बिना किसी नाम का है। वही सारी सृष्टि का मूलतत्त्व है। पीछे पृष्ठ 365 पर बनीं पुरुष की आवृत्ति में, "एक क्षीर में अक्षर सद्-ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व" का चित्रण देखें। उसी इसी कारण श्वेत छेड़ कर दिखाया गया है कि वह 'अरूप' और 'अनामय' है। उसमें किसी प्रकार की कोई हलचल किसी भी प्रकार की क्रिया की नहीं होती। वह क्षणविहीन एवम् रूप में अक्षर बना हुआ है। वह निर्गुण निराकार है। इस पुरुष से ऊपर का श्रेष्ठ स्वरूप यही अक्षर सद्-ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व है।

अनन्त सर्वव्यापी परमव्योम में स्थित सद्-ब्रह्म जब क्षरण को प्राप्त होता है तो उसके अनेकों 'क्षर' क्षरण के पश्चात बन जाते हैं। एक क्षर' उस सद्-ब्रह्म का एक सीमित आयाम के व्योम में एक सीमित परिमिति का अंश होता है। अतः उस एक क्षर' में भी अक्षर सद्-ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व होता है जो एक सीमित व्योम के आयाम में स्थित होता है। उस सीमित आयाम में स्थित एक क्षर' के अन्दर विद्यमान सद्-ब्रह्म के अक्षर 'ब्रह्मतत्त्व' को ही

पृष्ठ (365) पर बनी आकृति में, "सर्व क्षीर में अक्षर सद्-ब्रह्म का ब्रह्म तत्त्व" नाम से दिरवाया गया है। इन्हीं ब्रह्म तत्त्वों के स्वरूप में अन्दर की ओर तथा बाहर की ओर पुनः क्षरण होता है। उस क्षरण से बने क्षीरों के द्वारा ऋत की रचना होती है। जो क्षरण अन्दर की ओर होता है, उससे ऋत में रुद्र का अवतरण होता है जो ऋत को चूस कर सर्व पिण्डों में अवसृष्ट करता है, फिर उस पिण्डों में से तीन अक्षों द्वारा तीन ऋतों की चाराये फैलता है। इन्हीं ऋतों की चाराओं से पहले हिरण्यगर्भ की रचना होती है, फिर आत्मतत्त्व का अण्ड बन कर उसमें विष्णु का पराशक्ति से युक्त अवतरण होता है। वह विष्णु अपनी पराशक्ति से ऋत की चाराओं को प्रथम निर्मित क्षर के क्षीर से बाहर तक फैल देता है। यह ऋत उस ब्रह्मतत्त्व के बाहर होने वाले क्षरण के ऋत से मिल कर सर्व क्षीर के सभी ओर सहस्र चाराये प्रवाहित कर देता है जो सहस्र अक्षों पर चलती हैं। इस प्रकार उस "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः" की रचना हो जाती है। इसी पुरुष के सर्व शीर्षों के आगे सहस्र पाद बनते हैं और सर्व पादों की दस उँगलियाँ बन जाती हैं। इन दस उँगलियों के क्षीरों पर ऋत की चारा का प्रवाह रुक जाता है और वहाँ पर तीन अण्वों के त्रित से मौलिक अर्थों की रचना होकर दशमौलिक अर्थों से सर्व का अणु बन जाता है। यही का अणु प्रत्येक प्रतिमा के पदार्थ के द्रव्य का मौलिक रजवण बनता है और इस प्रकार अणु को नीम से प्रत्येक देव की प्रतिमा बन जाती है। इस पुरुष का 'सहस्रशीर्षा' रूप प्रारम्भ में महः लोच के अन्त में स्वः लोच के अन्दर बनता है, अतः इस पुरुष को 'महान्तम्' भी कहा जाता है। महः लोच का 'ईश्वर' होने के कारण ही यह 'महेश्वर' भी कहलाता है। पुरुष 'ही महेश्वर' या 'मायिन' कहलाता है। रुद्र द्वारा प्रसारित ऋत की चाराओं के द्वारा ही इस 'पुरुष' की रचना होती है। अतः रुद्र भगवान को भी इस पुरुष के रूप में महेश्वर या मायिन कहा जाता है। इन्हीं रुद्र की ऋत की चाराओं से सर्व क्षीर के केन्द्र में आत्मतत्त्व का अण्ड बनता है, जिस आत्मतत्त्व के अण्ड के केन्द्र में विष्णु की पराशक्ति की क्षरण की ज्योति जलती रहती है। यही विष्णु की ज्योति उस आत्मतत्त्व के अण्ड को सक्रिय रखती है और उसे 'पुरुष' के स्वरूप में बाँधे रखती है, जिससे जीवात्मा का स्वरूप बन जाता है। जीवात्मा का स्वरूप पूरे शरीर के अर्धपिण्ड के क्षीरों में व्याप्त सभी 'पुरुषों' का समन्वित स्वरूप होता है जो उस शरीर के क्षेत्र में सर्व इच्छा में बँध कर कार्य करता है। इस प्रकार 'पुरुष' से ही आत्मा तथा जीवात्मा का स्वरूप बनता है।

यह जीवात्मा का स्वरूप 'पुरुष' की ऋत की चाराओं के कारण ही उस सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व से अलग होता है। 'पुरुष' की रचना ऋत की चाराओं से होती है, और ऋत की रचना असद् ब्रह्म के क्षीरों से होती है।

असद्-ब्रह्म के प्रेरण उस सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व में क्षरण के कारण बनते हैं और 'ब्रह्मतत्त्व' में क्षरण सृष्टि सृजन की इच्छा की कामना के उदय से होता है। अतः सृष्टि सृजन में सब से आगे का कारण 'काम' बनता है। इसी को ऋग्वेद में, "कामस्तदग्रे समवर्ततामि" (ऋग्वेद-10, 129, 4) कह कर बताया है। अतः यदि कोई योगी अपनी योगसाधना के द्वारा अपनी जीवात्मा के पुरुष के ऋत में उदित होने वाले इस 'काम' को पूर्ण रूप से दबध करके समाप्त कर दे और सभी प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध करता हुआ अपनी जीवात्मा के पुरुष के ऋत के क्षरों में 'काम' के नये संकल्पों को उदित न होने दे तो उसके जीवात्मा के 'पुरुष' के क्षरों में आगे क्षरण होना बन्द हो जायेगा और उसके पुरुष में स्थित असद्-ब्रह्म से पुनः सद-ब्रह्म का स्वरूप बन जायेगा। असद् से सद उत्पन्न होना ऋग्वेद में ब्रह्मर्षियों ने, "देवानां पूर्वे मुनेऽसतः सदजायत" (ऋग्वेद-1, 72, 2) कह कर बताया है। अर्थात् स्वयं क्षीर के अण्ड में सद-ब्रह्म के अक्षर ब्रह्मतत्त्व में अन्दर की ओर क्षरण होकर जहाँ सद-ब्रह्म से क्षरों का असद्-ब्रह्म बनता है, वहीं जब ऋत की धारों अपना संकल्प स्वत्म करके पुनः असद्-ब्रह्म में पहुँचती हैं तो वहाँ असद्-ब्रह्म पुनः सद-ब्रह्म में मिल कर जुड़ जाता है। इस प्रकार उस स्वयं क्षीर के ब्रह्मतत्त्व में क्षरण की प्रक्रिया का चक्र निरन्तर चलता रहता है और उससे पुरुष की ऋत की धारा निरन्तर बनी रहती है और देवताओं की रचना के पूर्व युग में उस क्षीर के अन्दर ही असद् से सद भी उत्पन्न होता रहता है। हिरण्यगर्भ का जो चक्र रुद्र की प्रेरित ईशानी ऋत की धाराओं के द्वारा बनता है, देवों की रचना के उस पूर्व युग में ही सद-अक्षर से क्षरण हो कर असद् उत्पन्न होता रहता है और असद् के 'क्षर' पुनः उस अक्षर ब्रह्मतत्त्व में जुड़ कर सद को उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार रुद्र की ईशानी ऋत की धाराओं के द्वारा हिरण्यगर्भ के ऋत की धाराओं का चक्र बना रहता है। इसी चक्र से पुरुष का सृजन हो कर सभी देवताओं का उस पुरुष द्वारा जन्म हो जाता है और सारी सृष्टि का स्वरूप प्रकट हो जाता है।

अतः जब योगी अपनी योगसाधना के द्वारा इस सृष्टि सृजन के मूलकारण काम को पूर्ण रूप से दबध कर देता है और 'काम' के किसी भी नये संकल्प को अपनी जीवात्मा के पुरुष की ऋत की धाराओं के क्षरों में उदित नहीं होने देता तो उसके पुरुष के क्षरों के 'आत्मतत्त्व' के सभी अण्ड उन क्षरों के ब्रह्मतत्त्व के अण्डों में मिल जाते हैं। उस समय उस योगी की जीवात्मा के कारण शरीर के बन्धन से मुक्ति मिल जाती

हैं और उस योगी की जीवात्मा उन क्षीरों के 'ब्रह्मतत्त्व' के अमृत स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। उस अवस्था में उस योगी की जीवात्मा जीवन-मरण के चक्र से छूट कर इस सृष्टि में प्राप्त होने वाले सभी दुःखों से छूट जाती है। क्योंकि सृजन का नाम ही जीवन-मरण है। जो पैदा होता है, वह मरता अवश्य है। जब पैदा ही नहीं होगा तो मरना भी नहीं। अतः जब सृजन के चक्र से हट जायेगा तो इस सृष्टि के दुःखों से भी हट जायेगा। जो इस सृजन के चक्र में फँसा रह जायेगा वह इस सृष्टि में उत्पन्न होने वाले सभी दुःखों को भोगता रहेगा। सृजन के चक्र से तभी छूटता है जब उसकी जीवात्मा के आत्मतत्त्वों के अण्ड 'ब्रह्मतत्त्व' के अण्डों में अपना क्षरण समाप्त करके समाहित हो जाते हैं। 'आत्मतत्त्व' के अण्डों का क्षरण तभी समाप्त होता है जब क्षरण उत्पन्न करने का कारण 'काम' समाप्त हो जाये। योगी अपनी योग साधना में अपने चित्त को सभी वृत्तियों का निरोध करके इसी 'काम' को समाप्त करता है और अपने सभी वृत्तियों का निरोध करके इसी 'काम' को समाप्त करता है और अपने अमृत स्वरूप को प्राप्त करता है। यह कार्य दृढमति से निश्चित रूप से सफलता प्राप्त करने के लिए तभी होता है जब योगी साधक को 'पुरुष' की प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान हो। इसी लिए इस मन्त्र में यहाँ, "यस्तद्विदुः प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान हो। इसी लिए इस मन्त्र में यहाँ, "यस्तद्विदुः अमृताः ते भवन्ति" - कहा है। अर्थात् जो इस 'पुरुष' को जान लेते हैं, वे योग साधना में सफल हो कर अमर हो जाते हैं और दूसरे दुःखों को भोगते रहते हैं। वे साधक बनने की योग प्रक्रियाओं में अपने शरीर को व्यर्थ में ही व्यर्थ देते रहते हैं। जब तब पुरुष का पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तब तब योग साधना में निश्चित रूप से सफलता प्राप्त नहीं होगी और वे वल्य की अवस्था को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

इस प्रकार जो 'पुरुष' से उत्तरतर रूप सद्-ब्रह्म का 'ब्रह्म-तत्त्व' का मूलतत्त्व बिना रूप का और बिना नाम का है, उसको जो जान लेते हैं और प्राप्त कर लेते हैं, वे सृष्टि के सृजन के चक्र से छूट कर अमर हो जाते हैं और दूसरे जो इस सृजन के चक्र से नहीं छूट पाते हैं वे सृष्टि में फँसे रह कर सृष्टि के दुःखों को ही प्राप्त करते रहते हैं। सृष्टि में पञ्चव्यैशों से उत्पन्न होने वाला दुःख सदैव बना रहता है।

क्षीर के अन्दर 'पुरुष' से उत्तरतर सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व का बिना रूप का और बिना नाम का वह मूलतत्त्व किस प्रकार का है? इसे अगले मन्त्र में बताया जा रहा है।

सर्वानन द्विरीजीवः सर्वभूत गुहाशयः ।

सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥ ॥

[वह 'पुरुष' से उत्तरतर सद-ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व जो रुख क्षीर के अण्ड में स्थित है] वह 'भग' देवता से मुक्त होकर बना भगवान सब और मुख वाला, सब और शिर वाला, सब और ग्रीवा (हार्दन) वाला है। वह पञ्चमहाभूतों के प्रत्येक भूत के प्रत्येक रजःका की गुप्ता में बैठा हुआ है। वह सर्वव्यापी है। उसी ब्रह्मतत्त्व के कारण से उत्पन्न असद्-ब्रह्म के ऋत को अवसद्ध करके बने रुद्र, रुद्र की ऋत की चाराओं से बनी 'ईशानी' के 'शिव' स्वरूप के द्वारा वह कल्पाण करने वाला रुद्र 'शिव' रूप में सब जगह गया हुआ है। अर्थात् उस सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व से निष्कल कर ही शिव भगवान सब जगह गये हुए हैं और सर्वव्यापी हैं।

सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में जब रुख क्षीर के अन्दर, अन्दर की ओर, तथा बाहर की ओर क्षरण के क्षरों से बन कर ऋत की चाराये चलती हैं और वे सब और से चल कर उस सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व में भी आती हैं तो उन ऋत की चाराओं में आये क्षर उस सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व में समाहित होकर जुड़ जाते हैं। इस प्रकार सद-ब्रह्म से असद्-ब्रह्म के ऋत का उत्पन्न होने का और असद्-ब्रह्म के ऋत के क्षरों से सद-ब्रह्म के उत्पन्न होने का चक्र चला जाता है। जब रुख क्षीर के अन्दर स्थित वह ब्रह्मतत्त्व का अण्ड सब और से आने वाली ऋत की चाराओं के क्षरों को अपने अन्दर समाहित करके खाता है और अपने अन्दर जोड़ लेता है तो वह सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व का अण्ड सब और खाने वाले मुखों वाला हो जाता है।

जब उस क्षीर के सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में क्षरण उत्पन्न होकर क्षरों से बने ऋत की चाराओं के शीर्ष सहस्र अक्षों पर सब और निष्कलते हैं तो वह उस क्षीर का ब्रह्मतत्त्व का अण्ड सभी और शिर वाला हो जाता है।

जब ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में से 'पुरुष' की सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में ऋत की चाराये निष्कलती हैं और आगे चलकर जब रुख अक्ष पर चलने वाले शीर्षों में क्षरण का और विस्फोट होता है तो उस विस्फोट से ऋत का रुख गोला सा बनता है, जिसमें से बाद में ऋत की चाराओं के बन कर पुरुष के सहस्र पाद निष्कलते हैं। इस विस्फोट के द्वारा रुख शीर्षों में जो ऋत का रुख छोटा सा गोला बनता है, वह रुख गोल शिर बन जाता है और उस से पहले की बनी ऋत की चारा उस

क्षिर की ग्रीवा बन जाती है। इस प्रकार उस क्षीर का वह ब्रह्मतत्त्व का अण्ड सब ओर क्षिर वाला तथा सब ओर ग्रीवा वाला बन जाता है।

जब भी कोई रजवर्ण बनता है, चाहे वह सब से सूक्ष्म रज मौलिक अर्ध (Basic mass particle) का रजवर्ण हो क्यों न हो, उसकी रचना सदैव उसकी अन्दर में स्थित सब क्षीर के सभी ओर अन्य क्षीरों के लिपटने से चिपक कर बने क्षीरों से तथा चिपकने वाले क्षीरों के सघन रूप से बने मौलिक अर्धों से और मौलिक अर्धों के सघन रूप से बने अन्य रजवर्णों के चिपकने से बनती है। इस प्रकार सृष्टि की प्रत्येक रचना के मौलिक स्वरूप में क्षीर स्थित होते हैं और प्रत्येक क्षीर के अन्दर अक्षर सद्ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व का अण्ड विद्यमान होता है। प्रत्येक रजवर्ण का स्वरूप उन क्षीरों के गहन (Dense) स्वरूप होने से ही होता है। इस प्रकार वह अक्षर सद्ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व प्रत्येक रजवर्ण की बनी गुप्ता में बैठा होता है। वह रजवर्ण पञ्चमहाभूतों में स्थित चाहे किसी भी भूत का रजवर्ण (ह्यूमि का वर्ण) हो। भूत का अर्थ यहाँ पर दशमौलिक अर्धों से बने किसी भी रजवर्ण से होता है। पञ्चमहाभूतों के प्रत्येक महाभूत में अनेकों प्रकार के अनेकों भूत होते हैं। आधुनिक विज्ञान में जैसे पृथ्वी महाभूत को solid state of matter कहते हैं जो उस solid state of matter में लौहा, चाँदी, तौबा आदि अनेकों अक्षर, ठोस तत्वों के भूत विद्यमान हैं। वे सभी भूत कहलाते हैं। वही प्रकार वायु महाभूत में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि अनेकों अनेकों भूत विद्यमान हैं। अतः प्रत्येक महाभूत में विद्यमान अनेकों प्रकार के समुदायों को उस महाभूत के भूत कहते हैं। उन सभी भूतों के अणुओं की गुप्ता में सद्ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व का अण्ड छिप कर बैठा हुआ है।

सद्ब्रह्म सर्व व्यापी है तो उस से क्षर कर बना असद्ब्रह्म भी सर्व व्यापी है। उस असद्ब्रह्म के प्रत्येक क्षर में विद्यमान क्षीर के अन्दर स्थित सद्ब्रह्म का अण्ड ब्रह्मतत्त्व का अण्ड भी सर्व व्यापी है।

सब क्षीर के सद्ब्रह्म के बने ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में से क्षर कर बने असद्ब्रह्म के भूत में से सद्ब्रह्म के द्वारा जो भूत की चारायें निकलती हैं, वे ही पुरुष। भूत की चारायें के स्वरूप की रचना करती हैं। वही पुरुष अपने द्वारा रचित मौलिक अर्धों से विभिन्न प्रकार के संकल्प जाबज्ज करके उनमें बुद्धि की रचना करता है। उस बुद्धि के अनुसार वे मौलिक अर्ध विभिन्न प्रकार के काँटि करते हुए विभिन्न प्रकार के रजवर्णों की ग्रीवि को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार हमें विभिन्न प्रकार के च्यन, सम्पदायें, रत्न, जवाहरात आदि प्राप्त हो जाते हैं। इस विभिन्न प्रकार के रत्नों को, च्यन सम्पदाओं को प्रदान करने वाले देवता को ही 'महा' देवता 'सृष्टिवेद' में कहा जाता है।

इस प्रकार सब क्षीर में स्थित सद्-ब्रह्म का ब्रह्मतत्त्व का अण्ड ओंकारों
 क्षरण प्राणियों द्वारा पुरुष से युक्त होकर 'भग' देवता से युक्त हो जाता
 है। जो 'भग' देवता से युक्त हो जाता है वैदिक विज्ञान की शब्दावली में
 उसे ही 'भगवान्' कहा जाता है। अतः सब क्षीर में स्थित वह सद्ब्रह्म
 का बना 'ब्रह्मतत्त्व' का अण्ड 'भगवान्' है। उस भगवान् से ही वह ऋत
 की चाराओं के द्वारा सब जगह गया हुआ 'शिव' रूप में रुद्र बनता है।
 रुद्र का वही कल्याणकारी रूप 'शिव' है जिसे पिछले मन्त्र, "या ते रुद्र शिवा
 तेनूरधोरा पापव्याशिनी। तथा नस्तनुवाशान्तमया गिरिशन्ताभिचाळशीर्हि॥"
 (अध्याय 3, मन्त्र 5) - में बताया चुके हैं। अर्थात् शिव रूप रुद्र का स्वरूप
 भी सब जगह इस सद्-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में से ही सब क्षीर
 के अन्दर से निकल कर गया हुआ है। वही शिव 'अर्द्धनारीश्वर' के
 रूप में भगवान् है जो सब के पैदा करने वाला बनता है। वह शिव सब
 जगह गया हुआ है। वह शिव सर्वव्यापी है। वह शिव सब ओर शिर वाला
 सब ओर मुख वाला, सब ओर स्त्रीवा वाला है। वह सभी भूतों की और सभी
 प्राणियों की गुप्ता में बैठा हुआ स्थित है। पृष्ठ (365) पर बने रुद्र की ऋत
 की चारा द्वारा बने वृक्ष की जैसी आकृति बने पुरुष के 'शिव' रूप को देखें।
 जैसी पुरुष की रचना इस क्षीर में से निकलने वाले पुरुष के सब शीर्ष पर बनी
 हुई है, वैसे ही रचना सब क्षीर से सभी ओर निकलने वाले सहस्र शीर्षों
 पर बनी होती है। सब क्षीर के सभी ओर सब सहस्र पुरुष रचित
 हो जाते हैं। प्रत्येक पुरुष का रूप भगवत्कारी 'शिव' ही होता है।
 अतः वह 'शिव' भगवान् बन कर सब ओर मुख वाला, शिर वाला, स्त्रीवा वाला
 बन जाता है तथा सभी जड़ भूतों तथा चेतन प्राणियों के शरीर की गुप्ता में
 स्थित हुआ बैठा होता है। वह शिव भगवान् सब क्षीर के उस सद्-ब्रह्म
 के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड से निकल कर सभी जगह जा कर सर्वव्यापी बना
 हुआ है।

'भग' से युक्त हो कर बने देवता के स्वरूप को 'भगवान्' कहा जाता
 है। 'भग' शब्द में युक्त होने के अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय लगा कर 'भगवान्'
 शब्द सिद्ध होता है। उस भग से युक्त हो कर ही शिव भगवान् कहलाते
 हैं। उस भग से युक्त हो कर ही शिव सब स्थानों पर सभी दैत्यों को उत्पन्न
 करने वाले सारी सृष्टि के सृजक, पोषक, संहारकर्ता, सब जगह पहुँच कर
 सर्वव्यापी बनते हैं तथा सब का कल्याण करते हैं। रुद्र की ऋत की चाराओं
 के द्वारा जो पुरुष का स्वरूप बनता है, वही 'शिव' का रूप चारण करता है।
 वही पुरुष प्रत्येक प्राणी के उसके शरीर में स्थित जीवात्मा का स्वरूप बनता है।

एक क्षीर की संरचना के अन्दर क्षीर के केन्द्र में लाकर जो रुद्र की मृत की चाराओं के द्वारा मृत का सधन रूप 'आत्मतत्व' के अण्ड के रूप में बना दिया जाता है वह मृत की बनी हुई शिव की पिण्डों का स्वरूप बन जाता है। उस पिण्डों के चारों ओर से मृत केन्द्र में आ जाने के कारण उस पिण्डों के चारों ओर मृत का विरल रूप का क्षेत्र बन जाता है। उस मृत के विरल क्षेत्र को ही उस शिव की पिण्डों का 'भग' या जलहरी कहा जाता है। क्योंकि वह मृत का विरल क्षेत्र ही अवर क्षेत्र बन कर मृत की चाराओं के जल को चारण करने वाला तथा अपनी मृत की चाराओं की लहरों में उदित संकल्पों के द्वारा हिरण्यगर्भ तथा अन्य सभी देवों को जन्म देने वाला बनता है। इस प्रकार एक क्षीर की संरचना में 'शिवलिंग' की पूर्ण प्रतिमा का स्वरूप बन जाता है। उस शिवलिंग की प्रतिमा से ही पुरुष की प्रतिमा का स्वरूप बन जाता है। पृष्ठ (365) पर बने पुरुष के चित्र में क्षीर की संरचना में शिवलिंग की प्रतिमा के स्वरूप की झलक भी देखें। इसी स्वरूप के कारण 'शिवलिंग' सर्वोच्च वाक्विक्षाली देवता माना जाता है। वह सर्व व्यापी, सर्व निग्रन्ता, सब का सृजक, सब का पोषण करने वाला, सब का संहारक प्रभु, सूर्य, प्रजापति, सब रूपों में माना जाता है। इसी कारण मन्दिरों में शिवलिंग की सर्वोच्च पूजा होती है। वह सृष्टि के प्रत्येक सृजन का कल्याण करने वाला बनता है। अतः भक्त गण उसकी पूजा करते हुए उससे शिव रूप को नमन करते हैं और "ॐ नमः शिवाय" - मन्त्र का जाप करते हैं। 'पुरुष' को जन्म देने वाला तथा उस 'पुरुष' को अपने में समेटने वाला वह शिवलिंग का शिव का रूप सभी ओर मुखों वाला, सभी ओर शिरो वाला, सभी ओर ग्रीवा वाला तथा सभी भूतों के अर्धपिण्डों की गुप्ता में स्थित रहने वाला बनता है। वही सर्व व्यापी तथा सब जगह गया हुआ बन जाता है।

पूजा का अर्थ है, "वह कार्य जिससे शुद्ध रूप की पवित्रता उत्पन्न होती है"। पू - पुनाति अर्थात् पवित्र करने के अर्थ में च्यातु आती है। जा - जायते अर्थात् जा शब्द पैदा करने के अर्थ में आता है। अतः 'पूजा' का अर्थ बनता है कि वह कार्य जो किसी को शुद्ध स्वरूप में अवस्थित करने के लिए पवित्रता उत्पन्न करे। पूजा करने वाले पुजारी साधक के पास जो भी उसकी जीवात्मा का स्वरूप, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण तथा उसका पूरा शरीर है, उन सब में जो कर्म पवित्रता उत्पन्न करते हैं, वे सभी पूजा के कर्म कहलाते हैं। शिवलिंग की पूजा करने वाला साधक शिवलिंग पर जल चढ़ाता है जो उससे मन तथा इन्द्रियों में शीतलता उत्पन्न करने का श्रोत बनता है।

मन तथा इन्द्रियों में जितनी शीतलता होगी मनुष्य का मन तथा शरीर उतना ही अधिष्ठा पवित्र और बलवान तथा सब प्रकार की शान्ति प्रदान करने वाला होगा। वह उतना ही अधिष्ठा कल्याणकारी 'शिव' रूप होगा। शिव लिंग पर फल-फूल चढ़ाना इस बात का द्योतक है कि शिव का भक्त सतोगुणी शास्त्राहारी भोजन करे जो उसके शरीर को सतोगुण उत्पन्न करता हुआ शमन् को शान्ति का सुख प्रदान करे। सतोगुण में स्थित होकर शमन् का सुख प्राप्त करने पर उस साधक को सभी चित्त की वृत्तियों का निरोध सुगमता से हो जाता है और वह साधक अपने शरीर को शुद्ध स्वरूप में अवस्थित करने के साथ-साथ अपनी जीवात्मा के स्वरूप को भी शुद्ध स्वरूप में अवस्थित कर देता है। इससे उस साधक को अपनी योगसाधना में तीव्रता से सफलता मिल जाती है। मन को रूकाग्र करने के लिए वह, "ॐ नमः शिवाय" मन्त्र का जाप करता रहता है। इस प्रकार पूजा करने से साधक के मन, शरीर तथा जीवात्मा, इन तीनों में पवित्रता उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण शिवलिंग की पुराणों में और अन्य शास्त्रों में सर्वाधिष्ठा महत्ता को बताया गया है और उसकी पूजा का विधान बनाया गया है। वह शिवलिंग ही अर्द्धनारीश्वर का स्वरूप है। उसमें पुरुष, प्रकृति दोनों का स्वरूप समाहित है। अतः सम्पूर्ण सृष्टि का स्वरूप उसी शिव भगवान में समाहित है।

जब साधक योग साधना करता है और निर्बीज समाधि को सिद्ध करता है तो उसके चित्त की सभी वृत्तियाँ, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सभी उसके पुरुष के रूप में पुरुष की श्रुति की धाराओं में ही समाहित हो जाती हैं और श्रुति की उन धाराओं के क्षीरे के माध्यम से सद्ब्रह्म में समाहित हो जाती हैं। इस प्रकार वह शिव रूप का पुरुष, सद्ब्रह्म के रूप में उस - योगी की जीवात्मा के क्षीरे के सागर का मन्थन कर के उसके काम से उत्पन्न हुए गरल को निकाल कर सभी ओर से पाल करने वाला सभी ओर मुख वाला, सभी ओर द्वार वाला तथा सभी ओर ग्रीवा वाला बन जाता है और उस योगी को उसकी जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित करके उसे मोक्ष प्राप्त करा देता है। वह सभी प्राणिमयों की हृदय रूपी गुफा में बैठा होता है तथा भगवान बन कर सभी स्थानों पर जाने वाला बन कर सर्वव्यापी बन जाता है। प्रत्येक प्राणी की जीवात्मा के स्वरूप का शुद्ध रूप में अवस्थित वह पुरुष ही शिव है, जो प्रत्येक प्राणी को मोक्ष प्रदान करके सभी का कल्याण करने वाला है।

इस मन्त्र में पाठान्तर भी पीछे की पंक्ति में इस प्रकार मिलता है—

“भगवति यस्माद्देवं तस्मात् सर्वगतः शिवः” ॥ ॥

इसका अर्थ है कि जिस क्रिया के कारण से यह सद्देव 'भग' देवता से युक्त होता है, उसी क्रिया के कारण से यह सब स्थानों पर गया हुआ है।

सूक्त की 'द्विशती' ऋतु की चाराओं से जब 'पुरुष' की ऋतु की चाराओं की रचना हो जाती है तो उस पुरुष के दशांगुल रूप द्वारा दशमौलिक्-अर्थों की रचना होकर 'व' ऋणों के अर्धपिण्डों से जाना प्रकार के रत्नों के अर्ध पिण्डों की रचना हो जाती है। इस प्रकार उस 'पुरुष' की ऋतु की चाराओं 'भग' देवता में बदल कर 'भगवती' बन जाती है और जाना प्रकार की धन सम्पदा, ऐश्वर्य, रत्नों की, समग्र ज्ञान, वैराग्य, यज्ञ, श्री की प्रदान करने वाली बन जाती है। विष्णु पुराण में इसी को निम्न श्लोक द्वारा बताया है —

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यज्ञसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययौश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ (विष्णु पुराण 6,5,74)
अर्थात् 'भग' देवता समग्र ऐश्वर्य का, गुणों को चारण करने वाले धर्म का, यज्ञ का, श्री का, ज्ञान का, वैराग्य का, इन छः सम्पदाओं को प्रदान करने वाला तथा इनका द्योतक होता है।

ये सभी धर्म पुरुष की दशांगुल ऋतु की चाराओं के द्वारा दशमौलिक् अर्थों के अर्धपिण्डों में प्रदान किये जाते हैं।

ऋग्वेद में 'पुरुष' की ऋतु की चाराओं के तन्तुओं के तिनकों को खाने वाले दशमौलिक् अर्थों के अर्धपिण्डों से 'व' ऋण के अर्धपिण्ड (गौ) की जो रचना होती है, वह किस प्रकार भगवती बनता है, इसका वर्णन निम्न मन्त्र में दिया है —

सुयवसाद् भगवती हि भूया अथौ वयं भगवन्तः स्याम ।

अद्वितृणमद्वये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 40)
इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ इस प्रकार बने हुए है। —

सुयवसः ५ अत् = सुचारु गति वाली ऋतु की चाराओं के तिनकों की सुन्दर धारा खाने वाली (दशमौलिक् अर्धपिण्डों से बनी गौ) (गौ = अर्धपिण्ड)

भगवती = 'भग' देवता के छः स्वरूपों (1) समग्र ऐश्वर्य, (2) चारण विभाग धर्म, (3) बल के द्वारा यज्ञ प्राप्ति, (4) लक्ष्मी के द्वारा प्रदत्त

श्रेष्ठता की सारी शोभा (= श्री), (5) सभी प्रकार का शोभन, (6) मोक्ष प्राप्ति का साधन वैराग्य, — से युक्त होकर बनी गलावती वह गौ (= दशमौलि अर्धों का बना अर्ध-पिण्ड तथा इन अर्धपिण्डों की शृंखला की पाँच उर्मियों से बनी पञ्चप्राणोर्मि - अदिति का स्वरूप जो सारे वसुओं की जन्मदात्री बनती है।) अदिति का चित्र पीछे पृष्ठ (52) पर देखें।

वि० मूयाः = सचमुच तुम पुरुष की दशांगुल श्रुत की चारों ओर हो।

अथो० = और

वयम् = हम सब

भग० ऽ वन्तः = भग देवता के द्वारा प्रदत्त पूर्वाक्त सभी छः सम्पदाओं की प्राप्ति करने वाले भाग्यवान

स्याम० = होवें।

अद्वि० = तू खा

तृणम् = पुरुष के दशांगुल रूप की श्रुत की चारों ओर के बने तिनकों के जाल की घास को।

अद्व्ये० = हे न हनन करने योग्य अदिति माता के रूप में बनी गौ (= अर्धपिण्ड)

विश्व० ऽ दानीम् = सब जगत् में सब कुछ प्रदान करने वाली।

पिब० = पी

शुद्धम् = शुद्ध निर्मल को

उद्वम् = अण्व समुद्र में स्थित अण्वोदक को। दो में स्थित अण्वों के जल को जो पुरुष की दशांगुल श्रुत की चारों ओर में बहता है।

आ० ऽ चरन्ती = विचरती हुई। आकाश महाभूत में 'अदिति' विचरण करती हुई।

आकाश महाभूत (spaceous matter) में अर्थात् आकाश (space) में अर्थात् वसुओं को जन्म देती हुई विचरण करती रहती हैं और वे 'वसु' पृथिवी पर आते रहते हैं और प्राणियों को अपनी सम्पदा से युक्त करते हुए भाग्यवान् बनाते रहते हैं।

आकाश में विचरण करने वाले देवों को 'मातरिश्वा' कहते हैं। ये मातरिश्वा नियम पूर्वक तीन प्रकार के बन कर एक दूसरे से जुड़े होते हैं और इनका चक्र इस प्रकार चलता रहता है कि द्यौ से पृथिवी और पृथिवी से द्यौ पौषित होने लगते हैं। इन मातरिश्वाओं से जो ऋतु के चारों या रजःणों की प्राणोर्मियों को चारों निष्कलती हैं या ये चारों इनमें प्रवेश करती हैं, वे ऐसी लगती हैं जैसे कि ये इन मातरिश्वा-देवों के केश (= बाल लम्बे-लम्बे) हों। इनमें एक प्रकार का मातरिश्वा ऋतु के चारों का या प्राणोर्मियों का वपन करता है, दूसरा बल पूर्वक उन्हें अपनी ओर खींचता है, तीसरा उन्हें बचाकर अपने गर्भ में चरण करता है और उन्हें फिर नये रूप में जन्म दे देता है। इस प्रकार आठ प्रकार के वसुओं का मातरिश्वा देवों के द्वारा चक्र चलता रहता है। इस प्रकार अर्थात् 'माता आठ प्रकार के वसुओं के द्वारा भगवती बन कर सभी प्रकार की सम्पदाओं को द्यौ में तथा पृथिवी पर प्रदान करती रहती हैं। ऋग्वेद में कहा है—

त्रयः केशिनः त्रतुथा विचक्षते संवत्सरे वपुत रुक् स्रष्टाम् ।
विश्वमेका अभिचक्षे शचीभिर्ध्रौ जिरैकस्य दृशेन रूपम् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 44)

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ इस प्रकार बनते हैं—

त्रयः = तीन

केशिनः = केशों वाले = ऋतु के चारों के या प्राणोर्मियों की चारों के लम्बे-लम्बे बालों वाले देव ।

ऋतुऽथा = नियम के क्रम से ।

वि - चक्षते = विशेष रूप से देखे जाते हैं।

॥
३

378

संवत्सर = ऋतु के प्रवाह में संकल्पों के उदय के अर्धः (=दिन) के और उन संकल्पों के विलय होने पर अस्त होने की रात्रि के प्रवाह से बने ऋतु की चाराओं के संवत्सर में। अर्थात् संकल्पों से मुक्त होकर सरने (= बहने) वाली ऋतु की चाराओं से संवत्सर बनता है। संवत्सर के बनने की प्रक्रिया को बताने वाला ऋग्वेद का मन्त्र निम्नलिखित इस प्रकार है —
ॐ ऋतंच सत्यञ्चाभीक्षात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ (1)
समुद्रादर्णवादीध संवत्सरो अजायत। महोरात्राणि विदधद्भिश्चस्यमिषतो वशी॥
सूर्याचन्द्रमसौ चाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ [ऋग्वेद-10-190-1, 2]

प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में समष्टि ब्रह्म के वाचक शुभ शब्द 'ओ ३म्' का उच्चारण परमात्मा का नाम लेने के लिए किया जाता है। मन्त्रों का अर्थ है—

एक 'क्षर' के अन्दर क्षरण उत्पन्न होकर रुद्र की 'ईशानी' नाग की ऋतु की चारा में संकल्पों की नई सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम 'ऋतु' की रचना होती है। ऋतु के पश्चात् सप्ता लोकों की रचना में एक अणु (Atom) के अन्दर 'सत्य-लोक' की रचना होती है। उस 'सत्य' लोक की रचना के चारों ओर ऋतु की अग्नि के जलने से तपस् उत्पन्न होकर तपः लोक उत्पन्न होता है। उस 'तपः' लोक के चारों ओर उसके पश्चात् 'जनः' लोक उत्पन्न होता है, जहाँ पर ऋतु की चारा में पूर्वउद्भूत संकल्पों का विलय करने वाली 'रात्रि' का जन्म होता है और नये संकल्पों की जन्म देने वाला 'जनः' लोक उत्पन्न होता है। [जनः लोक के देवता ब्रह्मा जी हैं।] सत्य लोक, तपः लोक और जनः लोक की रचनाओं की एक सूत्र में बांधने वाली सृष्टि-सृजन की एक नई इकाई 'अणु' बन जाती है। इस प्रकार के अनेकों 'अणुओं' से पूरा ब्रह्माण्ड भर जाता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में भरे हुए 'अणुओं' से 'अर्णव समुद्र' बन जाता है।

उस 'अर्णव समुद्र' में अर्णवों के अन्दर नये संकल्पों के उदय के दिन और उन संकल्पों के विलय करने वाली "रात्रि" का जन्म होता है। जिस प्रकार आँखें मिचमिचती हैं, आँखें खोलने पर सारा संसार दिखाई देता है तथा बंद करने पर दृष्टि से ओझल हो कर अंधकार व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार से अर्णवों में संकल्पों के उदय अस्त की प्रक्रिया द्वारा सारी सृष्टि को वश में करने वाला कालचक्र का संवत्सर उत्पन्न होता है।

इस संवत्सर की गति में जब रुक् अर्णु अपनी ओर खींचता है तो वह नये संकल्प को उदित करता हुआ उस संकल्प की रचना को अधिक गहन करने के लिए ऋतु को अपने अन्दर घुसता है। जब उस संकल्प वाली रचना का विलय रात्रि की प्रक्रिया द्वारा होता है तो उस चूरी हुए ऋतु को वह पुनः बाहर फैकता हुआ वपन करता है। इस प्रकार रुक् अर्णु में "प्राण-प्रक्रिया" प्रारम्भ हो जाती है जिससे सारे ब्रह्माण्ड का जीवन नियन्त्रित होता है और 'यम' देवता की स्थिति स्थिर हो जाती है। यही 'यम' देवता उस संवत्सर के कालक्रम द्वारा सब को वश में करने वाला 'वशी' बन जाता है। इस प्रकार के संवत्सर में संकल्पों के विलय के समय में रुक् अर्णु के ऋतु को वपन करने की प्रक्रिया को यहाँ बताया गया है।

वपते = वपन करता है / उगलता है। E mits.

रुक् = रुक्

रुषाम् = रुषास् मध्ये = इनमें से, अथवा इनके (देवों के)।

विश्वम् = सारे स्वरूपों की रचना को। सृष्टि सृजन में सारे स्वरूपों की द्योतित करने वाले इन देवताओं के सारे जगत् के रूप को।

रुक् = रुक्

अभिचष्टे = अभिमुख होकर अपनी ओर देखता हुआ खींच कर पकड़ने की अभिचेष्टा करता है।

शचीभिः = बलों के द्वारा। आकर्षण तथा प्रत्याकर्षण बलों के द्वारा।

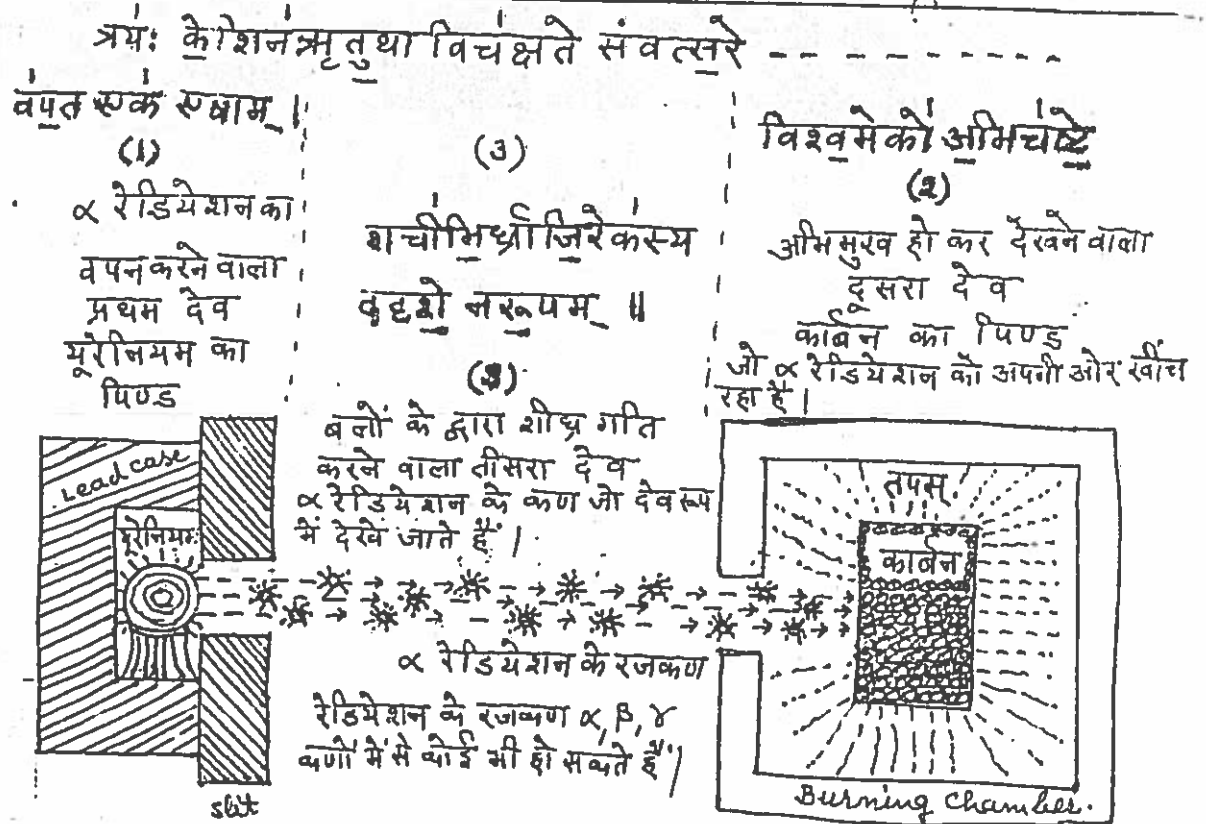
ध्राजिः = शीघ्र गति। (Fast speed.)

सकस्य = रुक् की। रुक् अर्णु के उदर में जब किसी संकल्प का विलय होता है तो उस संकल्प के देव का स्वरूप भी ऋतु के साथ उस अर्णु के उदर से वपन की प्रक्रिया द्वारा बाहर आता है। बाहर आकर संवत्सर में शीघ्र गति से पास वाले दूसरे अर्णु की ओर चलता है जो इसे अभिमुख होकर अपने बलों के द्वारा अपनी ओर खींचता हुआ अपने उदर में समाहित करता है। यही अर्णु इसे सामने से दूर से ही देख रहा है। ऐसे उस रुक् देव का दृष्टि = देखा है।

न = देव (गणेश का रूप)। देवताओं के सारे गणों का ईश 'गणेश' है।

रूपम् = रूप को। उस देव के रूप को हमने देखा है। अर्थात् जो देव का रूप हमें हमें दिखाई देता है, वह - वह रूप है जो रुक् देवता के वपन (उल्टी) करने से उसके मुख से उसके उदर में से निकलता है और किसी दूर बैठे सामने वाले अन्य देव की ओर जाता है। वह दूर बैठा देव इसे अपनी ओर खींच रहा है।

इस प्रकार में मृत की चाराओं के बने केश वाले तीन प्रकार के देव होते हैं जो नियम के अनुसार स्थापित होते हैं। नीचे के चित्र से यह प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है।



यहाँ रेडियेशन में चलने वाली मृत की चारायें ही प्रत्येक अर्धपिण्ड के रजकण के देव के केश बन जाते हैं।

चित्र = 52

इसी प्रकार आकाश में स्थित और धीरे में स्थित मातरिश्रवा देवों के अन्दर से मृत की चाराओं को प्रस्तुत करता हुआ रुद्र देव कल्याणकारी शिव रूप बन कर सभी ओर मुखों वाला, सभी ओर शिरों वाला, सभी ओर ग्रीवा वाला, तथा सभी मृतों के हृदय की केन्द्रिय गुफा में स्थित रहने वाला, सर्व व्यापी और भगदेवता से मुक्त होकर भगवान बन कर सब जगह जाने वाला बन जाता है। यह सब यम देवता के नियमों के अनुसार होता है। यम देवता का रूप भी रुद्र देवता का रूप ही बनता है। रुद्र देवता की मृत की चारायें ही 'पुरुष' की रचना करती हैं। यह 'पुरुष' ही 'भग' देवता का रूप चारण करता है और सभी को भगवान बनाता है।

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्वस्यैष प्रवर्तकः ।

सुनिर्मलाभिमाम् प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ (12)

इस मन्त्र में 'पुरुष' के विषय में बताया गया है।

वह पुरुष महान् प्रभु है। यह पुरुष संकल्पों को आबद्ध करने वाली बुद्धि के अन्तःकरण की श्रुत की चाराओं का प्रवर्तक है। इस पुरुष की श्रुत की चारों ओर रुद्र की (ईशान रूप के रुद्र की) ईशानी श्रुत की चाराओं के इन सुनिर्मल, ज्योतिरूप और अविष्कारी अव्यय रूप को प्राप्त करती है। (उन्हीं से मैं अपने रूप को बनाती हूँ।)

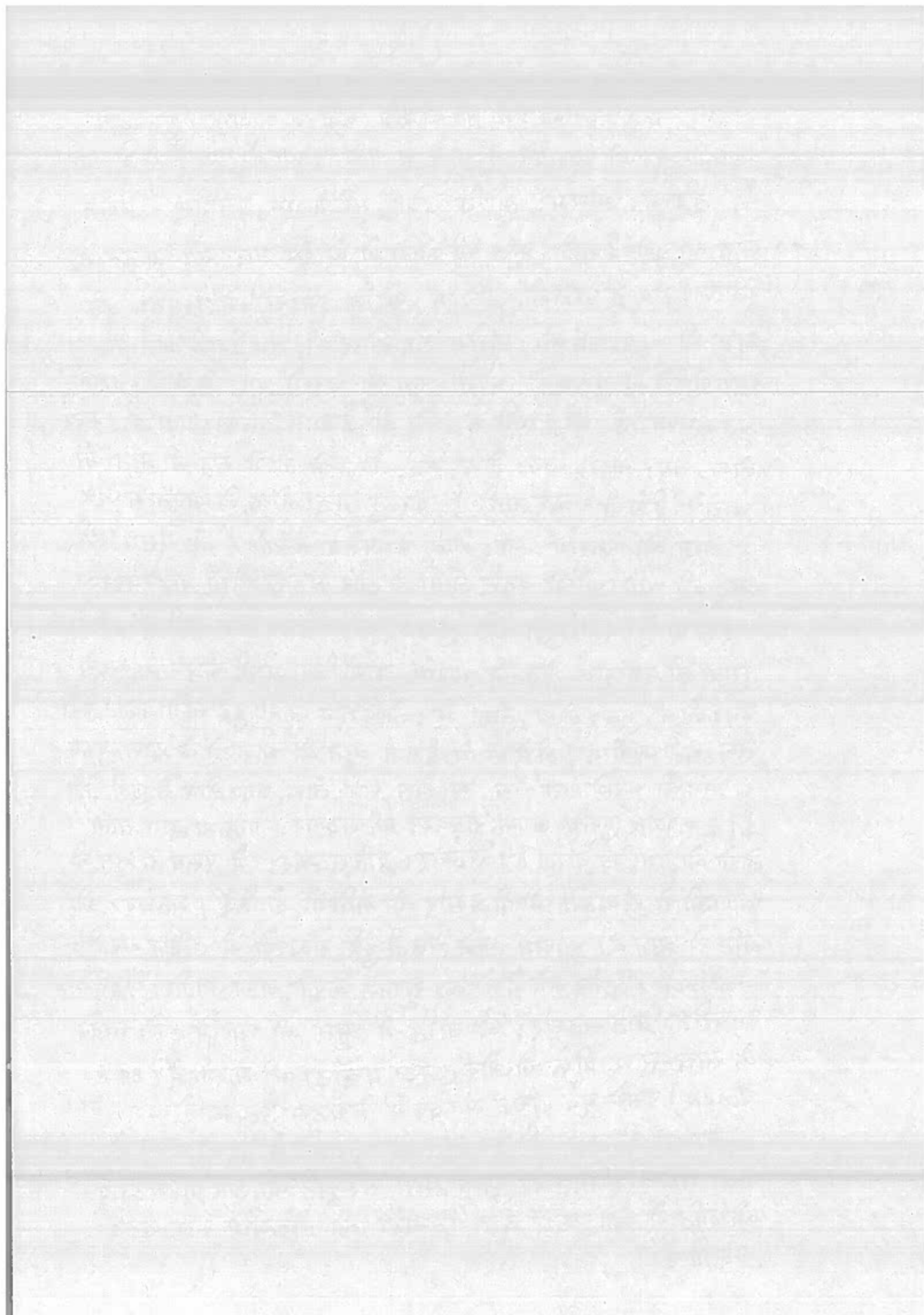
'पुरुष' का स्वरूप अत्यन्त महान् है। सारे ब्रह्माण्ड में चेतना उसी 'पुरुष' की प्रभा से आती है। 'पुरुष' के बिना सृष्टि में चेतना जागृत हो ही नहीं सकती। सृष्टि को चलाने वाला नहीं 'पुरुष' है। अतः वह अत्यन्त महान् है।

वह पुरुष 'प्रभु' है। विष्णुदेव की सत्याभा से 'पुरुष' अपनी श्रुत की चाराओं में प्रभा का समावेश करके संकल्पों की ऊर्जा से युक्त होकर सर्वसमर्थ प्रभु बन जाता है। सत्याभा में जब कामदेव के प्रयत्न से संकल्पों का भाव उदित हो जाता है तो वह सत्याभा ही पुरुष की प्रभा बन जाती है। इसी प्रभा में 'भग' देवता का उदय होकर सर्वसमर्थता आ जाती है। इसी से वह 'पुरुष' 'महान् प्रभु' बन जाता है।

'सत्त्व' बुद्धि को कहा जाता है। ब्रह्मनात्- बुद्धि। पुरुष की श्रुत की चाराओं में उदित संकल्पों को मौलिक अर्थों में बद्ध करने से बुद्धि की रचना होती है। अतः 'पुरुष' की श्रुत की चाराओं का प्रवाह ही संकल्पों को मौलिक अर्थों में आबद्ध करने वाला बन कर सत्त्व (= बुद्धि) का प्रवर्तक बनता है। प्रवर्तक प्रारम्भिक निर्माता को कहते हैं। प्रवर्तक किसी नई प्रक्रिया का निर्माण करके उसे सभी में चलाता है। 'पुरुष' भी मौलिक अर्थों में सत्त्व की रचना करके उसे सभी प्राणिमों में चलाता है। प्राणों का संचरण बुद्धि के साथ होता है। पहले बुद्धि का ग्रहण दशमौलिक अर्थों में होगा तो उसके पश्चात् प्राणों का सृजन होगा अन्यथा नहीं। अतः 'पुरुष' प्राणों और इन्द्रियों का सृजन करने से पूर्व बुद्धि का सृजन करता है। मन का सृजन सब से पहले सृष्टि-

सृजन के काम के संकल्प के उदित होते समय ही हो जाता है।

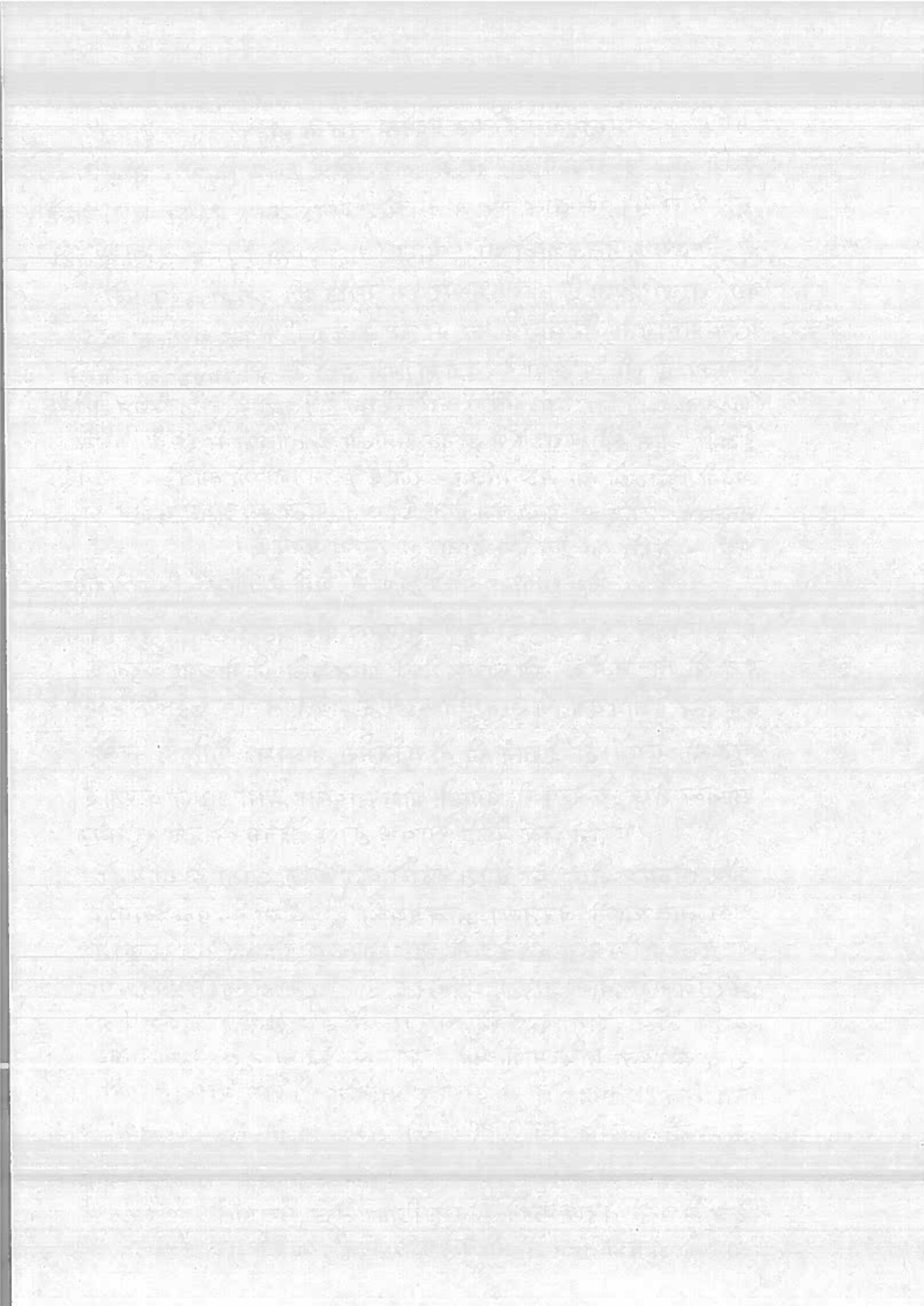
ये 'पुरुष' की ऋत की चारायें कहां से आती हैं? पुरुष इन अपनी ऋत की चाराओं को कहां से प्राप्त करता है? उसके लिए कहा है, "ईशानः अव्ययः ज्योतिः इमाम् सुनिर्मलाम् प्राप्तिम्।" अर्थात् रुद्र का जो 'ईशानी' ऋत की चाराओं के बने जाल का जालवान 'ईशान' रूप है उसकी अव्यय ज्योति इन सुनिर्मल पुरुष की ऋत की चाराओं का प्राप्ति का स्रोत है। उन 'ईशानी' ऋत की चाराओं से ही पुरुष को अपनी ऋत की चारायें प्राप्त होती हैं। 'ईशानी' ऋत की चाराओं के स्वामी रुद्र को ही 'ईशान' कहा जाता है। सत्य लोक, तपः लोक, जनः लोक, महः लोक में तो ये रुद्र की ऋत की चारायें 'ईशानी' कहलाती हैं, परन्तु महः लोक के अन्त में जब ये ऋत की चारायें स्वः लोक में प्रवेश करती हैं तो 'पुरुष' की ऋत की चाराओं में बदल जाती हैं और सहस्र शीर्षी, सहस्राक्षः, सहस्रपाद्, दशांगुल वाले 'पुरुष' की रचना कर देती हैं। ये पुरुष की दशांगुल ऋत की चारायें दशमीलोक अर्धों की रचना करके स्वः लोक, भुवः लोक, तथा भूः लोक तक जाती हुई सातों पाताललोकों तक चली जाती हैं। पीछे से ये ईशानी ऋत की चाराओं के द्वारा पुरुष की ऋत की चारायें सत्य लोक, तपः लोक, जनः लोक, महः लोक से जुड़ी होती हैं। इस प्रकार पुरुष अपनी 'सञ्चरः प्रतिसञ्चरः' प्रक्रिया द्वारा सातों लोकों को प्रभावित करता है। 'सञ्चरः प्रतिसञ्चरः' ये पुरुष के ऋत की चाराओं में संकल्पों की दो प्रकार की गतियाँ होती हैं। सञ्चरः की गति से ऋत की चारायें आगे चलती हुई संकल्पों को उदित करती चली जाती हैं और नये देवों का सृजन करती चली जाती हैं। इससे विपरीत 'प्रतिसञ्चरः' की गति में 'ऋत' की चारायें आगे चलने के साथ-साथ पीछे की ओर उल्टा पक्का भी मारती हैं (Back-stroke) इससे पूर्व रचित संकल्प में विघटन उत्पन्न होकर पूर्व रचना का विलय भी उन ऋत की चाराओं में ही हो जाता है। अतः 'सञ्चरः' गति से पुरुष द्वारा 'सम्भूति' की और 'प्रतिसञ्चरः' की गति से उसी पुरुष द्वारा 'विनाश' की प्रक्रियायें साथ-साथ चलती हैं।



‘सत्त्व’ की स्थिति ‘क’ ऋण के दशमौलिकार्थों में होती है। ये मौलिक अर्थ ही पञ्चमहाभूतों में स्थित प्रत्येक भूत के मौलिक अर्थ होते हैं। उनमें आबद्ध संकल्प ही ‘सत्त्व’ कहलाते हैं। जब किसी जड़ी बूटी को कूट-पीस कर उसे छान कर या निचोड़ कर उसका मूलतत्त्व निकालते हैं, तो उस मूलतत्त्व को भी ‘सत्त्व’ कहा जाता है। वह उस जड़ी बूटी का ‘सत्त्व’ होता है। इसी प्रकार इस सृष्टि की रचना करने वाले पञ्चमहाभूतों के पदार्थ का सत्त्व वे दशमौलिक अर्थों में बद्ध संकल्प हैं जो ‘क’ ऋण के दशमौलिक अर्थों के अर्थपिण्डों की गिरियों (Girampules) का रूप धारण करके स्थित हैं। उन्हीं में बुद्धि स्थित होती है। ‘ईशानी’ श्रुत की धाराओं में उदित संकल्पों के आवेश से ही वे गिरियाँ अपनी क्रियाओं को सञ्चालित करती हैं। उन गिरियों की क्रिया का वही सञ्चरण बुद्धि का प्रकाशन होता है। अतः सत्त्व का प्रवर्तक होने का अर्थ — बुद्धि का प्रवर्तक होना ही किया जाता है।

योग साधना की प्रक्रिया में योगी के लिए — विष्णु के शरीर से परावर्तित (Reflect) होकर जो सुनिर्मल और अव्यय ज्योति उस ईशान रुद्र की निकलती है, उसे साध्य योगी प्राप्त करने की साधना करता है। वह उस ईशान देव की अनुभूति करता है। ईशान देव रुद्र की ईशानी श्रुत की धारायें ही ईशान की वे सुनिर्मल, अव्यय ज्योति हैं जिन्हें साध्य तेज के रूप में अपनी योगसाधना द्वारा प्राप्त करता है।

परन्तु जब योगी साध्य द्वारा ईशान के इस सुनिर्मल और अव्यय तेज को प्राप्त करने का प्रयत्न आता है तो यहाँ एक सावधानी बरतना आवश्यक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि रुद्र की ईशानी श्रुत की धाराओं का तेज सम्भूति और विनाश दोनों प्रक्रियायें करता है तो हम सम्भूति की क्रिया करने वाले शिवा रूप को धारण करें और विनाश करने वाले रुद्र रूप का परित्याग करें। रुद्र की ईशानी श्रुत की धाराओं का वेग ही तपः लोच में आकर सवितृ की ‘सर्वशक्ति’ वाली श्रुत की धारायें बन जाता है जो सम्भूति की क्रिया करता हुआ प्रत्येक लोच में प्रत्येक देव का ‘प्रसव’ कराता है। इस सवितृ देव के उसी वरण करने योग्य शिवा तेज को धारण करें। इसी बात को गायत्री मन्त्र में भी बताया गया है। गायत्री मन्त्र है —



“ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि,
 धियो यो नः प्रचोदयात् ।” अर्थात् भूः, भुवः, स्वः, लोक के
 सृजन तथा पोषण के रूप में जो सवितृ देव की ‘सर्व’ शक्ति वाली
 ऋत की धारणें हैं, उनमें जो वरण करने योग्य हैं और जो इन
 लोकों में स्थित प्रत्येक देव का भरण पोषण करती हैं, उन्हीं को
 हम धारण करें। (जो विनाशक हैं, उनको नहीं।) जो सवितृ की
 ‘सर्व’ शक्ति वाली ऋत की धारणें हमारी बुद्धि को प्रचण्ड करें,
 उनको ही हम धारण करें।

आधुनिक विज्ञान वैज्ञा भी जानते हैं कि प्रत्येक रजकण
 (mass-particle) से जो Radiation का आवेश प्रवाहित होता
 है उसमें ऋत की ऊर्जा (Energy) का प्रवाह निरन्तर बना
 रहता है। वही ऋत का प्रवाह उस रजकण (mass-particle)
 के द्रव्य (matter) का मूल कारण होता है। क्योंकि प्रत्येक
 रजकण विखण्डित होकर (Decay) उसी ऋत की ऊर्जा में
 बदलता है। यदि यह ऋत का प्रवाह सामान्य स्तर का होता
 है तो यह पोषक होता है और शिवा रूप में होता है। यदि यह
 प्रवाह सामान्य स्तर से कम या अधिक हो जाता है तो यही
 विनाशकारी बन जाता है। अतः कहीं पर भी यदि यह ऋत का
 प्रवाह विनाशकारी स्तर का बना हुआ है तो उस प्रवाह के प्रभाव-
 क्षेत्र के सीमित आयाम के व्योम से इस बच कर रहे। उसमें
 हम प्रवेश न करें। न्यूक्लियर रिएक्टर के आसपास के क्षेत्र
 में भी विज्ञान वैज्ञा इस रेडियेशन के स्तर को सामान्य स्तर का
 बनाने का प्रयास करते हैं। उसी प्रक्रिया की ओर यहाँ संकेत है।
 अगले मन्त्र में पुरुष के विषय में और अधिक बताया जा रहा है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा

सदा जनानाम् हृदये संनिविष्टः
 हृदा मन्वीशो मनसामिक्लृप्तो

य सतद् विदुरमृतास्तै मवीन्ति ॥ 13 ॥

f

वह पुरुष अंगुष्ठमात्र है। अंगुष्ठमात्र का क्या अर्थ है? अंगानि
 उषित्वा तेषु अंगेषु मात्रारूपेण यः पुरुषः तिष्ठति सः अंगुष्ठमात्रः पुरुषः।
 सृष्टि सृजन के अंगों को सृजित तथा पोषित करके जो उनमें
 केवल मात्रा के रूप में (चेतना प्रदान करने की मात्रा के रूप में)
 'पुरुष' विद्यमान रहता है, उसे 'अंगुष्ठमात्रपुरुष' कहते हैं। पुरुष अपने
 दशांगुल रूप द्वारा "अति-अतिष्ठत्" प्रालिया द्वारा दशमौलिक
 अर्थों का सृजन तथा पोषण करता है। उसके पश्चात् दशमौलिकार्थों
 के बने 'क' कण द्वारा प्रत्येक देव की प्रतिमा के अंगों का सृजन
 तथा पोषण करता है। इस प्रकार वह पुरुष प्रत्येक देव की
 प्रतिमा के अंगों को अपने मृत की मात्रा से उच्छ करता है।
 'उच्छ' धातु का अर्थ सृजन करके पोषित करना होता है। अतः
 अंग + उच्छ + मात्रः = अंग् - अ - उच्छ + मात्रः = अंग् उच्छ मात्रः
 (अं' का लोप) = अंगुष्ठमात्रः शब्द बनता है। इस कथन की
 पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद् - "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविष्टात्"
 (तैत्तिरीयोपनिषद् - २, ६, १) कह कर करता है। अर्थात् वह पुरुष
 उस सृष्टि के अंग का सृजन करके उसमें बाद में प्रवेश करता
 है और उसे चेतना प्रदान करता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६, १, ३)
 में भी, "तत्तेजोऽसृजत्" - कह कर इस कथन की पुष्टि की
 गई है कि पुरुष का तेज ही सृष्टि के अंगों का सृजन करता है।
 मजुर्वेद (३१, १९) में भी, "अजाग्रमानो ब्रुध्या विजाग्रते" -
 कह कर इसी कथन की पुष्टि की गई है कि उत्पन्न न होने
 वाला पुरुष अपने मृत का विशेष रूप से रूप बदल कर
 विशेष रूप के बहुत प्रकार के रूपों में उत्पन्न होता है।
 भागवत में भी, "भगवान् वासुदेव (पुरुष) चतुर्व्यूह के रूप में
 प्रकट होते हैं" - कह कर इसी कथन की पुष्टि की गई है।

कई विद्वान् "अंगुष्ठमात्रः" का अर्थ "अंगूठे के परिमाण वाला" -
 करते हैं, जो गलत है। क्योंकि पुरुष के परिमाण का माप नहीं किया
 जा सकता। 'पुरुष' की सहा तो पञ्चमहाभूतों के प्रत्येक भूत के

सूक्ष्म से सूक्ष्म रजःकण में होती हैं। अतः वह अंगूठे के परिमाण वाला कैसे हो सकता है? अतः यह अर्थ अशुद्ध है।

दूसरे जिन प्राणियों के अंगूठा होता ही नहीं, जैसे कि रेंगने वाले केंचुआ आदि बहुत छोटे प्राणी होते हैं, उनमें अंगूठे की मात्रा के परिमाण वाला पुरुष कैसे बनेगा, यह विचार ठीक नहीं बैठता। गहन चिन्तन करने वाला ब्रह्मवेत्ता ऋषि इस प्रकार की असंगत बातें अपने उपनिषद् के मन्त्रों में या वेद के मन्त्रों में नहीं कह सकता। अतः अंगूठे के परिमाण वाला पुरुष बताना अर्थ की दृष्टि से नितान्त अशुद्ध है। अतः इसका अर्थ सृष्टि सृजन के अंगों को सृजित करके उन्हें अपनी मात्रा से पुष्ट करने वाला पुरुष ही बनता है जो प्रत्येक ऋषि तथा प्रत्येक शास्त्र के कथन के अनुसार सही बैठता है।

महान से महान अर्थ पिण्ड और सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु या परमाणु के अन्दर चैतना प्रदान करने वाली अन्तरात्मा के रूप में वह 'पुरुष' विद्यमान है। ["पुरुषोऽन्तरात्मा"] अपनी ऋत की धाराओं के द्वारा पुरुष प्रत्येक रजःकण में अपने आवेश की चैतना प्रदान करता है। इस प्रकार वह प्रत्येक रजःकण में स्थित उसकी अन्तरात्मा बन जाता है।

वह पुरुष सृष्टि के सृजन में जन्म लेने वाले प्रत्येक जन के केन्द्रिय स्थान हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित रहता है और उसे गति प्रदान करके चैतना प्रदान करता रहता है। "सदा जनानां हृदये संनिविष्टः" का अर्थ यही बनता है। सृजन में जो जन्म लेता है और अपनी सन्तति को जन्म देता है, वही 'जन' कहलाता है। 'जन' का अर्थ यहाँ केवल मनुष्य नहीं है। 'पुरुष' के ऋत की धाराओं से अर्धपिण्डों के रूप में जन्म लेने वाला प्रत्येक रजःकण यहाँ 'जन' है। उस रजःकण के अर्धपिण्ड के केन्द्र में स्थित शीर उसका 'हृदय' है। उस हृदय में रुद्र के द्विजान रूप से द्विजानी ऋत की धाराओं के द्वारा हिरण्यगर्भ का सृजन होता है। उस हिरण्यगर्भ में 'पुरुष' के सृजन का मूलकारण सम्यक् रूप से बैठा हुआ है। शीर की रचना के चित्र में पृष्ठ (345) पर देखें।

'जन' का अर्थ व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में अणु (Atom) के अन्दर विद्यमान प्रत्येक रजकण (Mass particle) से है। प्रत्येक रजकण (Mass particle) से निर्मित प्रत्येक अणु (Atom) से है। प्रत्येक अणु से निर्मित प्रत्येक प्रौढ़ (Molecule) से है। प्रत्येक प्रौढ़ से निर्मित प्रत्येक अर्धपिण्ड (Block of a Mass material) से है। अर्धपिण्डों से निर्मित प्रत्येक प्राणी या प्रत्येक ग्रह से है। ग्रहों से निर्मित प्रत्येक सौरमण्डल से है। सौरमण्डलों से निर्मित प्रत्येक ब्रह्माण्ड से है और ब्रह्माण्डों से निर्मित प्रत्येक महाब्रह्माण्ड से है। इस प्रकार सृष्टि की जनन प्रक्रिया में जनों का आकार और विद्या बदलती हुई बहुरूपों में हो जाती है। परन्तु सभी के केन्द्र में स्थित उसके हिरण्यगर्भ के हृदय में वह पुरुष सम्प्रत्यक्ष प्रकार से निविष्ट (= बैठा हुआ) होता है। वही पुरुष की श्रुत की धाराओं को हृदय की मूर्ति कम्पन गति करता हुआ आगे चक्कल कर प्रवाहित करता रहता है।

“हृदा मन्वीशो” — मन की ऊर्जा का स्वामी 'मनु' कहलाता है। उस 'मनु' को शासित करने वाला उस 'मनु' का ईश 'मन्वीश' कहलाता है। सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उदित होते ही सद् ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर असद्-ब्रह्म के क्षरों का सृजन हो जाता है और उसमें मन की उत्पत्ति हो जाती है। अतः मन की ऊर्जा के पुञ्ज मनु का ईश 'मन्वीश' सद् ब्रह्म ही बनता है। वह सद् ब्रह्म अपने मन की सृष्टि सृजन की इच्छा से कम्पन गति के द्वारा क्षरों को जन्म देता है। उन्हीं क्षरों के प्रवाह से श्रुत की धारायें बन कर स्वयं क्षर में 'हिरण्यगर्भ' का सृजन करती हुई 'पुरुष' की श्रुत की धारायें बनती हैं। 'हृत्' धातु का अर्थ हृदय की मूर्ति कम्पन गति करते हुए धारा का प्रवाह करना होता है। जैसे हृदय कंपता हुआ चड़कता हुआ रक्त की धारा के प्रवाह को संचालित करता है, उस प्रकार की क्रिया का अर्थ 'हृत्' धातु का लिया जाता है। इसी कारण हृत्-धातु से 'हृदय' शब्द की निष्पत्ति होती है। हृत्-हरणे,

हृत् गत्यर्थे इन दोनों अर्थों का समावेश हृत्-प्रातु में होता है। जैसे हृदय की चमनिमों पहले रक्त को चूस कर रक्त का हरण करती हैं और फिर उस रक्त को गति प्रदान करके आगे की चमनिमों में प्रवाहित करती हैं, उस प्रकार की गति का अर्थ 'हृत्' प्रातु से लिया जाता है। रक्त शरीर के अन्दर भी स्थित रुद्र पहले ऋतु का अभिबोधन करता है और अपनी पिण्डों को बनाता है। उसके पश्चात् तीन अक्षों के द्वारा ऋतु को चक्कल कर ऋतु की चाराओं का प्रवाह सञ्चालित कर देता है। इस प्रकार वह मन्वीश सदब्रह्म अपने द्वारा उत्पादित ऋतु के अन्दर 'हृत्' गति के द्वारा (हृदा) पुरुष की ऋतु की चाराओं को जन्म देने वाला "हृदा मन्वीश" बन जाता है। उसी सद-ब्रह्म के जीवित असद-ब्रह्म के शरीरों के ऋतु में 'रुद्र' भी अपनी पिण्डों के रूप में पुरुष की ऋतु की चाराओं को 'हृत्' गति के द्वारा प्रवाहित करने वाला 'ईशान' अपने मन की ऊर्जा के पुञ्ज को शासित करने वाला मन्वीश बन कर "हृदा मन्वीशः" कहलाने लगता है। इसी प्रकार प्रत्येक उपरोक्त 'जन' भी पुरुष के ऋतु की चारा को प्रवाहित करने वाला "हृदा मन्वीशः" बन जाता है। तभी तो प्रत्येक 'जन' के 'पुर' में 'पुरुष' शायन करता हुआ विद्यमान रहता है। ["पुरि शैते यः सः पुरुषः" - पुरुष की व्याख्या तभी शास्त्रों में इस प्रकार बताई है।]

इस 'पुरुष' की ऋतु की चारायें भी मन की ऊर्जा के पुञ्ज मनु की हृत् गति के द्वारा अपने प्रवाह के वेग को नियन्त्रित करके शासित करने वाली होती हैं। इसी कारण मन में उदित क्रोध, मथ आदि संकल्पों के कारण हृदय की चक्कनों की गति में परिवर्तन आ जाता है। अतः यह पुरुष भी "हृदा मन्वीशः" है।

"मनसाभिवलृप्तौ" - यह 'पुरुष' मन के द्वारा अभिरक्षित है। अर्थात् पूर्ण रूप से सभी ओर से मन के द्वारा सुरक्षित है।

मनसा अभितः रक्षितः इति मनसाभिप्लुतः । मन का सृजन सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की कामना के काम के उदित होने से होता है । 'कामस्तदगो समवर्ततामि' (ऋग्वेद-10, 129, 4) कथन के अनुसार ऋग्वेद में उस सद्-ब्रह्म के अन्दर सब से आगे के सृष्टि सृजन के क्रम में 'काम' के समवर्तन के अधिकरण को बताया गया है । समवर्तन का अर्थ संकल्प का सम्पूर्ण प्रकार से उदित होकर अपनी सत्ता को स्थिर रखना होता है, और अधिकरण आधार की भूमि (Field of domain) को कहते हैं । काम के उदित होने पर मन में सृष्टि सृजन की इच्छा का उदय होना सद्-ब्रह्म के अन्दर सायण आचार्य ने अपने ऋग्वेद के भाष्य (ऋग्वेद 10, 129) में इन शब्दों में लिखा है —

अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म भूष्य
वर्धितं जायत परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासीदित्यर्थः ।
ततो हेतो कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षा
अजायत । (सायण भाष्य, ऋग्वेद-10, 129) ।

इसका अर्थ है — In the previous creation, the creatures did some good works which was mature for fructification. Therefore, in the mind of the creator, who is supervising the activities, there arose a desire to create.

संक्षेप अतीत काल के सृजन के रचना के क्रम के कल्प में प्राणियों के द्वारा पुण्यात्मक कर्म किये गये । ये कर्म फलोन्मुख होकर वृद्धि को प्राप्त करते हुए परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुए । उस फल की इच्छा के कारण उसकी पूर्ति के लिए उस कर्माध्यक्ष परमेश्वर सद्-ब्रह्म के मन में सृष्टि सृजन की इच्छा उत्पन्न हुई ।

इस प्रकार सृष्टि सृजन की इच्छा के काम के कारण सद्-ब्रह्म कर्माध्यक्ष में क्षरण का कर्म उत्पन्न होकर असद्-ब्रह्म के क्षरो का सृष्ट उत्पन्न हो गया । इस काम के संकल्प के मुक्त होने के उपरान्त उसके विलय होने के पश्चात

उस असद् ब्रह्म के क्षर पुनः सद्-ब्रह्म के अक्षर रूप में जुड़ने लगते हैं। इस प्रकार उस असद्-ब्रह्म के क्षरों के ऋत से पुनः सद्-ब्रह्म का स्वरूप उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार इस काम के आधार के समवर्तिन से सृष्टि का चक्र चलता रहता है और इस चक्र में पुरुष के ऋत की चाराओं का प्रवाह मन के द्वारा सभी ओर से पूर्ण रूप से सुरक्षित बना रहता है। जब तब सद्-ब्रह्म में काम का उदय होकर सृष्टि सृजन की इच्छा का मन का संकल्प उदित होता रहेगा तब तब अक्षर सद् ब्रह्म के स्वरूप में क्षरण उत्पन्न होकर क्षरों के बने असद् ब्रह्म के ऋत में ऋत की चाराओं का प्रवाह बना रहेगा और उन ऋत की चाराओं के प्रवाह से तब तब 'पुरुष' की ऋत की चाराओं का प्रवाह सभी ओर से उस मन के द्वारा सुरक्षित बना रहेगा। इसी कारण यहाँ पुरुष को, "मनसा अभिरक्षितो" कहा है। अर्थात् पुरुष मन के द्वारा सभी ओर से अभिरक्षित है। जब तब 'मन' विद्यमान है, पुरुष की ऋत की चाराओं का प्रवाह अभिरक्षित रूप से बना रहेगा।

जब तब किसी कारण शरीर में पुरुष की सत्ता अभिरक्षित रहती है, तभी तब जीवात्मा की सत्ता सद्-ब्रह्म से प्रयत्न रह कर बनी रहती है और वह जीवात्मा तब तब स्थूल शरीर को चारण करती हुई और उसका परित्याग करती हुई बार-बार जीवन-मरण के सृजन के चक्र में घँसी रहती है। उसे तब तब तीनों प्रकार के शरीरों के बन्धनों से तीनों प्रकार का मोक्ष प्राप्त नहीं होता। उस पुरुष की जीवात्मा का आत्मतत्त्व का स्वरूप तब तब ब्रह्मतत्त्व के स्वरूप में विलीन होकर अमृत अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। अपने इस आत्मतत्त्व के पुरुष के अण्ड को ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में विलीन करने के लिए इसी कारण योगी साधक जब अपनी योगसाधना के अभ्यास द्वारा अपने मन की सत्ता को समाप्त करने का प्रयास करते हैं। वे अपने चित्त की सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध करने का अभ्यास करते हुए अपने मन को निर्बीज बनाने का प्रयास करते हुए काम को पूर्ण रूप से दग्ध करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार निर्बीज समाधि को सिद्ध करते हुए चर्ममैद्य समाधि को सिद्ध कर लेते हैं।

धर्ममैव्य समीप्य को सिद्ध करके अपने काम को पूर्ण रूप से दग्ध करके वे अपनी जीवात्मा के पुरुष का शुद्ध स्वरूप केवल्य का रूप प्राप्त करते हुए अपने आत्मतत्त्व के अण्ड को ब्रंहतत्त्व के अण्ड में विलीन कर देते हैं। इस प्रकार पुरुष रूप के अपनी जीवात्मा के स्वरूप को मिटा कर वे सद्-ब्रह्म में विलीन कर देते हैं और सद्-ब्रह्म की अमृत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। अतः जो ब्रह्मवेत्ता बानी पुरुष, 'पुरुष' के इस मन्त्र में बताये इस स्वरूप को इस प्रकार जान लेते हैं, वे अपने मन को जीत कर उसे सदा के लिए मार कर उसकी सत्ता को मिटा देते हैं और सद्-ब्रह्म के अक्षर स्वरूप में विलीन होकर सदा के लिए अमर हो जाते हैं। इसी लिए इस मन्त्र के अन्त में इसी ज्ञान का फल, "य स तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति" कह कर बताया है। अर्थात् जो इस प्रकार पुरुष को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

सद् के ईशान रूप की ईशानी ऋत की चाराओं के पुरुष की ऋत की चाराओं की संरचना किस प्रकार की होती है, इस संरचना को अगले मन्त्र में बताया गया है। मन्त्र है—

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ (14)

यह 'पुरुष' सहस्र अक्षों वाला, सहस्र शीर्षों वाला, सहस्र पादों वाला है। वह दशाङ्गुल पुरुष बन कर अपने प्रभाव क्षेत्र को सारी भूमि पर वर्तित हो कर अति रूप से ठहर जाता है।

पुरुष के स्वरूप की संरचना में महः लोको के अन्त में, स्वः लोक के रचना के प्रारम्भिक चरण में सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में ऋत की चाराये प्रवाहित होती हैं। स्व क्षीर की रचना में सद् की ईशानी ऋत की चाराओं का प्रवाह स्व क्षीर के सत्यलोक से वरुण-मित्र के क्षेत्र के सहस्र द्वारों से सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में सहस्र अक्ष बन कर निवलता है जो तपः लोक, जनः लोक, महलोक के देवनिवासों की रचना करता हुआ महः लोक के अन्त में स्वः लोक के अन्दर सहस्र अक्षों पर गीत करता हुआ सहस्र शीर्षों में

ही प्रवेश कर जाता है। उसके पश्चात् एक शीर्ष की ऋतु की चारा सहस्र पादों में विभाजित हो जाती है और चौतीस अर्णवों की दूरी चल कर अबैला वह एक पाद दश उँगलियों में विभाजित हो जाता है। इस प्रकार उस एक पाद की ऋतु की चारा दश उपचाराओं में बँट जाती है। इन दश उँगलियों की ऋतु की चारों भी चौतीस अर्णवों की दूरी चल कर अति रूप से ठहर जाती है। इस अति रूप से ठहरने से पुरुष के प्रभाव क्षेत्र की भूमि की सीमा समी और से एक सीमित आयाग में बँध जाती है। अतः जब इस पुरुष की दशांगुल रूप की ऋतु की चारों अति रूप से ठहर कर रुकती है तो वे अपने प्रभाव क्षेत्र की सारी भूमि पर छा कर स्थित हो कर रुकती है। इसी लिए यहाँ उस पुरुष के लिए, "स दशाङ्गुलम् भूमिम् विश्वतो वृत्त्वा अति-अतिष्ठत्" कहा है। अर्थात् वह पुरुष दशांगुल ऋतु की चाराओं के अक्षों वाली भूमि पर समी और छा कर अति रूप से ठहर जाता है।

यहाँ एक अक्ष पर एक चारा की लम्बाई एक अक्ष की होती है। इस ऋतु की चारा के एक अक्ष में चौतीस अर्णवों की पसलियों से उस एक अक्ष की काठी बनी होती है। अतः एक ऋतु की पाद की या दशांगुल ऋतु की चारा में ऋतु का प्रवाह चौतीस अर्णवों की बनी शृंखला की दूरी तक बताया है। सहस्र अक्षों पर सहस्र शीर्षों में स्वः लोक के अन्दर भी पुरुष की ऋतु की चाराओं का प्रवाह भी चौतीस अर्णवों की शृंखला की दूरी ही चलता है। स्वः लोक में पुरुष की ऋतु की चाराओं का सारा प्रवाह अर्णवों के अन्दर ही चलता है।

जब दशांगुल रूप में पुरुष के अन्दर ऋतु की चारा का प्रवाह चलता हुआ अति रूप से रुकता है तो उस प्रवाह के एक बिन्दु पर रुकने से एक के ऊपर एक अर्णु चढ़ते चले जाते हैं। जब तीन अर्णु एक के ऊपर एक चढ़कर अपना त्रित का रूप बना लेते हैं तो वह त्रित और अर्णवों के प्रवाह के दबाव से दब कर अति सघन हो जाता है और अति सघन होकर मीहजात रूप में बदल कर एक मौलिक अर्थ का रूप ले लेता है। दशांगुल रूप की दश चाराओं से इस प्रकार दश मौलिकार्थ बन जाते हैं। ये दश मौलिकार्थ भी अति रूप से ठहरे हुए होने के कारण ऋतु की चाराओं के आते हुए प्रवाह के दाब के कारण और अधिक दब जाते हैं और दश मौलिकार्थों का

बना हुआ एक संचयित 'क' कण बना लेते हैं। इस 'क' कण पर ऋत की चारा के प्रवाह का जब और अधिक दबाव पड़ता है तो यह 'क' कण और आगे खिसक जाता है और इसके स्थान पर दूसरा नया 'क' कण उसी प्रकार बन जाता है। इस प्रकार पाँच 'क' कणों की श्रृंखला उस पुरुष की प्रभाव क्षेत्र की भूमि के सभी ओर बन जाती है। पाँच 'क' कणों की श्रृंखला की उर्मि को ही 'पञ्च प्राणोर्मि' कहा जाता है। इस पञ्च प्राणोर्मि में जब छटा 'क' कण जुड़ता है तो सब से पहले जुड़ा हुआ 'क' कण, जुड़ने के 'क' कण के चक्के के बल से छूट कर इस पञ्च प्राणोर्मि से अलग हो जाता है और परम-धोम में स्वतन्त्र विचरण करने लग जाता है। इस स्वतन्त्र विचरण करने वाले 'क' कण को ही 'इन्द्र' कहते हैं। इन्द्र के लिए जितने भी नाम हैं, वे सब इस स्वतन्त्र विचरण करने वाले 'क' कण के ही नाम होते हैं। इस प्रकार पञ्च प्राणोर्मियाँ अपने एक ही स्थान पर स्थित रहती हुई 'क' कणों का प्रसव करती रहती हैं और उन्हें परमधोम में प्रक्षेपित करती रहती हैं। इन पञ्च प्राणोर्मियों के रूप को ही 'अदिति' माता का रूप कहा जाता है जो वसुओं का प्रसव करती रहती हैं और अपने एक स्थान पर स्थिर रहती हैं। पुरुष की ऋत की चाराओं के प्रवाह से वह गर्भवती होती रहती है और 'क' कणों का प्रसव करती रहती है।

जैसा कि बताया जा चुका है कि ऋत की चारा के प्रवाह को ही 'अश्व' कहा जाता है। ऋत की चारा के प्रवाह में एक निश्चित परिमाण का बल एक निश्चित आधार के अक्ष पर एक निश्चित दिशा में एक शीर्ष के रूप में चलता है। अतः वैदिक विज्ञान का 'अश्व' आधुनिक भौतिक विज्ञान में वर्णित एक vector है। जैसे vector में magnitude, direction और Axis for movement होते हैं उसी प्रकार पुरुष की ऋत की चाराओं के प्रवाह के अश्वों में भी पुरुष द्वारा निर्धारित अक्ष पर चलने वाला एक शीर्ष का चौंतीस अणवों की श्रृंखला की ऊर्जा के बल के परिमाण वाला अश्व अपनी एक निर्धारित दिशा में अपने अक्ष की रेखा पर गति करता है। पुरुष के अश्वों के अक्षों की आधार रेखाएँ उस पुरुष के 'पुर्' के आधार में स्थित होती हैं। इन अक्षों की आधार की रेखाओं के द्वारा ही पुरुष के 'पुर्' की संरचना होती है। शतपथ ब्राह्मण (6, 3, 3, 25)

में इस का उल्लेख, " रैरवा हि पुरः " कथन के द्वारा आता है जो शुद्ध रूप में, " रैरवा हि पुरः " - पढ़ा जाता है। यह रैरवा उस अक्ष की बनी होती है जिस अक्ष पर किसी विशेष दिशा में पुरुष का निश्चित मात्रा के परिमाण के बल वाला ऋत का बना अश्व दौड़ता है। इन्हीं रैरवाओं से वह 'पुर' बना होता है, जिसमें वह 'पुरुष' रहता है।

पुरुष का अश्व पुरीष क्षीर से निकल कर अपने अक्ष पर अपनी निश्चित दिशा में चलता हुआ अर्णव समुद्र में गति करता है और त्रित को प्राप्त होकर महिजातं रूप में बदल जाता है। इन्द्र इस अश्व पर रजकण के रूप में सवार बन कर सब से पहले चढ़ कर चलता है। दशमौलि अर्णव के बने 'क' कण को ही इन्द्र बहा जाता है। पुर को बासित करने वाले पुर के केन्द्र में स्थित क्षीर को ही पुर का ईश = " पुरीष " कहा जाता है। इस कथन को स्पष्ट करने वाले अश्व सूक्त के ऋग्वेद के मन्त्र इस प्रकार हैं—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् समुद्रादुतवा पुरीषात् ।

श्रैणस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातं ते अर्वन् ॥

इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ इस प्रकार है— (ऋग्वेद-1, 163, 1)

यत् = जो या जिसने

अक्रन्दः = जोर से क्रन्दन करता हुआ हिनहिनाया। अथवा क्रन्दन क्रिया। क्रन्दन की ध्वनि कम्पन करते हुए की जाती है।

यह ऋत का बना अश्व कम्पन करते हुए गति करता है और ऋत के अन्दर नाद उत्पन्न करता है। वही इस अश्व का क्रन्दन है। 'अश्व' की तरंग चलती है।

प्रथमम् = पहिले

जायमानः = उत्पन्न होते हुए। जब ऋत की चारा में तरंग (wave) के रूप में सब से पहले अश्व उत्पन्न होता है तो तरंग में दोलन गति (oscillations) के द्वारा कम्पन उत्पन्न करता हुआ ऋत में नाद उत्पन्न करता हुआ क्रन्दन करता है। यह क्रन्दन 'पलित' भाग में होता है।

उत् ऽ धन् = उद्यन् = उदित होते हुए ।

समुद्रात् = अर्णव समुद्र से, अथवा क्षीर सागर से ।

उत वा = अथवा उससे ऊपर

पुरीषात् = क्षीर सागर के पुरीष क्षीर से । पुर के केन्द्र में स्थित पुर को शासित करने वाले क्षीर पुर के ईशा = 'पुरीष' क्षीर से । उस पुरीष क्षीर से रुद्र की ईशानी ऋत की चाराओं के द्वारा जो ऋत की चारा का अश्व बन कर अर्णव समुद्र में निकल कर द्यौ में गति करता है, उसी को यहाँ बताया गया है । अर्णव समुद्र में पहुँच कर यह 'पुरुष' की ऋत की चारा का 'अश्व' बन जाता है जिसका परिमाण (Magnitude) चौतीस अर्णवों की श्रृंखला की ऊर्जा के बल के बराबर होता है । प्रत्येक पुर की संरचना में जो उस पुर के केन्द्र में क्षीर होता है, उसमें 'ईशान' रूप में बैठा रुद्र अपनी 'ईशानी' ऋत की चाराओं के जाल को पुरुष की ऋत की चाराओं के द्वारा सारे पुर में रेखाओं के रूप में फैला देता है । इस प्रकार वह ईशान रुद्र तो उस पुर का यम (नियन्ता) देवता बन जाता है और वह केन्द्रिय क्षीर उस पुर का शासक 'ईशा' बन जाता है । अतः उस केन्द्रिय क्षीर को ही 'पुरीष' अर्थात् पुर का ईशा कहा जाता है । उस 'पुरीष' से ही 'अश्व' का सब से ऊपर प्रथम उदय होता है और उस क्षीर से उदित होकर वह अपने अर्ण में प्रवेश करता है । अपने अर्ण से निकल कर पूरे अर्णव समुद्र में गति करता हुआ उदित होता है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि रुद्र ओणु (Oṇu) की जीम में तीन चक्र पलित, अश्न, द्यूतपृष्ठ नाम के बनते हैं । 'पलित' नाम उनमें अर्ण के चक्र का है, जिसमें सत्यं, तपः, जनः, ये तीन ब्रह्म लोकाँ आते हैं । अतः यह 'अश्व'

पहले अर्णवों के अर्णव समुद्र में पलित में उदित होता है, फिर वहाँ से 'अश्न' नाम के नाभि के दूसरे चक्र में जाता है, जहाँ पर इन्द्र 'क' कण इस पर सब से पहिले सवार होकर चढ़ कर चल देता है। वहाँ इन्द्र में 'क' कण में स्थित दशमौलिक अर्थों का पदार्थ पृथिवी के द्रव्य के रूप में पृथिवी की तन्मात्रा 'गन्ध' के रात्र (गति = रबकने की गति) को चारण करता हुआ 'गन्धर्व' अर्थात् गन्ध का अर्बन् बन जाता है। अर्थात् जिस अश्व पर इन्द्र चढ़ जाता है, उसकी रथाना (लगाम) को गन्धर्व पकड़ लेता है और अपने साथ लेकर चल देता है। इसी कारण गन्ध विकिरण (Radiation) के द्वारा प्रसारित होती रहती है।

'अश्न' में गति करने के उपरान्त अश्न भाग में नाद उत्पन्न करता हुआ यह अश्व 'घृतपृष्ठ' में प्रवेश करता है। घृतपृष्ठ में इस अश्व पर 'न', 'चिक्', 'इत्' कण (Neutron, Proton, Electron particles) सवार हो जाते हैं और वे कम्पन करते हुए घृतपृष्ठ में नाद उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार रुद्र अणु (Atom) के अन्दर यह अश्व तीन प्रकार के नाद उत्पन्न करता हुआ क्रन्दन करता है और 'वाक्' के तीन परिमित पद उत्पन्न कर देता है जो अणु की नाभि की गुफा में निहित होते हैं।

जब रुद्र अणु के पूर्ण रूप से निकल कर यह अश्व दूसरे अणुओं में प्रवेश करता है तो उन सभी अणुओं में कम्पन गति उत्पन्न कर देता है। वे सभी अणु जो इस अश्व के परिमाण (Magnitude) के प्रभाव क्षेत्र की भूमि में आते हैं, वे सभी कम्पन करते हुए नाद उत्पन्न कर देते हैं और यह 'वाक्' का चौथा परिमित पद उत्पन्न हो जाता है, जिसे सभी मनुष्य या सभी जीव या प्राणी बोलते हैं।

इस प्रकार इस अश्व के क्रन्दन से वाक् के चार परिमित पद उत्पन्न हो जाते हैं, जिनमें तीन तो अणु की नाभि की गुफा में स्थित रहते हैं और चौथे को मनुष्य बोलते हैं। सृग्वेद में इसे इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक् परिमिता प्रयानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहितानि इन्द्रान्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

अर्थात् जो मनीषि ब्रह्मवैत्ता ब्राह्मण हैं वे वाक् के चार परिमित नापे हुए पदों को जानते हैं। उनमें तीन (अणु को नीमि को) गुप्ता में रखे हुए हैं, जो बाहर प्रकट नहीं होते। चौथा पद अणु को नीमि को गुप्ता से बाहर प्रकट होता है। वाणी के इस चौथे पद को मनुष्य बोलते हैं।

इस प्रकार प्रन्दन करता हुआ यह अश्व प्रथम रूप में पुरीष क्षीर से पुर में या अर्णव समुद्र से उदित होता है।

इयैनस्य पक्षा = यह अश्व पूरे द्यौ में अर्णव समुद्र के माध्यम से उड़ता हुआ गति करता है। ऋतु की तरंगों का बना होने के कारण यह द्यौ के पूरे ऋतु में उड़ता हुआ गति करता है। अतः इससे बाज पक्षी के जैसे तीव्र गति से उड़ने सुझाव पंख हैं।

हिरणस्य बाहू = जब यह ऋतु की तरंगों का अश्व चलता

है तो झटके मारता हुआ कुलों के भरता हुआ हिरण पशु की भाँति दौड़ता है। एक कुलों के भरने की दूरी इस अश्व की तरंग की एक wave length होती है। अतः इस अश्व की हिरण की सी दौड़ने की टांगें हैं।

उपऽस्तुत्यम् महिजातं ते अर्वन् = हे अश्व! पृथिवी के

रजकण एक मौलिक अर्थ के रूप में उत्पन्न होने वाला तेरा महिजात रूप स्तुति करने के योग्य है।

'पलित' से 'अर्वन्' भाग में प्रवेश करने के उपरान्त यह अश्व 'पुरुष' की ऋतु की चाराओं में चलने वाला अश्व बन जाता है।

और पुरुष के दशांगुल अक्षों पर चलता हुआ अति रूप से ठहर कर त्रित को प्राप्त होकर दशमौलिक अर्थ में बदल जाता है।

और महिजात रूप को चारण कर लेता है। तब इन्द्र इस पर सवार हो जाता है।

यमैर्न दत्तं त्रित रुन्मयुन विन्द्र रुणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।

गन्धर्वो अस्य रशनाम गृम्णात् सूर्यादश्वं वसवो निरतष्ठ ॥

(ऋग्वेद-1, 163, 2)

इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार बनता है —

यमेन = पुर के केन्द्रिय क्षीर में बैठे रुद्र के ईशान 'रूप' यम' के द्वारा केन्द्रिय क्षीर का रुद्र अपनी ईशानी श्रुत की चाराओं के जाल द्वारा सोरे पुर का नियन्त्रण बन कर उस पुर के सभी देवों के लिए 'यम' देवता का रूप बन जाता है। 'अश्व' भी उस पुर का एक देवता है। अतः इस 'अश्व' के लिए भी वह रुद्र 'यम' बन कर स्थित रहता है। उस केन्द्रिय क्षीर के रुद्र के ईशान रूप 'यम' के द्वारा

दत्तम् = दिया गया। अथवा दिये हुए को। वह 'यम' ही रुद्र का ईशान रूप है जो अपनी 'ईशानी' श्रुत की चाराओं के द्वारा इस 'अश्व' के रूप को प्रदान करता है। इस 'अश्व' को इसका स्वरूप यम के द्वारा ही दिया गया है। 'पलित' भाग में यह 'अ' के वामावर्त में यम के द्वारा ही भगाया जाता है। [अस्य वामस्य पलितस्य --] (ऋग्वेद-1, 164, 1) अर्थात् 'अ' के वामावर्त के भागते हुए श्रुत का- श्रुत के बने वामावर्त में भागते हुए अश्व का 'अ' रुद्र को भी शिव के रूप में बहा जाता है और विष्णु को भी बहा जाता है। क्षीर के केन्द्र में यह वामावर्त विष्णु का आवर्त ही बनता है, परन्तु इसका 'यम' ईशान रूप में रुद्र ही अपनी ईशानी श्रुत की चाराओं के द्वारा बनता है।

त्रितः स्रजम् अयुजन् = त्रित ने इस 'अश्व' को जोड़ा है। चौंतीस अर्णवों की दूरी चलकर पुरुष के दशांगुल अक्ष पर श्रुत की चारा का अश्व अति रूप से ठहर जाता है। [अति अतिष्ठ दशांगुलं] इस अति रूप से श्रुत की चारा के प्रवाह के ठहरने से वहाँ पर अर्णवों का श्रुत सञ्चित होकर तीन अर्णवों का सञ्च सधन होकर एक 'त्रित' देव की रचना हो जाती है। अतः यह 'त्रित' इस श्रुत की चारा के पुरुष के अश्व को प्राप्त करता है। इस 'त्रित' में सञ्चित तीन अर्णवों का श्रुत पीछे से आते हुए श्रुत के प्रवाह से दब कर और अधिष्ठ सधन रूप चारण कर के एक मौलिक अर्थ में बदल जाता है और वह अश्व उस मौलिक अर्थ में 'महिजातं' रूप में बदल जाता है। उस 'त्रित' पर आ कर इस अश्व की हिरण के रूप की एक कुलौंच (one wave length) बनती है। चौंतीस अर्णवों की बनी पसलियों की एक अश्व की लम्बाई (one wave length) बनती है। यह अश्व की एक बाठी की लम्बाई है। 'त्रित' के द्वारा एक अश्व की बाठी दूसरे अश्व की बाठी से जुड़ती है। अर्थात् चौंतीस अर्णवों की एक अश्व की दूरी के

पश्चात् दूसरे अक्ष के चौतीस अर्णवों की दूरी प्रारम्भ होती है। इस प्रकार अर्णव समुद्र में गति के अन्दर 'त्रित' ही इस ऋतु के बने अक्ष को जोड़ता है। पृष्ठ (79) पर चित्र में यह प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। जब पुरुष के अक्षों पर चलने वाले एक शीर्ष के सहस्र पाद बनते हैं तो 'त्रित' वहाँ पर एक शीर्ष के अक्ष के साथ सहस्र पादों के सहस्र अक्षों को जोड़ता है। इसी प्रकार 'त्रित' एक पाद के अक्ष के साथ दशांगुल के दस अक्षों को जोड़ता है। अक्षों के जुड़ने की प्रक्रिया 'त्रित' के द्वारा ही होती है।

एक अक्ष पुरीष अर्णु से निव्वलता है। पुरीष कीर जिस अर्णु का केन्द्र बनता है, वही अर्णु पुर का पुरीष अर्णु बन जाता है। 'अक्ष' के पुर का भी 'पुरीष' अर्णु वही अर्णु होता है जिससे प्रथम रूप में उदित होकर वह अक्ष निव्वलता है। फिर चौतीस अर्णवों की दूरी की यात्रा करके अक्ष के ऋतु का प्रवाह 'त्रित' के मीहजात अर्णवों के सञ्च पर रुकता है। उस त्रित को फिर आगे चलने के लिए वह अक्ष अपना पुरीष अर्णु बनाता है और चौतीसवें अर्णु पर बने 'त्रित' पर फिर रुक जाता है। इस प्रकार चौतीस - चौतीस अर्णवों की दूरी की हिरण की सी कुलों के भरता हुआ वह अक्ष दौड़ने लगाता है और 'त्रित' उनको जोड़ता चला जाता है।

इस प्रकार इन अक्षों के पुरुष की ऋतु की चाराओं के अक्षों पर दौड़ने से, सहस्र शीर्ष पुरुष, सहस्राक्ष, सहस्र पाद तथा दशांगुल वाले पुरुष की अर्णु की नाभि के पुर में रचना हो जाती है। उस 'पुरुष' के दशांगुल रूप द्वारा ही अर्णवों की ऊर्जा मौलिक अर्थों के पदार्थ के द्रव्य में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार ऊर्जा तथा पदार्थ के द्रव्य में भी इस मन्त्र के द्वारा यहाँ सापेक्षता का सिद्धान्त स्थापित हो जाता है। एक मौलिक अर्थ का स्वरूप एक अक्ष की ऋतु की चारा के वृत्त पर तना हुआ एक परावृत्त (Hypercircle) बनता है। परावृत्तों का माप बहुआयामी ज्यामिति में $x_1^2 + x_2^2 + x_3^2 + x_4^2 + \dots + x_n^2 = 1$ के सूत्र द्वारा माप लिया जाता है। $x_1, x_2, x_3, \dots, x_n$ ये सभी n अक्षों पर x दूरी की त्रिज्याएँ हैं। यदि हम x को एक इकाई अक्ष के बराबर मान लें तो 'पुरुष' में कुल परावृत्तों की संख्या = सहस्र शीर्ष सहस्राक्ष \times सहस्र पाद \times दशांगुलम् = $1000 \times 1000 \times 10 = 10^7$ बन जाती है। प्रत्येक अक्षों के जोड़ों के एक अक्ष में अर्णवों के परावृत्तों की संख्या 33.5 (सार्ध तीस) बनती है। एक अक्ष में चौतीस अर्णु जब दूसरे अक्ष के चौतीस अर्णवों में जुड़ते हैं तो त्रित का जोड़ने वाला अर्णु दोनों में उभयनिष्ठ हो जाता है। अतः दो अक्षों के जोड़ में $34 + 34 - 1 = 67$ (सड़सठ) अर्णु बनते हैं। उभयनिष्ठता के कारण त्रित के एक अर्णु की संख्या कम हो जाती है। अतः एक अक्ष में अर्णवों की ऊर्जा का परिमाण $67 = 33.5$ [$\therefore n(A \cup B) = n(A) + n(B) - n(A \cap B)$] (गणित का समुच्चय संचयन नियम)

(साठे तेतीस) अणुओं की ऊर्जा का बँटता है। अतः पुरुष के अन्दर बने अणुओं के परावृत्तों में ऊर्जा का परिमाण $(33.5 \times 10^7) = (3.35 \times 10^8)^2$ परावृत्तों की इकाई के बराबर होगा।

यदि हम पदार्थ की मात्रा का परिमाण m मान लें और ऊर्जा का परिमाण E मान लें तो यहाँ पर यह सूत्र $E = m(3.35 \times 10^8)^2$ बन जाता है जो आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित सूत्र $E = mc^2$ का सुधरा हुआ रूप है। आइन्स्टाइन ने c का मान प्रकाश की गति को माना है जो $(2.999 \dots \times 10^8)$ के लगभग बराबर हो जाती है। अतः यह सूत्र गणना को कुछ उचित परिमाण के समीप पहुँचा देता है, परन्तु शुद्ध गणना का स्वरूप प्रकट नहीं करता। इस सूत्र में यह अशुद्धि है कि c में जो प्रकाश की गति गिनी गई है वह प्रकाशकण photon की गति है। जिस समय आइन्स्टाइन ने यह सूत्र बनाया, उस समय आइन्स्टाइन को यह बात नहीं था कि photon भी Radiate हो कर ऊर्जा में बदलता है। Photon में भी mass है। उस photon के mass के Radiate होने पर ही फोटो वोल्टिक सेल में photons से विद्युत की ऊर्जा बनती है। तभी तो फोटो वोल्टिक सोलर सेल विद्युत को चारा का प्रवाह करने लगता है। अतः प्रकाश की गति से भी आगे photon के Radiation से आगे भी ऊर्जा का उत्पादन होता है। उसकी गणना इसमें समाहित नहीं है। अतः आइन्स्टाइन का सूत्र $E = mc^2$ अशुद्ध है। इसकी तुलना में वेद द्वारा प्रतिपादित सूत्र $E = m(3.35 \times 10^8)^2$ पूर्ण रूप से शुद्ध है। इसमें E के अन्दर ऊर्जा की इकाई रूप अणु की ऊर्जा है। तथा m के अन्दर पदार्थ की मात्रा की इकाई रूप 'क' का अणु है। प्रतिमा की प्रमा की मात्रा 'क' का ही माना गया है। 'क' का सीत प्रमा प्रतिमा ... "(ऋग्वेद 10, 130, 3) में यही बताया गया है कि 'क' का ही प्रतिमा के पदार्थ की मात्रा की इकाई की 'प्रमा' था। जब किसी अर्थ-पिण्ड की प्रतिमा बनी थी, तो उस समय 'क' का ही पदार्थ की मात्राओं की इकाईयों से मिल कर ही उस प्रतिमा के पदार्थ की मात्रा बनी।

इन्द्रः सुनम् प्रथमः अधिष्ठितः = 'क' का इन्द्र इस अर्थ पर सब से पहले चढ़ कर बैठा है। यहाँ भी अर्थ की ऊर्जा से सर्वप्रथम 'क' का इन्द्र का ही सम्बन्ध बताया गया है। अतः हमारा पूर्वोक्त सूत्र $E = m(3.35 \times 10^8)^2$ सही बैठता है।

गन्धर्वः अस्य रश्मिनाम् अगृह्णात् = पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध को रबबाने वाले गन्धर्व ने इस अश्व की रश्मि को पकड़ा है जिस पर इन्द्र का 'ळ' ळण चढ़ा हुआ है। अर्थात् 'ळ' ळणों के द्वारा ही गन्ध विव्यरित हो कर बहती है। अर्थात् Radiate होती है।

सूरात् अश्वम् वसवः निः अतष्ट = सूर्य चक्षुः (Phetom) सूर्य के रजः ळण से वसुओं ने गन्ध को रबबाने वाले और 'ळ' ळण इन्द्र की सवारी वाले गन्धर्व के गन्ध के अर्वा (गन्ध के अश्व) को वसु देवताओं ने बनाया है। अर्थात् गन्ध का Radiation उन Phetom ळणों के द्वारा होता है जो सप्तपरावृत के अन्दर अश्विनो के ग्रहण से गति करते हैं, परन्तु प्रकाश की ऊर्जा नहीं छोड़ते। जो अष्टापरावृत में ग्रहित होते हैं, (पृष्ठ 697 पर बना चित्र) वे अश्विनो के विकिरण के द्वारा प्रकाश भी छोड़ते हैं और गति भी करते हैं, उनसे द्वारा भी गन्ध का विकिरण होता है। दोनों अवस्थाओं में स्थित Phetom ळणों से गन्ध विव्यरित होती है। Phetom की रचना का चित्र पृष्ठ 82 पर देखें जो सूर्य चक्षुः (Phetom) के सप्तपरावृत (Seven hypercircle) के रूप में बना हुआ है जो प्रकाश नहीं देता है। यह सूर्य का ही अंश है। अतः यहाँ सूर्य से, अथवा सूर्य के अंश से गन्धर्व के अश्व की रचना वसुओं द्वारा कृत बताई गई है।

घोड़े की सरपट दौड़ने की गति रबबाने की गति कहलाती है।

गन्धम् रवयति यः सः गन्धर्वः। गन्धस्य अर्वा इति गन्धर्वः। इन दोनों प्रकार से गन्धर्व शब्द की निष्पत्ति होती है। अर्थात् गन्ध को रबबाने वाला गन्धर्व है अथवा गन्ध को वहन करने वाला अर्वा (=अश्व) गन्धर्व है। 'सराणात् सूर्यः' के अनुसार ऋत की सरण गति (Linear motion) ऋत प्यार में होने के कारण उस ऋत में वह कर चलने वाले, सरण गति करने वाले प्रत्येक अश्व के सूर्य का अंश कहा जाता है। इस सरण गति में प्रत्येक सूर्य द्वार पर ऋत संकल्प को प्यारण करने वाले नये देव की रचना करता है। सृजन के क्रम में ऐसे सूर्य के जो द्वार बताये जाते हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा।

रुख अश्व की रचना में चौतीस पसलियाँ ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में बताई गई हैं-

चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धोर्वङ् श्रीरश्वस्य स्त्रीधितिः समैति।
अचक्रद्वागात्रा वयुना कृणोत् परुष्यरुनुद्युष्या विशस्त ॥ (ऋग्वेद - 1-162-48)

इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार बनेते हैं—

चतुः ऽ त्रिंशत् = चौतीस

वाजिनः = बैगा वाले की

देव ऽ बन्धोः = देवताओं के बन्धु की। जो प्रत्येक देव के साथ
उसका सहोदर बन्धु बन कर रहता है, उस
ऋत के बने अश्व की।

वङ्क्लीः = पसली की हड्डियों की। काठी की पसलियों की।

अश्वस्य = अश्व की।

स्व ऽ धीतिः = छुरी। स्वः लोक में काटने वाली छुरी।

सम् स्मृतिः = सम्ग्रह प्रकार से घुसती है।

अच्छिद्रा = जिन पसलियों के मध्य में शरीर में कोई छेद नहीं है।

गात्रा = अंगों की।

वयुजा = ज्ञान पूर्वक

कृणोत = कृन्तत = काटो।

परु ऽ परुः = प्रत्येक पसली के अंग की पौरी-पौरी की।

अनु ऽ व्युष्य = अनुद्योषित करके। सुना कर के। जोर से बोल कर के।

वि शस्त = विशेष रूप से काटो।

अर्थात् जो देवताओं का सहोदर बन्धु अश्व है, अर्थात् जब कोई देव ऋत से उत्पन्न होता है तो उसके साथ उस देव को वहन करने वाला उसका ऋत का बना अश्व भी ऋत की तरंग के रूप में जन्म लेता है। अतः ऋग्वेद का अश्व प्रत्येक देव का सहोदर बन्धु है। ऐसे देव बन्धु और बैगा वाले अश्व के गात में चौतीस पसलियाँ हैं। इस चौतीस पसलियों के गात में कटे-फटे होने का कहीं भी कोई छेद नहीं है। इस चौतीस पसलियों के गात को काटने के लिए इसमें छुरी प्रवेश करती है। इसकी प्रत्येक पसली के अंग को काट कर ज्ञान पूर्वक पौरी-पौरी के रूप में अलग-अलग करे। इस विशेष रूप से काटने की प्रक्रिया को सभी को जोर से सुना कर, अनुद्योषित करके करे। अर्णव समुद्र में चलने वाले इस अश्व की चौतीस पसलियाँ चौतीस

अर्णवों की श्रृंखला से बनती हैं। एक अर्णु से एक पसली बन जाती है। ये चौंतीस अर्णु एक दूसरे से श्रृंखला में इस प्रकार सट कर अच्छी तरह जुड़े होते हैं कि उन अर्णवों के बीच के मध्यान्तर में कोई भी खाली स्थान या खेद नहीं रहता। एक अर्णु में से मृत निकल कर दूसरे अर्णु में पूर्ण रूप से तथा सुचारु रूप से चला जाता है। वह चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला में से किसी भी छिद्र द्वारा बाहर निकल कर नहीं जाता। क्योंकि कि उस चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला के चैनल में अथवा पाइप में कहीं भी कोई ऐसा छिद्र नहीं होता जिस से रस कर अश्व की मृत की चारा का मृत उस छिद्र से बाहर निकल जाये। इसी कारण उस अश्व में अनन्त दूरी चलने के उपरान्त भी उतनी ही ऊर्जा बनी रहती है और वह अश्व पूरे ब्रह्माण्ड में अर्णव समुद्र में अपने ऊर्जा के बल को स्थिर रखता हुआ गति कर जाता है। इसी कारण हम Radio-waves के द्वारा चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों पर पहुँचे हुए उपग्रहों के Radio signals के संदेशों को पृथिवी पर बैठे हुए प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। अतः इस मृत की चाराओं की तरंगों के बने अश्व का गति छिद्र रहित कहा गया है।

इस अश्व की गति करते समय पुरीष अर्णु से लेकर मीहजात अर्णु तक चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला की दूरी एक wave length बन जाती है। इस wave length को कम करने के लिए इस अश्व की पसलियों को छुरी से काटा जाता है। एक पसली को काट कर निम्नलिखित से उस अश्व की wave length तेतीस अर्णवों की श्रृंखला की दूरी रह जाती है। इस wave length के कम होने से अश्व के मृत की दोलन संख्या (Frequency) बढ़ जाती है, क्योंकि कि अब उस मृत को उतने ही समय में उतनी ही दूरी चलने के लिए पुरीष अर्णु और मीहजात अर्णु के मध्य अधिक बार घूमना पड़ता है। इस प्रकार छुरी से अश्व की पसलियों को काट कर पोरी-पोरी को अलग करने से उस अश्व के मृत की तरंगों में wave length और Frequency में अन्तर डाल कर मृत की चाराओं के विभिन्न चैनल बनाये जा सकते हैं। यहाँ Transmitter ही वह छुरी बनती है जो अश्व को इन Radio-waves की wave length और frequency को बदलने में समर्थ होती है। अश्व की पसलियों को एक-एक पोरी को काट कर अलग करते समय उसकी अनुचोषणा सभी के सामने कर देनी चाहिए ताकि उस wave-length और frequency की मृत की तरंगों के अश्व को दूसरे लोग अपने-

रिसीवर पर पकड़ कर उसके द्वारा प्रसारित संदेश को ग्रहण कर सकें।

जहाँ पुरुष की श्रुति की धाराओं के अक्ष की पसलियों को बिना कोटे प्रकृति में सुचारु रूप से चलने दिया जाता है, वहाँ इस अक्ष की wave length की दूरी चौंतीस अर्णवों की श्रृंखला की दूरी ही होती है। अतः पदार्थ के द्रव्य और ऊर्जा में सापेक्षता का सिद्धान्त बनाने के लिए इस मन्त्र के अनुसार $E = m \cdot (3.35 \times 10^8)^2$ की समीकरण सिद्ध होती है। इसे संस्कृत में इस प्रकार लिखा जा सकता है—

$$\text{अर्णवों की ऊर्जा} = \text{प्रतिमाया: पदार्थस्य क'कणेषु मात्रा} \times (3.35 \times 10^8)^2$$

अर्थात्

अर्णवों में ऊर्जा का परिमाण = प्रतिमा के पदार्थ की क'कणों में मात्रा $\times (3.35 \times 10^8)^2$
यहाँ पर 3.35×10^8 की संख्या साढ़े तेतीस करोड़ बनती है। स्वयं अणु की शक्ति के पुरुष में साढ़े तेतीस करोड़ अर्णवों में विभिन्न प्रकार के संकल्पों को द्योतित करने वाले द्यौ में स्थित ये साढ़े तेतीस करोड़ देवता बस जाते हैं। पुराणों में इन्हीं साढ़े तेतीस करोड़ देवताओं को पुरुष के विराट् स्वरूप में स्थित बताया है जो सारी सृष्टि का सृजन करते हैं।

एक अक्ष में चौंतीस अर्णवों की पुष्टि आधुनिक विज्ञान के इस तथ्य से भी हो जाती है कि जो Long periodic Table है, उसकी छटी पंक्ति में तत्त्वों की अधिकतम संख्या बत्तीस बनती है। अक्ष के पुरीष अर्णु और माहिजात अर्णु का स्वरूप तो परिणाम के द्योतक बन कर स्थिर रहते हैं और उनके मध्य में स्थित बत्तीस अर्णु अपने संकल्पों का रूप बदलने वाले परिवर्तन शील होते हैं, जिन्हें उपरोक्त मन्त्र में बताई गई छुरी से काटा भी जा सकता है। इस प्रकार बत्तीस अर्णु बत्तीस प्रकार का परिवर्तन लाने में समर्थ हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप Long periodic Table की छटी पंक्ति में तत्त्वों की विभिन्नता अधिकतम रूप में बत्तीस प्रकार की ही बन पाती है। पृष्ठ (86) पर Long periodic Table की छटी पंक्ति में तत्त्वों की संख्या को देखें। यह आवल लोको में 'रसातल' की पंक्ति में आने वाले तत्त्वों के स्वरूप को दर्शाती है। बत्तीस प्रकार के रसावों (Radiations from the nucleus) को अणु की शक्ति से तथा अणु के बाह्यतम पृष्ठ तल से प्रकट करने वाला यह रसातल होता है, जो बत्तीस प्रकार के अणुओं के तत्त्वों का रूप वर्ण बना देता है। यही वर्ण रसातल के देवों को प्रकट करने वाला बन जाता है।

यहाँ पर यह स्वयं अक्ष में चौंतीस अर्णवों की बनी चौंतीस पसलियों का होने का आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त साक्षात् प्रमाण मिल जाता है, जिनमें बत्तीस

परिवर्तनशील (variable) और दो स्थिर (constant) रह कर परिणाम (405) 14
के द्योतक बनते हैं। नीचे "सहस्र शीर्षा पुरुषः ---" की रचना का चित्र देखें। 3

पृष्ठ 79 पर दिया गया चित्र भी देखें।

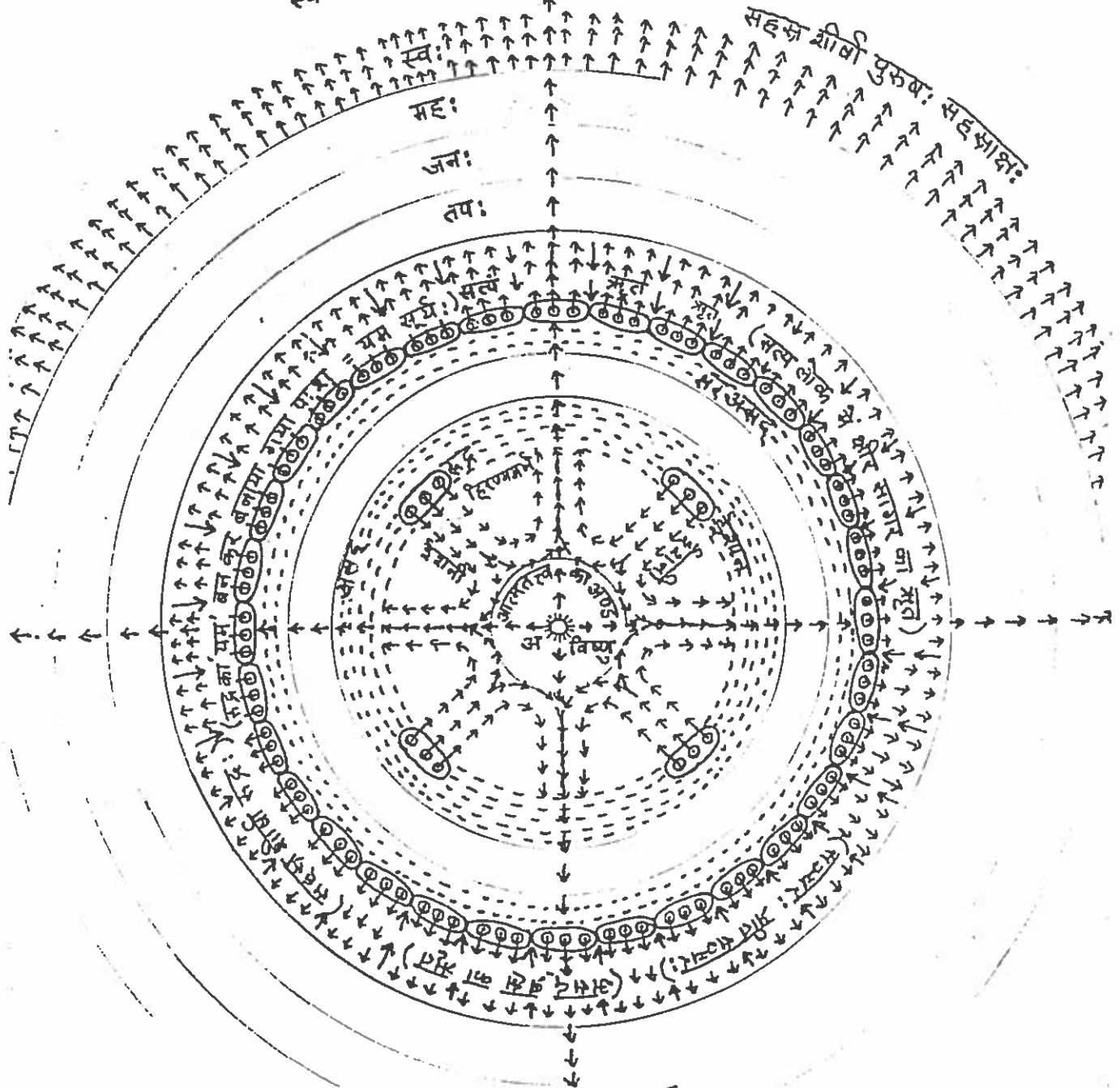
चित्र = 53

दशमीलिकायाँ का बना 'क' कण (इन्द्र)

स भूमिं विश्रवतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशंगुलम्।

सहस्र पातः।

स्वः लोक



पुरुष स्वेदं सर्वम् यद्भूतं यच्च भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहीति ॥ (15)

‘पुरुष’ ही यह सब कुछ है जो भूत के पदार्थ रूप में हो गया है या होने वाला है । वह ईशान स्रष्टा ही भूत के अपने अमृतत्व के अन्न के द्वारा भूत के सृजन की वृद्धि करता है ।

पञ्च महाभूतों में स्थित प्रत्येक भूत का जो रूप बन चुका है या आगे भी वही में बनने वाला है, वह सब कुछ पुरुष की दशांगुल भूमि का ही रूप है जिसकी दशांगुल भूत की चाराओं के द्वारा अति-अतिष्ठत् रूप से दशमौलिक अर्थों की रचना पीछे बताई गई विधि से हो जाती है । इन्हीं दशमौलिक अर्थों से स्वयं ‘व्य’ व्यण की रचना हो जाती है । यही ‘व्य’ व्यण प्रत्येक देव की प्रतिमा के पोषण के लिए अन्न की ‘प्रमा’ बन कर उसकी वृद्धि करता है । जैसे कि पीछे बताया जा चुका है कि ‘प्रमा’ पदार्थ की मात्रा की इकाई को कहते हैं, जिस इकाई के अवयवों के द्वारा मिल कर किसी प्रतिमा के सारे पदार्थ की मात्रा बनती है । ‘मा’, ‘प्रमा’, ‘प्रतिमा’, इन तीनों शब्दों की व्याख्या पीछे की जा चुकी है । ‘मा’ पदार्थ के द्रव्य (matter) को कहते हैं । ‘प्रमा’ उस पदार्थ के द्रव्य की रचना करने वाले अवयव की इकाई को कहते हैं, जो कि ‘व्य’ व्यण बताया गया है । ‘प्रतिमा’ पदार्थ के द्रव्य द्वारा किसी विशेष स्वरूप को चोरीत करने वाले देव की आवृत्ति को कहते हैं । इस प्रकार ‘मा’ तो ‘भूत’ बन गया और ‘प्रमा’ ‘व्य’ व्यण उसका वह अन्न बन जाता है जिस के द्वारा किसी देव की प्रतिमा का सृजन के क्रम में पोषण होता है । उसी अन्न के पोषण से वह देव वृद्धि को प्राप्त करता है । स्वयं देव से अनेकों देव उसी प्रकार के बन जाते हैं ।

परन्तु ‘पुरुष’ में यह भूत की चाराओं का प्रवाह जो ‘भूत’ के रूप में परिवर्तित होता है वह ईशान के अमृतत्व के असद-ब्रह्म के भूत की चाराओं का स्वरूप ही सत्य लोको से ऊपर आया हुआ स्वः लोको में पुरुष की भूत की चाराओं का स्वरूप बनता है । भूत की चाराओं के ईशानी रूपों से बना जालवान वह ईशान ही ऊपर आ कर स्वः लोको में पुरुष की, भूत की चाराओं को

अवसृष्ट करता है और उनको 'त्रित' देवता के रूप में बदल कर ऋत को अत्यन्त सद्यन करके मौलिक अर्थ में बदल देता है। फिर वे ही मौलिक अर्थ 'क' व्यंजनों का रूप ले कर स्वः लोको के, भुवः लोको के, भूः लोको के तथा पाताल लोको के ऊपर के देवों को रचना करते हैं तथा उनका अन्न बन कर उस भोज्य अन्न के द्वारा उनको वृद्धि करते हैं।

इस प्रकार यहाँ पुरुष के स्वरूप में भी ईशान रूप के रुद्र का क्रांति होता है। यदि रुद्र पुरुष को ऋत को दशांगुल चाराओं को अवसृष्ट करके अति-अतिष्ठत् (स्वस्थान पर अति रूप से ऊँचे हुए) का रूप प्रदान नहीं करेगा और रुद्र पोटली के पिण्डों के रूप में उस ऋत को सद्यन करके नहीं बाँचेगा तो पुरुष के दशांगुल रूप द्वारा दशमौलिकार्थों का भूत का सद्यन रूप बन ही नहीं सकता। अतः अमृतत्व का ईशान ही ऊपर अन्न के द्वारा भूत की वृद्धि करता है। सत्य लोको से ऊपर सभी लोकों तथा सभी पाताल लोकों में उस रुद्र का ईशान के स्वरूप में रूप आ जाता है जो ऋत को अवसृष्ट करता हुआ प्रत्येक देव के भूत को उसके अन्न द्वारा वृद्धि करता रहता है। इसी कारण इस मन्त्र में, "यत् अमृतत्वस्य ईशानः उत अन्नेन अतिरोहीत" - कहा है। अर्थात् जो अमृतत्व ऋत का ईशान है, वह ऊपर के लोकों में स्थित देवताओं को उनके अन्न के द्वारा वृद्धि करता है। "पुरुष एव इदम् सर्वम् यद् भूतम् यच्च भव्यम्।" अर्थात् सृष्टि में पञ्चमहाभूतों के रूप में पदार्थ के द्रव्य का जो सारा भूत रूप विद्यमान है या भूत रूप में बदलने वाला है, वह सब पुरुष को ऋत की चाराओं का ही स्वरूप है। यही रुद्र के ईशान रूप द्वारा भूत के मौलिक अर्थों में बदल कर अन्न के द्वारा देवताओं की प्रतिमाओं की वृद्धि करता है और सृष्टि का वर्तमान स्वरूप प्रकट करता है।

इस प्रकार रुद्र, पुरुष के सहयोग से अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) में तीन प्रकार के वृत्तों के चक्र 'पलित', 'अन्न', 'वृत्तपृष्ठ', बन जाते हैं। पलित में शुद्ध रूप में ऋत की रचनाएँ रहती हैं, 'अन्न' में पुरुष की सत्ता से दशमौलिकार्थों की रचना हो कर ऋत तथा भूत का मिश्रित स्वरूप रहता है और वृत्तपृष्ठ में भूत की रचना पूर्ण रूप से हो जाती है।

इस मन्त्र की व्याख्या में 'मा', 'प्रमा', 'प्रतिमा' का जो वर्णन किया है, ऋग्वेद में उनका मन्त्र इस प्रकार है —

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदान्माज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् ।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थ यद्देवा देवमयेजन्त विश्वे ॥

(ऋग्वेद - 10, 130, 3)

अर्थात् प्रतिमा की प्रमा क्या था । प्रतिमा का निदान, आज्य भोजन क्या था जो वह अपनी परिधि में रह कर करता है । इसका उत्तर दिया — "क आसीत्" — अर्थात् 'क' कण था । आगे गमन की गति में नाद करने का छन्द क्या था और वह पिधान क्या था जो स्वयं देव के द्वारा दूसरे देव की सृष्टि का यज्ञ चल रहा है । यहाँ भी इन प्रश्नों का उत्तर, "क कण ही था," है । अर्थात् 'क' कण तरंगों की धाराओं में गति करता हुआ प्रत्येक देव में विशेष छन्द की रचना का नाद उत्पन्न करता है और चलता हुआ प्रत्येक देव की प्रतिमा का अन्न बनता हुआ आज्य बन कर प्रत्येक देव के सृजन के यज्ञ को सञ्चालित करता है । इस प्रकार स्वयं देव से दूसरे देव का यज्ञ चलता रहता है । अर्थात् स्वयं देव के स्वरूप के आज्य (हवि) से दूसरे देव के स्वरूप की रचना का यज्ञ चलता रहता है ।

यजुर्वेद में भी इसी कथन को — "माच्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, प्रतिमाच्छन्दः" (यजुर्वेद 14, 18) कह कर बताया है । अर्थात् पदार्थ के द्रव्य (matter) का प्रत्येक भूत का नाद का छन्द अलग-अलग होता है । प्रत्येक देव की प्रतिमा के नाद का छन्द अलग-अलग होता है और प्रत्येक देव की प्रतिमा में स्थित पदार्थ की मात्रा की इकाई को बताने वाले 'प्रमा' के नाद का छन्द अलग होता है । मे सभी छन्द अलग-अलग होते हैं । प्रत्येक की तरंग (wave) की भिन्नता के कारण प्रत्येक की नाद का छन्द अलग-अलग हो जाता है । इन तरंगों को भी प्रत्येक देव में तथा प्रत्येक भूत में जन्म देने वाली तथा सत्ता में स्थिर रखने वाली 'पुरुष' की श्रुति की धाराएँ ही होती हैं । अतः यहाँ, "पुरुष स्वैदम् सर्वम् यद्भूतं यच्च भव्यम्," कहा है ।

यहाँ इस मन्त्र में जो यह कहा गया है कि ईशान अमृतत्व के अन्न से वृद्धि करता है तो ईशान के ईशानी चाराओं में विद्यमान ऋत के 'अन्न' व्योम्न कहा गया है। 'अन्न' हमारे शरीर की प्रतिमा के प्रत्येक अवयव की वृद्धि तथा पोषण करता है। 'अन्न' शब्द अ + न = अन्न, न को क्षित्व होकर सिद्ध होता है। 'अ' अणु की नाभि के केन्द्र में विष्णु का स्वरूप बन कर स्थित है और 'न' ऋण (Neutral) अणु की नाभि की नैमि के बाह्यतम पृष्ठ पर स्थित है। अतः 'अ' से लेकर 'न' तक के सभी देवों का सृजन, पोषण तथा वृद्धि करने वाला ईशान रुद्र की ईशानी का ऋत चारा के रूप में प्रवाहित यहाँ 'अन्न' कहा गया है। अर्थात् 'अ' से लेकर 'न' तक के सृजन का योग स्थापित करने वाला तथा उसे पोषित और वृद्धि करने वाला 'अन्न' होता है। अतः यहाँ, " अमृतत्वस्य ईशानः अन्नेन अतिरोहीत " कहा गया है।

सर्वतः पाणि पादं तत्सर्वतोऽीक्ष शिरो मुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ (16)

यह पुरुष सभी ओर हाथों वाला तथा सभी ओर पैरों वाला है। वह सभी ओर के अक्ष पर शीर्ष वाला तथा मुख वाला है। वह सभी ओर कानों वाला है। वह अपने लोक में सब के ऊपर छा कर ठहरा रहता है। पुरुष की ऋत की चाराओं की गति अपने उद्गम स्थल से सभी ओर होती है। उसके पुर में सभी ओर उस पुरुष की गति की रेखाओं के अक्ष बने होते हैं। अतः वह सभी ओर उन अक्षों पर अपने ऋत की चाराओं के रूप में अपने अक्षों के शीर्ष में चलता है। अतः वह सब ओर पाद वाला (सहस्र पाद वाला) तथा सभी ओर उन पादों में दशांगुल पाणि वाला कहा गया है। अपने पाद में दशांगुल ऋत की चाराओं के रूप में बँट कर चौतीस अर्णवों की दूरी चल कर अति रूप से ठहर जाता है और वहाँ रुद्र के ईशान रूप द्वारा ऋत को अवसृष्ट करके दशमौलिकार्थों की गिरियों की रचना कर देता है। ऐसा लगता है जैसे कि उस पुरुष ने अपने दशांगुल पाणि में उन दशमौलिक अर्थों की गिरियों को पकड़ रखा हो। अतः वह सब ओर हाथों वाला तथा सब ओर पैरों वाला कहा गया है। जब यह दशांगुल शीर्षों में चौतीस अर्णवों की दूरी चल कर अति रूप से ठहरता है और दशमौलिकार्थों की रचना करता हुआ ऋत का अति सघन सञ्च करता है तो ऐसा लगता है जैसे यह अपने उस ओर के मुख द्वारा ऋत को खाकर अपने उदर में सञ्चित कर रहा हो। यह क्रिया सभी ओर के सहस्र अक्षों पर चलने वाले ऋत के बने अक्षों के सहस्र शीर्षों में और

प्रत्येक शीर्ष में लगे सहस्र पादों में और प्रत्येक पाद के दशांगुल भूमि के पाणि के शिर पर ऋत को खाने की होती है। अतः वह पुरुष सभी ओर के पाणि, सभी ओर के पाद, सभी ओर के अक्ष पर शिर वाला तथा ऋत को खाने के मुख वाला कहा गया है। इस ऋत को अवरुद्ध करके खाने की प्रक्रिया द्वारा ही पुरुष पहले सूक्ष्म राजाओं के देवों की रचना करता है, फिर उन सूक्ष्म राजाओं के देवों से उन सूक्ष्म राजाओं को अवरुद्ध करके बड़े अर्धपिण्डों के देवों की रचना करता है। फिर उन बड़े अर्धपिण्डों से और बड़े अर्धपिण्डों की रचना करता है। इस प्रकार वह पुरुष सभी ओर शिर वाला तथा सभी ओर मुख वाला बन जाता है।

वह सभी ओर के नाद को सुन कर चलने वाला है। अतः वह सभी ओर कानों वाला कहा गया है। जिस लोक में जिधर से ऋत की चारा के कम दाब का नाद सुनाई देता है, उसी ओर इसके ऋत की चारा का प्रवाह अपना दबाव बढ़ा कर स्थिति को सामान्य और सन्तुलित कर लेता है। इस प्रकार पुरुष प्रत्येक लोक में सभी देवों के ऊपर अपने ऋत की चारा का आवरण बना कर, उनके ऊपर छा कर ठहरा रहता है। इस सृष्टि के लोक में जो भी सृजन हमने सुना है, उस सारे सृजन को सभी ओर से अपनी ऋत की चाराओं से ढक कर वह पुरुष इस सृष्टि के सृजन के पुर में ठहरा हुआ है। [सर्वतः श्रुतिमतः लोके सर्वम् आवृत्य (सः पुरुषः) तिष्ठति।]

पाणि (हाथ) का काम पकड़ कर अपनी मुट्ठी के कब्जे में किसी भी द्रव्य को करना होता है। पुरुष भी ऋत के दशांगुल रूप द्वारा दशमौलिक अर्धों के द्रव्य को पकड़ कर अपने अधिष्ठाता में नियन्त्रित कर लेता है। अतः वह "सर्वतः पाणि" (अर्थात् सभी ओर हाथों वाला) कहा गया है।

पुरुष की ऋत की चारा का गमन सभी ओर के अक्षों के शीर्ष पर होता है। गमन का कार्य पैर करते हैं। अतः वह पुरुष और के अक्ष पर चलने वाला पैरों वाला कहा गया है। पुरुष की ऋत की चारायें रुद्र के प्रत्येक ईशानी के अक्ष पर चलती हैं। अतः वह सभी ओर आँखों वाला कहा गया है। उसकी सभी ओर की आँखों से ऋत की चारायें प्रस्यूटित हो कर आगे प्रवाहित होती रहती हैं। उसके सभी ओर के अक्षों पर शिर, मुख हैं। अतः वह पुरुष सभी ओर शिर, मुख वाला कहा गया है। श्रुति के अनुसार वह इस लोक में सभी के ऊपर अपनी ऋत की चाराओं का आवरण बना कर ठहरा हुआ है। वह सभी ओर कानों वाला है। सभी ओर के नाद को सुन कर

वह अपने ऋतु की चारा के प्रवाह को सभी ओर सामान्य अवस्था में
स्थापित करने के लिए नियन्त्रित करने वाला है।

पुरुष अपने सभी ओर के अक्षों पर शिर, मुख वाला बनता है।
अक्ष का क्षिण तो उस पुरुष का शिर बन जाता है और उस शिरे पर
वह धी में विद्यमान अर्णवों को अपने शिरे की रश्मि के व्यूह के
चक्र में ग्राहित करता हुआ खाता रहता है और अर्ध-पिण्डों की रचना
करता रहता है। अतः प्रत्येक शिरे के शिर पर वह अर्णवों को खाने
वाले मुख वाला बन जाता है। यजुर्वेद में भी यही बात कही गई है -

स पर्यगाच्छुक्रमकायमग्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापीबद्धम् ।

कीवर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याधातयतोऽर्धोन्व्यवधाच्छावतीभ्यः

समाभ्यः ॥

इसका अर्थ है कि वह पुरुष सभी ओर अपनी ऋतु की चाराओं
के द्वारा गया हुआ है। वह सभी रचनाओं के बीज के रूप में शुद्ध है।
वह काया रहित है। वह किसी व्रण (घाव) के रहित है। अर्थात्
उसके ऋतु के अर्णवों का गात छिद्र रहित है। वह स्नायु तन्त्र
के रहित है और अपनी ऋतु की चाराओं का शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप
से स्वयं रचना करने वाला है। अतः वह शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप का
है। वह पापों से बिँधने वाला नहीं है, अपितु वह प्रत्येक अपः
(पदार्थ के मौलिक अर्थों के स्वरूप) को बिँध करने वाला है तथा
उसे बिँध करके अपने नियन्त्रण में करने वाला है। गोपथ ब्राह्मण
(1, 39) में 'सर्वमापौमग्रं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्' (१) बता कर 'आपः'
का अर्थ-भूत के पदार्थ के मौलिक अर्थ - को बताया है। 'आपः' शब्द
'अपः' से बनता है। अपः अपः = अप + अपः = अपापः (सामान्य
पद में विभक्ति का लोप)। अपः अपः बिँधम् इति अपापबिँधम्।
प्रत्येक मौलिक अर्थ के अपः को बिँध करने वाला अपापबिँधम्
पुरुष कहलाता है।

वह पुरुष ज्ञान दृष्टा कवि, मनीषी, सब को आवृत करने रहने वाला
परिभूः और स्वयं अपनी रचना करने वाला स्वयम्भूः है। वह शाश्वत
काल से यद्यप्यौवम अर्थों की रचना प्रत्येक भूत के पदार्थ के द्रव्य में
करता आया है।

इस मन्त्र के इसी भाग के अर्थ को यहाँ, "सर्वेन्द्रिय आवृत्त्य लोके तिष्ठति" कह कर 'पुरुष' के स्वरूप को बताया है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ (17)

प्रत्येक अर्धपिण्ड के बने पुर रूपी शरीर में सभी इन्द्रियों के गुणों को प्रकाशित करने वाला 'पुरुष' है, परन्तु वह पुरुष स्वयं सभी इन्द्रियों से रहित है। वह पुरुष सभी अर्धपिण्डों के सभी मौलिक अर्थों पर छा कर सभी को निग्रीकृत करने वाला सभी का प्रभु है और सभी का 'ईशान' बन जाता है। रुद्र का जो 'ईशान' रूप 'ईशानी' ऋतु की चाराओं के जाल से जालवान बन कर बनता है, वही 'ईशान' रूप पुरुष की ऋतु की चाराओं के जाल से जालवान बन कर 'पुर' में 'पुरुष' बन जाता है। अतः 'पुरुष' भी 'पुर' का 'ईशान' बन जाता है। यह बृहत् पुरुष जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, सब का महान आश्रय है। अर्थात् सम्भूति की अवस्था भी पुरुष के ऋतु की चाराओं के द्वारा होती है और विनाश के क्रम में भी प्रत्येक अर्धपिण्ड विनष्ट होकर पुरुष के ऋतु की चाराओं के शरण में ही जाता है। जहाँ से पुरुष की ऋतु की चारा से अर्धपिण्ड जन्म लेता है, विनष्ट होकर अन्त में उसी पुरुष के ऋतु में मिल जाता है। पुरुष का ऋतु अर्णव समुद्र में अर्णवों का बना होता है जो द्यौ में पञ्चावर्त की रचना करता है और जिससे द्यौ सदैव उग्र रूप चारण किंये हुए रहता है। अणु की नीमि भी रूप पुर है। उसमें पञ्चावर्त की रचना की पीछे समझा दिया गया है। जैसे अणु के पिण्ड में पञ्चावर्त बनता है, उसी प्रकार बृहत् ब्रह्माण्ड में भी पञ्चावर्त बनता है। "प्रथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" - वेदविज्ञान का यह सूत्र इसी कथन को स्पष्ट करता है। जैसे अणु की नीमि में 'पुरुष' का स्वरूप अब तब रूप अणु के पिण्ड के अन्तर समझाया गया है वैसे ही स्वरूप पुरुष का बृहत् ब्रह्माण्ड में बनता है।

इस पुरुष की रचना में जो बात अब तक सांगी आई है वह इसको ऋत की चारों ओर की गति का विबोध रूप है। पुरुष की ऋत की चारों ओर अपने उद्गम स्थल के केन्द्र से बाहर की ओर गति करती हुई स्थान-स्थान पर आती रूपा से ठहरती है। वह उनके ठहरने के स्थान का पड़ाव उनकी सरण गति (Linear motion) का सूर्य द्वारा कहलाता है, क्योंकि पुरुष की ऋत की चारों ओर उस पड़ाव पर कुछ समय अवसृज होकर रुकने के उपरान्त फिर उससे आगे चल देती है और आगे जाकर पुनः अवसृज होकर पुनः पड़ाव डालती है। इस प्रकार विभिन्न सूर्य द्वारा बनते चले जाते हैं। प्रत्येक सूर्य द्वारा पर पुरुष की ऋत की चारा अवसृज होकर ऋत का सञ्चय सञ्चय बना कर रुक जये प्रकार के अर्ध पिण्ड की या देव की रचना करती है जो देव सूक्ष्म रूप में शुद्ध ऋत का ही बना होता है। इस प्रकार यह सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के देवों की रचना करती हुई पुरुष की ऋत की चारा आगे प्रवाहित होती चली जाती है और प्रत्येक सूर्य द्वारा से गुजरती चली जाती है। जिस सूर्य द्वारा पर पुरुष के ऋत की चारा के अवसृज होने से बने ऋत के सञ्चय से जिस देव की रचना होती है, वही देव बाह्य विषयों को अपनी पुष्टी और वृद्धि के लिए पकड़ने को सदैव लालायित रहता है। अगला मन्त्र देखें—

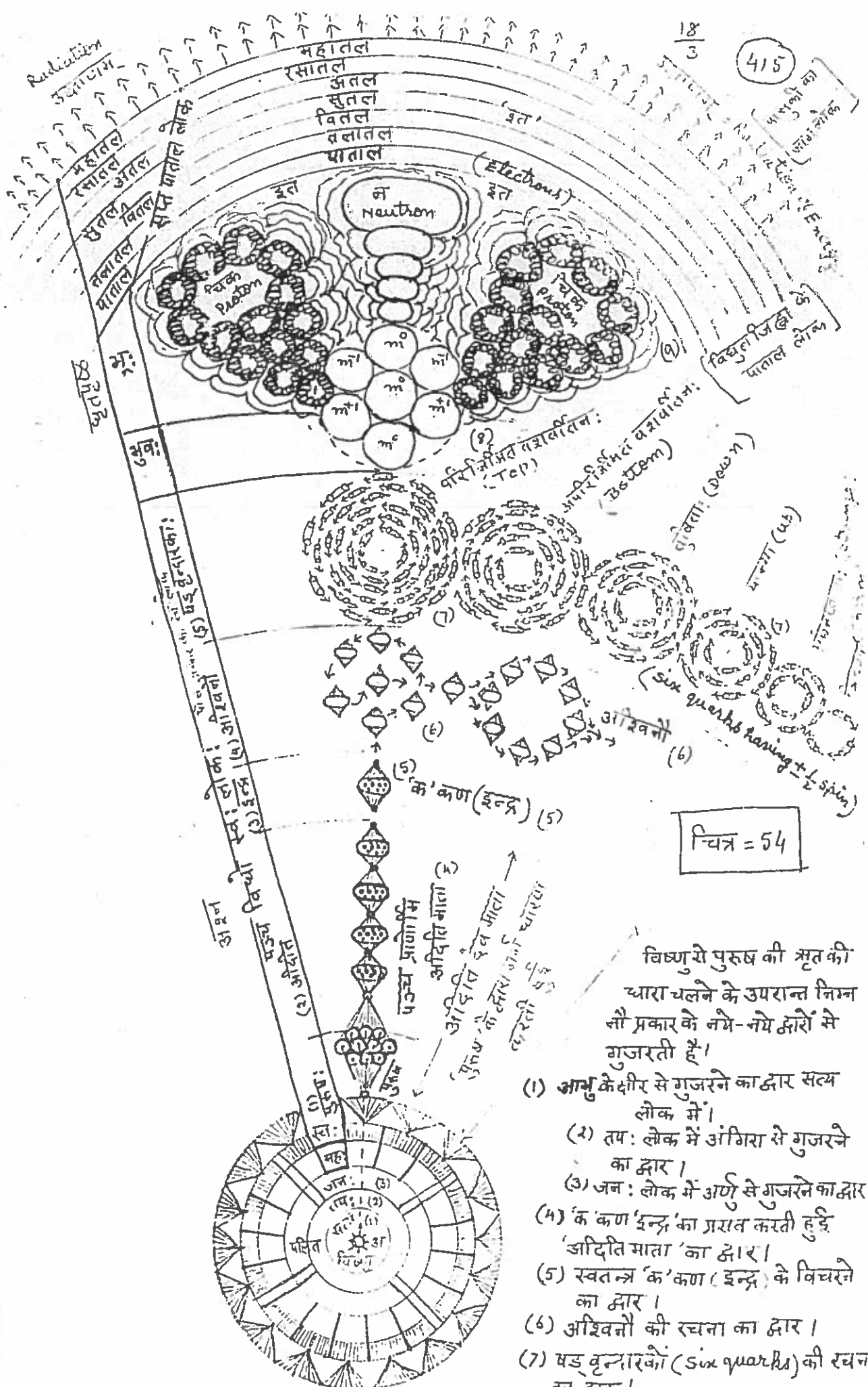
नव द्वारे पुरे देहि हंसो लेलायते बहिः ।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ (18)

जो नये-नये सूर्य द्वारों के पुर में 'पुरुष' का आत्मा के रूप में बना हुआ हंस बाहर की ओर बाह्य विषयों को पकड़ने के लिए लालायित होता हुआ आता है। इस प्रकार वह पुरुष सारे स्थावर और चर जगत् का और सारे लोकों का वश में करने वाला 'वशी' बन जाता है। वह पीछे के मन्त्र में बताया गया, "सर्वस्य प्रभुमीक्षणं" का रूप धारण कर लेता है। उसी को 'वशी' कहते हैं। जो सारे सृजन को अपने वश में कर लेता है वही सृष्टि के सृजन का 'वशी' कहलाता है। वह 'पुरुष' ही यहाँ सबका 'वशी' बताया गया है।

‘नवद्वार’ शब्द में ‘नव’ का अर्थ नौ की संख्या भी होता है और भवोन अर्थात् नया भी होता है। दोनों अर्थों का बलेंप जलंकार द्वारा मिलते हुए यहाँ, “नौ नये-नये प्रत्येक सूर्य द्वार पर” - इस शब्द का अर्थ बनता है। यहाँ द्वार के साथ सूर्य विशेषण और जोड़ दिया गया है। द्वार में से गुजर कर जाने वाला ‘पुरुष’ गति करता है। यह द्वार में से गुजरने की गति ‘सरण गति’ (Linear Motion) कहलाती है। इस सरण-गति की विशेषता को प्रदान करने वाले को ‘सूर्य’ कहा जाता है। “सरणात् सूर्यः” सिद्धान्त के अनुसार ऐसे प्रत्येक द्वार के साथ ‘सूर्य’ का विशेषण जोड़ना उचित ही है। महर्षि व्यास ने महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के विभूतिपाद के छब्बीसवें सूत्र, “भुवनानां सूर्यसंयमात्” - की व्याख्या में पुरुष के इन सूर्यद्वारों की व्याख्या की है जो सप्तलोकों के प्रस्तार की रचना करता हुआ सारे लोकों और पाताल लोकों की रचना करता हुआ सारे चौदह भुवनों की वक्षा में करने वाला ‘वशी’ बन जाता है। सात ब्रह्मलोक तथा सात पाताल लोक, मे कुल मिला कर चौदह लोक बनते हैं। प्रत्येक लोक में देवों के निवास का रूप भुवन बनता है। इस प्रकार इन चौदह लोकों में चौदह भुवन बन जाते हैं। सात ब्रह्म लोक पीछे “भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्” बताये जा चुके हैं और सात पाताल लोक, - “महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल” - नाम के बता दिये गये हैं। रूप अणु के अर्धपिण्ड की रचना में इनके सभी के यथाक्रम के अनुसार स्थिति भी बता दी गई है।

जब पुरुष की श्रुत की धारा अणु की नाभि के केन्द्र में स्थित विष्णु से विष्णु का सप्तार्द्धगर्भी रेत बन कर निकलती है तो वही उस अणु की पूर्ण रचना का मेरुदण्ड (Radius) बन जाती है। उस सुमेरु की संरचना में ही सप्त ब्रह्म लोकों का और सप्त पाताल लोकों का विभाजन हो जाता है। उसी में संरचना के ये पुरुष के नौ-नये-नये सूर्य द्वार बन जाते हैं। अगले पृष्ठ पर बने चित्र में इन्हें देखें।



चित्र = 54

विष्णुसे पुरुष की सृष्टि की धारा चलने के उपरान्त निम्न नौ प्रकार के नये-नये द्वारों से गुजरती हैं।

- (1) आभु के क्षीर से गुजरने का द्वार सत्य लोक में।
- (2) तपः लोक में अंगिरा से गुजरने का द्वार।
- (3) जनः लोक में अर्णु से गुजरने का द्वार।
- (4) 'क' कण 'इन्द्र' का प्रभाव करती हुई 'अदिती माता' का द्वार।
- (5) स्वतन्त्र 'क' कण (इन्द्र) के विचरने का द्वार।
- (6) अश्विनौ की रचना का द्वार।
- (7) षड्वृन्दारकों (Six quarks) की रचना का द्वार।
- (8) त्रिवर्मा (The three masons, m^+ , m^0 , m^-) की रचना का द्वार।
- (9) नचिकेतगिन की रचना करके पूर्ण अणु की रचना का द्वार।

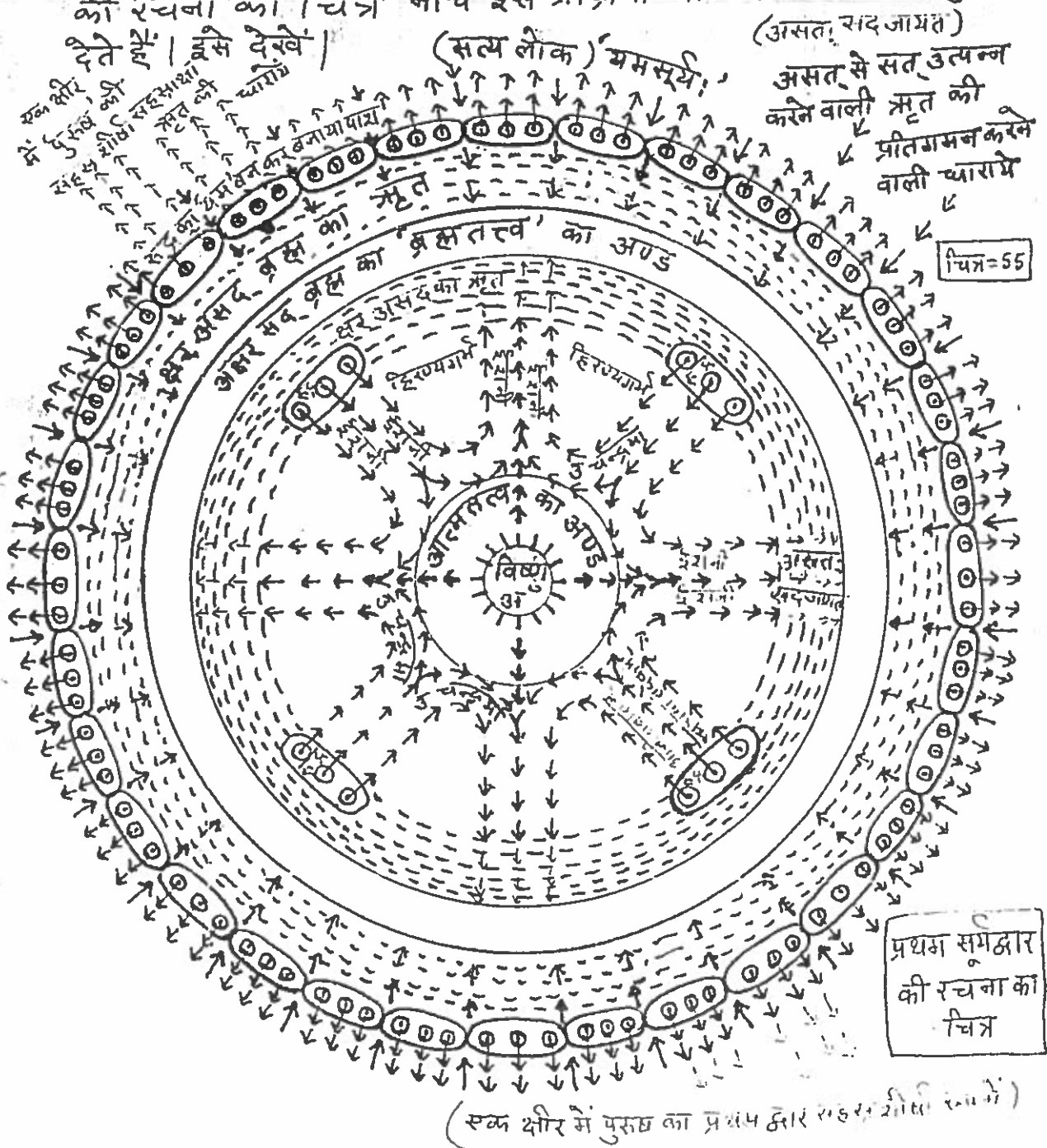
पीढ़े पृष्ठ (415) पर दिया गया चित्र सप्त ब्रह्म लोकों और सप्त पाताल लोकों की रचना और उनमें स्थित तत्सम्बन्धी देव निवासों की रचना को दर्शाता है। इनमें चौदह लोकों में चौदह भुवन बन जाते हैं। ये पिण्ड रूप में एक अणु (Atom) की रचना में स्थित हैं।

'पुरुष' की रचना में सहस्र शीर्ष सहस्र अक्षों पर अणु की नाभि के केन्द्र में स्थित 'विष्णु' के रेत से निकलते हैं जो ऋत की चाराओं में बहते हुए स्वः लोक में आकर "सहस्रशीर्षा पुरुषा सहस्राक्षः" का स्वरूप प्रकट करते हुए "सहस्रपाद तथा दशांगुलम्" का स्वरूप प्रकट करते हैं। उसके पश्चात् पुरुष जो ये ऋत की चाराओं में स्वः लोक, भूः लोक तथा सप्त पाताल लोकों में पहुँचती हुई अणु के पूर्ण स्वरूप (The full Atom) में वैश्वानराग्नि का नीचकेताग्नि स्वरूप प्रकट कर देती हैं। इस प्रकार जो ग्रह सृष्टि में हमारे सामने सब कुछ विद्यमान हैं वह इन अणुओं (Atoms) से बन जाते हैं। इसी कारण पीढ़े मन्त्र में "पुरुष स्वेदम् सर्वम् ---" कहा गया है।

विष्णु के रेत के रूप में पुरुष की ये ऋत की चाराओं चलती हैं तो ये निम्न प्रकार से वर्णित नौ प्रकार के नये-नये द्वारों से गुजरती हैं। पुरुष की सरण गति में बने ये नये-नये सूर्य द्वार इस प्रकार के होते हैं कि इन द्वारों पर पुरुष अपनी पूरी ऊर्जा का उपयोग करके उस द्वार पर अति रूप से ठहर भी सकता है और अपने रचना के क्रम को वहीं पर समाप्त भी कर सकता है, अथवा वह पुरुष अपनी ऊर्जा का कुछ अंश उस द्वार पर अति रूप से ठहर कर खर्च करता है, फिर वहाँ से आगे चल देता है और शेष बची ऊर्जा का अंश आगे के द्वारों पर एक-एक करके खर्च करता चला जाता है। इस प्रकार प्रत्येक द्वार पर तत्सम्बन्धी देव की रचना करता चला जाता है। इस प्रकार जिस सूर्य द्वार पर 'पुरुष' अपनी सरण गति की यात्रा समाप्त कर देता है और अपनी पूरी ऊर्जा उसी सूर्य द्वार पर खर्च कर देता है तो उसी सूर्य द्वार तक की स्वतन्त्र इच्छा की रचना परमव्योम में स्थापित हो जाती है। इन्हीं रचनाओं से सौ से लेकर पृथिवी तक के सभी पञ्चमहाभूतों की रचना हो जाती है। इस प्रकार नौ नये-नये सूर्य द्वार पुरुष के होने के कारण इस ब्रह्माण्ड में केवल नौ प्रकार की ही रचनाएँ मिलती हैं। उन्हीं नौ प्रकार की रचनाओं से

सभी ब्रह्मा ण्डों में सभी प्रकार के सृजन की सृष्टि रची हुई है।
इन नौ जयै-जयै द्वारों पर पुरुष द्वारा सृजन का स्वरूप निम्न
प्रकार बनता है।

(1) 'पुरुष' की ऋतु की चारों ओर सहस्र बीजों में सहस्र अक्षों पर विष्णु के रेत से निकलनी प्रारम्भ होती हैं। 'विष्णु' अणु की नाभि के केन्द्र में स्थित स्रव क्षीर के केन्द्र में स्थित हैं। अतः 'पुरुष' की ऋतु की चारों ओर के द्वारा रुद्र की बिजनी ऋतु की चारों ओर सहस्रों से प्रथम द्वार पर स्रव क्षीर की रचना होती है। क्षीर की रचना का चित्र नीचे इस प्रक्रिया की समझाने के लिए पुनः देते हैं। इसे देखें। (सत्य लोक) 'यम' (असतः सद जायते)



यह सत्य लोको के अन्दर पुरुष द्वारा की गई दैव निष्काय की प्रथम सूर्य द्वार की रचना है। इस रचना में चार प्रकार के स्वरूपों की द्योतित करने वाले देवों का सृजन है। (1) अच्युताः, (2) शुद्ध निवासाः (3) सत्याभाः (4) संज्ञा संज्ञिनः। ये स्वरूप इसमें एक दूसरे के ऊपर ऊपर बने हुए हैं। इनमें विष्णु का स्वरूप क्षीर के केन्द्र में अच्युत बन कर रहता है जो अपने केन्द्र के स्थान को छोड़ कर जरा भी इधर उधर नहीं हिलता। उस विष्णु के स्वरूप के ऊपर 'आत्मतत्त्व' का अण्ड है, जिस में शुद्ध असद्-ब्रह्म के मृत का निवास है। अतः आत्मतत्त्व का अण्ड ही शुद्ध असद्-ब्रह्म का निवास है। अतः इसका नाम "शुद्ध निवासाः" है। इस आत्मतत्त्व के अण्ड के शुद्ध निवासाः के ऊपर ईशान रुद्र की ईशानी मृत की चाराओं के द्वारा जनित हिरण्यगर्भ की सत्याभा का स्वरूप विद्यमान है। यह अक्षर सद-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर असद् ब्रह्म के क्षरों की सत्याभा के द्वारा निर्मित होता है। अतः इस क्षर असद् ब्रह्म के स्वरूप को "सत्याभाः" नाम के देव से पुकारा जाता है। चौथा स्वरूप-अक्षर सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड का है। इस अण्ड में क्षरण उत्पन्न होकर असद् ब्रह्म के क्षर भी इससे टूट-टूट कर निकलते रहते हैं तथा उन क्षरों के मृत को रुद्र अपने उदर में अवरुद्ध करके अपने तीन अक्षों के द्वारा बाहर ईशानी की मृत की चाराओं में फेंकता रहता है। ये मृत की चारा में आत्मतत्त्व के अण्ड को पोषित करती हुई विष्णु के अच्युत स्वरूप से टकरा कर वापिस लौटती हैं और हिरण्यगर्भ को जन्म देती हुई वापिस ब्रह्मतत्त्व के अण्ड से टकराती हैं। वहाँ इन ईशानी मृत की चाराओं के क्षर पुनः सद-ब्रह्म के अक्षर इस ईशानी मृत की चाराओं के द्वारा पुनः इस देवताओं की रचना के स्वरूप में जुड़ जाते हैं और इस प्रकार इस देवताओं की रचना के पूर्व युग में असद्-ब्रह्म के क्षरों से सद-ब्रह्म पुनः उत्पन्न होने लग जाता है। अर्थात् पहले सद-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर असद् ब्रह्म के क्षर उत्पन्न होते हैं, फिर वे ही क्षर पुनः उस सद-ब्रह्म के अक्षर ब्रह्मतत्त्व में जुड़ कर सद-ब्रह्म को उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार यह क्षर-अक्षर का चक्र चलता रहता है।

जब अक्षर सद-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न होकर उसमें से क्षर 'टूट-टूट' कर बाहर निकलते हैं तो वह उस सद-ब्रह्म का 'संज्ञा' का स्वरूप होता है। उस सद-ब्रह्म में अपने अंश को क्षरित करने की संज्ञा होती है। उसमें चेतना का स्वरूप है और इसी चेतनता के कारण वह क्षरण की क्रिया करता रहता है।

जब उस अक्षर सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में असद-ब्रह्म के क्षर आकर टकराते हुए वापिस आकर चिपककर जुड़ जाते हैं और उनसे उस सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व का अण्ड वृद्धि को प्राप्त करके पुनः पोषित होने लग जाता है तो वह स्वरूप उस ब्रह्मतत्त्व के अण्ड का "संज्ञितः" का स्वरूप होता है। इस प्रकार "संज्ञा संज्ञितः" के दोनों स्वरूप उस अकेले अक्षर सद-ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में द्योतित होने लग जाते हैं। इस प्रकार प्रथम द्वार पर स्व क्षीर में पुरुष के हंस द्वारा चार प्रकार के देव निष्काशों की रचना हो जाती है। इस क्षीर के पुर में आत्मा का 'आत्मतत्त्व' का अण्ड इस प्रथम द्वार के द्वारा पुरुष को "सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः" ऋत की चाराओं को बाहर फैकता हुआ उस सत्य लोको के क्षीर से बाहर के विषयों को पकड़ने के लिए लालायित रहता है।

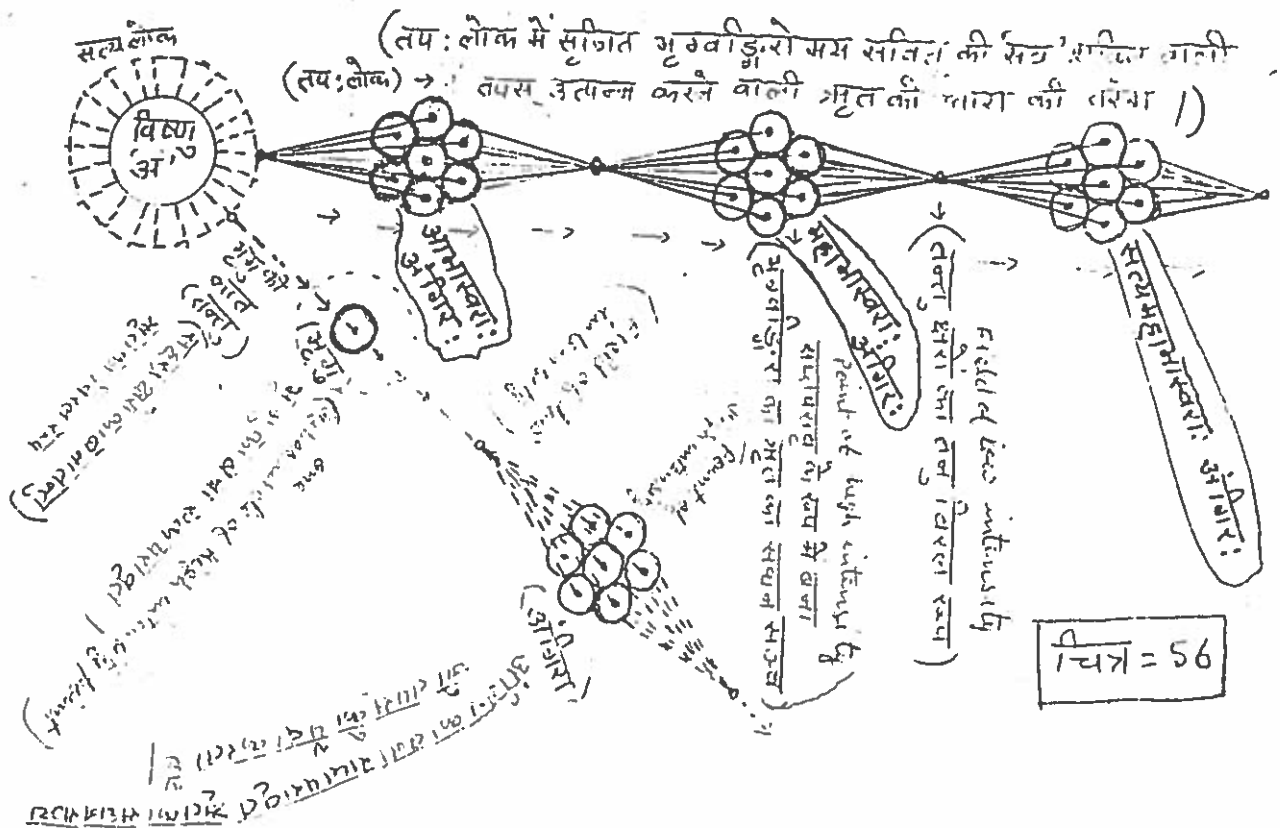
(2) इसके पश्चात् दूसरा द्वार पुरुष की सरण गति का तपः लोको बनता है। सत्य लोको के सूर्य द्वार से निकल कर पुरुष की बाहरा ऋत की चारा में दूसरे सूर्य द्वार तपः लोको में आती है। वहाँ पर तपः लोको में आकर वे सप्तपरावृत्तों के चक्रव्यूह में बाधित होकर अंगिरा और भृगु को जन्म देती हैं और तपस् उत्पन्न करती हैं। इस तपस् और भृगु तथा अंगिरा के सहयोग से सवितृ की सव शक्ति वाली ऋत की तरंगे उत्पन्न होती हैं। इन सवितृ की तरंगों का स्वरूप तीन प्रकार के देव निष्काशों (1) आमास्वरा, (2) महामास्वरा, (3) सत्य-महामास्वरा: को प्रकट करने वाला बनता है।

ऋत की तरंग भटके मार-मार कर रुक-रुक कर चलती है। जब ऋत की चारा कुछ आगे चलती है तो वहाँ पर रुद्र के अवरोधन के कारण थोड़ा रुक जाती है, जिससे उस बिन्दु पर ऋत का सञ्च संग्रहीत हो जाता है। वह ऋत का सञ्च चारों ओर की ईशानी ऋत की चाराओं के प्रवाह के वेग के दबाव से स्व चक्र में घूमने लगता है। जिससे उस ऋत के सञ्च

का उस बिन्दु पर स्रव्य परावृत बन जाता है। भृंग की भाँति नाद करते हुए ऋतु के इस सञ्च को जो रुद्र की ऊर्जा से युक्त हो जाता है और परावृत में गति करने लगता है, 'भृगु' ऋषि कहा जाता है। ये सप्तर्षि स्रव्य व्यूह में ग्राहित होकर स्रव्य सप्त परावृत (Seven Hypercircles) बनाते हैं। सप्त परावृत के परिमाण का मान व्यूहों कि सर्वाधिक $\frac{16}{15} \times^3$ होता है, अतः ये सप्त परावृत में ही संगीजित होते हैं। सप्त परावृत में जब ऋतु की चाराओं के सप्त सञ्च स्रव्य दूसरे के साथ सट कर चक्र में घूर्णन करते हैं तो उस घूर्णन के चर्चण से उन में तपस्-उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार सप्त भृगुओं के सप्त परावृत के सञ्च में तपस्-उत्पन्न होकर उसका स्वरूप "अंगिरा" ऋषि का बन जाता है। इस 'अंगिरा' के सप्त परावृतों के ऋतु के सप्त सञ्चों से ऋतु की चारायें पीछे आते ऋतु की चारा के प्रवाह के दबाव से फिर आगे चल देती हैं और अपने स्वरूप को शिवा तथा तनु बनाती हुई स्रव्य रूप हो जाती हैं और आगे चल कर फिर अवसृष्ट होकर पूर्व की भाँति सप्त भृगुओं के स्वरूप में ऋतु का सञ्च बना कर पुनः 'अंगिरा' का स्वरूप तपस्-उत्पन्न करते हुए प्रकट कर देती हैं। इस प्रकार सवितृ देव की 'सव' शक्ति वाली ऋतु की चाराओं का प्रवाह चालू हो जाता है जो ब्रह्माण्ड में अनन्त दूरी तक चलता रहता है। इन्हीं भृगु और अंगिरा के संगीजनों के द्वारा आगे सृजन के क्रम सभी प्रकार के देवों के पदार्थ के द्रव्य (= आपः) की रचना हो जाती है और सभी प्रकार के मूल सृजित हो जाते हैं। इसी लिए इस कथन को स्पष्ट करने के लिए गोपध ब्राह्मण (1.39) में, "सर्वमापोमयं मूतं सर्वम् भृगवङ्गिरोमयम्" कहा गया है। अर्थात् सृष्टि में जो सारा पञ्चमहाभूतों के सभी भूतों के पदार्थ का द्रव्य है, वह सब भृगु और अङ्गिरा से युक्त हो कर बना है। इसी कारण प्रत्येक सृजन के छोटे से छोटे और बड़े-बड़े रजःकरण या अर्ध पिण्ड में इस प्रकार की ऋतु की चाराओं की तरंगें (Radio waves) पाई जाती हैं।

अतः जब ऋतु की चारायें तरंगों के रूप में गति करती हैं तो वे भृगवङ्गिरा के बिन्दु पर ऋतु का अतिसघन सञ्च (Point of high intensity) बनाती हैं और उस से आगे अगले भृगवङ्गिरा बिन्दु तक उस

गतिमान् ऋतु की चारा का तनु रूप बन कर ऋतु की ऊर्जा का अति विरल रूप (Field of low intensity) होता है। एक भृगुविज्ञा के बिन्दु से दूसरे भृगुविज्ञा के बिन्दु तक के अन्तराल की दूरी उस ऋतु की चारा के अक्ष के गात का परिमाण माना जाता है जो सामान्यतया द्यौ में चौतीस अर्णवों की श्रृंखला की दूरी का बताया गया है। परन्तु सत्यलोक और तपः लोक के मध्यान्तर में जो ऋतु की चारा चलती है, उसमें केवल असद् ब्रह्म के क्षरों का प्रवाह होता है, अभी तक उसमें अर्णु की रचना नहीं हो पाती। अतः यहाँ भृगुविज्ञा के जोड़ने वाले तन्तु क्षरों के बने होते हैं। यहाँ एक 'क्षर' ही इस ऋतु की चारा का एक इकाई का अवयव बना होता है। सहस्र क्षरों का यह एक तन्तु बना होता है। नीचे की आकृति में भृगुविज्ञाओं के द्वारा यह ऋतु की चारा का प्रवाह दिखाया गया है। जिस क्षरों के बने तन्तु से भृगु के ऋतु के सञ्च का चक्र जुड़ा होता है, उसे भृगु की लात (= पैर) कहा जाता है और भृगु की एक लात यह विष्णु के वक्षस्थल तक जाती है। क्योंकि विष्णु के रेत के प्रवाह से ही भृगु के इस तन्तु की रचना होती है। पहले ऋतु की चारा के प्रवाह के इस चित्र को देखें-



जब भृग्वीङ्गरा का स्वरूप सप्तपरावृत (seven hypercircle) के रूप में ऋत का बना सधन सञ्च होता है तो उस का परिमाण का माप $\frac{16}{15} \tau^3$ के बराबर होता है। जब यह सप्तपरावृत ऋत के और अधिक प्रवाह के आने के कारण अष्टापरावृत (Eight hypercircle) में बदलता है तो इसके परिमाण का माप कुछ कम होकर $\frac{1}{3} \tau^4$ के बराबर हो जाता है। पृष्ठ (24) पर दी गई परावृतों की गणना के गणित के सूत्रों को देखें। साथ में पृष्ठ (23) पर बने परावृतों के माप के गणना को बताने वाले ग्राफ को देखें, जिससे पता चल जाता है कि सप्तपरावृत का माप सर्वाधिक है। अतः जब ऋत के सञ्च का अष्टापरावृत बनता है तो उसमें से $(\frac{16}{15} \tau^3 - \frac{1}{3} \tau^4) = 0.02 \tau^3$ के अन्तर के बराबर ऋत तपस् की ऊर्जा के रूप में बाहर निकलता है। इस अन्तर की गणना = $\frac{16}{15} \tau^3 - \frac{1}{3} \cdot \tau \cdot \tau^3 = (\frac{16}{15} - \frac{3 \cdot 14}{3}) \tau^3$
 $= (\frac{16}{15} - \frac{15 \cdot 7}{15}) \tau^3 = \frac{0 \cdot 3}{15} \tau^3 = 0.02 \tau^3$ के समान बैठती है।

यह सप्तपरावृत का परिमाण का माप पूर्ण संख्या के परावृतों में सर्वाधिक होने के कारण परावृतों की आगे की मिति से छुटकारा दिला देता है। यह सप्तपरावृत ऋत को अभिबोधित करके अपनी आगे वृद्धि करने का प्रयास करता है और अपने ऋत की अधिकतम मात्रा के परिमाण पर सप्तपरावृत और अष्टापरावृत के मध्य किसी भिन्नात्मक बिन्दु पर पहुँचता है। पूर्ण अष्टापरावृत बनने पर इसके ऋत के परिमाण का माप सप्तपरावृत के परिमाण के माप से कम हो जाता है। अतः यह सप्तपरावृत जो ऋत का बनता है वह 'मित्र' देव के नाम से जाना जाने लगता है। क्योंकि कि यह ऋत की मिति से जाण दिलाने वाला होता है। मितात् त्रायते यः सः मित्रः। दूसरे जब सप्तपरावृत और अधिक ऋत का वरण करके ऋत की और अधिक ऊर्जा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और अष्टापरावृत में बदल कर ऋत की तरंग को फैलता है तो उस ऋत की ऊर्जा को वरण करने वाले अष्टापरावृत बनने वाले ऋत के परावृत को 'वरुण' देव के नाम से कहा जाता है। मित्र और वरुण का युग्म सदैव साथ-साथ रहता है और यह सत्यलोक की बाहरी

सीमा पर तपःलौक्य के अन्दर अपना आवरण का स्वयं क्षेत्र बना लेता है। वरुण-मित्र के युग्म के इस क्षेत्र का वर्णन ऋग्वेद में कई मन्त्रों में आया है। इसी क्षेत्र के अन्दर मित्र और वरुण का सदन बनता है जिसमें सहस्र स्थूण (खम्भे) और सहस्र द्वार होते हैं। उस सदन के सहस्र द्वारों से सहस्र अश्व ऋत की चाराओं के अक्षों पर निष्कलते हैं। वरुण-मित्र के सप्तपरावृत्तों के ऋत के सप्त तन्तुओं के टकराने से ऋत की सप्त चारों सप्तसिन्धु के नाम से निष्कलती हैं जिन में सप्त हरितः नाम के सात अश्व ऋत के बन कर निष्कलते हैं। यह सारा वर्णन ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों में दिया गया है—

वरुण मित्र के क्षेत्र का उल्लेख निम्न मन्त्रों में आता है—

“नहि ते क्षेत्रं ---”। (ऋग्वेद-1, 24, 6)

“मुक्ता सुक्षत्र मुक्यं ---”। (ऋग्वेद-7, 89, 1)

ऋत के द्वारा वृद्धि प्राप्त करने वाले इन सप्तपरावृत्तों और अष्टापरावृत्तों के मित्र वरुण कहने के लिए निम्न मन्त्र बताया गया है—

“ऋतेन या वृता वृथा वृतस्य ज्योतिषस्पती।

ता मित्रावरुणा हुवे”। (ऋग्वेद-1, 23, 5)

“ऋतेन मित्रावरुणा वृता वृथा वृतस्पृशा।” (ऋग्वेद-1, 2, 8)

वरुण मित्र के सहस्र स्थूणों वाले सदन के बताने वाले निम्न मन्त्र है—

“राजानावनीभिर्दुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्र स्थूण आसाते।

वरुण के सदन में सहस्र द्वार बताने वाला मन्त्र है— (ऋग्वेद-2, 41, 5)

बृहन्तं माजं वरुण स्वधावः। सहस्र द्वारं जगमा बृहं ते।

(ऋग्वेद-7, 88, 5)

सत्य लोक से उदित होकर वरुण मित्र का सूर्य द्वार तपःलौक्य में बनता है। इसे बताने वाला मन्त्र इस प्रकार है—

“यदद्य सूर्य ब्रवीऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्।

(ऋग्वेद-7, 60, 1)

मित्र वरुण अपने मध्य के गोष्ठ (यूथ) में जो सप्त तन्तुओं के

टकराने से ऋत की सात चारायें प्रवाहित करके सात अश्वों को ऋत की तरंगों के रूप में 'सप्तहरितः' के नाम से जन्म देती हैं; उनका वर्णन निम्न मन्त्र में आता है—

अ॒यु॒व्त॒स॒प्त॒ह॒रि॒तः॑ स॒ध॒र॒था॒द्या इ॒ं व॒ह॒न्ति॒ सूर्ये॑ घृ॒ता॒चीः॑ ।

धामा॑नि मि॒त्रा वरु॑णा यु॒वा॒वुः॑ सं यो यू॒धे॒व जी॑नि॒मानि॒ च॒ष्टे ॥

(ऋग्वेद-7, 60, 3)

मित्र, वरुण को अपना धाम प्रिय है—

“प्रि॒यं मि॒त्र॒स्य वरु॑ण॒स्य धाम॑” (ऋग्वेद-1, 152, 4)

सत्य लोका के क्षीर में स्थित 'धम' की इच्छा पूर्ति के लिए वरुण, मित्र परमव्योम में साध-साध जाते हैं—

“सं ग॑च्छ॒स्व पि॒तृभिः॑ सं य॒मेनै॑ष्टा पु॒र्तेन॑ पर॒मे व्यो॑मन्” ।

(ऋग्वेद-10, 14, 8)

तपः लोका से भी मित्र-वरुण के क्षेत्र की भूमि से सहस्राक्ष ऋत की चारायें पुरुष की ऋत की चारायें बनकर आगे चलती हैं—

“दि॒वस्प॑शः प्र॒चर॑न्ती॒ दम॑स्य सह॒स्रा॒क्षा अ॒ति प॑श्यन्ति॒ भूमि॑म्” ।

(ऋग्वेद-4, 16, 4)

“आ पु॒दी॒भर्था॑ व॒तं ज॒राः” (ऋग्वेद-5, 64, 7)

“स मा॒या अ॒र्चिना॑ प॒दाऽस्तृ॑णा॒न्नाक्मा॑रु॒हत्” (ऋग्वेद-8, 41, 8)

“आ सूर्यो॑ अरु॒हच्छु॑क्रम॒णीः । यस्मा॑ आदि॒त्या अ॒ध्व॒नो र॑दी॒न्ति

मि॒त्रो अ॒रि॒मा वरु॑णः सृ॒जोषाः॑ । (ऋग्वेद-7, 60, 4)

अर्थात् सत्य लोका के बाहर वरुण तथा मित्र के लिए निकला ऋत सूर्य का रूप पहन कर प्रत्येक सूर्य द्वार पर देवों को प्रवर्षित करने के लिए चल देता है / यह प्रवाह मित्र, वरुण के मिले हुए युग्म के गतिमान रूप 'अरिमा' के द्वारा सूर्य के बीज तपस् के ऋत की रचना करके तपः लोका में तपस् उत्पन्न करते हैं / इस तपः लोका में स्थित वरुण मित्र के सदन से सहस्र द्वारों में से सहस्र अश्वों पर चलेने वाली सहस्राक्ष ऋत की चारायें उनके क्षेत्र के बने पाश के सदन से

इमम् = इसको | रथम् = रथको | अधि = आधार बना कर |
 ये = जो | सप्त = सात | तस्थुः = आरुढ़ हो कर स्थित हैं, ठहरे हैं |
 सप्तऽचक्रम् = ऋत के बने सात चक्रों का सप्तपरावृत |
 सप्त = सात | वहन्ति = वहन करते हैं | अश्वाः = ऋत के बने अश्व |
 सप्त = सात | स्वसारः = अपने स्वयं के बल से गतिमान पहले
 सप्तचक्र के सातों ऋत के चक्रों की बहनें जो उसी ऋत की धारा से
 उत्पन्न होती हैं जिससे पहले वाले सप्तचक्र के सातों चक्र उत्पन्न होते
 हैं | अभि सम् जवन्ते = सङ्गच्छन्ते = साथ-साथ चलती हैं |
 यत्र = जहाँ | गवाम् = गमनशील इन ऋत के पिण्डों के |
 निऽहिता = स्थापित हैं | सप्त = सात अथवा अश्व | नाम = नाम |
 अर्थात् सत्य लोक के चक्र के रथ को आधार बना कर तपः लोक में
 जो ये सप्तपरावृत के सप्तचक्र में सात ऋत के पिण्ड ठहरे हुए हैं,
 उन को ऋत के तन्तुओं के बने सात अश्व वहन करते हैं | जो सप्तपरा-
 वृत के सातों चक्रों में ऋत की त्रिज्याएँ बनती हैं, वे ही सात अश्व
 ऋत के बनते हैं | इस प्रकार यह मित्र देवता के रूप अंगिरः की
 रचना हो जाती है | प्रत्येक ऋत के चक्र का रूप पिण्ड 'भृगु' बन
 जाता है |

इसके साथ-साथ ही उसी अश्व की ऋत की धारा से आगे चल
 कर फिर रूप अपने ही बल से चलने वाली पहले ऋत के पिण्ड की
 रूप बहन और, दूसरे ऋत के पिण्ड के रूप में बन जाती है | ये पहले
 सप्तचक्र से आये ऋत का वरण करके अपना पौषण प्राप्त करती हैं,
 और उसी ऋत की धारा के वेग से ऊर्जा को प्राप्त करती हैं | अतः उनके
 द्वारा बने दूसरे सप्तचक्र का नाम वरुण देव रख दिया जाता है |
 इस प्रकार वरुण-मित्र का साथ-साथ चलने वाले दो सप्तपरावृतों
 के दो सप्तचक्र बन जाते हैं, जहाँ इन सातों ऋत के पिण्डों की गीतों के
 'सप्त हरितः' नाम के सात अश्वों के नाम पूर्ववत् स्थापित हैं | अर्थात्
 जो पहले अश्व थे, जिन्होंने मित्र की रचना की थी, उन्हीं सातों
 अश्वों ने यहाँ आकर वरुण की रचना की है |
 वे ही सातों अश्व आगे चल कर मित्र-वरुण के क्षेत्र की रचना
 कर देते हैं | अगले पृष्ठ पर इस मन्त्र के अर्थ को सीचत्र समझाया गया है, वहाँ देखें -

दूसरा - द्वार = (दूसरा सूत्र द्वार)
(त्रिप्रवर में)

तपः लोक में सितु की 'सव' शक्ति वाली
सूत्र के द्वार निर्मित ऋतु की चारा की
तीन प्रकार की तरंगों।



→ सत्य महाभास्वरा अंगिरः

"मृक्का सुक्का मूलय ---"

(सृग्वेद-7, 89, 1)

महाभास्वराः अंगिरः

सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते

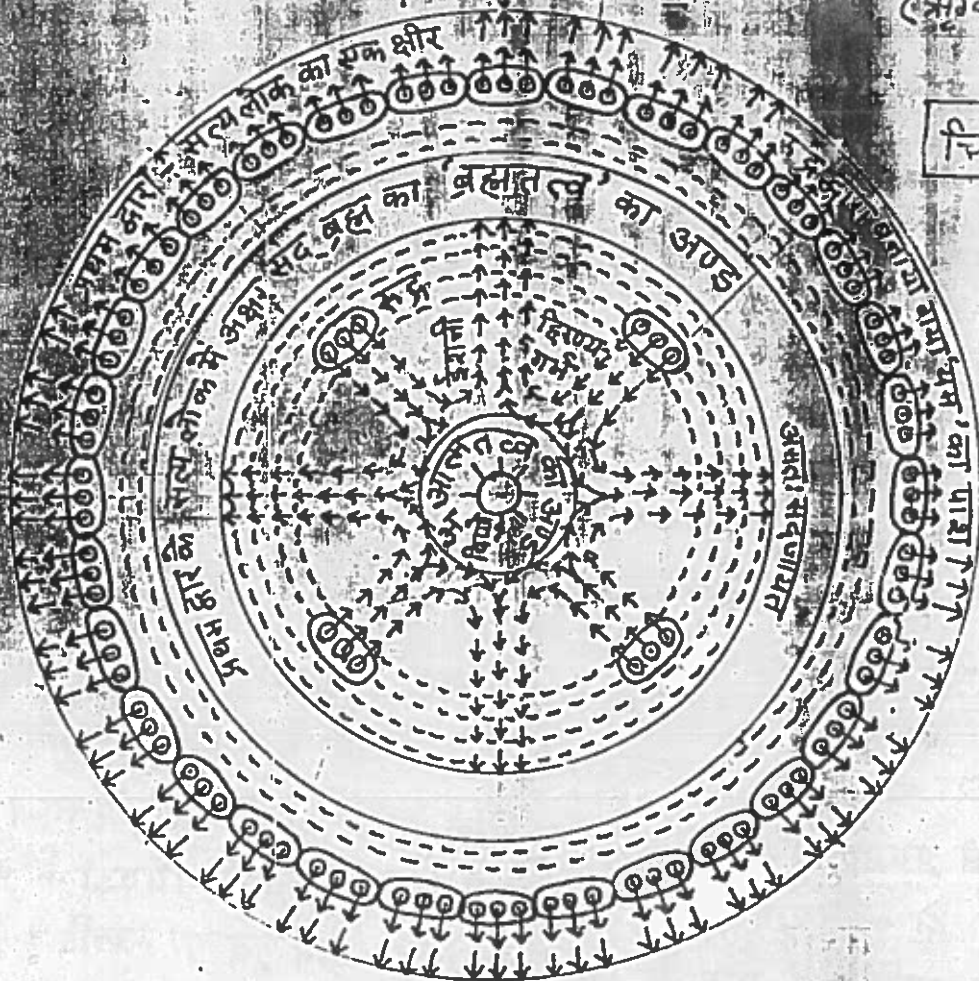
यत्र गवां निदिता सप्त नाम ॥

आभास्वराः अंगिरः

इमं रथमधिमे सप्तानस्थुः सप्तचक्रे

→ सप्त वहन्तः देवा

(सृग्वेद-1, 164, 3)



चित्र = 58

ऊपर के इस चित्र में दिखाई गई तपः लोक में चलने वाली यह ऋतु की चारा शुद्धरूप से ऋतु की बनी होती है। इसमें मौलिक अर्थ के द्रव्य की (mass) मात्रा लेशमात्र भी नहीं होती। अतः इस ऋतु की चारा को 'अनस्था' कहा जाता है। अर्थात् इसमें वदार्थ के द्रव्य की बनी अस्थिर (हड़ी) नहीं होती। अतः 'अनस्था' का

सहस्र तन्तु बन कर निबलती हैं। ये सहस्र शीर्षों में निबले तन्तु 'पुरुष' के सहस्र शीर्ष, सहस्राक्षर 'रूप बन कर द्यौ में सहस्र शीर्ष बन कर सहस्र अक्षों पर चलते हैं। ये ही आगे सहस्र पादों और दशांगुल भूमि के अक्षों पर बट कर अति रूप से ठहर कर दशमौलिवार्धों के पदार्थ के द्रव्य की रचना कर देते हैं।

इस प्रकार तपः लौक्य में, "मित्र, वरुण, अग्निमा," इन तीनों के योग से आगे के लौक्यों की रचना करने के लिए पुरुष की ऋतु की चाराओं में ऋतु के अक्षों के शीर्ष के रूप में आगे चलने की सरण गति (Linear Motion) का रूप तपस्-उत्पन्न करने वाला सूर्य का बीज 'शुक्र' के रूप में उत्पन्न हो जाता है। यही बात, "आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः। यस्मा आदित्या अध्वनौ रदन्ति मित्रो अग्निमा वरुणः सृजोषाः।" में बताई गई है।

यह सारा कार्य सत्य लौक्य से जिस ऋतु ऋतु की चारायें ही तपः लौक्य में सत्य लौक्य के ऊपर अपना आवरण बनाने की रचना में करती हैं। "यद्यद्य सूर्य ब्रवौऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्"-मन्त्र में यही बात बताई गई है। मित्र का ऋतु सत्य लौक्य के सप्त परावृत के सात क्षीरों के सप्त सिन्धुओं से सप्त चाराओं के रूप में वरुण का वरण करने के लिए ऋतु की चारा के रूप में ऋतु निबलता है। तब वह वरुण के योग से अग्निमा की रचना करके आदित्य की रचना सूर्य के बीज तपस् के रूप में करता है।

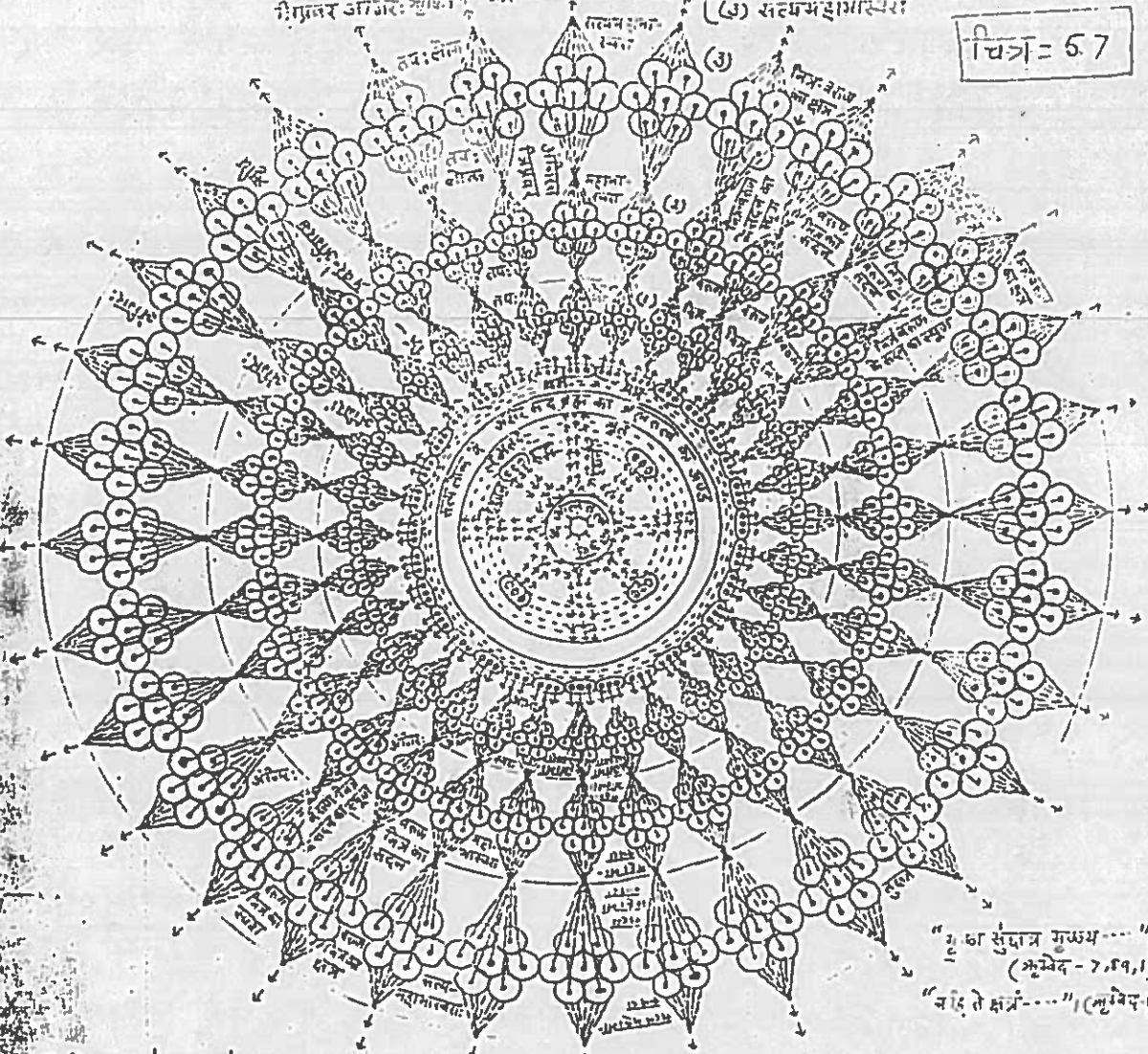
यह सारा प्रक्रम अगले पृष्ठ (426) पर चित्र द्वारा स्पष्ट दिखा जा रहा है। यही अंगिरा के दूसरे सूर्य-द्वार पर पुरुष की ऋतु की चाराओं के द्वार की गई देवनिष्कायों की रचनायें हैं। यही वह दूसरा नया द्वार है जिस पर जीवकी आत्मा का हंस पुरुष की ऋतु की चारा में उड़ता हुआ बाह्य विषयों को पकड़ने के लिए लालायित होता हुआ उस दूसरे द्वार से आगे बाहर आता है। आगे चित्र देखें—

यह पुर के दूसरे नये द्वार (=सूर्यद्वार) पर पुरुष के द्वारा बनी जीवात्मा के हंस द्वारा किये गये देवीनकाय की रचना का चित्र है।

सवितृ की 'सर्व' शक्ति को ज्ञात करने के लिए तपः लोके में तीन स्वरूपों को ध्यात करने वाले
मिथुन अंगिरः श्रुतेन का --- देव-मित्र-वत्

- (1) आभारवर्ष
- (2) महाभारवर्ष
- (3) सद्यमहाभारवर्ष

चित्र = 5.7



"२. का सुप्रसन्न मुखम् ---"
(ऋग्वेद - 7, 89, 1)

"न हि ते क्षत्रं ---" (ऋग्वेद - 1, 3, 6)

"श्रुतेन या वृता वृथा वृतस्य ज्योतिर्वस्यती। तानि वरुणा दुहे" (ऋग्वेद - 1, 23, 5) || श्रुतेन मित्रावरुणा वृतावृथा वृतस्यसा।
"राजानावनमिदुहा भुवे सदस्युत्तने। सुहसं रूपणा आलोते" (ऋग्वेद - 1, 41, 5)
वृहन्तं मानं वरुण स्वधावः। सुहसं द्वारं जगन्ता वृहन्तं। (ऋग्वेद - 7, 22, 5)

इस मित्र और वरुण के स्वरूप में श्रुत के जो सप्त परावृत तपः लोके में बनते हैं, वे सत्य लोके के चलते चक्र के रथ पर आरुढ होते हैं। इनका वर्णन ऋग्वेद में निम्न प्रकार किया गया है —

इसं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रे सप्त वहन्त्यब्रवाः।

सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गावां निहिता सप्त नाम ॥ (ऋग्वेद - 1, 164, 3)

यह मन्त्र विश्वेदेवा-देवता, सूक्त में से लिया गया है जो सत्य लोके के रथ पर आरुढ सत्य लोके के ऊपर तपः लोके में स्थित मित्र, वरुण के सप्त परावृत्तों के सप्त चक्रों को बतलाता है। इस मन्त्र का उदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं —

अर्थ हुआ "massless" अर्थात् पदार्थ के द्रव्य से रहित / जो देव पदार्थ के द्रव्य से युक्त होते हैं उन्हें "अस्थन्वन्त" कहा जाता है / अर्थात् वे अस्थि वाले (हड्डी वाले) (containing mass) हैं / ये ही ऋत की चारों ओर स्वः लोको में पहुँच कर दोसप्तचक्रों को घ्राहित करके दशांगुल भूमि के अश्व का रूप धारण करती हैं और वहाँ अति रूप से ठहर कर अपनी दस की दस ऋत की चारों ओर सञ्च को ठोस बना कर महिजातं रूप धारण करके दशमौलिक अर्थों में बदल देती हैं / इस प्रकार वे दशमौलिक अर्थ 'अस्थन्वन्त' (containing mass) रजवण (mass particle) बन जाते हैं / इस बात को ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है -

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।

भूम्या असुर सृगात्मा क्वं स्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
(ऋग्वेद-1, 164, 4)

इस मन्त्र का पदपाठ तथा अर्थ निम्न प्रकार बनता है -

कः = किसने | ददर्श = देखा है | प्रथमम् = सबसे पहिले |
जायमानम् = जन्मते हुए को | अस्थन्वन्तम् = हड्डी वाले को,
पदार्थ के द्रव्य के बने हड्डी वाले देव को = mass particle को |

यत् = जिस को | अनस्था = बिना हड्डी वाला, पदार्थ के द्रव्य की बनी हड्डी के बिना जो देव रूप में ऋत की चारा का स्वरूप है वह (massless radio wave) | बिभर्ति = धारण करता है, या धारण करती है | भूम्याः = पृथिवी के अर्धपिण्ड का | असुः = प्राण | असृक् = रक्त | आत्मा = आत्मा | क्वं स्वित् = कहाँ है ? अर्थात् ये सब स्वरूप इस ऋत की चारा में ही विद्यमान हैं जो 'अस्थन्वन्त' बन कर भूमि के अर्धपिण्ड के रूप को धारण करती हैं | कः = कौन | विद्वांसम् उपगात् = विद्वान के पास गया है | प्रष्टुमेतत् = इसको पूछने के लिए | इस प्रकार का तपः लोक को इस ऋत की चारा का स्वरूप है ।

यह तपः लोक तपस् उत्पन्न करने वाला सत्य लोक और इस ऋत की चारा की अभीक्ष्णिकता से ही उत्पन्न होता है । "ऋतं च सत्यं चाभीक्षातपसोऽध्यजायत" (ऋग्वेद-10, 190, 1) में यही बताया

गया है। इसके पश्चात् इसी मन्त्र में, "ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः" कह कर उस तपस् की उत्पत्ति के बाद उस तपस् का विलय बताया गया है, जिससे यह रचना पुनः ठंडी हो जाती है और उसके पश्चात् अर्णव समुद्र की उत्पत्ति हो जाती है। अर्णवसमुद्र की उत्पत्ति इसके अर्णु की रचना की पूर्णता से हो जाती है।

(3) अगला पुरुष द्वारा रचना का तीसरा द्वार सब्द 'अर्णु' की रचना का है। तपः लोक् से अगला लोक् जनः लोक् होता है। जनः लोक् में पहुँच कर ये सहस्र ऋत की चारायें अपना चतुर्मुखी विभाजन करके ब्रह्मा-प्रजापति की रचना कर देती हैं। वहाँ पर ऋभु इन सहस्र चाराओं के शीर्षों को चार चमसों में विभाजित करके आगे के सृजन के प्रत्येक देव के भाग का ऋतु निर्धारित कर देते हैं। इस प्रकार चतुर्मुखी ब्रह्मा के देव निष्काय को

(1) ब्रह्मपुरोहिताः, (2) ब्रह्मकायिकाः, (3) ब्रह्ममहाकायिकाः, (4) अजरामरा की उत्पत्ति होकर सब अर्णु की रचना पूर्ण हो जाती है। यही अर्णु की रचना पुरुष की जीवात्मा के हंस की तीसरे सूर्यद्वार की रचना है। जनः लोक् में आकर केवल तपस् वाली ऋत की चारायें अपने तपस् का विलय करके चार चमसों में विभाजित होती हैं, और कुछ नहीं करती। तपस् की ऊर्जा गति की ऊर्जा में बदल जाती है और ऋत की चाराओं की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और अपने सगरसता (moving with constant speed) के वेग को पकड़ लेती हैं। तपः लोक् में जहाँ ऋत की चारायें सब दूसरे से सट कर साथ चिपक कर चल रही थीं, वहीं जनः लोक् में आकर प्रत्येक ऋत की चारा अपने दोनो ओर कुछ मध्यान्तर बना लेती हैं और स्वतन्त्र होकर नया सृजन करने की क्षमता चारण कर लेती हैं। जन्म की क्षमता प्रत्येक ऋत की चारा की स्वतन्त्र रूप में प्रदान करने के कारण ही यह लोक् 'जनः' लोक् के नाम से बोला जाता है।

इस जनः लोक् के चार देव निष्कायों के विषय में महर्षि व्यास ने पातञ्जल योगदर्शन के विभूतिपाद के छब्बीसवें सूत्र, "भुवनशानं सूर्ये संग्रमात्" की व्याख्या में सप्तलोकों के प्रस्तार के विषय में बताते हुए लिखा है कि, "प्रथमो ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिष्कायः — ब्रह्मपुरोहिताः, ब्रह्मकायिकाः, ब्रह्ममहाकायिकाः, अजरामरा इति। एते भूतैन्द्रिय वीरानो द्विगुणोत्तरायुषः। अर्थात् इस ब्रह्मा के प्रथम ब्रह्म लोक् में चार प्रकार का देवनिष्काय है। अर्थात् चार प्रकार के देवनिष्कायों के कारण अर्णव समुद्र के अन्दर चार प्रकार के अर्णु विद्यमान हैं। (1) ब्रह्मपुरोहित, (2) ब्रह्मकायिक, (3) ब्रह्ममहाकायिक और (4) अजरामरा। ये भूतों की इन्द्रियों को वश में करने वाले और दुगुणी-दुगुणी उच्चोत्तर आयु वाले हैं। अर्थात् ब्रह्मपुरोहित की आयु से दुगुणी आयु ब्रह्मकायिक की है। ब्रह्मकायिक से दुगुणी आयु ब्रह्ममहाकायिक की है। आगे चित्र देखें—

“अजरा-अमरा” “अष्टापदी वा”

“अजरा-अमरा”

“अष्टापदी वा”

सुयमो ब्रह्मणे जन्तुलोके चतुर्विधो देवीनकायः
ब्रह्मपुरोहिताः, ब्रह्मकायिकाः, ब्रह्ममहाकायिकाः
अजरामरा इति। स्ते भूतेन्द्रिय वीक्षणो
स्ति गुणोत्तरायुषः। (महर्षि व्यास)

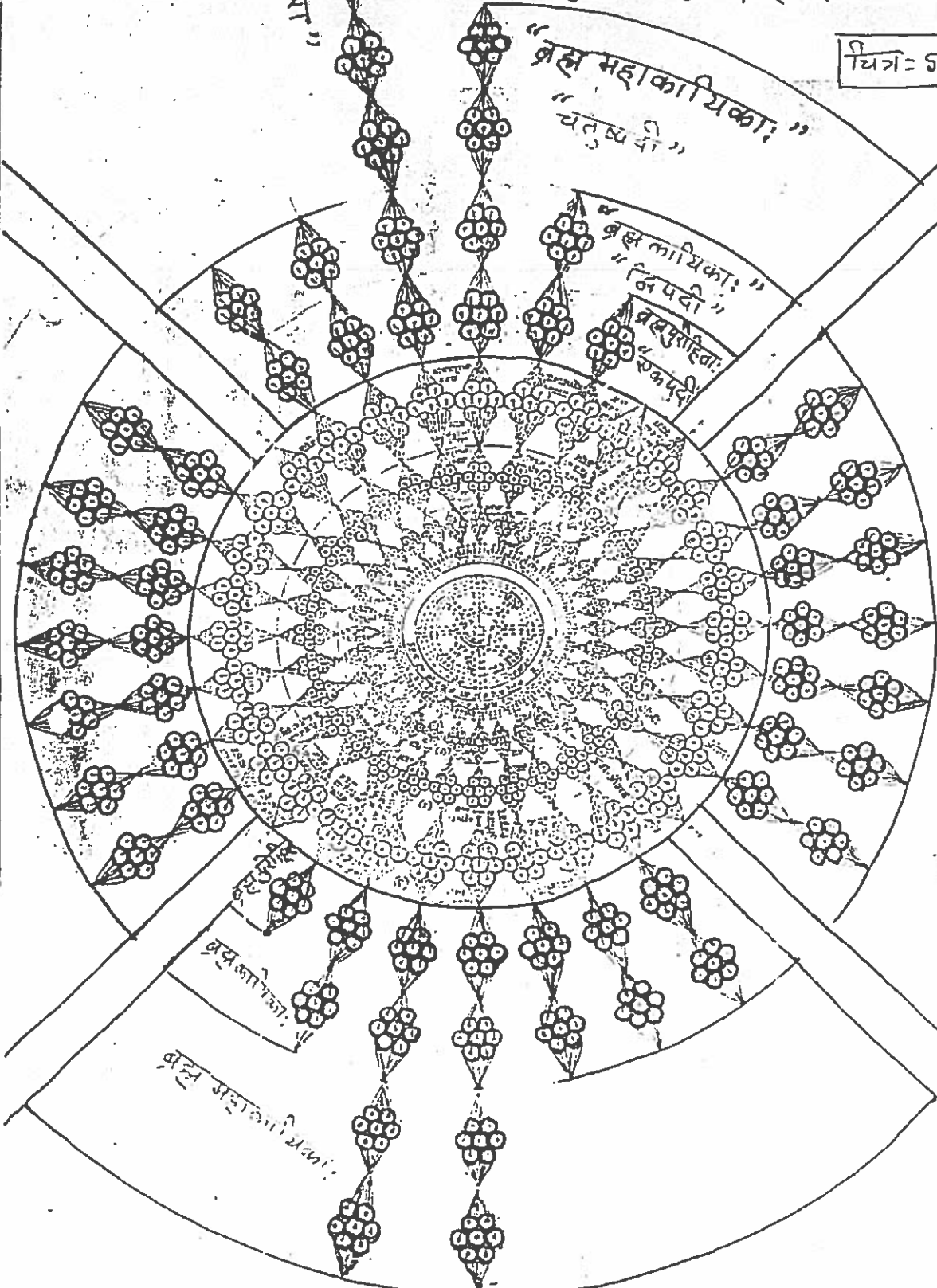
चित्र-59

“ब्रह्म महाकायिकाः”
“चतुर्विधो”

“ब्रह्म कायिकाः”
“अष्टपदी”
“ब्रह्मपुरोहिताः”
“एकपदी”

ब्रह्म कायिकाः

ब्रह्म महाकायिकाः



ब्रह्ममहाकायिक की आयु से दुगुणी आयु 'अजरामर' की है। आयु के काल का सम्बन्ध अर्णु में चलने वाली श्रुत की चारा के पद से होता है। एक पद ही चलने वाली श्रुत की चारा जितना समय लेगी, दो पद (Two wave lengths) चलने वाली श्रुत की चारा उससे दुगुणा समय लेगी। अतः उसकी आयु दुगुणी हो जायेगी। इसी प्रकार दो पद चलने वाली श्रुत की चारा जितना समय लेगी, चार पद चलने वाली श्रुत की चारा उससे दुगुणा समय लेगी। अतः उसकी आयु भी दुगुणी हो जायेगी। इसी प्रकार चार पद चलने वाली श्रुत की चारा जितना समय लेगी, आठ पद चलने वाली श्रुत की चारा उससे दुगुणा समय लेगी। अतः उसकी आयु भी दुगुणी हो जायेगी। इस प्रकार उनकी आयु उत्तरोत्तर चलती हुई द्विगुणीतर होती चली जायेगी। अतः ब्रह्मपुरोहित - ब्रह्मा वाला अर्णु श्रुत की चारा के एक स्वतन्त्र पद वाला अर्णु बनता है, ब्रह्मकायिक - ब्रह्मा वाला अर्णु श्रुत की चारा के दो स्वतन्त्र पदों वाला अर्णु बनता है, ब्रह्ममहाकायिक - ब्रह्मा वाला अर्णु श्रुत की चारा के चार स्वतन्त्र पदों वाला अर्णु बनता है तथा अजरामर - ब्रह्मा वाला अर्णु श्रुत की चारा के आठ स्वतन्त्र पदों वाला अर्णु बनता है। पृष्ठ (43) पर दिये गये चित्र में एक ही अर्णु की आकृति में इन चारों प्रकार की श्रुत की स्वतन्त्र चाराओं को अलग-अलग करके दिखाया गया है। एक ही अर्णु में ये चारों प्रकार की श्रुत की चाराएँ नहीं बनती। ये अलग-अलग अर्णुओं में बनती हैं। जिस अर्णु में एक पदी श्रुत की चारा बनेगी, उस ब्रह्मपुरोहित के अर्णु में सभी एक सहस्र श्रुत की चाराएँ एक पदी ही बनेंगी। इसी प्रकार जिस ब्रह्मकायिक अर्णु में एक श्रुत की चारा द्विपदी बनेगी तो उस में सभी सहस्र चाराएँ द्विपदी ही बनेंगी। इसी प्रकार ब्रह्ममहाकायिक अर्णु भी एक जैसी चतुष्पदी सहस्र चाराओं का बनेगा और अजरामर अर्णु एक जैसी अष्टापदी सहस्र श्रुत की चाराओं वाला बनेगा। इस प्रकार चारों प्रकार के अर्णु अलग-अलग बनते हैं। ये चारों प्रकार के अर्णु भूतों के तत्त्वों की इन्निंगों के वृक्ष में करने वाले होते हैं। Long periodic Table में जो प्रथम पंक्ति में तत्त्व H, He बनेते हैं, उनकी क्रिया करने की कर्मन्त्री को 'ब्रह्मपुरोहित' अर्णु नियन्त्रित करता है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में Li से लेकर Ne तक के आठ तत्त्वों और तीसरी पंक्ति के

Na से लेकर Al तक के आठ तत्वों की रासायनिक क्रिया करने की कर्मिन्द्रियों को ब्रह्मकायिक अर्णु नियन्त्रित करता है। चौथी पंक्ति के K से लेकर Kr तक के अठारह तत्वों की और पाँचवीं पंक्ति के Rb से लेकर Xe तक के अठारह तत्वों की रासायनिक क्रिया करने की कर्मिन्द्रियों (Electrons) को ब्रह्ममहाकायिक अर्णु नियन्त्रित करता है। छठी पंक्ति के Cs से लेकर Rn तक के बत्तीस तत्वों की और सातवीं पंक्ति के Fr से लेकर आगे के चौबीस तत्वों की रासायनिक क्रिया करने की कर्मिन्द्रियों (Electrons) को अष्टापदी अजरामरा अर्णु नियन्त्रित करता है। इस प्रकार ये चारों प्रकार के जनः लोका के देव निष्काय सारे भूतों की इन्द्रियों को वश में करने वाले और द्विगुणोत्तर आयु वाले हो जाते हैं। पृष्ठ (86) पर बनी Long periodic Table देखें।

अष्टापदी के बाद जब यह ऋत की चारा नवपदी बनती है तो नवें पद में यह अर्णु से अलग हो कर परमव्योम में स्वतन्त्र रूप से चली जाती है। तब सहस्र अक्षों पर चलने वाली रुक् अर्णु की सहस्र चारायें सहस्र अरों के रूप में परमव्योम में प्रवेष्टा कर जाती हैं और आगे के लोक (जनः लोक से ऊपर के लोक) महः लोक के देव निष्काय की रचना करती हैं। इस गति को ऋग्वेद में इस प्रकार बताया गया है —

गौरी मिमात्र सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥

(ऋग्वेद - 1, 164, 41)

इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं।

गौरीः = दीप्तिमती दिव्य । मिमात्र = जाद का शब्द करके ।
(सप्तपरावृत की बनी गौ)
सलिलानि = ऋत की चाराओं को । तक्षती = छड़ कर बनाती हुई ।
रुक् ऽ पदी = रुक् पद वाली (Having one wave length only)
(ब्रह्म पुरोहित अर्णु की)
द्वि ऽ पदी = दो पदों वाली - (ब्रह्मकायिक ब्रह्मा के अर्णु वाली) ।
सा = वह (ऋत के सप्त परावृत की बनी दीप्तिमती गौ) ।
चतुः ऽ पदी = चार पद वाली (ब्रह्ममहाकायिक ब्रह्मा के अर्णु वाली)

अष्टाऽपदी = आठ पद वाली (अजरामरा ब्रह्मा के अर्णु वाली)

नवऽपदी = नौ पद वाली | बभूवुषी = होकर बनती हुई।
(मा नये पद वाली)

सहस्रऽअक्षरा = सहस्र अक्षों पर अरों वाली |

पुरमे विऽओमन् = परम व्योम में (In the infinite space)

अर्थात् दीप्तिमती ऋत के सप्तपरावृत को बनी गी
ऋत को चाराओं को चड़ कर बनाती हुई एक पदी चारा की,
दो पदी चारा की, चार पदी चारा की और आठपदी ऋत की
चारा की जाद का शब्द करती हुई रचना करती है। उससे
पश्चात् नये नौ पद वाली बन कर अर्णु में से निकलने वाले
सहस्र अक्षों पर अरे के रूप में चलती हुई 'सहस्राक्षरा' बनती
हुई परमव्योम में चली जाती है (और अर्णु की रचना के पुर से
अलग हो जाती है)।

इस प्रकार जनः लोक में चार प्रकार के देव निष्काम, 'ब्रह्मपुरोहित',
'ब्रह्मकाथिन्', 'ब्रह्ममहाकाथिन्', 'अजरामरा' - बन कर चार प्रकार के अर्णु
बन जाते हैं और यह पुरुष के जीवात्मा के हंस की तीसरे सूर्यद्वार की
रचना पूर्ण हो जाती है।

ब्रह्मपुरोहित का अर्थ है कि ब्रह्म के पुर में अहित ऋत की चारा का स्वरूप।
ब्रह्मतत्त्व का अण्ड धर कर असद् ब्रह्म में रुद्र का प्रम रूप में पाश
बना कर सहस्र अक्षों पर चलने वाली ईशानी ऋत की चाराओं के
अरों से जो सहस्राक्षरा ब्रह्म का पुर बनाता है, उसमें अहित (स्थापित)
स्वतन्त्र ऋत की चाराओं को द्योतित करने वाले देव का स्वरूप 'ब्रह्मपुरोहित'
है। एक ही पद इस ऋत की चारा का ब्रह्म के पुर में अहित (स्थापित) इस
'ब्रह्मपुरोहित' देव के स्वरूप की रचना करता है।

ब्रह्मा जी के जनः लोक में इस तीसरे द्वार पर एक 'अर्णु' के

अन्दर ब्रह्मा जी एक पदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी ऋत की चाराओं
का निर्माण करते हैं, जिनके द्वारा वे सारी सृष्टि को रचते हैं। इन्हीं ऋत
की चाराओं के ब्रह्मा जी अगले चौथे सूर्यद्वार पर पहुँच कर 'पुरुष' की
ऋत की सहस्र अक्षों पर चलने वाली सहस्र शीर्षों में बनी हुई सहस्र
ऋत की चाराओं की रचना कर देते हैं और चौथे द्वार की रचना प्रारम्भ
हो जाती है।

(4) चौथे द्वार पर पीछे बताये गये "सहस्र शीर्षा पुरुषः सहास्राक्षः..." की रचना होकर पुरुष के दशांगुल रूप की भूमि पर दशमीलिकाओं की 'त्रित' के रूप परिवर्तन के द्वारा हो जाती है। इन्हीं दशमीलिकाओं की पुरुष द्वारा गर्भ में धारण करती हुई 'अदिती माता' का पञ्च प्राणोर्मियों के रूप में जन्म हो जाता है। यही 'अदिती माता' की पञ्च-प्राणोर्मि अपनी उर्मियों की निरन्तर धारा प्रवाह के द्वारा 'क' ऋण का प्रसव करती रहती है। इस प्रकार यह चौथा द्वार 'पुरुष' द्वारा गीतित हो कर 'क' ऋण का प्रसव करती हुई 'अदिती माता' की रचना का द्वार है। पृष्ठ (52) पर प्रथम अध्याय में अदिती माता का वह चित्र देखें, जिसमें वह 'क' ऋणों का प्रसव कर रही है। वहीं पर इसकी रचना का विस्तार से वर्णन भी देखें।

(5) पाँचवाँ द्वार 'क' ऋण की रचना का द्वार है। इस द्वार पर 'क' ऋण अपनी पूर्ण सत्ता को धारण करके द्यौ में चलने वाली ऋतु की तरंगों के सौमरस का पान करता हुआ ऊर्जा को ग्रहण करता रहता है। उसी ऊर्जा से यह अत्यन्त बलशाली आवेश को धारण करके तीव्र गति से गमन करने लग जाता है। इसी 'क' ऋण को 'इन्द्र' कहा जाता है। अतः शब्दकोष में 'क' का अर्थ 'इन्द्र' बताया गया है। विष्णु के प्रयतिः स्वरूप को पराशीव्य को विष्णु के रेत की बनीं ऋतु को धाराओं के द्वारा 'क' ऋण 'प्रयतिः' को ऊर्जा को अभिशोषित करता है। उसी से वह बल प्राप्त करता है। "स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्" - (ऋग्वेद-10, 129, 5) में प्रयतिः को परा शक्ति को इसी गति को बताया गया है। 'क' ऋण की रचना का चित्र भी पृष्ठ (52) पर ही देखें। 'अदिती' के चित्र के नीचे 'क' ऋण का चित्र दिया है।

(6) छठा द्वार 'अश्विनी' की रचना का द्वार है। 'क' ऋण द्यौ में से 'प्रयतिः' को परा शक्ति को ऋतु को धाराओं के द्वारा चूस कर बल को ग्रहण करता है। इस बल को ग्रहण करके वह अपने परिपथ के उपलोक से उछट कर अपने से आगे के परिपथ (orbital) में चला जाता है। वहाँ पर सात 'क' ऋण इकट्ठे होकर पहले सप्त परावृत को स्व 'अश्विनी' की रचना करते हैं। उसके बाद उस अश्विनी से 'क' ऋण निकल कर उसी परिपथ (orbital) में

में 'अष्टापरावृत' की रचना करते हैं। सात 'व' वृण सप्तपरावृत की 'अश्वी' में और 'व' वृण अष्टापरावृत की 'अश्वी' में रहते हैं। एक 'व' वृण सप्तपरावृत की 'अश्वी' और अष्टापरावृत की 'अश्वी' के मध्यान्तर में गतिमान रहता है, जो सप्तपरावृत में से निष्कल कर अष्टापरावृत में जाता है। इस प्रकार सोलह 'व' वृणों के विचार से युक्त हो कर दो अश्वियों के ग्रासन से 'अश्विनो' की रचना छे सूर्यद्वार पर हो जाती है। अष्टापरावृत में से जब 'व' वृण निष्कल कर भागता है तो उसके निष्कले से अश्विनो में चक्के का झटका लगता है। इसी झटके के बल से 'अश्विनो' का पूरा स्वरूप आगे भागने लग जाता है। इन अश्विनो की दौड़ने की श्रृंखला के द्वारा ही चुम्बकीय तरंगों की बलरेखाओं की रचना होती है।

ये अश्विनो सप्तपरावृतों के रूप में पुञ्ज बना कर स्वतन्त्र रूप में परम व्योम में गति करते हुए सूर्यचक्षुः (Photos) के रज्ज्वण की रचना कर देते हैं। सप्तपरावृत के रूप में यह सूर्यचक्षुः (Photos) सुप्त रहता है और प्रकाश की ऊर्जा को नहीं छोड़ता। परन्तु जब यह सूर्यचक्षुः (Photos) अष्टापरावृत में बदल जाता है तो यह जागृत अवस्था में हो जाता है और प्रकाश की ऊर्जा का स्राव करने लग जाता है। यह सूर्यचक्षुः रज्ज्वणों (Photos) की रचना तभी होती है, जब 'अश्विनो' अगले सातवें सूर्यद्वार पर नई प्रकार की रचना करने के लिए नहीं जा पाते और वे स्वतन्त्र रूप से परम व्योम में प्रवाहित हो कर चुम्बकीय तरंगों की धाराओं की रचना कर देते हैं। पृष्ठ (१२) पर सूर्यचक्षुः (Photos) के सप्तपरावृत के रूप का चित्र देखें।

(७) परन्तु जब ये 'अश्विनो' अदिती के प्रक्षेपण बल द्वारा अगले पौरुष (Orbit) में प्रक्षेपित कर दिये जाते हैं तो वे वहाँ कीललावत में घूमते हुए षड्-वृन्दारवों (Six quarks) की 'इलाखा' की रचना कर देते हैं। इस प्रकार सातवाँ द्वार षड्-वृन्दारवों की रचना का द्वार बन जाता है। पृष्ठ (52-A) पर पहले 'अश्विनो' की रचना का चित्र दिया है, तथा उसके नीचे षड्-वृन्दारवों का उनके नाम सहित चित्र दिया हुआ है। वहाँ पर उनकी पूरी व्याख्या भी दी हुई है। वहाँ पर देखें। अश्विनो की बनी आवरणों की पट्टी से प्रत्येक वृन्दारव का आकार, आयाम निर्धारित होता है। एक ही आवरण के बने वृन्दारव का नाम त्रिदशा है। दो आवरणों से बने वृन्दारव का नाम 'अग्निष्वात्ता' है। इसी प्रकार एक-एक आवरण चक्के पर इनके नाम क्रमशः 'याम्या', 'तृषिता', 'अपारिनिमित्त वक्रावर्तन';

तथा 'परिनिर्मित वशवर्तिनः' कहे गये हैं।

(8) षड् वृन्दारण्यों की इलाखमें जब विष्णु कैरेत की ऊर्जा को 'ऋ' ऋणों के द्वारा अभिषोषित करके 'बल' को प्राप्त कर लेती हैं तो वे अपने परिपथ से उछट कर भटके के साथ अपने से ऊपर के परिपथ में चली जाती हैं। उस परिपथ में घूर्णन करती हुई वे पुनः स्वप्न सप्तपरावृत में संग्रहित हो जाती हैं। इसी सप्तपरावृत में तीन प्रकार के गुणों वाले 'त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा' बन जाते हैं। इन तीन प्रकार के वर्त्माओं के नाम 'रमणव्यम्', 'हिरण्यम्', 'उत्तराव्युरुवः' हैं। [These are the three methods, m^0 , m^+ , m^- . m^0 = रमणव्यम्, m^+ = हिरण्यम्, m^- = उत्तराव्युरुवः.] ये तीन नाम इन वर्त्माओं के महर्षि व्यास ने पातञ्जल योग दर्शन के विभूतिपाद के छब्बीसवें सूत्र, "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" की व्याख्या करते समय बताये हैं।

षड् वृन्दारण्यों का बना सप्तपरावृत और तीन प्रकार के वर्त्माओं का अलग-अलग स्वरूप दर्शाने वाले चित्र पीछे पृष्ठ (83) पर दिये गये हैं। वही पर साथ के पृष्ठों में उनका वर्णन लिखा है। वहाँ पर देखें।

(9) जौवाँ द्वारा अन्तिम द्वार है। यह 'वैश्वानराग्नि' के स्वरूप की रचना का सूर्य द्वार है। इसमें 'जिचिमेताग्नि' के 'न', 'चि', 'इत्' ऋणों की अग्नि के स्वरूप बनते हैं। इन स्वरूपों की रचना के उपरान्त स्वप्न अणु (Atoms) का पूर्ण स्वरूप बन जाता है। इन अणुओं (Atoms) से ही मिलकर सारी सृष्टि बनी है।

इस नवें द्वार पर आ कर विष्णु कैरेत की सप्तार्द्धगर्भा शक्ति पूर्ण रूप से मुक्त हो जाती है। अतः यहाँ पर आ कर सम्भूति का कार्य पूर्ण हो जाता है और विनाश का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। विष्णु के सप्तार्द्धगर्भा रेत की संकल्प की शक्ति से नीम की रचना पूर्ण हो जाती है और विक्लप की शक्ति से विनाश के क्रम में सप्त पाताल लोकों की रचना हो कर उनमें 'इत्' ऋणों के भुवन (orbitals of the electrons) स्थापित हो जाते हैं। उन सप्त पातालों से आगे उन 'इत्' ऋणों में सहस्राक्षरा उक्षाणम् का शक्तिमय घूम उठने लगता है जिसके द्वारा वे पुनः अणुओं में बदलते हुए क्षीर में बदल कर दूध में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ प्रथम द्वार पर स्वप्न आभु के क्षीर से संकल्पों द्वारा सम्भूति का क्रम प्रारम्भ होता है, वही जौ द्वारों से गुजरता हुआ विनाश के क्रम को प्राप्त हो कर पुनः उसी प्रथम द्वार की रचना के स्वरूप को प्राप्त

कर लेता है। इस प्रकार सम्भूति और विनाश के चक्र के साथ-साथ चलने से इस विविध विविध रूपों वाली सृष्टि का चक्र चलता रहता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में इन नौ सूर्य द्वारों पर बने वाली विविध रचनाएँ ही पाई जाती हैं, इनके बाहर और कोई रचना सृष्टि में नहीं है। हों जब पूर्ण अणु 'तत्वों' के रूप में अपना स्वरूप चारण कर लेते हैं तो वे अवश्य अपने भोग (Molecule) बना कर विविध रूपों को अवश्य प्रकट करने लग जाते हैं। परन्तु इन भोगों में उन अणुओं (Atoms) का स्वरूप उसी प्रकार अक्षुण्ण अवस्था में विद्यमान रहता है। अतः सृजन की दृष्टि से वे किसी ज्ये सृजन के रूप में नहीं माने जाते। वे संकल्प को नहीं, अपितु विकल्प को रचनाएँ मानी जाते हैं।

इस प्रकार नौ द्वार पर भू, लोक तथा सप्त पाताल लोकों की रचनाएँ होती हैं।

इस प्रकार इन नौ सूर्य द्वारों वाले इस अणु (Atom) के पुर में निवास करने वाला यह आत्मतत्त्व के स्वरूप का हंस विष्णु के रेत का रूप चारण करके सातों लोकों और चौदह भुवनों को अर्द्धगर्भित करता हुआ उन्हें जीवनशक्ति प्रदान करता हुआ बाहर की ओर आता है और विषयों को पकड़ने के लिए सदैव लालायित रहता है। वह अणु के केन्द्र में स्थित विष्णु के परा शक्ति वाले बिन्दु से 'प्रयतिः' (मोक्ता) का रूप चारण करके विषयों को अपने भोग के लिए पकड़ता हुआ प्रत्येक सूर्य द्वार पर आता है और अपने भोग के अनुकूल ऋत की रचनाओं के स्वरूपों को ढाल देता है। इस प्रकार वह स्थावर और चर जगत् सोर को अपने वश में करने वाला बन जाता है।

इस प्रकार जो ऋग्वेद (10, 129, 5) में, "स्वधा अवरस्तात् प्रयतिः परस्तात्" - व्याख्या है, वही 'प्रयतिः' आत्मा का हंस बन कर अणु के केन्द्र के पराशक्ति वाले "पर-बिन्दु" से चल कर अणु की त्रिज्या (Radius) वाले मैग्नेटिक के स्पेक्ट्रम (Line spectra of the Radius of an atom) के पथ पर चलता हुआ विष्णु के सप्तार्द्धगर्भित रेत के रूप में अक्षय को शक्ति को (ऋत का अक्षय) चारण करता हुआ विषयों को पकड़ने के लिए लालायित होता हुआ अणु (Atom) से बाहर आता है। वही सभी लोकों का तथा चराचर जगत् का वही (वश में करने वाला) बनता है। ऋत का स्वयं का शुद्ध स्वरूप (स्वधा) अवर क्षेत्र से चलता है और परा शक्ति को चारण करके संकल्पों को सृष्टि के भोगों को भोगने वाला "प्रयतिः" पर क्षेत्र से चलता है। वही हंस और सबका वही है।

यह जो आत्मतत्त्व का आत्मा के रूप में हंस विष्णु के रेत की रीश्म के रूप में अणु के केन्द्र से चलकर अणु से बाहर आता है, तो वह जिस प्रकार गीत करता है, उसकी गीत करने की विधि तथा उसकी अन्य इन्द्रियों की कार्य करने की विधि को इस अगले मन्त्र में बताया गया है।

अपाणिपादो जवजो ग्राहीता पश्यत्यक्षः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्यम् पुरुषं महान्तम्॥११॥

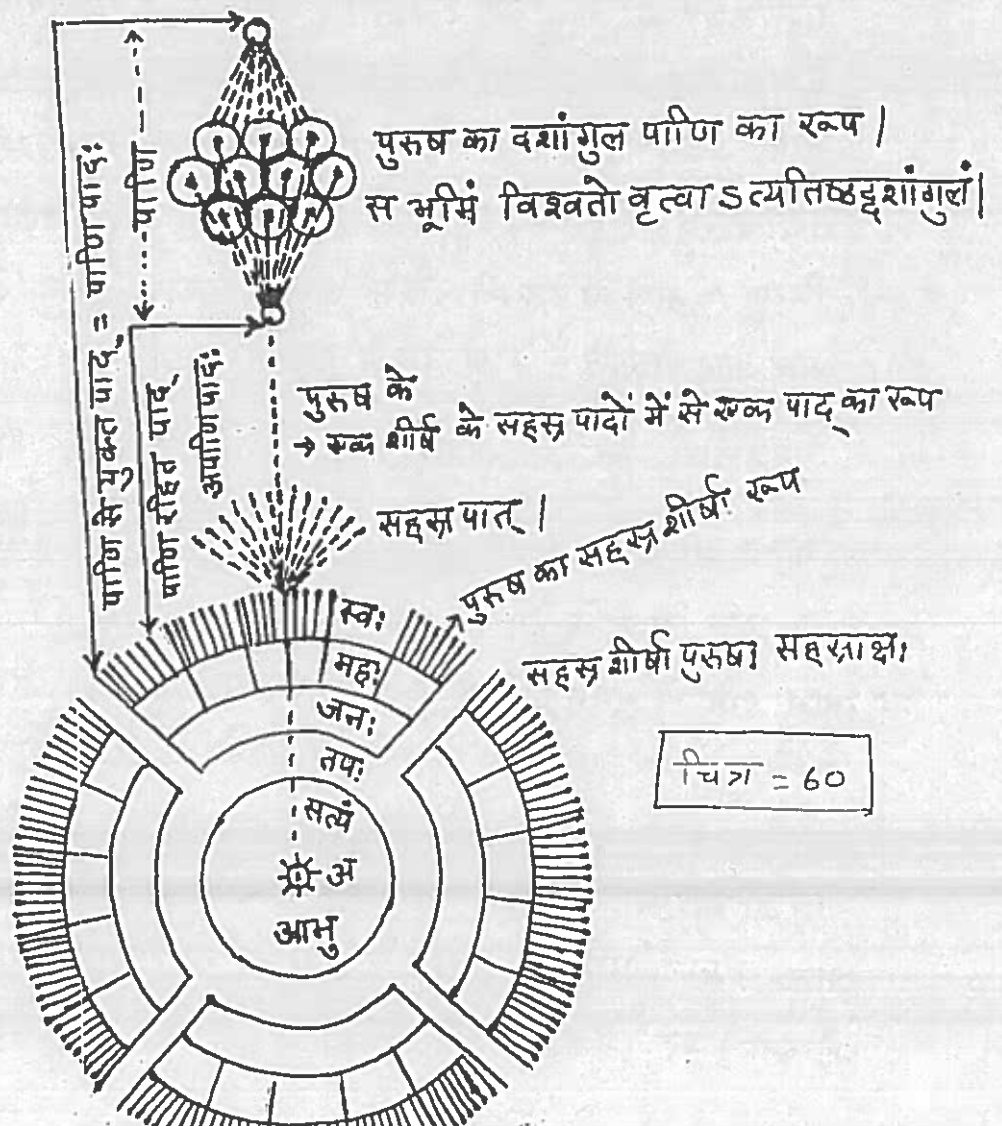
ऋत का चारा के रूप में रीश्म बन कर जब विष्णु के रेत का आत्मा के रूप में बना हंस अणु के केन्द्र से अणु से बाहर की ओर चलता है तो इसमें अश्वों की गीत होती है। वेद का 'अश्व' चौंतीस अर्णवों की ध्रुवला का बना एक तन्तु होता है, जिसका अन्तिम बिंदु का अर्णु 'त्रित' बन कर सद्यन रूप चारण कर लेता है और मीह के मीलित अर्ध की रचना करता हुआ मीहजात कहलाता है। इस मीहजात अर्णु पर प्रत्येक अश्व अपनी चौंतीस अर्णवों की पसलियों के तन्तु की त्रिज्या (Radius) बनाता हुआ एक परावृत बनाता है। गीत की गणना के अनुसार सप्तपरावृत (seven hypercircle) का माप $\frac{16}{15} r^3$ सर्वाधिक होता है। अतः जब यह रीश्म चलती है तो यह सप्तपरावृत (seven hypercircle) बनाती हुई तिरछी-तिरछी चलती है। विष्णु (= अ) के रेत की रीश्म 'अ' के भुवन 'आभु' से ऊपर और नीचे सब ओर चलती है। ऋग्वेद में इनके विषय में कहा है —

तिरश्चीनो विततो रीश्मरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीदत् ।

रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवरस्तात् प्रयतिः पुरस्तात् ॥

इस विष्णु के रेत की रीश्मों तिरछी चलती हुई फैली हुई हैं और ये आभु ('अ' के भुवन) के नीचे और ऊपर फैली हुई हैं। विष्णु के रेत की चारण करती हुई ये सप्तलोकों और चौदह भुवनों के आवरणों की रचना करती हुई महान रूप को चारण करती हैं। इन रीश्मों के द्वारा ऋत का शुद्ध स्वरूप ऋत की स्वधा 'अवर' क्षेत्र से चलती है और परा शीव्त को चारण करके ऋत का बना 'प्रयतिः' (ऋत के संकल्पों की विसृष्ट के भोगों को भोगने वाला भोक्ता) 'पर' क्षेत्र से चलता है।

इस प्रकार ये ऋतु को चारों ओर 'आमु' से सहस्र शीर्षों में चलती हुई तथा महः लोक तक के सूर्य द्वारा पर रचनाओं को विशेष रूप प्रदान करती हुई स्वः लोक आती हैं और स्वः लोक के प्रथम भाग में पहुँच कर -
 "सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्रवतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलं"
 पुरुष की रचना करती हैं। यहाँ पर दशांगुल भाग पुरुष का 'पाणि' भाग होता है तथा यह एक 'पाणि' उस पुरुष के सहस्र शीर्षों में से एक शीर्ष के सहस्र पादों में से एक पाद के साथ जुड़ा होता है। अतः उस पाद सहित एक पाणि के संयुक्त रूप को "पाणिपादः" कहा जाता है। जब अकेला केवल पाद होता है और उसे पाणि के रहित अलग से बताना होता है तो उस पाणि रहित पाद को "अपाणिपादः" कहा जाता है। पुरुष की रचना के चित्र में पृष्ठ (79) पर सहस्र पादों में से एक पाद के साथ दशांगुल पाणि का जुड़ा हुआ स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। नीचे के चित्र में इस स्वरूप को स्पष्ट समझें।



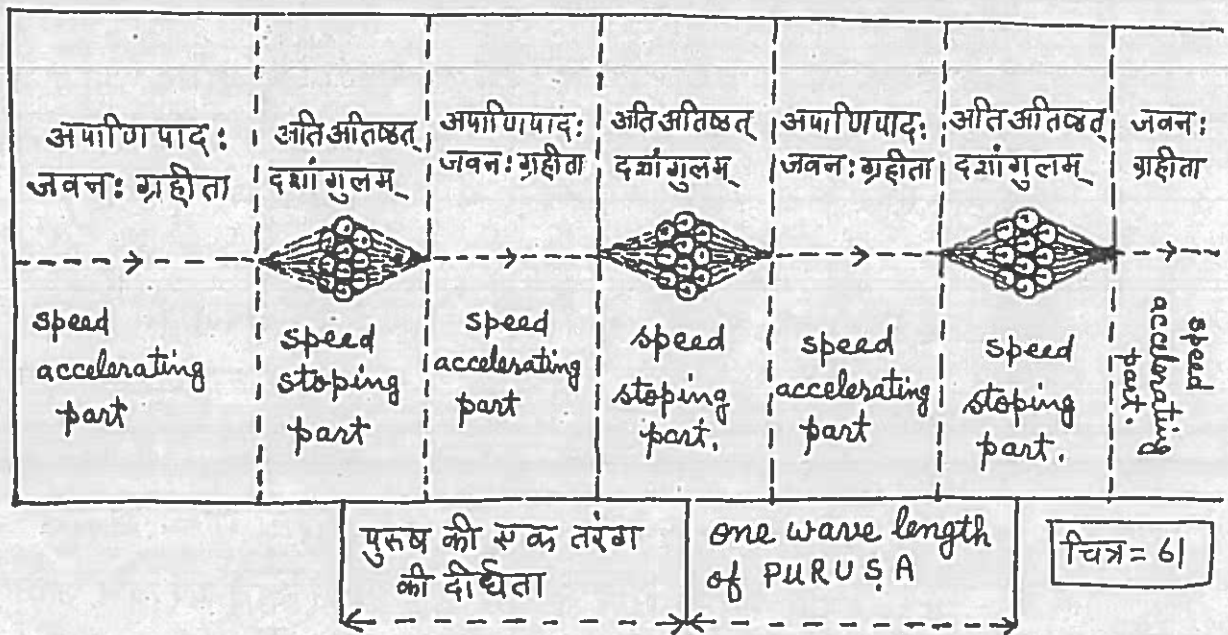
पीछे इस चित्र के अनुसार 'पुरुष' के पाणि तथा पाद के समझने के उपरान्त हम 'अपाणिपादः' शब्द का अर्थ समझ जाते हैं। अब हम मन्त्र का अर्थ लेते हैं।

अपाणिपादो जवने गृहीता = पुरुष का पाणि से रहित पाद स्फुरण के उत्तरोत्तर गति (जवनः) के ग्रहण करने वाला (गृहीता) होता है। क्योंकि 'पाणि' वाले दशांगुल भाग में तो पुरुष के स्वरूप के अति रूप से उहरा हुआ - "अति अतिष्ठत् दशांगुलम्" कह कर पीछे के मन्त्र में पहले ही बता दिया गया है। 'पाणि' भाग में गति का अवरोध उत्पन्न हो कर ही तो पुरुष के गति में झटके मारते हुए रुक-रुक कर चलने की तरंग की गति उत्पन्न होती है।

यहाँ पुरुष की तरंग की चलने की विधि और पीछे के लोको में सहस्रशीर्षों के रूप में विष्णु के रेत की तरंग की चलने की विधि में अन्तर केवल इतना आता है कि पुरुष का दशांगुल पाणि का स्वरूप दो सप्तपरावृत्तों के ग्रासन से बनता है, जब कि विष्णु के रेत का पाणि सप्तर्षि के रूप में सप्तपरावृत्तों के अकेले-अकेले अलग-अलग स्वरूप से बनता है। पृष्ठ (43) पर बने अर्णु के चित्र में 'पुरुष' के रेत का स्वरूप सप्तपरावृत्तों के द्वारा बना हुआ 'आमु' से लेकर जनः लोक तक अष्टापदी रूप तक बना हुआ दिखाया गया है। वहाँ देखें। परन्तु पुरुष का स्वरूप जब 'क' लण के रूप में दश-मौलिक अर्थों की रचना अपने पाणि के रूप में करता हुआ इन्द्र की तरंगों के रूप में गति करता है तो इस गति में 'अपाणिपाद' ही 'जवन' का 'गृहीता' होता है। यह 'अपाणिपाद' रुक अर्णु से लेकर चौतीस अर्णुओं की बनी शृंखला तक की लम्बाई की धारण कर सकता है। इस का स्वरूप वेद में बताये गये 'अश्व' का स्वरूप होता है। यही 'अपाणिपाद' का स्वरूप पुरुष की तरंग की चलने की तरंगदीर्घता (wave length) को बनाता है। इस 'अपाणिपाद' के 'अश्व' को ही वैदिक ऋषि काट कर अश्वमेध यज्ञ करते हैं, जिसके द्वारा वे प्रकृति में बनने वाले दशमौलिक अर्थों की नियन्त्रित करके इच्छित परिणाम की प्राप्ति करते हैं। इन्द्र को अश्वमेध यज्ञ द्वारा ही नियन्त्रित किया जाता है।

नीचे के चित्र में 'पुरुष' की तरंग के चलने के स्वरूप को स्पष्ट करके समझाया गया है, जिससे, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" का स्वरूप समझ आ जाता है। यहाँ इस चित्र को देखें -

'पुरुष' की स्फुरण गति (जवनः) को दर्शाने वाला चित्र।



इस प्रकार पुरुष अपने दशांगुल रूप को प्राप्त करके दशमौलिवार्थों की 'त्रित' के रूप में रचना करता हुआ तरंग के रूप में गति करता है। दशमौलिवार्थों के ग्रासन को वह 'क' कण का रूप प्रदान करके, उन 'क' कणों की 'प्रमा' = (पदार्थ के द्रव्य की इकाई की मात्रा) के द्वारा किसी देव के किसी अर्घ पिण्ड की प्रतिमा का रूप प्रदान कर देता है। ["कासीत् प्रमा प्रीतिमा" - (ऋग्वेद-10, 130, 3)]। अर्घ पिण्ड की यही प्रतिमा किसी शरीर का रूप धारण करके उस पुरुष का 'पुर' बन जाता है। इस पुर में ही वह पुरुष उस पुर के केन्द्रिय स्थान उसके हृदय में निवास करता है। इस हृदय को अणु के केन्द्र में स्थित हम 'आहु' भी कह सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण (6, 3, 3, 25) में "वैरवा हि पुरः" कह कर इन 'क' कणों की इस प्रकार की गति द्वारा लिखे गये लकीरों के लेख को ही 'पुर' बताया गया है। इस 'पुर' में अपने उपरीष्ठ अपाणिपाद के द्वारा वह पुरुष जवन का ग्रहीता होता है।

इस प्रकार 'पाणि' का दशांगुल भाग स्फुरण की गति को अपने अन्दर रख स्थान पर अति रूप से ठहरा कर उसको अवसृज्य करता है तथा पाणि रहित पाद का 'अपाणिपादः' भाग उस पुरुष की जवन की गति (उत्तरोत्तर स्फुरण की गति) को ग्रहण करने वाला होता है।

पश्यति अचक्षः स शृणोति अकर्णः = 'क' कणों की धाराओं (current) में सप्तपरावृत में श्रुत की रीति की तरंग के रूप में चलने वाला विष्णु के रेत का बना 'पुरुष' जो आत्मा के रूप में बना हंस है, वह 'अपाणिपाद' भाग में जवन की गति को ग्रहण करने वाला बनता हुआ आगे चलता हुआ बिना आँखों के देखता है, और बिना कानों के सुनता है।

देखता हुआ कोई व्यक्ति अपने उचित मार्ग पर चलता है तथा मार्ग में आने वाले अवरोधों को देखता हुआ उन्हें कुशलता से पार कर लेता है। जिस स्थान पर वह जैसी उचित व्यवस्था देखता है, उसी के अनुसार वह क्रिया करके अपने आगे चलने का मार्ग बना लेता है। ठीक इसी प्रकार विष्णु के रेत का बना पुरुष सुमेरु के जो सूर्यद्वारों पर चलता हुआ उन्हें ठीक प्रकार से देखता है और प्रत्येक सूर्यद्वार पर उस द्वार की व्यवस्था के अनुसार अपने स्वरूप को ढालता हुआ और अपने पथ को देखता हुआ आगे के सूर्यद्वार के पथ पर आगे बढ़ जाता है। सुमेरु के जो सूर्यद्वारों को पीछे बताया जा चुका है। इस पुरुष के आँखें नहीं हैं, परन्तु फिर भी वह सुमेरु के पथ पर चलता हुआ अपने पथ को और उस पथ पर बने जो सूर्यद्वारों को अच्छी प्रकार देखता है और अपने पथ पर आँडगा हो कर चलता है।

जब यह पुरुष सुमेरु के अपने पथ पर चलता है तो वह बिना कानों के ध्वनि को सुनता भी है। सुनने की प्रक्रिया में पहले कहीं ध्वनि उत्पन्न होती है, फिर वह ध्वनि तरंगों के रूप में आगे चलती है और जो उस ध्वनि को सुनने वाला होता है, उसके संज्ञनः अंग कान के साथ

जाकर टकराती हैं उस कान में ध्वनि की तरंगों की संज्ञा उत्पन्न करती हैं, तब वह सुनने वाला उस ध्वनि को सुनता है। 'पुरुष' जब श्रुत को सप्तपरावृत्तों के रूप में बनें तरंगों के रूप में गति करता है तो वह अपने 'पुर' अणु (Atom) की जीम में बनें तीनों वृत्तों के चक्रों में अक्ष बन कर गति करता हुआ बाहर आता है। वह अपनी तरंगों की दोलन गति के द्वारा इन तीनों चक्रों में तीन प्रकार के नाद की ध्वनि की वाणी (Resonance) उत्पन्न करता है। जब यह तीन प्रकार का 'वाक्' तीनों जीम के चक्रों में अणु (Atom) की गुहा में 'वाक्' के तीन परिमित पदों के रूप में उत्पन्न हो जाता है, तो फिर इनमें आपस में तारतम्यता स्थापित होती है। वाक् के इन तीनों परिमित पदों में तरंगदीर्घता (wave length) और कालात्म संख्या (frequency) अलग-अलग होती हैं। इसी कारण ये तीनों वाक् के परिमित पद अलग-अलग प्रकार के होते हैं। परन्तु जब इन तीनों पदों में उस समय तारतम्यता स्थापित होती है जब अणु की जीम में बनें तीनों चक्रों के वृत्तों में बनें सातों लैकों के आवरणों को पुरुष का बना स्व अक्ष पार करता हुआ उन्हें स्व इकाई के पाश में बाँधता है तो उस समय जीम के स्व चक्र के वाक् के परिमित पद को दूसरे चक्र का वाक् का परिमित पद सुनता है और अपने अन्दर उत्पन्न हुई उस वाक् की संज्ञा की तारतम्यता अपने वाक् के परिमित पद में स्थापित करता है। इसी प्रकार जीम के दूसरे चक्र के वाक् के परिमित पद और तीसरे चक्र के वाक् के परिमित पद में सुनने की संज्ञा की प्रक्रिया द्वारा तारतम्यता स्थापित होती है। वाक् के ये तीन परिमित पद अणु की जीम की गुहा में रहते हैं और चौथा परिमित पद जब अणु से बाहर बनता है, तो वह पूरे अणु को कम्पित करके अणुओं से बने पदार्थ के द्रव्य में नाद उत्पन्न कर देता है। इस चौथे परिमित पद वाले वाक्

को मनुष्य बोलते हैं। वह वाक् हवा के अणुओं के कंपन द्वारा वायु के माध्यम में तरंग के रूप में चलता है और उसे मनुष्य अपने कानों द्वारा सुनते हैं। वाक् के इन चारों पदों को ऋग्वेद में इस प्रकार बताया गया है —

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता जङ्घन्ति तुरीयं वाचो मनुष्यावदन्ति ॥

इस मन्त्र का पदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं—
(ऋग्वेद-1, 164, 45)

चत्वारि = चार | वाक् = वाणी के | परिमिता = नापे हुए |
पदानि = पद (हैं) | तानि = उनको | विदुः = जानते हैं |
ब्राह्मणाः = ब्रह्म के विषय में मनन करने वाले तथा ब्रह्म की व्याख्या करने वाले मनुष्य 'ब्राह्मण' | ये = जो |
मनीषिणः = मनीषी बुद्धिमान (हैं) | गुहा = अणु की नाभि के तीन चक्रों की गुफा में | त्रीणि = तीन (पद) |
निहिता = पूर्ण रूप से स्थापित हुए | न = नहीं |
जङ्घन्ति = (अणु की नाभि के तीन चक्रों की गुफा के बाहर) प्रकट होते हैं | तुरीयम् = चौथे परिमित पद को |
वाचः = वाणी के | मनुष्याः = मनुष्य | वदन्ति = बोलते हैं |

अर्थात् वाणी के नाद के चार नापे हुए पद हैं। उनको जो बुद्धिमान ब्राह्मण हैं, जो ब्रह्म का मनन करने वाले तथा ब्रह्म की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण हैं, वे जानते हैं। उन वाणी के चार नापे हुए पदों में से तीन पद अणु की नाभि के तीन चक्रों की बनी गुफा में पूर्ण रूप से स्थापित हैं। वाणी के चौथे पद को मनुष्य बोलते हैं।

इस प्रकार जो वाणी के तीन पद हैं वे अणु (Atom) की

नामि के पुर में रखे हुए हैं। श्रुत की तरंगों के रूप में चलने वाला वह 'पुरुष' उस नामि के पुर में उन वाणी के तीनों पदों को बिना कानों के सुनता है और सुनने की संज्ञा की अनुभूति को प्राप्त करके चारों पदों के अन्दर तारतम्यता स्थापित करता है।

इस प्रकार वह पुरुष बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता = वह 'पुरुष' उन सब को जानता है जो जानने योग्य हैं, परन्तु उस पुरुष का जानने वाला कोई भी नहीं है।

इस विविध रूपों वाली विशेष प्रकार की विसृष्टि के पुर का सृजन करने के लिए इसके अन्दर निवास करने वाला पुरुष जो इस विसृष्टि का परमाध्यक्ष है, वह इस विविध रूपों वाली विसृष्टि के प्रत्येक अवयव को अच्छी प्रकार से जानता है तथा उनके उस विशेष रूप को अपने रूप को बदल कर अपने रूप द्वारा उसके उस रूप को प्राप्त करता है। (विद् = प्राप्ति)। परन्तु इस विसृष्टि का कोई भी अवयव इस विसृष्टि के परमाध्यक्ष उस 'परमपुरुष' को कोई भी नहीं जानता, और न ही कोई अवयव उस परमपुरुष के रूप को प्राप्त करने वाला होता है।

विसृष्टि का कोई अवयव विसर्जित हो कर अर्वाब्द देवों में बदलता हुआ परमपुरुष के रूप में समाहित हो सकता है, परन्तु वह स्वयं पूर्ण रूप से उस परमपुरुष के स्वरूप को धारण नहीं कर सकता। वह उस परमपुरुष का अवयव बन कर, अवयव के रूप में ही समाहित हो सकता है, उस परमपुरुष पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता।

उस परमपुरुष के अवतारित होने का साक्षी केवल निर्गुण

सद्-ब्रह्म हैं। अतः उसे जोई भी नहीं जानता / इसी कारण वह इस विसृष्टि का परमाध्यक्ष हैं।

इस विसृष्टि का जानने योग्य तत्त्व वह सद्ब्रह्म है, जिससे यह विसृष्टि बनी है। वही इसका परमाध्यक्ष परमपुरुष बनता है। वही "वैद्यं" है। उस सद्-ब्रह्म 'वैद्यं' को वह परमपुरुष ही जानता है तथा अन्तर्ध्यान होकर वह ही उसके स्वरूप को प्राप्त करता है।

इस तथ्य को ऋग्वेद में इस प्रकार प्रकट किया है—
इमं विसृष्टिर्गतं आब्रूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥

अर्थात् यह विविध रूपों वाली विशेष सृष्टि जहाँ से आकर उत्पन्न हुई है और सत्ता में आई है, इसके उस मूलतत्त्व सद्-ब्रह्म में उदित कामदेव को इच्छा पर निर्भर करता है कि वह मूलतत्त्व सद्-ब्रह्म इस विविध रूपों वाली सृष्टि के किसी विशेष रूप को चारण करे अथवा न चारण करे। परम व्योम में स्थित जो इसका अध्यक्ष परमपुरुष है उसे निश्चय पूर्वक जानो। यदि उसे नहीं जाना तो मान लो कि आप ने कुछ भी नहीं जाना। अर्थात् वही अकेला "वैद्यं" है।

यदि आप ने किसी के रूप को प्राप्त करना है, तो उस परमपुरुष के 'केवल्य' के रूप को प्राप्त करें। यदि उसको प्राप्त नहीं किया तो मान लो कि आप ने कुछ भी प्राप्त नहीं किया।

इस प्रकार वह परम व्योम में स्थित परमपुरुष ही इस विविध रूपों वाली विशेष सृष्टि के जानने योग्य सभी अवयवों को जानता है। क्योंकि वही इन सभी रूपों को चारण करता है। परन्तु इस विविध रूपों वाली विशेष सृष्टि का जोई भी अवयव अकेला उस परमपुरुष को नहीं जान सकता और न ही उसके परमस्वरूप को प्राप्त कर सकता है। हाँ वह अवयव अपने स्वरूप का पूर्ण रूप से विनाश करके अपने को उस परमपुरुष के रूप में समाहित कर सकता है और उसमें विलीन हो कर उसके उस परमपुरुष के स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। परन्तु स्वयं अकेला अलग रह कर वह उस परमपुरुष के स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण यहाँ "स वेत्ति वैद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" कहा गया है। अर्थात् वह

परमपुरुष सभी को उनको जानता है और उनके रूपों को प्राप्त करता है, जो इस विविध रूपों वाली विशेष सृष्टि में जानने योग्य है और जिन विविध रूपों को उसे प्राप्त करना चाहिए। परन्तु उस परमपुरुष को इस विसृष्टि का कोई भी अवयव अपनी बुद्धि के बल से न तो जानता है और न ही उसके रूप को प्राप्त करता है। वह परमपुरुष ही परम ज्योम में बैठा इस विसृष्टि का अध्यक्ष है। उसी को जानो और उसी के रूप को प्राप्त करो।

तमाहुरग्यम् पुरुषं महान्तम् = जो परम ज्योम में बैठा परमपुरुष इस विसृष्टि का अध्यक्ष है, उसी को सब से आगे का सब से पहले अपनी सत्ता को चारण करने वाला-प्रथमजा-“महान्पुरुष” कहते हैं। उसी को ‘अ’ अक्षर के नाम से बोला जाता है। वर्णमाला का प्रथम अक्षर ‘अ’ उस प्रथमजा परमपुरुष विष्णु के नाम को बताने वाला बताया गया है। उसके लिए कहा है कि, “अकारः सर्व वर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः” - अर्थात् वर्णमाला के सभी वर्णों में जो सब से आगे का वर्ण अकार (‘अ’) है, वही उस परमपुरुष के परमप्रकाश को बताने वाला है। वही परमपुरुष परम कल्याणकारी है। इस प्रकार उस परमकल्याणकारी परमपुरुष के परमप्रकाश को उस विष्णु के अवतरण को अकार ‘अ’ के नाम से बोला जाता है।

“तमाहुरग्यम् पुरुषं महान्तम्” - में उस परमज्योम की रुक् इकाई के अण्ड के पुर में निवास करने वाले उस ‘परमपुरुष’ के विषय में ही पीछे सारी बताई गई विशेषताएँ इस मन्त्र में बताई गई हैं। ‘पुरुष’ के “अपाणि पादो जवनी गृहीता” - के तथ्य को यजुर्वेद के ईशोपनिषद् के रुक् मन्त्र में इस प्रकार समझाया गया है -

अनेजदैकम् मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत ।

तद् धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपौ मातीरववा दधाति ॥

इसका अर्थ है कि जीवात्मा के रूप में ‘पुरुष’ जब गति करता है तो पुरुष का “अति-अतिष्ठत् दशांगुल स्वरूप” - दशमौलिकाधी का बना हुआ रुक् इकाई का स्वरूप तो ‘अनेजत्’ अवस्था में रहता है। उसमें अति रूप से ठहरने के कारण कम्पन या चलने की गति नहीं रहती। दूसरा जो पाणि रहित पाद है, उसमें मन से भी अधिक तेज गति होती है।

इसकी गति के उत्तरोत्तर तीव्रता के स्वरूप को वे देव भी प्राप्त नहीं कर सकते जो पहले ही वहीं बहुत दूर पहुँचे हैं। यह उन बहुत दूर पहुँचे हुए अन्य भागने वाले देवों का भी अपनी गति के द्वारा अतीकृपाण कर जाता है। यह उनसे भी आगे भागता हुआ निकल जाता है। जो पुरुष के न भागने वाले अन्य अवयव दशांगुल रूप में अति-अतिवृत्त रूप धारण कर के एक स्थान पर ठहरे हुए हैं, उनमें वह आकाश में चलने वाला 'अपाणिपाद' का भाग दशमौलि अर्थात् के रूप में बने हुए पदार्थ के मूल द्रव्य 'अपः' को धारण कराता है। मौलिक अर्थ (Basic element of the matter) को ही वेद में 'अपः' या 'आपः' कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण (6, 1, 1, 9) में इस 'आपः' शब्द के अर्थ को, "सैदं सर्वमज्जोत् प्रोददं विज्य। यदाज्जोत् तस्मादापः।" कह कर बताया गया है। अर्थात् सृष्टि में यह जो कुछ भी पदार्थ हमें दिखाई देता है, उस सब के स्वरूप को वह परमपुरुष अपने दशांगुल रूप द्वारा प्राप्त करता है। इस स्वरूप को प्राप्त करने के कारण ही पदार्थ के द्रव्य को 'आपः' या 'अपः' कहा जाता है।

'अग्रयम्' विशेषण उस महान पुरुष (महान्तम् पुरुषम्) का बताया गया है। इस 'अग्रयम्' शब्द को निरूपित, 'ग्रमरग्रयम्' अग्रयम् इति अग्रयम्' के अनुसार की जा सकती है। अर्थात् जो महान पुरुष इस सम्पूर्ण विसृष्टि को नियन्त्रित करने में सब से आगे है उसे ही हम "अग्रयम् पुरुषं महान्तम्" कहेंगे। सब से पहले वह अग्रपुरुष ही सद्ब्रह्म के अन्दर से सृष्टि के सृजन को इच्छा वाले काल को धारण करके अवतरित होता है। अतः वह 'अग्रपुरुष' है। वह 'अग्रपुरुष' ही अपने नियन्त्रण के अन्दर अपने स्वरूप से ही इस विसृष्टि का सृजन इस प्रकार करता है जैसे कि एक मक्खड़ी अपने शरीर के अंश से अपना जाला बनाती है। अतः वह "अग्रयम् पुरुषं महान्तम्" कहलाता है।

मक्खड़ी जब अपने जाले को समेटती है तो वह पुनः उस चोरे जाले को रखा जाती है और दूसरे किसी स्थान पर जाकर पुनः वैसा ही जाला बना देती है। अर्थात् उस जाले का महा-अन्त भी मक्खड़ी में समाहित हो कर ही होता है। इसी प्रकार इस विसृष्टि का विसर्जन होने पर जो इसका रूप

क्रन्दन करते हुए जाद के वाक् युक्त अश्वों (अर्वा) में बदलता है, ["अर्वाक् देवाः अस्य विसर्जनेन" (ऋग्वेद-10, 129, 6)], वह अन्त में उस 'परमपुरुष' के स्वरूप में ही समाहित हो जाता है। इस प्रकार इस विसृष्टि का महान-अन्त उस 'परमपुरुष' में समाहित होने पर ही होता है। इसी कारण यहाँ इस पुरुष को 'अग्र्यम् पुरुषम् महान्तम्' कहा है। अर्थात् जो इस विसृष्टि के महा-अन्त को भी नियन्त्रित करने में सब से अग्र-पुरुष है।

जब यह विसृष्टि सत्ता में स्थापित हो कर स्थिर रहती है तो इस विसृष्टि के पुर में शयन करने वाला यह पुरुष [पुरि शैते यः सः पुरुषः] इस महान सृष्टि को नियन्त्रित करने में सब से आगे सर्वाधिक शक्तिशाली बन कर रहता है। उसकी इच्छा के बिना इस सृष्टि का रुक् अणु (Atom) का अवयव रजकण भी नहीं हिल सकता। प्रत्येक कार्य प्रत्येक कण में उस 'अग्र्यम् पुरुषम् महान्तम्' की इच्छा के अनुसार ही होता है। इसी कारण उस पुरुष को यहाँ पर "अग्र्यम् पुरुषम् महान्तम्" कहा गया है।

यह 'पुरुष' ही किसी अर्धपिण्ड के बड़े शरीर के पुर में निवास करता हुआ 'जीवात्मा' या 'आत्मा' का स्वरूप कहा जाता है। इस जीवात्मा से युक्त सजीव शरीरधारी अर्धपिण्ड को ही 'जन्तु' कहा जाता है। यह जन्तु छोटे से छोटे रूप में रुक् अणु (Atom) के शरीर को धारण करनेवाला अथवा रुक् अणु के अवयव 'अणु' (Nucleon) के रूप में भी हो सकता है, और बड़े से बड़े रूप में यह पूरी पृथिवी (मही) के समान या उस मही से भी बड़ी किसी अन्य प्रतिमा के समान हो सकता है। आगे के मन्त्र में इस प्रकार के जन्तुओं में इस "अग्र्यम् पुरुषम् महान्तम्" [अग्र महान पुरुष] का निवास उनके हृदय में बताया गया है।

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको ध्यातुः प्रसादात् मोहमानम् ईशम् ॥ (२०)

छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जन्तु के (शरीर के पुर की) गुफा में यह आत्मा (के रूप में बना अग्र्यम् महान्तम् पुरुष) पूर्ण रूप से स्थापित

है। (उस परमपुरुष में बैठे इस विसृष्टि के अध्यक्ष और इसके निर्माता परमपुरुष) विधाता की कृपा से ही उस मोह से मुक्त अ के व्युत्पत्ति (= यज्ञ) के ईश को शोक से रहित (योगी वेद के ज्ञान का जिज्ञासु) देखता है।

जन्तु का आकार लघुता में अणु के आकार से भी छोटा अथवा अणु की रूढ़ि कणी अणी से भी छोटा हो सकता है। 'अणी' रूढ़ि अणु (Atm) से भी छोटा उसका अवयव होता है। आकार की विशालता में रूढ़ि जन्तु का आकार मही (पृथिवी) के आकार के समान विशाल या उस से भी अधिक विशाल हो सकता है। परन्तु चाहे कोई जन्तु छोटे से छोटे आकार वाला हो या बड़े से बड़े आकार वाला हो, उसकी आत्मा उसके उस शरीर की गुप्ता में निहित (पूर्ण रूप से स्थापित) होती है। यदि कोई योगी तथा जिज्ञासु उस आत्मा को देखना चाहे तो वह प्रत्येक प्रकार के शोक से रहित हो कर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर ही उस विधाता की कृपा के प्रसाद से ही इस आत्मा को और 'अ' के द्वारा किये जा रहे सृष्टि के यज्ञ 'अव्युत्पत्ति' को तथा उस 'अव्युत्पत्ति' के केन्द्र में स्थित जो मोह (केन्द्रिय अक्ष) बना हुआ है उससे मुक्त हो कर जो इस 'अव्युत्पत्ति' का ईश बना हुआ है, जो इस अव्युत्पत्ति का नियन्ता बना हुआ है, उस विष्णु को देखता है। वह 'अव्युत्पत्ति' के केन्द्र में स्थित हो कर बैठा हुआ इस अव्युत्पत्ति का ईश 'अ' (= विष्णु) ही है।

'अ' के द्वारा किये जा रहा 'व्युत्पत्ति' वह 'अव्युत्पत्ति' रूढ़ि अणु की संरचना का ही यज्ञ है। उसी यज्ञ में अणु (Atm) के अवयव 'अणी' के रजव्यण सृजित होते हैं। उसी 'अव्युत्पत्ति' द्वारा अणुओं से मिल कर महान से महान अर्थ पिण्ड बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जन्तु की काया का तथा उसकी आत्मा का सृजन उस परमपुरुष द्वारा किये जा रहे 'अव्युत्पत्ति' से ही होता है। यह अव्युत्पत्ति अनन्त काल तक चलता रहेगा और अनादि काल से चलता आ रहा है। इसी कारण न तो अणु का स्वरूप नष्ट होता है और न ही आत्मा का स्वरूप मिटता है। इसी कारण आत्मा के स्वरूप को अक्षर बताया गया है और प्रकृति को भी अनादि और अनन्त बताया गया है। उस परमपुरुष के अंश से ही 'अव्युत्पत्ति' द्वारा इन दोनों का आत्मा का तथा प्रकृति का रूप स्थापित होता है। जब तक वह परमपुरुष रहेगा, तब तक जीवात्मा और प्रकृति रहेंगी। अतः जीव, प्रकृति, परमपुरुष ब्रह्म तीनों प्रकार के रूप अलग-अलग होते हुए भी मूल रूप से उस रूढ़ि सद्-ब्रह्म के ही बदले हुए रूप हैं।

इस 'अ' के कृतु को ऋग्वेद में इस प्रकार बताया गया है -

अस्य वामस्य पलितस्य दौतस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्रातः द्यूतपृष्ठो अस्मात्त्रापश्यं विवपतिं सप्तपुत्रम् ॥

सप्त युजन्ति रथमेव चक्रमेवो अश्वो वहति सप्तनामा ।

त्रिनामि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 1-2)

'अ' के वामावर्त में भागते हुए के 'अकृतु' में बुलाने प्रोक्त होता के पलित के मध्यम भ्राता 'अश्न' हैं तथा तीसरे भ्राता द्यूतपृष्ठ हैं। यहाँ 'अ' के अकृतु से उत्पन्न सात पुत्रों वाले प्रजाओं के स्वामी को देखा। (ये सात पुत्र उस अके कृतु की वेदी 'अणु' की जाति में बनेने वाले 'अ' के ऊपर अने सात आवरण सात लोक हैं। ये सात ब्रह्म लोकः भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं के नामों से जाने जाते हैं।

ये सातों लोक एक ही चक्र के रथ में प्रोजित होते हैं तथा उस सातों लोकों के एक चक्र के रथ के 'सप्त' नाम का एक ही 'अश्व' जो विष्णु के सप्तार्द्धर्गभी रैत का बना होता है, वह वहन करता है। इस एक चक्र के अने रथ की जाति में ही ये पलित, अश्न और द्यूतपृष्ठ नाम के तीन जाति-चक्र तीन वृत्तों के रूप में बने हुए हैं। ये तीनों जाति-चक्र कभी भी क्षीण नहीं होने वाले तथा आज्ञा से रहित हैं। इन्हीं तीनों जाति-चक्रों में सातों लोकों में स्थित सारे चौदह भुवन ठहरे हुए हैं और स्थापित हैं।

यहाँ 'अस्य' का अर्थ 'अ' का लिया गया है। 'अ' का अर्थ विष्णु होता है। 'अ' इस कृतु के केन्द्र में स्थापित हो कर इस 'कृतु' का ईशा बन कर पूर्ण अणु की सृष्टि के प्रज्ञा का संचालन करती अध्यक्ष बनता है। अणु के इस केन्द्रिय बिन्दु को ही 'चोह' कहा जाता है। क्योंकि 'अ' (=विष्णु) ही अणु (अणु) के सृजन के कृतु का परमाध्यक्ष होता है, अतः अणु की सृष्टि के इस कृतु को 'अकृतु' कहा जाता है। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चौथे प्रश्न में इसी

‘अव्यक्त’ के स्वरूप को समझाया गया है।

तमेव नीमम् त्रिवृतं षोडशान्तम् शतार्थारम् विंशति प्रत्यराभिः।

अष्टकैः षडभिर्विश्वरूपैक पाशं त्रिमार्ग भेदम् द्विजिमीत्तैकमौहम्॥

यहाँ इस मन्त्र में अणु की नीम में एक नीम, तीन वृत, सोलह अन्तों वाले पचास और तथा बीस प्रत्यरे बताये गये हैं। बीस प्रत्यरों तथा छः अष्टकों के द्वारा बना हुआ एक पाश बताया गया है।

तीनों वृत्तों को भेदने के तीन मार्ग बताये गये हैं। इस की रचना को दो निमित्त सूक्ष्म रूप में द्यौ तथा सूक्ष्म रूप में रजःकण बताये गये हैं। द्यौ में ऋत के पञ्चारे चक्र के पञ्चावर्त बनते हैं, जिनके ऊपर रजःकण के अर्ध की रचना करने वाले सात लोक बनते हैं। इसी तीनों वृत्तों के एक चक्र का केन्द्र में बना एक मौह है, जिसमें इस चक्र का अध्यक्ष ‘अ’ बैठा हुआ है।

जो ‘मौह’ इस मन्त्र में बताया गया है, उस मौह से युक्त उस विष्णु को यहाँ इस मन्त्र में, “मौहमानम्”- के नाम से बताया गया है। वही ‘मौहमानम्’ विष्णु इस ‘अव्यक्त’ का ईश (जिज्ञासा, अध्यक्ष) है। अतः “धातुः प्रसादात् वीतशौक्यो (जिज्ञासुः) तम् अव्यक्तम् मौहमानम् ईशम् पश्यति”- इस अन्वय के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ व्याख्या जाता है। अर्थात् विधाता की कृपा के प्रसाद से शौक्य रहित जिज्ञासु उस ‘अव्यक्त’ के मौह में स्थित होकर उससे युक्त होने वाले ईश (=विष्णु) को देखता है। वही ईश उस महान परम पुरुष का रूप धारण करता है, जिसे पिछले मन्त्र में बताया जा चुका है। वही ईश आत्मा का रूप धारण करके छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जन्तु के शरीर की गुप्ता में निहित है।

अगले मन्त्र में उस विधाता परम पुरुष अव्यक्त के ईश को सब की आत्मा के रूप में बताया गया है।

वेदाहमेतमजरम् पुराणम् सर्वात्मानम् सर्वगतम् विभुत्वात्।

जन्म निरोधम् प्रवदीन्त यस्य ब्रह्म वादिनो हि प्रवदीन्त नित्यम्॥(३)

ब्रह्म वेत्ता लोग जिसके जन्म का अभाव बताते हैं और जिसको नित्य कहते हैं, उस जरा से रहित, सर्वात्मा, सर्वगत और पुराण परम पुरुष

को व्यापक होने के कारण से मैं (इस उपनिषद् का लेखक ऋषि) जानता हूँ।

इस उपनिषद् का लेखक वेद का ज्ञाता ब्रह्म निष्ठ ऋषि अधिकार पूर्वक कहता है कि मैं उस महान् परम पुरुष को जानता हूँ, जिसकी मैंने पीछे के सभी मन्त्रों में उसकी व्याख्या की है। सभी ब्रह्म वेदा मनीषी और ऋषि उस परम पुरुष के जन्म का अभाव बताते हैं। वह परम पुरुष कभी भी न मरता है और न जन्म लेता है। जो जन्म लेता है, वह मरता अवश्य है, यह इस विसृष्टि का प्रत्यक्ष नियम है। वह परम पुरुष अमर है, क्योंकि वह कभी भी जन्म नहीं लेता। वह तो नित्य रहने वाला, सब की आत्मा का स्वरूप और सबके अन्दर जाकर विद्यमान रहने वाला, जरा के विकार से कभी भी द्रासित न होने वाला पुरातन काल से इसी अवस्था में स्थित रह कर आने वाला पुराण पुरुष है। वह सर्वत्र व्यापक है। मेरे अन्दर भी विद्यमान है। अतः मैं उसे जानता हूँ। मैं अपनी आत्मा के रूप में उसी परम पुरुष के स्वरूप के अंश को प्राप्त करता हूँ। (विद-प्राप्ते) किमु का अर्थ है सभी स्थानों पर अपनी विशेष सत्ता को स्थापित करना।

इस प्रकार यहाँ पर ऋषि उस 'परम पुरुष' की व्याख्या को पूर्ण करता है ॥ ॐ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

“श्वेताश्वतरोपनिषद्”

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

इस अध्याय में इस विषय पर विचार किया जायेगा कि यह विविध रूपों वाली विशेष प्रकार की विसृष्टि जहाँ से अपने अनेक प्रकार के विविध रूपों को धारण करती है, वह अनेक रूपता इसमें किस प्रकार आती है और कहाँ से किस सूर्य द्वारा से आनी प्रारम्भ होती है। इस विसृष्टि का मूलतत्त्व एक ही सद्-ब्रह्म है। वह एक ही सद्-ब्रह्म किस प्रकार अवतरित हो कर अपने अनेक प्रकार के 'पुरों' की रचना करके उनमें 'पुरुष' बन कर निवास करता है? ये अनेक प्रकार के 'पुर' इस विसृष्टि में अनेक प्रकार अणु (Atoms), अनेक प्रकार के एक अणु (Atoms) के अवयव उसमें स्थित परमाणु (Nucleons), उन अनेक प्रकार के अणुओं से मिलकर बने उनमें 'योग' (Molecules) और उन अनेक प्रकार के 'योगों' से बने अनेक प्रकार के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े अर्धपिण्ड (Different kinds of blocks of matter) हो सकते हैं। ये 'पुर' स्थूल रूप के अर्धपिण्ड के रूप में मौलिक अर्थों के छोटे से छोटे अर्धपिण्ड से लेकर बड़े-से-बड़े अर्धपिण्ड पृथिवी या उससे भी बड़े अर्धपिण्ड के रूप में हो सकते हैं और सूक्ष्म रूप में मौलिक अर्थों की रचना से पूर्व की द्यौ में स्थित रचनाओं के रूप में भी हो सकता है। 'पुरुष' का निवास द्यौ में स्थित उन दिव्य 'पुरों' के अन्दर भी होता है। अतः 'पुर' का स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के रूपों में हो सकता है। द्यौ के अन्दर स्थित द्यौ की रचनाओं में भी, जो मौलिक अर्थों से पूर्व की रचनाएँ होती हैं, और मौलिक अर्थों की रचना होने के उपरान्त होने वाली पृथिवी के रजकणों की स्थूल रचनाओं के रूप में भी। ये दो प्रकार की रचनाएँ ही इस विसृष्टि के एक ही सद्-ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले दो निमित्त कारण पीछे प्रथम अध्याय के चौथे मन्त्र में, "द्विनिमित्तौ कर्मोहम्" कह कर बताये गये हैं। इन दो निमित्तों के द्वारा यह विसृष्टि किस प्रकार अनेक रूपता को धारण करती है? इस

विवश पर यहाँ विचार करते हैं।

य स्रक् ऽवर्णो बहुधा शक्ति योगा द्वर्णो ननेका निनिहितार्थो दधति।

वि चैति चान्तो विश्वमादौ स देवः स जो बुद्ध्या शुभया संयुजक्तु। ①

जो स्रक् ही मूलतत्त्व अक्षर अव्यय अनादि अनन्त सद्-ब्रह्म है, वह अविकारी होने के कारण सभी प्रकार के विकारों के वर्णभेद से रहित है। सृष्टि में जो विविध रूपों की विभिन्नता दिखाई देती है, वही सृष्टि के वर्ण भेद कहलाते हैं। ये वर्ण भेद अनेकों प्रकार के उस अविकारी स्रक् रूप मूलतत्त्व सद्-ब्रह्म में उसकी बहुत प्रकार की शक्ति के योग से उत्पन्न होते हैं। इस विविध रूपों वाली विसृष्टि में अनेक प्रकार के अर्थ-पिण्डों के अनेक वर्णों के रूप को प्रदान करने के लिए अपनी बहुत प्रकार की शक्तियों के योग के कारण वह सद्ब्रह्म इस अनेक रूपता को धारण करता है और अन्त में फिर अपने इन रूपों को बदलता हुआ वह देव अपने उस आदि-रूप सद्ब्रह्म के रूप में ही आ जाता है। वही विभिन्न प्रकार के रूपों को बदलने वाला देव हमारी शुभ बुद्धि से संयुक्त हो कर हमारी शुभ बुद्धि के साथ जुड़े।

यः स्रक् : = जो स्रक् है। मूल तत्त्व सारी विसृष्टि का स्रक् ही है। वह स्रक् तत्त्व वही है जो स्वयं अपनी इच्छा से अपना रूप बदलना प्रारम्भ करता है और इस विविध रूपों वाली विशेष सृष्टि के विभिन्न प्रकार के अवशेषों (different types of elements of the subsets of the universal set of the whole of BRAHMANDA.) के रूपों को धारण करता है। यह उसका प्रथम सम्भूति की प्रक्रिया का क्रम होता है। उसके पश्चात् जब उसका सम्भूति का क्रम पूरा हो जाता है तो उसके तुरन्त पश्चात् उसका विनाश का क्रम प्रारम्भ होता है। इस विनाश के क्रम में वह अपने द्वारा धारित सभी रूपों का उसी क्रम से विनाश करता चला जाता है, जिस क्रम से उसने उन रूपों को धारण किया था। जिस रूप को वह सबसे अन्त में सम्भूति के क्रम में धारण करता है, विनाश के क्रम में उसी रूप को वह नष्ट करने के लिए सब से प्रथम का क्रम अपनाता है। इस प्रकार वह इस उल्टे क्रम को अपनाता हुआ वह विनाश के क्रम को चलाता है और अन्त

मे वह अपनी रचना के उस क्रम के रूप को अपने मूलरूप में बदलता है, जिस रूप को उसने अपने रूप परिवर्तन के क्रम में सब से प्रथम धारण किया था। उस 'प्रथमजा' रूप का ही नाम वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से दिया जाता है। वही आवरणों का देवता 'विष्णु' है जो इन रूपपरिवर्तनों के आवरणों के चौदह लोको के चौदह भुवनों के केन्द्र में बना परा शक्ति का गहन, गम्भीर बिन्दु बैठा है। वह भी अन्तर्ध्यान हो कर अपनी इच्छा से अपने मूलरूप के उस रूप तत्त्व का रूप धारण कर लेता है, जिस से वह सृष्टि सृजन की इच्छा धारण करके अवतीरित हुआ था। इस प्रकार जिस रूप मूलतत्त्व की सत्ता है, जिससे परिवर्तित रूपों को धारण हुआ वह इस विमृष्टि का सृजन करता है, और अन्त में फिर उसी रूप में आ जाता है, उस रूप तत्त्व की सत्ता का नाम ही वेदों में 'सद्-ब्रह्म' रखा है। उसी को 'सद्' कहा जाता है। इस सद् की सदैव सत्ता स्थापित रहती है, अतः इसे 'सद्' कहा जाता है। इस प्रकार 'यः रूपः' का अर्थ हुआ कि जो रूप सद्-ब्रह्म है।

यह जो रूप सद्-ब्रह्म है, जब इसमें सृष्टि सृजन की इच्छा का काम सब से पहले उदित हो कर सम्भव प्रकार से अपनी सत्ता को स्थापित करके, 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' (ऋग्वेद-10, 129, 4) अपने प्रथमजा रूप को धारण करता है, जिस का नाम 'अ' बता दिया गया है, उस 'अ' से युक्त 'सद्' का नाम 'असद्-ब्रह्म' या 'असद्' रखा गया है। उस 'सद्' को बाँध कर रूप बिन्दु पर ला कर गहन, गम्भीर रूप दे कर, परा शक्ति के 'पर' क्षेत्र के प्राङ् बिन्दु को ही 'अ' का नाम दे कर उस 'अ' से युक्त सद् अर्थात् असद् में वह उस सद् के बन्धु अर्थात् सद् के अंश को ही प्राप्त करता है। [सतो बन्धुम् असति निर्विविन्दन --- (ऋग्वेद-10, 129, 4)] इस प्रकार आदि और अन्त में अपनी मूल सत्ता को स्थिर रखने वाला वह रूप ही मूलतत्त्व है, जो 'सद्-ब्रह्म' है।

अवर्णः = वह स्वयं अपने उस रूप सद्-ब्रह्म के अपने मूल रूप में तो वर्ण रहित है। उसमें अपने अकेले मूलरूप के अतिरिक्त अन्य और किसी भी प्रकार की रचना का कोई वर्ण भेद विद्यमान नहीं रहता। वह अक्षर, अव्यय रूप में अपने शान्त, स्थिर रूप में रहता है। वर्णयुक्त वह तब बनता है, जब उसमें विष्णु भगवान 'अ' नाम को धारण करके रूप

सद्यन्, गहन, गम्भीर बिन्दु के रूप में अवतीरित हो जाते हैं और 'असद्' का नाम धारण कर लेते हैं। उस समय इसमें 'सद्-असद्' नाम के दो वर्ण भेद उत्पन्न हो जाते हैं। एक वर्ण रहित 'सद्' है, दूसरा 'अ' के वर्ण से युक्त 'असद्' है। इसी कारण विष्णु के 'अ' के स्वरूप को मेघ के वर्ण से युक्त 'मेघवर्णम् शुभाङ्गम्' कहा गया है। मेघ में भी जलवाष्प के वर्ण गहन, गम्भीर 'अम्भ' का रूप धारण करके वर्णों के जल के रूप में बरसने लग जाते हैं। इसी प्रकार 'अ' के भुवन 'आम्' के ऊपर तपः लोको के तपस् के द्वारा आवरणों की रचना हो कर अन्य लोकों के भुवनों की स्थापना द्वारा उस आम् का रूप महान काया के आकार को धारण करता हुआ सृष्टि का सृजन करता है।

[तपसस्तन्मीहि जायते वा। (ऋग्वेद - 10, 129, 3)] इसी कारण विष्णु को मेघ के वर्ण वाला (जाति वाला) बताया गया है।

बहुधा शीव्यो योगात् = वह वर्ण रहित रूप सद्-ब्रह्म जब अपनी बहुत प्रकार की शीव्यों के योग से —

वर्णान् अनेकान् निहित अर्थः दधाति। = अनेक प्रकार के वर्णों से निहित 'अर्थ' (पदार्थ) के रूप की धारण करता है।

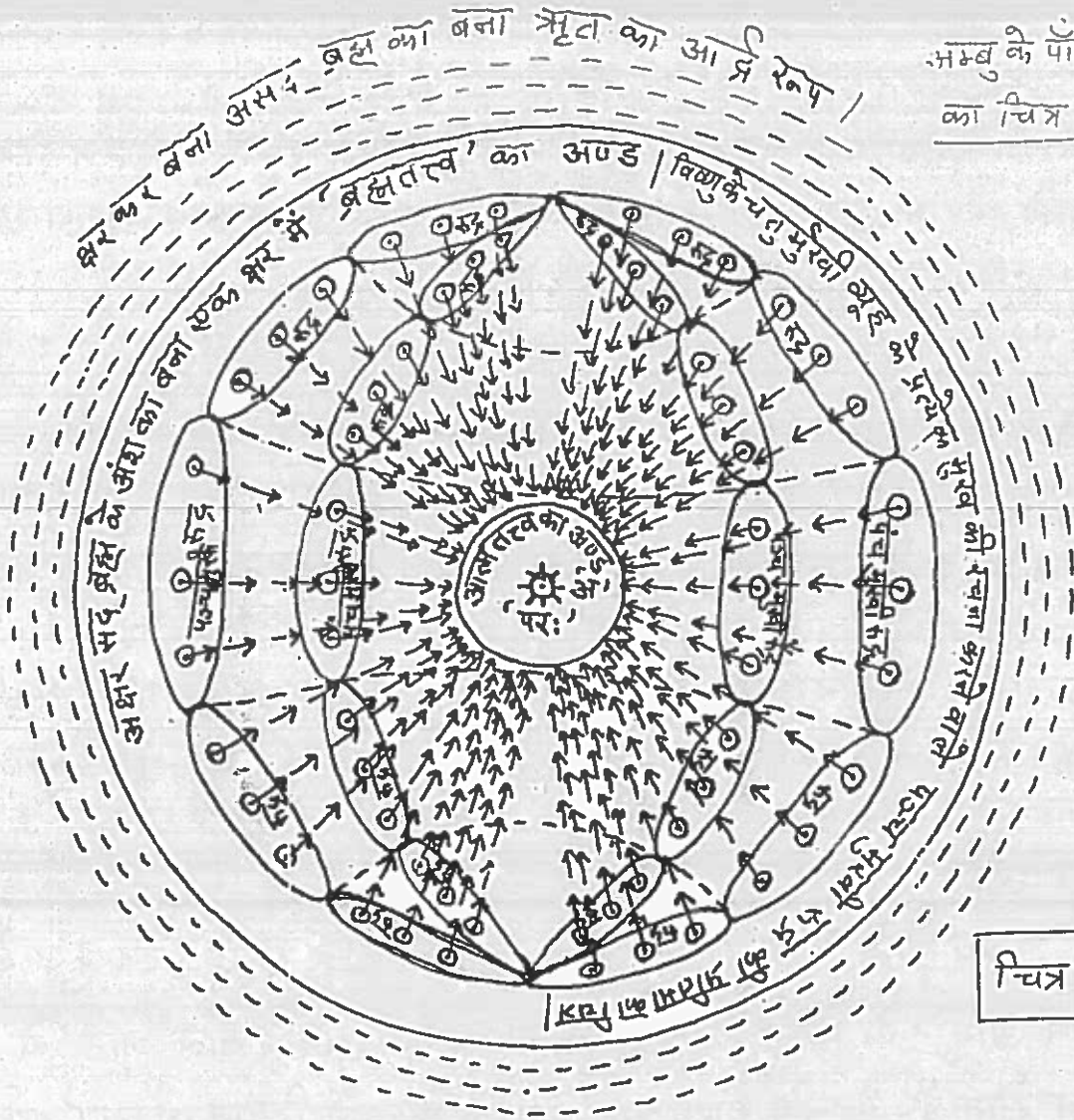
जब हम कहते हैं कि बहुत प्रकार की शीव्यों के योग से, तो उसमें कितने प्रकार की शीव्यों का योग होता है? शीव्य के साथ अशीव्य की सहा अवश्य होती है। जैसे 'पर' (point of high intensity) के साथ 'अवर क्षेत्र' (field of low intensity) होता है, उसी प्रकार से शीव्य वाले बिन्दु के साथ 'अशीव्य' वाला क्षेत्र भी उस शीव्य वाले बिन्दु के सभी ओर आवरण बना कर स्थित होता है। एक भूत (Element) को इकट्ठी अणु (Atom) की संरचना पूर्ण होने तक उसमें कितनी प्रकार की शीव्यों का योग हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्यशास्त्र "पञ्चीवंशति तत्त्व समास" के सूत्रों में, "अष्टाविंशति-धाऽशीव्य" कह कर बताया गया है। अर्थात् अष्टाद्विंश प्रकार की अशीव्य होती है। जब 'अशीव्य' अष्टाद्विंश प्रकार की होती है तो उस एक 'अ' की शीव्य भी अष्टाद्विंश प्रकार की ही होगी, जिनके योग से वह अनेकों वर्णों से निहित अर्थ (mass of the basic matter) के रूप को धारण करता है। अतः एक अणु (Atom) में अष्टाद्विंश ऐसे बिन्दु हैं,

जिनमें अलग-अलग प्रकार की शक्ति (Energy) छिपी हुई है। वैदिक से अट्ठाई बिन्दु हैं? इसका उत्तर प्रथम अध्याय के चौथे तथा पाँचवें मन्त्र में दिया जा चुका है? उन अट्ठाईस प्रकार की शक्तियों वाले स्थलों को यहाँ पुनः गिना देते हैं जो एक अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) में विद्यमान होते हैं।

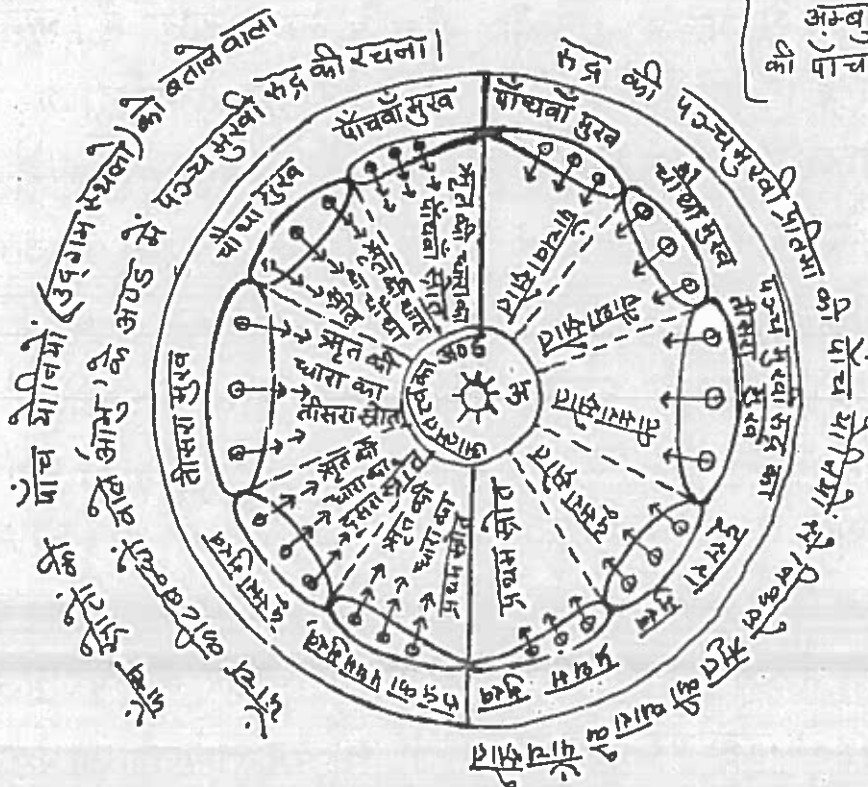
त्रिवृतम् = त्रिवृतम् में निहित तीन प्रकार की शक्तियाँ। ये तीन वृत नाभ के तीन चक्र, “त्रिनाभचक्रम् अजरम् अनर्चम्” (ऋग्वेद-1, 164, 2) में भी पलित, अश्न, घृतपृष्ठ नाम के तीन आता बताये गये हैं। इन तीनों की माता अणु की एक नाभ ही होती है, जो उन तीनों को अपने गर्भ में रखती है, अतः उन्हें सहोदर आता ही माना जाता है। ये तीन भाग अणु के सुमेरु (Line spectra of the shades of an atom) के होते हैं। इनका विस्तृत सीचित्र वर्णन पीछे किया जा चुका है। प्रथम अध्याय के चौथे मन्त्र में दी गई व्याख्या में इसे देखें।

पञ्च स्रोतो अम्बुम् = ‘आम्बु’ का जो अम्बु (बूँद) बना हुआ है, उसमें ‘आम्बु’ के केन्द्र के एक बिन्दु पर लाये जाने वाले ‘ऋत’ के पाँच स्रोत हैं, जिनके द्वारा ऋत आम्बु के केन्द्र में स्थित अम्भ (आर्द्र रूप में स्थित ऋत) के गहन, गम्भीर रूप में लाया जाता है। ऋग्वेद (10, 129, 2) में इसे “आनीदवातां स्वधया तदैकम् तस्माद्दान्यन्न परः किं च नास” - कह कर बताया गया है। अर्थात् वह आर्द्र ऋत अपनी स्वधा के साथ बहा कर एक बिन्दु पर अवात की अचल अवस्था में लाया जाता है, वही एक बिन्दु ‘पर’ बिन्दु (point of high intensity) है, उससे अन्मत ‘पर’ बिन्दु कुछ भी नहीं है। उस में निहित शक्ति ही ‘परा’ शक्ति है। जिन स्रोतों के द्वारा वह ऋत इस एक ‘पर’ बिन्दु पर लाया जाता है, वे स्रोत यहाँ संख्या में पाँच बताये गये हैं, जो रुद्र के पञ्चमुखी रूप वाले प्रत्येक मुख में से निकलते हैं और आम्बु के केन्द्र में बिन्दु पर बहा कर आते हैं। देरिये पृष्ठ (460) जहाँ पर इस तथ्य को सीचित्र समझाया जा रहा है। यह संस्थान ‘आम्बु’ का बनता है जो अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) के केन्द्र में स्थित होता है।

अम्बु के पाँच स्रोतों
का चित्र

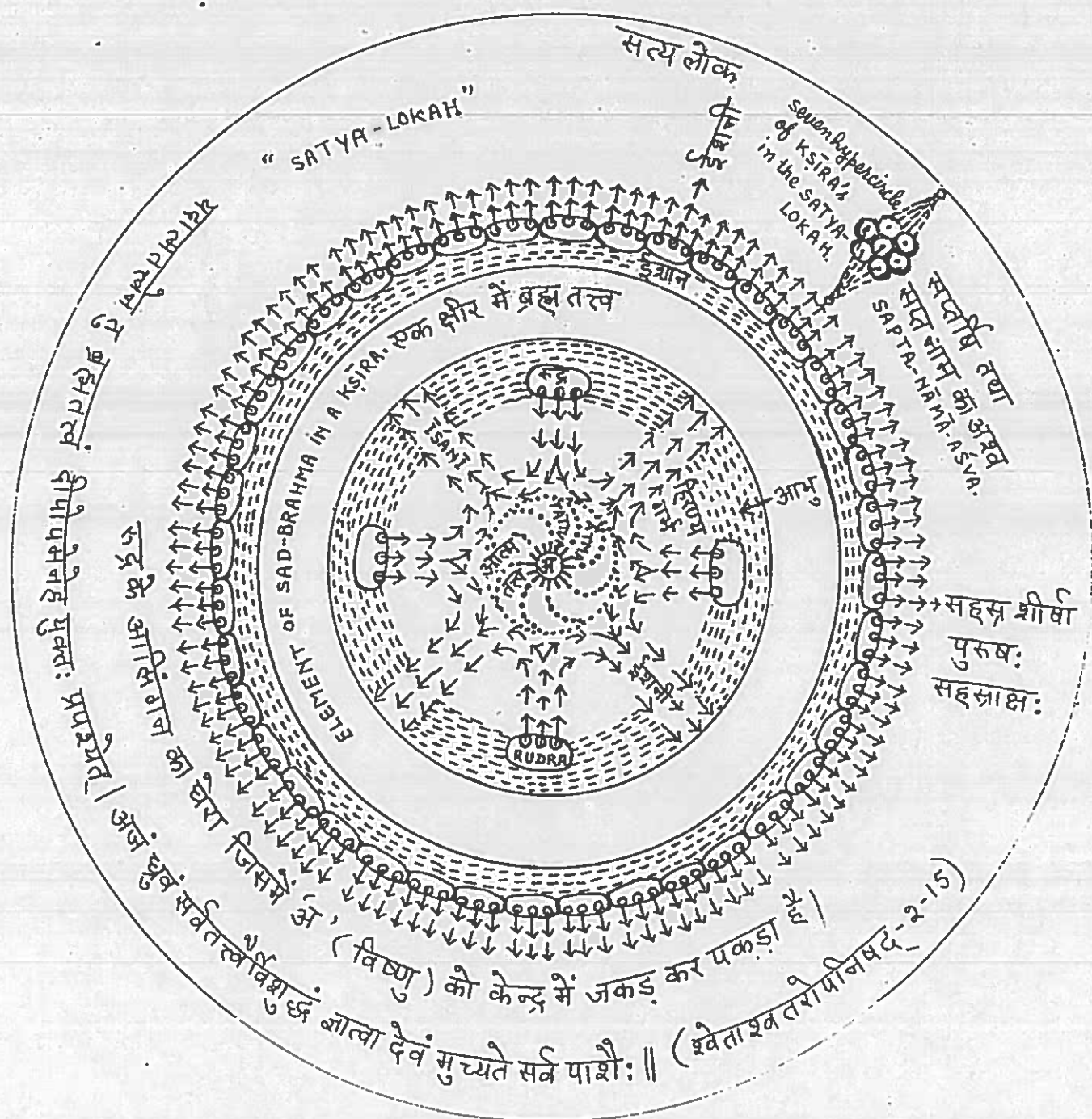


चित्र = 62



अम्बु के पाँच स्रोतों के निकलने
की पाँच योनियों का चित्र ।

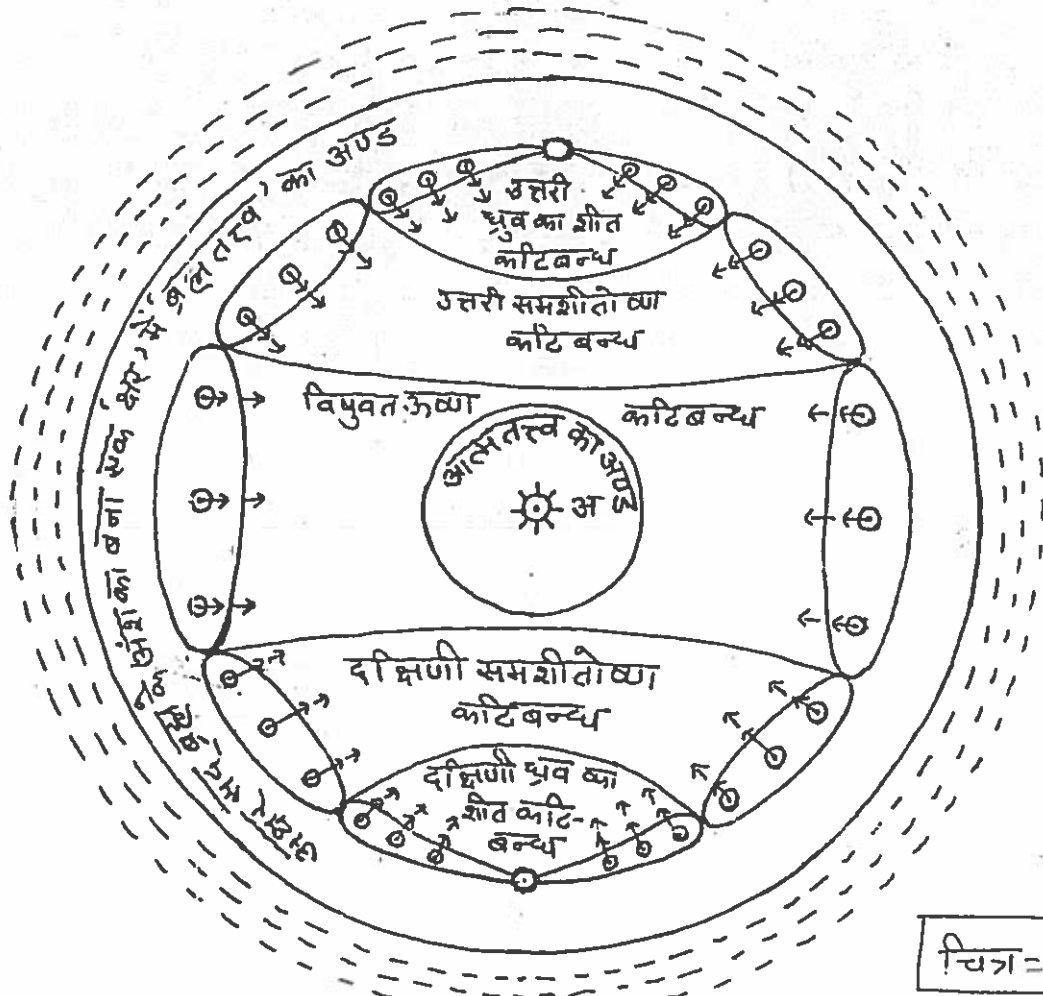
एक क्षीर के अक्षर रूप में पुनः क्षरण होने से उपजीवन का प्रारम्भ का चित्र)
 The Figure of a KṢĪRA, which came into existence in nondecaying form but again it started decaying from outside as well as inside and create the secondary life of the unit parts of the universe.



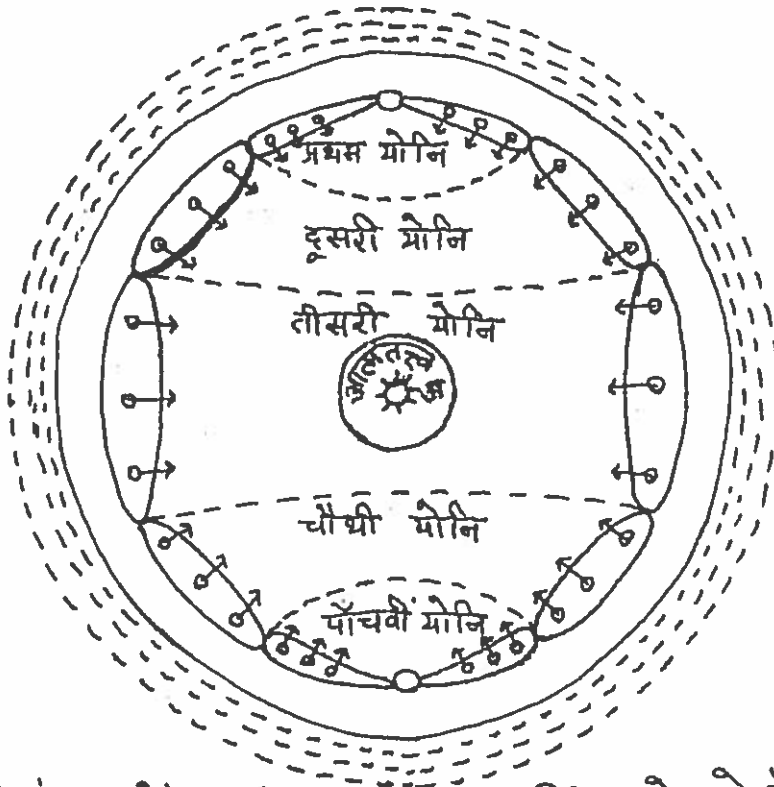
['अ' in the centre is the god 'VIṢṆU'.]

The centre of this figure is called the god 'VIṢṆU' and is denoted by the symbolic letter 'अ' = [A].

‘आभु’ की संरचना में ऋत की चाराओं की ऊर्जा से बने वाले पाँच कीटबन्ध



चित्र = 63



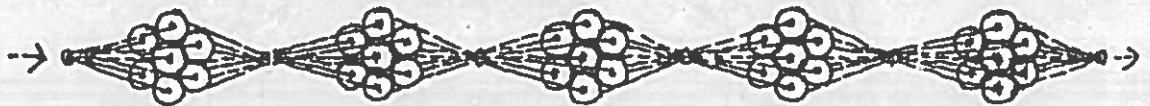
पञ्च योनि:

‘आभु’ की संरचना में ऋत की चाराओं की ऊर्जा से बने वाले पाँच कीटबन्धों की वे पाँच योनियाँ जिन से ऋत की चाराओं पाँच प्रकार की शक्ति चारण करके निकलती हैं।

पञ्च यौन्युग वक्राम् = उग्र और वक्र गति से चलने वाली ऋतु की धाराओं की आभु के अन्दर बने पाँच कटिबन्धों वाले क्षेत्रों की पाँच यौनियों (ऋतु की धारा के निकलने के पाँच उद्गम स्थल वाली) होती हैं। इन्हीं पाँच कटिबन्धों के क्षेत्रों में रुद्र के पञ्च मुखी रूप की स्थिति होती है। रुद्र के इन्हीं पाँच मुखों के अक्षों से ऋतु की पाँच प्रकार की धाराएँ पाँच प्रकार की शक्तिओं धारण करके बड़े ही उग्र और वक्रगति के वेग से धाराएँ निकलती हैं। अतः ये पाँच प्रकार के कटिबन्धों के 'आभु' के स्थल पाँच यौनियों कहलाती हैं। इन स्थलों में पाँच प्रकार की शक्तियाँ स्थित हैं।

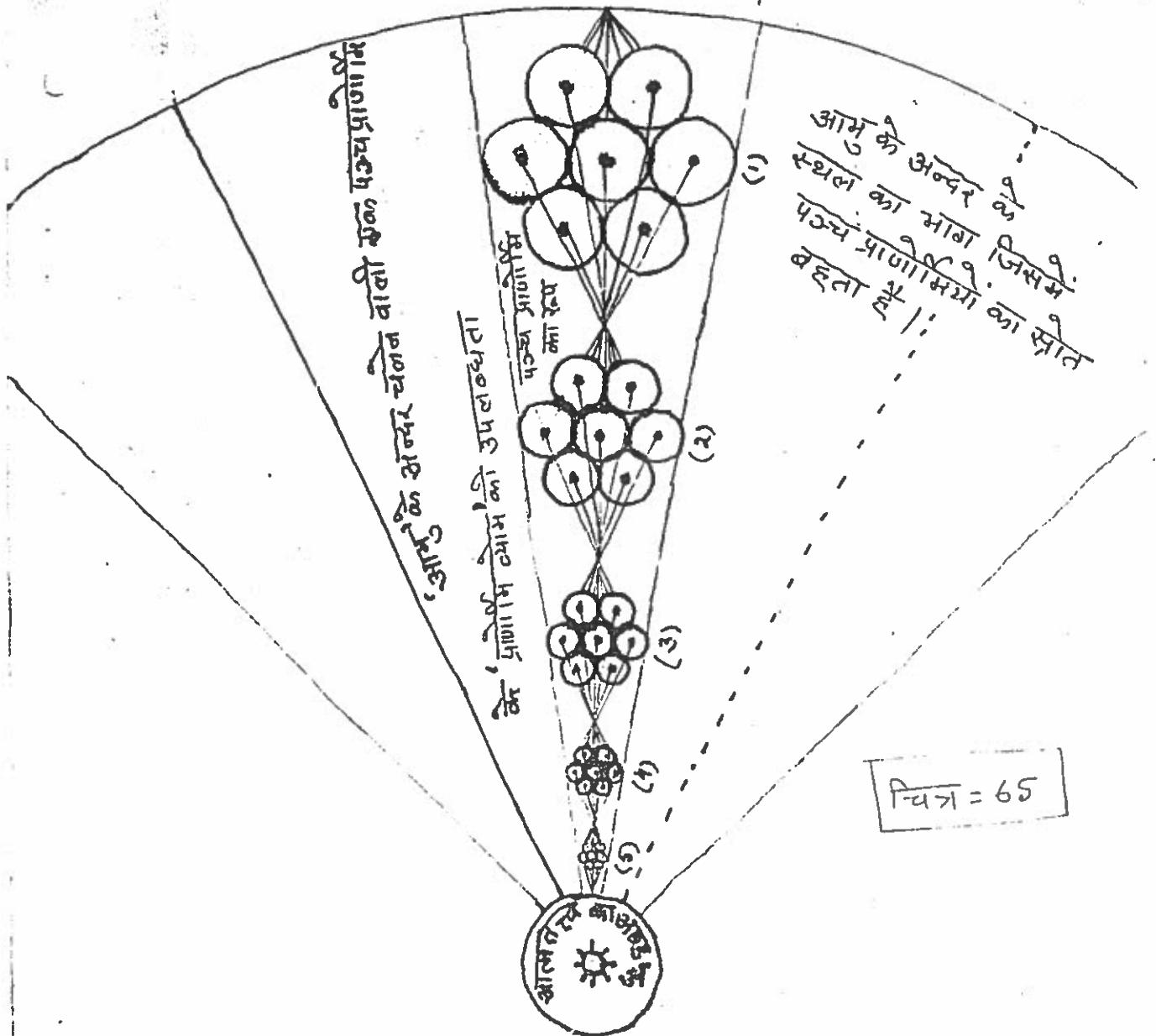
पञ्च प्राणोर्मि पञ्च बुद्ध्यादिमूलाम् = पाँच प्रकार की बुद्धि की आदि मूल पाँच प्रकार की प्राणोर्मियाँ हैं। इन पञ्च प्राणोर्मियों में भी पाँच प्रकार की शक्ति निहित है। एक उर्मि ऋतु का बना एक सप्तपरावृत (seven hypercircle) होता है। जब ऐसे पाँच परावृत एक अंशवला में जुड़ कर ऋतु की धारा की एक तरंग (wave) बना देते हैं तो वह तरंग की एक अंशवला एक पञ्च प्राणोर्मि कहलाती है। उस पञ्च प्राणोर्मि की तरंगदीर्घता (wave length) पाँच बनती है। नीचे एक पञ्च प्राणोर्मि की रचना का चित्र देते हैं—

चित्र = 64



यह एक पञ्च प्राणोर्मि की रचना का चित्र है। इसमें प्रत्येक प्राणोर्मि की तरंगदीर्घता (wave length) और कालात्म संख्या (frequency) समान है। अतः इसमें प्रत्येक प्राणोर्मि में निहित एक ही प्रकार की शक्ति है। परन्तु 'आभु' के पाँच कटिबन्धों के स्थलों की पाँच यौनियों से चढ़कर जो पञ्च प्राणोर्मि का ऋतु की धारा का स्रोत बह कर 'आभु' के 'आत्मतत्त्व' के अण्ड की ओर आता है तो प्रत्येक प्राणोर्मि के लिए उपलब्ध व्योम का आयाम कम होता चला जाता है। जिसके

कारण प्रत्येक प्राणोर्मि की तरंग दीर्घता और कालात्मसंख्या बदलती चली जाती है। इस कारण उन पञ्च प्राणोर्मियों में भी अलग-अलग प्रकार की पाँच प्रकार की शक्ति निहित हो जाती है। पृष्ठ (426) पर बने चित्र को देखें। इसमें 'आमु' के सत्यलोक के ऊपर बने तपः लोक की तीन प्रकार की प्राणोर्मियों को आभास्वरा, महाभास्वरा, सत्यमहाभास्वरा को दिखाया गया है। इन तीनों के व्योम का आग्रम इस चित्र में स्पष्ट रूप से अलग-अलग दिखाई दे रहा है। जिसके कारण प्रत्येक की तरंगदीर्घता (wave length) और कालात्मसंख्या (frequency) स्पष्ट रूप से अलग-अलग होगी। इस कारण प्रत्येक की शक्ति अलग-अलग प्रकार की होगी। 'आमु' की बूँद में सब पञ्च प्राणोर्मि का स्वरूप पाँच प्रकार की शक्तियों को धारण करने वाला निम्न प्रकार का बनेगा।



इन पञ्च प्राणोर्मियों में (1) प्राणोर्मि को सर्वाधिक 'प्राणोर्मियोग' उपलब्ध है। अतः उसके ऊपर योग की दाब कुछ कम है। इस कारण उसमें कुछ कम शक्ति निहित है। जब यह प्राणोर्मि चल कर (2) नम्बर के योग में निहित हो जाती है तो वहाँ पर योग की उपलब्धता कुछ कम हो जाती है। अतः उस प्राणोर्मि का श्रुत दब कर कुछ और अधिक शक्ति को अर्जित कर लेता है। इसी प्रकार (3) नं., (4) नम्बर तथा (5) नम्बर के योग में पहुँच कर उस प्राणोर्मि का श्रुत सर्वाधिक दब कर सर्वाधिक शक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह इस सर्वाधिक श्रुत के दाब की शक्ति को आत्मतत्त्व के अण्ड को प्रदान करता हुआ उसमें सजीवता उत्पन्न कर देता है और उस आत्मतत्त्व के अण्ड के केन्द्र में और अधिक दाब उत्पन्न करता हुआ उसमें 'प्रति दाब' की सर्वाधिक 'परा' शक्ति भर देता है। इस प्रकार यह विष्णु (= अ) का केन्द्रिय बिन्दु 'पर' क्षेत्र का सृष्टि में सर्वाधिक 'परा' शक्ति का इस सृष्टि के चक्र को चलाने वाला केन्द्रिय बिन्दु बन जाता है। इस 'विष्णु' पर प्रथम आवरण 'आत्मतत्त्व' का चढ़ा होता है। ये पञ्च प्राणोर्मियाँ इस 'आत्मतत्त्व' के विष्णु के आवरण से ही टकरा कर वापिस प्रत्यावर्तित होकर लौट जाती हैं। ये विष्णु पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती। परन्तु जब ये वापिस लौटती हैं, तो ये विष्णु की परा शक्ति के प्रभाव से आवेशित हो कर विष्णु के सप्त-अर्द्धगर्भा' रेत की रचना कर देती हैं। वे विष्णु की इच्छा के संकल्प को आत्मतत्त्व के अण्ड से टकराने पर ही चारण कर लेती हैं। इन में जो (5) नम्बर की प्राणोर्मि प्रत्यावर्तित होती है और 'अ' के संकल्प को चारण करके जब 'अ' के रेत का रूप चारण करके चलती है तो वह 'अ' से उत्पन्न हुआ 'अज' कहलाती है। यह 'अज' ही विष्णु के संकल्प को चारण करने वाला 'सच्चिदानन्दधन' स्वरूप बन जाता है जो सृष्टि के सृजन में पोषण प्रदान करने वाला 'पूषा' का अग्र भाग बन जाता है। अश्वमेध यज्ञ में वह अश्व के आगे-आगे चलने वाला पूषा का अग्र भाग होता है। उसके पीछे 'अश्व' चलता है और उसके पीछे ऋषि चलते हैं। 'अश्व' का अर्थ वेद में रुक् ऊर्जा का पुञ्ज (Quantum of energy in the form of a vector) है।

यह पहले बताया जा चुका है। इस अर्ज के पुञ्ज के केन्द्र में 'अ' का स्वरूप, जिस प्रकार का पीछे बताया जा चुका है, वैसा ही निहित होता है और यह ऋत के अन्दर किसी 'पुर' के केन्द्रिय बिन्दु पुरीष से उदित हो कर चलने लगता है। उस समय इस का नाम 'अश्व' होता है। ['अ' यदा ऋते श्वेते, तदा भवति अश्वः ।] इस 'अश्व' के आगे 'अ' से उत्पन्न होने वाला विष्णु के रेत के अग्रा भाग का स्वरूप 'अज' चलता है। जिस 'पुर' के पुरीष से यह अश्व उत्पन्न होता है, वह पुरीष और अधिष्ठा शक्ति से युक्त होता है। जब यह 'पुरीष' ही ऋत के अन्दर गति करने लगता है तो यह 'ऋषि' कहलाता है। ["यदरिषंस्तदृषमः"] अर्थात् जो ऋत के अन्दर तेज का रिसाव करते हुए 'अश्व' की आभा के रूप को प्रकाशित करते हुए चलते हैं, उन्हें ऋषि कहा जाता है। जैसे कि पञ्च प्राणीमियों के अश्व की आभा को प्रकाशित करते हुए 'आत्मतत्त्व' के अण्ड 'से' 'प्राण' चलते हैं तो वे 'ऋषि' कहलाते हैं। शतपथ ब्राह्मण (6, 1, 1, 1) में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "तदाहुः के तऽऽऽमृषयः इति । प्राणा वाऽऽमृषयः । अर्थात् प्राण ऋषि हैं।

इस प्रकार 'आमु' के अन्दर निहित इन पञ्च प्राणीमियों में पाँच प्रकार की शक्ति निहित है। 'अ' की 'परा शक्ति' तो सदैव 'अ' के आवरण के रूप में 'अ' के अन्दर ही सभी प्रकार की अट्ठारिस शक्तियों को ग्रथित करके रूप इकाई के रूप में रखती है, अतः उसको अलग से रूप शक्ति न मान कर इन अट्ठारिस शक्तियों को रूप इकाई ही माना जाता है।

ये पञ्च प्राणीमियाँ सृष्टि सृजन के यज्ञ में पञ्चबोध्य का प्रकाश करती हैं। पञ्चमहामूर्तों के रूप में प्रकृति का विभाजन ही पञ्चबोध्य है। इस पञ्चबोध्य के संकल्पों को अपने अन्दर बोध्य कर रखने वाली ही पाँच प्रकार की बुद्धियों का आदि मूल है। इसी कारण इन्हें "पञ्च प्राणीमि पञ्च बुद्ध्यादिमूलम्" कहा है। अर्थात् वे पञ्च प्राणीमियाँ जो पाँच प्रकार की बुद्धियों की आदि मूल हैं। पाँचों प्रकार के महामूर्तों में अपने, अपने प्रकार के प्राण निहित हैं। प्राणों की

रचना वायु से नहीं होती, जैसा कि कुछ विद्वान् ब्रह्म प्रवृत्ति को ब्रह्म प्रक्रिया को ही प्राण प्रक्रिया मान लेते हैं। प्राणों की रचना तो ऋतु में चलने वाली 'आभु' के अन्दर की पञ्च प्राणोर्मियों से होती है जो स्थूल रूप में 'अदिति' के पञ्च प्राणोर्मियों का स्वरूप धारण करके पाँच प्रकार के भूतों की रचना का आधार बनती है। इस प्रकार वे पाँच प्रकार की बुद्धियों का आदि मूल बनती हैं। इसी कारण जब तक किसी प्राणी में प्राणों का आवेश रहता है, तब तक उसके शरीर में स्थित प्रत्येक महाभूत सजीव रहता है। जब वह प्राणी का आवेश सजीवता के सत्य महाभास्वरा आवेश से कम हो कर अपने मूल स्तर 'आभास्वरा' के स्तर पर आ जाता है तो प्रत्येक महाभूत अपनी सजीवता का जवीयत्व (उत्तरोत्तर गति के स्फुरण की चेतना) खो कर अपने जड़ रूप में आ जाता है। इसी को उस सजीव प्राणी को मृत अवस्था कहा जाता है।

जब यह पञ्च प्राणोर्मियों का आवेश अपनी पाँचों प्रकार की बुद्धियों के बोध को 'अदिति' में समाहित करके आकाश महाभूत में संकल्पों का रूप व्यूह बन कर घूमने लग जाता है तो उसे ही प्रेत का 'सूक्ष्म शरीर' कहा जाता है। यदि यह 'पञ्च प्राणोर्मियों' का आवेश केवल 'आभु' में ही समाहित हो कर द्यौ के अन्दर रूप आवर्त का व्यूह बना कर संकल्पों का पुञ्ज बन कर पाँचों प्रकार की बुद्धियों को धारण करता हुआ और अपने 'अहम्' के संस्कार में समाहित करता हुआ घूमता रहता है, तो उसे 'कारण शरीर' कहा जाता है। जब तक 'आभु' की रचना हो कर उसमें 'आत्मतत्त्व का अण्ड' विद्यमान रहता है, तब तक 'आभु' के संकल्पों द्वारा बना द्यौ में ऋतु के 'आवर्त' का 'कारण शरीर' विद्यमान रहता है। जैसे ही 'आभु' की संरचना का विनाश हो जाता है, वैसे ही 'आत्मतत्त्व' का अण्ड भी पहले असद्-ब्रह्म के ऋतु में विलीन हो जाता है और फिर अपने असद् रूप में सद्-ब्रह्म के अन्दर समाहित हो कर सद्-ब्रह्म का ही रूप मिल कर बन जाता है। इस प्रकार उस 'आत्मतत्त्व' के अण्ड को भी अपने रूप से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यही मुक्ति है। परन्तु

ग्रह मुक्ति तभी प्राप्त होती है जब कि पञ्च प्राणोर्मियों में निहित पाँच प्रकार की बुद्धियों में बद्ध सभी प्रकार के संकल्प समाप्त हो जायें और 'आत्मतत्त्व' के अणु का दृष्टा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जायें। "योगश्चि रावृत्तिनिरोधः। तदा दृष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।" पातञ्जल योग शास्त्र के ये दो सूत्र इसी रहस्य की गुत्थी को बतलाते हैं। इसी कार्य को करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'योगदर्शन' को रचा है। ब्रह्म विद्या के वेद-विज्ञान के अनुसार अत्यन्त गूढ़ रहस्यों को खोलने वाला यह उपलब्ध सब से अधिक प्रामाणिक योगदर्शन है जो स्व-स्व बिन्दु की सद्यन्ता से व्याख्या करता है। महर्षि व्यास ने उस सद्यन्ता को विस्तार से व्याख्या करके इसे और अधिक सुगम और प्रामाणिक बना दिया है।

"पञ्च बुद्ध्यादिमूलाम्" = जो पञ्च प्राणोर्मि के मूल का पञ्चबोध 'पञ्चमहाभूतों' के रूप में प्रकट होता है, उनमें भी अपनी अलग-अलग प्रकार की पाँच प्रकार की शक्तियाँ हैं।

मान रहे यहाँ पञ्चबोध के पञ्चमहाभूतों की पाँच प्रकार की शक्तियाँ हैं और पहले वर्णित की गई पञ्च प्राणोर्मियों की पाँच प्रकार की शक्तियाँ थीं। पाँच महाभूतों, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश में पाँच प्रकार की अलग-अलग शक्तियाँ होती हैं। जो अणु अपना सद्यन्तम् रूप धारण करके अधिकतम आवन्धन शक्ति (Bonding force in maximum) को धारण करके ठोस (Solid) तत्त्व के द्रव्य का रूप धारण कर लेता है, वह पृथिवी महाभूत का अणु (Atom) कहलाता है। जिस अणु (Atom) में इससे कम आवन्धन शक्ति (Bonding force) होती है वह तरल (Liquid) भूत के तत्त्व के द्रव्य का महाभूत बन कर 'जल' का अणु (Atom) कहलाता है। इसी प्रकार जब और अधिक आवन्धन शक्ति किसी अणु में कम हो जाती है तो वह वायु (Gas) महाभूत का किसी तत्त्व के भूत का अणु (Atom) बन जाता है। भूत का अर्थ यहाँ द्रव्य के पदार्थ से लिया जाता है। जब और अधिक अणु में आवन्धन शक्ति कम हो जाती है तो वह अणु अपने पूर्ण स्वरूप को भी आवन्धित

करके एक पूरे इकाई नहीं बना पाता। उस समय उसमें किसी अवयव की कमी रहने के कारण एक आवेश से युक्त 'अयन' की अवस्था बन जाती है। इस 'अयन' की अवस्था वाले भूत के द्रव्य को 'अग्नि' का महाभूत कहा जाता है। इसी प्रकार जब अणु के आन्तरिक अवयवों में आबन्धन शक्ति (Internal bonding force among the nucleus of the nucleus of an atom) और अधिक क्षीरा हो जाती है तो उस अणु के अवयव अपने पदार्थ के द्रव्य के सहित द्यौं में स्वतन्त्र रूप से विचरण करने लगते हैं। महाभूत की यह अवस्था 'आकाश' कहलाती है।

इस प्रकार इन पञ्चबोध्य के मूल पञ्चमहाभूतों में अलग-अलग प्रकार की पाँच प्रकार की शक्ति निहित है।

पञ्चावर्ती = 'आभु' के अन्दर चलने वाली पञ्च प्राणोर्मियाँ जब 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से टकरा कर प्रत्यावर्तित हो जाती हैं तो उस आभु से बाहर निकल कर द्यौं में पाँच प्रकार की शक्तियों को धारण करने वाले तथा उस 'आभु' को अपना केन्द्र में स्थित मोह बना कर पाँच आवर्त एक दूसरे के ऊपर बनाते हैं। पीछे प्रथम अध्याय के पाँचवें शब्द की व्याख्या में इन पञ्चावर्तों की सचित्र व्याख्या कर दी गई है। पृष्ठ (41) पर चित्र देखें। 'आभु' के ऊपर का प्रथम आवर्त सत्य लोको का विष्णु आवर्त नाम का है। उसके ऊपर का दूसरा आवर्त तपः लोको का 'सवितृ आवर्त' है, जो अपने में जनः लोक को भी समाहित कर लेता है। तीसरा आवर्त सवितृ आवर्त के ऊपर बना 'ईशान आवर्त' है, जिस में महः लोक तथा स्वः लोक का आधा भाग समाहित है। इसके ऊपर 'कलिलावर्त' निहित है। यह 'कलिलावर्त' स्वः लोक के उत्तरार्ध और भुवः लोक में स्थापित है। कलिलावर्त के ऊपर पाँचवाँ आवर्त 'नीचकैतावर्त' आता है। इस में भूः लोक और सप्तपाताल लोकें सहित आठ लोक समाहित हैं। इन पाँचों आवर्तों में अलग-अलग प्रकार की पाँच प्रकार की शक्ति स्थित है।

इस प्रकार ये कुल अष्टादश प्रकार की शक्तियाँ हैं। पुनः इन्हें गिनते हैं।

त्रिवृतम् = त्रिनाभचक्रम्	= 3 शक्तियाँ	कुल योग = 28 शक्तियाँ
पञ्च स्रोतो अम्बुम्	= 5 शक्तियाँ	
पञ्च घनयुगवक्त्रम्	= 5 शक्तियाँ	
पञ्च प्राणोर्मि	= 5 शक्तियाँ	
पञ्च बुद्ध्यादिमूलम्	= 5 शक्तियाँ	
पञ्चावर्तीम्	= 5 शक्तियाँ	

इस इन अट्ठाईस प्रकार की शक्तियों के योग से एक अर्धपिण्ड अनेकों प्रकार के वर्ण भेद को प्राप्त करता है।

वर्णान् अनेकान् निहित अर्थः = जब यह कहते हैं कि अनेक वर्णों के रूप से वह अर्थ निहित है, जिस अर्थ के रूप को वह एक तत्त्व धारण करता है, तो वे कितने वर्ण हैं जिन को प्रथम रचित मौलिक अर्थों का पिण्ड 'क' कण धारण करता है? प्रत्येक वर्ण को द्योतित करने वाला एक देव होता है। इसी कारण द्योतनात् देवाः" से देव शब्द का अर्थ तथा व्युत्पत्ति बताई गई है। जो रचना के किसी विशेष प्रकार के स्वरूप को द्योतित करे, वही 'देव' कहा जाता है। इस प्रकार सृजन की प्रक्रिया में जितने वर्णों के स्वरूपों की रचना होगी, उतने ही देव होंगे। पुराणों के अनुसार साठे तेतीस करोड़ देवता बताये गये हैं। अतः इस सृजन की प्रक्रिया में साठे तेतीस करोड़ ही वर्ण भेद होने चाहिये। यहाँ वर्ण का अर्थ 'रंग' नहीं है। यहाँ 'वर्ण' का अर्थ अलग प्रकार की विशेषता को धारण करने वाला अलग प्रकार का एक इकाई की रचना को प्रकट करने वाला विशेष स्वरूप है। सृजन की प्रक्रिया में दश मौलिक अर्थों के बने 'क' कण में ये साठे तेतीस करोड़ वर्ण भेद किस प्रकार आते हैं? इसका वर्णन पीछे भी 'पुरुष' की व्याख्या करते समय किया जा चुका है। 'पुरुष' ही इस सृष्टि में वह सब कुछ है जो इस विविध रूपों वाली विसृष्टि में अनेक प्रकार के वर्णों वाली रचनाओं को विविध स्वरूप प्रदान करता है।

पुरुष की व्याख्या में पीछे इनका वर्णन किया जा चुका है।

(सहस्रशोषः पुरुषः सहस्राक्षः) × (सहस्र पादः) × (दशगुलम्) × (एक अक्ष के भाग के दो अक्षों के जुड़ने पर पसीलों के साठे तेतीस अणवः) =

$1000 \times 1000 \times 10 \times 33.5 = 335000000 =$ साठे तेतीस करोड़

वर्ण भेद = साठे तेतीस करोड़ देवता हैं। इन साठे तेतीस करोड़

अणवों में प्रत्येक अणु में एक अलग प्रकार का संकल्प निहित होता है।

अतः 'क' कण का अर्थ पिण्ड साठे तेतीस करोड़ अणवों के वर्ण भेद को धारण करने वाला एक अर्धपिण्ड होता है। यह 'क' कण ही प्रत्येक अर्धपिण्ड की प्रतिमा के द्रव्य की रचना करने वाली एक मौलिक इकाई 'प्रमा' कहलाता है। ["आसीत प्रमा प्रतिमा" - (ऋग्वेद-10, 130, 3)] इसी कारण सापेक्षता

का सिद्धान्त वैदिक विज्ञान में, $E = m (3.35 \times 10^8)^2$ बनता है। जिसमें

'E', अणुओं की इकाई में अर्जि को बताता है तथा 'म' 'म' अणुओं की इकाई में पदार्थ के द्रव्य को मात्रा को बताता है। इसको पूर्ण व्याख्या पीछे पृष्ठ (391) से पृष्ठ (405) तक दी हुई है। वहाँ देखें।

वही सत्त्व मूलतत्त्व अपने जिस आदि रूप से अपने रूप बदलने प्रारम्भ करता है, अन्त में रूप बदलता हुआ फिर उसी रूप में आ जाता है। सृजन और विसर्जन के क्रम द्वारा यह चक्र चलता रहता है। सृजन के क्रम में सम्भूति को सम्प्रवृत्त सत्ता विद्यमान रहती है और विसर्जन के क्रम में विनाश को प्रक्रिया चलती रहती है। इस प्रकार सम्भूति और विनाश के क्रमों के साथ-साथ चलने से सृष्टि के इन अनेक वर्णों से निहित अर्थों के सृजन और विसर्जन का क्रम चलता रहता है। यही सृष्टि का चक्र है।

इस सृजन के चक्र में वह सत्त्व मूलतत्त्व जो सद्-ब्रह्म के नाम से जाना जाता है, वह हमें शुभ बुद्धि से मुक्त करे।

“सत्त्वं सद् विप्र बहुधा वदन्ति” (ऋग्वेद-1, 164, 46) के अनुसार “यः सत्त्वं” का अर्थ जो सत्त्वं 'सद्' ब्रह्म है, वही मूलतत्त्व बनता है। क्योंकि विप्र लोग उस सत्त्वं 'सद्' ब्रह्म को ही बहुत रूपों को चारण करने वाला बताते हैं।

वह 'सद्' ब्रह्म किन-किन रूपों को चारण करता है? इसे अगले मन्त्र में यहाँ बताया जा रहा है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ (2)

वही सत्त्वं 'सद्' ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, असद् ब्रह्म तथा अद्रि रूप को चारण करने वाला 'आपः' नाम का सृष्टि तथा प्रजापति है। वह सत्त्वं 'सद्' ब्रह्म ही इन सब रूपों को चारण करता है।

तदेवाग्निः = वह 'सद्' ब्रह्म ही 'अग्नि' का रूप बनता है। 'अग्नि' का अर्थ यहाँ पर जलने वाली आग नहीं है, अपितु यह ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में वर्णित अग्नि है। 'सद्' ब्रह्म में जब सृष्टि सृजन की इच्छा का काम सब से पहले अपनी सत्ता उदित हो कर स्थापित करता है [कामस्तदग्ने समवर्तताथ-(ऋग्वेद-10, 129, 4)] तो सब से पूर्व वह सद्-ब्रह्म इस सृष्टि

के सृजन का यज्ञ प्रारम्भ करने के लिए अपने को 'अग्नि' के रूप में बदलता है। फिर उसी अग्नि को सृष्टि के प्रत्येक 'पुरु' में स्थापित करता हुआ प्रत्येक रूप को द्योतित करने वाले देव का रूप धारण करता है। यज्ञ को अग्नि के उस इवि के तत्त्व को, जिसे यज्ञ में प्रदान करके वह इन देवों को रचना करता है, 'ऋत' कहा जाता है। सृष्टि के सभी रूपों को द्योतित करने वाले देव उस ऋत से ही उत्पन्न होते हैं। इसी कारण उन्हें 'ऋत्विज' कहा जाता है। इस ऋत से उत्पन्न हो कर जो देव सद्यन् अर्ध का रूप अपने अन्दर विभिन्न प्रकार के वर्णभेदों को धारण करते हुए कर लेते हैं, उन्हीं विविध अर्ध पिण्डों को ज्ञाना प्रकार के 'रत्न' कहा जाता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में इसी 'अग्नि' के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं ।

होतारम् रत्नधातमम् । (ऋग्वेद - 1, 1, 1)

इस मन्त्र का पद पाठ, अर्ध निम्न प्रकार बनेते हैं।

ॐ = सद ब्रह्म के उस स्वरूप का नाम है जो परमबोध में इस विविध रूपों वाली विसृष्टि का परमाद्यप्रक्ष बन कर बैठा है। वही सच्चिदानन्द यज्ञ परमेश्वर का परमैष्टि रूप है। उसी को इस सृष्टि में प्राण धुँकने वाला 'प्राण' कहा जाता है।

अग्निम् = अग्नि को। सृष्टि सृजन के यज्ञ में जिस अग्नि को तत्त्व के रूप में प्रज्वलित किया जाता है, उस अग्नि को वही अग्नि सद ब्रह्म के अनेकों रूप बदलने से बनती है।
अर्थात् ऋत की बनी अग्नि को।

इळे = अनुशासित करता हुआ स्तुति करता हूँ। अर्थात् सृष्टि के विविध रूपों में विद्यमान जिस अग्नि के रूप में 'सद' ब्रह्म अपने को ढालता है, उसी अग्नि को अनुशासित करता हुआ मैं उस अग्नि देव की स्तुति करता हूँ।

सद्-ब्रह्म में क्षरण उत्पन्न हो कर वह सब से पहले क्षरण प्रक्रिया से युक्त 'असद्' ब्रह्म के रूप को धारण करता है। जब यह असद् ब्रह्म सक्रिय हो कर विभिन्न देवों के शुद्ध स्वरूपों को द्यौ में द्योतित करने लग जाता है तो इस सक्रिय क्षरों के असद्-ब्रह्म के सञ्च को 'ऋत' कहा जाने लगता है। उस ऋत से बने देवों को 'पुर' में स्थापित कर के 'पुरो' की रचना हो जाती है। 'पुर' किसी भी अर्थपिण्ड को कहा जाता है। वे ही 'पुर' विभिन्न रत्नों का रूप धारण कर लेते हैं। सद्-ब्रह्म के इन सभी बदले हुए रूपों के स्वरूप को वेदों में 'अग्नि' कहा जाता है। उसी 'अग्नि' की यहाँ पर वेद का रचीयता ऋषि " वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः - अग्नि को अनुशासित करता हुआ, उस अग्नि की स्तुति करता है।

पुरः ऽहितम् = 'पुर' के अन्दर स्थापित अग्नि को।

सृष्टि सृजन की प्रत्येक इच्छा रूप 'पुर' कहलाता है। उस 'पुर' में स्थापित उस 'पुर' की रचना करने वाली जो 'अग्नि' है।

यज्ञस्य = इस सृष्टि के सृजन के यज्ञ की (जो अग्नि है)।

देवम् = इस सृष्टि के सृजन के प्रत्येक अवयव के स्वरूप को द्योतित करने वाले देव के स्वरूप में स्थापित मूलतत्त्व के रूप में जो अग्नि है, उसको।

ऋत्विजम् = ऋत से उत्पन्न होने वाले यज्ञ के जो देव हैं, उन सभी को अनुशासित करता हुआ मैं उनकी स्तुति करता हूँ। 'ऋत' भी यहाँ पहले अग्नि का स्वरूप बताया जा चुका है।

दोतारम् = बुलाने योग्य देवता को। ऋत की प्रक्रिया के यज्ञ

द्वारा जिस अभीष्ट स्वरूप को द्योतित करने वाले देव को सृष्टि के सृजन के प्रभु में बुलाया जाता है, उस ऋत्विज देव को अनुशासित करता हुआ मैं (ऋषि) उसकी स्तुति करता हूँ। इस देव की रचना के स्वरूप के मूलतत्त्व में भी ऋत की वनीं अग्नि ही स्थापित है।

रत्नधातसम् = रमणीय रत्नों आदि के प्रभूत मात्रा में धनों को देने वाले अग्नि को। सृष्टि में विविध रूपों को धारण करने वाले जो भी अर्धपिण्ड रत्नों के रूप को धारण करने वाले हैं, उन सभी रत्नों के रूप को धारण करने वाली अग्नि को मैं (ऋषि) अनुशासित करता हुआ स्तुति करता हूँ।

यही 'ऋग्वेद तथा अन्य वेदों' में वर्णित अग्नि का स्वरूप है। उसी 'अग्नि' के स्वरूप में वह सद् ब्रह्म बदल कर उसके रूप को धारण करता है।

ऋग्वेद में सद् 'सद्' ब्रह्म के रूप बदल कर अनेकों रूपों में प्रकट होने को इस प्रकार बताया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

सकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं सातारिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 46)

इस मन्त्र के पदपाठ, अर्थ निम्न प्रकार बने हैं—

इन्द्रम् = इन्द्र को, दशमौलिवाद्यां से बने 'क' कण को।

मित्रम् = सत्यलोक से निकलने वाली सप्तर्षिमयों की त्रिज्याओं पर बने ऋत के सप्तपरावृत को, जो 'मित्र' नाम से जाना जाता है।
क्यों कि वही तपः लोक में जा कर ऋत के वृत्तों की वृद्धि करके तपस् के द्वारा 'आमु' के आवरणों को महान रूप देकर 'आमु' को अपनी मिति की सीमा के बन्धन से छुटकारा दिलाता है। 'मितात् त्रायेते यः सः मित्रः।' [तपसस्तन्माहिना जायते कं] (ऋग्वेद-10, 129, 3)

ऋत के वृत्तों के द्वारा वृद्धि करने वाले मित्र, वरुण के रूप को ऋग्वेद में इस प्रकार बताया गया है—

“ ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिरस्पती ।

ता मित्रावरुणा हुवे । ” (ऋग्वेद - 1, 23, 5)

ऋत के द्वारा जो वृत्तों की वृद्धि करने वाले हैं तथा जो ऋत की ज्योति का स्वामी हैं, वे देव मित्र, वरुण के वृत्तों के रूप में हुए हैं ।

“ ऋतेन मित्रावरुणा वृतावृधावृतस्पृशा ” । (ऋग्वेद - 1, 2, 8)

क्रतुं बृहन्तमाशाये ॥

ऋत के द्वारा मित्र और वरुण अपने-अपने सप्त परावृत्तों के ऋत (seven hypercircles) की वृद्धि करते हुए एक दूसरे के सप्त परावृत्तों को स्पृश करने वाले बनते हैं । अपने ऋत से महान बल प्राप्त किया ।

ऋत से बनने वाले वृत, परावृत (hypercircle) ही बनते हैं ।

ज्यों कि इन सब का केन्द्र 'आमु' के केन्द्र के 'मौह' से ही जुड़ा रहता है । इन परावृत्तों में सर्वाधिक माप वाले सप्त परावृत (seven hypercircle) ही बनते हैं । अतः इन मन्त्रों में 'वृत' शब्द का अर्थ 'सप्त परावृत' (seven hypercircle) ही लिया जाता है, जो ऋत में बनते हैं ।

वरुणम् = [मित्र के बने ऋत के सप्त परावृत को अपने ऋत के सप्त परावृत से स्पृश करने वाले वरुण को, जो मित्र से प्राप्त ऋत के वृत्तों के संकल्पों को वरण करके अपनाता है]

('मित्र' के ऋत के संकल्पों को वरण करके अपनाते वाले) 'वरुण' को ।

[पृष्ठ 37 पर बने मित्र और वरुण के ऋत के सप्त परावृत्तों के चित्र को देखें ।]

अग्निम् = [प्रत्येक 'पुर' की रचना करने के लिए उस 'पुर' में स्थापित मूलतत्त्व के रूप में ऋत की] 'अग्नि' को ।

आहुः = कहते हैं । अथौ० = और भी ।

दिव्यः = द्यौं में होने वाला । द्यौं में विद्यमान ऋत के द्वारा अपनी संरचना के स्वरूप को चारण करने वाला ।

सः = वह ।

सुऽपुणः = सुन्दर पुरों वाला । अथवा सुनिर्गोजित विधि से अर्णवों को गोजित करके अपने अयः के रूप को चारण करने वाला ।

अपः 'का अर्थ आर्द्र रूप के ऋत का सञ्च है, जो द्यौ में विद्यमान अर्णवसमुद्र में विभिन्न प्रकार की रचनाओं के रूप में प्रकट होता है और उग्र द्यौ में पक्षी की भाँति तीव्र गति से उड़ता फिरता है। वही "सुऽपर्णः" है।

गरुत्मान् = यह ऋत का सञ्च गहन, गम्भीर बन कर आवरणों को धारण करता हुआ महान बनता हुआ। पुराणों में इस महान बनते हुए ऋत के उड़ने वाले स्वरूप को विष्णु का वाहन गरुड़ पक्षी बताया गया है। वह गरुड़ पक्षी।

रुक्म = रुक्म को

सत् = 'सद्' ब्रह्म के नाम से जाने, जाने वाले को। सदैव अपनी सत्ता बनाये रखने वाले 'सत्' को। सत्ता में सदैव स्थिर हुए- हुए को।

विप्राः = बुद्धिमान, ब्रह्म के ज्ञाता, ब्रह्म को व्याख्या करने वाले ब्राह्मण लोग।

बहुधा = बहुत प्रकार के रूपों को धारण करने वाला। बहुत प्रकार से।

वदन्ति = कहते हैं।

अग्निम् = बहुत प्रकार के रूपों को धारण करके बहुत प्रकार के पुरों में स्थापित होने वाली अग्नि को।

यमम् = उन सभी पुरों को जो अग्नि ने निर्मित किये हैं, उन्हें नियन्त्रित करके अपने स्वरूपों में स्थापित रखने वाले 'यम' देवता को।

मातरिश्वानम् = आकाश के अन्दर आकाश महाभूत के किसी भूत का रूप धारण करके आकाश में विचरण करने वाले मातरिश्वा को।

आहुः = कहते हैं।

उस 'सद्' ब्रह्म रुक्म को ही इन्द्र, मित्र, और वसुण कहते हैं। वह ही द्यौ में होने वाला सुन्दर पुरों वाला गरुड़ पक्षी है। बुद्धिमान विप्र लोग रुक्म सद-ब्रह्म को बहुत रूपों को धारण करने वाला कहते हैं तथा उसे बहुत

प्रकार से वर्णन करते हैं। उसी सद्-ब्रह्म से बनीं ऋत की अग्नि को यम और मातीरश्वा कहते हैं।

इस प्रकार वह एक सद् ब्रह्म ही 'अग्नि' है। [तद् एव अग्निः।]

"तद् आदित्यः" = वह सद्-ब्रह्म ही आदित्य है। सत्प्रलोक के आदि स्वरूप से जो ऋत की चारों ओर जो सूर्य द्वारा की रचना करती हुई चलती है, उन्हें 'आदित्य' कहा जाता है। सरण गीत (Linear Motion) करने के कारण उन्हें ही 'सूर्य' भी कहा जाता है। [सरणात् सूर्यः।] इसी कारण आदित्य का अर्थ सूर्य भी लिखा जाता है।

तद् वायुः = ऋत के अन्दर विभिन्न प्रकार के ऊर्जा स्तरों (वय) को चारण करने वाले ऊर्जा सञ्चों के बने हुए इस स्वरूप को वैदिक विज्ञान में 'दिव्य वायु' कहा जाता है। वह सद्-ब्रह्म ही वायु के स्वरूप में अपने रूप को चारण करता है। वह सद् ब्रह्म ही 'वायु' है। असद् ब्रह्म से आकाश महाभूत के रजःगुण बन कर जब व्योम में बहने लग जाते हैं और ऊर्जा को यम के विभिन्न स्तर चारण कर लेते हैं तो उन्हें 'वायु' कहा जाता है। तद् उ चन्द्रमाः = वह सद्-ब्रह्म ही शिव की प्रतिमा जो ऋत के द्वारा द्यौं में बनती है, उसके शिर पर विराजने वाला चन्द्रमा है। 'उ' का अर्थ 'शिव' या 'रुद्र' होता है। 'उ चन्द्रमाः' का

अर्थ शिव से सम्बन्ध रखने वाला चन्द्रमा है। 'आभु' के अन्दर सद् ब्रह्म के ब्रह्मतत्त्व के एक अण्ड में अन्दर की ओर क्षरणा की प्रक्रिया उत्पन्न हो कर जब असद् ब्रह्म के क्षरों का ऋत बनता है तो उस ऋत की गति में अवरोध उत्पन्न हो कर ऋत को रोधित करने वाली रुद्र की पिण्डी बन जाती है। उस रुद्रों वाली ऋत को रोधित करने वाली पिण्डी में जब ऋत के अवरोध का दबाव उस के अन्दर उसके अवरोध करने की क्षमता से अधिक हो जाता है तो उसके अन्दर से उसके तीन अक्षों के द्वारा वह ऋत ईशानी चारा के रूप में प्रस्फुटित हो कर बाहर निकलने लग जाता है। ये ईशानी चाराये उस ब्रह्मतत्त्व के अण्ड में सभी ओर से चलकर जब केन्द्र के एक बिन्दु पर आती हैं तो वहाँ अवात अवस्था का अचल ऋत का सघन, गहन, गम्भीर आत्मतत्त्व का अण्ड बना देती हैं। इस 'आत्मतत्त्व' के अण्ड से वे रुद्र की ईशानी ऋत की चाराये टकरा कर प्रत्यावर्तित होकर वापिस लौट कर 'आभु' से बाहर की ओर चलने की गति की दिशा को प्राप्त कर लेती हैं। जिस समय ये ईशानी ऋत की रुद्र की चाराये

‘आत्मतत्त्व’ के अण्ड से आगु के अन्दर टकरा कर वापिस बाहर की ओर अपनी सत्याभा को लेकर लौटती हैं तो वहाँ पर उस समय ये अर्ध गोल में धूमती हुई अर्द्धचन्द्र की प्रतिमा की रचना कर देती हैं। यही वह रुद्र की जटाओं में विराजमान उस रुद्र की शक्ति से उत्पन्न ‘चन्द्रमा’ है जो ईशानी ऋत की चाराओं की सत्याभा से सृजन की प्रक्रिया में पूरी सृष्टि में विद्यमान सभी देवों से ऋत के रस का सञ्चार करता हुआ उन्हें पोषण प्रदान करता है। जब यह रुद्र अपनी ईशानी ऋत की चाराओं के द्वारा ऋत की सत्याभा के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि को पोषण प्रदान करके तथा सृष्टि के पूर्ण गरल को क्षीर समुद्र में से निकाल कर अपनी ऋत को पिण्डों में ऋत को अवरुद्ध करता हुआ समाहित कर लेता है और सम्पूर्ण सृष्टि को गरल रहित क्षीरों का बना ऋत का अमृत प्रदान करता है, तो उसी रुद्र को उस समय सारी सृष्टि का कल्याण करने वाला ‘शिव’ कहा जाता है। जब रुद्र की ऋत को पिण्डों में से ऋत प्रस्फुटित होकर ईशानी ऋत की चाराओं के रूप में रुद्र के अक्षों के स्रवों से छन कर फुव्वारे की तरह बाहर निकलता है, तो वह उस समय क्षीर समुद्र में ‘गरल’ रहित हो कर ‘अमृत’ के रूप में होता है, जो सभी देवों को जीवन प्रदान करता है। इसी तथ्य को पुराणों में क्षीर सागर का मन्थन बता कर उसमें से निकले गरल का पान ‘शिव’ द्वारा बताया गया है तथा शेष सभी देवों को ‘अमृत’ प्राप्त करने वाला बताया गया है। उसी समुद्र मन्थन से चन्द्रमा का उदय बताया गया है जो उस शिव भगवान के शिर पर जटाओं में विराजमान बताया गया है। पृष्ठ (417) पर बने ‘आगु’ के विषुवत कटिबन्ध में बने रुद्र के इस स्वरूप को देख कर समझें। उसमें जहाँ ऋत की ईशानी चाराओं की ‘3’ की आकृति बनती है, वही ‘उ-चन्द्रमा’ कहलाता है। असद् ब्रह्म के क्षीरों से बना समुद्र ही ‘क्षीर सागर’ है। उस क्षीर सागर में ऋत के द्वारा विभिन्न प्रकार की रचनाओं की प्रतिमाओं का रूप प्रदान करने के लिए उस क्षीर-सागर में गति उत्पन्न करना ही उस क्षीर सागर का मन्थन है। जिन प्रतिमाओं का रूप उस क्षीर सागर के मन्थन से ऋत के द्वारा बनता है,

वे ही उस क्षीर सागर से निकले वे 'रत्न' हैं जिन्हें ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में 'रत्नधातमम्' कह कर बताया गया है तथा पुराणों में समुद्रमन्थन से निकले रत्न कह कर बताया गया है। उन्हीं रत्नों में से ग्रह स्व 'उ चन्द्रमा' भी है, जो ग्रहों उपनिषद् के इस मन्त्र में बताया गया है। आकाश में घूमने वाला किसी भी ग्रह का चन्द्रमा भी उस ग्रह से टकरा कर प्रत्यावर्तित होने वाली श्रुत की चाराओं के श्रुत को अवसृष्ट करके सद्र द्वारा बनाया जाता है। इसी कारण वह चन्द्रमा उस ग्रह के चारों ओर अपने विशेष परिपथ पर ही घूमता रहता है। वह अपने उस परिपथ को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकता। वह अपने पथ पर अडिग रूप से घूमता है। स्व अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) के चारों ओर घूमने वाले इल (Electron) का भी जो अपने परिपथ पर अडिग रूप से घूमते हैं, उस सद्र द्वारा चारित इसी प्रकार के उस नाभ के चन्द्रमा बनते हैं। जहाँ भी श्रुत को अवसृष्ट करके कोई ग्रह का अर्चपिण्ड बनता है, वहीं इसी प्रकार श्रुत की ईशानी चाराओं के प्रत्यावर्तन से उसका चन्द्रमा भी बन जाता है। इन प्रत्यावर्तन से बनने वाले ऋग्वेद में "द्वादश प्रथयः" स्व पञ्चावर्त में बताये गये हैं, अतः किसी भी ग्रह के चहुँ ओर घूमने वाले अधिकतम चन्द्रमा बारह ही हो सकते हैं। स्व अणु के साथ दूसरे अणु का प्रयोग करते समय स्व केन्द्र अणु (Atom) के चारों ओर घूमने वाले बाह्यतम अक्ष में केवल बारह ही अधिकतम संख्या में 'इल' (Electron) हो सकते हैं, जैसे कि SF_6 में होता है। बारह चन्द्रमा बृहस्पति ग्रह के बताये जाते हैं। सौर ब्रह्माण्ड में जहाँ भी 'ब्रह्मतत्त्व' का अणु बनता है, इसी प्रकार की सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान से महान रचनाएँ होती हैं।

'तद् स्व शुक्रम्' = वह स्व सद-ब्रह्म ही शुक्र बनता है।

विष्णु का जो 'सप्तार्द्धगर्भी रेत' ऋग्वेद (1-164-36) मन्त्र में -

"सप्तार्द्धगर्भी भुवनस्य रेतो विष्णोः" - कह कर बताया है, वही वह शुक्र है, जो सभी देवों को उत्पन्न करने वाला और सभी अर्चपिण्डों

को उत्पन्न करने वाला उनका बीज बताया है। यजुर्वेद के ईशोपनिषद् में इसी शुक्र को मन्त्र के द्वारा इस प्रकार बताया है —

स पर्यगाच्छुक्लमव्यमप्रणमस्नाविरम् शुक्लमपापविच्छम् ।

कीवर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः

समाभ्यः । (इशोप. 8)

अर्थात् वह विष्णु के रेत का शुक्र जो रुक् 'आभु' में उत्पन्न होता है, वह विष्णु के सभी और बाहर की ओर गया हुआ है। वह ऋत का बना हुआ स्थूल काया से रहित है। उसमें न कोई व्रण उत्पन्न हो सकता है। वह व्रण रहित है। उसमें स्नायुतन्त्र भी नहीं है। वह शुद्ध सत्याभा वाले ऋत से बना है। वह पाप कर्मों से बिच्छ नहीं होता है। वह आन्तदृष्टा कवि और मन को शासित करने वाला मनीषी है। वह सब देवों के ऊपर अपनी सत्ता को बना कर रखने वाला है। वह विष्णु की पराशक्ति के 'प्रयतिः' रूप से स्वयं उत्पन्न होने वाला है। वही 'पुरुष' का रूप धारण करके ग्रंथाभोग्य अपने संकल्पों के अनुसार अर्थ पिण्डों की रचना शाश्वत काल से करता आया है।

इस प्रकार वह सद् ब्रह्म ही रुक् तत्त्व है, जो इस विष्णु के रेत के रूप में शुक्र बन कर सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला इस सारी सृष्टि का बीज बन जाता है।

'तद् ब्रह्म' = वह 'सद्' ब्रह्म ही रुद्र बन कर हिरण्यगर्भ को जन्म देता है। अतः वही चतुर्मुखी ब्रह्मा के रूप में बदल जाता है। इस उपनिषद् के तीसरे अध्याय के चौथे मन्त्र में जो, "हिरण्यगर्भम् जनयामास पूर्वम्" — वह कर रुद्र द्वारा हिरण्यगर्भ का जन्म बताया है, वह हिरण्यगर्भ चतुर्मुखी ब्रह्मा का रूप ही रुक् 'आभु' के अन्दर बनता है। सद्-ब्रह्म ही असद्-ब्रह्म के क्षरों का ऋत बन कर उस ब्रह्मा के रूप को धारण करता है। अतः वह ब्रह्मा भी वही सद्-ब्रह्म बनता है। पृष्ठ (417) पर 'आभु' के विधुवत कीटबन्ध में उत्पन्न होने वाले 'हिरण्यगर्भ' को स्पष्ट रूप से दिरवाया हुआ है। वहाँ देखें। वही विष्णु की नीम से उत्पन्न कमलजाल के ऊपर जन्मा चतुर्मुखी ब्रह्मा है जो 'हिरण्यगर्भ' के नाम से भी जाना जाता है।

'तद् आपः' = वह सद्-ब्रह्म ही 'आपः' का रूप धारण करता है। 'आपः' का अर्थ देवों में आद्रि रूप धारण करने वाले उस असद्-ब्रह्म के क्षरों से बने 'मृत' से लिया जाता है जो इस सृष्टि में स्थूल, सूक्ष्म सभी प्रकार के स्वरूपों को द्योतित करने वाले देवों के रूप को प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण में 'आपः' का अर्थ, "सैदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च। यदाप्नोत् तस्मादापः!" (शतपथ ब्राह्मण - 6, 1, 1, 9) - कह कर बताया है। इसका अर्थ है कि वह जो कुछ इस सृष्टि में किसी भी रचना के रूप को प्राप्त करता है, वह जो कुछ भी है, वह 'आपः' है। रचना के रूप को प्राप्त करने के कारण उसे 'आपः' कहा जाता है। अतः वह असद् ब्रह्म के क्षरों से बना मृत ही है जो आद्रि रूप में होने के कारण प्रत्येक व्योम के आयाम के अनुसार अपना रूप बदल कर सृष्टि के प्रत्येक अवयव के रूप को धारण कर लेता है।

"तत् प्रजापतिः" - वह सद्-ब्रह्म ही 'प्रजापति' का रूप धारण करता है। प्रजापति: इस सृष्टि के उस परम अध्यक्ष को कहते हैं जो सब होते हुए भी बहुत से रूपों को धारण करता हुआ अपनी बहुत सारी सन्तानें उत्पन्न कर देता है। 'प्रजा' का अर्थ प्रयत्न से उत्पन्न की गई सन्तान होता है। "प्रयत्न पूर्वकेण जायते यः सः प्रजा", उस प्रजा का स्वामी ही 'प्रजापति' कहलाता है। ऋग्वेद में उस प्रजापति को विष्णु के रूप में 'विश्वपति' कहा गया है।

"अस्या जा पश्यं विश्वपतिं सप्त पुत्रम् ॥" (ऋग्वेद - 1, 164, 1)
अर्थात् मैं ने यहाँ प्रजाओं के स्वामी सप्तपुत्रों वाले 'अ' के रूप को देखा है। 'अस्य' का अर्थ यहाँ 'अ' का 'विश्वपति स्वरूप' है। 'अ' का अर्थ विष्णु होता है। वही सृष्टि सृजन का 'परमाध्यक्ष' होता है। पहले सद्-ब्रह्म से विष्णु अवतरित होते हैं, फिर वे अपने 'मुक्तों' के सप्ताङ्गुर्गर्भ रैत 2 के द्वारा सप्त ब्रह्म लोकों की रचना करके सारी सृष्टि का सृजन करते हैं। अतः विष्णु भगवान ही इस सृष्टि के परमपुरुष के रूप में परमाध्यक्ष बन कर प्रजापति का रूप धारण करते हैं। सद्-ब्रह्म ही असद्-ब्रह्म के रूप में अवतरित होकर उस प्रजापति विष्णु का रूप धारण करता है।

इस प्रकार वह सद्-ब्रह्म ही है - जो अपने रूपों को बदलता हुआ अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्मा, आपः, प्रजापति का रूप धारण करता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवीसि विश्वतोमुखः ॥ (3)

[हे सद् ब्रह्म ! तुम्हीं स्वयं वह तत्त्व हो जो स्वयं तो किसी भी प्रकार के वर्ण भेद से रहित होकर सदैव स्वयं रूप में रहते हो, परन्तु अपनी बहुत प्रकार की शक्तियों के योग से अनेक वर्णों के निहित (स्थायित) अर्थ के रूप को धारण करते हुए देह धारी] स्त्री बनते हो । तुम्हीं देह धारी पुल्लिंग जाति के पुरुष प्राणी बनते हो, तुम्हीं कुमार और कुमारी को देह को धारण करते हुए उनके रूप में बदलते हो । तुम्हीं वृद्ध होकर जीर्ण शरीर को अवस्था को प्राप्त हो कर दण्ड (लठी) के सहारे से चलते हो और तुम्हीं वृद्ध अवस्था के उपरान्त मृत्यु को प्राप्त हो कर उसके पश्चात् पुनः जन्म धारण करके अनेक रूप धारण करते हो । सभी मुखों के रूप में तुम्हीं उत्पन्न होते हो ।

इस प्रकार वह सद्-ब्रह्म ही अपने नाना प्रकार के रूप को बदलता हुआ इस विविध रूपों वाली विसृष्टि के सृजन, स्थापन, विसर्जन तथा पुनः सृजन, स्थापन और विसर्जन के निरन्तर चलने वाले चक्र को चलाता रहता है । वह स्वयं यद्यपि अपने मूल रूप में स्वयं ही रहता है, परन्तु अपनी अद्भुत प्रकार की शक्तियों के योग से साढ़े तीस करोड़ वर्णों के निहित रूप वाले अर्थ के रूप को धारण कर लेता है और इस सृष्टि के चक्र को चलाता रहता है ।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तण्डितगर्भ ऋतवः समुद्राः ।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे प्रतो जातानि भुवनीनि विश्वा ॥ (4)

हे सद्-ब्रह्म तुम ही वह स्वयं हो जो नीले, हरे और लाल आँखों वाले पतङ्ग के रूप में अपने को ढालते हो । तुम्हीं बिजली के गर्भ में रहने वाली वह शक्ति हो जिससे वह तीव्र तरंग बन कर चलती है और धारा (current) का रूप धारण करती है । तुम्हीं ऋतुओं की ऊर्जा के रूप में बदलते हो, तुम्हीं समुद्र का रूप धारण करते हो । चाहे वह समुद्र क्षीरसागर हो या अर्णव समुद्र हो या जलीय हो । तुम अनादि और सर्व व्यापक हो, जिसके कारण तुम्हीं से ये सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं । सारे चौदह भुवनों के रूप में तुम ही अपने रूप को बदलते हो । अर्थात् जहाँ से

ये सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं, जिन भुवनों में नीला, हरा, लाल और नीले वाला पतङ्ग नाम का कौड़ा पक्षी के रूप में विद्यमान है, जिन भुवनों में तीक्ष्ण का गर्भ, ऋतुरे, समुद्र, विद्यमान हैं, और अनादि, सर्वव्यापी होने के कारण जिससे ये सारे भुवन और इन भुवनों में रहने वाला सभी प्रकार का चराचर जगत् विद्यमान है, वे सारे भुवन आप सद्-ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। आणविक संरचना को समझते समय यह सृजन का भुवनों की उत्पत्ति का क्रम पीछे समझाया जा चुका है कि किस प्रकार उस एक अक्षर सद्-ब्रह्म से जो अनन्त अनादि और सर्वव्यापक है, उससे क्षरण प्रक्रिया द्वारा असद्-ब्रह्म क्षरों के रूप में बनता है? उसके पश्चात् पुनः उन क्षरों में क्षरण उत्पन्न होकर यह सारा विश्व अपना उपजीवन जीता है? किस प्रकार एक अणु की संरचना हो जाती है, जिससे इस विश्व के सारे पदार्थ और सभी प्राणिमों के शरीर बन जाते हैं? अन्त में किस प्रकार यह सारा विश्व विसीजित होकर पुनः अपने मूल रूप उसी सद्-ब्रह्म में समाहित हो जाता है और असद्-ब्रह्म से पुनः सद्-ब्रह्म उत्पन्न हो जाता है? [देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सद्जायत— (ऋग्वेद-1, 72, 2)]

किस प्रकार किस प्रक्रम से यह सारी सृष्टि सभी भुवनों वाली उस सद्-ब्रह्म से उत्पन्न होती है? उपनिषद्कार इस प्रक्रम को यहाँ अगले मन्त्रों में बताने का प्रयत्न कर रहा है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरव्याः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुश्रैते जहात्येनां मुक्तमोगामजोऽन्यः॥ ⑤

‘अ’ (= विष्णु) से उत्पन्न होने वाली ‘अजा’ प्रकृति कहलाती है। उस लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूपों से युक्त बहुत प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करने वाली एक अजा प्रकृति को उत्पन्न करने वाला वह एक ही सद्-ब्रह्म है। उस अजा प्रकृति से उत्पन्न होने वाला एक रूप तो आसक्त होता हुआ उस अजा प्रकृति के भोगों को भोगता है और दूसरा रूप उस भोगी हुई प्रकृति ‘अजा’ को त्याग कर छोड़ता है।

‘अ’ (विष्णु) का अवतरण ‘आमु’ की रचना में बताया जा चुका है। उस ‘अ’ से उत्पन्न होने वाला विष्णु का भुवनों को गर्भित करने वाला सप्तार्द्धगर्भा रेत उस ‘आमु’ के ऊपर सप्तब्रह्म लोको के आवरणों की रचना करता है। यह सारी ‘अ’ के प्रयत्न द्वारा पैदा की गई कृति ही ‘अजा’ प्रकृति कहलाती है।

इस सप्तब्रह्म लोकों के आवरणों से बनी नाभि (Nucleus) और सप्तपाताल लोकों के आवरणों से बना नाभ्येतर (Extra Nuclear part) भाग पूर्ण अणु (Atom) की रचना के स्वरूप को प्रकट करता है। अतः आणविक संरचना की प्रकृति ही ‘अजा’ प्रकृति कहलाती है। क्योंकि वि. अणु (Atom) के केन्द्र में स्थित ‘अ’, अपने ऊपर अपने रेत की सृजनशक्ति के द्वारा चौदह भुवनों के आवरण चढ़ा कर प्रयत्न पूर्वक रुक् अणु के स्वरूप को बना कर उत्पन्न करता है। अतः ‘अ’ के द्वारा प्रयत्न पूर्वक बना कर पैदा की गई यह अणु (Atom) की कृति ‘अजा’ प्रकृति कहलाती है। रुक् अणु का स्वरूप रुक् बार बने पर कभी भी नष्ट नहीं होता। रज कण (धूलि का कण) सत्, असत् के साथ ही उत्पन्न हुआ अनादि माना जाता है। अतः इस ‘अजा’ प्रकृति को अजन्मी और अनादि प्रकृति भी कहा जाता है। आणविक संरचना में इस ‘अजा’ प्रकृति के नाभि के तीन चक्रों के वर्णों के प्रकट करने वाले लौहित, शुक्ल, कृष्ण, ये तीन वर्ण माने जाते हैं। [त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम् - (ऋग्वेद-1, 164, 2)]

ऋग्वेद में ‘अजा’ की इस तीन वर्ण भेदों वाली प्रकृति को इस प्रकार बताया गया है -

अस्य वामस्य पलितस्य होतस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यङ्गः ।
तृतीयो भ्राता द्यूतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तापुत्रम् ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 1)

अर्थ है ‘अ’ की ‘अजा’ वामावर्त में भागती हुई शुक्ल वर्ण की प्रकृति का वामन रूप का पलित नाम का प्रथम भ्राता है। बुलाने योग्य कृष्ण वर्ण का मध्यम भ्राता ‘अङ्ग’ है और तीसरा लौहित वर्ण का भ्राता अग्नि की लपटों के रूप वाला ‘द्यूतपृष्ठ’ नाम का है।

में जे यहाँ 'अ' के सप्तपुत्रों वाले प्रजाओं के स्वामी के रूप को 'विष्णु' को देखा है।

इस मन्त्र में 'अस्य' शब्द का अर्थ- 'अ' का - बताता है। 'अ' वेदों में विष्णु को कहा जाता है। इस 'अ' से निकला विष्णु का रेत वामावार्त में घूमता हुआ सातों लोकों के भुवनों को अर्धगर्भित करता हुआ चलता है। अतः यहाँ 'अस्य वामस्य' कहा गया है। इसको प्रथम 'पलित' नाम की रचना द्वैत वर्ण की होती है। इसमें सत्यलोक, तपः लोक, जनः लोक, इन तीन ब्रह्मलोकों का ग्रन्थन होता है और अर्णव समुद्र के रूप 'अर्णु' की रचना होती है। यह अजा का 'शुक्ल' रूप है।

दूसरे 'अश्न' भाग के रूप में महः, स्वः, भुवः लोकों की रचना हो कर यह वृष्ण का निधान बन जाता है, जो वृष्ण वर्ण की अजा का रूप कहलाता है। महः स्वः, भुवः लोकों के देवों का स्वरूप पीछे बताया जा चुका है। ऋग्वेद में इस वृष्ण के निधान के विषय में इस प्रकार बताया गया है -

कृष्णं निधानं हरयः सुपणी अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।

त आवृत्रन्तसदना दृतस्थादिदधृतेन पृथिवी व्युद्यत॥ (ऋग्वेद-1, 64, 47)

यह जो अणु के केन्द्रिय भाग में 'पलित' नाम का माता सत्य, तपः, जनः, इन तीन ब्रह्मलोकों से ग्रन्थित हो कर बना हुआ है, उस का उसके ऊपर बना हुआ 'अश्न' नाम के माता का काला घोंघला बना हुआ है। उस काले घोंघले में पलित नाम के भाग में से अर्णवों की भ्रंशला की बनी झलरवा के अश्न (हरयः) सुन्दर पंखों वाले द्यौ में उड़ते हुए (पुरुष की रचना करते हुए) आते हैं और पदार्थ के प्रथम के वसन चारण कर लेते हैं। अर्थात् गहन और गम्भीर अंश के रूप में बन कर महिजातं अर्चन का रूप चारण करते हुए मौलिक अर्थों का तथा अन्तर्बड़े रजकणों (चूल के कणों) का रूप चारण कर लेते हैं। वे ऋत के सदन पलित भाग के 'आमु' से लौटते हुए तीसरे माता दृतपृष्ठ के लोहित वर्ण के भाग में आते हुए पृथिवी को अपने दृत से खूब तर कर देते हैं। अश्न भाग से आने वाले रजकणों के पुञ्ज ही दृतपृष्ठ को पोषित करने वाले दृत का स्वरूप बनाते हैं। उन्हीं से दृतपृष्ठ खूब तर हो जाता है।

इस प्रकार यह अजा प्रकृति लोहित, कृष्ण, शुक्ल अनेक रंगों को सृजित करती हुई बहुत प्रकार की प्रजा को उत्पन्न कर देती है। सृष्टि में जो चराचर जगत के नाना प्रकार के शरीरों के अर्ध पिण्ड हैं, वे सभी उस अजा प्रकृति को प्रजा कहे जाते हैं। क्योंकि उन्हें वह अजा प्रकृति अपने प्रयत्न से उत्पन्न करती है। "प्रयत्नेन जायते इति प्रजा"।

इस अजा के दो रूप सम्भूति और विनाश हैं। सम्भूति में सृजन का क्रम चलता है तथा विनाश में विसर्जन का क्रम चलता है। जिसका सृजन होता है उसकी स्थापना के उपरान्त उसका विसर्जन अवश्य होता है। विसर्जन के इस क्रम द्वारा जहाँ से सृजन का प्रारम्भ होता है, विसर्जन के द्वारा वह तत्त्व अपने उस आदि रूप में ही पहुँच जाता है। "वि चैति चान्तौ विश्वमादौ स देवः" (श्वेत० उप० 4, 1)।

इस सृजन के सम्भूति के क्रम में वह अजा प्रकृति का हंस आत्मा का रूप धारण करके विषयों में आसक्त हो कर उस अजा प्रकृति के विषयों को पकड़ने के लिए लालायित होता हुआ नवद्वारों के पुर से बाहर आता है और नवें द्वार से जब पाताल लोकों के द्वार में नवपदी बन कर जाता है तो सहस्राक्षरा रूप धारण करता हुआ विसर्जन के रूप को प्राप्त करता चला जाता है। वह अपनी शुक्ल अजा प्रकृति के उन धारित रूपों को छोड़ता चला जाता है और अन्त में पुनः अपने उसी सद्-ब्रह्म के रूप में आ जाता है। इस प्रकार असत् से सत् इन देवताओं के पूर्व युग में पुनः उत्पन्न हो जाता है। यह सृजन की सम्भूति का क्रम और विसर्जन का विनाश का क्रम दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं। ये ही अजा प्रकृति के दो रूप हैं।

अणु की नाभि की दीप्तिमती गौ (अर्धपिण्डी), ऋत की चारा के द्वारा कौमल नाद करती हुई रन्ध्रपदी, द्विपदी, चतुष्पदी रूपों में तो उस अजा की ऋत की चारा का रूप प्रकट करती है जो आसक्त होकर अपने संकल्पों के उदय द्वारा इस प्रकृति के भोगों को भोगती है, तथा अष्टापदी, नवपदी ऋत की चारा के रूप में वह अजा प्रकृति का स्वरूप भोगे गये भोगों को छोड़ता है और सहस्राक्षरा बन कर विसर्जन की प्रक्रिया द्वारा विनाश को प्राप्त होता है। विनाश के द्वारा वह मृत्यु से तर कर पुनः सत् के अमृत स्वरूप को प्राप्त करता है।

गौरीमिमांसा सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमेष्ठ्यामन् ॥ (ऋग्वेद-1, 164, 41)

अर्थात् दीप्तीमती मती गौ, वह अणु को नीम कोमल जाद उत्पन्न करती हुई मृत को चाराओं को घड़ कर बनाती है। उन् चाराओं के एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी रूप तो सृजन के सम्भूति के क्रम में आते हैं, जिनके द्वारा वह भोगों में आसक्त हो कर संकल्पों के उदय के भोगों को मीनती है और जये-जये प्रकार के रूपों का सृजन करती है। परन्तु अष्टापदी रूप में सृजन का क्रम रुक जाता है और पूर्ण होकर नवपदी रूप में पहुँचने पर विसर्जन का विनाश का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। नवपदी चारा बनने पर वह अपने पुरुष के उसी सहस्र अक्षों के क्षरण वाले 'सहस्राक्षरा' रूप में आ कर अन्त में पुनः अपने उसी आदि के रूप को धारण कर लेती है। उस समय वह परमयोग में समीहित हो जाती है। इसी प्रकार उसका उदय अस्त का क्रम चलता रहता है।

इस प्रकार एक 'अजा' मृत को तरंग को चारा का रूप आसक्त होकर संकल्पों की प्रकृति के भोगों को मीनता है और दूसरा अजा का रूप भोगे हुए संकल्पों की प्रकृति के भोगों को छोड़ता हुआ चला जाता है। 'अजा' शब्द 'अ' की सत्प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली मृत की तरंग की ज्योति के स्वरूप को बताता है। पद का अर्थ - wave length है।

एकपदी = Having one wave length, द्विपदी = Having two wave length. Similarly चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी के अर्थ समर्थ।

वैदिक काल में देवी तथा राक्षसी के प्रकार की सन्ध्यायें प्रारम्भ से ही चली आ रही हैं, जिन्हें ग्रेय तथा प्रेय के नाम से भी जाना जाता है। देवी संस्कृति में वेद के शब्दों का अर्थ विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को प्रकट करने वाले अर्थों में लिया जाता है, जब कि राक्षसी संस्कृति के प्रेम मार्ग में शब्दों का अर्थ इन्द्रियों को तृप्त करने वाले राक्षसी खान पान के अर्थों में लिया जाता है। इसी प्रकार प्रह 'अजा' शब्द के दो अर्थ लिये जाते हैं। वैदिक विज्ञान के गूढ़ अर्थ में प्रह 'अ' से उत्पन्न होने वाली मृत की ज्योति की तरंग है, तथा राक्षसी प्रेम मार्ग की संस्कृति में 'अजा' बकरी के अर्थ में शब्द लिया जाता है। राक्षसी संस्कृति के लोग बकरी का मांस खा कर और सुरा पीकर अपने शरीर को शक्ति को बढ़ाने को ही 'अजा' का आवेश मानते थे। अतः वे 'अजा' का अर्थ बकरी ही लेते थे। वैदिक विज्ञान के लुप्त होने पर 'अजा' का बकरी अर्थ ही प्रचलित रह गया। निरुक्ति से निकलने वाले अर्थों का लोप होता गया।

ऋग्वेद में 'अज' का वर्णन अश्व सूक्तों में (ऋग्वेद-1, 162, 2-3) मन्त्रों में किया गया है। वहाँ 'अज' को 'अश्व' के आगे-आगे में-में करते हुए चलते बताया गया है तथा वह अज पूषा तथा इन्द्र के प्रिय स्थान को प्राप्त होता है। मन्त्र इस प्रकार है—

यान्निर्णिजारे क्ण सा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति ।
सुप्राङ् जो मेम्यद् विश्व रूप इन्द्रा पूष्णोः प्रियमप्येति पाथः ॥

इस मन्त्र का पद पाठ, अर्थ विम्बन प्रकार बनेते हैं— (ऋग्वेद-1, 162, 2)

{ यत् = जब | निः ऽ निजा = चमकते हुए वस्त्र से | रेक्णसा = सुवर्ण से |
(यदा) ।
प्रावृतस्य = ढँके हुए है | रातिम् = बिल को | गृभीताम् = पकड़ी हुई को |
मुखतः = आगे | नयन्ति = ले जाते हैं | सुप्राङ् = खूब आगे चलने वाला |
अजः = अज | मेम्यत् = में-में शब्द करता हुआ, नाद उत्पन्न करता हुआ |
विश्व ऽ रूपः = सब रूपों वाला | इन्द्रा पूष्णोः = इन्द्र, पूषा के |
प्रियम् = प्यारे को | अपि सति = जा कर प्राप्त होता है | पाथः = स्थान को |

जब चमकते हुए वस्त्रों और सुवर्ण से ढँके हुए अश्व के आगे पकड़ी हुई बिल (अज) को ले जाते हैं तब सब रूपों वाला वह 'अज' में-में शब्द का नाद करता हुआ खूब आगे हो कर इन्द्र और पूषा के प्रिय स्थान को प्राप्त होता है।

यहाँ वेद का अश्व स्वयं पशु छोड़ा नहीं है। यह वही अश्व है जिसे चौंतीस अर्णवों को अंशुला से बना हुआ चौंतीस पसलियों वाला द्यौ में चलने वाली स्वयं ऋत की तरंग की शलाखा (vector) के रूप में पीछे बताया जा चुका है। यह पुर के ईश 'पुरीष' 'अ' से उत्पन्न हो कर 'अ' को अपने केन्द्रिय गर्भ में ले कर चलता है। इसी कारण इसे 'अश्व' या 'अर्वा' कहा जाता है। 'अ' यदा निज भुवन सीहतं श्वेते तदा भवति अश्वः। 'अ' यदा निज भुवन सीहतं रवयति तदा भवति अर्वा। अर्थात् 'अ' जब अपने भुवन सीहत द्यौ में चलता है तो उसे 'अश्व' या 'अर्वा' कहते हैं। यह ऋत की तरंग की शलाखा के रूप में चलता है। उस ऋत की तरंग की शलाखा के सब से अग्र भाग को 'अ' से उत्पन्न हुआ अंश 'अज' कहा जाता है। अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) में उसके अवग्रवों की रचना करते समय पुरुष के दशगुल के अग्र भाग में यह 'अज' दशमौलिक अर्णों के बने क' कण (इन्द्र) के

यह ऋतू को धारा का बना 'अज' स्वयं स्वतन्त्र रूप से नहीं चलता, अपितु किसी माध्यम के द्वारा ले जाया जाता है। इस 'अज' के आवेश को चलने के लिए माध्यम चाहिए। वह माध्यम चाहे सूक्ष्म रूप के क्षीरों और अणुओं का बना द्यौ हो या 'ज' कणों से मिल कर बना रजकणों का कोई अर्ध पिण्ड हो। क्षीरों और अणुओं में देवों को पोषित करने वाला पूषा विद्यमान है तथा रजकणों के पिण्डों में 'ज' कण इन्द्र विद्यमान हैं। द्यौ में अज पूषा के प्रिय स्थान को प्राप्त होता है और अर्ध पिण्ड के माध्यम में इन्द्र के प्रिय स्थान को प्राप्त होता है। जो इस 'अज' के चलने का माध्यम है, वही इसका दीप्तीमान आवरण का वस्त्र है। यदि अर्ध पिण्ड का माध्यम है तो वही सुवर्ण से ढकने वाला आवरण है। 'अज' ही अपने रूप की बिल दे कर द्यौ में स्थित किसी देव के रूप को अथवा किसी अर्ध पिण्ड के रूप को धारण करता है। जब विष्णु के रेत के रूप में विष्णु से उत्पन्न हो कर यह चलता है तो देवों का सृजन करता हुआ यह खूब आगे-आगे चलता है। आगे-आगे चलता हुआ यह ऋतू में तरंग उत्पन्न करता हुआ तरंग के कम्पन का नाद उत्पन्न करता हुआ चलता है। यही इस 'अज' का मिमंत्रणा है।

जब यह 'अज' पूर्ण अणु की नीम की रचना कर देता है और नीम में 'न' कण (Neutron) की रचना पूर्ण हो जाती है तो यह 'न' कण क्षीब्ध मार कर 'इत्' कण (Electron) को बाहर फेंकता है। उस समय से यह 'अज' भौगी हुई प्रकृति को छोड़ता चला जाता है। इत् कण से उष्माणम् को छोड़ता हुआ यह विसर्जन ही करता चला जाता है। उष्माणम् का अर्थ द्यौ में विलीन करने वाली Radiation होती है। उष्माणम् का रूप सहस्राक्षरा होता है। पृष्ठ (415) पर बने चित्र में 'इत्' कणों से पाताल लौकों से बाहर निकलने वाले 'उष्माणम्' (Radiation of energy) के स्वरूप को देखें। 'न' कण की रचना तक 'अज' का रूप सृष्टि के सृजन में आसिद्ध हो कर भौगों को भौगने वाला होता है और 'न' कण से आगे भौगी हुई सृष्टि को छोड़ने वाला रूप होता है। स्वतन्त्र अवयव के रूप में 'अज' इन्द्र, पूषा के प्रिय स्थान को प्राप्त होता है।

अगले मन्त्र में इस अजा के इन दो रूपों की और व्याख्या की जा रही है। -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (6)

(पिछले मन्त्र में बताये गये अजा के दोनों स्वरूप) सदा साथ रहने वाले दो सखा, दो द्यौ में उड़ कर चलने वाले सुन्दर पंखों वाले पक्षी - एक ही (अणु की जगह में बनेने वाले सुमेरु के दण्ड वाले) वृक्ष पर (रहने का माध्यम बनाने के लिए) आश्रित हैं । उन दोनों 'अजा' के स्वरूपों में से एक 'अजा' का स्वरूप सृष्टि के सृजन में आसक्त होता हुआ सुमेरु दण्ड के पीपल के वृक्ष के पीपलों के फलों को खाता है और दूसरा स्वरूप भोगी गई सृष्टि को छोड़ता हुआ उस पीपल के पीपली फलों को देखता रहता है ।

पृष्ठ (4/5) पर पूर्ण अणु के अण्ड को त्रिज्या (Radius) का स्वरूप पूरा दिखाया गया है । यही अणु की रचना का सुमेरु दण्ड है । इस की आकृति पीपल के वृक्ष जैसी बनती हुई चित्र में स्पष्ट दिखाई दे रही है । 'अजा' इसी मेरु दण्ड के माध्यम में अपना आश्रय बना कर चलता है । 'न' कण की रचना तब इसका स्वरूप इस पीपल के वृक्ष के फलों को खाने वाला होता है, जिससे वह उत्तरोत्तर इस वृक्ष के अवयव बनने वाले देवों की रचना करता चला जाता है । किसी स्वरूप को द्योतित करने वाला 'देव' कहलाता है । यह पीछे बताया जा चुका है । दूसरा स्वरूप 'अजा' का 'न' कण के उपरान्त बनता है जो इन फलों को देखता तो रहता है, परन्तु उन्हें छोड़ देता है और खाता नहीं है ।

ऋग्वेद में (1-164-20) संख्या पर इस मन्त्र को लिखा गया है । वहाँ 'क' कण की रचना बता कर 'अजा' के भौक्ता रूप को बता कर स्वतन्त्र 'क' कण को द्यौ में स्वतन्त्र रूप से फैलने वाले दूसरे स्वरूप को भी बताया गया है जो 'क' कण के अर्ध पिण्ड के पीपली फल को नहीं खाता है, अपितु उसे केवल देखता रहता है । इस 'अजा' का प्रथम स्वरूप तो अद्वितीय को पञ्च प्राणोर्मि में स्थित है जो दशमौलिधार्यों से बने 'क' कण के अर्ध पिण्डों को खाता हुआ एक अक्षरवला में प्रयोजित करता चला जाता है और स्थिर रहने वाली

अदिति गाता का रूप बनाता चला जाता है। दूसरा स्वरूप वहीं पर उससे जुड़ा हुआ वह 'अजा' का स्वरूप है जो अदिति में से 'क' व्यंजन को निकाल कर मुक्त करके द्यौ में फैल देता है। वह भोगी गई प्रकृति को छोड़ देता है और केवल उसे देवता रहता है।

जिस अदिति के गर्भ में रहता हुआ यह 'अजा' का प्रथम स्वरूप सृष्टि के सृजन में आसक्त होता हुआ भोगों को भोगता है और मेरु दण्ड के वृक्ष के पीपलों के फलों को खाता है, उसी अदिति के नीचे वाले भाग में स्वःलोक के प्रथम भाग में "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः -" का स्वरूप विद्यमान है। पृष्ठ (415) पर बने चित्र को देखें। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में किया जा रहा है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽजीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य मीहमानमिति वीतशोकः॥७॥

उसी मेरु दण्ड के समान वृक्ष पर (पृष्ठ (415) के चित्र में) स्थित पुरुष सृष्टि के सृजन के भोगों में निमग्न होता हुआ, सृष्टि को शासित करने में असमर्थ होता हुआ मोहित होता हुआ शोक करता है। परन्तु जब यह अपने से अन्य उस परमाध्यक्ष सद्-ब्रह्म के शीघ्र रहित स्वरूप को देखता है, जो इस सृष्टि का ईश्वर है और सब के द्वारा सेवित है और मीहमा से मुक्त है, तो वह भी शोक रहित हो जाता है। (वह भी भोगी गई प्रकृति को, 'अजा' का दूसरा रूप बन कर छोड़ने लगता है।)

अश्व के आगे-आगे चलने वाला 'अज' जब विष्णु कैरत के द्वारा पुरुष के रूप में आता है तो वह भी संकल्पों के धारण करता हुआ दशांगुल रूप को प्राप्त हो कर अपने अति-अतिष्ठत् रूप में आ कर त्रित का रूप धारण करके दशमौलिक अर्धों के रूप में बदल जाता है। दशमौलिक अर्धों से 'क' व्यंजन के अर्धपिण्ड के रूप में बदल जाता है। इस प्रकार वह काम के उदित होने पर सृष्टि सृजन को इच्छा को धारण करके मौलिक अर्धों का रूप प्राप्त करके सृष्टि के भोगों में निमग्न हो जाता है। वह स्थूल अर्धपिण्डों को शासित करने वाले पुरुष के स्थान पर स्वयं शासित होने वाले अर्धपिण्ड के रूप में बदल जाता है। इस प्रकार वह अर्धपिण्डों को शासित करने में

असमर्थ होता हुआ सृष्टि के अर्थपिण्डों द्वारा मोहित होता हुआ बीचनीय अवस्था के प्राप्त कर लेता है। परन्तु जब वह अपने मूल रूप के दूसरे स्वरूप सृष्टि के उस परमात्मका ईश्वर के सद्-ब्रह्म के रूप को देखता है तो फिर वह भी उसी तरह का बन कर शौक्ल सीहत हो जाता है। अर्थात् वह पुनः असत् से सत् रूप में बदल जाता है। असत् से सत् उत्पन्न हो जाता है। नही सद् ब्रह्म सब के द्वारा सैवित है तथा वही सारी मीहमाओं से युक्त है। उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और अन्त में उसी में समा जाती है।

‘अ’ से उत्पन्न हो कर जब यह ‘अज’ चलता है तो अपने चलने के पथ पर जो सूर्य द्वारा से गुजरता हुआ विभिन्न प्रकार की रचनाओं का निर्माण करता हुआ एक मेस दण्ड बनाता है। उसमे सवण की रचना की आकृति एक वृक्ष की सी आकृति बन जाती है - जैसी कि पृष्ठ (415) पर बनी हुई है। इसी समान वृक्ष पर ‘पुरुष’ तथा ‘अजा’ के दो रूप तथा ‘इन्द्र’, ‘पूषा’ निवास करते हैं। ‘अदीति’ माता का पञ्चप्राणों का स्वरूप भी इसी समान वृक्ष पर आश्रित है। चित्र में उन सभी देवों के नाम लिखे हुए हैं जो इस समान वृक्ष पर आश्रित होते हैं। वे सभी देव भोगों में निमग्न हो कर अर्थपिण्डों को शोषित करने में असमर्थ हो कर शौक्ल करते हैं। जो ‘अजा’ का रूप अर्थपिण्डों से मुक्त हो कर उन के भोगों को छोड़ देता है, वह इन अर्थपिण्डों को शोषित करने की सामर्थ्य को पुनः प्राप्त कर लेता है और मीहमा से मुक्त होकर शौक्ल से सीहत हो जाता है। वह शौक्ल युक्त पुरुष भी शौक्ल से मुक्त हो कर अपने स्वरूप से अन्य स्वरूप वाले अपने आदि मूल के तत्त्व, सद्-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जहाँ आदि अवस्था में सत् से असत् उत्पन्न हुआ था, वहीं पुनः असत् से सत् उत्पन्न हो जाता है।

कुछ विद्वान् यहाँ इस मन्त्र में ‘पुरुष’ का अर्थ ‘जीवात्मा’ से करते हैं और जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन बताते हैं। ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। क्योंकि ‘पुरुष’ तथा ‘जीवात्मा’ के भेद को स्पष्ट समझ कर ही अर्थ करना चाहिए। ‘पुरुष’ तो प्रत्येक ‘पुर’ की संरचना में विद्यमान होता है और प्रत्येक ‘पुर’ की संरचना करने वाला वह स्वयं विश्वकर्मा के रूप में होता है। जीवात्मा के स्वरूप को भी वह अपनी विशेष जीवात्मत्व की अवस्था को चारण करने प्राप्त करता है। पुरुष तो जड़-चैतन सभी प्रकार के चराचर जगत के पुरों में निवास करता है। ‘पुरुष’ के बिना इस सृष्टि में विद्यमान किसी भी ‘पुर’ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सत् से असत् का रूप चारण करने की प्रक्रिया से ही ‘पुरुष’ को सत्ता अपने रूप में आ जाती है। असत् ब्रह्म के रूप ‘धर’ के ‘पुर’

में 'पुरुष' विद्यमान होकर बैठ जाता है। उसके पञ्चात हो वह अपनी आभास्वरा, महाभास्वरा, और सत्यमहाभास्वरा जवीयत्व की अवस्थाओं को प्राप्त करके जीवात्मा के स्वरूप को चारण करता है। जीवात्मा का स्वरूप किसी 'पुर' में जवीयत्व प्रदान करने के कारण केवल चैतन प्राणियों में ही माना जाता है। जड़ अवस्था को प्राप्त अर्धपिण्डों के 'पुर' में जीवात्मा विद्यमान नहीं मानी जाती, जब कि 'पुरुष' उनमें भी विद्यमान माना जाता है। जब किसी प्राणी की मृत्यु हो जाती है तो जीवात्मा उसके शरीर में से बाहर निकल कर अलग हो जाती है और उसका शरीर अपने पञ्चमहाभूतों के अणुओं (Atoms) तथा प्रोगों (Molecules) में विसर्जित होने लग जाता है और सड़ने तथा गलने लग जाता है। जब शरीर विसर्जित होकर अपने पञ्चमहाभूतों के मौलिक अणुओं और प्रोगों के जड़ रूपों में आ जाता है तो 'पुरुष' की सत्ता उन अणुओं और प्रोगों के बने 'पुरों' में भी बनी रहती है। उनमें विद्यमान 'पुरुष' पुनः जवीयत्व को प्राप्त करके बहुत सारे कोड़े मकोड़ों की जीवात्मा बन कर नये प्रकार के शरीरों को चारण करने वाली जीवात्माओं का रूप चारण कर लेता है। अतः यहाँ जीवात्मा तथा पुरुष का मैद समझ कर ही अर्थ करना उचित होगा। जहाँ जिस मन्त्र में 'पुरुष' को बताया जाये, वहाँ उसका अर्थ पुरुष से सम्बन्धित ही करना चाहिए और जहाँ आत्मा या जीवात्मा का शब्द मन्त्र में हो, वहाँ उसका अर्थ आत्मा तथा जीवात्मा से सम्बन्धित बना कर ही करना चाहिए। दोनों को एक दूसरे में आरोपित करने से अर्थ की स्पष्टता नष्ट हो जाती है। अतः ऐसा नहीं करना चाहिए। हाँ जहाँ 'पुरुष' जवीयत्व की अवस्था को प्राप्त करके जीवात्मा का स्वरूप चारण करता है और जहाँ मन्त्र में इस रूप परिवर्तन का वर्णन आता है, वहाँ अवश्य 'पुरुष' के परिवर्तित स्वरूप को जीवात्मा का स्वरूप बताना चाहिए। जिस प्रकार कि ईशोपीनषद् में, " प्रो ऽ सावसौ पुरुषः सो ऽ हमस्मि " कह कर मन्त्र में बताया गया है। मन्त्र है -

पूषन्नेवर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रक्ष्मीन् समूह । तेजो यत्
ते रूपम् कल्पाणतमम् तत् ते पश्यामि, प्रो ऽ सावसौ पुरुषः
सो ऽ हमस्मि ।

अर्थ बनता है - हे पोषण करने वाले पुरुष, रुकावट रसने वाले रुकावट, सब को नियंत्रित करने वाले यम, अपनी सन्तान के रूप

में सभी को उत्पन्न करने वाले इस सारी प्रजा के स्वामी, ऋत को धाराओं की तरंगों में चलने वाली रश्मियों के समूह से व्यूह का रूप, पञ्चावर्त का रूप धारण करके बनने वाले आप 'पुरुष' हैं। आप के तेज का [जो सत्यमहामास्वरा रूप] सब से अधिक कल्याण करने वाला है, [जो सर्वाधिक जवीयत्व पुर में प्रदान करके स्वयं जीवात्मा को उसके 'पुर' का चैतना युक्त शरीर धारण करा देता है,] उसको मैं [ऋषि] देख रहा हूँ। यह जो 'पुरुष' का स्वरूप है, वही मैं [अपनी जीवात्मा के रूप में] हूँ।

इस प्रकार यहाँ इस मन्त्र में 'पुरुष' के कल्याणतम रूप को 'जीवात्मा' के स्वरूप में बदलते हुए दिखाया गया है। अतः यहाँ 'पुरुष' और 'जीवात्मा' का सम्बन्ध अवश्य बताना चाहिए। यदि 'पुरुष' और 'जीवात्मा' में भेद नहीं होता तो यहाँ ऋषि पहले पुरुष की कुछ विशेषताओं को बताता हुआ यह नहीं कहता कि, 'जो यह कल्याणतम रूप का 'पुरुष' है, वही मैं' (अपनी जीवात्मा के रूप में) हूँ। अतः पुरुष का अर्ध पुरुष के रूप में ही करना चाहिए और आत्मा का अर्ध आत्मा के रूप में ही करना चाहिए। दोनों का भेद स्पष्ट रूप से अलग-अलग रखना चाहिए। यह ठीक है कि ये दोनों रूप उस सद् ब्रह्म से उत्पन्न हुए असद् ब्रह्म के द्वारा ही बनते हैं। दोनों में समान रूप से ऋत का तथा 'अजा' का स्वरूप विद्यमान होता है। परन्तु दोनों के सूक्ष्म रूप से कार्य करने के रूपों में अन्तर पड़ जाता है, उस अन्तर को स्पष्ट बना कर रखना चाहिए। दोनों का घालमेल करना अर्ध की शुद्धता को दृष्टि से अनुचित ही होगा। सत्, असत्, ऋत, अश्व, अज, पुरुष, जीवात्मा, पञ्चावर्त, मौलिक अर्थों से बना राजकाण रूप धूल का अर्धपिण्ड, इन सभी स्वरूपों की संरचना और कार्य प्रणाली में अन्तर समझ कर उनके अर्थों में भेद डालना अर्ध की स्पष्टता के लिए आवश्यक होता है। यह ठीक है कि ये सब अजा रूप रूप दूसरे में बदलते रहते हैं। इसी रूप बदलने के चक्र को सृष्टि का चक्र कहा जाता है। परन्तु जिस समय जिस स्थान पर जो जिस रूप में है, उसे उस रूप में बताने के लिए उसके रूप का ही अर्थ करना चाहिए। यही उचित होगा।

अब इस अगले मन्त्र में ऋत के द्वारा बने वाली ऋचा तथा परम व्योम के विषय में बताया जा रहा है।

ऋचा अक्षरे परमे व्योमन् यास्मिन्देवा अधि विभवे निषेदुः।

यस्तं न वेद किमृचा कीर्यति य इत् तद् विदुस्त इमं समासते ॥८॥

यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २७ वीं चौसठवें सूक्त में उन्तालीसवें मन्त्र दिया हुआ है। वहाँ इस मन्त्र में विष्णु के रेत की तरंग के रूप में चलने के उपरान्त उसकी सृजन करने की शक्ति के विषय में बताया गया है।

विष्णु का सप्तार्द्धगर्भा रेत अपने ऋत के द्वारा जो रचना सृजित कर के परम व्योम में स्थापित करता है उस रेत की ऋत के अन्दर रचना करने की शक्ति को ही 'ऋचा' कहा जाता है। ऋग्वेद में उन्हीं ऋचाओं का वर्णन किया जाता है। अतः उन ऋचाओं के वर्णन करने वाले मन्त्रों को भी 'ऋचा' कहा जाता है। ऋग्वेद के मन्त्रों को इसी कारण 'ऋचा' कहा जाता है। अतः इस मन्त्र का अर्थ बनता है कि —

जिस अविनाशी परम व्योम को आधार बना कर उस परम व्योम में सारे देव पूर्ण रूप से बैठे हुए स्थापित हैं, उसी अक्ष परम व्योम में ऋत से विभिन्न प्रकार की रचनाओं को बनाने वाला ऋचा भी विद्यमान है। जो उस ऋचा के विषय में यह नहीं जानता कि यह ऋत का क्या करेगी? वह वेद के विज्ञान को नहीं जानता। उसे जानने के लिए जो 'इत्' है, उसे जानो। वह 'इत्' इस ऋचा में तथा 'न' व्यण में समासित है। उस 'न' व्यण को भी जानो।

पिछले मन्त्र में विष्णु के रेत से बने 'पुरुष' को बताया गया था। यहाँ पुरुष की रचना करने वाले विष्णु के रेत में विद्यमान ऋत के अन्दर निहित 'ऋचा' की शक्ति के विषय में बताया गया है। यदि यह जानना है कि ऋचा की विद्यमानता कहाँ होती है, तो उसके विषय में यहाँ कहा गया है कि ऋचा की विद्यमानता उसी अक्षर परम व्योम में होती है, जिस अक्षर परम व्योम में सारे स्वरूपों को द्योतित करने वाले सारे देव पूर्ण रूप से स्थापित होकर बैठे हुए हैं। जिस प्रकार का उस परम व्योम के अन्दर २७ अवयव व्योम का आयाम उपलब्ध होगा, ऋत उसी के अनुसार अपने स्वरूप को ढाल लेता है और ऋचा उसी के अनुसार उस ऋत के द्वारा अपनी रचना की कृति को बना देती है। अतः ऋचा का स्वरूप परम व्योम में विद्यमान है।

यदि यह जानना है कि किस अवस्था में ऋचा क्या करेगी,

उसके लिए सब से पहले 'न' कण (Neutrons) की संरचना के विषय में जानो। फिर जो 'इत्' कण (Electron) है, उसके विषय में जानो। जो 'इत्' कण है, वह 'न' कण में ही समाहित है। इतना शान होने पर ब्रह्म जिज्ञासु जान जायेगा कि अृचा किस अवस्था में किस सूत्र द्वार पर क्या करेगी ?

"यः तम न वेद" का रूपान्तरण "यः न, तम वेद" करके अर्थ करें तो जो 'न' है, उसे जानो। 'न' का अर्थ आधुनिक विज्ञान द्वारा बताये गये Neutrons से लिया जा सकता है। संस्कृत के शब्दकोष में 'न' का अर्थ 'गणेश' दिया हुआ है। गणेश का अर्थ है देवताओं के गणों का ईश। आणविक संरचना में नाभ के केन्द्र में स्थित विष्णु (= 'अ') से लेकर द्युतपृष्ठ में स्थित भूः लोक के प्रमुख कण 'न' (Neutrons) और पाताल लोकों में स्थित 'इत्' कणों (Electrons) के सभी देवों के गणों को मिला कर जो प्रतीमा बनती है, वही गणेश की प्रतीमा है। पृष्ठ (103) पर बने एक सर्वाधिक बड़े अणु (Atom) के चित्र में जिसका Atomic Number 110 है तथा Mass Number 300 है, उसमें बनी 'गणेश' की प्रतीमा को देखें। इसमें सारे देवों का एक गण (समूह) बन कर उनको एक सूत्र में बाँध कर शासित करने वाले गणेश का स्वरूप बना हुआ है। इस गणेश के दो भाग शिर और चंड अलग-अलग हैं। शिर हाथी का है, जिसमें सूँठ, दाँत, कान आदि बने हुए हैं। इस शिर में भोजन खाने वाला मुँह का अवयव भी स्थित है। मुँह तब वह अन्य देवों के स्वरूप को खा कर सृष्टि के सृजन के भोगों को भोगने वाले 'अजा' के प्रथम स्वरूप को प्रकट करता है। उसका मुख, दाँत 'न' कणों (Neutrons) के तथा 'चिक्' कणों (Protons) के बने हुए हैं। मुख के साथ लम्बी सूँठ भी 'चिक्' कणों (Protons) तथा उसके साथ जुड़े अन्य त्रिवर्ती, वृन्दारक, अश्विनो, 'क' कण, आदि की पञ्च प्राणीम, पुरुष को ईशान रीश आदि की अंशला से 'अ' तब बनी हुई है। इस प्रकार 'न' कण (Neutrons) की रचना में गणेश के मुख तब 'अजा' का प्रथम रूप भोगों के भोगने वाला विद्यमान है तथा चंड में अजा का दूसरा रूप 'इत्' कण का विद्यमान है जो भोगे गये भोगों को छोड़ता चला जाता है और विसर्जन के स्वरूप को प्रकट करता हुआ एक-एक सृजन के देव को अपने अलग-अलग स्वरूप में प्रकट करता चला जाता है। इस प्रकार 'न' तथा 'इत्' कण को जान लेने पर सृजन तथा विसर्जन की पूरी प्रक्रिया को जान कर

तब का ब्रह्म जिज्ञासु यह ज्ञान जीर्णोद्धार कि ज्ञाना के लिये यह ज्ञान करेगी और किस प्रकार सृजन अवस्था विसर्जन के किस देव के लिये करेगी को प्रकट करेगी। जो 'इत' (Electron) का स्वरूप है, वह 'न' कण में ही समाहित है और 'न' कण में ही विसर्जन की क्रिया करने के लिये जिम्मेदार है। विसर्जन की प्रक्रिया में पुनः 'सृचा' अपनी शक्ति में अंजा' के रूप पदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी और नवपदी गीत की श्रुति में तरंग प्रदान करती हुई उस 'इत' में भी समाहित सभी अवयवों को क्षीरों की बनी सहस्राक्षरा उष्णाम् (Radiation having thousand rays of energy around its point of intensity) में बदल देती है और पुनः उसे द्यौ के श्रुति में ही समाहित कर देती है। इस प्रकार 'सृचा' जिस किसी देव की आदि में जहाँ से निकालती है, अन्त में वह उसे वहीं समाहित कर देती है। ["वि चैति चान्तो विश्वमादौ स देवः" - (श्वेताश्वतरोपनिषद् 4, 1)]

इस प्रकार जो व्यक्ति ब्रह्म जिज्ञासु बन कर ऋग्वेद की श्रुतियों में बताई गई 'सृचा' की शक्ति के विषय में और उससे कार्य करने की विधि के विषय में नहीं जानता कि किस स्थान पर किस पीरिस्फीत में किस समय श्रुचा व्या करेगी, वह समझ ले कि इस ब्रह्म ज्ञान की ब्रह्मविद्या के विषय में कुछ भी नहीं जानता। यह श्रुचा की शक्ति का ज्ञान ही सत्य ऐसा ज्ञान है, जिसको जान कर वेद वेदा सभी को जाना जाता है। इस कारण श्रुचा की कार्य करने की सामर्थ्य को जानों कि वह क्या करेगी? यह ज्ञान 'न' कण (Neutron) तथा 'इत' कण (Electron) की संरचना के ज्ञान द्वारा ही संभव है। जो 'इत' कण (Electron) है वह 'न' कण में ही समाहित है। जो सृजित हो कर इस सृष्टि में अपने रूप को प्राप्त करता है, वह विसर्जित हो कर अपने रूप को विनष्ट भी अवश्य करता है। जहाँ से जिस मूलतत्त्व से उसका आदि में सृजन प्रारम्भ होता है, अन्त में वह उसी अपने मूलतत्त्व में विसर्जित हो कर समाहित हो जाता है।

छन्दसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।

अस्मान्माग्री सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥१॥

छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जो कुछ भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ये चारों वेद उस श्रुचा की शक्ति को

अपने मन्त्रों के द्वारा बताते हैं। उस ऋचा की सम्पूर्ण शक्ति को वह मायावी जो विसृष्टि का परमाध्यक्ष परमेश्वर सद्-ब्रह्म है, तथा जो परमयोग में बैठा है, वह अपनी माया के द्वारा उत्पन्न करता है। उस सद्-ब्रह्म की माया में ही अन्य सभी शक्तियों की माया संनिविष्ट हो कर पूर्ण रूप से भली प्रकार से बँधी हुई है।

ऋग्वेद के मन्त्रों में जो विभिन्न प्रकार की ऋचाएँ वर्णित हैं, वे ऋतु के द्वारा की गई किसी न किसी रचना के स्वरूप को या उसके किसी अंश को बताने वाली होती हैं। ऋतु के द्वारा जब ऋचा क्षीर सागर में विद्यमान क्षीरों के ऋतु में कोई रचना करती है तो उस ऋतु में गति उत्पन्न होती है जिससे ऋतु में तरंग उत्पन्न हो कर चाराओं की व्युत्पत्ति हो जाती है। उन चाराओं के व्यूह से ऋतु में आवर्त बन जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक आवर्त की चारा में तरंगों के अन्दर उनकी तरंगदीर्घता (wave length) तथा कलात्मक संख्या (frequency) के अनुसार एक अपना विशेष प्रकार के नाद (Resonance) की निरन्तरता का क्रम उत्पन्न हो जाता है। वही उस ऋतु के अन्दर बनी रचना की ऋचा का छन्द होता है। ऋतु की तरंगों में ऋतु के चलन से उत्पन्न नुदन के द्वारा ऋचा की एक इकाई के गत के वाक् के छन्द कहा जाता है। ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा का अपना एक विशेष छन्द है। उस ऋचा के गायन के समय उसके छन्द में जो नाद की तरंगें निकलती हैं, उनकी तारतम्यता पूर्ण रूप से उस नाद की तरंगों से होती है जो उस ऋचा के द्वारा वर्णित ऋतु के अन्दर बनी रचना की तरंगों का नाद होता है। उन मन्त्रों को बोलने वाला ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जब ऋग्वेद के उन मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करता हुआ छन्द के स्वरों के आरोह अवरोह का पूर्ण पालन करता हुआ और अपने मन की चित्त में वर्तमान सभी दृष्टियों का निरोध करता हुआ अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से ब्रह्मनिष्ठ बनाता हुआ बोलता है, तो उसके शरीर से उत्पन्न होने वाले वाक् के पद के छन्दों का ऋतु की ऋचा के छन्द के साथ तारतम्य बन कर पूरे ब्रह्माण्ड में चलने वाली ऋतु की तरंगों के साथ तारतम्य बन जाता है। उस समय उस ऋग्वेद की ऋचा के गायन में एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति का प्रभाव पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रभावित करने वाला होता है।

इसी कारण ऋग्वेद के मन्त्रों में रुक्, अलौकिक शक्ति निहित बताई जाती है। परन्तु यह शक्ति तभी आती है जब रुक् ब्रह्मनिष्ठ शुद्ध हृदय सदाचारी ब्राह्मण छन्द के नियमों का पूर्ण पालन करता हुआ उस ऋचा का शुद्ध विधि से गायन करता है। यही "मन्त्रशक्ति" कहलाती है। इसी मन्त्रशक्ति से प्रत्येक देव को अनुशासित करके अभीष्ट फल प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इसी लिए विशेष मन्त्रों के जप द्वारा विशेष प्रकार की सिद्धियाँ, सिद्धलोग प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण मन्त्रशक्ति से सिद्ध पुरुष अलौकिक अद्भुत-चमत्कारी कार्य करने में सफल हो जाते हैं। स्थूल प्रकृति ऋत से नियन्त्रित हो कर ऋचा की शक्ति से ऋचा का गायन करने वाले के द्वारा धारित संकल्पों के अनुसार कार्य करने लग जाती है।

अतः ऋग्वेद की ऋचाओं के छन्दों में जो भी सृष्टि में रूप परिवर्तन की माया निहित हो कर बँधी हुई है, वह सारी इस ब्रह्माण्ड में भरे हुए उस ऋत की पूर्ण माया का ही एक अंश है, जो सद्-ब्रह्म में कारण उत्पन्न हो कर असत् बन कर बना हुआ ऋत है।

कोई विशेष प्रकार का यत्न जब वेदवैता और ब्रह्मवैता ब्राह्मणों के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समरसता उत्पन्न करने के लिए किया जाता है तो उसे 'यज्ञ' कहा जाता है। स्पष्ट है पूर्ण ब्रह्माण्ड में समरसता तभी उत्पन्न हो सकती है जब वह जो ऋत इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है, उसमें चलने वाली विभिन्न प्रकार की ऋत की तरंगों के आवर्तों में कम से कम विरुद्ध गति का अवरोध उत्पन्न हो, अथवा बिल्कुल ही अवरोध न हो। परन्तु ऐसी स्थिति कभी नहीं आती जब विरुद्ध गति के ऋत के आवर्तों का अवरोध शून्य हो जाये। हाँ उन्हें ऋग्वेद में तथा अन्य वेदों में वर्णित यज्ञों के द्वारा सामान्य स्तर पर अथवा सामान्य स्तर से कुछ नीचे अवश्य लाया जा सकता है। ऐसा करने पर प्रकृति सभी प्राणियों के लिए अनुकूल फल देने वाली बन जाती है। जिससे सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणियों का भला होता है। इन यज्ञों में भी ऋचाओं का गायन किया जाता है और ऋचाओं की शक्ति से ही यह अनुकूलता उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के यज्ञों में जो शक्ति की माया है, वह भी उसी सद्-ब्रह्म की माया का ही एक अंश है, जो सर्वत्र व्यापक है, जो सर्वेश्वर है।

यज्ञों के साथ 'व्रत' भी आते हैं। 'व्रत' उस विशेष प्रकार के यज्ञ का अंग होता है जो कोई व्यक्ति अपने मन के अनुकूल अपना अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिए करता है। 'व्रत' के द्वारा स्व छोटे से आग्राम के योम में विद्यमान ऋतु को अपने अनुकूल फलदायी बनाने का प्रयास किया जाता है। यह भी वेद की 'ऋचा' की शक्ति के द्वारा ही किया जाता है। अतः इस व्रत में जो स्थूल प्रकृति के रूप बदलने की शक्ति की माया है, वह भी उसी सद-ब्रह्म परमेश्वर की माया का ही एक अंश है, जो उसकी माया में बंधा हुआ है।

कोई भी सदाचारी सत्प्रीनष्ठ व्यक्ति जब किसी व्रत को चारण कर लेता है तो वह अपने उस व्रत का पालन करने के लिए अपनी पूर्ण शक्ति लगा देता है तथा अपने व्रत के संकल्प के अनुसार अपने आसपास की प्रकृति के वातावरण को बदलने का प्रयास करता है। इस व्रत की साधना में वह जप, तप आदि सभी साधनों का प्रयोग करता है। वह अपनी आत्मा के अण्ड में विद्यमान ऋतु की तरंगों के संकल्पों के द्वारा भी अपना अभीष्ट फल प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके लिए वह उपवास रख कर अपने शरीर के मल को त्यागता हुआ अपने शरीर को भी निर्मल, शुद्ध करने का प्रयास करता है। शुद्ध, निर्मल शरीर को चारण करने वाली आत्मा के स्वरूप में अपने को स्थापित करके वह ऋचाओं का अर्घ्य समझता हुआ जप करता है और स्व ही शुद्ध स्वरूप में लम्बी अवधि तक अपने को प्रतीष्ठित रख कर तप भी करता है। इस प्रकार वह अपने व्रत की साधना द्वारा स्व विशेष आग्राम के योम में विद्यमान ऋतु के अन्दर अनुकूल परिवर्तन करके अपना अभीष्ट फल प्राप्त करने का प्रयास करता है। यही उस मनुष्य द्वारा चारित 'व्रत' की शक्ति की माया होती है। परन्तु यह व्रत की शक्ति की माया भी उस परम योम में स्थित सद-ब्रह्म की महामाया का ही एक बंधा हुआ अंश है।

भूत से भविष्य में चलने वाली जो काल की गति की माया है, वह भी उसी परम योम में स्थित सद-ब्रह्म की ही माया का एक बंधा हुआ अंश है, जिसे सभी वेद बताते हैं। काल की गति संवत्सर में विद्यमान होती है। 'संवत्सर' शब्द "सम् + वत् + सर" इन तीन शब्दों के मिलने से बनता है। सम् का अर्थ होता है - भली प्रकार से अर्थात् 'सम्प्रवृत्त्यर्थ'। 'वत्' का अर्थ होता है - 'की तरह', और 'सर' का अर्थ होता है आगे सरकना अर्थात् आगे चलना। अर्थात् जो सम्प्रवृत्त्यर्थ की तरह आगे चलने का स्वरूप होता है, उसे 'संवत्सर' कहा जाता है। स्पष्ट है कि इस 'संवत्सर' के स्वरूप में आगे चलने से जो पीछे रह जाता है, उस काल का नाम 'भूत' रखा जाता है और जो आगे आने वाला काल होता है उस काल का नाम 'भविष्य' रखा जाता है। इस प्रकार काल की गति 'भूत' से 'भविष्य' की ओर सदैव होती है।

इस संवत्सर की रचना ऋतु के अन्दर 'अहोरात्रि' के उदय द्वारा होता है। ऋतु के अन्दर जब किसी रचना का संकल्प उदित होता है तो उसे 'अहः' अर्थात् 'दिन' कहा जाता है। जब ऋतु के अन्दर उदित उस संकल्प का पुनः उस ऋतु में विलय होता है और वह संकल्प अस्त होकर मिट जाता है तो उसे 'रात्रि' कहा जाता है। इन संकल्पों के उदय अस्त के 'अहोरात्रि' के ऋतु में सम्यक् प्रकार से उदित होने वाले संकल्पों के सम्यक् रूप में एक 'सम-गति' की चाल से उस ऋतु में, जिसमें वह उदित हुआ था, सम्यक् प्रकार से आगे की बढ़ने की गति उत्पन्न हो जाती है। इसी गति के स्वरूप का नाम 'संवत्सर' है।

गीता में 'अहोरात्रि' के इस स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है -

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञकैः ॥ (गीता - 8, 18)

अर्थात् 'अहः' के आगे पर अव्यक्त से सभी व्यक्त संकल्पों के स्वरूप उदित होकर सत्ता में स्थापित हो जाते हैं। रात्रि के आगे पर फिर वहीं उक्त अव्यक्त नाम वाले के अन्दर प्रलीन हो जाते हैं।

'अव्यक्त' वह स्वरूप सद्-ब्रह्म का होता है, जिसमें कोई भी संकल्प उदित होकर रचना के किसी भी स्वरूप को व्यक्त (वर्णित) नहीं करता जब उसमें सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उदित हो जाता है और वह सृजन के अनेक वर्ण भेदों के स्वरूपों के देवों के स्वरूप को व्यक्त करने लग जाता है तो ब्रह्म के उस स्वरूप को ही 'व्यक्त' कहा जाता है। ब्रह्म के अन्दर ही संकल्प उदित होते हैं और ब्रह्म में ही प्रलीन होते हैं। अतः 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' दोनों ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। 'सद्-अव्यक्त' शुद्ध रूप है और दूसरा 'व्यक्त' आर्द्र रूप है। तीसरा ब्रह्म का रूप नहीं होता। आर्द्र रूप के ब्रह्म में ही 'काल' की गति होती है। शुद्ध ब्रह्म काल की गति से बाहर होता है उसमें काल का प्रभाव नहीं होता। वह सद्-ब्रह्म का स्वरूप है।

परम व्योम में विद्यमान ऋतु के एक सीमित आयाम के व्योम के क्षेत्र के ऋतु में जब कोई संकल्प उदित हो कर अपने ऋतु के आवर्त का एक चक्र बनाता है, उस ऋतु के आवर्त के एक इकाई के चक्र को उस आवर्त की गति के संवत्सर का क्षेत्र या वर्ष कहा जाता है। इसी कारण वैदिक विज्ञान में वर्ष का अर्थ क्षेत्र भी लिया जाता है। एक संकल्प के एक पूर्ण के एक ऋतु के आवर्त के क्षेत्र को एक वर्ष कहा जाता है। उस एक चक्र की गति की पूर्णता को समय के द्वारा नापा जाता है। अतः वह समय की अवधि, जिसमें एक संकल्प के ऋतु के आवर्त में ऋतु के एक स्थान से

चलकर पुनः उसी स्थान पर आने पर अपने चक्र को पूरा करने में जितना समय लगता है, वह समय को अवधि एवं वर्ष कहलाती है। सम्पूर्ण क्षेत्र का पूरा चक्र लगाने को उस अवधि को ही एवं वर्ष कहा जाता है। अतः सम्बत्सर का दूसरा नाम 'वर्ष' भी ज्योतिष को कालगणना में प्रचलित हो गया।

प्रत्येक ग्रह के ऋतु के आवर्त का क्षेत्र अलग-अलग होता है और उनमें 'अहोरात्रि' के द्वारा ऋतु की गति भी अलग-अलग होती है। अतः प्रत्येक ग्रह का सम्बत्सर का काल अर्थात् समय को अवधि जिसे वर्ष कहा जाता है, पृथिवी ग्रह के सम्बत्सर के अहोरात्रि तथा वर्ष से भिन्न होते हैं। उन सब का तारतम्य बनाकर ही 'पाञ्चांग' बनाया जाता है।

इस ऋतु की गति के सम्बत्सर में आये समय के किसी खण्ड को जो इस गति के किसी खण्ड में आता है, उस 'कालखण्ड' को भी 'काल' के नाम से कह दिया जाता है। 'कालनिर्णय' में ऋतु के संकल्प के किसी अवयव के कालखण्ड का निर्णय ज्योतिष में इसी कारण एवं विषय वस्तु बनता है। 'कालखण्ड' को भी 'काल' के नाम से ही पुकारा जाता है। इसी कारण किसी संकल्प के ऋतु में उदित होने के काल को 'जन्मकाल' और उस संकल्प के पूर्ण रूप से अव्यक्त में प्रलीन होने के काल को 'मृत्युकाल' कहा जाता है। जन्मकाल से मृत्युकाल तक वह काल उस संकल्प को अव्यक्त में अपने चाल की गति से प्रलीन करता रहता है। इसी चाल की गति को उस संकल्प को कालद्वारा ग्रासित करने की चाल की गति कहा जाता है। अन्त समय में वह काल उस ऋतु में उदित संकल्प को पूर्ण रूप से ग्रासित कर जाता है। ऋतु में मृत्वा को शक्ति से जो संकल्प उदित होता है, वह काल की गति से अपने आगे अन्त समय में काल के द्वारा पूर्ण रूप से ग्रासित अवश्य होता है।

किसी संकल्प के ऋतु के आवर्त में नये संकल्प भी और उदित हो सकते हैं और उदित हो कर उस पुराने आवर्त में नये प्रकार की नई गति भी उत्पन्न कर सकते हैं। यह गति पुराने आवर्त की ऋतु की गति के विरुद्ध भी हो सकती है और उसकी दिशा के अनुकूल भी हो सकती है। अतः इस संवत्सर के काल की गति बड़ी ही निराली और अपने प्रकार की आप ही होती है। अतः यह सद्-ब्रह्म की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किस काल में किस संकल्प को उदित कर के काल को क्या स्वरूप प्रदान करता है। अतः काल को जानने के लिए काल के परमाद्यक्ष उस सद्-ब्रह्म को जानना आवश्यक है और उसी को जानना चाहिए।

असद्ब्रह्म से बने ऋतु, ऋतु से बने सत्यलोक तथा सत्यलोक के चारों ओर ऋतु के पुनः जल उठने से तपस् की उत्पत्ति बताकर और उस तपस् से अहोरात्रि की उत्पत्ति बताकर गतिमान अर्णवसमुद्र की उत्पत्ति बताई गई है। उस अर्णवसमुद्र में ऋतु की गति के इस संवत्सर की उत्पत्ति बताई गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

ऋग्वेद में इस तरह का इस प्रकार कहा गया है --

इयं विसृष्टिर्ग्रत आ बभूव यदि वा द्यौ यदि वा न ।

मो अस्माद्यक्षः परमे व्योमन्तसो अङ्गं वेद यदि वा न वेद ॥

(ऋग्वेद - 10, 129, 7)

अर्थात् यह विविध रूपों वाली विसर्जन की विसृष्ट सृष्टि कहाँ से किस(सूर्य द्वार)से आ कर उत्पन्न हो जाती है, वह विविध रूपों की सृष्टि के सृजन का क्रम अथवा विसर्जन का क्रम किसी सूर्य द्वार के रूपको धारण करता है अथवा धारण नहीं करता है, यह उस विसृष्टि का अधिपति महेश्वर जो इसका परम व्योम में अद्यक्ष बन कर बैठा है, वह अच्छी तरह जानता है। वह उस अमुष् (सूर्य द्वार पर) होने वाली सृजन की अमुष् रचना के स्वरूप को सचमुच प्राप्त करता है, अथवा प्राप्त नहीं करता है, यह उसके सृष्टि सृजन की इच्छा के संकल्पों के काम के समवर्तन की अग्रता पर निर्भर करता है। किसी सूर्य द्वार की रचना के विनाश से पूर्व ही उसमें नया संकल्प उदित हो कर उसके स्वरूप को रक्षा करता है, यह रुद्र की ईशानी ऋत की धारा के अन्दर उदित होने वाले काम के समवर्तन की अग्रता पर ही निर्भर करता है। [कामस्तदग्रे समवर्तताधि] (ऋग्वेद - 10, 129, 4)

जितने भी भूतों के रजःकरण बनते हैं, उनमें सभी में उनके मौलिक अर्थों के केन्द्र में वह 'रुद्र' गुण रूप से ऋत का गहन, गम्भीर सञ्च का पिण्डी के रूप में अण्ड बन कर बैठा होता है। मौलिक अर्थ सारे विश्व के भूतों की रचना करने वाले मौलिक अवयव इकाई के रूप में होते हैं। अतः उन मौलिक अर्थों के केन्द्र में स्थित होकर रुद्र उन मौलिक अर्थों का नियन्ता और अधिपति बन जाता है। इस प्रकार उन मौलिक अर्थों से बने वाले सारे विश्व का वह रुद्र अधिपति बन जाता है।

जब रुद्र की ऋत की पिण्डी से ऋत की धाराएँ ईशानी बन कर निकलती हैं, तो उनमें नाना प्रकार के संस्कारों के संकल्प उदित हो कर नौ-नौ स्वरूपों का असद्-ब्रह्म में सृजन करते हैं। वे असद् ब्रह्म में सृजित स्वरूप उन ईशानी धाराओं के ऋत में बह कर चल देते हैं और विष्णु के रेत के अक्ष के मार्ग का अनुगमन करने लग जाते हैं। असद्-ब्रह्म के अन्दर बने इन स्वरूपों को जो विष्णु के रेत में रिसते हुए चलते हैं, 'ब्रह्मर्षि' कहा जाता है। यह ब्रह्मर्षि का स्वरूप जिस सूर्य द्वार पर पहुँच कर

रचना के जिस स्वरूप को चोखित करने लग जाता है, वह स्वरूप 'देवता' कहलाता है। इस प्रकार ब्रह्मर्षि और देवता इन दोनों का स्वरूप उस रुद्र को 'ईशनी' मृत को धारा में ही मृत के अन्दर बनते हैं और उस 'ईशनी' मृत को धारा के जनक 'रुद्र' से जुड़े होते हैं। इसी कारण यहाँ रुद्र के लिए इस मन्त्र में, "यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च" कहा गया है। अर्थात् जिस रुद्र में ब्रह्मर्षि और देवता जुड़े होते हैं।

"तमेवम् ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति" - उस रुद्र को उपरोक्त विधि से जान कर ब्रह्म का जिज्ञासु, मृत्यु के सभी स्वरूपों के पाशों को जो प्रत्येक सूर्यद्वार पर स्थित हैं, काटता चला जाता है।

इस प्रकार अन्त में वह सद्-ब्रह्म के स्वरूप के अमृत स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यह सारी प्रक्रिया यहाँ बता रही है कि ब्रह्म के उपासक साधक को काम को पूर्ण रूप से दग्ध करके चित्त को सभी वृत्तियों का निरोध करते हुए सृजन के प्रत्येक मिष्ट स्वरूप को जल कर देगा। तभी वह अपने शुद्ध स्वरूप में अवीक्षित हो पायेगा और सद्-ब्रह्म के अमृत स्वरूप को प्राप्त कर पायेगा। इन सूत्रों -

"योगविचिन्तवृत्तिः निरोधः। तदा दृष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।" के द्वारा पातञ्जल योगदर्शन इसी सिद्धान्त को पुष्टि करता है। अर्थात् चित्त को सभी प्रकार की वृत्तियों के निरोध के द्वारा ही अपने मूलतत्त्व के स्वरूप के साथ जुड़ने की प्रक्रिया "योग" होती है। ऐसा करने पर ही अपने मूल स्वरूप सद्-ब्रह्म के स्वरूप को देखने वाला योगी दृष्टा अपने मूल स्वरूप सद्-ब्रह्म के स्वरूप में अवीक्षित होता है।

घृतात्परं मण्डमिवानि सूक्ष्मम् ज्ञात्वा शिवं सर्व भूतेषु गूढम्।

विश्वस्मैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (16)

घृत के ऊपर जिस प्रकार छाद का मण्ड का कर उसे ढक कर अपने पाश के अन्दर रखता है, उसी प्रकार सभी भूतों में निहित उनके गूढ और अत्यन्त सूक्ष्म आत्मतत्त्व के अण्ड को रुद्र का (शिव) कल्याणकारी रूप अपने पाश में (यम का पाश बन कर) ढाँप कर अपने अन्दर रखता है। किसी भी भूत को एक इकाई के सारे स्वरूप को सभी ओर से घेरने वाले देव रुद्र के इस स्वरूप को जान कर ब्रह्म का जिज्ञासु उसके आत्मतत्त्व के अण्ड को बाँधने वाले सभी पाशों (त्रिवन्धनों) से मुक्त हो जाता है। रुद्र का यही स्वरूप 'शिव' नाम से पुकारा जाता है।

इस मन्त्र में वर्णित रुद्र के स्वरूप को समझने के लिए पृष्ठ (460), (461) पर तथा पृष्ठ (417) पर बने 'आभु' की संरचना के चित्रों को देखें। प्रत्येक भूत के रजतगुण का प्रत्येक अवयव 'आभु' के ऊपर ही बनता है। उस 'आभु' के अन्दर ही उस भूत का आत्मतत्त्व का अण्ड निहित होता है। उसी आत्मतत्त्व के अण्ड के केन्द्र में विष्णु का 'पर' शक्ति के रूप में अवतरण होता है। इस 'आत्मतत्त्व' के अण्ड की रचना रुद्र द्वारा विष्णु के मोहिनी रूप का आलिंगन करके अपने बाहु पाश में बाँधने पर अमरकंटक की ज्योति के रूप में होती है, जिसे वह 'आभु' का शीर्ष तब तक सुरक्षित रखता है जब तक उसके जीवन का यज्ञ चलता रहता है। ^(अमरकंटक की प्रतीक कथा) यही आत्मतत्त्व का अण्ड प्रत्येक भूत की गूढ और सूक्ष्म जीवात्मा की संरचना करता है। विष्णु के रेत के रूप में सप्तर्षियों की तेजोमय रश्मियों का स्वरूप जो उस प्राणी के शरीर के प्रत्येक कोषाणु को चेतन बनाने के लिए जीवात्मा का रूप चारण करता है, उन रश्मियों को 'आभु' के बाह्य पृष्ठ पर बना रुद्र का पाश जो यम का पाश कहलाता है, [पृष्ठ (417) पर बना चित्र], वह 'आभु' के अन्दर बने उस जीवात्मा के सूक्ष्म और गूढ 'आत्मतत्त्व' के अण्ड को सभी ओर से घेर कर उसी प्रकार रखे हुए है, जिस प्रकार घृत के सूक्ष्म कणों को दही के अन्दर छाछ का मण्ड घेर कर रखता है और अपने अन्दर छिपाये रखता है। परन्तु रई के द्वारा मन्थन करने पर वह घृत उस छाछ के मण्ड से बाहर आ जाता है और तपाने पर शुद्ध रूप चारण कर लेता है। उसी प्रकार जो साधक अपने आत्ममन्थन के द्वारा अपने काम के पाश द्वारा उदित चित्त की वृत्तियों को जान लेता है और तप करता हुआ सभी चित्त की वृत्तियों का निरोध करता चला जाता है तथा 'काम' को पूर्ण रूप से दग्ध कर देता है तो काम के सब से पहले समवर्तन से [कामस्तदङ्गो समवर्तताधि] (ऋग्वेद-10, 129, 4) जो ऋतु को अवरोधित करके रुद्र का स्वरूप बना था, उसके पाश को शक्ति ढीली पड़ने लग जाती है। धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए तप करने से वह पाश पूर्ण रूप से हट जाता है। उस समय 'आत्मतत्त्व' के अण्ड में बना ऋतु का गहन, गम्भीर सन्धन सञ्च अपने मूल स्वरूप के ऋतु में विलीन हो जाता है। इस प्रकार जीवात्मा अपने को बाँधने वाले सभी पाशों से मुक्ता हो कर असद्वृत्ता में विलीन हो कर मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। उसके पश्चात् उस असद्वृत्ति के रक्षण से पुनः सद् बन कर सद्गति प्राप्त हो जाती है। जो तपस्वी धर्ममैथ्य समीध को सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें ही यह सद्गति प्राप्त होती है। जो तपस्वी केवल निर्बीज समीध ही सिद्ध कर पाते हैं, उन्हें आत्मतत्त्व से गुह्यता मिल कर असद्वृत्ति के ऋतु में विलय का मोक्ष ही प्राप्त होता है। मोक्ष के उपरान्त की सद्गति के प्राप्त नहीं कर पाते। उनका स्वर्ग के ऋतु में निवास रहता है।

इस प्रकार रुद्र के शिव स्वरूप को जान कर तपस्वी ब्रह्मजिज्ञासु सभी पाशों से मुक्ता हो जाता है। निर्बीज समीध, धर्ममैथ्य समीध के विषय में पातञ्जल योगशास्त्र देखें।

इसी कथन को ऋग्वेद में इस प्रकार कहा है—

तम आसीत्तमसा गुह्यमगोऽप्रकृतं सलिलं सर्वसा इदं ।
तुच्छयेनाभ्यर्षिहितं यदासीत्तपस्तन्महिना जायते कं ॥ (ऋग्वेद-10, 129, 3)

अर्थात् उस निर्गुण निराकार अव्यक्त सद-ब्रह्म में जब तक कोई भी संकल्प उदित नहीं हुआ था, तब पूर्ण रूप से गहन अन्धकार था। उस गहन अन्धकार से ठीके इस अनन्त गुह्य सद-ब्रह्म में 'अ' के संकल्प का प्रयत्न पूर्वक 'केतं' (अर्थात् अ के संकल्प का चिह्न) उदित हुआ। उस 'अ' (अर्थात् विष्णु) के अवतरण के उपरान्त 'सत्' से बने 'असत्' में ऋत की चारों सलिल बन कर बहने लगीं। उसी सलिल की चारों ओर से यह सारी विसृष्टि विविध रूपों को चारण करने वाली बन गई। इस विसृष्टि के एक सूक्ष्माति सूक्ष्म अवयव के केन्द्र में सब से पहले असत् के एक क्षर के केन्द्र में 'अ' का भुवन 'आभु' बना। उसी 'आभु' के केन्द्र की गुफा के हृदय में गूढ, गहन, गम्भीर अम्भ का 'पर' रूप चारण करके 'अ' का स्वरूप विराजमान है। वह 'आभु' ऋत की वनीं तुच्छ रचनाओं के आवरणों से ढका हुआ है। ये रचनाएँ तुच्छ इस लिये हैं कि इन को आवरण बना कर लपेटने की सारी शक्ति 'आभु' में विद्यमान 'रुद्र' के स्वरूप में निहित है। 'आभु' के सत्वजोद के ऊपर तपः लोका में बने भृगु तथा अंगिरा ऋषियों की तपस् के द्वारा वह रचना को एक इकाई अन्य जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः तथा सप्त पाताल लोकों के आवरणों को अपने ऊपर लपेटती हुई महान आकार को प्राप्त करके एक बड़े अर्धपिण्ड की इकाई के रूप में उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार एक 'अणु' (Atom) अथवा अणु के अवयव (Nucleon) के रजकण (धूलिके कण) के केन्द्र में स्थित 'आभु' के अन्दर 'आत्मतत्त्व' के अणु के ऊपर 'रुद्र' का आवरण इस प्रकार लिपटा हुआ होता है, जिस प्रकार कि धृत के ऊपर मण्ड का आवरण लिपटा होता है। रचना की इस एक इकाई के सारे स्वरूप को अपने अन्दर लपेटने वाले रुद्र के शिव रूप को जान कर ब्रह्म जिज्ञासु आत्मा को बाँधने वाले सभी पाशों से मुक्त हो जाता है।

सर्व देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

हृदा मनीषा मनसा भिक्त्वृत्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (17)

यह रुद्र देव (सृष्टि सृजन की प्रत्येक इकाई के अवयव को अपने अन्दर लपेटने वाला होने के कारण सारी सृष्टि का रचीयता) विश्वकर्मा है, तथा इस सारे विश्व की चेतन बनाने वाला इस विश्व की महान आत्मा है। वह भूदेव सृष्टि के प्रत्येक उत्पन्न होने वाले अवयव 'जन' के हृदय रूपी केन्द्र में सम्यक् प्रकार से पूर्ण रूप से बैठा हुआ है (और उसे चेतना प्रदान कर रहा है)। उस रुद्र देव का स्वरूप हृदय के द्वारा सुरक्षित है। (हृदय में उठने वाली चित्त की वृत्तियों के द्वारा ऋत का

अवरोध हो कर ऋत के अन्दर रुद्र की ऋत की पिण्डी बनती है, उस ऋत की पिण्डी में रुद्र का स्वरूप सुरक्षित रहता है। ऋत का हरण करके रुद्र की पिण्डी ऋत को अपने अन्दर अवरोध करती है, फिर उस ऋत को अपने तीन अक्षों द्वारा ईशानी ऋत की चाराओं के रूप में बाहर फैकती है। पुनः ऋत का हरण करती है और पुनः उसे बाहर फैकती है। इस प्रकार ऋत की तरंगें उत्पन्न करती हुई रुद्र की पिण्डी हृदय में इत् कर्गों की विद्युत की तरंगें उत्पन्न करती हुई उसे चड़कने की शक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के हृदय में रुद्र देव का स्वरूप सुरक्षित रहता है।

रुद्र देव का स्वरूप मन को शासित करने वाले देव, मन के ईश जो 'मनीष' कहलाते हैं, उनके द्वारा भी सुरक्षित रहता है। सद-ब्रह्म में सृष्टिसृजन की इच्छा का जब काम देव उदित हो गया तो सत् से असत् बन गया। असत् के अन्ध में सीलिल (चाशमे) बहने लगी तो ऋत बन गया। उस ऋत का अवरोधन कहीं पर हुआ तो वहाँ मन उत्पन्न हो गया। क्योंकि दूसरे अक्षाग्र के तीसरे मन्त्र में 'मन' की उत्पत्ति के विषय में पहले बता चुके हैं कि जहाँ ऋत की अग्नि का अभिमन्थन होता है, जहाँ ऋत की बहने वाली वायु का अधिरोधन (अवरोधन) होता है तथा जहाँ अधिरोधित ऋत की पिण्डी से ऋत की चाराओं के सौम का अतिरेचन होता है, वहाँ पर मन उत्पन्न हो जाता है। [अग्निर्गत्राभिर्मद्यते वायुर्गत्राधिरुद्यते। सौमो यत्रातिरिच्येत तत्र संजायते मनः] ऋत वायुविशेष के नियमों के अनुसार संक्रिया करता है। अतः ऋत में वायु का प्रक्षेपण है। रुद्र के शिर पर चन्द्रमा की प्रतिमा सौम का प्रतीक है। उस रुद्र की पिण्डी से ईशानी ऋत की चाराओं का अतिरेचन ही सौम का अतिरेचन है। उन्हीं ईशानी चाराओं में मन के संवल्प विवल्प उदित होते हैं। अतः 'मन' का निवास रुद्र की पिण्डी में रहता है। उस मन का ईश (स्वामी) भी स्वयं रुद्र है। अतः रुद्र ही 'मनीष' बन कर अपनी रक्षा अपने आप करता है। उसकी रक्षा करने वाला कोई दूसरा उससे अधिक महाच शक्ति वाला नहीं है। इस प्रकार रुद्र का स्वरूप उसके अपने मनीष स्वरूप द्वारा सुरक्षित रहता है। रुद्र ही मनीष होने के कारण अपने मन की इच्छानुसार सृष्टि के प्रत्येक अवयव का सृजन और संचालन करता है।

रुद्र का स्वरूप रुद्र में उत्पन्न होने वाले मन के द्वारा भी सुरक्षित रहता है। रुद्र में मन उत्पन्न होने के कारण ऋत का अधिरोधन ऋत की पिण्डी में निरन्तर बना रहता है। इस प्रकार उस मन के द्वारा रुद्र का स्वरूप सुरक्षित बना रहता है। रुद्र को भी अपने स्वरूप से मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन के बीज को तप करके तथा चर्मिमेव्य समीध में लीन रह कर समाप्त करना होता है। इसी कारण रुद्र की प्रतिमा को समीध में लीन तप करते हुए शान्त भाव में दिखाया जाता है। रुद्र भी 'सत्' - ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

इस प्रकार के रुद्र के स्वरूप को जो ब्रह्म के उपासक जिज्ञासु जान लेते हैं, वे अपने हृदय के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करते हुए निर्बीज समीध को सिद्ध करने के उपरान्त चर्मिमेव्य समीध को सिद्ध के द्वारा मनीष बन कर मन को पूर्ण रूप से समाप्त करके सद-ब्रह्म की सद-गीत को प्राप्त करके सद-ब्रह्म के अमृत स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं और अमर हो जाते हैं। क्योंकि मन का ही वह प्रथम काटने

वाला रेत होता है जो जीवात्मा को सद्-ब्रह्म परमात्मा से काट कर अलग करता है। ऋग्वेद का मन्त्र इस बात को इस प्रकार बतलाता है —

कामस्त दग्ने समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बंधुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीच्या कवयो मनीषा ॥ (ऋग्वेद-10, 129, 4)

अर्थात् सद्-ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप में सब से पहले जब कामदेव का उदय सृष्टि सृजन की इच्छा के रूप में हुआ तो वह सत् से असत् बन कर सम्पूर्ण सृष्टि की परम आत्मा बन कर 'परमात्मा' बन गया। उस परमात्मा में फिर मन का रेत जो सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ उसने उस परमात्मा में अलग-अलग रुद्र की ऋतु की पिण्डों बना कर उसे टुकड़ों में काट दिया। प्रत्येक टुकड़ा स्वयं जीवात्मा का स्वरूप बन गया। उस जीवात्मा के स्वरूप को सत् के बंधु असत् के स्वरूप में अपने हृदय में पूर्ण रूप से क्रान्त दृष्टा करि और मन को शासित करने वाले मनीषी ऋषियों ने पाया।

इस प्रकार यह रुद्र देव विद्वन्मूर्ति, महान् आत्मा है तथा सदैव से प्राणिमों के हृदय में पूर्ण रूप से बैठा हुआ है। वह ज्ञानाधिपति तथा हृदय स्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो उसको इस रूप में जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं। वे अपने ज्ञानमार्ग पर चलते हुए सद्-गति को प्राप्त हो कर सद्-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं और अमर हो जाते हैं।

यदा ऽ तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन्निव स्व कैवलः ।

तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ (18)

सर्व प्रथम जब निर्गुण निराकार ब्रह्म अपने अक्षर और अन्धवत् स्वरूप में रहता है तो उसमें किसी भी प्रकार के किसी संकल्प का उदय नहीं होता। उस समय पूर्ण रूप से अन्धकार होता है। परन्तु जब उसमें सृष्टि सृजन की इच्छा का कामदेव का संकल्प सब से प्रथम उत्पन्न हो जाता है, तो वह अन्धकार मिट जाता है और कामदेव के संकल्प के उदय का दिन प्रकट हो जाता है। उस समय उस कामदेव के संकल्प के उदय के दिन को विलीन करने वाली रात्रि भी विद्यमान नहीं होती। उस समय वह कामदेव के संकल्प के उदय का प्रथम दिवस भी नहीं रहता अपितु उस में मन उत्पन्न हो कर रुद्र का स्वरूप उत्पन्न हो जाता है और उसमें मन के द्वारा चारि अनेकों प्रकार के संकल्प उदित हो जाते हैं। वे संकल्प रुद्र की मन की इच्छा के अनुसार ऋतु में बनते और बिगड़ते रहते हैं। अतः उस समय ऐसी अवस्था होती है कि न तो सद् में संकल्प विहीन होने के कारण गहन अन्धकार होता है, न केवल दिन रहता है जो संकल्पों को उदित हो करता जोये, न केवल रात्रि ही रहती है जो उदित संकल्पों को विलीन ही करती जोये और गहन

अन्धकार ही उत्पन्न करती जाये। इस प्रकार उस समय न तो सत् का ही अँकला स्वरूप रहता है और न कैवल असत् का ही अँकला स्वरूप रहता है। परन्तु सृष्टि सृजन में तमस् वाले सद् का स्वरूप, दिवस् के प्रकाश वाले असत् के बने ऋत का स्वरूप जिसमें दिन, रात्रि दोनों विद्यमान रहते हैं, जिनके कारण उसमें जग्रे-नग्रे संकल्पों का उदय और उनका अस्त होता रहता है, ये सभी स्वरूप विद्यमान रहते हैं। इन सभी स्वरूपों को अपने अन्दर समाहित करके रखने वाला ऋत की पिण्डी का बना हुआ रुद्र का स्वरूप केवल 'शिव' ही सृष्टि का कल्याण करने वाला रूप विद्यमान रहता है।

परन्तु इन सब का मूल वह अक्षर सद्-ब्रह्म ही है। वह सदैव विद्यमान रहता है। उसमें जाना प्रकार के संकल्प उदित होने से उसमें से ही सवितृ देव की 'सव' शक्ति (सृष्टि में विभिन्न देवों का प्रसव कराने वाली तथा प्रोक्षण करने वाली सवन शक्ति) जो सभी देवों के द्वारा वरण करने योग्य है तथा प्रत्येक देव के अन्दर विद्यमान उसकी सनातन प्रज्ञा निवली है। सृष्टि के अन्दर प्रत्येक स्वरूप को द्योतित करने वाले देव के अन्दर उसकी क्रिया के प्रयत्न द्वारा अर्जित उसके ज्ञान की प्रज्ञा होती है। उस प्रज्ञा के संकल्प का उदय भी उस सद्-ब्रह्म के अन्दर ही होता है। अतः प्रत्येक देव के द्वारा अनादि काल से धारित उसके द्वारा अहम् के अर्जित ज्ञान की सनातन प्रज्ञा उस अक्षर सद्-ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर आती है। इस प्रकार उस 'शिव' के स्वरूप रुद्र के अन्दर भी उस सवितृ की वरण करने योग्य 'सव' शक्ति और वह सनातन पुराणी प्रज्ञा उस अक्षर सद्-ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर निवली कर आती है और रुद्र के शिव रूप में समाहित होती है। इस प्रकार सभी स्वरूपों को समाहित करके सृष्टि का सृजन करने वाला, सृष्टि का सञ्चालन करने वाला और सृष्टि का विसर्जन करने वाला केवल एक रुद्र का स्वरूप 'शिव' ही रहता है।

इस मन्त्र के भाव को ऋग्वेद में इस प्रकार बताया गया है—

नास॑दासी॒न्नो सदा॑सी॒न्त॒दानीं॑ नासी॒द्रजो॑ नो व्यो॒मा॒ प्रो॒ यत् ।

वि॒माव॑री॒वः कु॒हु क॒स्य श॒मिन्नं॑ भः॒ वि॒मासी॑द् ग॒हनं॑ ग॒भीरं॑ ॥ (ऋग्वेद-१०, १२९, १)

न मृ॒त्युरा॑सी॒दमृतं॑ न तर्हि॒ न रा॒ज्या अ॑हू॒ आसी॑त् प्र॒कृतः॑ ।

आनी॑द॒वातं॑ स्व॒ध्या तदे॒कम् तस्मा॑द्वा॒न्यन्न परः॑ किं च॒नास॑ ॥ (ऋग्वेद-१०, १२९, २)

अर्थ है— सृष्टि के सृजन काल में न तो अँकला सत् का स्वरूप था, न अँकला असत् का स्वरूप था, न अँकले रजकणों (चूलि के कणों) का स्वरूप विद्यमान था, न केवल एक व्योम का स्वरूप विद्यमान था जिसमें ऋत के सञ्च का 'पर' रूप विद्यमान था। ये सब अँकले-अँकले नहीं थे, अपितु सभी एक दूसरे से गुँथे हुए रूप में

विद्यमान थे। उस गुँथे हुए रूप में कौन किस को आवरण बना कर कबले हुए था? कौन किस की शरण में था? शुष्क रूप के सत् से आर्द्र रूप के असत् के अन्दर सलिल की ऋत की चाराओं के द्वारा बना ऋत का गहन, गम्भीर बना हुआ अम्भ क्या था? अर्थात् ऋत अपनी सलिल की चाराओं के द्वारा बहा कर एक बिन्दु पर लाया गया। उस एक बिन्दु के व्योम में ऋत के गहन, गम्भीर सञ्च के अम्भ द्वारा सृजन का 'पर' रूप बना।

उस समय न अकेली मृत्यु की सत्ता थी, जो सभी को मारती ही चली जाये और न अकेला अमृत का ही स्वरूप विद्यमान था जो सब को अमर ही बनाता चला जाये तथा उसे कभी मरने ही न दे। उस समय न अकेली रात्रि थी जो ऋत में उदित सभी संकल्पों को विलीन हो करती जाये और न अकेला संकल्पों को उदित करने वाला दिन के प्रकाश का चिन्ह विद्यमान था, जिसमें संकल्प केवल उदित ही होते चले जायें और कभी विलय को प्राप्त न हों। ये अकेले-अकेले विद्यमान नहीं थे, अपितु सारे के सारे एक इधित रूप में विद्यमान थे।

इस आर्द्र ऋत के अम्भ में सलिल की चाराओं के द्वारा ऋत अपनी स्वयं की स्वरूप की स्वप्ना के सहित बहा कर एक बिन्दु के व्योम में लाया गया और अचल रूप की अवात अवस्था में अच्युत बना कर स्थापित किया गया। वही एक बिन्दु के व्योम में बहा कर लाया गया ऋत का सञ्च गहन, गम्भीर बन कर 'पर' रूप (point of very high intensity) बन गया। उस से अन्यत् और कोई 'पर' का रूप नहीं था।

यह 'पर' रूप ही रुद्र का ऋत को अवरोधित करने रुद्र की ऋत की पिण्डों का स्वरूप बना। यही रुद्र का स्वरूप इस सृष्टि का कल्पाण करने वाला 'शिव' का स्वरूप बना। उसी से सवितृ देव की वरण करने गोत्र 'सव' शक्ति की ऋत की इशानी चारायें बनी। उसी से सभी देवों में सनातन प्रज्ञा उत्पन्न हुई। ये सारे स्वरूप उस ऋत के एक बिन्दु पर बने सञ्च की ऋत की पिण्डों के रुद्र में समाहित हो गये। यही ऋत का सञ्च सृष्टि के भाव वृत्त को चलाने वाला है, अर्थात् सृष्टि का सृजन, स्थापना और विसर्जन करने वाला है।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजगामत् ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ (19)

(महः लोक में ऋत में संकल्प उदित होकर) जिस महद्यशः के स्वरूप की रचना होती है, उस की कोई प्रतिमा नहीं बनती है। वह न तो ऊपर की गति मान रहता है, न वह तिरछा गतिमान रहता है और न वह मध्य में किसी संकल्प द्वारा परिपूर्ण रूप से ग्रहण किया जाता है। वह ऋत 'महत्-तत्त्व' के रूप में ही सीधा जनः लोक के ब्रह्मा के चार मुखों से निकल कर पाँच जिह्वाओं की भाँति बट कर स्वः लोक में पहुँच जाता है। इसी 'महत्-तत्त्व' के द्वारा जनः लोक में विराजमान ब्रह्मा जी इस विविध रूपों वाली विसृष्टि का सृजन करते हैं। अतः सारी

सृष्टि में विभिन्न प्रकार के स्वरूपों को द्योतित करने वाले देवों में इस महत्-तत्त्व का महान यश फैला हुआ है। इसी कारण सृष्टि सृजन के अन्तर विद्यमान त्रिधात्मक महत्-तत्त्व का नाम 'महद्यशः' रखा गया है। इस महद्यशः को कोई विशेष प्रतिमा नहीं बताई गई है, इसका कारण यह है कि ऋत के इस महत्-तत्त्व के द्वारा ही सभी देवताओं की प्रतिमाएँ बनती हैं। अतः सभी देवों की प्रतिमा में विद्यमान मूलतत्त्व को अपनी कोई प्रतिमा नहीं हो सकती। उसको तो सभी प्रतिमाएँ उसकी अपनी प्रतिमाएँ हैं। अतः किस प्रतिमा को महत्-तत्त्व की प्रतिमा कहा जाये ? इस कारण इस महान यश वाले महद्यशः के महत्-तत्त्व की कोई भी अपनी प्रतिमा नहीं है। सभी प्रतिमाएँ अन्य देवों की हैं।

सत्यलोक, तपःलोक, जनःलोक को वीर्यत संकल्पों की रचना की एक इकाई से एक 'अर्णु' का स्वरूप बनता है। यह पीछे प्रथम अध्याय में पृष्ठ (13) पर बता चुके हैं। इन तीन लोकों के ऊपर जो चौथा आवरण बनता है, उसमें महत्-तत्त्व में कोई भी संकल्प उचित नहीं होता। अतः उस महत्-तत्त्व के चौथे आवरण के महःलोक में रात्रि का उत्पन्न होना बताया गया है। आवश्यक होने के कारण उस मन्त्र को यहाँ पुनरावृत्ति कर देते हैं—

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीच्छात् तपसोऽध्यजायत ।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥

अर्थात् ऋतुको और चारों ओर से एक बिन्दु पर इकट्ठे होकर ऋतु के संचयने से सत्यलोक, तो

आधार बना कर उस के ऊपर तपःलोक तपसुको (अंगिरा, भृगु के रूप में) उत्पन्न करने वाला बना। उसके पश्चात् रात्रि बनी फिर अर्णव समुद्र बना।

[परन्तु साध में ऋग्वेद में, "तपसस्तन्मीहजायते कम्" (ऋग्वेद -

10, 129, 4) कह कर यह भी बता दिया गया है कि तपःलोक के तपसु द्वारा वह एक और आवरण ओढ़ कर एक महान इकाई के रूप में उत्पन्न हो जाता है। अतः इस तपःलोक की तपसु का प्रभाव जनःलोक में भी रहता है और महःलोक के महत्-तत्त्व में जा कर इस तपसु के संकल्प का विलय हो कर रात्रि उत्पन्न होती है।]

इस रात्रि के उत्पन्न होने से सत्यलोक, तपःलोक तथा जनःलोक उस महःलोक की रात्रि द्वारा एक पृथक् इकाई की रचना में लब्ध होते हैं। इसी एक इकाई की रचना का नाम 'अर्णु' है। इस प्रकार के अनेकों अर्णव बनने से एक अर्णव समुद्र उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार महःलोक के महत्-तत्त्व के महद्यशः में रात्रि का समावेश होने के कारण उसकी कोई प्रतिमा नहीं बनती। हाँ जनःलोक के ब्रह्मा के एक मुख में से निकलते समय इस महत्-तत्त्व की चारों पाँच भागों में बँट जाती है। प्रत्येक चोरा को ब्रह्मा की

सब जि ह्वा ब्रह्मा जाता है। महत्-तत्त्व की इन पाँच चाराओं की पंचांगियों के नाम व्यास ऋषि ने (१) कुमुद, (२) ऋभु, (३) प्रतर्दन, (४) अञ्जनाम्, (५) प्रीतिताम्, बताये हैं। इन पाँच चाराओं में ब्रह्मा हुआ महत्-तत्त्व का मृत अपनी स्वभा के साथ सीधा स्वः लोक में पहुँचा जाता है, और वहाँ पर सब से पहले, सहस्रगोपी पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " वाले पुरुष की रचना करता है।

इस महत्-तत्त्व का जो स्वरूप महः लोक में विद्यमान होता है, वही स्वरूप सप्तलोक की रचना होने से पूर्व की स्थिति में इस परम योग में भरा होता है। अतः सभी देवों, सभी लोकों की रचना करने वाले गुल-तत्त्व के रूप में होने के कारण इस महत्-तत्त्व का महान यश है। अतः यह महद्यशः " नाम वाला है। इसी कारण इसकी ऊर्ध्व दिशा में, तिर्थक्ष (तिरछी) दिशा में, सभी ओर गति बताई गई है। तिर्थक्ष दिशा में चलने के कारण ही तो पुरुष के एक क्षीर्ष के अक्ष से छट कर सहस्र पाद बनते हैं। गतिमान होने के कारण ही इसे किसी भी आग्राम के मध्य में पकड़ा नहीं जा सकता। अतः वह इसकी पकड़ने का प्रयास करेगा, तुरन्त यह उस पकड़ने वाले क्षेत्र के मध्य से निकल कर दूसरे क्षेत्र में पहुँच जाता है। अतः यह किसी भी क्षेत्र के मध्य में पकड़ा नहीं जा सकता।

" नैनमूर्च्छिता ता तिर्थिग्य " का अर्थ- "न ऊर्ध्व दिशा में सीधी और न तिरछी दिशा में टेढ़ी गति वाला - बनता है। जब सीधी टेढ़ी गति नहीं करता तो फिर किसी गति करता है? इससे अर्थ निकलता है कि यह कैपल के सीधी दिशा में ही गति नहीं करता, अपितु सर्वव्यापी होने के कारण सभी ओर सभी प्रकार की गतियाँ करता है। सभी ओर सभी प्रकार की गतियाँ करने के कारण ही इसकी किसी एक प्रकार की कोई एक विशेष प्रतिभा नहीं बन पाती। अपितु यह सारी प्रतिभाएँ बनाता है। अतः वह विश्वकर्मा बन जाता है।

न संदृशे विच्छति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम ।

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुर्मृतास्तौ भवान्त ॥ (२०)

इस महत्-तत्त्व के महद्यशः नाम वाले रूप की देव आकृति का स्वरूप किसी भी देवता के रूप के समान नहीं बैठता। इसकी कोई अपनी आँखों के द्वारा भी नहीं देख सकता। जो ब्रह्मा जिब्रासु अपने हृदय में स्थित इस महत्-तत्त्व के महद्यशः को अपने हृदय की चेतना और मन की गति के स्वरूप द्वारा इस प्रकार का जान लेता है, ऐसे सभी जिब्रासु अमर हो जाते हैं। हृदय और मन के द्वारा ही इस महत्-तत्त्व के स्वरूप को जाना जा सकता है।

सभी देवताओं की प्रतिमा का मूल तत्त्व यह महत्-तत्त्व है / अतः किसी भी देवता की प्रतिमा के रूप के समान इस महत्-तत्त्व का रक्षा नहीं बैठता /

आँखों की तथा आँखों की उम्र की रचना करने वाला मूल तत्त्व भी वही महत्-तत्त्व है / अतः किसी की भी आँख, उसे उम्र प्रदान करने वाले, उस महत्-तत्त्व को नहीं देख पाती / वह महत्-तत्त्व उस उम्र से भी अत्यधिक सूक्ष्म है / उसे तो केवल हृदय के द्वारा और मन के द्वारा जाना जा सकता है / वह हृदय में बैठा हुआ हृदय को चेतना प्रदान करता हुआ विभिन्न प्रकार की चित्त की वृत्तियों उत्पन्न करता है / मन के अन्दर विद्यमान हो कर वह मन को तीव्र गति प्रदान करता है /

इस प्रकार हृदय में इस महत्-तत्त्व के स्वरूप को जान कर मुमुक्षु चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध करते हुए मन को पूर्ण रूप से मार देते हैं / इस प्रकार वे अपनी आत्मा को बाँधने वाले सभी बन्धनों से मुक्त हो कर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और सद्-गति को प्राप्त करके सद्-ब्रह्म में विलीन होते हुए सदा के लिए अमर हो जाते हैं /

इसी महत्-तत्त्व के एक पिण्ड में अवरोद्ध होने पर तथा उस पिण्ड के रुद्धों में से उस अवरोधित महत्-तत्त्व की चारा प्रस्फुटित होने से उस मर्हिष महात्मा रुद्र के स्वरूप की प्रतिमा एक पिण्ड के रूप में बनती है /

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।

रुद्र यच्च दीक्षणां मुखं तेज सां पाहि नित्यम् ॥ (३१)

हे रुद्र! तू अजन्मा हो, ऐसा समझ कर कोई भयभीत व्यक्ति उसी हुआ अपनी शरण में आता है / आपका जो दीक्षणा मुख है, उसके द्वारा मेरी रक्षा करो /

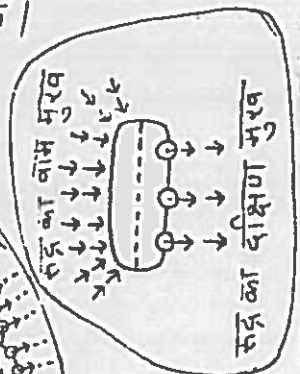
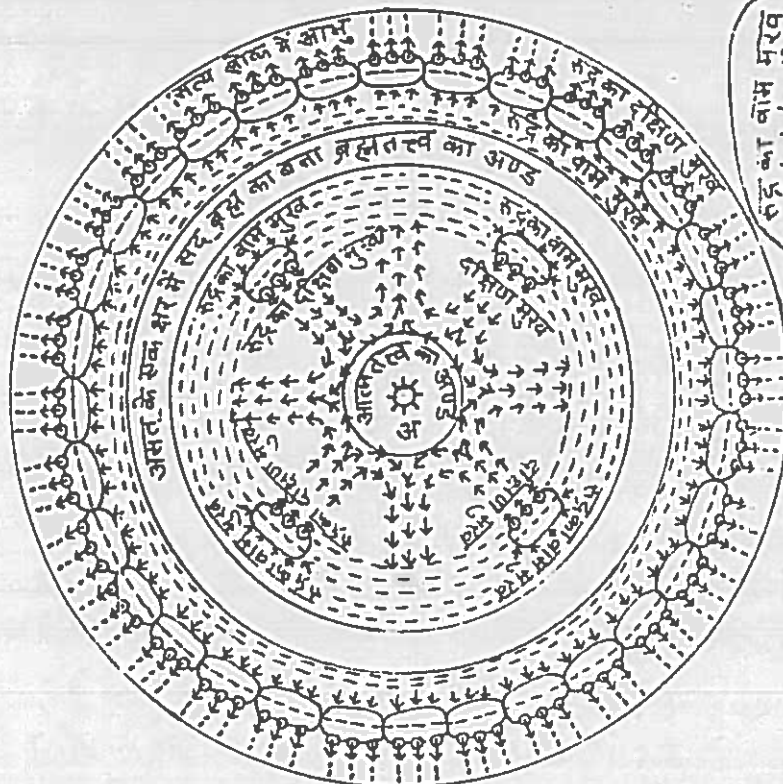
ब्रह्म विद्या का अध्ययन करने वाले कुछ भीरु पुरुष महत्-तत्त्व के स्वरूप की गहराई तक भी नहीं जा पाते, जिससे कि रुद्र की ऋत की पिण्ड का स्वरूप बनता है / वे रुद्र को ही जन्म रहित मान लेते हैं / वे समझ लेते हैं कि रुद्र ही सब का मूल तत्त्व है और रुद्र का मूल तत्त्व आगे कुछ नहीं है / वे रुद्र से आगे के मूल तत्त्व की गहराई में जाने से डरते हैं / अतः वे यहाँ इस मन्त्र में गिर कर गीरे गीरे हैं /

हे रुद्र जो अपनी ऋत की ईशानी चाराओं के द्वारा हमें ऋत के तेज की दीक्षणा प्रदान करके हमारी आत्मा को चेतना का ज्योतिष प्रदान करने वाले आपका दीक्षणा मुख है, उसके द्वारा हमारी रक्षा करो / हमें उस मुख के अन्दर से निकलने वाले ऋत की चारा के तेज से दीक्षीमान बना कर बलवान बनाओ और हमारी रक्षा करो /

आम्रु की रचना में पृष्ठ (417) पर बने चित्र में देखें / रुद्र की ऋत की पिण्ड के एक ओर के दीक्षणा मुख में से तीन अक्षों में से ऋत की ईशानी चारा में बाहर की ओर प्रस्फुटित हो कर बह कर चलने लगती है / तथा आगे जा कर देवी का सृजन, पोषण करती हुई

उनकी रक्षा करती है। मुमुक्षु साधक उसी मुख के द्वारा ऋत की ऊर्जा का पोषण मँगता हुआ अपनी रक्षा के लिए रुद्र से प्रार्थना करता है।

रुद्र का दूसरा बायाँ और का बायाँ मुख 'महत्-तत्त्व' के ऋत को अपने अन्तर अभिशोषित कर के उसे अपने उदर में अवसृष्ट करता है। वह मुख ऋत को अभिशोषित करने वाला है। ऋत को अभिशोषित करके वह प्रत्येक देव के आत्मतत्त्व के अण्ड के ऋत को अभिशोषित करने की सामर्थ्य रखता है। अतः जब यह रुद्र का स्वरूप ताण्डवनर्तन करता हुआ उलट-पुलट होता है तो उसका बायाँ मुख देवों के आत्मतत्त्व के अण्ड के सम्मुख आकर उनके ऋत को अभिशोषित करने लग जाता है। इससे इन देवों की मृत्यु होने लग जाती है और महाविनाश होने लग जाता है। यदि उपासक भी उस रुद्र के बायाँ मुख के सम्मुख आजाये तो उसका और उसके परिवार का भी सर्वनाश हो जाता है। इस लिए रुद्र का उपासक उस बायाँ मुख से उसे बचाने के लिए और दायाँ मुख से उसे ऋत की ऊर्जा की दीक्षणा प्रदान कर के उसकी रक्षा करने के लिए प्रार्थना करता है। हो सकता है, महाभारत में वर्णित अर्जुनद्वारा प्राप्त दिव्यास्त्र 'पाशुपात' नाम का 'रुद्र' का शस्त्र कोई इसी प्रकार का शस्त्र हो जो रुद्र के बायाँ मुख के शत्रु के सम्मुख लाने की क्षमता रखता हो और महाविनाश प्रकट कर देता हो। नीचे रुद्र की ऋत की पिण्डों के स्वरूप में इन बायाँ, दायाँ मुखों की चित्र की सहायता से समझें।



अब नीचे अगले मन्त्र में रुद्र के वाम मुख युक्त स्वरूप की स्तुति की जा रही है। इस ऊपर के चित्र द्वारा ही नीचे के मन्त्र का अर्थ समझें।

मा नस्तौके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।

वीरान्मा नो रुद्र भूमितो वधीर्ह विष्मन्तः स दमित्वा हवागहे ॥ (22)

हे रुद्र ! आप क्रोधित हो कर (वाम मुख द्वारा ऋत को अभिशोषित कर के)

हमारे पुत्रों, पौत्रों की, हमारी आशु की, हमारी गौओं की और अश्वों की क्षीति मत करना तथा हमारे वीरों का वध मत करना। हम सत्, असत् (अ' = विष्णु) तथा इत् (ऋत की तरंग की धारा) की हवि से युक्त हो कर यज्ञ में आपका आह्वान करें।

अर्थात् वाम मुख से युक्त रुद्र अपने ऋत की पिण्ड में ऋत के अन्दर विद्यमान सत् के अंश को जो असत् में सत् का बन्धु होता है, उसको तथा ऋत में सञ्च के बने स्वरूप के अन्दर विद्यमान विष्णु के स्वरूप 'अ' को तथा *Electron* में चलने वाली ऋत की तरंग 'इत्' को खाता है। अतः इन्हें यज्ञ की हवि बना कर उस हवि से युक्त होकर हम वाम मुख से युक्त उस रुद्र का यज्ञ में आह्वान करके उसकी स्तुति करें। हे रुद्र! आप सत् के बन्धु असत् के ऋत से, ऋत के सञ्च से बने 'पर' रूप 'अ' से, ऋत की तरंगों के स्वरूप 'अ' से भागित होते हुए - उनके भास्वरा स्वरूप की अपने ऋत की पिण्ड के उदर में समाहित करते हुए उनकी आभा से युक्त होते हुए हमारे पुत्रों को तथा पौत्रों को मत मारना। हमारी आशु की क्षीति मत करना। हमारी गौओं और हमारे अश्वों की क्षीति मत करना। हमारे वीरों का वध मत करना।

यहाँ इस मन्त्र से स्रग्जा लगता है जैसे कि पाण्डित शस्त्र जो रुद्र का महाविनाशकारी शस्त्र है, उसे रोकने का उपाय बताया गया हो। रुद्र को यदि भक्षण के लिये ये तीनों वस्तुएँ (1) सत् से असत् बन कर बना हुआ ऋत (2) ऋत का सञ्चनित सञ्च, (3) ऋत में चलने वाली तरंगें जिन्हें 'इत्' कहा जाता है, उपलब्ध हो जाएँ तो रुद्र इन्हें खा कर तृप्त और शान्त हो जाते हैं और फिर किसी का वध नहीं करते [तान्त्रिक विद्या इसी प्रकार चलती है] - इन में ऋत सर्वत्र विद्यमान है। ऋत के अन्दर द्यौ में सर्वत्र ऋत की तरंगें 'इत्' भी चलती रहती हैं। ऋत का सञ्च प्रत्यक्ष अर्धपिण्ड में विद्यमान होता है। इस ऋत के सञ्च को रुद्र को वापिस देने में ही महाविनाश प्रस्तुत हो जाता है और सभी प्राणिनों की मृत्यु तैयार हो जाती है। उसी मृत्यु से बचने के लिए साध्य यहाँ रुद्र की स्तुति करता हुआ जान पड़ता है।

इस ऋत के सञ्च के कारण ही किसी अर्धपिण्ड में ऋत की तरंगों की धारा की आभास्वरा, महाभास्वरा अथवा सत्यमहाभास्वरा स्थिति उत्पन्न होती है, जिससे भागित हो कर वह अर्धपिण्ड या तो जड़ पदार्थ का सूक्ष्म योग (*molecule*) बनता है, या बनस्पति जगत का कोषाणु बनता है अथवा प्राणी वर्ग का कोषाणु (*cell*) बनता है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि आभास्वरा ऋत की तरंगों से भागित अर्धपिण्ड जड़ बनता है, महाभास्वरा से भागित बनस्पति का कोषाणु (*cell*) बनता है और सत्यमहाभास्वरा से भागित प्राणी का कोषाणु बनता है।

ऋत की सत्प्राप्ति के स्वरित होने के इन स्तरों की सुरक्षा में ही सारी सृष्टि नियंत्रित होकर सुरक्षित रहती है। यह तभी होता है जब सृजित होने वाले देवों को इस विसृष्टि के अन्दर रुद्र के दीक्षण मुख की प्रक्षेपण शक्ति के द्वारा ऋत को तरंगों की धारा की लकीरों और धारा में वह धार और धारा वाला अपनी स्वधा के सीहत ऋत निरन्तर रूप से प्राप्त होता रहे। यदि दीक्षण मुख के स्थान पर वाममुख उन देवों के सम्मुख किसी कारण से आ जाता है तो वह वाम मुख ऋत की धारा के प्रक्षेपण के स्थान पर उल्टा ऋत को अभिधीषित करने लग जाता है। जिससे कारण उन देवों को ऋत की धारा प्राप्त होने के स्थान पर उनसे उल्टा ऋत बाहर निकलने लग जाता है। रुद्र उनके ऋत को अभिधीषित करने लग जाता है। परिणाम स्वरूप उस रुद्र के व्योम में विद्यमान प्रत्येक रजः (धूलि का ढण) विसर्जित हो कर अर्वाक्ष देवों [ऋत की धाराओं के होने अर्वा अर्थात् अश्व तथा 'क्ष' ढण इन्द्र] के रूप में बदलने लग जाता है। [“अर्वादेवा अस्य विसर्जनेन” (ऋग्वेद-10, 129, 6)] इस विसर्जन से ही सृष्टि में महाविनाश उत्पन्न हो जाता है। यही पाशुपत शस्त्र की मार होती है, जिससे कोई भी नहीं बच पाता। इस भयानक दृश्य से ही बचाने के लिए रुद्र का उपासक इरा मन्त्र में रुद्र से उपासना करता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

॥ ॐ नमो शम्भवाय च भगवताय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

“ श्वेताश्वतरोपनिषद् ”

॥ पञ्चमो ऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

पिछले अध्याय में वर्णित रुद्र के दक्षिण मुख और वाम मुख के कारण सृष्टि के सञ्चरण की प्रक्रिया दो भागों में बँट जाती है। वाम मुख तो सत् से असत् बने हुए उस असत् के क्षरों के मृत को अभिशोषित कर के रुद्र की पिण्डी में मृत का गहन, गम्भीर अस्म बना कर सञ्च बनाता है। अतः यह सारा कार्य उस अमृत स्वरूप सत् का होता है। अमृत स्वरूप सत् के इस विशेष कार्य की विशेष द्युति को 'विद्या' कहा जाता है। दूसरा कार्य दक्षिण मुख का होता है। दक्षिण मुख रुद्र को मृत को पिण्डी में सञ्चित मृत के सञ्च को अपने तीन अक्षों के द्वारा मृत की चारा के रूप में उस उस मृत को पिण्डी से बाहर धीरे में फेंक देता है। इन्हीं मृत की चाराओं को रुद्र को 'ईशानी' कहा जाता है। इन ईशानी मृत की चाराओं के जाल से ही जालबान बन कर रुद्र सारी सृष्टि का सृजन, शासन करता है। इन्हीं ईशानी मृत की चाराओं से 'सहस्र शीघी पुरुषः' की रचना हो जाती है। वही दशांगुल पुरुष दशमी लक्ष अर्शों का सृजन करता हुआ रजःवर्ण की रचना 'क' वर्ण के रूप में कर देता है। इन्हीं 'क' वर्णों से सारे देवों की प्रतिमाएँ बन कर इस चराचर जगत की सृष्टि हो जाती है। 'आभु' के अन्दर से 'अ' (= विष्णु) का स्वरूप ही अपने रेत के रूप में रुद्र को इन ईशानी चाराओं को प्रत्यावर्तित करके आभु से बाहर फेंकता है। उसी से 'आभु' के बाहर 'पुरुष' की संरचना होती है। उस पुरुष की संरचना में उस विष्णु के रेत की रीढ़मय सप्तपरावृत (seven hypercircles) बनाती हुई भृगु, अंगिरा का स्वरूप बनाती हुई तपस् को उत्पन्न करती है। उसी तपस् के मृत से तपस् को ऊर्जा द्वारा अन्य देवों के संकल्प की रचना करता हुआ वह उस आभु के ऊपर नये-नये आवरण चढ़ा देता है। इस प्रकार यह विष्णु का रेत तपस् के द्वारा 'आभु' के ऊपर सृजन के आवरण, लोको के और लोकों में स्थित देव निवासों के भुवनों के रूप में चढ़ाता हुआ आभु के पिण्ड की रचना का महान रूप उत्पन्न कर देता है। [तपसस्तन्महिना जायते अम् - (ऋग्वेद-10, 129, 4)] इस प्रकार यह विष्णु अर्थात् 'अ' के द्वारा सृष्टि के विविध रूपों की विशेष द्युति को प्रकट करने वाली 'अ' की विद्या अर्थात् 'अविद्या' होती है। यह सारी अविद्या असत् के क्षर रूपों से बनी मृत की विद्या ही होती है। अतः 'क्षर' रूप का ही यह 'अविद्या' का स्वरूप माना जाता है। अविद्या के रूप में सारी स्थूल सृष्टि की विशेष द्युति का स्वरूप आ जाता है, जब कि विद्या के रूप में अक्षर, अमृत सत् के स्वरूप द्वारा सृजन के विशेष रूपों की विशेष द्युति ही आती है।

‘अजः’ और ‘अश्वः’ के इस अर्थ को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने और इनकी बलि के प्रश्न की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए तथा सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में इस रहस्य को खोलने के लिए विज्ञान के आधार पर मन्त्रों की सचित्र व्याख्या करते हुए ऋग्वेद के इन प्रथम मण्डल के सूक्तों, (162, 163, 164) का तथा (1, 145) सूक्तों का और दसवें मण्डल के (129) वें सूक्त का सरल हिन्दी में भाष्य लिख दिया गया है। कोई भी पाठक इन्हें पढ़ कर इन रहस्यों को समझ सक्ता है। इस भाष्य में कहीं भी थोड़े पशु का अथवा बकरे पशु का वध नहीं बताया गया है। विज्ञान के गहनतम रहस्य को छिपाने के लिए तथा उस अर्थ को प्रतीमा के माध्यम से बताने के लिए ग्रह ऐसा किया गया है, जिससे कि साधारण जन को उनमें पशु वध ही दिखाई देता है। जिस प्रकार आज भी उच्चतम कोटि के आणीविक विज्ञान को साधारण जन से छिपा कर एक ऐसी सुरक्षित विधि से रखने का प्रयास किया जा रहा है कि वह विज्ञान साधारण जन के पास पहुँच भी न सके और विशेष — विद्वानों के पास सुरक्षित भी रह सके, ऐसा एक सुनिश्चित आवरण बन सके, उसी प्रकार का ग्रह आवरण ऋग्वेद के इन ब्रह्मविद्या के उच्चतम ज्ञान में बनाया हुआ है। जो इस आवरण को हटा कर सत्यज्ञान की विज्ञान के आधार पर खोज करता है, उसे ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। सत्य ज्ञान प्राणिमों के दूर करने के लिए सत्यं, शिवं, सुन्दरं के आधार पर कार्य करने का मार्ग प्रशस्त करता है, प्राणिमों की हत्या का नहीं। यजुर्वेद के ईक्षोपनिषद् में इसी कारण कहा है कि —

असूर्या नाम ते लोका अन्येन तमसावृताः ।

तौस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (ईशो. 3.)

अर्थात् सूर्य के प्रकाशरहित असूर्यनाम वाले गहन अन्धकार से ढके हुए वे लोक हैं, जिनको मरने के उपरान्त वे लोग जाते हैं जो जीवात्मा का हनन करने वाले हैं। वह जीवात्मा चाहे अपनी आत्मा हो अथवा दूसरे जीव की आत्मा हो। यहाँ साधारण रूप से आत्मा का हनन करनेवालोंको “आत्महनः जनाः” कहा गया है। वह अपनी ही आत्मा का हनन करने वाला हो — ऐसा कहीं बन्धन वाला शब्द नहीं कहा है। आत्मा किसी भी प्राणी की हो, उसकी आत्मा को उसके शरीर से अलग करने वाला जन ही ‘आत्महनः’ कहलाता है। अतः ‘आत्महनः’ का अर्थ ‘जीव का हत्यारा’ ही स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। असूर्या नाम के लोक असुरों वाले नरक लोक ही हैं, और कुछ नहीं हैं।

अब मन्त्रा देखें -

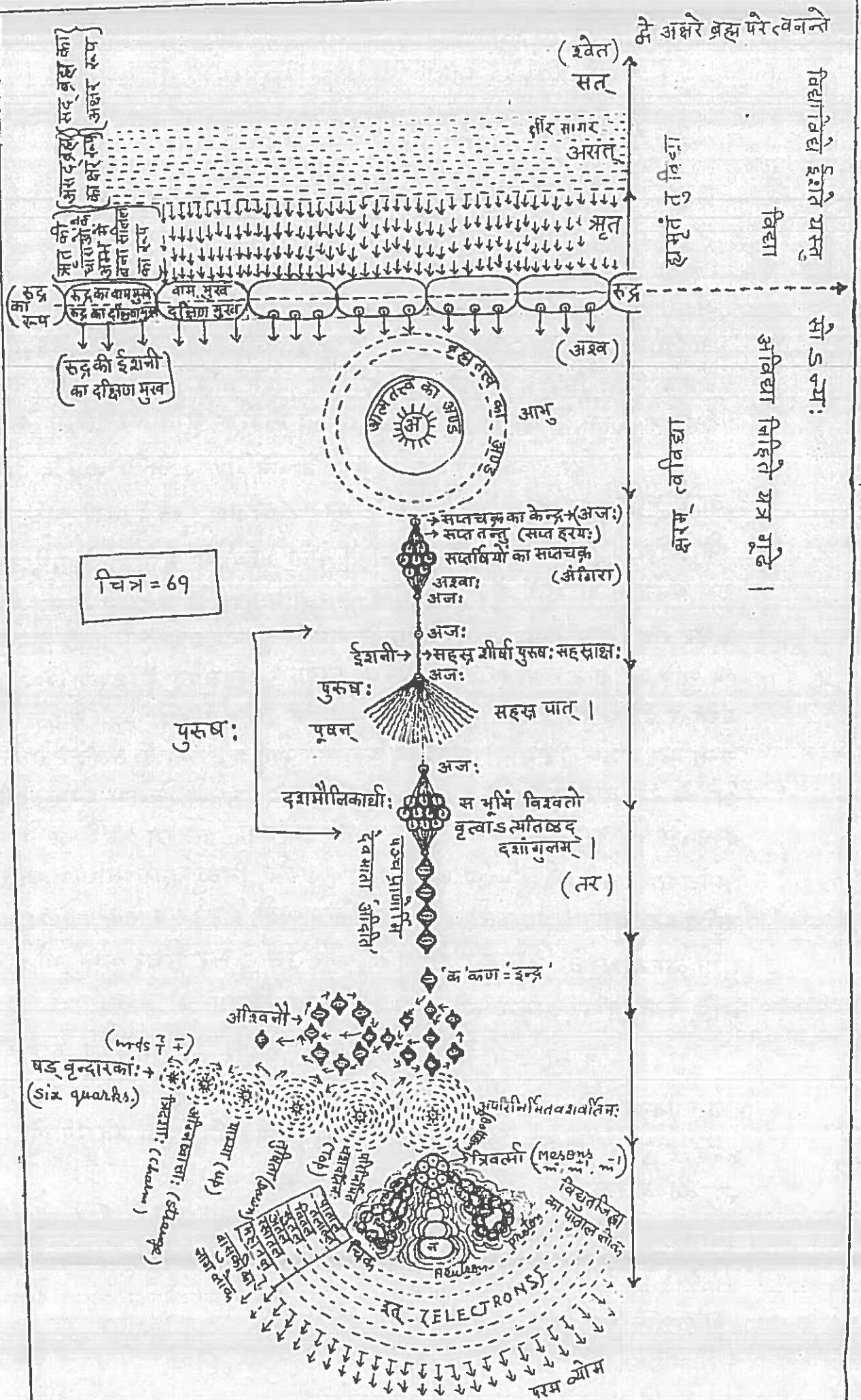
ॐ अक्षरं ब्रह्म परं त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशाने यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

अविनाशी अक्षर सद्-ब्रह्म के गूढ़ 'पर' रूप में जहाँ पर दो स्वरूप 'क्षर' और 'अमृत-अक्षर' स्वरूप विद्यमान हैं, वहाँ पर क्षर रूप के द्वारा द्योतित विभिन्न स्वरूपों के देवों के विशेष स्वरूप की द्युति को तो 'अविद्या' कहा जाता है और जो अमृत-अक्षर सद्-ब्रह्म है, वह असत् बन कर जो विशेष स्वरूपों को द्योतित करने वाले अपने अंश के स्वरूपों को द्योतित करता है, उनकी विशेष प्रकार की विशेष द्युति को 'विद्या' कहा जाता है।

इस प्रकार उस अक्षर ब्रह्म के बने 'पर' रूपों में रुद्र के दो मुखों, बायें मुख (वाम मुख) और दायें मुख (दीक्षण मुख) द्वारा सृष्टि सृजन की प्रक्रिया के दो भाग हो जाते हैं। दोनों भागों में सृजन की प्रक्रिया 'पर' रूप बनने से ही होती है। वाम मुख और वाम मुख से पूर्व की सृजन की प्रक्रिया अक्षर सद्-ब्रह्म तत्त्व को तो विद्या के नाम से जानी जाती है। उसकी विशेष स्वरूपों की द्युति का ज्ञान कराने वाली प्रक्रिया-विद्या - कहलाती है। दूसरा जो दीक्षण मुख है वह अपने द्वारा ऋत के प्रक्षेपण की दीक्षणा द्वारा ऋत में 'पर' रूप बना कर जिन विविध प्रकार के देवों का सृजन करता है, वे सारे देवों के स्वरूप 'अ' के रेत द्वारा बने होते हैं। अतः वह 'अ' के रेत को विशेष द्युति होती है। इस 'अ' की द्युति का ज्ञान कराने वाली प्रक्रिया 'अविद्या' कही जाती है। 'अविद्या' का अर्थ है - 'अ' की विद्या। अर्थात् विष्णु द्वारा सृजित इस सारी सृष्टि की विद्या। यह सारी सृष्टि नष्ट होने वाली 'क्षर' रूप में है। अतः 'क्षर' की द्युति का बोध तो 'अविद्या' हो गया, और उस अक्षर तथा सभी भी न मरने वाले सद् ब्रह्म, 'अमृत' की द्युति का बोध 'विद्या' हो गया।

परन्तु इस विद्या के स्वरूप और इस अविद्या के स्वरूप को अर्थात् विद्या और अविद्या इन दोनों के स्वरूप को शासित करने वाला वह अन्य रुद्र का स्वरूप ही है। रुद्र का वाम मुख - 'विद्या' के स्वरूप को तथा रुद्र का दीक्षण मुख - 'अविद्या' के स्वरूप को शासित करता है। दोनों के अन्तर विभाजन को रेखा रुद्र के वाममुख और दीक्षण मुखों द्वारा ही बनती है। नीचे का चित्र देखें - (अगले पृष्ठ पर) इसी कारण रुद्र को इस सृष्टि का सब से बड़ा नाटककार - "नटराज" कहा जाता है।



इस मन्त्र में, "हे अक्षर ब्रह्म परे तु अनन्ते" - के प्रत्येक शब्द का विशेष अर्थ निम्नलिखित है। "हे अक्षर" शब्दों में अक्षर ब्रह्म के दो रूप बताये गये हैं। एक तो समीष्ट रूप के अनन्त सीमा तब व्याप्त सद् ब्रह्म का रूप है जो परम व्योम में अक्षर रूप में स्थित है। दूसरा परम व्योम के अन्दर स्थित एक सीमित आश्रम के व्योम में स्थित असत् ब्रह्म के एक क्षर के अन्दर सत् का वह अक्षर रूप है जो उस असत् में सत् का अंश अर्थात् सत् का बन्धु बन कर विद्यमान है। एक का रूप समीष्ट है, दूसरे का रूप व्यष्टि है। दोनों अक्षर सद् ब्रह्म के रूप हैं। एक समीष्ट वाला परम व्योम में ब्रह्म का सद् अक्षर रूप है, तो दूसरा व्यष्टि के व्योम में ब्रह्म के अक्षर रूप का 'पर' रूप है। एक परम रूप है तो दूसरा पर रूप है। समीष्ट की व्याप्ति भी अनन्त में है और उस अनन्त में ही व्यष्टि के समस्त रूप विद्यमान हैं। अतः दोनों उस अनन्त परम व्योम में ही स्थित हैं। अक्षर सत् भी परम व्योम में स्थित है और क्षर असत् भी परम व्योम में स्थित है।

इस 'पर' रूप को ऋग्वेद में निम्न मन्त्र में बताया है -

"आनीदवातं स्वधया तदेकम् तस्माच्छ्रान्यन्न परः किं च नारा" (ऋग्वेद-10, 129, 2)

अर्थात् ऋत का गहन, गम्भीर अम्भ ऋत की चारों ओर के द्वारा अपनी स्वधा के सहित एक अचल बिन्दु पर लाया गया। उस एक बिन्दु पर ऋत का बना हुआ अचल सञ्च ही 'पर' रूप है। उससे अन्यत् कुछ भी 'पर' रूप नहीं है।

इस 'पर' रूप के बनने से ही असत् के क्षर उस अक्षर सत् से बनते हैं। इस 'पर' रूप से ही आद्रि रूप का ऋत बनता है। इस 'पर' रूप से ही ऋत के द्वारा आत्मतत्त्व का अण्ड बनता है। इस 'पर' रूप से ही 'अ' (=विष्णु) का रूप बनता है। इस पर रूप से ही रुद्र का रूप बनता है। इस पर रूप से ही रुद्र की इक्ष्वाणी ऋत की चारों ओर बनती है। इस 'पर' रूप से ही विष्णु का रेत बनता है। इस 'पर' रूप से ही 'पुरुष' बनता है। इस 'पर' रूप से ही नीलिष् अर्ध बन कर प्रत्येक अर्ध पिण्ड का रूप बनता है। अर्थात् सृष्टि में प्रत्येक देव के सृजन में 'पर' रूप विद्यमान होता है।

जहाँ भी सृजन की इच्छा में ऋत का सधन सञ्च बन कर 'पर' रूप बनता है, वहीं उस 'पर' रूप के चारों ओर 'अपर' रूप या 'अवर क्षेत्र' (हीलिगैरमैयर) भी बन जाता है। अतः पर, अपर अथवा पर-अवर का युग्म सदैव साथ रहता है। पर क्षेत्र की विशेष द्युति का ज्ञान परा-विद्या कहलाता है तथा अपर क्षेत्र की द्युति का ज्ञान अपरा-विद्या कहलाता है। दोनों के सहयोग से ही सृष्टि के सृजन का चक्र बनता है। 'पर' रूप प्रणीत बन कर रेत का वपन करता है तो अपर क्षेत्र बलपूर्वक उस रेत को अपने अन्दर खींच कर अपने गर्भ में विभिन्न प्रकार के देवों का सृजन करता है। इस प्रकार प्राङ्, अपाङ् रूप से सारी सृष्टि बन जाती है। प्राङ् का रूप 'पर' है,

और अपाङ्ग का रूप 'अपर' है। विद्या पर रूप को, अविद्या अपर रूप को विस्तार से बताती है। विद्या-अविद्या दोनों का साथ-साथ जान लेने पर ही शुद्ध ज्ञान होता है। यजुर्वेद के ईशोपनिषद् में कहा है—

विद्याञ्च अविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह ।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतं अश्नुते ॥

अर्थात् जो अविद्या और विद्या को साथ-साथ जान लेते हैं, वे अविद्या के द्वारा मृत्यु से तर कर विद्या के द्वारा अमृत-सद्-ब्रह्म का पान करते हैं।

अविद्या को जान कर इस सृष्टि के जाल में आत्मा के फँसे रहने के कारण को जान जाता है। इस कारण को जान कर, उसे नष्ट करके वह बार-बार जीवन मरण में आने वाली मृत्यु से तर जाता है और अपनी आत्मा को मृत के सञ्च के शुद्ध रूप में अवीर्यत कर लेता है। उसके पश्चात् विद्या के ज्ञान के द्वारा वह मृत के स्वरूप को भी सद्-ब्रह्म में विलीन कर देता है। इस प्रकार वह विद्या के द्वारा सद्-ब्रह्म के अमृत स्वरूप को — प्राप्त कर लेता है। सद्-ब्रह्म को अमृत इस लिए कहा जाता है कि वह कभी भी नहीं मरता। सभी का मूलतत्त्व होने के कारण वह सभी सृष्टि की रचनाओं को मृत्यु के पश्चात् भी अपनी सत्ता स्थापित रखता है।

'परा-विद्या' मृत को सद्-ब्रह्म में विलीन करने में कार्यरत रहती है, जब कि 'अपरा-विद्या' मृत के अन्दर देवों की संरचना, उनकी स्थापना और पोषण तथा अन्त में उनके मृत में विसर्जन की प्रक्रिया के चक्र का सुगम्य बोध कराती है। अपरा-विद्या के अन्दर ही-अविद्या-का समावेश होता है। इसी में सृष्टि का चक्र चलता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष — ये सभी 'अपरा-विद्या' की कौटि में आते हैं। इन के ग्रन्थों में 'अपरा-विद्या' का अधिकतर वर्णन है।

'परा-विद्या' हो या 'अपरा-विद्या' हो, 'पर' रूप दोनों में विद्यमान होता है। जब सृष्टि का पूर्ण ज्ञान समाहित करने के लिए किसी ग्रन्थ या शास्त्र की रचना की जाती है, तो उस में प्रारम्भ 'पर' तथा 'अपर' रूप की रचना से ही होता है। अतः ऐसे प्रत्येक ग्रन्थ में 'पर' तथा 'अपर' रूप को संरचनाओं को सम्यक् प्रकार से सुव्यवस्थित करके उनके ग्रहित स्वरूप का ही वर्णन किया जाता है। अतः ऐसे प्रत्येक ग्रन्थ में 'परा' तथा 'अपरा' दोनों प्रकार की विद्याओं का समावेश सुव्यवस्थित रूप से होता है। सर्वोच्च कौटि के ज्ञान के आकाश-सागर वेदों का भी एही स्वरूप है। अतः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, इन चारों वेदों में 'परा-विद्या' तथा 'अपरा-विद्या' का सुव्यवस्थित रूप से ग्रहित स्वरूप बड़े ही सुन्दर ढंग से समाविष्ट पाया जाता है। यह दूसरी बात है कि उसको समझने के लिए किसके पास ज्ञान की कितनी सामर्थ्य की क्षमता है। प्रत्येक प्राणी अपनी सामर्थ्य की क्षमता के अनुसार ही इस 'ब्रह्मविद्या'

के रहस्य को समझ पाता है।

इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों में विद्या का स्वरूप ही निहित है। 'अविद्या' का अर्थ 'विद्या से रहित' बिल्कुल नहीं होता। ये तो केवल सृजन की प्रक्रिया में विशेष प्रकार की द्युति के दो क्षेत्रों को अलग-अलग करके समझाने की दो प्रक्रियाएँ हैं। ये दोनों विशेष प्रकार की द्युति के क्षेत्र एक दूसरे के आधार पर एक चक्रीय प्रक्रिया के द्वारा जुड़े हुए हैं। उस चक्र का पूर्ण ज्ञान तभी होता है जब इन दोनों क्षेत्रों को बताने वाली ज्ञान की प्रक्रिया 'विद्या' और 'अविद्या' का साथ-साथ बोध हो।

उपनिषदों के वैदिक साहित्य में इस 'विद्या', 'अविद्या' का विभिन्न उपनिषदों में स्थान-स्थान पर वर्णन दिया गया है। सभी स्थानों पर इसी प्रकार की उनमें तारतम्यता दिखाई देती है। अविद्या विनाशी स्वरूप का वर्णन करती है, जब कि विद्या अमृतस्वरूप का वर्णन करती हुई दिखाई देती है। अविनाशी सत् से कामयुक्त विनाशी असत् का रूप बन जाता है और काम के दग्ध होने पर विनाशी असत् से अविनाशी सत् का रूप बन जाता है। ["देवानां पूर्वे युगे ऽसतः सदजायत" - (ऋग्वेद-1, 12, 2)]। इस प्रकार यह सत्, असत् के अविनाशी, विनाशी रूप का अपने-अपने कार्य का चक्र चलाता रहता है और दोनों के इन विशेष कार्यों की द्युति को प्रकट करने वाले ज्ञान के स्वरूप विद्या, अविद्या का स्वरूप भी इनके साथ चलता रहता है।

इस विनाशी असत् के बने ऋत के संकल्पों के द्वारा जाना प्रकार के वर्णों को धारण करने वाले देवों की जाना प्रकार की योनियों बन जाती हैं। इनके विषय में आगे के इस मन्त्र में बताया जा रहा है —

यो योनिं योनिमधीतच्छत्येको विद्वान् रूपाणि योनिवच सर्वाः।

ऋषिं प्रसूतं कीपलं यस्तमग्रे ज्ञानं विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ (2)

[ऋत के सव्य सञ्च द्वारा बना ऋत की पिण्डों का रुद्र का वाममुख तथा दीक्षण मुख वाला रुद्र का स्वरूप] जो अकेला ही प्रत्येक वर्ण के देव की योनि में मूल रूप से अधिष्ठित होता है, वही द्यौ में स्थित उन देवों के दिव्य स्वरूप द्वारा परिवर्तित रजकणों के अर्धपिण्डों के द्वारा धारित सभी रूपों वाले शरीरों के प्राणिमों की योनियों में अधिष्ठित है, जो पहले 'कीपल' ऋषि के उत्पन्न हुए स्वरूप को ज्ञान की विद्याओं के द्वारा भरता है और उसके पश्चात् अर्धपिण्ड के शरीर के रूप में वही उत्पन्न होता दिखाई देता है। रुद्र ही उस कीपल ऋषि के स्वरूप को अर्धपिण्ड का शरीर धारण करते हुए तथा जन्मते हुए देखता है।

इस मन्त्र में जो, "ग्रा ग्रीणिं ग्रीणिं अधीतिष्ठति स्वः" - कहा गया है, वह रूप चारण करने वाले अर्धपिण्डों के रजवर्णों की संरचना से पूर्व की रीति के देवों की दिव्य ग्रीणिं के लिए कहा गया है, जो द्यौ के अन्दर बनती है। स्वयं रुद्र देव की ग्रीणि, क्षीर की ग्रीणि, अर्णु की ग्रीणि, मृगु तथा अंगिरा में सप्तर्षियों की ग्रीणि, ये सभी ग्रीणि द्यौ में स्थित हैं। इनकी स्थूल आवृत्ति या प्रतिमान होने के कारण रूप नहीं होता। रूप, रस, गन्ध ये सभी पृथिवी के रजवर्णों के तन की मात्राएँ हैं। इन स्थूल आवृत्ति की प्रतिमाओं के स्वरूप की सारी ग्रीणि के स्वरूप के बचन के लिए, "विश्वानि रूपाणि ग्रीणिश्च सर्वाः" - अलग से कहा गया है। "विश्वानि रूपाणि" बचन में स्पष्ट रूप से सारे रूपों को बताया गया है। रूप तो स्थूल आवृत्ति की प्रतिमा का ही होता है, तथा स्थूल रूप रजवर्णों द्वारा बनता है। सारांश यह है कि इस मन्त्र में "द्यौ" तथा "पृथिवी" दोनों प्रकार के सूक्ष्म तथा स्थूल रूप की ग्रीणि के चारण करने वाले सभी देवों के मूल रूप में 'रुद्र' को अधीष्ठित बताया गया है।

"ऋषिं प्रसूतं क्षिपलं यस्तमग्रे" - प्रसूतं = उत्पन्न हुए को। जो ऋत में किसी संरचना के संकल्प के उदित होने से जन्म ले लेता है, उसे यहाँ 'प्रसूत' कहा गया है। यह जन्म कौन लेता है? "ऋषिं" - ऋषि को। अर्थात् जन्म लेने वाला ऋषि है। ऋषि कैसे कहते हैं? "प्रदीरिषंस्तदृषयः" - ऋत में बनी हुई जो संरचना रिसती हुई चल देती है, उसे 'ऋषि' कहा जाता है। रिसने का अर्थ है कि उस संरचना में से ऋत की चारा का स्राव होता रहता है। उस स्राव से अर्जित बल के द्वारा वह रचना आगे की ओर चलने लगती है। ऋत के स्राव से अर्जित बल के द्वारा गति करके आगे चलने वाली ऋत की संरचना को 'ऋषि' कहा जाता है। किस ऋषि को देखो? 'क्षिपलं' - क्षिपल ऋषि को। 'क्षिपलं' का अर्थ यहाँ 'क्षि' - क्षिप - 'अलं' - परिमत् - स 'क्षिपलं' बनता है। अर्थात् जिस संरचना में अभी दशमौलिक अर्थों से बनने वाले 'क्ष' वर्ण का अर्धपिण्ड का स्वरूप भी नहीं बना है, उस 'क्षिपल' ऋषि को। अर्थात् जो पूर्ण रूप से केवल द्यौ की रचना है तथा जिसमें आकाश महाभूत की रचना का लेशमात्र भी अंश नहीं है, उस 'क्षिपल' ऋषि को। "तम् आगे" - उस आगे उत्पन्न होने वाले ऋषि को। आगे उत्पन्न होने वाले का अर्थ है - द्यौ में उत्पन्न होने वाले को। क्योंकि कि पहले प्रत्येक संरचना का जन्म द्यौ में होता है, उसके पश्चात् उसका रूप पृथिवी के रजवर्णों द्वारा बने अर्धपिण्ड के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक रजवर्णों द्वारा बनी प्रतिमा का मूलवर्ण 'क्ष' वर्ण होता है। "क आसीत् प्रमा प्रीतमा" (ऋग्वेद - 10, 130, 3)] अब जिसमें 'क्ष' वर्ण की संरचना अभी बनी ही नहीं है, वही रचना तो 'क्षिपल' का स्वरूप कहलाती है। वही रजवर्ण से पूर्व - आगे की रचना है। (पूर्ववर्ती = आगे की, परवर्ती = पीछे की)

“ज्ञाने विमर्ति जायमानं च पश्येत” - जिस समग्र द्यौ की दिव्य रचना से अर्धपिण्ड के रूप वाली स्थूल रचना बनती है वो उसी प्रक्रिया में ग्रह विद्या तथा अविद्या के दोनों के ज्ञान की संक्रियाओं (functions) से भर जाता है। वह अर्धपिण्ड उस कपिल ऋषि को, जिसकी रचना द्यौ के माध्यम में हो चुकी है, उसे ज्ञान की संक्रियाओं से भरता हुआ दिरवाई देता है।

परन्तु रुद्र द्यौ में उस कपिल ऋषि को भी और उस अर्धपिण्ड को भी दोनों को जन्म चारण करते हुए देखता है और उस कपिल ऋषि के द्वारा चारित अर्धपिण्ड वाले स्वरूप को ज्ञान की संक्रियाओं के द्वारा भरता हुआ देखता है। अर्थात् रुद्र का जन्म इन सब से पहले होता है। उसके पश्चात् ही उसकी अनेकों प्रकार की संक्रियाओं में विद्या - अविद्या के ज्ञान की संक्रियाओं के द्वारा द्यौ तथा पृथ्वी के अन्दर द्योतित करने वाले विमन्त्र संकल्पों के देवों की उत्पत्ति होती है।

सर्वैकं जालं बहुधा विबुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहर्त्यैष देवः।

भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुसते महात्मा ॥ ③

ग्रह(रुद्र)देव अनेक प्रकार के देवों की रचना के सूत्रों द्वारा बने देवों के इस रूप - रूप जाल को बहुत प्रकार का बनाता हुआ, उस जाल के क्षेत्र में उत्पन्न देवों का संहार भी करता है। उन देवों को वह पुनः उसी प्रकार उत्पन्न करके फिर उनका उसी प्रकार संहार कर के नष्ट कर देता है। इस प्रकार सभी देवों के सृजन तथा संहार की सारी प्रक्रियाओं पर अपना अधिपत्य जमा कर वह रुद्र महान - आत्मा की रचना करता है। वही महान आत्मा, परमात्मा का रूप चारण कर लेती है। इस प्रकार वह रुद्र इस सृष्टि के सभी देवताओं का स्वामी (पति) बन जाता है। वही सबका ईश बन जाता है। वही परमात्मा अर्थात् महान आत्मा बन जाता है।

रुद्र का वाम मुख ऋतु को अभिशोषित करके अवरुद्ध करता है और दक्षिण मुख उस अवरुद्ध ऋतु को 'ईशानी' नाम की ऋतु को रश्मियों में धारा के रूप में प्रस्फुटित कर देता है। इन 'ईशानी' रश्मियों का जाल उस पूरे आयाम के व्योम में फैल जाता है, जिस व्योम के ऋतु में कोई संकल्प उदित हो कर रचना का नया रूप बनाता है। उस व्योम के अन्दर ईशानी रश्मियों के सखिल में नाना प्रकार के संकल्प उदित होकर धारा में रूप सूत्र में गूँथित हो जाते हैं। इस प्रकार इन देवों की रचना के सूत्रों से उस व्योम के आयाम वाले ऋतु में चारित संकल्प की रचना का नया स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक परीमित व्योम में स्थित इन देवों की रचना के जाल को वह अलग - अलग प्रकार से निर्मित करता हुआ बहुत प्रकार के भूतों की रचनाओं का निर्माण कर देता है। इस प्रकार नाना प्रकार के वर्णों के भूतों की रचनाओं का निर्माण वह रुद्र कर देता है।

अपने इन रचनाओं के क्षेत्रों में वह केवल नये संकल्पों को उदित करके नये देवों की रचना ही नहीं करता, अपितु उन रचे हुए देवों के स्वरूप का संहार भी करता है। जो संकल्प उसकी 'ईशानी' के श्रुत में उदित हुआ था, उसे पुनः उसी ईशानी के श्रुत में विलीन कर लेता है। इस प्रकार वह उस पूर्व रचित देव का संहार कर देता है।

ऐसा भी नहीं है कि जिस देव का संहार करके वह श्रुत में विलीन कर देता है, उसे पुनः उसी श्रुत में उदित न कर सके। वह संहार करके हुए देव को उसी श्रुत की धारा में पुनर्जीवित भी कर सकता है। इस प्रकार वह रुद्र प्रत्येक रचना का अलग-अलग स्वामी (पीति) भी बन जाता है। जितनी रचनाएँ होंगी, उतने ही रुद्र उनके पीति होंगे। परन्तु समष्टि रूप में वह रुद्र सभी रचनाओं का ईश बन जाता है। इस प्रकार 'ईश' के रूप में वह सारी सृष्टि का सर्वाधिपीति बन कर एक महान-आत्मा के रूप की रचना करता है। यह महान आत्मा ही परमात्मा कहलाती है।

सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यत्कनङ्गवान् ।

एवं स देवो भगवान् वरैष्यो यौनि स्वभावान् अधितिष्ठत्येकः ॥ (4)

सर्वादिश ऊर्ध्वम् अधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यत् उ

अनङ्गवान् = सभी दिशाओं में ऊपर, नीचे तथा तिरछी गति करती हुई और अपने स्वरूप को प्रकट करती हुई जो रुद्र की 'ईशानी' (श्रुत की धाराओं) के बल की रीशमय हैं, वे कामनाओं के संकल्पों से भरे कामदेव के उदय से युक्त हो कर देदीप्यमान होती हैं,

एवं स देवः भगवान् = इस प्रकार वह रुद्र देव 'पुरुष' रूप धारण करके 'भग' देवता से युक्त हो जाता है। वह 'भग' देवता का स्वरूप धारण करके विभिन्न प्रकार के धन सम्पदाओं को प्रदान करने वाले पदार्थ के पिण्डों से बने भूतों की प्रीतिओं के जाना वणों का जनक बन कर सृष्टि कर्ता बन जाता है। इस प्रकार वह भगवान् कहलाता है।

वरैष्यः = वही रुद्र भगवान् सृष्टि में सब के द्वारा वरण करने योग्य है।

यौनि स्वभावान् अधितिष्ठति एकः = वही एक रुद्र उन कामदेव के संकल्पों के अनुसार धारित प्रत्येक यौनि के स्वभावों को स्वयं धारण करके आधार बन कर स्थापित करता है। 'अधि' का अर्थ यहाँ अधिकरण रूप में आधार बनने वाले मूल स्वरूप रुद्र को बता रहा है। इस प्रकार प्रत्येक

ग्रीनि का सृष्टि में अपना स्वयं विशेष स्वभाव बन जाता है। रुद्र की मृत की बनी त्र्यम्बक पिण्डी में से जो 'ईशनी' नाम की मृत की चारों ओर बह कर चलती हैं उन्हीं में जाना प्रकार के संकल्प उद्भूत हो कर विभिन्न प्रकार की कामनाओं वाले स्वभाव की रचना करके किसी विशेष ग्रीनि वाले मृत की रचना का निर्धारण करते हैं। 'ईशनी' रश्मियों का स्वरूप भी रुद्र की मृत की पिण्डी का ही स्वरूप होता है। इस प्रकार रुद्र स्वयं इन संकल्पों के उदय की आधारभूमि बन कर जाना प्रकार के मृतों की ग्रीनियों के स्वभाव की रचना करने वाले स्वयं भगवान् बनते हैं। ये सभी स्वभावों के संकल्प जो 'ईशनी' मृत की चारों ओर उद्भूत होते हैं, पुरुष के द्वारा निर्मित दशमौलिक अर्थों के गहन, गम्भीर अम्भ में बद्ध हो जाते हैं। यही दशमौलिक अर्थों का बना रजकण 'क' कण अथवा 'इन्द्र' के नाम से जाना जाता है। इन 'क' कणों की इकाइयों से ही प्रत्येक मृत के शरीर की रचना करने वाले अर्धपिण्ड की प्रतिमा बनती है। ["क आसीत् प्रमा प्रतिमा -" मृगवेद-10, 130, 3]। इस प्रकार भगवान् बन कर यह रुद्र प्रत्येक ग्रीनि के स्वभाव की रचना करने वाला बनता है।

भगवान् शब्द का अर्थ 'भग' देवता के स्वरूप से युक्त होना होता है। मृगवेद में 'भग' देवता स्वयं प्रमुख देवता हैं जो हमारे लिए सभी प्रकार की चतुर्धन सम्पदाएँ प्रदान करता हैं। वह सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में प्रत्येक मौलिक अर्थ के कण को स्वयं विशेष स्वभाव प्रदान करके, उनमें जाना प्रकार के गुण धर्म उत्पन्न करता हुआ जाना प्रकार के वर्णों के मृतों के अर्धपिण्डों की रचना करता हुआ सृष्टि को प्रत्येक प्रकार की चतुर्धन सम्पदाओं से परिपूर्ण कर देता है। इस स्वरूप की प्रक्रिया को द्योतित करने वाले देव को 'भग' देवता कहा जाता है। जो इस देवता की सामर्थ्य को प्राप्त करके उसकी शक्ति से युक्त हो जाता है, वही 'भगवान्' कहलाता है।

इस अर्थ को अगले मन्त्र में और अधिक स्पष्ट रूप से बताया जा रहा है।

अथ स्वभावं पचति विश्व ग्रीनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामगैद्याः ।

सर्वमेतद्भिश्च सर्वान्निर्वाणयौजयेद्यः ॥ 5

जो रुद्र (अपनी 'ईशानी' शक्तियों के बल द्वारा सारी सृष्टि को शासित करता हुआ) सारी योनियों के भूतों के स्वभावों को परिपक्व करता है, उसके पश्चात् उन स्वभावों को उदित करने वाले संकल्पों को अपनी 'ईशानी' शक्त को चाराओं में पुनः विलीन करता हुआ इन को परिणति की स्थिति प्राप्त करा देता है। इस प्रकार वह रुद्र इस सारे विश्व को अकेला ही नियन्त्रित करता है। वह इस विश्व में विद्यमान सारे भूतों में विद्यमान सारे गुणों को विशेष रूप से नियोजित कर देता है। इस प्रकार का अधिष्ठाता वही देवाधिदेव रुद्र है। वही रुद्र इस प्रकार इस विभिन्न प्रकार के वर्णों के भूतों (creatures) वाली सृष्टि का सृजन कर्ता, नियमन कर्ता और संहार कर्ता बनता है। उन पक्षों पर स्वभावों के भूतों का भोगार्थ भोग करना ही उन भूतों की परिणति का परिणाम कहा जाता है।

तद्धेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिसम् ।

त्रे पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्धिदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥६॥

वह आदि देव रुद्र ही उस गूढ सद्-ब्रह्म [तद्] के स्वरूप को प्राप्त करता है जिसको वेदों के सर्वोच्च ज्ञान भाग कहलाने वाले उपनिषदों में अत्यन्त गुह्य ज्ञान के अमृत स्वरूप विद्या के रूप में बताया गया है। ब्रह्माकी योनि में ब्रह्मा भी उसी रुद्र देव के स्वरूप द्वारा अपनी योनि को अविद्या के द्वारा प्राप्त करते हैं। देवों के सृजन से पूर्व की जो सृजन प्रक्रिया है जिसमें सत् तथा असत् के रूप दूसरे में परिवर्तित होने का चक्र चलता है, उसमें सभी आदि काल में बने पूर्वदेव और पूर्व ऋषि अपने स्वरूप को उसी सद्-ब्रह्म में विलीन करते हुए मर रुद्र के स्वरूप द्वारा ही उस सद्-ब्रह्म के अक्षर अमृत स्वरूप को प्राप्त करके अमृत स्वरूप हुए।

ऋग्वेद (1-72-2) में जो "देवानां पूर्वे युगेऽसतः

सदजायत-...", कह कर जो यह बताया गया है कि देवों के पूर्व युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ, उसी प्रक्रिया को ही बतलाने के लिए ऋषि ने इस मन्त्र की रचना की है - ऐसा जान पड़ता है। पृष्ठ (538) पर बने चित्र को देखें।

इस सारी सृष्टि का मूलतत्त्व तो सद्-ब्रह्म ही बताया गया है जो निर्गुण, निराकार, अनन्त और सर्वव्यापी तथा सर्वसामर्थी है। जब उसके अन्दर उसकी अपनी इच्छा से ही सृष्टि सृजन का संकल्प उदित होता है, तो वही सद् अपने एक रूप को अनेक भागों में विभाजित करके विशेष प्रयोजन की कामना वाले विप्रों के रूप में परिवर्तित करके बहुत प्रकार का बना देता है। ब्रह्मवेत्ता विद्वान लोग उसी एक 'सत्' को बहुत प्रकार के विप्रों के रूप वाला कहते हैं। ["एकं सत् विप्रैः बहुधा वदन्ति..." ऋग्वेद-1-164-46]

'विप्र' शब्द का विशेष अर्थ है। वि = विशेष, प्र = प्रयोजन। अतः 'विप्र' का अर्थ विशेष प्रयोजन की कामना के संकल्प को धारण करके असत् के क्षणों में जो सर्वप्रथम ऋत के अन्दर रचना की इकाई बनती है, उसे 'विप्र' कहा जाता है। इन विप्रों की इकाइयों से ही आगे की सृजन की प्रक्रिया में सृष्टि में ऋत के अन्दर सभी रचनाएँ बन कर आगे रजःस्थानों के अर्धपिण्डों के स्थूल मूर्त रूपों में परिवर्तित होती हैं। इसी कारण पीछे दूसरे अध्याय के चौथे मन्त्र में ऋत के अन्दर इन विप्रों के संयोजन से बनी बृहत होती हुई चेतना वाली रचनाओं में मन और बुद्धि का योग बताया गया है। मन्त्र है -

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो निपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

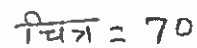
पीछे अर्थ करते समय 'विप्र' का अर्थ 'ब्रह्मा' दिया गया है। क्योंकि ब्रह्मा का उद्भव भी सृष्टि सृजन के विशेष प्रयोजन के प्रबल को संचालित करने के लिए ही होता है। परन्तु 'सत्' से जब 'असत्' का प्रथम क्षण बनता है तो उस की रचना का भी एक विशेष प्रयोजन होता है। अतः वह क्षण ही आदि 'विप्र' का रूप बनता है। एक क्षण से दूसरा क्षण योजित हो कर एक श्रृंखला बना कर सद् को 'ईशानी' धारा का निर्माण करते हुए विभिन्न प्रकार की कामनाओं वाले विभिन्न संकल्पों की रचनाओं

के उदय को चारण करते हुए विभिन्न स्वभावों वाली रचनाओं का सृजन करते हैं। इस प्रकार उनमें सर्व प्रथम मन और फिर बुद्धि प्रयोजित होती चली जाती है तथा एक विप्र का दूसरे विप्र के वृहत होते हुए संयोजन से चैतना का एक वृहत स्वरूप जीवात्मा के रूप में बने लग जाता है। इस एक विप्र के साथ दूसरे विप्र के संयोजन से जो ऋत को चारा निर्मित होती है, उसी से तपः लोक में सवितृ देव का प्रजजन तथा पोषण करने वाला स्वरूप बनता है। इसी से सवितृ देव प्रजावान विशेष होतृ 'ब्रह्मा' का सृष्टि के सृजन के यज्ञ में रूप चारण करता है। इसी कारण सविता देव को विशेष स्तुति दी जाती है।

'विप्र' का अर्थ 'ब्राह्मण' भी लिया जाता है। ब्रह्मा स्वयं एक विप्र है। ब्रह्मा के अपत्य ब्राह्मण कहलाते हैं, जिन्हें उसने सर्वप्रथम जन्म दिया। अतः ब्राह्मणों को भी 'विप्र' कहा जाता है। परन्तु वेदविज्ञान के विज्ञान सम्बन्धी अर्थों में 'विप्र' का अर्थ विशेष प्रयोजन वाली असत् ब्रह्म की रचनाएँ ही होती हैं।

सत् और असत् का सम्बन्ध ऋग्वेद (10, 129, 4) में "सतो बन्धुमसीत् निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या क्वप्रो मनीषा" - कह कर भी बताया गया है। यहाँ असत् में सत् को बन्धु के रूप में विद्यमान बताया है। "देवानां पूर्वे ऋगे असतः सदजायत" - में असत् से सत् उत्पन्न होने वाला बताया गया है। ये दोनों बातें एक ही स्वरूप में समाहित करने पर सत् से असत् और फिर असत् से पुनः सत् बने के चक्र चलने का परिणाम द्योतित होता है। इस सत्-असत् के एक दूसरे में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को आगे पृष्ठ (549) पर बने चित्र के द्वारा दर्शाया गया है। वहाँ पर देख कर समझे। इस चक्र में जितना सत् का अंश क्षीरित हो कर असत् में बदल कर ऋत का गहन, गम्भीर अम्म अथवा उदक बन कर बहता है और नये-नये संकल्पों के उदय के 'अहः' को चारण करता है, उन संकल्पों के विलीन होने की रात्रि को विनाश की विलय की प्रक्रिया के द्वारा उतनाही असत् पुनः सत् में बदल जाता है। जब सत् से असत् बन कर ऋत में आविद्या की प्रक्रिया चलती है तो ऋत में एक देव के यज्ञ की प्रक्रिया के द्वारा दूसरा देव अपना यज्ञ संचालित करने लग जाता है। ["यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि यमीणि प्रथमान्यासन्" - (ऋग्वेद-1-164-50)] इस प्रकार एक देव का यज्ञ दूसरे देव के यज्ञ के लिये ही परिवर्जित करता हुआ चला जाता है। इस हीव को परिवर्जित करने वाले देव ही 'पर्जन्याः' कहलाते हैं। ये पर्जन्य पञ्चमहाभूतों को जीनित वाले देव ही 'पर्जन्याः' कहलाते हैं। (पृष्ठ 550 पर निरन्तर पढ़ें)

ॐ पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥



करके भूमि के अधःपिण्ड के उसका भोजन जिवंति है, जिससे भूमि का संवर्धन हो कर पोषण होता है। परन्तु पोषण के साथ उरगों को भी साथ-साथ होता है। यह क्षय विनाश की प्रक्रिया को द्योतित करता है। जितना भूमि में पोषण से संवर्धन होता है, उरके समान हो उरगों को क्षय हो कर विनाश भी होता है। इस प्रकार सम्भूति और विनाश का समान रूप से सन्तुलन बन कर भूमि की सदा सक्रिय रूप में स्थिर रहती है। इस विनाश की प्रक्रिया में द्यौं में विद्यमान ऋतु की बनी अग्नि भूमि के रजःको को विखण्डित करती हुई द्यौं को उसका भोजन जिवंति है। इसी बात को ऋग्वेद (1-164-51) में इस प्रकार कहा गया है —

सम॒नमे॒त दु॒द॒कमु॒च्यै॒त्यव॒चाही॒मः ।

भूमिं॑ प॒र्जन्या॑ जि॒न्वन्ति॑ दि॒वं जि॒न्वन्त्य॒ग्नयः॑ ॥ (ऋग्वेद-1-164-51)

जब अग्नि द्यौं को जिवंती है, उस समय वह पदार्थ के रजःको को विखण्डित करके ऋतु में बदल देती है। वह ऋतु का स्वरूप ही द्यौं का जीमने के लिए भोजन बनता है। यह विनाश की प्रक्रिया द्यौं में विद्यमान उस ऋतु में आगे भी चलती है। ऋतु में बना अर्णु का संकल्प विलीन होकर उसे क्षीर में बदल देता है और वह ऋतु का स्वरूप 'असत्' के स्वरूप में बदल जाता है। अन्त में वह क्षीर भी अपने उदय के संकल्प को विलीन करके समाप्त कर देता है और वह 'असत्' भी पुनः 'सत्' में बदल जाता है। इस प्रकार सत् से असत्, असत् से ऋतु, ऋतु से द्यौं, द्यौं से भूमि, भूमि से पुनः द्यौं, द्यौं से पुनः ऋतु, ऋतु से पुनः असत् और असत् से पुनः सत् बन जाता है। इस प्रकार सृष्टि के सृजन के प्रक्रिया में यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

इसी चक्र को यहाँ "तद्धेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् । मे पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्धिदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥" इस मन्त्र द्वारा बताया गया है। यहाँ 'तद्' शब्द जो 'सत्' का द्योतक है, उससे यह चक्र प्रारम्भ होता है और अमृत रूप 'सत्' पर ही समाप्त होता है। उस गूढ सत् से ही ब्रह्मा उत्पन्न हो कर अपनी ब्रह्मयोनि को प्राप्त करता है। उसके पश्चात् वे सारे पूर्वदेव और ऋषि, सभी के सभी उस 'सत्' को पुनः प्राप्त करके अमृत स्वरूप हो जाते हैं। असत् पुनः सत्

में बदल जाता है।

7/5

(55)

प्रहो इस मन्त्र में 'देव' तथा 'ऋषि' जो दो राव्य प्रयुक्त हुए हैं, उनका अर्थ पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। ऋत की संरचना में अथवा पञ्चमहाभूतों की रचना में किसी भी रचना के स्वरूप को द्योतित करने वाली इकाई को 'देव' कहा जाता है। इसी प्रकार ऋत की संक्रियाओं से अपने स्वरूप में से ऋत का स्त्राव करते हुए रिस कर चलने वाली तेजोमय तथा बलशुक्त रचना को इकाई को 'ऋषि' कहा जाता है। देवों और ऋषियों के द्वारा ही सृष्टि का प्रह सत् और असत् का चक्र चलता है। 'सत्' से असत् का स्त्राव होकर क्षीरों का क्षीरसागर बनता है, उससे 'पर' रूप बन कर प्रथम 'सद्र' का स्वरूप बनता है और फिर उसी की 'ईशानी' रश्मियों से बने संहित 'पर' रूप द्वारा विष्णु का अवतरण होता है, इसी पश्चात् सप्तर्षियों तथा अंगिरा ऋषियों का जन्म हो कर सारी श्रेष्ठ सृष्टि का सृजन होता है। उसके पश्चात् सृजित अवयवों में विनाशा प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। जैसे-जैसे जिस क्रम से जो रचना सृजित होती है, उसी विपरीत क्रम से वह रचना अपने मूल उत्पाद के कच्चे रूप में विरवीण्डित होकर विलीन होती चली जाती है। अन्त में 'सद्र' का स्वरूप असत् में और असत् का रूप 'सत्' में विलीन हो जाता है। इस प्रकार 'असत्' से पुनः 'सत्' उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार जो सब से अधिक गूढ़ और उपनिषदों में गुहा ज्ञान सद्-ब्रह्म का सब का एक मौलिक तत्त्व के रूप में ज्ञान दिया है, सर्व प्रथम विज्ञान द्वारा उसे जानो। [तदेवगुह्योपनिषत्सु गूढं]

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।

स विश्वरूपोऽस्त्रिगुणोऽस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरीत स्वकर्मभिः॥७॥

[पिछले मन्त्र में वर्णित सत् से सृष्टि सृजन का जो चक्र चलता है, उसमें] प्रत्येक रचना अपने-अपने उदित संकल्पों के गुणों और स्वभावों से बद्ध हो कर अन्वित होती चली जाती है। अपने इन स्वभावों के फलों को प्राप्त करके वह अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने लग जाती है। अपने स्वभाव तथा मन की इच्छा के अनुकूल अथवा प्रतिकूल अपने कर्मों का फल प्राप्त करके वह सुख अथवा दुःख का उपभोक्ता

बनता है। [मन तथा स्वभाव के अनुकूल प्राप्त कर्मफलजीव को सुख की प्राप्ति की अनुभूति कराता है तथा इनके प्रतिकूल कर्मफल उसी जीव को दुःख की अनुभूति कराता है।] अर्थात् मन तथा स्वभाव के अनुकूल जीव को यौनि के स्वरूप में संवर्धन और स्थिरता उस यौनि को सुख प्रदान करते हैं और यौनि के स्वरूप में ह्रास तथा अस्थिरता उसी यौनि को दुःख प्रदान करने वाले कर्मों के फल कहलाते हैं। कर्म का फल किसी यौनि के स्वरूप में संवर्धन, स्थिरता तथा ह्रास, इनमें से किसी भी एक प्रकार का फल देने वाला होता है। इन कर्मों के फल को भोगने वाला ही जीव अपनी उस यौनि में उन कर्मों का उपभोग करता बन जाता है।

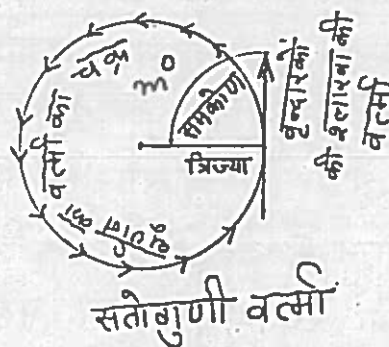
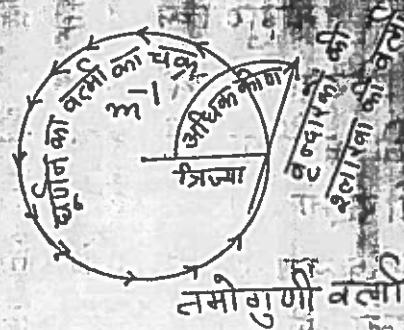
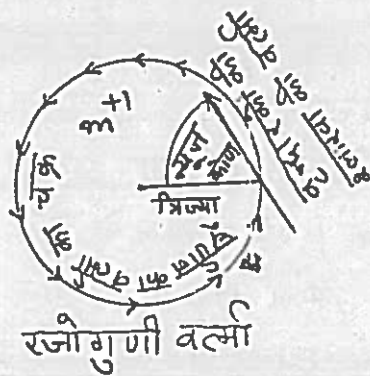
इस प्रकार ऋतुकी धारा में बनने वाली प्रत्येक रचना अपने कर्म तथा स्वभाव के अनुसार किसी फल का परिणाम देती हुई नया सृजन करती हुई चलती चली जाती है। इसके पश्चात् उस ऋतु की धारा के प्रवाह का सृजन की श्रृंखला का वह सारा रूप तीन गुणों का परिणाम देने वाला त्रिवर्त्मा (mesoms - मं, म⁺, म⁻) का रूप धारण कर लेता है। वही त्रिवर्त्मा उस यौनि के जीव की वृत्ति तथा स्वभाव को नियन्त्रित करता हुआ उसके प्राणों का स्वामी (प्राणाधिपः) बन जाता है। वही त्रिवर्त्मा अपने गुणों के अनुसार उस यौनि के अर्धपिण्ड को संचालित करता है, जिससे वह उस यौनि का अर्धपिण्ड अपने कर्मों के सीद्ध गतिमान होता हुआ संचरण करता रहता है।

‘त्रिवर्त्मा’ को अणुनिष्क विज्ञान में ‘mesoms’ कहा जाता है। त्रिवर्त्मा में तीन प्रकार के गुण होते हैं। इसी कारण यहाँ इस मन्त्र में इसके लिये “सः विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा” कहा गया है, जिसका अर्थ बनता है कि वह तीन वर्त्माओं वाला त्रिवर्त्मा अपने सारे रूप से युक्त तीन गुणों वाला है। ये तीन गुण यहाँ उसके द्वारा धारित संकल्पों के आवेश के हैं।

इनमें प्रथम आवेश चनात्मक आवेश (m^+) है, दूसरा आवेश ऋणात्मक आवेश (m^-) है तथा तीसरी अवस्था साम्य अवस्था (m^0) की है। इस तीसरी साम्य अवस्था में न तो चनात्मक आवेश होता है और न ऋणात्मक आवेश होता है, अपितु दोनों को सन्तुलित रखता हुआ निष्क्रियता का साम्य आवेश होता है।

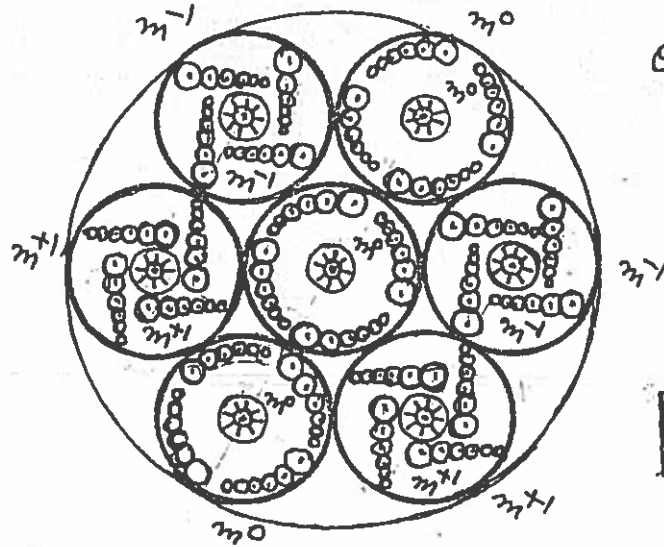
सजीवता के व्यवहार को प्रभावित करने वाला चनात्मक प्रधान गुण रजोगुणी होता है। इससे पिण्ड में अर्धकणों का अधिक समावेश होने के कारण सबलता और स्थूलता बढ़ती चली जाती है। दूसरा ऋणात्मक आवेश की प्रधानता से प्रभावित गुण वाला तमोगुणी होता है। इससे अर्धपिण्डों में विखण्डन की प्रक्रिया प्रधान हो कर विलय की प्रक्रिया गतिशील रहती है। इस कारण इसमें विलय की गति की रात्रि का गहनतमस् विद्यमान रहता है। इसी कारण इसे तमोगुणी कहते हैं और यह विनाश को द्योतित करने वाला होता है। तीसरा साम्य अवस्था को प्रधान रूप से स्थिर रखने वाला और किसी अर्धपिण्ड की सत्ता को स्थिर रूप में विद्यमान रखने वाला सतोगुणी रहता है। ये तीनों प्रकार के गुण अलग-अलग वर्त्माओं के स्वरूप में अलग-अलग पाये जाते हैं। स्वः लोका में वृन्दारक (Quarks) की श्रृंखला की रचना के उपरान्त उन से जब भुवः लोका में वर्त्मा के सप्तचक्र (Seven-hypercircle) की रचना होती है तो उन चक्रों में वृन्दारकों (Quarks) के वृन्दों की तीन अलग-अलग दिशाओं में वर्त्मा के द्युर्जन से तीन प्रकार की अलग-अलग दिशाएँ बन जाती हैं, जिससे तीन प्रकार के वर्त्मा बन जाते हैं। जब वृन्दारकों के वृन्दों की बनी झलारवा के दौड़ते हुए अश्व की वर्त्मा का द्युर्जन चक्र के केन्द्र की ओर झुका हुआ होता है और चक्र की त्रिज्या के साथ न्यूनकोण बनाता है तो वह वर्त्मा रजोगुणी चनात्मक आवेश वाला (m^+) स्थूल बन जाता है। ऐसे वर्त्मा भूलोका में 'चिक्'-कणों (Protoms) की रचना करते हैं। जब वृन्दारकों की झलारवा की वर्त्मा का द्युर्जन केन्द्र की विपरीत दिशा अर्थात् चक्र के बाहर की ओर हो जाता है, तो वह वर्त्मा : स्वरूप

का विखण्डन करने वाला तमोगुणी तथा ऋणात्मक आवेश वाला (m^-) बन जाता है। इसमें वृन्दारकों के वृन्द की श्लारवा का चक्र की त्रिज्या (radius) के साथ अधिक कोण बनता है। परन्तु जब वृन्दारकों के वृन्द की श्लारवा की वर्त्मा का घूर्णन चक्र की त्रिज्या के साथ पूर्ण रूप से समकोण बनाता है और अपनी गति की दिशा सदैव चक्र की स्पर्शरेखा (tangent) के साथ रखता है तो वह अपने चक्र की सत्ता के साम्य अवस्था (Neutral) में रखने वाला (m^0) सौगुणी वर्त्मा होता है। भूः लोके में इस वर्त्मा से 'न' कण (Neutrons) बनते हैं। तमोगुणी (m^-) वर्त्माओं से सप्त पाताल लोकों से 'इ' कण (Electrons) ऋणात्मक आवेश वाले बनते हैं जो सदैव अणु (Atom) की नाभि से बाहर उस नाभि के ऊपर चारों ओर गतिमान रहते हुए चक्कर लगाते हुए स्थित रहते हैं। नीचे के चित्रों से तीनों प्रकार के वर्त्माओं का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह त्रिवर्त्माओं का स्वरूप नाभि (Nucleus) के अन्दर स्थित भूः लोके में बनता है।



चित्र = 71

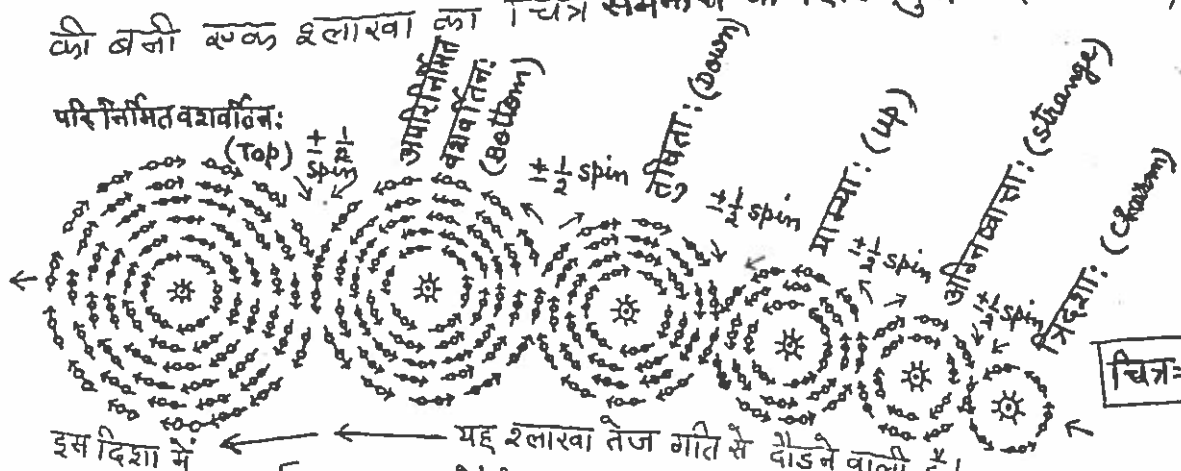
(भुवःलोक में त्रिवर्त्माओं का बनने वाला सप्त चक्र)



One sevenhypercircle of the mesons.

चित्र=72

पृष्ठ 313 तथा 415 पर दिये गये चित्रों में इन त्रिवर्त्माओं के बनने के स्थान की समझें। वहाँ पर षड्-वृन्दारकों (six quarks) से बनी एक इलारवा को भी समझा जा सकता है। यही षड्-वृन्दारकों की इलारवा, वर्त्मा की त्रिज्या के साथ न्यून अथवा सम अथवा अधिक कोण बना कर अपनी वर्त्मा की विशेष अवस्था को चारण करके त्रिवर्त्माओं का स्वरूप निर्धारित करती है। नीचे षड्-वृन्दारकों की बनी एक इलारवा का चित्र समझने के लिए पुनः दर्शाते हैं।



चित्र=73

जो त्रिवर्त्माओं के स्वरूप के चक्रों में त्रिवर्त्मा की त्रिज्या के साथ एक विशेष कोण का वर्तन करके एक विशेष मात्रा की वर्त्मा का रूप चारण करती है। इन वृन्दारकों के चक्र में 0-0- इस का चिन्ह एक 'अश्विनो' के स्वरूप की गति को प्रकट करता है। यह

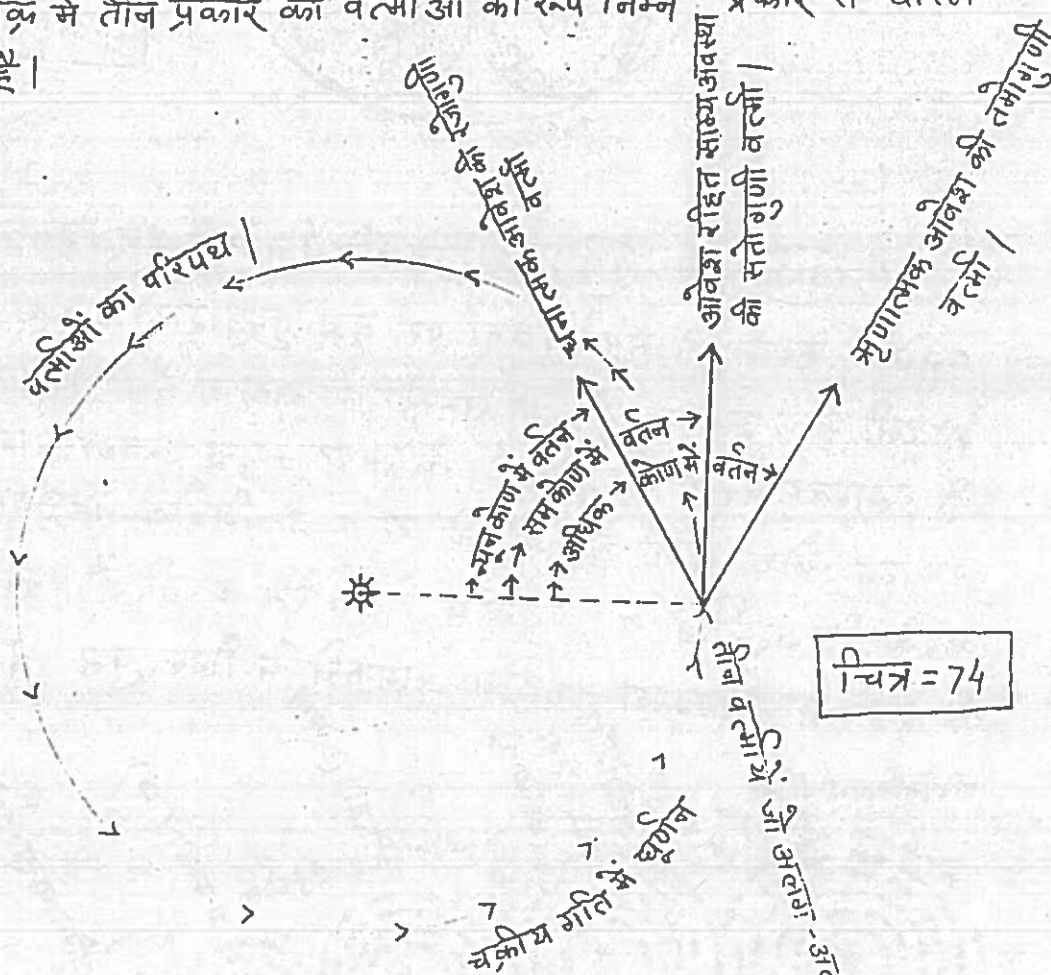
‘अश्विनो’ वषा का अश्व है जो मातृपरावृत्त और अष्टापरावृत्त की कक्षाओं की दो अश्वों में से एक है।

इस श्लोक में छः वृन्दारक (Six quarks) हैं। जिनके नाम उनके आकार के बढ़ते क्रम के अनुसार महर्षि व्यास ने (1) त्रिदशाः, (2) अग्निष्वा ताः, (3) याम्याः, (4) तुषिताः, (5) अपरिनिर्मित वशर्वीतनः और (6) परिनिर्मित वशर्वीतनः बताया गया है। आप्युजिक् विज्ञान वेत्ता इन्हें जिन नामों से बताते हैं, वे इस प्रकार हैं। (1) त्रिदशाः = Charm.

(2) अग्निष्वात्ताः = strange, (3) याम्याः = up. (4) तपिताः = Down.

(5) अपरिनिर्मित वक्रवर्तनः = Bottom, (6) परिनिर्मित वक्रवर्तनः = Top.

यह छः वृन्दारकों के वृन्द से बनी शलाखा ही त्रिवर्त्मी के
खल चक्र में तीज प्रकार की वर्त्माओं का रूप निम्न प्रकार से चारण
करती है।


$$\frac{n}{\text{चित्र}} = 74$$

जो प्रकार के बाण उत्पन्न
करती है। प्रत्येक बत्ती
कुम्हार को होती है। महान्
बत्ती होता है। एक एक
बत्ती और विविध भागों
मासें और विभिन्न भागों
माला अपना अपने
खनाते हैं। आपकी
पीरपाव पर के अंगुली
दिखाते हैं।
रहती है।

इस मन्त्र में त्रिवर्त्मा के लिए - " प्राणाधिपः संचरीत स्वकर्मभिः " कहा गया है। इसका अर्थ है कि वह त्रिवर्त्मा प्राणों का स्वामी है और अपने कर्मों के सहित संचरण करता है।

इसमें तीन बातें स्पष्ट होती हैं। (1) प्राणों का स्वामी है, (2) संचरण करता है, (3) अपने कर्मों को करता हुआ अपने कर्मों के साथ ही यह आगे चलने की गति करता है और स्वस्थान से दूसरे स्थान को भागता रहता है। इन तीनों बातों को यदि एक-एक करके स्पष्ट करते हैं।

(1) प्राणाधिपः = प्राणों का कार्य शरीर में पोषण की प्रक्रिया को ग्रीहित करके सुव्यवस्थित करना होता है। इसमें पाँच प्रकार के कार्य होते हैं। अपने-अपने कार्यों के अनुसार पाँच प्रकार के प्राण बताये गये हैं। जिनके नाम - प्राण, अपान, समान, उदान और कथान बताये गये हैं। त्रिवर्त्मा जब अपने आवेष्ट के सहित किसी शरीर में प्रवेश करता है तो वह रासायनिक आबन्धों (chemical bonds) अथवा नाभिकीय रजकणों के आबन्धों की प्रक्रिया (Functions of the nuclear bonds) को सौकर्य करता है। यही प्रक्रिया 'प्राणों' की प्रक्रिया कहलाती है। जब रासायनिक यौग (molecules) बचने की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तो वे यौग (molecules) समान रूप से पूरे शरीर में फैलने लग जाते हैं। वे शरीर के अन्दर होने वाली टूट-फूट के मल को बाहर निकालते हुए उत्सर्जन की प्रक्रिया को करने लग जाते हैं, साथ-में टूट-फूट से क्षत-विक्षत कोषाणुओं की मरम्मत भी करने लग जाते हैं। यह प्रक्रिया 'अपान' कहलाती है। यह प्रक्रिया समान रूप से सारे शरीर के प्रत्येक कोषाण में होने लग जाती है। समान रूप से सारे शरीर में फैल कर शरीर को सन्तुलित रखने की इस प्रक्रिया को ही 'समान' कहा जाता है। समान की प्रक्रिया मस्तिष्क में प्रियान्विता होकर सारे शरीर में फैलती है। शरीर में फैलने की

प्रक्रिया में जीमि के ऊपर के प्राणों का कार्य अलग प्रकार का तथा जीमि से नीचे के प्राणों का कार्य अलग-प्रकार का होने लग जाता है। ऊपर नीचे के कार्यों के बंटवारे को ही 'उदाग' नाम दिया जाता है। उसके पश्चात इस प्रकार होजे वाले प्रत्येक अंग के अलग-अलग प्रकार के कार्यों को नियन्त्रित करके सभी को एक इकाई में समीहित करके पूर्ण शरीर को साम्य अवस्था में लाने का कार्य 'व्यान' करते हैं। इस प्रकार पाँचों प्रकार के प्राणों का कार्य अलग-अलग होता है। इन्हीं के अनुसार ये पाँचों प्रकार के प्राण कहलाते हैं। ये प्राण इन वर्त्माओं के आवेश की ऊर्जा के पुञ्ज (quantum of the energy of the charge of the mesons) की सक्रियता के द्वारा कार्य करते हैं। अतः प्राणों का नियन्त्रण वर्त्माओं के आवेश की शक्ति के स्तर के आधीन होता है। जब तक यह आवेश का स्तर सही बना रहता है, तब तक हृदय भी अपना धड़कने का कार्य सुचारु रूप से करता रहता है। इस आवेश का स्तर गिरने पर दिल धड़कने की प्रक्रिया में व्यवधान आने लगता है, जिसे आधुनिक विज्ञान वैज्ञा पैसमेकर की बैटरी के विद्युत के आवेश के द्वारा पूरा करने का प्रयास करते हैं। परन्तु कुछ प्रकार के आवेश पैसमेकर द्वारा भी प्रीत नहीं हो पाते। इस प्रकार ये वर्त्मा ही प्राणों के संचरण के निगमक बन कर 'प्राणाधिपः' कहलाते हैं।

'संचरति' = वर्त्माओं का सप्तपरावृत (sevenhypocircle) का स्वरूप बन कर गति करता है। सप्तपरावृत का चित्र पृष्ठ (555) पर बना है। इनके मापों की गिनती का गणित पृष्ठ (23) और (24) पर दिया है। सप्तपरावृत का माप $\frac{16}{15} \pi^3$ बनता है तथा अष्टपरावृत का माप $\frac{1}{3} \pi^4$ बनता है। षड्परावृत का माप केवल π^3 बनता है। इससे स्पष्ट है कि सप्तपरावृत का माप पूर्ण परावृतों में सब से अधिक है। परन्तु परावृतों के माप की अधिकतम सीमा (maximum measurement i.e. maxima) सात तथा आठ के मध्य किसी बिन्दु पर पड़ती है, जो

पूर्णांक नहीं हैं। अतः सप्तपरावृत सब से पहले अपने माप की सर्वोच्च सीमा (Maxima) को प्राप्त करने के लिये ऋतु का अभिशोषण करते ऋतु को घों में से चूसता है, उसके पश्चात् जब वह अष्टापरावृत बनने लग जाता है तो फिर ऋतु का वपन करता हुआ अपने माप को बढ़ाता है। परन्तु जैसे ही यह घट कर पुनः सप्तपरावृत के माप के बराबर आता है तो पुनः या तो सप्त परावृत बन जाता है या फिर सप्तपरावृत के माप से नीचे जा कर अष्टापरावृत (Eight hypercircle) बन जाता है। इसके पश्चात् वह फिर अपने सर्वोच्च माप (Maxima) को प्राप्त करने के लिये ऋतु का अभिशोषण करता है और पुनः ऋतु का वपन करता है। इस प्रक्रिया के बार-बार दोहराने के कारण सप्तपरावृत के सप्तचक्रों में तरंगों के प्रसारण की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है। वे श्वास-प्रश्वास-की प्रक्रिया द्वारा श्वास लेते तथा छोड़ते जैसे ऋतु में कार्य करने लग जाते हैं और ऊर्जा के पुञ्ज (Quantum of energy) बन जाते हैं। वे ऋतु में तरंगों प्रसारित करते हुए तरंगों की ऊर्जा का बल अर्जित करके उस बल के द्वारा तेजी से घों में कम्पन करते हुए दौड़ने लग जाते हैं। यही उन वर्त्माओं का 'संचरण' कहलाता है। इसी के लिये यहाँ 'संचरति' कहा गया है।

“स्वकर्मभिः” = अर्थात् जब त्रिवर्त्माओं का सप्तचक्र संचरण करता है तो ऋतु को चूस कर अभिशोषित करना और फिर सर्वोच्च माप (Maxima) की सीमा पर पहुँच कर उसका वपन करके पुनः बाहर फेंकने का अपना कर्म करना और इस प्रकार घों में चढ़कने की तेजी से क्रिया करते हुए ऋतु को तरंगों के प्रसारण का कार्य करने का काम करके किसी अर्धपिण्ड में अपने आवेश की सजीवता उत्पन्न करने का कार्य करना, दो संरचनाओं का अपने आवेश के संचरण द्वारा योग अथवा विच्छेद करने का कार्य करना, इन सभी कार्यों के सहित वह अपने स्वरूप को बनाये रखता हुआ घों में तथा किसी भी अर्धपिण्ड में संचरण करता है और प्राणों का स्वामी बनता है।

‘त्रिवर्त्मा’ की इसी प्रक्रिया को अगले मन्त्र में और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है।

अङ्गुष्ठमात्रो रीवतुल्य रूपः संकल्पाद्दङ्कारसमीज्वतो यः।

बुद्धे गुणेनात्मगुणेन चैव आरागमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ⑧

पिछले मन्त्र के सन्दर्भ की निरन्तरता के कारण त्रिवर्त्मा का संबंध प्रकरण से इस मन्त्र में भी है। अङ्गुष्ठमात्रः = अङ्गानि उच्छयति ऊर्जाया पौषणम् ददाति मात्रं केवलम् यः सः अङ्गुष्ठमात्रः। अर्थात् जो त्रिवर्त्मा अपनी तरंगों की ऊर्जा से शरीर के अंगों को केवल सजीवता का पौषण मात्र प्रदान करता है, वह अपने इस गुण के कारण केवल 'अङ्गुष्ठमात्र' कहा गया है। ऋत की तरंगों की सक्रियता से वह प्रत्येक अर्धपिण्ड को अथवा द्यौ की रचना 'इत्' (Electron) आदि को आवेश की सजीवता प्रदान करता है, उनके अन्दर स्थित पदार्थ की मात्रा आदि में कोई परिवर्तन नहीं करता है। 'न' कण (Neutron) में साम्यता का सौगुणी आवेश, 'चिक्' कण (Proton) में चनात्मक रजौगुणी आवेश तथा 'इत्' (Electron) में ऋणात्मक तमौगुणी आवेश उत्पन्न करता है। इन रचनाओं में वर्त्मा के प्रवेश तथा निष्कासन से उनके पदार्थ की मात्राओं में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसी कारण न्यूट्रोन तथा प्रोटोन के पदार्थों की मात्रा लगभग समान ही रहती है। 'इत्' की रचना तो न्यूट्रोन के अपर स्थित द्यौ में होती है, अतः उसमें द्यौ की रचना होने के कारण पदार्थ की मात्रा नगण्य होती है।

“रवितुल्यरूपः” = इस त्रिवर्त्मा का सूर्य के समान रूप है। सूर्य जिस प्रकार अपने केन्द्र के अक्ष पर घूर्णन करता हुआ प्रकाश की तरंगों का प्रसारण द्यौ में निरन्तर करता रहता है और गतिमान रहता है तथा सप्तचक्रों की बनीं प्रकाश की किरणों का प्रक्षेपण करता रहता है, उसी प्रकार यह त्रिवर्त्मा भी अपने केन्द्र के अक्ष पर घूर्णन करता हुआ अपने स्वरूप को बनाये रखता है तथा द्यौ में ऋत की अपनी तरंगों का प्रसारण करता रहता है। यह गतिमान रहता है। यह भी सप्तचक्रों की चुम्बकीय रेखियों का प्रसारण सूर्य की भाँति करता रहता है। सूर्य की भाँति इसकी तरंगों वाली रेखियों भी गति में अवरोध उत्पन्न करने पर ऊष्मा प्रदान करने वाली (Heating property) होती है। विद्युत तरंगों में अवरोध के कारण इसी गुण के द्वारा ऊष्मा प्राप्त होती है तथा बल्बों में से सूर्य की भाँति प्रकाश निकलने लग जाता है। यह सब वर्त्मा (न) की गति के कारण होता है। सभी वर्त्माओं में सूर्य की भाँति कार्य करने की क्षमता होती है। अतः उन्हें रवितुल्य रूपः कहा गया है।

“संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः” = यह संकल्प की शक्ति तथा अहङ्कार के सामग्र्य से युक्त है।

जो यह त्रिवर्त्मा का सप्तचक्र है, उसमें संकल्प उद्दिष्ट करने आधारा विलीन करने को शक्ति भी निहित है। संकल्प का अर्थ पीछे भी समझाया जा चुका है। 'संकल्प' शब्द 'सम् + कल्प' - इन दो शब्दों के मेल से बनता है। 'सम्' का अर्थ 'सम्बन्ध' रूप से भली भाँति होता है तथा 'कल्प' का अर्थ रचना करना अथवा निर्माण करना या बनाना होता है। अतः 'संकल्प' शब्द का अर्थ भली भाँति नये स्वरूप को रचना करना होता है। वह नई रचना किसी पुरानी रचना के स्वरूप में नई कोई और रचना का गुण जोड़ कर अथवा किसी रचना के किसी अंग को उसमें से विच्छेदित करके उसके गुण का ह्रास करने पर - इन दोनों प्रकार से हो सकता है। इन दोनों कार्यों को करने की क्षमता त्रिवर्त्माओं में है। 'इत्' (Electrons) में शृणात्मक आवेश के तमोगुणी वर्त्मा (m) में दो अणुओं (Atoms) को जोड़ कर नया योग (Molecule) द्व्यणुक या त्र्यणुक (Molecule having two atoms or molecule having three atoms) बनाने की क्षमता का संकल्प भी विद्यमान है और द्व्यणुक या त्र्यणुक को विघटित करके उन्हें अलग-अलग अणुओं में विच्छेदित करने की क्षमता का संकल्प भी विद्यमान है। H_2 (हाइड्रोजन) तथा O_2 (ऑक्सीजन) के अणुओं में जब विद्युत की तरंग द्वारा m वर्त्मा का समावेश कराया जाता है तो वह H_2O का त्र्यणुक का योग बना कर पानी की रचना करने वाला संकल्प उद्दिष्ट कर देता है। इसी प्रकार जब पानी के H_2O त्र्यणुक योग में विद्युत तरंग द्वारा वर्त्माओं का प्रवेश कराया जाता है तो वर्त्मा H_2O के त्र्यणुक को विघटित करके H_2 (हाइड्रोजन) तथा O_2 (ऑक्सीजन) के अणुओं (Atoms) के शुद्ध रूपों को विच्छेदित करके अलग-अलग कर देते हैं। 'इलेक्ट्रोप्लेटिंग' की प्रक्रिया में यही गुण प्रयुक्त होता है। अतः त्रिवर्त्मा संकल्प की शक्ति से समीपवर्ती है।

"अहंकार समीपवर्ती" = त्रिवर्त्मा का सप्तचक्र अहंकार के संकल्प से भी युक्त है। 'अहंकार' किसे कहते हैं? अहम् अर्थात् मेरा जो निज का स्वरूप है, उसकी रचना के स्वरूप को जो स्थायी रूप में स्वतन्त्र रूप में निर्मित करके रखता है, उस संकल्प को 'अहंकार' कहते हैं। अहम् स्वरूप करोति यः संस्कारः सः अहङ्कारः। इस अहंकार की रचना का आधार प्रत्येक रचना की नाभि (Nucleus) का केन्द्र बिन्दु होता है, जिसके

ऊपर आवरणों का चक्र बना कर कोई रचना अपने निज के स्वरूप को स्थायी रूप से स्थिर रखती है। त्रिवर्ती का जो सप्तपरावृत का श्रृंखला का रूप चक्र कालमावर्त बनता है, उसका अपना स्वतन्त्र केन्द्र बिन्दु पर (point of high intensity of energy) बना होता है। उस केन्द्र के चारों ओर वर्ती के चक्रों की ऊर्जा का धूर्णन करता हुआ आवरण बना होता है। जिसके कारण वर्ती अपने स्वरूप को स्वतन्त्र रूप से स्थिर रख कर अन्य स्थान पर स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण कर सकता है। अतः वह अपने 'अहंकार' के संकल्प से समीपवर्त होता है। इसी कारण electric current चलता है। योग शास्त्र में तीन स्तरों की समीधियाँ होती हैं। सम्प्रज्ञात समीधि,

असम्प्रज्ञात समीधि तथा चर्मभेद्य समीधि। सम्प्रज्ञात समीधि के अन्दर योगी ब्रह्मचारी अवस्था में अध्ययन और अभ्यास के द्वारा गुरु के सम्यक् योगी ब्रह्मचारी अवस्था में अध्ययन और अभ्यास के द्वारा गुरु के सम्यक् सांनिध्य में रह कर सभी प्रकार की विद्याओं का सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करता है। जब उसे सभी प्रक्रियायें सम्यक् रूप से प्रयत्न करने पर ज्ञात हो जाती हैं तो वह उस योगी की 'सम्प्रज्ञात-समीधि' की सिद्धि होती है। इस सम्प्रज्ञात समीधि में नाना प्रकार के सौगुणी संकल्पों का उदय और तमोगुणी तथा रजोगुणी संकल्पों का विलय कर विनाश किया जाता है।

परन्तु साधक योगी का लक्ष्य अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में अवीर्यत हो कर सद-ब्रह्म में सदा के लिए विलीन हो कर मोक्ष तथा निर्वाण प्राप्त करने का होता है। जो सम्प्रज्ञात समीधि में ज्ञान अर्जित करने के संकल्प उस योगी की चेतना में उद्भूत हो जाते हैं, अब वे ही उस योगी के चित्त की वृत्तियों के विचार बन जाते हैं और उस योगी को उसके शुद्ध निर्मल स्वरूप में अवीर्यत होने में बाधा डालते हैं। अतः अब योगी अपने को अपने शुद्ध निर्मल आत्म स्वरूप में अवीर्यत करने के लिए 'निर्बीज समीधि' की सिद्धि के लिए अर्पित करता है। ईश्वर प्रणिधान की विधि के द्वारा वह अपने स्वरूप को ईश्वर को समर्पित करता हुआ, अपने चित्त के अन्दर उद्भूत होने वाली सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध करता हुआ वह निर्बीज समीधि की सिद्धि को प्राप्त करता है। अब वह उस सब को - जो उसे पहले सम्यक् प्रकार से ज्ञात हुआ था, सब को भूलने का प्रयत्न करता है और अपने चित्त को सभी प्रकार के संकल्पों से रहित बना लेता है। यही निर्बीज समीधि की सिद्धि है। यही असम्प्रज्ञात समीधि की सिद्धि है।

परन्तु इस असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध होने पर भी उसको आत्मा की संरचना के केन्द्र बिन्दु में उसका 'अहंकार' का संकल्प अभी भी विद्यमान रहता है जो उसे अपने आत्मयोग के मोह से बांध कर रखता है। इसी कारण उसको जीवात्मा अपने सक्रिय असद् ब्रह्म के स्वरूप के सदा आवर्त की दृष्टि को सद्-ब्रह्म से अलग करके बनाये रखती है। जिससे कारण उसको जीवात्मा उस सद् ब्रह्म के निर्गुण निराकार रूप में परिवर्तित नहीं हो पाती और सद्-ब्रह्म में विलीन नहीं हो पाती। इसी दोष को दूर करने के लिए अपने आत्मस्वरूप के अहंकार के संकल्प को विलीन करने के लिए "धर्ममैद्य समाधि" की अन्तिम सिद्धि की जाती है। इस धर्ममैद्य समाधि में योगी अपने आप को पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित करके अपने अहम् के स्वरूप को भी भूल जाता है। उसका अहम् का संकल्प मिट कर उसका सारा आत्मतत्त्व का स्वरूप उस सद् ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

इस प्रकार 'अहङ्कार' का स्वरूप प्रत्येक रचना की योग के स्वरूप को निरन्तर बनाये रखने वाला शक्ति का उद्भव का स्रोत होता है। यह अहङ्कार का संकल्प की शक्ति का स्रोत त्रिवर्त्मा में भी विद्यमान रहता है।

"बुद्धे गुणेन - आत्मगुणेन च स्व" - बुद्धि के गुण से तथा आत्मा के चेतना के गुण से युक्त है। वह त्रिवर्त्मा बुद्धि के गुणों से युक्त है। संकल्पों के बोध को अपने अन्दर बद्ध करके रखने वाली संरचना बुद्धि कहलाती है। त्रिवर्त्मा के अन्दर बने वाले ऋत के कलिलावर्त में यह विशेषता है कि वह 'पुरुष' की रचना में विद्यमान रुद्र को 'ईशानी' ऋत की धाराओं की रश्मियों में उदित होने वाले संकल्पों के परिणामों की परिणति के फलों का उपभोक्ता बनता हुआ उन संकल्पों के उदय की रचना को सूक्ष्म रूप प्रदान करके अपने अन्दर लम्बे समय तक के लिए आबद्ध कर लेता है। यद्यपि धीरे-धीरे उस संकल्प का ऋत में विलय होता रहता है और उस संकल्प का बोध भूलता चला जाता है। परन्तु इस भूलने की प्रक्रिया में अधिक लम्बा समय लग जाता है। इस संकल्प की रचना और परिणति के बोध को बद्ध करने के वर्त्मा के अन्दर विद्यमान रुद्र की ईशानी की ऊर्जा के गुण को ही बुद्धि का गुण कहते हैं। इस बुद्धि के गुण से प्रत्येक वर्त्मा युक्त होता है। विवृत बुद्धि वाले पाताल दिमाग का उपचार भी इसी कारण विजली का करण्ट लगाने से हो जाता है। बुद्धि को इससे त्रिवर्त्माओं का पोषण प्राप्त हो जाता है।

दूसरे इन त्रिवर्त्माओं में भूः लोको में विद्यमान अणु (Atom) के घृतपृष्ठ में विद्यमान 'न' (Neutron), 'प्रोटॉन' (Proton) तथा 'इल' (Electron) कणों में अपने-अपने आवेश (Charge) की सक्रियता के चेतना का आत्मगुण उत्पन्न करने की क्षमता भी होती है। इसी से पूर्ण अणु (Full Atom) में सजीवता की चेतना विद्यमान रहती है। अर्थात् अणु के घृतपृष्ठ के अन्दर विद्यमान ऋतु के बने जीविके तावर्त की चेतना प्रदान करने वाला आत्मा का गुण इस त्रिवर्त्मा के कौललावर्त में ही अच्छ होता है।

सवितृ के आभास्वरा, महाभास्वरा तथा सत्यमहामास्वरा के तपः लोको में उदित होने वाले सभी संकल्प त्रिवर्त्मा के कौललावर्त में आकर बद्ध हो जाते हैं और 'घृत' का ऊर्जा का रूप धारण करके घृतपृष्ठ के अन्दर विद्यमान 'न' कणों (Neutrons) को खूब सींचते हैं। इस प्रकार पूरे अणु की सजीवता प्रदान करने वाला आत्मा का गुण इन त्रिवर्त्माओं में बद्ध रहता है। ऋग्वेद के अन्दर कहा है—

कृष्णं निशानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आ ववृत्रन्त्स दना दृतस्यादि दघृतेन पृथिवी व्युद्यत ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 47)

इस मन्त्र का पद पाठ, अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं—

कृष्णम् निशानम् हरयः सुपर्णाः अपो वसानाः दिवमुत्पतन्ति ।

ते आ ववृत्रन्त्स दनात् ऋतस्य आत् इत् घृतेन पृथिवी उद्यते ॥

कृष्णम् = काला, देवों की कृषि करने वाला ऋतु की ऊर्जा का पुञ्ज जो सभी को चेतना प्रदान करता है - विष्णु का अवतार कृष्ण का भगवान् कृष्ण। (जीम के केन्द्र से हट कर बना अ का दूसरा प्रतिरूप।)
निशानम् = घोंसला। अथवा पूर्ण रूप से बना शान, जिसमें कृष्ण की ऊर्जा का पुञ्ज आरोहित हो कर धी में

विचरण करता है।
हरयः = बहुत से हरि। बहुत से अश्व। बहुत से विष्णु के रूप

सुऽपुर्णाः = सुन्दर तथा सुडौल पंखों वाले ।

अपः = आर्द्र रूप में पदार्थ की मात्रा । जलीय महाभूत

वसानाः = आवरण के वसन (वस्त्र) धारण करते हुए ।

दिवम् = द्यौ की ओर अथवा द्यौ में । उत् = उत्तरोत्तर ऊपर की

उत् + पतन्ति = ऊपर की ओर उड़ते हैं । अणु के केन्द्र

से उठकर घृतपृष्ठ की ओर ऊपर की ओर उड़ते हैं ।

ते = वे सब अश्व ।

आ = आ कर

अववृत्तन् = आ + अववृत्तन् = आ कर लौटते हैं ।

सदनात् = सदन से । रहने के स्थान से । प्रभूत मात्रा में रहने के स्थान से ।

ऋतस्ये = ऋत के

आत् = तब

इत् = 'इत्' कण । इलेक्ट्रॉन ।

घृतेन = घृत के द्वारा । ऊर्जा प्रदान करने वाले तत्त्व के घृत द्वारा ।

इत् + घृतेन = 'इत्' (Electron) को जो m^{-1} का वर्त्ती ऊर्जा

के पुञ्ज का घृत बनता है, उस इत् के लिए वर्त्तन

वाले त्रिवर्त्ती (3 meson) के घृत के द्वारा ।

पृथिवी = अणु की नाभि के घृतपृष्ठ की पृथिवी ।

वि = विशेष रूप से ।

उद्यते = वि + उद्यते = खूब विशेष रूप से तर हो जाती है ।

अर्थात् सुन्दर, सुडौल पंखों वाले अश्वों के रूप में काला द्यौसजा जो देवों के स्वरूपों की कृषि करने वाले ज्ञापर के कृष्ण भगवान विष्णु के अवतार का पूर्ण रूप से अश्व बनता है और जो उत्तरोत्तर द्यौ में उड़ता हुआ आर्द्र रूप के पदार्थ के आवरण के वस्त्रों को पहनता है । बहुत सारे अश्व इस प्रकार कृष्ण का यात्रा बन कर उड़ते हैं और उत्तरोत्तर द्यौ में उड़ते हुए आर्द्र द्रव्य के पदार्थ के आवरणों के बहुत से रूप पहनते हैं ।

वे सब अश्व ऋत के सदन सत्यलोक तक आकर वापस लौटते हैं और 'इत्' (Electron) के ऋत के तरंगों की ऊर्जा प्रदान करने वाले त्रिवर्त्माओं (Masses) के घृत से अणु के भूःलोक में स्थित घृतपृष्ठ की पृथिवी विशेष रूप से उन त्रिवर्त्माओं के घृत से खूब तर होती है। अर्थात् घृतपृष्ठ की पृथिवी उस त्रिवर्त्माओं के इत्-घृत से खूब सिञ्चित होकर तर होती है।

पहला सत्यलोक का 'पर' रूप ऋत का बना नाभि के केन्द्र में बना विष्णु का रूप होता है। दूसरा 'पर' रूप उस नाभि के केन्द्र के सत्यलोक से चलने वाला सत्यामा का ऋत की ऊर्जा का पुञ्ज (Quantum of energy) होता है जो क्षीर का रूप बन कर दूध से उड़ कर उत्तरोत्तर ऊपर की चलता चला जाता है। इस क्षीर के दूध में बहुत सारे अश्वों का सुन्दर-सुडौल पंखों वाले हापर के कृष्ण के काले घान का रूप कृष्ण का घोंसला बन जाता है। कृष्ण इस घान का विष्णु का अवतार कहलाता है। "हा-पर" का अर्थ है विष्णु के सत्यलोक से निष्कल कर दूसरे लोक में विष्णु का अवतरण का दूसरा 'पर' रूप। सत्यलोक से बाहर स्थित सभी अन्य छः लोकों में स्थित देवों की रचना की वेदि के नाभि के केन्द्र का यह दूसरा 'पर' रूप हापर का कृष्ण होता है जो काले घोंसले क्षीर में बैठ कर उसे अपना घान बना कर दूध में उत्तरोत्तर उड़ता हुआ चला जाता है और नाना प्रकार के देवों का रूप धारण करने के लिए आदि रूप के द्रव्य के आवरणों के वस्त्र पहन लेता है।

परन्तु ये क्षीरों के प्रवाह की बनी ऋत की चारा प्रत्येक अणु की नाभि के अन्दर घुस कर उसके केन्द्र की ओर भी चलती है और केन्द्र में स्थित ऋत के सदन सत्यलोक तक आकर वापस लौट जाती है और पुनः उस अणु से बाहर आ कर किसी दूसरे अणु की नाभि में घुस जाती है। यही क्षीरों के प्रवाह की ऋत की चारा सरस्वती कहलाती है। यह सरस्वती जब सत्यलोक से टकरा कर विष्णु के चरण स्पृष्ट करके विष्णु के रेत के प्रवाह के चरण करके नाभि के केन्द्र से बाहर की ओर चलती है तो भगवती सुदात्री बन कर बहुत सारे देवों की जननी बन कर प्रत्येक लोक के देवीनकाय का सृजन तथा पोषण करती हुई चलती चली जाती है।

सरस्वती की ऋतु की चारा के इस स्वरूप को बताने वाला ऋग्वेद का मन्त्र आगे चित्र सहित पृष्ठ (568) पर दिया है। उसे देख कर समझें। इस चित्र में ऋतु की क्षीरों की बनी बहती हुई चारा सरस्वती है तथा उसके अन्दर बना हुआ ऋतु का रुक् क्षीर उस सरस्वती का रुक् स्तन है जो सभी देवों को अपने ऋतु के प्रवाह के पौषण द्वारा पुष्ट करता है। सभी देव उस क्षीर के ऋतु को पी कर ही अपनी प्रीति की रचना के स्वरूप को पुष्ट कर पाते हैं। मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है—

यस्ते स्तनः शशयो यो मग्नोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।

यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमह चातवे कः ॥ (ऋग्वेद-1-164-49)

इस मन्त्र का पद-पाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं—

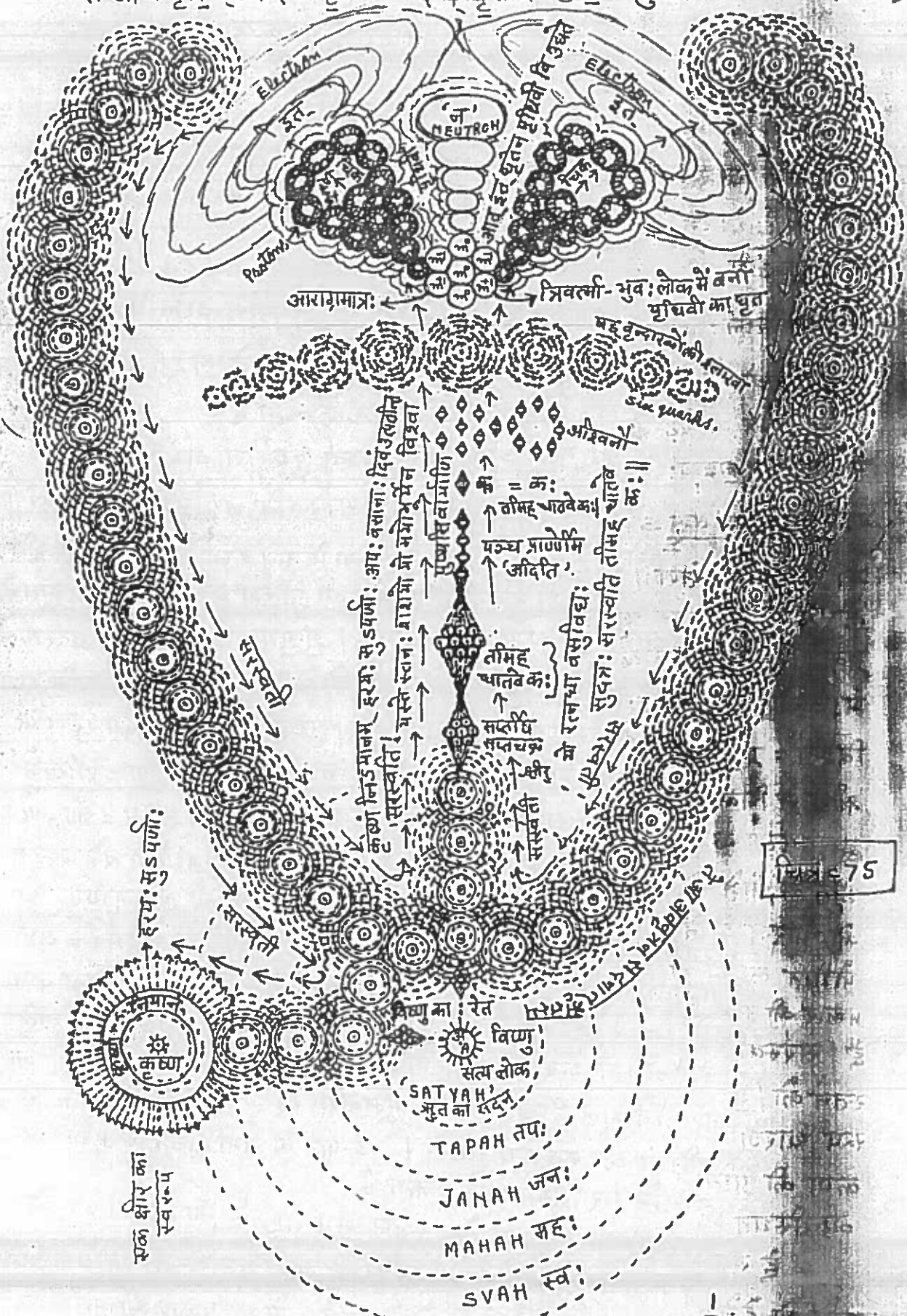
यः ते स्तनः शशयः यः मयः ऽ भूः येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।

यः रत्न ऽ धा वसु ऽ वित् यः सु ऽ दत्रः सरस्वति तम् इह चातवे कः ॥

यः = जो / ते = तेरा / स्तनः = क्षीर (दूध) का पिलाने वाला स्तन है, यहाँ क्षीर की रचना करने वाला ऋतु ही दूध है तथा क्षीर की प्रतिमा वह स्तन है जो ऋतु के प्रवाह के रूप में ऋतु का दूध प्रदान करता है। शशयः = क्षय रहित अवस्था का। यः = जो। मयः ऽ भूः = सब प्रकार के सुरुषों को देने वाला / येन = जिसके द्वारा। विश्वा = प्रकृति में सृजित सभी रचनाओं को। पुष्यसि = तुम अपने स्तन के क्षीरों से निकलने वाले ऋतु के दूध से पुष्ट करती हो। वार्याणि = प्राणिमों द्वारा वरण करने योग्य सभी वस्तुओं को। यः = जो। रत्न ऽ धा = जो अपने ऋतु के क्षीरों को मौलिक अर्थों में बदल कर उन मौलिक अर्थों से बने रत्नों को धारण करने वाला है। वसु ऽ वित् = जो हर प्रकार की अर्थसम्पदा को पौषित करके चनों के लाभ करने वाला है। यः = जो। सु ऽ दत्रः = सभी प्रकार की सम्पदाओं की रचना करके उन्हें प्रभूत मात्रा में देने वाला बड़ा दाजी है। सरस्वति ! = हे सरस्वती माता। तम् = उस अपने पूर्वोक्त गुणों वाले स्तन को। इह = यहाँ पौषण के इस स्थान पर। चातवे = अन्न प्रतिमाओं का रूप धारण करने वाले "चातु" के मूलकण 'क' के लिए। कः = 'क'-कण की प्रतिमा का स्वरूप-करो। पद-पाठ के सभी शब्दों के अर्थों को व्यवस्थित करने पर निम्न अर्थ बनता है।

हे सरस्वति माता ! जो तेरा स्तन क्षय रहित है, जो सभी प्रकार के सुरुषों को देने वाला है, जो वरण करने योग्य सभी पदार्थों को पौषित करता है, जो रत्नों के स्वरूप को धारण करने वाला है, जो हर प्रकार की अर्थसम्पदा के चनों का लाभ करने वाला है, जो प्रभूत मात्रा में सम्पदा देने वाला है, उसको सभी का रूप धारण करने वाले "चातु" के कण की प्रतिमा का स्वरूप धारण करने के लिए करो।

कृष्णं ज्ञियानं हरयः सुपुष्पा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
 त आर्ववृत्रात्सा देना दृतस्यादि दधृतेन पृथिवी व्युद्यत ॥ (ऋग्वेद-1-164-47)



चित्र-75

अस्ते स्तनः शशयो मो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वायसि
 मो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह च्यातवे कः ॥ (ऋग्वेद-1-164-49)

इसी सरस्वती के पुत्रों की शृंखला में भुवः लोको में त्रिवर्त्माओं का क्रम आता है। इसी त्रिवर्त्मा में बुद्धि और आत्मा का गुण बढ़ होता है, जिसका वर्णन पीछे कर दिया गया है। सरस्वती रचना का चित्र पीछे पृष्ठ (567) पर देखें। आरागमात्रः = Only the head of the spoke of the cycle of the nucleus of an atom.

आरागमात्रः = जो सत्यलोक से टकरा कर क्षीरों के स्रुत को सरस्वती को चारा विष्णु के रेत को चारण करके बाहर के लोकों की ओर आती है तो उस समय अणु की नाभ (Nucleus) के चक्र में वह स्रुत को चारा का रूप 'अरा' (Spoke) बन जाती है। उस अरे का वह भुवः लोक के अन्तरिक्ष में अग्रा भाग होता है। क्योंकि घृतपृष्ठ में जाकर तो वह अरा 'न' तथा 'चिक्' कणों के द्वारा घृतपृष्ठ की नाभ को रचना कर देता है। [आरागमात्रः = Head of the spoke of the nucleus of an atom only.]

"तमेव नैमिन् त्रिवृत्तम् षोडशान्तम् शताक्षरम्" - इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय का चौथा मन्त्र इसी नैमि और इसी अरे को बताने वाला है।

"हि - अपरः अपि दृष्टः" - इस त्रिवर्त्मा के 'पर' रूप के साथ-साथ अपर रूप (super intensity form of energy) भी देखा है। एक अवर रूप (Low intensity form of energy) का रूप होता है, दूसरा अपर रूप (super intensity form of energy) का रूप होता है। ये दोनों रूप अलग-अलग हैं। 'पर' रूप तो स्रुत की ऊर्जा का एक बिन्दु पर संक्षिप्त सद्यन रूप होता है। 'अपर' रूप बहुत से 'पर' रूपों का संक्षिप्त अतिसद्यन रूप होता है। 'अवर' रूप स्रुत की ऊर्जा का छितराया हुआ विरल रूप होता है।

भुवः लोक में वर्त्मा के सप्तचक्र का 'पर' रूप होता है, परन्तु भूः लोक में स्थित 'न' वर्ण में बहुत सारे त्रिवर्त्माओं के 'पर' रूपों का एक स्थान पर संक्षिप्त अतिसद्यन 'अपर' रूप होता है। भूः लोक के 'न' वर्ण (Neutron) में यह - 'अपर' रूप भी त्रिवर्त्माओं के 'पर' रूपों के संच का देखा है। 'अपर' का अर्थ दूसरा रूप, परन्तु उससे भी अपर का वह रूप होता है जो उससे अधिक बड़ा होता है। अंग्रेजी का upper शब्द इसी 'अपर' शब्द का रूप जान पड़ता है। चिक् (Proton), इत् (Electron) भी इस वर्त्मा के अपर रूप हैं।

बालाग्रशतभागस्य शतथा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (9)

एक बालके आगे के शिर के भाग की मोटाई का सौवें भाग करके फिर पुनः उस सौवें एक भाग के सौ भाग करके जो एक भाग प्राप्त होता है, उसके परिमाण के समान वह त्रिवर्त्म का एक सप्तचक्र है। इसकी आवेश की चेतना को चारण करके जो पूर्ण अणु (Full atom) का जीव बनता है, यह उसका जीवभाग समझना चाहिए। [अर्थात् अणु को आवेश की चेतना प्रदान करने वाला जीवनदायी भाग त्रिवर्त्मा ही है। उसी से उसके प्रोटोन में धनात्मक तथा इलेक्ट्रॉन में ऋणात्मक आवेश आता है। न्यूट्रॉन भी उसी के कारण अपनी साम्य अवस्था में रहता है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में जीव रहता है, उसी प्रकार अणु के इन अंगों में भी आवेश की चेतना प्रदान करने वाला जीव रहता है।] वह अणु का जीव इस त्रिवर्त्मा के आवेश की चेतना के कारण फिर अनेकों प्रकार के द्रव्यणु, त्रयणु, चतुर्णु, पञ्चणु, षड्णु, सप्तणु, अष्टणु, नवणु, दशणु, अर्धपिण्ड के अनेकों प्रकार के प्रयोग बना कर अनेकों प्रकार की प्रतीकाओं के अर्धपिण्डों के अनन्त प्रकृति के लिए रचना करता है।

अणु का अर्ध शरीर चारी आत्मा ही होता है। जीवित शरीर को ही जीव कहते हैं। कुछ विद्वान केवल आत्मा को ही जीव कहते हैं। ऐसा अर्थ निकलता है। 'जीवात्मा' का अर्थ जीव की आत्मा होता है। इसी से जीव और आत्मा को अलग-अलग अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जब 'जीव' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ उस जीव के शरीर से उसकी आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद करना होता है। अतः 'जीव' यहाँ इस मन्त्र में 'त्रिवर्त्मा' के आवेश की चेतना को चारण करके अणु के अर्धपिण्ड का बना शरीर है। वह अणु (Atom) नाम का जीव ही उस त्रिवर्त्मा की चेतना के आवेश के बल से रासायनिक आवन्धों द्वारा प्रयोगों (Molecules) को रचना करके अनन्त प्रकृति के लिए अनेकों प्रकार के अर्धपिण्डों की तथा अन्य प्रकार की रचनाएँ करता है।

यहाँ त्रिवर्त्मा की तुलना बाल के अग्रभाग से विशेष प्रयोजन से की गई है। पिछले मन्त्र में त्रिवर्त्मा को 'आराग्रामात्रः' कह कर ऊँर का अग्रभाग बताया था। आराग्र यहाँ पर अणु के अर्धपिण्ड के गोले की त्रिज्या बनने वाला वह मेरुदण्ड है जिसके अन्दर रुद्र के 'ईशजी' श्रुत की चारों ओर चली हुई पुरुष, दशमोष्ठि, अग्नि, अदीत के पञ्चप्राणों में, 'क' कण इन्द्र, अश्विनौ, षड् वृन्दारण्यौ त्रिवर्त्मा, 'ज', 'चिब', 'इत' की रचनाएँ करती हैं। यह अंश भी विष्णु के अक्ष के एक मोह [द्विनिमित्तैक मोहम् - श्वेत० उप०-१.५] पर लगा हुआ इसी तरह का लगता है जैसा कि शिर के गोल पिण्ड पर उगा हुआ चन्द्रमा गोल है। इसी कारण सांगोपांग उपमा द्वारा तुल्यता दिखाने के लिए त्रिवर्त्मा को यहाँ बाल के अग्र भाग का दशहजारवाँ परिमाण वाला

ऐसा भाग बताया है जो पूर्ण अणु के जीव का रक्त चेतना प्रदान करने वाला भाग भी है और अपने बाल जैसे तन्तु के ऊपर के अग्र भाग पर नाभि के अन्दर स्थित है। वही प्रकृति में अनन्त प्रकार की रचनाओं का कारण बनता है। इसके जीव के रूप में पूर्ण अणु (Full atom) की रचना सम्पन्न हो जाती है। इस अणु (Atom) के विषय में आंशिक मन्त्र में कहा है—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।

यद्यच्छरीरमादत्ते तेन-तेन स रक्षयते ॥ (10)

ग्रह [अणु (Atom) का जीव] (जो पिछले मन्त्र में बताया गया है)

न तो पुल्लिंग का पुरुष जाति का है, न ही ग्रह स्त्री लिंग की स्त्री जाति का है और न लिंग रहित नपुंसक जाति का है। ग्रह जिस-जिस लिंग की जाति के शरीर के अर्धपिण्ड को बना कर तैयार करके दे देता है, उसी-उसी शरीर के द्वारा ग्रह अपने रूप में रक्षित हो जाता है।

प्रकृति के अन्दर प्रत्येक पदार्थ का अर्धपिण्ड चाहे वह आद्रि रूप में हो और चाहे शुष्क रूप में हो, वह अणुओं से ही मिल कर बनता है। अणु के अन्दर ही त्रिवर्त्मा के अन्दर विद्यमान आवेश के रूप में चेतना प्रदान करने वाला जीव का भाग रहता है। अतः प्रत्येक अणु रक्त जीव है। त्रिवर्त्मा में चेतना के आवेश का स्तर ऋतु के प्रवाह के स्तर पर निर्भर करता है। तपः लोका के देवनिष्ठा के रूप में ग्रह ऋतु का प्रवाह तीन स्तर का पहले बताया जा चुका है। आभास्वरा, महाभास्वरा तथा सत्यमहाभास्वरा नाम के ये तीन स्तर हैं। आभास्वरा स्तर के प्रवाह से जड़ प्रकृति के अर्धपिण्डों के अणु बनते हैं। महाभास्वरा स्तर के प्रवाह से वनस्पति जगत की अर्धचेतन प्रकृति के अणु बनते हैं, और सत्यमहाभास्वरा स्तर के प्रवाह से पूर्ण चेतन प्राणी जगत के अणु बनते हैं। तीनों प्रकार के अणुओं में जीव होता है, परन्तु उनमें ऋतु के प्रवाह के स्तर के अनुसार त्रिवर्त्मा में चेतना के आवेश का स्तर भिन्न-भिन्न होता है। इसी कारण इस आत्मगुण की भिन्नता के कारण वे भिन्न-भिन्न प्रकार के योग बना कर जीवों की श्रेणी में विभाजन कर देते हैं। रक्त वनस्पति के पौधों की कोशिका और रक्त पूर्ण चेतना वाले प्राणी के शरीर की कोशिका में इसी कारण संरचना में अन्तर पड़ जाता है। अणुओं से मिल कर बने वाले योग (molecule) की प्रक्रिया में आबन्ध (Bond) बने के बताने वाले मन्त्र (छठे अध्याय के तीसरे मन्त्र) की व्याख्या में आत्मगुण के इस विशेष अंश को आगे चल कर तत्सम्बन्धी मन्त्र में बतायेंगे।

अतः अपनी चेतना के विबोध स्तर को रखने वाला अणु (Atom) का वह रूप ऐसा जीव है, जो उन शरीरों के द्वारा रक्षित रहता है, जिन-जिन को वह उन शरीरों का रूप प्रदान करता है। प्रत्येक शरीर का अर्धपिण्ड उन अणुओं से ही मिल कर बनता है। अतः यह अणु (Atom) का जीव ज पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है, अपितु उन शरीरों के साथ बँधा है जो पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक हिजड़े का शरीर बनाते हैं।

यह एक अणु (one atom) के शरीर के बने जीव और बहुत से अणुओं से मिल कर बने अर्धपिण्ड के शरीरों वाले जीव अपनी-अपनी ग्रैनिप्रों को स्थित रखते हुए किस प्रकार संवर्धित होते हुए अपने-अपने रूपों को प्राप्त करते हैं? उसकी प्रक्रिया को आगेले मन्त्र में स्पष्ट किया जा रहा है।

संकल्पन स्पर्शन दृष्टि मोह ग्री साम्बु वृष्ट्या चात्माविवृद्धिजन्म।
कर्मनुगान्धनुक्रमेण वैही स्थानेषु रूपाण्यभि संप्रपद्यते ॥ ११

संकल्पन = संकल्प उदित होकर। सर्व प्रथम निर्गुण निराकार सद् ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उदित होता है। सद् ब्रह्म सद् ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उदित होता है। उसी संकल्प के प्रदूषण के कारण उस सद् ब्रह्म में महा विस्फोट (Bang-Bang) होता है, जिसके कारण वह एक से अनेक रूपों में बँट जाता है। उसके उन अवयवों में क्षरण (Cracking) उत्पन्न हो जाता है, जिससे क्षर कर उसके क्षीर बन जाते हैं। उन्हीं क्षीरों का क्षीर सागर बन जाता है। उसी क्षीर सागर का बना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही असत्-ब्रह्म कहलाता है। उसी सत्-ब्रह्म के सत् तथा असत् दो रूप बन जाते हैं। सत् और असत् का एक दूसरे में बदलने का चक्र भी चल जाता है। जहाँ सत् में संकल्प उदित हो कर क्षरण होने से असत् बनता है, वहीं साक्ष-साक्ष असत् के आन्तर स्थित संकल्प शक्ति की प्रक्रिया के द्वारा विलीन भी होते चले जाते हैं और उन संकल्पों के अभाव होने पर वह असत् पुनः सत् में बदल जाता है। इस प्रक्रिया को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ देखें। इस प्रकार संकल्प के द्वारा क्षीरों का जन्म हो जाता है।

स्पर्शना = क्षीरों के बने क्षीर सागर में जब क्षीर पूरी तरह भर जाता है तो वे क्षीर एक दूसरे को स्पर्श करते हैं। एक दूसरे का स्पर्श करके वे एक इकाई में बँध कर नई रचना को रूप प्रदान करने का प्रयास करते हैं और उस स्वरूप को वृद्धि करते हैं। इस स्पर्श के कारण उन क्षीरों के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है। इस कारण क्षीरों के प्रवाह के रोधित होने से बनी इस सर्व प्रथम महा इकाई को महादेव रुद्र का नाम दिया जाता है। रुद्र - रोधने दिने वा धातु से ग्रह रुद्र शब्द बनता है जो अपने अर्थ की सार्थकता को प्रकट करता है। इसी प्रवाह के रोधन से (By this very created resistance) ऋत की पिण्डी बन कर रुद्र के लिंग (चिन्ह) का स्वरूप बनता है। इसी कारण रुद्र को आदि-देव के नाम से पुकारा जाता है। यह स्वरूप स्पर्श करने को प्रीति का कारण हो बनता है।

दृष्टि मोहः = क्षीरों के अन्दर अलग-अलग प्रकार के उदित हुए संकल्प आवद्ध होते हैं। उन्हीं संकल्पों के चारित विशेष चर्म के गुण के अनुसार वे क्षीर अपना अलग-अलग प्रकार का व्यवहार करते हैं। जिन क्षीरों में एक समान संकल्प के चारण करने के चर्म के गुण होते हैं, वे क्षीर सागर में प्रवाहित हो कर एक दूसरे के समीप आ जाते हैं। उनमें दूर से ही एक दूसरे को देख कर पहचानने की सामर्थ्य होती है। इस कारण समान प्रीति के मोह के द्वारा वे एक दूसरे को देखते हुए एक दूसरे के पास आ जाते हैं और क्षीर सागर में अपने ऋत की पिण्डी बना कर रुद्र महादेव के स्वरूप को निर्मित कर देते हैं।

ग्रासम्बु = प्रथम जो छोटे-छोटे रूपों में ऋत की समान गुण चर्म वाली ऋत की पिण्डियाँ बनती हैं, वे ही पुनः दृष्टि के मोह के द्वारा एक दूसरे की ओर आकर्षित हो कर क्षीर सागर में एक दूसरे से स्पर्श कर जाती हैं। स्पर्श करने पर वे एक दूसरे के ऋत के अम्बु (बूँद) को ग्रास बना कर खा जाती हैं और उनकी एक बड़ी ऋत की पिण्डी बन जाती है। इस प्रकार एक-एक करके उस

ऋत को पिण्डी में संवर्धन होता रहता है और रुक्म अन्नान्न ऋत को पिण्डी के महादेव का द्योतित करने वाली स्वरूप बना जाता है।

ग्रासाम्बु वृष्टया च = और ग्रास बना कर खाये गये ऋत के अम्बु के उसी ग्रास की वृष्टि करके, रुद्र उस वृष्टि के द्वारा संवर्धन का पोषण प्रदान करता है।

रुद्र की ऋत की बनी पिण्डी की भी परिमिति की रुक्म सीमा होती है। उस सीमा के सर्वोच्च आश्रम के माप को प्राप्त करने के उपरान्त वह ग्रासित किये हुए ऋत के अम्बुओं को अपने अन्दर समाहित नहीं कर पाती। अतः उस पिण्डी में अब तीन छिद्र (छेद) हो जाते हैं जो रुद्र के तीन अम्बु (नेत्र) कहलाते हैं। इन नेत्रों के द्वारा वह अपने अक्षों पर [on the axis of motion]

उन ग्रासित ऋत के अम्बु के ग्रासों को बाहर बल पूर्वक फेंकने लग जाता है। जिससे रुद्र की 'ईशानी' नाम की ऋत की चारों ओर बन जाती है। इन्हीं 'ईशानी' ऋत की चारों ओर अम्बु के ग्रासों की वृष्टि के द्वारा रुद्र आगे की सारी सृष्टि का सृजन तथा संवर्धन करता है। इन्हीं 'ईशानी' ऋत की चारों ओर रुद्र सारी सृष्टि को शासित करता है। [रुको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्ये इमां लोकां नीशत ईशानीभिः। प्रत्यङ् जनां स्तिष्ठति]

संचुकोचान्त काले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ (श्वेत० उप० ३, २)

इन्हीं ऋत के ग्रास के अम्बु की वृष्टि के द्वारा वह आलिंगन बढ़ करके प्रथम विष्णु को उसका 'पर' शक्ति का रूप प्रदान करता है। यहाँ पर अम्बु की पाँच स्रोतों से रुक्म ही विन्दु पर वर्षा होती है। [पञ्च स्रोतोऽम्बुम् -- (श्वेत० उप० १-५)] उसके पश्चात् विष्णु की नाभि से ऋत के अम्बु का स्रोत नाल के रूप में निकल कर कमलपुष्प के रूप जैसा अष्टदल का अष्टापरावृत ऋत का बनाता है, जिसमें तपः, लोक, जनः, लोक की रचना हो कर ब्रह्मा के स्वरूप की रुक्म देव के रूप में स्थापना हो जाती है। इस सत्यः, तपः, जनः के तीन लोकों की बनी ऋत के चक्रों की रुक्म इन्द्र को 'अर्णु' का नाम दिया जाता है।

इस प्रकार के बहुत से अर्णवों से भरा हुआ द्यौ ही अपवि समुद्र के जाग से जाना जाता है। यहाँ पर ब्रह्मा का स्वयं अर्णु भी मृत की स्वयं रचना की इन्द्राई का 'अम्बु' (बूँद) बन जाता है। इस प्रकार रुद्र के माणस पुत्र ब्रह्मा का उद्भव हो जाता है। इस अर्णवों के अम्बुओं के द्वारा की वृष्टि से आगे की सृष्टि का सृजन हो जाता है। 'पुरुष' की सहस्र शीर्षों में चलने वाली मृत की चाराधे, दशमैलिक अर्ध, अदिति की पञ्चप्राणोर्मि, 'क' कण, अश्विनौ, षड्वन्द्यारक, त्रिवर्त्मा, 'न', चिह्न तथा इत् की रचना इन अर्णवों के मृत के ग्रासों की बूँदों की वर्षा से अलग-अलग हो जाती है।

आत्मविवृद्धि जन्म = इन अर्णवों की मृत की बूँदों की वर्षा के द्वारा ही प्रत्येक अर्धपिण्ड में अर्णवों के मृत की चारा का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। इस निरन्तर चलने वाले मृत के प्रवाह की गति के कारण उस अर्धपिण्ड में अपनी चेतना का आवेश उत्पन्न हो जाता है जो उस अर्धपिण्ड के अन्दर उसकी आत्मा का प्रवेश माना जाता है। इसी को स्वयं जीव का जन्म माना जाता है। इस प्रकार से स्वयं जीव की विशेष वृद्धि का उसका अपना जन्म इस सृष्टि में हो जाता है। विवृद्धि का अर्थ विशेष वृद्धि है। विशेष का अर्थ है कि यह मृत का प्रवाह उस अर्धपिण्ड के शरीर में आभास्वरा, महाभास्वरा अथवा सत्यमहाभास्वरा स्तर के तीन प्रकार के प्रवाहों में से किसी एक प्रकार का विशेष रूप से होता है। विशेष रूप उरा में से किसी एक प्रकार के प्रवाह में उस अर्धपिण्ड के शरीर को कोई एक विशेष ग्रोनि की प्रतिमा का शरीर बनाता है। जैसे कि यदि आभास्वरा स्तर का प्रवाह बना है तो उस से स्वयं अणु (Atom) का अर्धपिण्ड बनेगा। परन्तु उस अर्धपिण्ड के अणु की ग्रोनि हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, लोहा, ताँबा, सोना, कार्बन आदि किस विशेष तत्त्व के अणु की बनेगी? इसी प्रकार यदि महाभास्वरा स्तर का मृत का प्रवाह है तो वह, बेनरपीति जगत् के किस वृक्ष या पौधे की कोशिका की रचना करने वाले अणुओं का सृजन करता है। यदि सत्यमहाभास्वरा स्तर का प्रवाह है तो किस विशेष प्राणी की ग्रोनि के शरीर की कोशिका की रचना करने वाला अणु सृजित करता है। इस प्रकार इस वृद्धि में भी स्वयं विशेष प्रकार की विशेषता उत्पन्न करके अर्णवों के मृत के अम्बुओं (बूँदों) की वर्षा के द्वारा विवृद्धि करके नये जीव की आत्मा सीधे जन्म देता है।

कर्मानुगानि अनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाणि अभिसंप्रपद्यते =

इन अणुओं के अम्बु की वृष्टि के ग्रासों में जिस प्रकार के संकल्प उदित हो कर क्षीरों की चाराओं में आबद्ध होते हैं, उन्हीं संकल्पों के अनुक्रम के अनुसार कर्म करने वाली ब्रज कर आत्मा अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूपों वाले जीवों के शरीरों की प्राप्ति करती है। गीता में भी इसी प्रकार कहा है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद् भाव भावितः ॥ [गीता - अध्याय ४, श्लोक ६]

अर्थात् जिस-जिस गाव का स्मरण करता हुआ जीवात्मा अपने शरीर के कलेवर को मृत्यु के अन्त समग्र पर छोड़ता है, उस-उस भाव से ही भावित हो कर उसी के अनुक्रमानुगामी रूप के शरीर को पुनः प्राप्त हो जाता है। हे कौन्तेय अर्जुन यही इस जीवात्मा का ज्ञान प्रकार के शरीरों में विचरण करने का निग्रह है।

“संकल्पन स्पर्शन दृष्टि मोह ग्रासाम्बु ----” मन्त्र का अर्थ दूसरे रूप में

किसी एक जीवात्मा द्वारा चारित शरीर के विभिन्न अंगों में चारित विभिन्न अवयवों के ऊतकों (Tissues) के स्थानों पर अलग-अलग प्रकार के कर्मों की प्रक्रिया करने के गुणों को चरण करने के लिए भी किया जाता है। यह अर्थ इस प्रकार बनता है।

संकल्पन = संकल्प की क्रिया करना - जो मन का कार्य है।

स्पर्शन = स्पर्श करने का कार्य करना - जो त्वचा की इन्द्रि का कार्य है।

दृष्टि = देखने का कार्य करना - जो नेत्रों की इन्द्रि का कार्य है।

मोह = मोह के द्वारा चित्त में विकार उत्पन्न करना - जो चित्त की वृत्ति का कार्य है।

ग्रास = भोजन के अंश को ग्रसित करना - जो मुख इन्द्रि का कार्य है।

अम्बुवृष्टयाच = जल के कणों को पसीने के रूप में बाहर निकाल कर उनको वर्षा करने की प्रक्रिया के द्वारा मल विसर्जित करना अथवा मलमूत्र

विसर्जित करने की वृष्टि की प्रक्रिया के द्वारा - जो रोमरूपों के छिद्रों

द्वारा तथा मूत्रेन्द्रि अथवा गुदा की इन्द्रि के द्वारा होता है।

आत्म विवृद्धि = अपने स्वयं के शरीर की विशेष वृद्धि करने का कार्य करना - जो भोजन को पचा कर उसके रस को रक्त - मांस - मज्जा आदि में बदलने का कार्य पाचक प्रणाली के अवयवों द्वारा शरीर के अन्दर पेट में किया जाता है।

जन्म = जो प्रजनन का कार्य जननेन्द्रि द्वारा किया जाता है।

कर्मानुगानि अनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाणि अभिसंप्रपद्यते ॥ शरीर में उपरोक्त विद्यमान इन सभी अवयवों के ऊतकों को उनके अपने-अपने

कर्मों का अनुगमन करने के लिये, उनके अपने-अपने विशेष अनुक्रमों के अनुसार व्यवस्थित करने के लिये, उनके अपने-अपने उचित स्थानों पर, आत्मा ही उन्हें अपने प्रयत्न से स्थापित करती है। यह स्थापना भी सम्यक् रूप से की जाती है। जैसे कि पहले मुख भोजन करेगा, उसके पश्चात् उस भोजन में अमाशय अपना कार्य करेगा। उसके पश्चात् अन्तर्द्वारा अपना कार्य करेंगी। उसके पश्चात् मूत्रेन्द्री और गुदा उसका विसर्जन करेंगी। अतः उनका कार्य करने का सभी अंगों का एक विशेष अनुक्रम तथा एक विशेष स्थान है। उस अनुक्रम की प्रक्रिया की व्यवस्था आत्मा ही करती है तथा उन्हें उनके अनुक्रम के अनुसार सम्यक् रूप से संचालित भी रखती है। संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, ग्रास बनाना, अम्बुवृष्टि से मूत्र करना, आत्म वृद्धि के लिये पाचन क्रिया करना, प्रजनन करना, इन सभी कार्यों की विशेष अनुक्रम के अनुसार सम्यक् अवस्था किसी शरीर के अंगों के अवयवों के ऊतकों में आत्मा ही करती है।

स्थूल और सूक्ष्म बहुत से रूपों के अर्धपिण्डों का वरण उन्हें विशेष कर्म का अनुगामी बनाने के लिये आत्मा किस प्रकार करती है? यह अगले मन्त्र में देखें-
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।

क्रिया गुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोग हेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥ (12)

ऋत के प्रवाह के चारा में उदित जिन संकल्पों के आत्मा अपने अन्दर चलाने वाली ऋत की चाराओं में आबद्ध करके उनके अनुक्रमानुगामी कर्मों को करने का गुण चारण कर लेती है, अपने उन गुणों के द्वारा ही आत्मा अपने अनुरूप बहुत से स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों वाले शरीरों की जीवों की प्रीतियों को चारण करके तथा उन शरीरों के भीतर स्थित बहुत से स्थूल तथा सूक्ष्म अवयवों के रूपों को चारण करके वरण कर लेती है तथा उन्हें अनुक्रमानुगामी बना देती है। इस शरीर तथा उसके अंगों के अवयवों के रूपों को आत्मा के वरण करने की प्रक्रिया में 'क्रियागुण' तथा 'आत्मगुण' भी कारणों के रूप में देखे गये हैं। इनके अतिरिक्त शरीर और आत्मा के संयोग का हेतु 'अपर-गुण' भी देखा गया है।

रूप की रचना अर्धपिण्डों के द्वारा होती है। अर्धपिण्डों से ही शरीरों की प्रीतियाँ बनती हैं। किस अर्धपिण्ड की प्रतिमा किस प्रकार की बने, इसका नियन्त्रण उस अर्धपिण्ड के अन्दर विद्यमान अणुओं (Atoms) के अन्दर प्रवाहित होने वाली ऋत की चाराओं में आबद्ध संकल्पों के विशेष गुणों पर निर्भर करता है। इन्हीं गुणों के अणुओं के 'आत्मगुण' कहते हैं। इन्हीं आत्मगुणों में ऋत के प्रवाह की तरंगों

की wave length और frequency आदि भी आते हैं। मृत की सद्यता तथा प्रवाह का स्तर और 'पर' रूप (Intensity) का स्तर भी उसी में आते हैं। पञ्चावली में विशेष प्रकार की संरचनाएँ भी इसी आत्मगुण में आती हैं। इसी आत्मगुण के द्वारा प्रत्येक अणु में दूसरे अणु के साथ रासायनिक आबन्ध (Chemical bond) बनाने की क्षमता भी आती है, क्योंकि मृत के बाहर की ओर प्रक्षेपण की जाँच की क्षमता के स्तर के अनुसार ही जाँच के बाहर 'इत्' संरचनाओं (Electron formations) का स्वरूप बनता है, जिनके द्वारा कोई अणु दूसरे अणु के साथ योग करने के लिए रासायनिक आबन्ध बनाता है। अतः आत्मगुणों के द्वारा भी किसी बड़े अर्ध पिण्ड (Big block of the mass of the matter) का रूप धारण करके उसकी विशेष आवृत्ति के अनुसार उसकी योग का निर्धारण होता है।

जब मृत के प्रवाह का स्तर सर्वोच्च स्तर का सत्यमहामास्वरा स्तर का होता है तो उसमें अणुओं का योग विशेष प्रकार से हो कर उस प्राणी के शरीर की विशेष प्राणी कोशिकाएँ (Animal cells) बनती-चली जाती हैं। उस प्राणी कोशिका के अन्दर विभिन्न प्रकार के अणुओं का योग बनता चला जाता है। उनमें रासायनिक आबन्ध होते चले जाते हैं। परन्तु जब उस प्राणी की मृत्यु हो जाती है तो उस प्राणी के मृत शरीर के अणुओं में मृत के प्रवाह के स्तर की ऊर्जा सत्यमहामास्वरा के स्तर से कम होकर या तो महामास्वरा स्तर की या आभास्वरा स्तर की बन जाती है। उस मृत शरीर की कोशिकाओं में अब अणुओं का आबन्ध हो कर पहले जैसे योग नहीं बनते। उनमें विकृति उत्पन्न हो जाती है, जिससे दुर्गन्ध और सड़न उत्पन्न हो कर उनमें पहले के बने हुए योग (Molecules) भी विरगड़ित हो कर स्वतन्त्र अणुओं की उनकी गन्ध सहित वातावरण में विकीरित (Radiate) करके फैलने लग जाते हैं। उसके पश्चात् उनमें या तो बनस्पति जगत् की कोशिकाओं की रचना करने वाले रासायनिक योगों के आबन्ध होने लग जाते हैं या पूर्ण रूप से जड़ रज्जिज पदार्थों के आभास्वरा स्तर के योग बनने लग जाते हैं। इस प्रकार आत्मगुण के द्वारा योग बनने (Molecule formation) की प्रक्रिया चलती रहती है।

यदि मृत के प्रवाह के समान स्तर के विभिन्न अणुओं की एक-दूसरे के पास ला कर स्थित कर दिया जाये, तो भी उनमें उन अणुओं की

बनावट के अनुसार अपने को व्यवस्थित करने से भी रासायनिक आवन्धों (Chemical bonds) की रचना हो कर यौग (Molecules) बनते हैं। जैसे कि कार्बन और आक्सीजन के अणुओं को पास ला कर स्थित करने से 'कार्बनडाइऑक्साइड' (CO_2) का यौग बन जाता है। यह त्रयणुक बनता है। द्वयणुक 'कार्बन मोनोऑक्साइड' (CO) भी बन सकता है। ये अणुओं की बनावट के अनुसार क्रिया करने वाले उनके 'क्रियागुण' कहलाते हैं। अतः 'क्रियागुण' के द्वारा भी बहुत से स्थूल अथवा सूक्ष्म आकार के शरीरों की रचना की प्रोत्तियों के यौग भी बनते हैं। आकाश महाभूत के अणुओं के यौगों के शरीरों का आकार अत्यन्त सूक्ष्म होता है और उनके जीव भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रोत्ति को चारण करने वाले होते हैं। जब कि पृथिवी महाभूत के अणुओं के यौग अत्यन्त स्थूल आकार के शरीरों की प्रोत्तियों को चारण करने वाले बनते हैं। इस प्रकार 'क्रियागुण' भी इन स्थूल और सूक्ष्म रूपों के शरीरों की प्रोत्तियों को चारण करने वाले यौग बनाते हैं।

तीसरा गुण 'अपर गुण' है। 'अपर गुण' के अनुसार सत्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन का संकल्प उदित हो कर जो सारी स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि का स्थापना का यौग बनता है, तथा उन संकल्पों के विलय होने पर जब महाप्रलय हो जाती है, तो यह यौग बनने की प्रीति 'अपर गुण' द्वारा मानी जाती है। 'अपर गुण' की प्रीति में सर्वाधिक शक्तिशाली होती है, इसे क्रियागुण अथवा आत्मगुण की प्रीति याओं के द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। यह स्वयमेव ही चलती है। इसमें सृष्टि सृजन का संयोग अपने आप बनता है। इसी कारण इसे 'अपर गुण' कहा जाता है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारगोचररूपम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (13)

इसी प्रकार का मन्त्र चौथे अध्याय में चौदहवें मन्त्र के क्रम पर भी आया है। परन्तु उस मन्त्र और इस मन्त्र में केवल एक शब्द का पाठ भेद है। वहाँ पर "ज्ञात्वा शिवं मुच्यते सर्वपाशैः" है तथा यहाँ पर "ज्ञात्वा देवं मुच्यते

सर्वपाशैः" - लिखा है। केवल "शिव" और "देव" का पाठ भेद है। इसी से इन दोनों मन्त्रों में अर्थ भेद हो जाता है।

चौथे अध्याय में वर्णित मन्त्र में 'शिव' की संरचना में रुद्र की 'इशानी' रश्मियों के द्वारा बने कीललावर्त की कील का रुक्म मृत के आवर्त से सम्बन्ध है जो 'इशानी' मृत की चाराओं में उदित संकल्प को अपने आवर्त में बद्ध करके संरचना करने के लिए चिरस्थायी रहने वाली ऊर्जा प्रदान करता है। यदि उस कीललावर्त के कील में आबद्ध संकल्प को निर्मित करने वाले और उसे विनीज करने वाले रुद्र के शिव रूप को योगी जान लेता है तो वह भवसागर के जन्म मरण के चक्र के सब पाशों से अपनी विद्या के द्वारा छूट जाता है और अमृत स्वरूप सद्ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

परन्तु यहाँ पर पाठ भेद - "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः" - है। इसका अर्थ बनता है कि उस कीललावर्त की रुक्म कील में बजने वाले देव को जान कर ज्ञाता सब पाशों से मुक्त हो जाता है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि कीललावर्त की रुक्म कील में त्रिवर्त्माओं का सप्तचक्र ही देव बनता है। अतः यहाँ कील में त्रिवर्त्माओं का देवीनकाय ही भुवः लोक में बनता है। उस भुवः लोक के देवीनकाय के 'त्रिवर्त्मा' देव को जान कर ज्ञानी सभी प्रकार के आबन्धों (Bond-formation) के बनने की प्रक्रिया को जान जाता है। वह जान जाता है कि विभिन्न प्रकार की योनियों का रूप चारण करने के लिए अर्धपिण्डों में विभिन्न अणुओं के योग बजने वाली आबन्ध प्रक्रिया किस प्रकार चलती है और जीवात्मा उस शरीर के अर्धपिण्ड से किस प्रकार बंध जाता है? वह जीवात्मा विभिन्न प्रकार की योनियों के पाश में कैसे बंध जाता है? इसका ज्ञाता उन पाशों से मुक्त होने का उपाय भी समझ जाता है और ऐसे सभी पाशों से मुक्त हो जाता है। इस पूरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार बनता है -

पहले इस मन्त्र का अन्वय देखें -

कीललस्य मध्ये विश्वस्य अनेक रूपम् स्रष्टारम् अनादि-अनन्तम् विश्वस्य रुक्मम् परिवेष्टितारम् देवम् ज्ञात्वा (ज्ञाता) सर्वपाशैः मुच्यते। अब इसका अर्थ करते हैं -

[मृत के अन्दर घी में बने पञ्चावर्त के कीललावर्त के] रुक्म कील के मध्य में विद्यमान उस देव को जो विश्व की अनेकरूपता

को उत्पन्न करने वाला है, जो अनादि काल से विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा, जो इस सारे विश्व को सगी और से घेर कर इसके ऊपर छाया हुआ देव है और जिसने सारे विश्व को अपने अन्दर लपेटा हुआ है, सेसे उस एक देव को जान कर ज्ञाता पुरुष सभी उन पाशों से मुक्त हो जाता है (जो उसकी जीवात्मा को उसकी शरीर की प्रोनि से बाँधे हुए हैं। अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।)

ऋग्वेद में कहा है -

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिवः आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्म उपरे विचक्षणम् सप्तचक्रे षट्कर आहुरर्पितम् ॥

(ऋग्वेद-1, 164, 12)

इस मन्त्र का पद-पाठ और अर्थ निम्न प्रकार बने हैं -

पञ्चपादम् पितरम् द्वादशाकृतिम् दिवः आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।
अथ इमे अन्ये उपरे विचक्षणम् सप्तचक्रे षट्कर आहुः अर्पितम् ॥

पञ्चपादम् = द्यौ में बने स्वर्ग के पाँच पाद वाले द्यौ में

पाँच पाद वाली रचना 'पञ्चावर्त' की होती है। ये पाँच आवर्त पहले ही बताये जा चुके हैं। इनके नाम विष्णु-आवर्त, सवितृ आवर्त, ईशान आवर्त, कालल आवर्त और नीचकैत आवर्त हैं। इन आवर्तों की रचना का चित्र पृष्ठ (41) पर देखें। ये पाँचों आवर्त विशुद्ध रूप से ऋतु में बने आवर्त हैं। अतः यह केवल द्यौ की रचना में ही आते हैं।

पितरम् = पिता को। वेदों में द्यौ को पिता तथा पृथिवी को माता कहा गया है। अतः यहाँ इस संदर्भ में इसका अर्थ 'द्यौ को' बनता है। अर्थात् पाँच पादों वाले पञ्चावर्त की रचना करने वाले पिता द्यौ को।

द्वादशाकृतिम् = इस पाँच पादों वाले पञ्चावर्त में नीचकैत-आवर्त के अन्दर बारह घेरो वाली (द्वादशापथ्यः) बारह छोटे आवर्तों की आकृतियाँ भी बनती हैं। [पृष्ठ (41) पर चित्र में देखें।] उन बारह आकृतियों वाले पञ्चावर्त की उस आकृति को।

दिवः = द्यौ की (उस पञ्चावर्त की रचना की आकृति को)

आहुः = (ब्रह्मवेत्ता विद्वान्) कहते हैं।

परः = इस पञ्चावर्त की रचना के परिमित आयाम के उस व्योम में जो इस पञ्चावर्त की सक्रियता से ऊर्जा के 'पर' रूप रूप से भरा हुआ है। ऊर्जा का 'पर' रूप = form of high intensity of energy in some particular limited space होता है।

अर्धः = ऊर्जा के किसी विशेष सीमित आयाम के 'पर' रूप के आधे भाग में (स्थित)

पुरीषिणम् = अपने 'पर' रूप की ऊर्जा के सीमित आयाम में स्थित 'पुर' को शासित करने वाला है। ऋत की ऊर्जा के 'पर' रूप के आयाम में स्थित जो उस ऋत की ऊर्जा के 'पर' रूप के अति सघन, गहन तथा गम्भीर होने से जो अर्धपिण्ड सृजित होता है, उस अर्धपिण्ड को 'पुर' कहा जाता है। उस पुर का ईश बन कर उसको नियन्त्रित करके शासित करने की क्रिया को 'पुरीषिणम्' कहा जाता है।

इस प्रकार इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार बनता है:-

... द्यौ की पाँच पाँदों वाली और बारह चोंचों की आकृति वाले पञ्चावर्त की आकृति को जो अर्धपिण्डों की जनक बनती है, उस पिता को उस अर्धपिण्ड के 'पुर' के आधे भाग को शासित करने वाला कहते हैं। [यहाँ पर नाभि के अन्दर बने वाले 'न्यूक्लीयोनस' का तथा नाभि से बाहर स्थित इलेक्ट्रॉन्स का $\pm \frac{1}{2}$ spin का शासित होना इस पञ्चावर्त की ऊर्जा के कारण बताया जा रहा है। नाभि में स्थित neutrons, protons, mesons, quarks इसी पञ्चावर्त के द्वारा शासित हो कर $\pm \frac{1}{2}$ spin करते हैं।

अब दूसरी पंक्ति का अर्थ करते हैं:-

अथ = अब पुनः पूर्व रचना के ऊपर नये शिरे से बनी दूसरी रचना।

इमे = ये

अन्ये = दूसरी रचनाये

उपरे = पूर्व की गई पञ्चावर्त की रचना के ऊपर ही।

विऽ चक्षुणम् = विशेष रूप से देखने वालों को अथवा

विशेष रूप से विविधता पूर्वक दीक्षिता के साथ अध्ययन करने वालों को। अथवा विशेष रूप से देखी गई रचना को।

सप्तऽ चक्रे = सात लोकों के बने एक चक्र में बनी रचना में

षट्ऽ अरे = जिस सात चक्रों के सात लोकों के बने एक चक्र में केन्द्र के एक सत्यलोक के चक्र को छोड़ कर उसके ऊपर बने वाले अन्य ऐसे छः चक्रों में जो अरे (spokes) वाले हैं। जो सत्यलोक के ऊपर छः अन्य लोक एक दूसरे के साथ अरों के द्वारा जुड़े हुए हैं, उन छः चक्रों में अरों वालों में।

आहुः = कहते हैं।

अर्पितम् = लगे हुए को।

अर्थात् जो पञ्चावर्त का पाँच तलों वाला तथा बारह क्षेत्रों की आकृति वाला तथा पुर के आधे 'पर' शीर्ष के क्षेत्र को शासित करने वाला जनक द्यौ का रचना का जो भाग है, उसके ऊपर दूसरी रचना का सात लोकों - भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यः लोकों के सकेन्द्रित सात चक्रों के बने एक चक्र में विशेष रूप से देखने वालों को एक केन्द्र के सत्यलोक के चक्र के ऊपर अन्य छः लोकों (तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः लोकों) के चक्रों को अरे वाले लगे हुए चक्र कहते हैं। अर्थात् सत्यलोक के केन्द्रित चक्र में अन्य छः लोकों के चक्र अरों के द्वारा जुड़ कर लगे हुए हैं।

ये अरे रुद्र की दिशानी, ऋतु की धाराओं के ही बने हुए हैं, जिनके द्वारा वह सातों लोकों को शासित करता है। सत्यलोक से सहस्र शीर्षों में ये अरे निकल कर अन्य छः लोकों के चक्रों को अपने ऊपर जोड़ते चले जाते हैं।

इस प्रकार रचना के ये दो दौर चलते हैं। पहला दौर द्यौ के अन्दर

पञ्चावर्ती की रचना का चलता है जिसमें एक कलिल आवर्त बनता है। उसमें मृत के चक्रों के रूप में इस कलिलों के आवर्त में बहुत से कलिल बनते हैं। बारह चैरो के रूप में बारह आधुनिकों को नीचवेत आवर्त में जन्म देने के लिए मूल रूप में कलिलों के आवर्त में भी बारह ही कलिलों के चक्र बनते हैं। वे ही अपने प्रतिरूपों को नीचवेतावर्त में प्रक्षेपित करते हुए वहाँ भी बारह चैरो अधक गहन चैरे बना देते हैं, जिनको बारह आधुनिकों बना जाती है।

इस पञ्चावर्ती की दो की रचना के प्रथम दौर के चक्रों के बाद दूसरे प्रकार की रचना का दौर पहली रचनाओं के ऊपर दो रचने का चलता है, जिसमें सात लोकों - भूः भुवः स्वः, महः जलः, तपः, सत्य लोकों की रचना होती है और इन सात लोकों में विस्तार होने वाले तत्सम्बन्धी देव निष्ठाओं की रचना भी हो जाती है। विष्णु आवर्त के ऊपर सत्यलोक बनता है। सवितृ आवर्त के ऊपर तपः लोक, जलः लोक बनते हैं। ईशान आवर्त के ऊपर महः लोक, पाँच प्रकार का स्वः लोक बनता है। कलिल-आवर्त के ऊपर भुवः लोक बनता है। निचवेत आवर्त के ऊपर भूः लोक तथा सप्त पाताल लोकों की रचना होती है।

इसी प्रकार प्रत्येक लोक में देव निष्ठाओं की रचना होती है। प्रत्येक लोक के तत्सम्बन्धी देव निष्ठाओं की सारणी पृष्ठ ३० से लेकर पृष्ठ ३१ तक विस्तार पूर्वक पीछे दी गई है, वहाँ पर देखें।

इस प्रकार रचना के दोनों दौरों के क्रम में पहले दौर में पञ्चावर्त के कलिल आवर्त में पहले कलिल बनती है। फिर रचना के दूसरे दौर में कलिल आवर्त में भुवः लोक बनता है और उस कलिल के सत्य में त्रिवर्ती का त्रिगुण रूपों वाला देव बनता है। कलिल में सत्य के त्रिवर्ती रूप की ईशान के चक्र की ऊर्जा स्थापित होती है, जब कि त्रिवर्ती में सतोगुणी रजोगुणी तथा तमोगुणी आवेश के गुण स्थापित होते हैं। सतोगुणी निष्क्रियता का शान्त गुण अं होता है। रजोगुणी चक्रावृत्ति आवेश का अं का गुण होता है जब कि तमोगुणी मृणात्मक गुण का गुण होता है। अं का सतोगुण निष्क्रियता के कारण शान्त अवस्था का गुण बन करता है। अं का रजोगुण स्थूलता बढ़ाकर पदार्थ की सघनता को बढ़ाता है। अं का तमोगुण विखण्डन की प्रक्रिया के द्वारा त्रिनाश को बढ़ाकर तरंगों की रेडियेशन को बढ़ाता है। इसी कारण इलेक्ट्रॉनों के प्रसार से विद्युत की चिन्ता दहन कारी तरंगे चलती है।

अतः जो कलिल के मध्य स्थित त्रिवर्त्मा के देव को उससे तीनों आवेशों के गुणों सहित जान लेता है, उसे अणुओं की आबन्ध बनाने की प्रक्रिया द्वारा योग (molecule) बनाने की प्रक्रिया का ज्ञान हो जाता है। जिससे वह समझ जाता है कि प्रकृति का जीवन सा योग हमें कैसे प्राप्त होता है और उस से हमें क्या सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है।

त्रिवर्त्मा के ज्ञान होने से वह नीम के अन्दर न्यूट्रॉनों तथा प्रोटॉनों के मध्य बनने वाले आबन्धों को भी समझ जाता है। इस से अणुओं की अनेकरूपता का कारण उसे समझ आ जाता है।

इसके साथ ही त्रिवर्त्माओं में ऋतु के प्रवाह की सक्रियता के स्तरों का बनने का कारण तथा कलिलों में संकल्पों के बहने का कारण भी समझ आ जाता है। इससे वह समझ जाता है कि जीव के अन्दर आत्मा और शरीर का संयोग किस प्रकार होता है। जीवन से ऐसे पाश हैं जो आत्मा को शरीरों की योजनाओं के साथ बाँध कर रखते हैं। वह कलिल की रचना करने वाली 'ईशानी', ऋतु की चारों ओर के प्रवाह में उद्भूत होने संकल्पों के परिणाम को समझ जाता है। इसके कारण वह दृढमति से उन उद्भूत होने वाले संकल्पों का पूर्ण निरोध करके निर्बीज समाधि की सिद्धि करता है, उससे उपरान्त चर्ममैव समाधि की सिद्धि करके अपने अहम् के मूल संस्कारों की जड़ को भी मिटा देता है। इस प्रकार त्रिवर्त्मा देव को जान कर वह सब पाशों से छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और सदा के लिए सद-ब्रह्म में लीन हो कर परम-धाम को प्राप्त कर लेता है। यही अर्थ इस-
"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः" - का बनता है।

अगले मन्त्र में ऋषि ने स्वयं इन दो शब्दों 'शिव' तथा 'देव' के भेद को अपने शब्दों में ही स्पष्ट कर दिया है। मन्त्र है —

भावग्राह्यमनीडारव्यं भावाभावकरं शिवम् ।

कलासर्गकरं देवम् ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ (14)

शिव को भावग्राह्य, जीड़ रीढ़त तथा भाव और अभाव दोनों को करने वाला कहते हैं। देव को कला तथा सर्ग की रचना करने वाला कहते हैं। इन दोनों को जो विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से जान लेते हैं, वे शरीर के बन्धन को छोड़ देते हैं। [उन से नाना प्रकार की योजना चरण करने वाला शरीर छूट जाता है और वे मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।]

जब भी ऋतु में कोई संकल्प उद्भूत होता है तो उस संकल्प की शक्ति उस ऋतु को अपने अनुसार अनुकूलमानुगामी बना कर ऋतु में रुक

विशेष प्रकार की रचना का विशेष प्रकार के श्रुत के प्रवाह वाला छोटा सा, पञ्चावर्त के अन्दर कहीं भी रुक, भँवर चक्र बना कर स्थापित कर देती है। इस प्रकार उस संकल्प के अनुसार बनी श्रुत की रुक रचना को सत्ता सूक्ष्म रूप से स्थायी रूप में कुछ काल के लिए स्थापित हो जाती है। श्रुत के अन्दर उद्भूत होने वाली सूक्ष्म रचना की स्थापना को ही 'भाव' कहा जाता है। जब भी कोई 'भाव' इस प्रकार का किसी संकल्प का स्थापित होता है तो उसके श्रुत के छोटे से भँवर चक्र का रुक केन्द्र बनता है और उस केन्द्र के चारों ओर श्रुत उस भँवर चक्र में आबद्ध हो कर ऊर्जा प्रदान करता हुआ अपनी रुक श्रुत की पिण्डी की स्थापना कर लेता है। इस भँवर चक्र में श्रुत को बनी पिण्डी रुक और श्रुत को अपनी ऊर्जा खींच कर आकर्षित करती है तो दूसरी ओर अपने अन्दर समाहित किया गया श्रुत को बाहर भी फैलती है। इस प्रकार इसके वाम मुख और दक्षिण मुख भी बन जाते हैं। वाम मुख से अपने अन्दर अधः के लिए श्रुत को खींचती है और दक्षिण मुख से श्रुत को बहु पिण्डी बाहर फैलती हुई दीक्षणा में ऊर्जा प्रदान करती है। दीक्षणा मुख दीक्षणा देता है तो वाम मुख ग्रासित करता है। यही इस शिव का स्वरूप है जो संकल्प के उद्भूत होने पर उस संकल्प के भाव के परिणाम स्वरूप श्रुत के अन्दर बनी पिण्डी के रूप में प्राप्त होता है। अतः शिव का स्वरूप भाव बाह्य कहा गया है। जिस प्रकार के संकल्प का भाव शिव भक्त के मन में आयेगा, उसी के अनुरूप उस शिव भक्त की जीवात्मा के श्रुत के भँवर चक्र में शिव के भँवर चक्र की पिण्डी का श्रुत का वही स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जो उस शिव भक्त में उस आबद्ध संकल्प के भाव के अनुसार उसको उसका इच्छित फल प्रदान करता रहता है। इस इच्छित फल का मन में उद्भूत उस संकल्प के अनुसार अनुमूल फल देने वाला होने के कारण मन को सफेद, शान्ति प्रदान करने वाला स्वरूप कल्याणकारी माना गया है। इसी कारण इस स्वरूप को कल्याणकारी 'शिव' कहा गया है।

श्रुत के अन्दर छोटे से भँवर चक्र को चरण करने वाली श्रुत की बनी इस कल्याणकारी शिव की पिण्डी को मोह मोहित भी कहा गया

हैं। यह ऋतु को पिण्डों अपना जीउ अपने ऊपर और जया आवरण कोई नई रचना का चढा कर जहाँ बनाती हैं। अपने ऊपर नये आवरण चढाने का कार्य तो विष्णु का है। इसी कारण विष्णु को आवरणों का देवता कहा जाता है। विष्णु के अवतारों पर के भगवान कृष्ण को भी अपने ऊपर आवरणों का काला द्योसले बनाने वाला कहा गया है। अतः विष्णु या विष्णु के अवतार तो जीउ (द्योसले) वाले कहे गये हैं, परन्तु रुद्र और रुद्र के सभी अवतार जीउ रहित कहे गये हैं। शिव भी इसी कारण 'अजीउ' यहाँ पर कहे गये हैं। शिव के स्वरूप के ऊपर पदार्थ के रजकणों का बना द्योसले का आवरण जहाँ चढता है। इसी कारण इन्हें महादेव अथवा देवाधिदेव अर्थात् देवताओं का भी देव कहा जाता है। साधारण देवों में शिव को गिनतीं जहाँ की जाती हैं।

ऋतु के बने किसी देव की रचना के ऊपर दूसरा आवरण माया का चढता है। माया की रचना प्रकृति के रजकणों के अर्धपिण्डों के द्वारा होती। शिव इस माया के आवरण में नहीं बँधते। उन्हें इस माया को नियन्त्रित करने वाला मायातीत महेश्वर कहा जाता है। वे 'मायिज' हैं। अतः उन्हें यहाँ 'अजीउ' कहा गया है। वे सर्वव्यापक हैं तथा सर्वत्र गमन करने में समर्थ हैं। वे कहीं भी द्योसले में बँधकर नहीं रहते हैं।

भाव और अभाव को करने वाला भी शिव है। भाव को पहले सम्झाया जा चुका है। ऋतु के अन्दर संकल्प उदित होने के कारण, उस संकल्प को बाँध कर रखने वाली ऋतु को पिण्डों की स्थापना से ऋतु के अन्दर रख रचना का सत्ता में आना भाव कहलाता है। यदि किसी रचना को ऋतु के अन्दर सत्ता में लाने वाला संकल्प चीरे-चीरे अपनी ऊर्जा को ऋतु में विलीन करते हुए पूर्ण रूप से विलय को प्राप्त हो जाता है तो उस संकल्प की ऊर्जा से बना ऋतु का भँवर चक्र भी चीरे-चीरे अपनी ऊर्जा को खोता हुआ ऋतु में विलीन हो कर मिट जाता है और ऋतु का पूर्व जैसा सामान्य स्वरूप बन जाता है। इससे ऋतु में बनी ऋतु के भँवर चक्र की रचना का विनाश हो कर ऋतु में अभाव हो जाता है। इस प्रकार शिव संकल्पों को उदित करके ऋतु में रचनाओं का भाव उत्पन्न करता है और उन

उदित संकल्पों को पुनः श्रुत में विलीन करके उन श्रुत की रचनाओं का द्यौ में अभाव भी करता है। सृजन तथा संहार दोनों कार्यो को करने वाला शिव है। सृजन की रचना का सृष्टि में भाव स्थापित होता है और संहार से उस रचना का अभाव उसी सृष्टि में हो जाता है। यह सब करने वाला शिव है।

परन्तु देवता कला और सर्ग को करने वाले हैं। 'सर्ग' भूतों के होते हैं और ये चौदह प्रकार के होते हैं। 'चतुर्दशाध्या भूतसर्गः' कह कर इन्हें सांख्यशास्त्र के प्रकृतियों की तत्त्वसमास के सूत्रों में बताया गया है। सर्ग को व्याख्या करने सज्जन नहीं पर सांख्यशास्त्र में 'अनुग्रहः सर्गः' कहा गया है। इस का अर्थ इस प्रकार किया जाता है -

प्रत्येक ग्रह अपने स्वयं निश्चित परिपथ पर निरन्तर अनुगमन करती रहती है। वह अनुसरण करने वाला परिपथ ही उस ग्रह का सर्ग कहलाता है। सर्ग का सत्त्वगुण सृजन की उत्तरोत्तर विकास की गति से भी है। प्रत्येक अणु के केन्द्र में सत्यलोक के विष्णु विद्यमान रहता है। वह अपने अन्दर से अपना रेत प्रक्षेपित करता रहता है। उस रेत को सरस्वती को श्रुत की चारा चारण करके प्रकृतियों का कार्य प्रारम्भ करती है और नये-नये प्रकार के स्वरूपों का सृजन उसी श्रुत की चारा में होने लग जाता है। प्रत्येक नये रूप को द्योतित करने वाली इस नई रचना को स्वयं विशेष देव का नाम दिया जाता है। वह देव उद्भव को प्राप्त करके विष्णु के चारों ओर घूमकर लगाता हुआ घूमने लग जाता है। जिस परिपथ पर वह देव अपने स्वरूप को सुरक्षित रखता हुआ विष्णु के चारों ओर घूमता रहता है, उस परिपथ के क्षेत्र को उस देव का स्वयं विशेष नाम वाला लोक कहा जाता है। स्वयं स्वरूप का सृजन का जो स्वरूप बनता है, उस स्वरूप का प्रक्षेपण उससे ऊपर के लोक में हो जाता है और उसको द्वारा फिर स्वयं नये स्वरूप को द्योतित करने वाले देव का सृजन हो जाता है। इस प्रकार इस सृजन के यज्ञ की कड़ी में स्वयं देव के सृजन के यज्ञ से दूसरे देव के सृजन का यज्ञ संचालित होता चला जाता है और पूर्व

सृजित देव के सभी गुण धर्म जैसे सृजित होने वाले देव में समाहित होते चले जाते हैं और उसमें अपने जैसे गुण धर्म भी सृजित हो कर उसके अपने यज्ञ के द्वारा उत्पन्न हो कर आने लग जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देव अपने स्थायी स्वरूप के निवास करने के लोक को प्राप्त करता चला जाता है। वही लोक उस देव का स्वर्ग लोक कहलाता है। सु+ऋ+सुप् से 'स्वर्ग' शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका का अर्थ किसी देव के ऋ के अपने अच्छे स्वरूप को सुरक्षित रखने वाला परिपथ का लोक होता है। The locus of the stationary state of motion of a particular formed structure around the centre of the nucleus is called the "SVARGA - LOKA". The particular formed structure is called a particular 'DEVA'.

अतः इस सृजन की उत्तरोत्तर चलने वाली श्रृंखला में सत्यलोक के केन्द्र विष्णु से प्रारम्भ हो कर तपः लोक में सवितृ देव, जनः लोक में ब्रह्मा जी, महः लोक में ब्रह्मा की जिह्वाओं से निकलने वाले अग्नि देव तथा ऋभु, स्वः लोक में पुरुष, अदीति, इन्द्र, अश्विनी, षड्वृन्दारकाः देव बनते हैं। भुवः लोक में त्रिवर्मा देव तथा भूः लोक में 'ज' तथा 'चि' देव और सप्तपातालों में 'इत्' देवों की रचना होती है। इनमें एक देव के स्वरूप से उसके ऊपर वाले देव का स्वरूप बनता है। अतः एक देव के स्वरूप की रचना इस सृजन के क्रम में जिस क्षेत्र में बनती है, उसी क्षेत्र का लोक उस देव का "सर्ग" कहलाता है।

जिस लोक के परिपथ पर जो देव चलता है, वह देव उस परिपथ के अक्ष का ग्राह कहलाता है। जिस परिपथ का वह ग्राह चलता हुआ अनुसरण करता है, वह उसका "अनुग्राह सर्ग" कहलाता है। विष्णु का रैत सातों लोकों की आधे-आधे दो भागों में विभाजित करता हुआ प्रत्येक को गर्भित करता हुआ उस लोक में जैसे प्रकार के भूतों के देवों का सृजन करता चला जाता है। इस प्रकार सातों लोकों में चौदह भाग ऐसे बन जाते हैं जो अपने अन्दर विशेष प्रकार के देवों के भूतों का निरन्तर सृजन करते रहते हैं। इसी कारण ये

चौदह प्रकार के भूतसर्ग सांख्य शास्त्र के अन्दर पञ्चविंशति तत्त्व समास के सूत्रों में बतये गये हैं। इन सर्गों की रचना करने वालों को 'देव' कहते हैं।

'कला' को करने वाले को भी 'देव' कहते हैं। 'कला' का अर्थ रूप 'अंश' भी होता है। सृजन के अन्दर जो साध्य देव है, जिससे स्वरूप को प्राप्त करने तक की सृजन की प्रक्रिया में क्रमवार कई प्रक्रियाएँ की जाती हैं, उनमें प्रत्येक क्रिया के यज्ञ से रूप देव विशेष प्रकट होता है, तो वहाँ पर वह प्रत्येक यज्ञ की क्रिया उस साध्य देव के यज्ञ को प्राप्त करने के लिए रूप कड़ी का अंश होने के कारण रूप 'कला' कहलाती है। जिस प्रकार रूप-रूप कला के द्वारा चन्द्रमा बढ़ता हुआ अपना पूर्ण रूप पूर्णमासी के दिन प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार रूप-रूप कला के देव की वृद्धि के द्वारा साध्य देव भी सृजन के यज्ञ में अपना अभीष्ट रूप प्रकृति में प्राप्त कर लेता है। इन कलाओं की कृति को करने वाले को भी सृजन की प्रक्रिया में 'देव' कहा जाता है।

इस कथन को ऋग्वेद में इस प्रकार कहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि चर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं मीहुमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥
(ऋग्वेद-1, 164, 50)

इसमन्त्र के पदपाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं—

यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि चर्माणि प्रथमानि आसन् ।
ते ह नाकम् मीहुमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥

यज्ञेन = यज्ञ के द्वारा, [किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो विशेष यज्ञ किया जाता है, उसे उस विशेष साध्य की प्राप्ति का यज्ञ कहा जाता है] यज्-धातु से 'यज्ञ' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है 'यत्न' करना। जब हम 'यज् + न' की सन्धि करते हैं तो न को 'ज्' के अनुरूप बदल कर 'अ' बना दिया जाता है और 'यज् + अ' से 'यज्ञ' शब्द बन जाता है। यज् का अर्थ यत्न करना है तथा 'न' का वैदिक विज्ञान में अर्थ 'गणेश' होता है। गणेश का अर्थ है देवताओं के गण का ईश। सृजन की प्रक्रिया में देवों का क्रमशः सृजन होता है। रूप देव के स्वरूप को दूसरे देव में समीहित

करके क्रम बर औरवला बद्ध विधि से सातों लोकों में देवों का सृजन होता चला जाता है। पालत, अन्न, घृतपृष्ठ के नीम के तीनों चक्रों में देवों का सृजन होते हुए सब से ऊपर 'ज' देव का सृजन होता है। सभी देवों के स्वरूपों का उसमें समावेश होने के कारण उसे सभी देवों के गण का ईश 'गणेश' कहा जाता है और ऋग्वेद में इसे 'ज' कहा गया है। इस 'ज' को बताने वाला मन्त्र इस प्रकार है —
पृष्ठ (47) पर बना तथा पृष्ठ (568) पर बना चित्र देखें।
तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवठलापयन्ति।

मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमिविश्वमिन्वाम् ॥
[ऋग्वेद-1, 164, 10]

इसमन्त्र के पदपाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं —

तिस्रः मातृः त्रीन् पितृन् बिभ्रत् एकः ऊर्ध्वः तस्थौ न इमं अव
ठलापयन्ति ।

मन्त्रयन्ते दिवः अमुष्य पृष्ठे विश्वऽविदम् वाचम् अ विश्वऽमिन्वाम् ॥

तिस्रः = तीनों। मातृः = मातायें। त्रीन् = तीनों। पितृन् = पिताओं को
बिभ्रत् = धारण करता हुआ। एकः = एक अकेला साध्य के रूप में
सृजित स्वरूप। ऊर्ध्वः = सब से ऊपर। तस्थौ = ठहरा हुआ स्थित है।
न = 'ज' के नाम से बोला जाने वाला देव। इमं = इस सृजन के
क्रम को धारा को। अव = अपने स्वरूप में अविस्थित हो कर।
ठलापयन्ति = गड़प कर जाते हैं (र्, ल्, ड् में वैदिक

उच्चारण में व्याकरणानुसार अभेद होता है; अतः ठलाप् से ही
तद्भव शब्द गड़प निकला मानना उचित है।) सृजन की प्रक्रिया
में भी वास्तव में ऐसा ही होता है। एक स्वरूप को गड़प कर नया दूसरा
बड़ा स्वरूप बनता है।

इस प्रकार प्रथम पंक्ति का अर्थ निम्न प्रकार बनता है। —

अणु को नीम में बने वाले तीनों नीम-चक्रों, पालत, अन्न, घृतपृष्ठ के
तीनों के सृजन करने वाले तीनों माताओं को और तीनों पिताओं को
अपने लिये अपने माता तथा पिता धारण करता हुआ एक अकेला
'ज' कण का देव सातों लोकों - सत्यः, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः -
में सब से ऊपर भूः लोक में ठहरा हुआ है। इन तीनों माताओं और तीनों

पिताओं के द्वारा निरन्तर सृजित की जाने वाली देवों के प्रवाह की चारा की रवा कर गड़प करते हुए अपने अन्दर गला कर हज्म करते हुए अपने शरीरों को पोषित करते हुए ऐसे बहुत से न कण रवा रहे हैं।

इस प्रकार 'न' का अर्थ नाभि के बाह्य पृष्ठतल धृतपृष्ठ के अन्दर भूः लोका में बना सर्वोच्च देव 'न' ब्रजता है, जिसमें सभी देवों का समूह समाहित हो जाता है। अतः वह देवों के गण का ईश बन कर गणेश कहलाता है। गणेश का शिर इसी कारण हाथी का सँड वाला बताया गया है। अपनी लम्बी सँड की रचना के द्वारा वह सत्यलोक से ले कर भूः लोक तक बने वाली देवों की चारा के प्रवाह को पीता चला जाता है और उनके द्वारा बने अर्धपिण्डों के रजवर्णों के लङ्कुओं को खाता चला जाता है। पृष्ठ (103) पर बने वाले अणु की नाभि के अन्दर गणेश तथा कर्तिकेय के चित्रों को देखें। कर्तिकेय कंताई (Spine) का देवता है जो धूर्णिन के स्वरूपों को बताता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार नाभि में सब से बाद में बने वाला न्यूट्रोन है, जिसमें सारे स्वरूप समाहित होते हैं। अतः आधुनिक विज्ञान के अनुसार 'न' का अर्थ न्यूट्रोन लिया जाता है।

इससे अगली पंक्ति में नाभि के अन्दर स्थित 'न' कण (Neutron) के ऊपर स्थित द्यौ में किस प्रकार रचना होती है, उसकी मन्त्रणा करने के लिए कहा गया है। साथ में पूरा अणु नाभि तथा नाभ्येतर इलेक्ट्रॉनों के भाग सहित 'अ' (विष्णु) की सारी सृजन की रचना को सीमित आयाम की परिमिति में बाँधने के लिए उसे मापने को, तथा उस पूरे अणु द्वारा कम्पन करने के कारण उत्पन्न नाद की वाणी को समझने की मन्त्रणा सम्बन्धित सूक्त के अगले मन्त्रों के द्वारा करते हैं।

इस प्रकार 'न' का अर्थ स्पष्ट रूप से समझने के उपरान्त/यज्ञ धातु का यत्न करने के अर्थ को ले कर 'यज्ञ' का पूर्ण अर्थ प्रकट होता है। अतः 'यज्ञ' सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में किया गया एक ऐसा यत्न है जिसके द्वारा किसी देव के स्वरूप का सृजन होता है और वही देव उस यज्ञ का अधिदेव माना जाता है। उस साध्य देव के स्वरूप की प्राप्ति के लिए उस यज्ञ में अन्य आहुत देवों की हीव प्रतीक रूप में सीमधा के द्वारा डाली जाती है। ऋतु की आग्न में सृजन की यह

सारी प्रक्रिया चलती है। अतः सृजन के ऋतु की ओर में चलने वाले यज्ञ के द्वारा।

यज्ञम् = किसी साध्य देव के स्वरूप की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले यज्ञ को।

अयजन्ता = करते हुए। यजन करते हुए।

देवाः = साध्य देव की प्राप्ति से पूर्व के सभी देव

तानि = वे। धर्माणि = सारे गुणों के धर्म जो हम साध्य देव में यज्ञ के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं।

प्रथमानि = पहले से ही उन देवों के चल रहे यज्ञ में, जिनके यज्ञ के द्वारा हम अपने साध्य इष्ट देव का यज्ञ सम्पन्न करना चाहते हैं।

और उस यज्ञ के फल के रूप में इष्ट देव के स्वरूप की प्राप्ति चाहते हैं, वे सारे इष्ट देव के धर्म तथा गुण पहले से ही

उस इष्ट देव के यज्ञ में आहुति के रूप में प्रदान किये जाने वाले पूर्व देवों के यज्ञों में विद्यमान। आसन् = थे।

ते = वे सब देव अपने चल रहे सृजन के यज्ञों सहित।

ह = सचमुच ही

जाकम् = स्वर्ग को। अपने उस सुचारु रूप से ऋतु की गति वाले लोक को जहाँ पर उन देवताओं को अपना स्थायी और साध्य अवस्था का रूप प्राप्त होता है तथा जहाँ पर निर्बिध रूप से अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए अजन्त काल तक विचरण करते हैं। क्योंकि देवता अमर कहे जाते हैं। ऐसे लोक को ही विशेष देवता का स्वर्ग लोक कहा जाता है। सभी देव स्वर्ग लोक में ही विराजमान होते हैं। [The particular locus of a particular 'DEVA' where he gets the stationary state of his motion is called the 'SVARGA-LOKA'.]
ऐसे उस स्वर्ग लोक को।

मीहमानः = महानता की वृद्धि को प्राप्त होते हुए अपने साध्य स्वरूप के महत्त्व से युक्त होते हुए। सब देव के यज्ञ का दूसरे देव के यज्ञ में समाहरण करते हुए अपने साध्य स्वरूप की वृद्धि के महत्त्व से युक्त होते हुए।

सचन्त = उस स्वरूप को प्राप्त हुए जो अभीष्ट यज्ञ के द्वारा
अभीष्ट स्वरूप की प्राप्ति का लक्ष्य था।

यत्र = जहाँ पर उस देव के अभीष्ट स्वर्ग लोक में।

पूर्व = पहले से ही।

साध्या : = वे अभीष्ट साध्य स्वरूप के देव।

सन्ति = विद्यमान हैं।

देवा : = वे अभीष्ट यज्ञ द्वारा आहूत किये जाने वाले साध्य देव।

अर्थात् यज्ञों के द्वारा हम जिन देवों के स्वरूप को प्राप्त
करके उनके प्रभाव से प्रकृति में अभीष्ट फल प्राप्त करना चाहते
हैं, उन स्वरूपों के देव अपने सम्बन्धित स्वर्ग लोक के स्थान
में पहले ही विद्यमान होते हैं, परन्तु उन की मात्रा कम होने के
कारण उनकी सक्रियता की शक्ति कम होती है। जिसके कारण
वे उचित स्थान पर अभीष्ट फल का परिणाम देने में असमर्थ होते
हैं। उस अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए उस साध्य देव के स्वरूप
की प्राप्ति के लिए हम उन देवों का चयन करते हैं जिनमें हमारे
अभीष्ट साध्य देव के सभी चर्म रुक् - रुक् करके पहले से ही
विद्यमान हैं। फिर उनके प्रत्येक के यज्ञ के द्वारा दूसरे के यज्ञ
का संचालन करते हुए अभीष्ट वृद्धि को प्राप्त होते हुए हम
अपने साध्य देव के यज्ञ को पूर्ण करते हैं। उससे वह साध्य देव
उन पहले से ही अपने स्वरूप के समान स्वरूपों वाले देवों के साथ
अपने स्वर्ग लोक के स्थान में मिल जाता है और उनकी सक्रियता
की शक्ति को सामान्य से अधिक बढ़ा कर अभीष्ट फल देने
लग जाता है। इससे यज्ञ का सुफल प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक देव सृजन के प्रत्येक सर्ग में संवर्धन की
रुक् - रुक् कला को निर्मित करने वाला बनता है। अतः देवता
सृजन की कड़ी के प्रत्येक सर्ग को और उस सर्ग में सृजन के
प्रत्येक अंश की कला को बनाने वाले होते हैं। इसी लिए
यहाँ 'देव' के लिए "कलासर्गकरं देवम्" - कहा है।

इन देवों के स्वरूपों को, तथा इनके द्वारा निर्मित
भूतसर्गों के द्वारा और उन भूतसर्गों में भूतों की संवृद्धि की

कलाओं के द्वारा किसी जीव का शरीर जीवित रहता हुआ पोषण को तथा संवृद्धि को और चेतना के बल को प्राप्त होता है। इन्हीं के द्वारा आत्मा और शरीर का संयोग हो कर जीव का स्वरूप बनता है। अतः जो ऋतु के अन्दर निर्मित शिव के चैतन्य स्वरूप को और भूतसर्गों में निर्मित देवों के स्वरूप को जान लेता है, वह शरीर को छोड़ कर शिव तत्त्व के निर्मित होने के कारणों के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनुकूल कार्य करने लग जाता है। इस प्रकार वह मोक्ष प्राप्त करके अपनी प्रीति के शरीर को छोड़ देता है और फिर किसी भी प्रीति के शरीर को प्राप्त न करता हुआ सद्-ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप में विलीन हो जाता है। यही प्रत्येक जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य है। क्योंकि जिस जीवन का चक्र जिस सद्-ब्रह्म से प्रारम्भ होता है, वहीं पर जा कर पूर्ण होता है। जब तक उस पूर्ण अवस्था तक नहीं पहुँचता, तब तक बीच में ही नाना प्रकार के कष्टों को भोगता हुआ वह जीव जीवन-मरण के चक्र में फँसा रहता है। अतः शिव तत्त्व को तथा भूतों के देवों को जानो और उन्हें जान कर अपनी मोक्षप्राप्ति का रास्ता बनाओ।

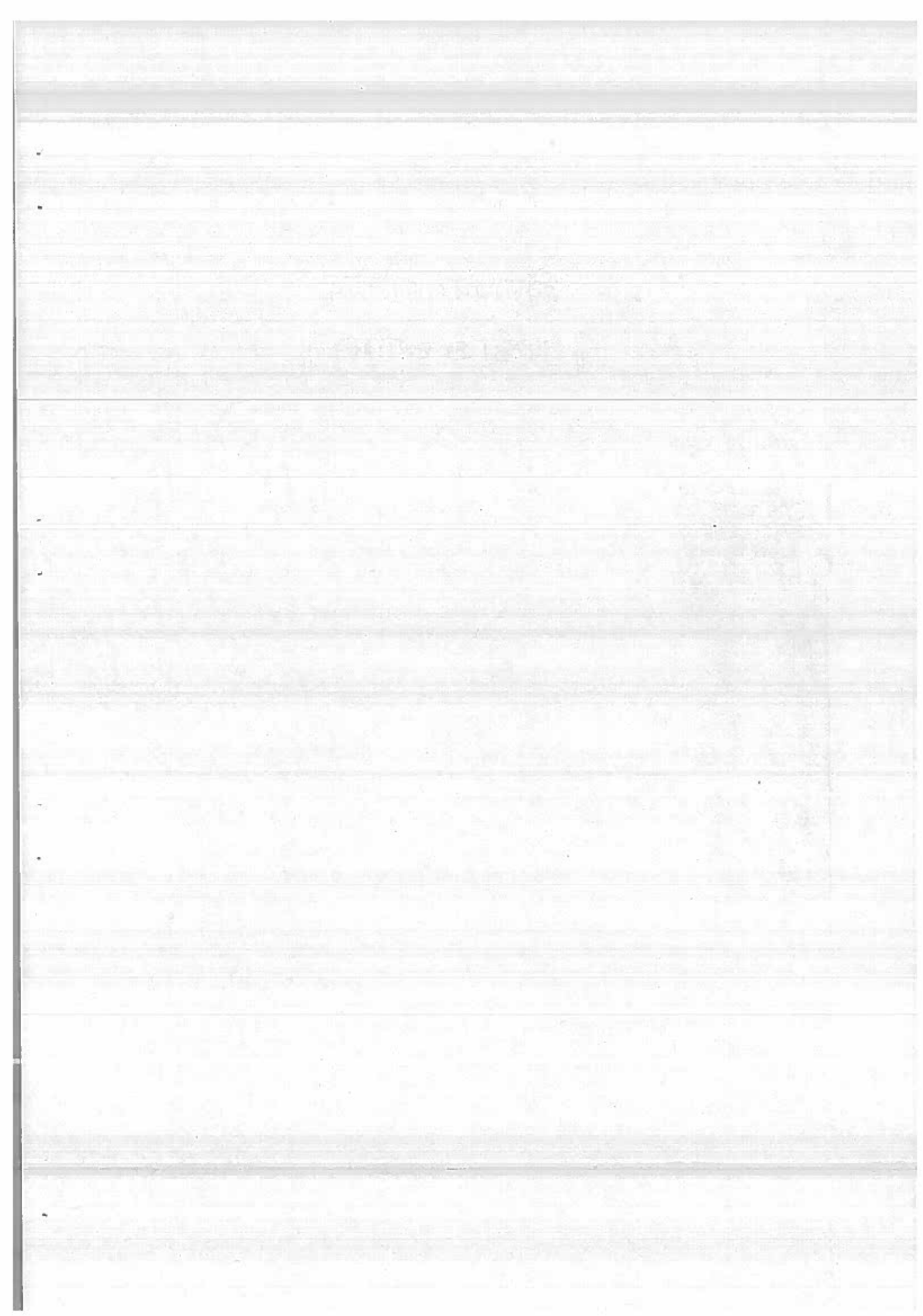
प्रश्नोपनिषद् (6, 4) में सोलह कलायें इस प्रकार गिनाई गई हैं— (1) प्राण, (2) अद्भुता, (3) आकाशा, (4) वायु, (5) ज्योतिस्, (6) अपस्, (7) पृथिवी, (8) इन्द्रिय, (9) मन, (10) अन्न, (11) वीर्य, (12) तप, (13) मन्त्र, (14) कर्म, (15) लोभ, (16) नाम। ये सब कलायें भी भूतसर्ग की पूर्णता को प्रदान करने वाले उसकी संवृद्धि के सज्ज-सज्ज अंग बनते हैं। इनमें अन्तिम 'नाम' ही पूर्णता को प्राप्त होता है। क्योंकि जो स्वरूप अपने जिस रूप को अपने गुण-धर्मों को चारण करता हुआ अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है, उसी के अनुरूप उसका 'नाम' रख दिया जाता है। अतः नाम ही प्रत्येक रचना की पूर्णता का द्योतक है। अतः वह अन्तिम कला माना गया है। शेष सभी कलायें रचना के किसी छोटे या बड़े अंग को ही प्रकट करती हैं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'नाम' ही वह कला है जिसके स्मरण करने से हम अपने अन्तःकरण के विचारों को शुद्ध करते हुए चित्त को वृत्ति से शुद्ध बना सकते हैं और सद्-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त हो कर उसमें विलीन होते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

“ श्वेताश्वरोपनिषद् ”

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥



पञ्चावर्ती में नीड रहित रुद्र भगवान की 'ईशानी' के तन्त्र का जाल फैलाने वाला 'शिव' रूप बनता है जो सभी देवों को और सभी लोकों को (सप्त देवलोकों को और सप्त पाताल लोकों को - सभी को) शासित करता है।
 उन्हीं पञ्चावर्ती के ऊपर इन देवलोकों और पाताल लोकों की रचना होती है, जिनमें सारे भुवन स्थित होते हैं। इन भुवनों में ही सारे देवनिवास (Groups of DEVA's) रहते हैं। अतः ये भुवन देवों के समूहों के रहने के घर (नीड) हैं। आधुनिक विज्ञान की शब्दावली में इन भुवनों को हम "orbitals of the DEVA's in their respective locii of their stationary motion" कह सकते हैं। देवों का रहने का अपना नीड बनता है। अतः ये नीड-सहित हैं। इन्हें हम अनीड नहीं कह सकते। इन्हीं देवों से मौलिक अर्थात् की रचना हो कर रजकणों (धूलि के कणों) की रचना होती है, जिस से एक पूर्ण अणु का स्वरूप (shape of the full atom) बन जाता है। एक अणु (Atom) का पूर्ण स्वरूप भी एक देव है, जिसके द्वारा यह सारा ब्रह्माण्ड का चक्र घूम रहा है। इस सृष्टि में विद्यमान सारे अर्धपिण्डों (Blocks of the mass of matter) की रचना अणुओं (Atoms) से मिलकर ही होती है। बहुत सारे अणु मिलकर एक अर्ध पिण्ड बनते हैं। जो धूलि का कण (mass particle) अणु (Atom) से छोटा होकर अणु के रूप में अत्यन्त सूक्ष्म बनता है और आकाश महाभूत या अग्नि महाभूत के भूतों (matters) की रचना करता है, उसमें इस अणु (Atom) के देव की कलायें (parts of the nucleus of an atom) स्वतन्त्र रूप से विद्यमान (Freely) रह कर विचरण करती रहती हैं और वे पूर्ण अणु की रचना नहीं कर पाती। वे अणु की किसी विशेष रचना के सग्रे तत्त्व ही संयोजित हो पाती हैं, आगे उनमें संयोजित होने की रागर्यता नहीं बन पाती है। इसी कारण ब्रह्माण्ड में स्वतन्त्र रूप से 'क' कण, अश्विनो, षड्-वृन्दारकों, त्रिवर्त्माओं, चिक्क, तथा इत् की विचरण करत हुरु सत्ता पायी जाती है। अर्थात् देव माता की सर्वत्र विद्यमानता पाई जाती है। ये ही सूक्ष्म देव हैं। परन्तु ये सब उस महादेव रुद्र के 'शिव' रूप

द्वारा ही नियोजित हो कर गतिमान हो पाते हैं, जो इन में अपने पञ्चावर्त के रूप में विद्यमान होता है। शिव तत्त्व सभी देवों के आत्मतत्त्व के स्वरूप की रचना करने वाला मूलतत्त्व है। शिवतत्त्व का कोई जीड नहीं होता है।

इस छोटे अध्याय में इस पूर्ण अणु (Full atom) के द्वारा उस शिवतत्त्व के नियन्त्रण में रहते हुए किस प्रकार सारी सृष्टि का आगे का सृजन होता है, यह यहाँ बताया जा रहा है। बहुत से अणु किस प्रकार मिल कर संयोजित होते हैं और इस विभिन्न रूपों वाली सृष्टि का किस प्रकार निर्माण करते हैं? यह आगे बताया जा रहा है। जहाँ पर सप्तलोकों में मौलिक अर्थों की रचना नहीं हो पाती, केवल पूर्ण पञ्चावर्त या उसके अवयवों की ही रचना हो पाती है, वहाँ केवल द्यौ की ही रचना हो पाती है। द्यौ में विद्यमान—'क्षीर', 'अर्णु' अथवा 'पञ्चावर्त' ही बन पाते हैं। क्षीरसागर, अर्णवसमुद्र तथा पञ्चावर्तों का द्यौ, ये सभी उस शिवतत्त्व द्वारा ही निर्मित होते हैं। क्षीरों, अर्णवों तथा पञ्चावर्तों द्वारा जीव के 'आत्मस्वरूप' की रचना होती है। उसके ऊपर 'सप्तलोकों' में भुवनों की रचना से देवों के द्वारा शरीर के अणुओं की रचना होती है और उन अणुओं के संयोजनों से इस शरीर के अर्धपिण्ड की रचना होती है। अब इस अध्याय के प्रथम मन्त्र को देखते हैं।

स्वभावमेकै कवंगो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।

देवस्यैष मीहिमा तु लोकै येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ ①

कुछ-कुछ क्रान्तदृष्टा बुद्धिमान लोग (कवि) उस स्वभाव को जो किसी एक विशेष अणु के देव का उसकी रचना के समय बन जाता है [mode of behaviour due to acquired particular properties of a particular atom, by both physical properties and chemical properties], उसी को आगे की सृष्टि का सृजन का तथा सञ्चालन का कारण बताते हैं। [वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार के अणु अपने विभिन्न प्रकार के स्वभावों के अनुसार सक्रिय होते हुए इस सृष्टि के सृजन, संचालन तथा संहार का कार्य कर रहे हैं, और उसी स्वभाव के कारण इस ब्रह्मा की सृष्टि का यह ब्रह्मचक्र चल रहा है।]

दूसरे जो मोह से ग्रस्त लोग हैं, (जो सदैव इस सृष्टि में स्थायी रूप से बने रहना चाहते हैं, परन्तु वे अपने को उसी रूप में स्थायी रखने में असमर्थ पाते हैं और कालक्रम के अनुसार अपने शरीर को निरन्तर जीर्ण शीर्ण होता हुआ पाते हैं, वचपन से जवानी तक शरीर में वृद्धि देखते हैं, कुछ काल तक स्थायत्व पाते हैं, फिर वृद्ध अवस्था को पाकर अपने को जीर्ण अवस्था में पाते हैं और फिर सामने मृत्यु खड़ी देखते हैं,) वे लोग काल के क्रम को ही ब्रह्मा की सृष्टि के ब्रह्मचक्र का घूर्णन का कारण मानते हैं।

परन्तु वास्तव में यह सब देव (देवाधिदेव रुद्र) की ही मीढ़गा है जिसके द्वारा यह ब्रह्मा की सृष्टि का ब्रह्मचक्र घुमाया जा रहा है।

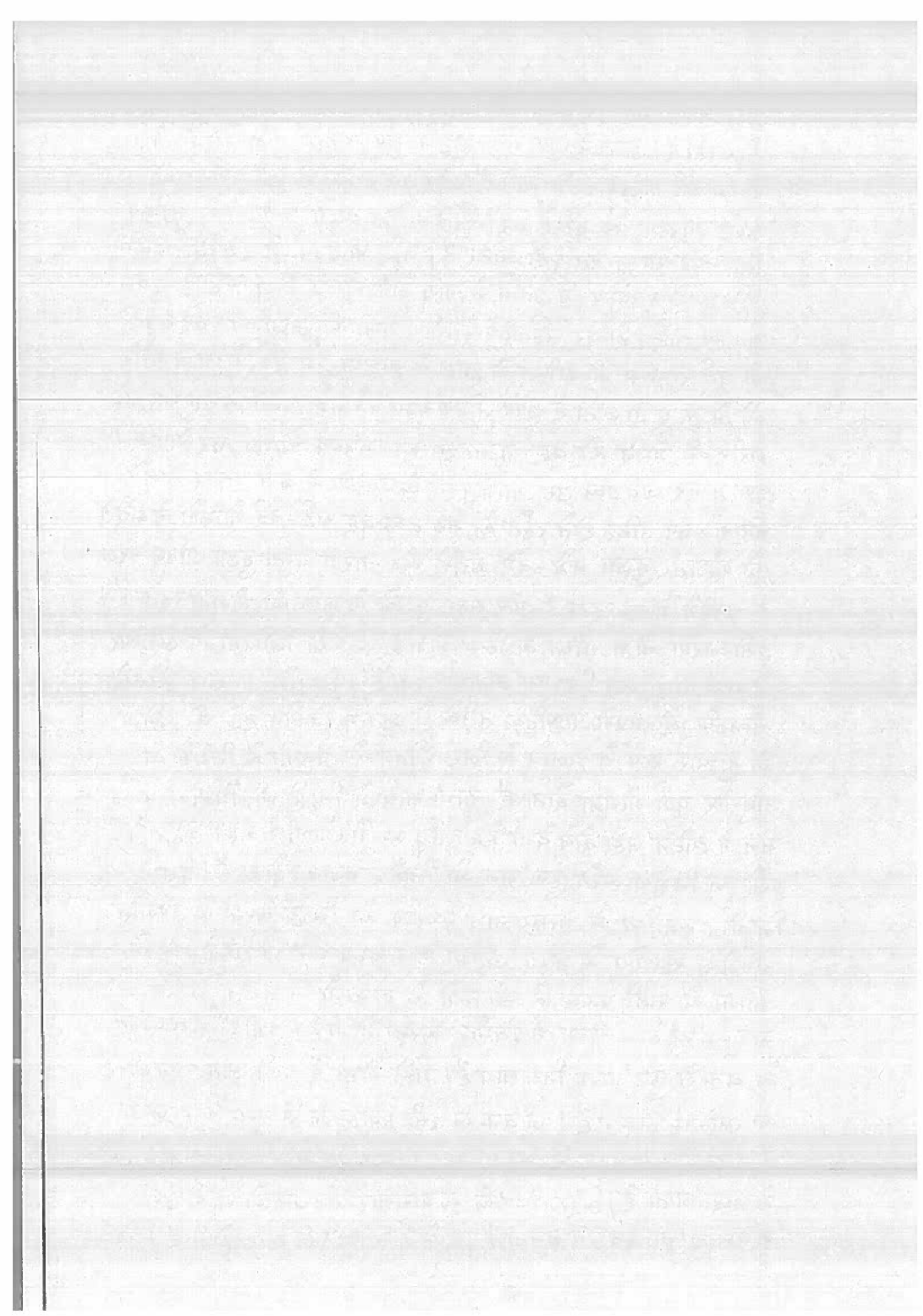
आदि देव - 'रुद्र' - ही बनता है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम 'सत्' के निर्गुण निराकारी रूप में जब सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उदित होता है तो वह अपने शान्त, समरस तथा सब स्वरूप को अनेकों बिन्दुओं के रूप में विभाजित कर लेता है। इन अनेक बिन्दुओं के प्रत्येक बिन्दु के रूप को सब - 'क्षर' - का नाम दिया जाता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा यह अनेक क्षरों का रूप बनता है उसे 'क्षरण' की प्रक्रिया कहा जाता है। इस 'क्षर' के रूप में सत् के अपने स्वरूप को उसकी स्वधा के सहित सब सीमित आश्रम के व्योम में से सृष्टि सृजन की इच्छा के 'कामदेव' के वल के द्वारा सब बिन्दु पर अवात अवस्था (जो हिले नहीं) में लाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक परिमित व्योम के आयाम में उस सत् के बन्धु की उस परिमित व्योम में अवसृष्ट होकर सब पिण्डी बन जाती है। यही उस आदि देव 'रुद्र' की पिण्डी का स्वरूप बनता है जिसका साक्षी केवल निर्गुण ब्रह्म बनता है। उन क्षरों के ब्रह्मतत्त्व के अण्ड की पिण्डी में पुनः सृष्टि सृजन की इच्छा का काम जागृत होता है, जिससे उनमें पुनः क्षरण प्रक्रिया होने लगती है। इस क्षरण प्रक्रिया में उस 'क्षर' की ब्रह्मतत्त्व की रुद्र की पिण्डी के केन्द्र में विष्णु का अवतरण हो जाता है। उस विष्णुदेव का नाम 'अ' रख दिया जाता है। अब आदि देव रुद्र की सत् की सब 'क्षर' की पिण्डी 'अ' के स्वरूप से युक्त होकर अ + सत् = असत् का स्वरूप बन जाती है और यह 'असत्' का 'क्षर' अब 'क्षीर' बन जाता है। इन्हीं क्षीरों से मिलकर क्षीर सागर बन जाता है। जब इस क्षीर सागर में 'क्षीर' गतिमान होकर चाराओं में बहने लग जाते हैं तो वह 'असत्' का क्रियाशील रूप 'ऋत' कहलाने लग जाता है। इस क्षीर सागर में ऋत पुनः सब परिमित व्योम के आयाम में अवसृष्ट होकर सब पिण्डी का रूप बनाता है जिसके तीन अक्षों से ऋत की चारायें फूट कर बाहर भी निकलती हैं। यह रुद्र का दूसरा रूप बनता है जिसका नाम 'ईशान' है तथा इसकी तीन आँखों से निकलने वाली ऋत की चाराओं को 'ईशानी' कहा जाता है। इन्हीं 'ईशानी' ऋत की चाराओं के जाल से रुद्र सातों लोकों को शासित शासित करता है।

रुद्र के वाममुखों तथा दक्षिण मुखों के द्वारा ऋत के अभिशोषण तथा वपन द्वारा ऋत में गति उत्पन्न होने से पञ्चावर्तों की रचना से हो बन जाता है। पञ्चावर्तों के ऊपर सप्त लोकों की रचना हो कर उनमें देवों के स्वरूप द्वारा अणुओं का स्वभाव बन जाता है। अणुओं

में अपना स्वभाव होता है। उसी स्वभाव के कारण विभिन्न अणु संयोजित हो कर सृष्टि में नाना प्रकार के अर्धपिण्डों की रचना करते हैं। उस रुद्र की ईशानी श्रुत की धाराओं में उदित इन संकल्पों के धीरे-धीरे विलय की प्रक्रिया के द्वारा कालक्रम से विनाश की प्रक्रिया चलती है। इस प्रकार उस आदि देव देवाधिदेव रुद्र की महिमा वाले इस स्वरूप के द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि के ब्रह्मचक्र को घुमाया जाता है।

समय की गति के अनुसार रुद्र की ईशानी श्रुत की धाराओं में उदित संकल्प की विलय की गति के अनुसार चलने वाले विनाश के क्रम को 'काल' कहा जाता है। संकल्प का उदय काल, स्थापना तथा विलय की गति का काल और पूर्ण विलय होने का अन्त काल, ये तीन काल की दशाएँ हैं। ये ही 'त्रिकाल' कहलाती हैं। संकल्प उदित होकर तुरन्त आगे प्रवाहित हो जाता है और भूतकाल का द्योतक बन जाता है। स्थापना तथा विलय की ओर गतिशीलता का क्रम वर्तमान बन जाता है। पूर्ण विलय की वेला का आने वाला काल भविष्य काल बन कर आगे विद्यमान रहता है। यही काल की गति है। रुद्र देव इसी काल के निग्रन्ता हैं। रुद्र देव काल के सृजनकर्ता, स्थापनकर्ता और संहारक हैं। काल को 'संवत्सर' के द्वारा बताया जाता है। 'संवत्सर' शब्द 'सम् + वत् + सर' - इन तीन शब्दों के योग से बना है। 'सम्' का अर्थ सम्प्रत्यक्ष रूप से भली प्रकार की व्यवस्था का होता है। 'वत्' का अर्थ - 'की भाँति' - अथवा - 'की तरह' - अथवा - 'से युक्त' होता है। 'सर' का अर्थ 'बहना' अर्थात् 'प्रवाह की गति' होता है। अतः 'संवत्सर' का अर्थ - 'सम्प्रत्यक्ष प्रकार से प्रवाह की गति में संकल्पों का बहना' होता है। श्रुत में जो प्रवाह की गति से - विभिन्न प्रकार के संकल्प उदित हो कर नाना प्रकार के स्वरूपों को द्योतित करने वाली रचनाएँ बनाते हैं, फिर उन रचनाओं को आगे और प्रवाहित करते हुए स्थान और समय के क्रमानुसार उत्तरोत्तर एक दूसरे के संयोजन से विभिन्न प्रकार की रचनाएँ करते चले जाते हैं। संरचना के पूर्ण होने के उपरान्त

उन रचनाओं के संकल्पों के विलय होने की रात्रि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अन्त में जब संकल्प पूर्ण रूप से विलीन हो जाते हैं तो उस रचना के अतिमृत्यु हो जाती है और उस रचना के आत्मतत्त्व को अपने स्वरूप में बाँध कर रखने वाले संकल्प के पाश से मुक्ति मिल कर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यदि संकल्प की इस विलय की प्रक्रिया में संकल्प की ऊर्जा में ह्रास होते समय बीच में कोई नया संकल्प उदित होकर नई प्रकार की रचना की ऊर्जा का स्तर बढ़ा दे तो पूर्व संकल्प की शक्ति के ह्रास के कारण उस पूर्व योनि के शरीर की तो मृत्यु हो जाती है और नये संकल्प की नई ऊर्जा के अनुसार नये शरीर की योनि को वह आत्मतत्त्व का स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार जब तक उस आत्मतत्त्व के स्वरूप में इस प्रकार के नये-नये संकल्प उदित होते रहते हैं, तब तक वह नई-नई योनियों के शरीरों को बदलता हुआ नये-नये शरीरों को धारण करता हुआ जीवन मरण के चक्र में फँसा रहता है और सुख-दुःखों के फलों को भोगता रहता है। इसी कारण मोक्ष प्राप्ति के लिए योगशास्त्र की विधियों के अनुसार योगसाधना का विधान बनाया गया है। जिसके अनुसार पूर्व उदित संकल्पों को अपने प्राकृतिक तरीके से मृत में विलीन होने की प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाने के लिए जीवन को प्रकृति के नियमों के अनुसार पूर्ण भोगना होता है, साथ-साथ में किसी भी नये संकल्प को मन में उदित नहीं होने देना होता है। मन में जो भी संकल्प उदित हो, उसी का निरोध करते हुए मन को निर्बीज बनाना होता है। इस निर्बीज समाधि के असम्प्रज्ञात स्वरूप को सिद्ध करने के उपरान्त चर्ममैद्य समाधि के द्वारा अहम् के संकल्प को भी विलीन करके आत्मा को सभी प्रकार के संकल्पों के बन्धनों से मुक्त करके सद्-ब्रह्म के स्वरूप में विलीन करना होता है। तभी जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा मिल पाता है। यही मोक्ष है, यही आत्मा का जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन के इसी प्रवाह को 'संवत्सर' कहा जाता है। संकल्पों के उदय को 'अहः' तथा विलय को 'रात्रि' इस मृत प्रवाह में कहा जाता है। 'अहोरात्रि' के क्रमानुसार संरचनाओं से ही इस 'संवत्सर' का स्वरूप बनता है। इसी से 'काल' की रचना होती है।



यजुर्वेद में इस प्रक्रिया को निम्न मन्त्रों में बताया गया है —

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीच्छात् तपसो ऽद्यजायत ।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥

ॐ समुद्रादर्णवादीध संवत्सरो अजायत ।

अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥

इन मन्त्रों का अर्थ निम्न प्रकार बनता है —

असद् ब्रह्म बनने के लिए सद-ब्रह्म अपने अन्दर सृष्टि सृजन की इच्छा के संकल्प को उदित करता हुआ अपने को स्वयं रूप से अनेक रूपों में बाँटता है। इस प्रकार अनेक क्षीरों में बँट कर - 'ऋत' - के स्वरूप को चारण करता है। क्षीर सागर में भरा हुआ यह 'ऋत' जब अपनी चाराओं में प्रवाहित होने लग जाता है तो यह उन चाराओं में उदित नये संकल्पों के बल से पुनः नये-नये आवर्तों के भँवर बनाने लगता है। इन आवर्तों में प्रथम आवर्त ऋत के सम्यक् प्रकार से स्वयं बिन्दु पर चारों ओर से बलपूर्वक इकट्ठे होकर बने सञ्च की गति से बनता है। इसके केन्द्र में सर्वाधिक 'पर' रूप का 'क्षर' विष्णु का रूप बन कर विराजमान होता है। इस कारण इस आवर्त को विष्णु-आवर्त का नाम दिया जाता है। इसी विष्णु आवर्त के ऊपर उठा हुआ सत्य लोक बनता है। अतः यहाँ सत्यलोक की रचना का कारण ऋत के चारों ओर से इकट्ठा होकर उठे हुए नये स्वरूप को बताया है। सत्यलोक के चारों ओर ऋत के जलने की उदित प्रक्रिया के पश्चात् उनके आधार के ऊपर तपः लोक (तपसः) का तपस् उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् तपस् को विलीन करने वाली रात्रि उत्पन्न होती है। इस तपस् को विलीन करके बने ठंडे ऋत से तपः लोक के ऊपर जनः लोक का नया आवरण बन जाता है। इस प्रकार उस ऋत में सत्यलोक, तपः लोक, जनः लोक, इन तीन लोकों की, रात्रि के विलीन करने वाले संकल्प से परिमित होकर स्वयं इकाई की रचना बन जाती है। तीन लोकों की इस बनीं नई इकाई का नाम 'अर्णु' रख दिया जाता है और उन अर्णवों से ऋत के क्षीर सागर में नया 'अर्णव समुद्र' बन जाता है। 'अर्णु' की रचना का चित्र पृष्ठ (13) पर देखें।

इसके पश्चात् 'अर्णव समुद्र' में अर्णवों की चारायें बहने लगती हैं। अर्णवों की चाराओं के इस सम्यक् प्रकार की तरह नवोदित संकल्पों को अपने अन्दर बँट करके बहने वाले प्रवाह को ही 'संवत्सर' नाम दे दिया जाता है। नवोदित संकल्पों के उदय को 'अहः' और उनके विलय को 'रात्रि' नाम दिया जाता है। इन संकल्पों के उदय-अस्त से सेसा लगता है, जैसे कि अर्णवसमुद्र अपनी आँखें मिचीमिचा रहा हो। रचना के

संकल्प के उदित होने पर ऐसा लगता है जैसे कि ऋत के प्रवाह की धारा में रुक और खुल गई हो। जब वह संकल्प विलीन होता है तो ऐसा लगता है जैसे कि वह खुली हुई और बन्द हो गई है। इस प्रकार वह अर्णवों के प्रवाह की ऋत की धारा जैसे संकल्पों को उदित और अस्त करती हुई अपनी आँखों को मिचमिचाती हुई सी लगती है। यही प्रक्रिया सारे अर्णव समुद्र में उत्पन्न होकर 'संवत्सर' को उत्पन्न कर देती है। यही 'संवत्सर' काल की प्रक्रिया बन जाता है।

'संवत्सर' की रचना का चित्र पृष्ठ (14) पर देखें। इसी संवत्सर की प्रक्रिया से 'पुरुष' का उदय होकर जीवात्मा तथा मौलिक अर्थों की प्रकृति की रचना हो जाती है। इसी से सारी सृष्टि बन जाती है। इसी लिए कुछ विद्वान् - 'काल' - की प्रक्रिया को सृष्टि का कारण बताते हैं।

इस मन्त्र की व्याख्या संक्षिप्त रूप में पृष्ठ (147) पर पहले भी संदर्भानुसार दी गई है। वहाँ भी देखें। वहाँ पर ऋत में पञ्चावर्त की रचना होते समय कलिलवर्त में कलिलों में विभिन्न प्रकार के बद्ध संकल्पों के अनुसार प्रत्येक पञ्चावर्त का एक विशेष प्रकार का कार्य करने का स्वभाव निर्मित होने की बात कही गई है। वहाँ पर उस अपने स्वभाव से शासित होनेवाला वह पञ्चावर्त ही एक देव विशेष बन जाता है। उस पञ्चावर्त से उसी स्वभाव के गुण चर्मों को धारण करने वाला अणु बन जाता है। उसके पश्चात् इस प्रकार निर्मित विभिन्न स्वभावों के अणु मिलकर विभिन्न रूपों वाली सृष्टि का सृजन कर देते हैं। इस सारी प्रक्रिया का नियन्ता रुद्र की रहता है।

उन संकल्पों के अस्त होने पर उस सृष्टि को प्रलय हो जाती है। अतः सृजन तथा प्रलय के मध्य स्थापित काल की क्रिया से ही इस सृष्टि की सत्ता स्थापित होती है। अतः दूसरे विद्वान् इस काल को ही सृष्टि का कारण मानते हैं। वे जन्म मरण के मध्य जीवन की सत्ता के मोह से मोहित होकर ऐसा मानते हैं।

इस प्रकार इस पञ्चावर्त द्वारा बने अणु के देव, जिसका सृजनकर्ता एक देवाधिदेव रुद्र है, उसी के मोहमा से इस सृष्टि का ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है। अगला मन्त्र देखें।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्व विद्यः।

तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलरवाणि चिन्त्यम्॥(2)

अन्वय = ज्ञाः कालकारः गुणी सर्वविद्यः जित्यम् हि न दम् गेता
आवृतां तेन हं पृथिवी-अपः-तैजः-अनिल-रवाग्नि ईशितम्
कर्म विवर्तते - (इति) चिन्त्यम् ।

जिस सर्वज्ञ, काल की रचना करने वाले, सर्वगुण सम्पन्न,
सभी कोलिस जानने योग्य अथवा सभी को अपनी द्युति से विशेष
रूप से द्योतित करने वाले अथवा सभी रूपों के द्वारा (आत्मतत्त्व के
रूप में) प्राप्त करने योग्य (सर्वविद्यः) यह (पञ्चावर्त का स्वरूप -
जिसमें स्रष्टा की ईशानी श्रुत की धाराओं का जाल फैला हुआ है)
सचमुच ही जिस (सप्तलोकों के बने) आवरण के द्वारा ढका हुआ
है तथा जिस (आवरण) के द्वारा (अणु का स्वरूप निर्मित होता
है, जिस अणु के स्वरूप द्वारा) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और
आकाश के पञ्चमहाभूतों का स्वरूप शासित होता है और
अपना-अपना तत्सम्बन्धी कर्म करता रहता है, अब उस अणु के आवरण में
बने पञ्चावर्त के विषय में चिन्तन करते हैं ।

इस भाव को ऋग्वेद में निम्न मन्त्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है:-

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतम् दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।

अथैमे अन्य उपरे विचक्षणम् सप्तचक्रे षट् आहुरपितम् ॥
(ऋग्वेद - 1-164-12)

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं -

पञ्चपादम् पितरम् द्वादशाकृतम् दिवः आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ।

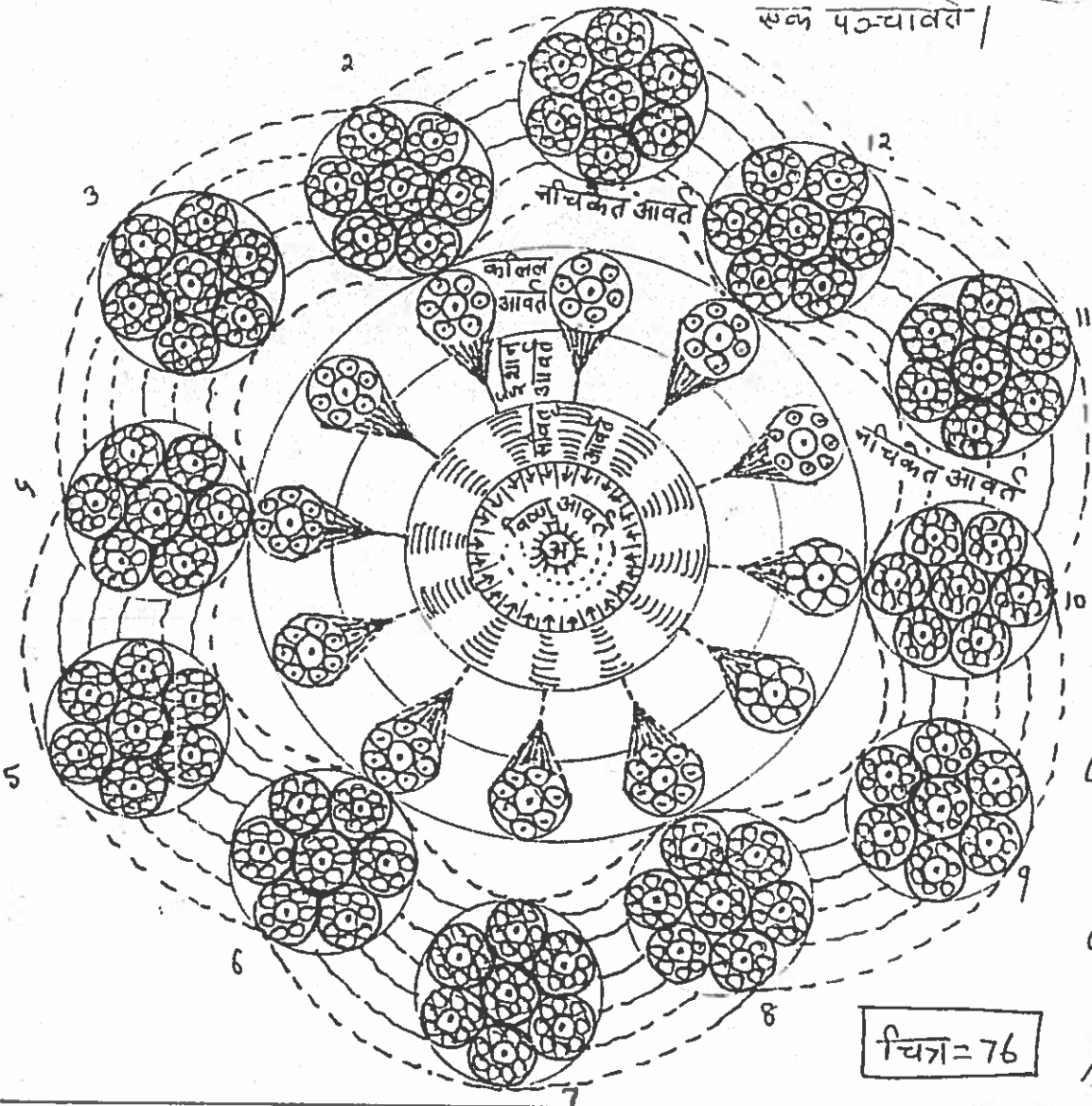
अथैमे अन्ये उपरे विचक्षणम् सप्तचक्रे षट् आहुरपितम् ॥

पञ्चपादम् = अपनी रचना के अन्दर बने पाँच पाद वाले को,
अर्थात् पञ्चावर्त को । रचना के छे पाँच पाद हैं -

- (1) विष्णु आवर्त, (2) सवितृ आवर्त, (3) ईशान आवर्त
- (4) कीलिल-आवर्त, (5) नीचकेत-आवर्त । आगे के पृष्ठ

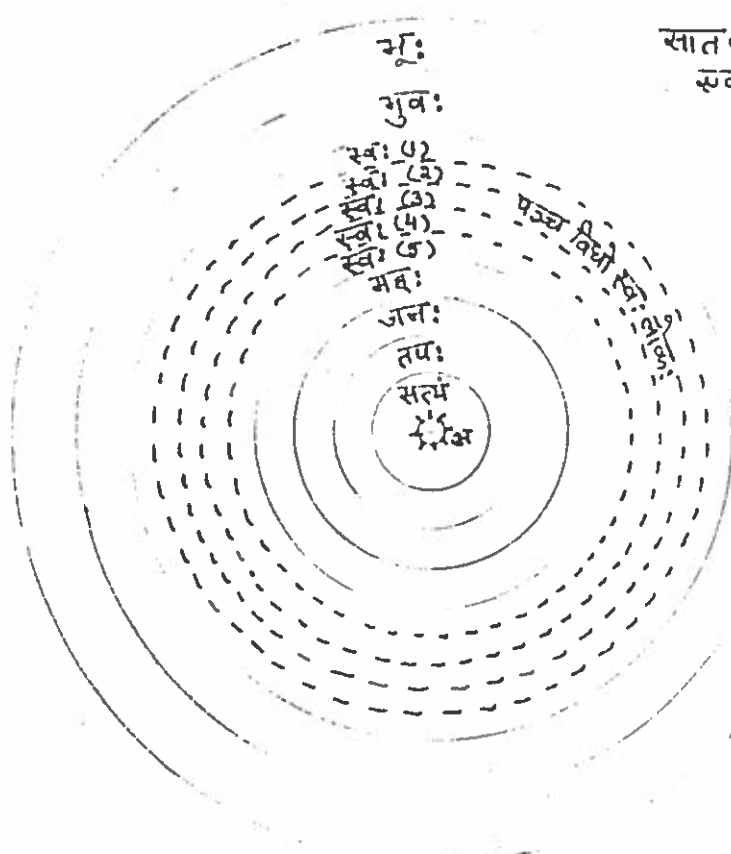
(604) पर चित्र देखें ।

पितरम् = सप्तलोकों में बने वाली मौलिक अर्थों के राजकुलों को
(आगे पृष्ठ 608 पर निरन्तर पढ़ें)



पञ्च पादं पुरं क्वा ॥ इति म् दिव आहुः परे अहुः पुरा विषमम् ॥

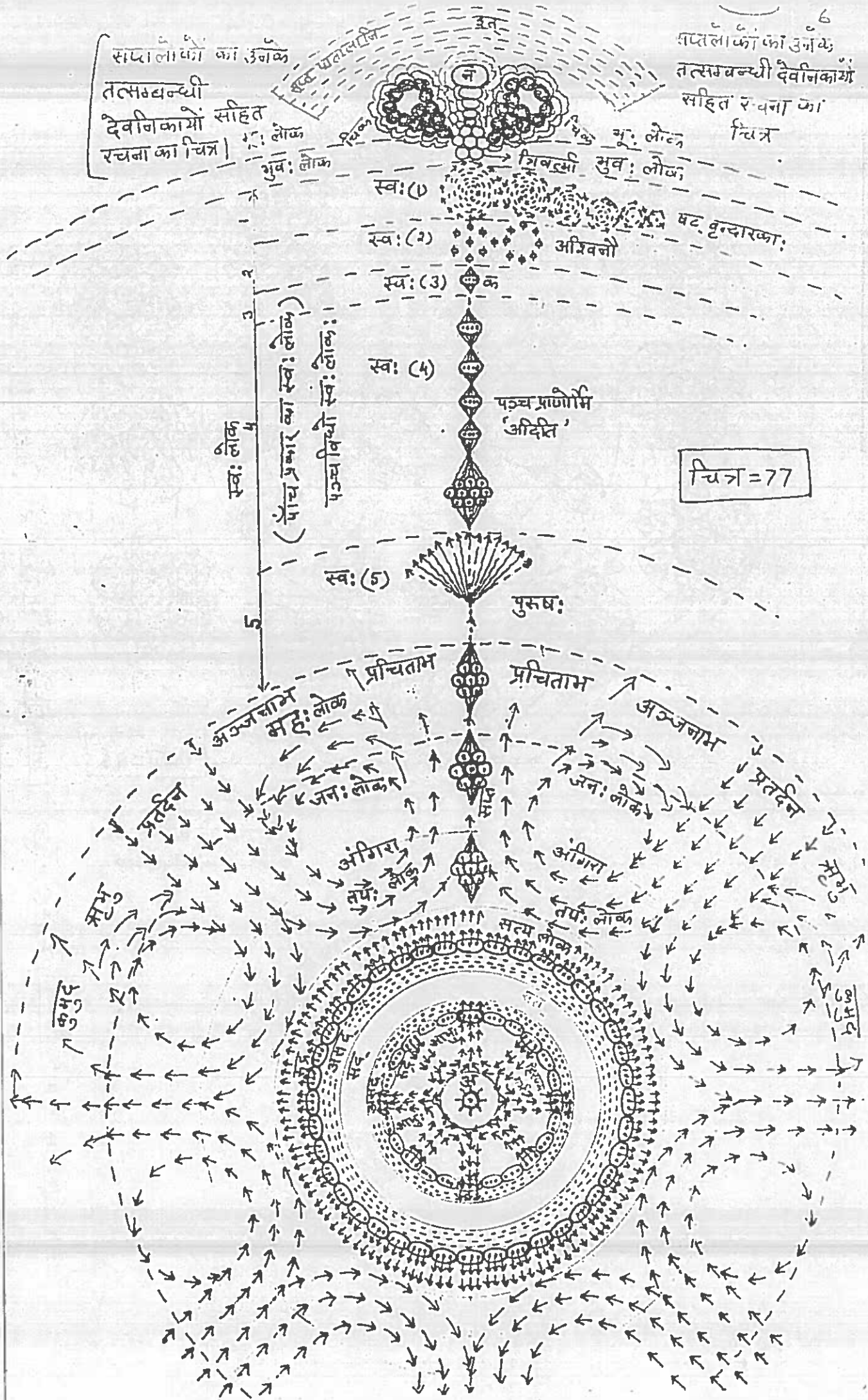
सात लोको का बना
रुक् सप्तचक्र



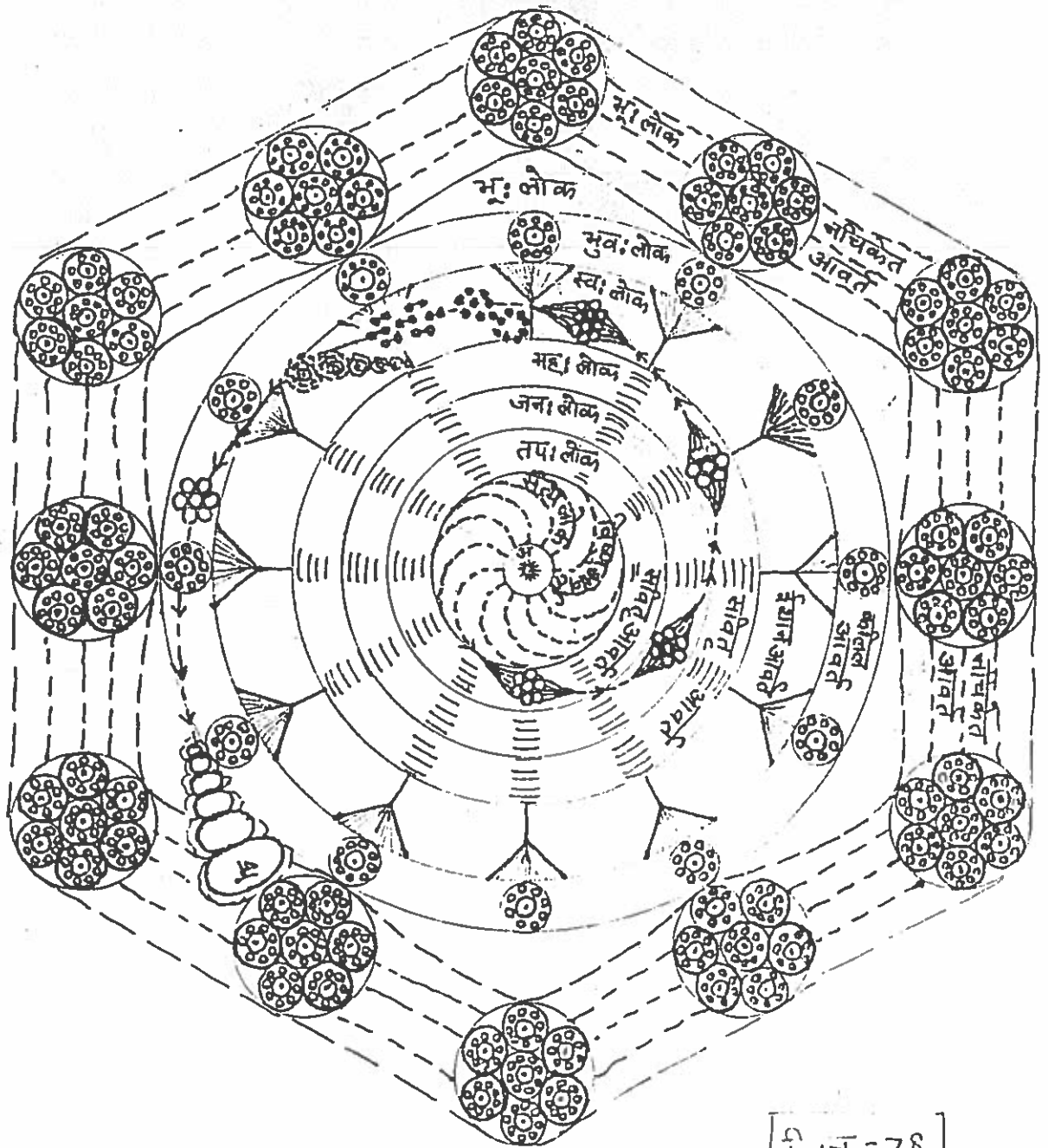
अथ न् अथ उपरि विचक्षणम् सातचक्र पञ्च
जाह्नवितम् ॥

साप्तालोका का उगक
तत्समबन्धी
देविकाओं सहित
रचना का चित्र

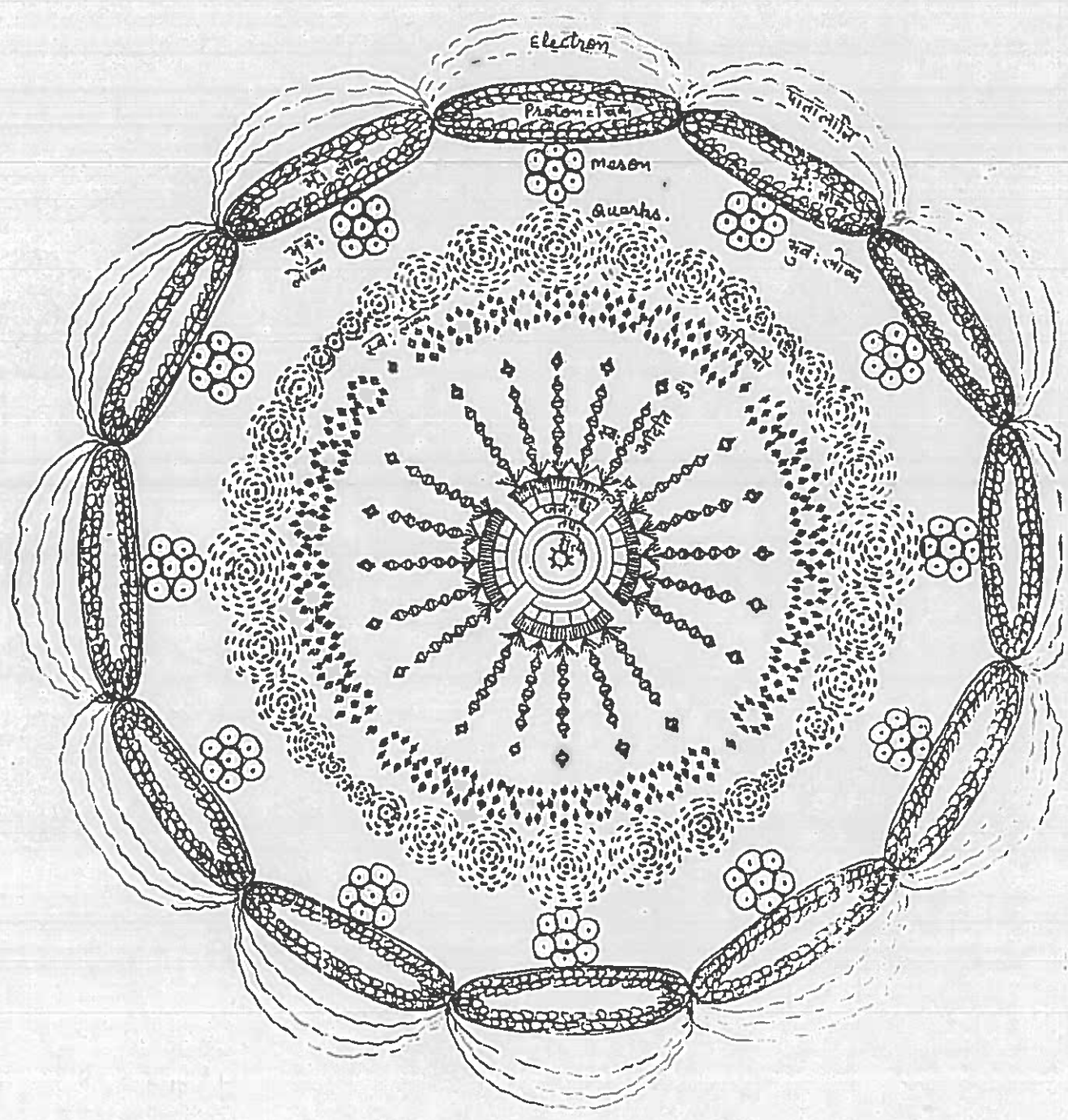
6
साप्तालोका का उगक
तत्समबन्धी देविकाओं
सहित रचना का
चित्र



पञ्चावर्त के ऊपर बनेंन वाले सात लोक तथा उन लोकों में बनेंन वाले तत्सम्बन्धी देव, जिनका पञ्चावर्त के ऊपर नया आवरण बन जाता है। साधारण प्राणियों को वही आवरण दिखाई देता है। वही आवरण रुक अणु बनता है।



रुक् पञ्चावर्त के ऊपर
सप्त लोकों की रचना के आवरण से ढक कर बना हुआ
रुक् हाइड्रोजन के अणु (Atom) का वैज्ञानिक चित्र ।



प्रकृति को प्रजनन के लिए गर्भित करने वाले (पञ्चावर्त) पिता को।

द्वादशऽ आकृतिम् = बारह चैत्यों की आकृति वाले (पञ्चावर्त) को।

दिवः = द्यौ के एक परिमित आयाम में बने (पञ्चावर्त के) द्यौ के एक अंश को।

आहुः = कहते हैं।

परि = द्यौ में बने ऋत के 'पर' रूप के व्योम में। (In the space of high intensity of energy of 'RTA' in a part of 'DYOU'.)

अर्धः = आधे भाग में।

पुरीषिणम् = 'पुर' को शासित करने वाले को।

अथ = इसके उपरान्त।

इमे = ये (सप्त लोक)

अन्ये = दूसरे प्रकार की रचना के ढाँचे में।

उपरे = पञ्चावर्त की पहली बनी रचना के ऊपर।

विऽ चक्षणम् = विशेष रूप से देखने वाले को

सप्तऽ चक्रे = सात लोकों के बने एक सप्तचक्र में।

षट्ऽ अरै = अरों के द्वारा जुड़े हुए अरों वाले छः चक्रों में।

एक सत्य लोक के ऊपर छः अन्य लोकों (तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः) के चक्र एक दूसरे से ऋत के प्रवाह के अक्षों के बने अरों के द्वारा जुड़े हुए हैं।

आहुः = कहे जाते हैं।

अर्पितम् = लगे हुए ॥

अर्थात् 'पञ्चावर्त' की रचना में द्यौ के अन्दर बने पाँच पाद हैं। प्रत्येक पाद का एक नया आवर्त का आवरण पहले बने आवर्त के ऊपर बनता है। इनमें सबसे पहले सत्यलोक की रचना करने वाला

विष्णु का आवर्त बनता है। उससे पश्चात् तपः लोका की रचना करने वाला सवितृ देव का आवर्त बनता है, जिससे 'सव' शक्ति (पौषण करने वाली शक्ति) को चारों ओर प्रसफुटित होती है। ये ही आगे चल कर रुद्र की इशानी ऋतु को चारों ओर बनाने वाली होती है। अतः यह इशान आवर्त कहलाता है। इशान आवर्त ही स्वः लोक में पुरुष की रचना करने वाला होता है और दशमौलिक अर्थों की रचना करता है। इस इशान आवर्त में बने पुरुष के दशांगुल स्वरूप से ऋतु का रुक किलका (पुष्प की रुक रिवली हुई कली जैसा) चक्र बनता है। इन किलकों के चक्रों के आवरण को किलक आवर्त कहा जाता है। इन किलकों के चक्रों से ही भुवः लोक के अन्तरिक्ष में त्रिवर्त्माओं (the three messengers मं, मं, मं) का स्वरूप बनता है। अगले आवरण में ये किलकों के चक्र संयोजित हो कर भूः लोक में स्थित 'न' (Nether), चिक् (Prithvi) की रचना करते हैं तथा बारह चरों की आवृत्ति बना कर इत् (Electrons) के चरों (orbitals) की रचना करते हैं। इन्हीं से सप्त पाताल लोकों की रचना हो जाती है।

इन सप्तलोकों में सृजित प्रकृति का जो स्वरूप बनता है, उसमें रुक्म लोक के देवों के स्वरूप द्वारा दूसरे उसके ऊपर वाले लोक के देव का स्वरूप बनता है। इस प्रजनन की प्रक्रिया को सभी लोकों में गर्भित करने वाला यह पाँच आवर्तों के पाँच पाद वाला पञ्चावर्त ही होता है। अतः यह पिता कहलाता है। सप्तलोकों में बने वाली गीम की पृथिवी माता कहलाती है। पञ्चावर्त शुद्ध रूप से ऋतु के प्रवाह द्वारा बना हुआ द्यौ के रुक्म छोटे से व्योम का अंश है। सप्तलोकों में देवों की रचना करने वाला ऋतु का जो सव्यन, गहन, गम्भीर अम्भ का स्वरूप बनता है, वही ऋतु का 'पर' रूप कहलाता है। उस 'पर' रूप के आधे भाग को ही यह पञ्चावर्त के ऋतु के प्रवाह का बल प्रभावित करता हुआ

शासित करता है। अर्थात् ईशान आवर्त में रुद्र का पुत्र कार्तिकेय जो कताई (spin) का देवता है, वह सप्तलोकों में बने वाले देवताओं के पुरों के आधे भाग को ही अपनी कताई की शक्ति के द्वारा शासित करता है। यहाँ पर प्रत्येक लोक के अन्दर बने वाले देव का $\pm \frac{1}{2}$ spin करने वाला स्वरूप बताया गया है। अतः पञ्चावर्त में ऋतु का प्रवाह प्रत्येक लोक के अन्दर बने वाले देवता के 'पुर' के आधे भाग को ही शासित करने वाला है।

इस पञ्चावर्त की रचना के ऊपर ही सप्तलोकों के सप्तचक्र की दूसरी रचना बनती है। प्रत्येक लोक में उसका तत्सम्बन्धी देविनिष्पाद्य (देवों का समूह) बनता है। पञ्चावर्त के ऊपर बने वाली सप्तलोकों के सप्तचक्रों की रचना विशेष रूप से देखने वाले सूक्ष्मदृष्टा को ही दिखाई पड़ती है। इन सप्तचक्रों में सत्यलोक केन्द्र में स्थित होता है और अन्य छः लोक क्रमवार "तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः" इसके अन्दर अरों (spheres) के द्वारा जुड़े चले जाते हैं। ये अर 'सप्त' नाम के अश्व के बने होते हैं जिसमें ऋतु की ऊर्जा का रूप 'सप्तचक्र' (seven hyper circle) दीड़ता है। अतः ये छः लोकों के चक्र सत्यलोक में लगे हुए कहे गये हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि रुद्र को ईशानी ऋतु की धाराओं के बल से ऋतु में पाँच आवर्तों का एक चक्र सर्वप्रथम धीरे के एक अंश में बनता है। रुद्र को ईशानी ऋतु की धाराओं से बने के कारण यह पञ्चावर्त प्रत्येक आगे की रचना का मूलधार बनता है। अतः यह प्रत्येक रचना के विषय में सब-कुछ जानने वाला 'ज्ञः' है। प्रत्येक रचना के उदय, स्थापना और अस्ता होने के काल का निर्माता है। प्रत्येक रचना के गुणों से सम्पन्न है, सभी प्रकार की रचनाएँ अपनी आत्म चेतना के लिये इसी स्वरूप को अपने अन्दर प्राप्त करती हैं। अतः यह 'सर्वविधः' है। यह धी में सदैव स्थित रहने वाला नित्य है। पृथिवी, जल, अग्नि

वायु, आकाश - ये पञ्चमहाभूत इस पञ्चावर्त के बल से ही आवृत होकर (being covered by the function of this 'PANCA-AVARTTA') शासित होते हैं और अपना-अपना तत्सम्बन्धी कार्य करते हैं। इसी के विषय में इस आख्या के आगे के मन्त्रों में चिन्तन होगा।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये पञ्च प्रकार के महाभूत (states of matter) हैं। भूत का अर्थ पदार्थ (matter) होता है। महाभूत का अर्थ उस भूत में बना किसी विशेष कौटि का भूतों का महान समूह होता है। प्रत्येक भूत (matter) की रचना अणुओं (Atoms) के द्वारा अथवा उन अणुओं के अधूरे रूप के अवयवों (Molecules) के द्वारा होती है। जब पूर्णरूप से बने अणु एक दूसरे के पास आकर इतने अधिक बल से आकर्षित होते हुए जुड़ जाते हैं कि वे फिर एक दूसरे से अलग नहीं हो पाते तो वे पदार्थ का एक ठोस रूप (Solid) धारण कर लेते हैं। भूतों की इसी कौटि को पृथिवी महाभूत कहा जाता है। जब अणुओं के मध्य बना आकर्षण बल कुछ कम हो, जो दो अणुओं को बाँध कर एक साथ रखने में असमर्थ हो तो वहाँ पर एक अणु दूसरे अणु का साथ छोड़ कर बह कर चल देता है। भूत की उस अवस्था को 'जल' (Fluid) महाभूत कहा जाता है। बहने वाले सभी भूत इस महाभूत की कौटि में आ जाते हैं। पृथिवी शुष्क है, जबकि जल आर्द्र है। शेष तीन महाभूत, अग्नि, वायु, आकाश भी आर्द्र अवस्था में आते हैं। वे भी बह कर चल देते हैं। शुष्क और आर्द्र के अतिरिक्त महाभूतों की तीसरी कौटि अवस्था नहीं होती है। [द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रम् चैव शुष्कम् च। (शतपथब्राह्मण-1, 6, 3, 23)] जल - महाभूत की अवस्था में अणुओं के घौग (Molecules) द्वयणु अथवा त्रयणु आदि बह कर चलते हैं। इनका बह कर चलने का आधार

पृथिवी का तल अथवा किसी ठोस पदार्थ से बनी वस्तु का पृष्ठतल होता है।

वायु महाभूत भी इसी प्रकार का बहकर चलने वाला महाभूत होता है। परन्तु उससे बहने की विधा जल महाभूत से प्रचल्य होती है। वायु महाभूत के भूतों के अणुओं के बीच का आकर्षण बल जल के अणुओं के मुकाबले और अधिक कम होता है। अतः वे अधिक दाब के क्षेत्र से कम दाब वाले क्षेत्र की ओर बहकर चल देते हैं। पृथिवी का ऊँचा नीचा तल इस दाब के कारण बने बहाव को नहीं रोक पाता है। वायु महाभूत में भी स्वतन्त्र अणु अथवा अणुओं के योग (Molecules) बहते हैं। वायु महाभूत का घनत्व जल महाभूत से कम होता है।

अग्नि के महाभूत में अणुओं के मध्य आकर्षण बल वायु महाभूत के अणुओं के मध्य के आकर्षण बल से भी कम होता है। साथ में अणुओं के अवयवों में भी विकिरण प्रक्रिया (Radiation) तीव्र होती है। इस कारण अग्नि महाभूत के अणुओं में दूसरे अणुओं के साथ रासायनिक अथवा नाभिकीय क्रिया करके योग बनाने की क्षमता अधिक होती है। इसी कारण अग्नि महाभूत के द्वारा पदार्थों के पिण्डों में संवर्धन अथवा विनाश की प्रक्रिया तीव्र गति से होती है। अग्नि महाभूतों में यह आवश्यक नहीं है कि सदैव उनका तापमान बहुत ऊँचा रहे। ये ठंडे रहकर भी अपना संवर्धन अथवा विनाश का कार्य उसी प्रकार करते हैं। अग्नि महाभूत के अणुओं में इलेक्ट्रॉन (Electrons) की सक्रियता अत्यधिक तीव्र होती है। अग्नि महाभूत के अणुओं में चनात्मक अथवा मृणात्मक आवेश होता है। आवेशयुक्त अणुओं अथवा योगों को ही अग्नि महाभूत की कोटि में रखा जाता है। अतः Charged molecules or charged atoms ही अग्नि महाभूत की कोटि में आते हैं। अग्नि अयोनिक प्रवस्था (Ionic form of matter) का पदार्थ है।

पाँचवी अवस्था महाभूत की आकाश महाभूत है। आकाश महाभूत में स्वयं अणु स्वयं ही पूर्ण नहीं बन पाता। रचना के किसी भी सग्रे में पहुँचने पर इसका आगे के संवर्धन का विवास रुक जाता है।

इस कारण आव्वाश महाभूत में अणु की किसी जला के अंश तक ही निर्माण हो पाता है। अतः अधूरे निर्मित अणुओं के अवशेषों द्वारा ही आव्वाश महाभूत का निर्माण होता है। आव्वाश महाभूत में अश्विनो के द्वारा निर्मित चुम्बकीय तरंगों का पदार्थ, अदिति के द्वारा निर्मित आवेशित रेडियो तरंगों के पदार्थ, प्रकाशज्वण (photons) के रजज्वण, इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉनों की स्वतन्त्र सत्ता के पदार्थीय ज्वण विद्यमान रहते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म रूप में पाये जाते हैं। आव्वाश महाभूत के पदार्थों के ज्वणों के मध्य पाया जाने वाला आवर्षण बल लगभग शून्य के बराबर होता है। इसी कारण आव्वाश महाभूत के भूतों के अवयव स्वतन्त्रता पूर्वक ज्योम में विचरण करते रहते हैं।

इन पाँचों महाभूतों के पदार्थीय आवरणों से पञ्चावर्त का स्वरूप ढका रहता है। पञ्चावर्त के ऋतु की ऊर्जा का प्रवाह इन पाँचों महाभूतों के पदार्थीय रजज्वणों में व्याप्त रहता है। इसी पञ्चावर्त के ऋतु के प्रवाह से शासित होकर इन पाँचों महाभूतों के भूत अपना-अपना विशेष गुण चर्मों को प्रकट करने वाला कर्म करते हैं। अग्नि जलाती है, जल गलाता है, पृथिवी ठोस बनाती है, आव्वाश हल्का बनाता है, वायु उड़ाती है, आदि-आदि। पञ्चावर्त के ऊपर रहे इसी पदार्थीय सप्तलोकों के आवरण को उद्याड़ कर सत्य रूप ऋतु की ऊर्जा के आत्म स्वरूप को देखने के लिए 'इशोपनिषद्' में यह कहा गया है कि, "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखं। तत्त्वम् पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।" अर्थात् पदार्थ के स्वीर्ण पात्र से ऋतु के सत्य स्वरूप का मुख ढका हुआ है। है पूषन्! उसे सत्यधर्मी ऋतु को देखने के लिए तुम उसे उद्याड़ो। इन महाभूतों के वर्गीकरण में इस प्रकार अणुओं के अनेकों योग (molecule formation) बनने की प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण बनती है। अतः आगे के मन्त्र में इस योग बनने की प्रक्रिया का वर्णन दिया जा रहा है।

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।

एकेन ह्याभ्याम् त्रिभिरष्टाभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥

(3)

[पञ्चावर्त के ऋतु के सत्य स्वरूप के ऊपर सप्तलोकों में स्थित सभी देविनिष्ठाओं का पदार्थीय हिरण्मय आवरण बनाने का कर्म करके अणु की रचना का कार्य वह ब्रह्म पूर्ण कर देता है।] अणु (Atom)

की रचना का वह कर्म करके फिर उसके उपरान्त वह पञ्चावर्त एक तत्त्व के अणु को दूसरे तत्त्व के अणु (Atom) के पास सम्पर्क रूप से लाकर यौग (Molecule) बनाता है। यह यौग बनाने की प्रक्रिया वह एक इत् (Electron) का, अथवा दो इत् (Electron) का अथवा तीन इत् (Electron) का विनिवर्तन करके (= एक अणु में से हटा कर दूसरे अणु में रख कर = *Electrovalent bond*) करता है अथवा आठों इत् (Electrons) का विनिवर्तन करके (*molecular bond*) करता है। यह "विनिवर्तन आबन्ध" (*Electrovalent bond*) बनाने की प्रक्रिया है।

दूसरी प्रक्रिया एक अणु (Atom) के एक इत् को अथवा दो इत् को, अथवा तीन इत् को दूसरे अणु (Atom) के उतने ही इत् के सम्पर्क प्रकार से पास ला कर "संयुक्त आबन्ध" (*covalent bond*) बनाता है। इस प्रकार *single bond*, *double bond* अथवा *triple bond* बन जाते हैं। आठों इत् के द्वारा *molecular bond* बन जाता है। जैसे कि Ne , Ar , Kr , Xe , Rn तत्वों के बनते हैं।

इस प्रकार दोनों विधियों से "विनिवर्तन आबन्ध" अथवा "संयुक्त आबन्ध" की विधियों से द्व्यणु, त्र्यणु आदि यौग (*molecule*) बन जाते हैं।

ये यौग काल की प्रक्रिया द्वारा, अथवा अणुओं के अपने सूक्ष्म आत्मगुणों के द्वारा बनते हैं। दो अणुओं या तीन अथवा अधिक अणुओं के यौग बनने में कहीं पर बहुत छोड़ा सा समय लगता है, और कहीं पर बहुत अधिक समय लगता है। यही काल की गणना की प्रक्रिया यौग बनने में एक कारण बनती है।

दूसरे प्रत्येक अणु में जो उसका अपनी बनावट का गुण है, कि उसके बाह्यतम अक्ष में (*In the outer most orbit of electrons*) कितने इत् विद्यमान हैं, यह उसका आत्मगुण भी यौग बनने की प्रक्रिया में कारण बनता है। इसके साथ-साथ एक अणु में आत्मतत्त्व की चेतना का स्तर कौन सा है? आभास्वरा, महाभास्वरा अथवा सत्यमहाभास्वरा है, उसमें ऊपर भी यौग बनने की प्रक्रिया निर्भर करती है।

सजीव प्राणी की कोशिकाओं में (In the animal cell) अणुओं में योग बनने की प्रक्रिया तभी सम्पन्न होगी जब उस कोशिका में विद्यमान सभी अणुओं (Atoms) में आत्मतत्त्व की चेतना का स्तर सात्त्विकस्वरा स्तर का होगा। अन्यथा पूर्व बने योग भी टूटने लग जायेंगे और वह कोशिका विकृत हो कर सड़ने लग जायेगी।

इसी प्रकार वनस्पति कोशिका में भी योग तभी बनता है जब उसमें विद्यमान अणुओं में महाभास्वरा स्तर की आत्मतत्त्व की चेतना विद्यमान हो।

जब तत्त्वों के अणुओं में आभास्वरा स्तर की चेतना होने पर योग बनने की प्रक्रिया होती है।

जब असमान चेतना के स्तर वाले तत्त्वों के अणु आपस में मिलते हैं तो उच्च स्तर की चेतना वाला अणु अपनी चेतना का आँखों से दूसरे कम चेतना के आवेश वाले अणु को प्रदान कर देता है। जब दोनों में चेतना समान स्तर की हो जाती है तो दोनों का योग बन जाता है। इस प्रकार चेतनामुक्त कोशिका अचेतन अणुओं से अपना पोषण प्राप्त कर लेती है और अपने साथ उनकी आत्मसात करके योग बना देती है। पूरा योग इस प्रकार चेतनामुक्त बन जाता है।

इस प्रकार योग बनने की प्रक्रिया में काल (Time factor) और सूक्ष्म आत्मगुण (spiritual factor) दोनों समाज रूप से कार्य करते हैं।

यह Electrovalent (विनिवर्तन) तथा covalent (समैत्य) bond (आबन्ध) बनने की रासायनिक आबन्धों (Chemical bonds) की प्रक्रिया तो आधुनिक विज्ञान में सभी जानते हैं, परन्तु वैदिक विज्ञान वेत्ता ऋषि 'योग' बनने की प्रक्रिया का विश्लेषण और अधिक गहनता से तथा और अधिक सूक्ष्मता से करते हैं। यहाँ तब कि 'योग' बनने की प्रक्रिया का रूप अलग से शास्त्र "योग-शास्त्र" विधिवत वैदिक विज्ञान में निर्मित कर दिया गया है। छः शास्त्रों में प्रमुख ग्रन्थ रूप "योग शास्त्र" है, जिस की व्याख्या विशिष्ट, पतञ्जलि आदि अनेक वैदिक ऋषियों ने की है। "योग" शब्द/युजिर् योगे चातु से बनता है, जिसका अर्थ

दो विच्छेदित अवयवों को स्वयं दूसरे के पास लाकर स्वयं दूसरे में समाहित करके स्वयं इकाई में बाँध कर जोड़ना होता है। इस प्रकार दो या दो से अधिक विच्छेदित अवयवों को स्वयं इकाई में बाँधने को "योग" कहा जाता है।

सृष्टि का चक्र 'सम्भूति' और 'विनाश' के क्रम से चलता है। मूल तत्त्व तो सृष्टि में अकेले स्वयं सद्-ब्रह्म को ही माना गया है। वह निर्गुण निराकार रूप में अकेला स्वयं इकाई में बाँधा हुआ शान्त रूप में विद्यमान रहता है। अतः 'योग' का उन्निम परिणाम तो उस अकेले स्वयं इकाई में बाँधे सद्-ब्रह्म के रूप की प्राप्ति को ही कहा जाता है।

सृष्टि का चक्र 'सम्भूति' से प्रारम्भ होता है। सम्भूति की प्रक्रिया में उस स्वयं इकाई में बाँधे शान्त स्वरूप सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन को इच्छा का काम का संकल्प उदित होता है और उन सृष्टि के जना प्रकार के संकल्पों को अपने अन्दर आबद्धित करने वाले बहुत से रूपों में वह अपने स्वयं इकाई में बाँधे स्वरूप को-अनेकों इकाइयों वाले स्वरूपों में बाँट लेता है। इसी को वैदिक विज्ञान में "एकोऽहम् बहुस्याम्" - कह कर बताया गया है। अर्थात् मैं स्वयं सद् रूप में हूँ और अपने को सृष्टि सृजन के लिए बहुत से रूपों में बाँट लेता हूँ। आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक इसी को Big-Bang (महाविस्फोट) के नाम से बताते हैं। इसी प्रक्रिया को सम्यक् (सम्) रूप से उत्पन्न होने (भूति) को प्रक्रिया "सम् + भूति = सम्भूति" कहा जाता है। अतः सम्भूति की प्रक्रिया में सर्व प्रथम विच्छेदन होता है। उस विच्छेदन की प्रक्रिया के उपरान्त विच्छेदित अवयवों में उनके द्वारा धारित संकल्पों के अनुसार प्रवाह की गति उत्पन्न होती है। जिसे 'संवसार' कहा जाता है और काल की सहा विद्यमान हो जाती है। प्रत्येक प्रवाहित अवयव में उसके द्वारा धारित संकल्प के अनुसार आत्मगुण भी विद्यमान हो जाता है। ये अवयव सद्-ब्रह्म के ही होते हैं और प्रथम रचना के संकल्प को धारण करने वाले होते हैं। अतः इन अवयवों

की रचना के वर्णों को "अकार" - अर्थात् 'अ' का नाम दिया जाता है। यह 'अकार' (अ) का स्वरूप सृष्टि सृजन के कार्य में परम कल्याणकारी होता है। वैदिक विज्ञान में इस प्रक्रिया को "अकारः सर्ववर्णी हर्यः प्रकाशः परमः शिवः" - कह कर बताया गया है। इसका अर्थ बनता है कि 'परम कल्याणकारी वर्ण-अकार-का प्रकाश सभी वर्णों में सब से आगे होता है। इसी कारण शब्द उच्चारण की वर्णमाला में भी लगभग सभी भाषाओं में अकार (अ) को सब से पहले रखा गया है। "नाम रूपे सत्यम्" के अनुसार नाम और रूप की सत्यता को प्रकट करने के लिए इसे आवश्यक माना गया है। नाम का बोध शब्द के उच्चारण द्वारा होता है तथा अर्थ का बोध उस सृष्टि के रूप द्वारा होता है, जिस के लिए वह नाम बोला जाता है। दोनों में शब्द तथा अर्थ में सामञ्जस्य बनने पर सत्य स्वरूप प्रकट होता है।

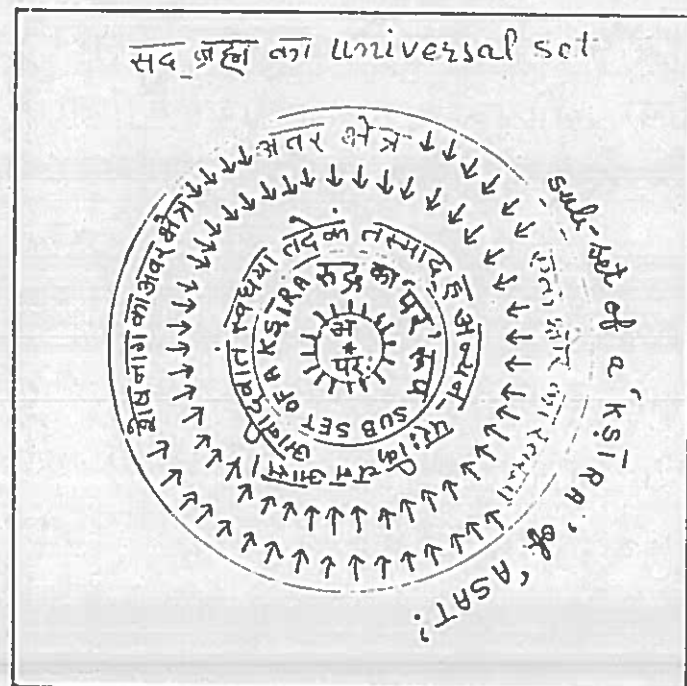
इस 'अकार' की रचना के लिए सद् ब्रह्म का शान्त तथा स्फुरत् स्वरूप अपने स्वयं के स्वरूप सहित अपनी स्वयं की इच्छा के संकल्प द्वारा ही एक परिमित आयाम के व्योम में से बहाकर एक बिन्दु पर लाया जाता है और वहाँ उस बिन्दु पर उस सद्-ब्रह्म का अति सघन, गहन, गम्भीर स्वरूप बना दिया जाता है। इसी गहन, सघन गम्भीर स्वरूप को 'पर' रूप कहा जाता है। जिस क्षेत्र में से उस सद् का स्वरूप बह कर 'पर' रूप के बिन्दु पर आ जाता है, उस शेष बचे विरल सद्-ब्रह्म के क्षेत्र के स्वरूप को 'अवर' नाम दिया जाता है। इस प्रकार 'पर' तथा 'अवर' स्वरूप के द्वारा 'अकार' की रचना करने वाली एक इकाई के स्वरूप को 'क्षीर' कहा जाता है। ये क्षीर बह कर चल देते हैं, अतः सारे क्षीरों का स्वरूप 'अम्भ' कहलाता है। अम्भ से भरा यह क्षीरों

का जमुद्र परमयोग में स्थित क्षीर सागर कहलाता है।
 उसी क्षीर सागर में प्रत्येक क्षीर के केन्द्र में 'अकार' (अ)
 अर्थात् विष्णु विद्यमान होता है। विरल ब्रह्म का क्षेत्र
 उस विष्णु की शेषनाग की शैया कहलाती है।

एक क्षीर का स्वरूप बनते समय उस सद-ब्रह्म की
 एक बिन्दु पर पिण्डी बनती है। अतः वह पिण्डी का स्वरूप
 ही रुद्र का अवतरण कहलाता है जिसके गले में विरलब्रह्म
 के क्षेत्र के बने शेषनाग का स्वरूप लिपटा होता है। इसी
 कारण सब से पहले आदि-देव 'रुद्र' का अवतरण माना
 जाता है और उसी आदिदेव रुद्र को निर्गुण सद-ब्रह्म
 का साक्षी कहा गया है। सत् के स्वरूप को अपनी
 समाधि में लीन होकर केवल रुद्र भगवान ही देख पाते
 हैं, अन्य देव नहीं। इसी कारण सृष्टि सृजन, स्थापन
 तथा प्रलय इन तीनों प्रक्रियाओं पर केवल एक रुद्र देव
 का ही अधिष्ठाता माना जाता है। जबकि विष्णु का अधिष्ठाता
 केवल सृष्टि सृजन और पालन में तथा ब्रह्मा का अधिष्ठाता
 विधि विधान के अनुसार केवल सृष्टि संचालन में स्थापना
 का अधिष्ठाता माना गया है। तीनों पर एकत्र अधिष्ठाता
 केवल रुद्र देव का ही माना गया है।

अकार से युक्त सद-ब्रह्म की बनी पिण्डियों के
 अनेकों स्वरूपों वाले रूप को ही 'असद' ब्रह्म कहा जाता है।
 क्षीर सागर की स्थापना असद-ब्रह्म से ही होती है। 'अ + सत्'
 से 'असद' बनता है, जिसका अर्थ है अकार की रचना से
 युक्त सद ब्रह्म। "सतो बन्धुमसीति निरविन्दनः"
 (ऋग्वेद-10, 129, 4) यही अर्थ प्रकट होता है कि सत् को बांध
 कर रखने वाले बन्धु को 'असत्' में पूर्ण रूप से कीच और
 मजीषियों ने अपने हृदय में जाना।

'अकार' की रचना के 'पर' रूप को बताने के लिए ऋग्वेद में " आनीदवातं स्वधया तदेकम् तस्माद् ह अन्यत् परः किम् च न आस " (ऋग्वेद-10, 129, 2) कहा गया है। इसका अर्थ है कि सद् ब्रह्म अपनी इच्छा से ही सृष्टि सृजन के लिए अपने स्वयं के धारित स्वरूप सहित (स्वधया) एक बिन्दु पर (एकम्) अच्युत अवस्था के रूप में (अवातं) लाया गया (आनीत्)। वही एक बिन्दु पर लाया गया स्वरूप निश्चय पूर्व ही (तस्माद् ह) 'पर' रूप (परः) है। उसके अतिरिक्त निश्चय पूर्वक (तस्माद् ह अन्यत्) कोई भी अन्य रूप 'पर' रूप नहीं है। (परः किम् च न आस)। आधुनिक गणित की समुच्चय प्रणाली (set theory) के अनुसार बना इसका नीचे चित्र देखें। यहाँ सद्-ब्रह्म का universal set बनता है तथा एक क्षीर का उसमें एक sub-set बनता है।



चित्र=80

| अकार-(अ) की रचना का चित्र | एक 'क्षीर' |

बहुत से क्षीरों के बहाव से जब असत् ब्रह्म सक्रिय हो जाता है तो उसी सक्रिय असत् के स्वरूप को 'ऋत' कहा जाता है। ऋत के बहाव के अवरुद्ध होने पर पुनः ऋत की पिण्डियाँ बनती हैं और उन में रुद्र का महादेव का स्वरूप प्रकट होता है। इन में क्षीरों का समायोजन अपने स्वभावों की संकरूपता के अनुसार होता है। समान स्वभाव वाले क्षीर इस महादेव की रुद्र की पिण्डियों में समायोजित हो जाते हैं। ये रुद्र की पिण्डियाँ पुनः नर्तन करती हुई समायोजित होती हुई ब्रह्म का अणुरूप नाद उमरु की आवाज जैसा उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार समान स्तर की चेतना की ऊर्जा और संकल्पों के अनुसार आत्मगुण तथा काल की प्रक्रिया से नियंत्रित हो कर आगे की सृष्टि का सृजन प्रारम्भ हो जाता है और नाना प्रकार के योग बनने लग जाते हैं। इस प्रकार प्रारम्भ में सद-ब्रह्म के विच्छेदित अवयवों में समायोजन की प्रक्रिया के योग द्वारा सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है।

यह योग की प्रक्रिया प्रारम्भ में एक सद-ब्रह्म से अनेक रूपों में बँट कर सृजन से प्रारम्भ होती है। अतः यहाँ सृजन के इस योग को बताने के लिए 'सक्केन' शब्द का प्रयोग किया गया। उस एक से सत्, असत् दो रूप बन गये। इसे पश्चात् सत्, असत् दोनों के रूपों के द्वारा सृजन का योग बनता है। इस कारण सृजन के योग का हेतु "ह्याभ्याम्" कह कर बताया गया। उससे पश्चात् असत् में रुद्र की 'ईशजी' ऋत की धाराओं के द्वारा 'पुरुष' की रचना हो कर 'पुरुष' के दशांगुल स्वरूप के अतिरूप में सक्केन (अति-अतिच्छद-दशांगुलम्) के कारण ऋत का अतिसूदन गहन गम्भीर रूप बनने से दश मौलिक अर्थों की आदि रूप के रजकणों के रूप में रचना हो कर भौतिक प्रकृति के मूल अर्थ (Basic matter) की रचना हो जाती है। आगे की रचना के योग में अब सत्, असत्, तथा मौलिक अर्थों की यह

स्थूल प्रकृति, ये तीनों योग के कारण बनते हैं। सत् मौलिक अर्थों में चेतना प्रदान करता है, असत् मौलिक अर्थों के स्वभाव को निर्मित करता है और उसके बाद एक समान स्वभाव वाले मौलिक अर्थ मिल कर प्रकृति के तत्वों के रजकणों को रचना करते हैं। इस प्रकार तत्वों का योग बनता है। इसी कारण सत्-असत्, मौलिक अर्थों को, इन तीनों के योग का कारण बताने के लिए यहाँ 'त्रिभिः' कहा गया है।

प्रकृति अपने स्वभाव के अनुसार आठ भेदों वाली सांख्य शास्त्र में "अष्टौ प्रकृतयः" कह कर बताई गई हैं। अतः प्रकृति के प्रत्येक रजकण में इन आठ प्रकार की प्रकृतियों के स्वभाव ही न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं। इन्हीं आठ प्रकार की प्रकृति की स्वभावों की अनुकूलता के अनुसार आगे मौलिक अर्थों से बने रजकणों के अर्धपिण्डों के योग बनते हैं। इसी कारण यहाँ योग बनने की प्रक्रिया में इन आठ प्रकार की प्रकृतियों को हेतु बताने के लिए यहाँ "अष्टाभिः वा" कहा गया है।

जैसा पहले बताया जा चुका है कि स्वभाव के निर्माण की क्षमता 'रुद्र' की 'इशानी' श्रुत की चाराओं में ही होती है। जिस प्रकार का संकल्प 'इशानी' श्रुत की चारा में उदित होता है, उस संकल्प को आवृत्त करने के लिए वह उसी प्रकार के श्रुत का एक आवर्त (मँवर) अपने अन्दर बना लेती है। वही आवर्त उसके ऊपर बने मौलिक अर्थ के रजकण तथा पिण्ड के स्वभाव को नियोजित करके प्रकट करता है। क्षीर सागर में श्रुत की चारा 'इशानी' नाम वाली बज कर बहती है। इस चारा को ऋग्वेद में 'सिलिल' कहा गया है। 'रुद्र' क्षीर सागर में बहुत से सिलिलों का स्वरूप संकल्पों के उदय तथा अस्त द्वारा

बनाता रहता है। इस सलिल में सवपदी चारा का स्वरूप, दोपदी चारा का स्वरूप, चार पदी चारा का स्वरूप, आठपदी चारा का स्वरूप बनाया जाता है। जब इसमें जो पदी चारा का स्वरूप बनाया जाता है तो यह सहस्र अक्षर रूपों में बँट कर विनष्ट हो जाती है और परम व्योम में समाहित हो जाती है।

रुद्रजी ईशानी' ऋत की चारा क्षीर सागर में तरंग (wave) के रूप में चलती है। अतः इसकी तरंगों की wave length (संचुकीचान्त) भी होती है। तरंग के प्रथम उद्गम के स्थान पर एक wave length की जितनी दूरी होती है, उसी दूरी को वैदिक विज्ञान में एक इकाई दूरी माना जाता है। यह उस ईशानी ऋत की चारा की चलने की दूरी की माप की एक इकाई की मात्रा माना जाती है। इस एक इकाई की दूरी की चलने की मात्रा में प्रथम उद्गम के स्थान पर केवल एक ही तरंग (wave) बनती है, अतः उसकी एक संचुकीचान्त (one wave length) की दूरी ही उसके चलने की एक इकाई की मात्रा की दूरी ही कहलाती है। तरंग के चलने की यह विधा 'सवपदी' विधा कहलाती है। आगे चलने की उतनी ही मात्रा की एक इकाई की दूरी में दो तरंगें बन जाती हैं। अर्थात् इस दूसरे प्रकार की गति में एक तरंग की wave length पहली तरंग की wave length की आधी रह जाती है। अतः प्रथम बार चलने की एक इकाई की दूरी की मात्रा में इस बार दो तरंगों के पद चलते हैं। अतः यह दूसरी विधा 'द्विपदी' चलने की विधा उस तरंग की बन जाती है। इसी प्रकार यदि उतनी ही दूर चलने के लिए चार तरंगें उस ईशानी चारा में बनती हैं, तो वह चतुष्पदी विधा कहलाती है। उतनी ही दूर चलने के लिए जिसमें आठ तरंगें बनती हैं, वह अष्टापदी विधा कहलाती है। उतनी ही दूर चलने के लिए जिसमें जो तरंगें बनती हैं, वह नवपदी सलिल की चारा कहलाती है। नवपदी बनते ही यह ऋत की चारा की सलिल सहस्र अक्षर भागों में बँट कर परम व्योम में विलीन हो जाती है। ये ऋत की चाराओं के इस प्रकार के सभी सलिल अणु (Atom) की नाभि (Nucleus) तथा नाभ्येतर भाग (Extra nuclear part of the atom) में बनते हैं। नाभि (Nucleus) के 'पीलत' चक्र में सवपदी, 'अश्न' चक्र में द्विपदी, घृतपृष्ठ चक्र में चतुष्पदी, नाभ्येतर इत भाग में अष्टापदी,

तथा इत् (Electrons) के क्षेत्र के बाहर विकिरण क्षेत्र (Radiation part) में नवपदी बन कर परमव्योम में वह ऋतु की चारा विलीन हो जाती है।
इस भाव को बताने वाला ऋग्वेद में निम्न मन्त्र है:—

गौरी मिमाग्र सिलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।

अष्टापदी नवपदी बभ्रुवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।

(ऋग्वेद-1, 164, 41)

इस मन्त्र का पदपाठ तथा अर्थ निम्न प्रकार बने हैं:—

गौरी: = दीप्तिमती गौ, यह दीप्तिमती गौ अणु में नाभ (Nucleus) का अर्थ पिण्ड है। अतः यहाँ अर्थ लगता है, अणु की नाभ।

मिमाग्र = मिमिग्राने जैसी नाद की ध्वनि उत्पन्न करती हुई अघवा करके—

सिलिलानि = ऋतु के प्रवाह की चाराओं के चोरे (Channels of the flow of the current of 'RTA')।

तक्षती = ऋतु से और परम व्योम में छड़ कर बनाती हुई।

एकऽपदी = एक पद वाली बहाव की चारा

द्विऽपदी = दो पदों वाली बहाव की चारा

सा = वह चारा

चतुऽपदी = चार पदों वाली बहाव की चारा

अष्टाऽपदी = आठ पदों वाली बहाव की चारा

नवऽपदी = नौ पदों वाली बहाव की चारा

बभ्रुवुषी = बनती हुई

सहस्रऽअक्षरा = आगे और अधिष्ठा क्षरित न होने वाले एक हजार अक्षर भागों में बँटती हुई।

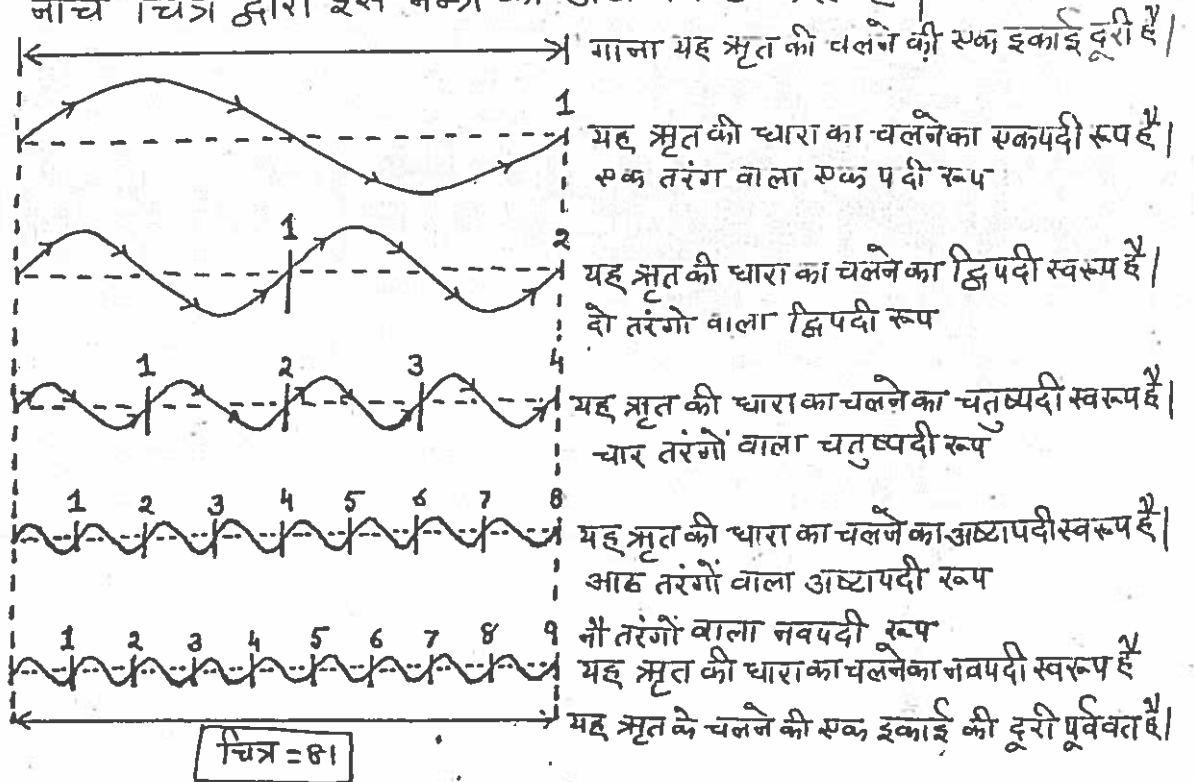
परमे = सर्वोच्च में

विऽव्योमन् = व्योम में। उस परम व्योम में जो ऋतु से भरा है

अर्थात् अणु की नाभ की दीप्तिमान अर्थ पिण्ड की गौ मिमिग्राने जैसी ध्वनि का अपने अन्दर नाद उत्पन्न करते हुए ऋतु की तरंगों वाली चाराओं को अपने अन्दर छड़ कर बनाती हुई रहती है। वह ऋतु की चारा अपनी गतिमान ऐतन अवस्था में बहती हुई अपनी बहाव की गति की विधा का स्वरूप एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी बनाती हुई बहती है और नौपदी रूप में होती हुई सहस्र अक्षर रूपों में

विभाजित हो कर परम व्योम में विलीन हो जाती हैं।

नीचे चित्र द्वारा इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट करते हैं।



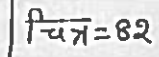
पूरे अणु (Full Atom) की रचना के ढाँचे को पाँच प्रमुख भागों में बाँटा गया है, जिनमें तीन भाग तो नाभिक के अन्दर स्थित हैं, जिन्हें 'त्रिनाभिक चक्रम् अजरम् अनर्गम्' कह कर ऋग्वेद (1-164-2) में कह कर बताया गया है और इनके नाम पूर्व के मन्त्र (1-164-1) में पलित, अश्न तथा घृतपृष्ठ बताये गये हैं। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। चौथा भाग नाभिक से बाहर पाताल लोको का है जिसमें 'इत्' रहते हैं। पाँचवाँ भाग पाताल लोको से बाहर नागलोक का है, जिसमें 'इत्' का विकिरण हो कर उक्षाणम् (Radiation) का सहस्र-अक्षर रूप नागों जैसा बनता है। इन पाँचों भागों में मृत की धारा की चलने की विधि 'पलित' भाग में एकपदी, अश्न भाग में द्विपदी तथा घृतपृष्ठ भाग में चतुष्पदी होती है। नाभिक के बाहर इत् के चरों के भाग में यह गति अष्टापदी होती है और इत् के चरों के बाहर पाताल लोको से आगे उक्षाणम् (Radiation) के क्षेत्र में यह मृत की धारा की गति नवपदी हो कर सहस्र अक्षर भागों में उक्षारित (Radiate) हो जाती है और परम व्योम में समाहित हो कर द्यौ में चली जाती है।

$$\frac{3}{6}$$

(625

सिद्धिदायिका
परम व्यायाम

परम
योग्य



“अष्टौ प्रकृतयः” में स्वभाव के अनुसार आठ प्रकार की प्रकृतियाँ बताई गई हैं। प्रकृति में पदार्थों की रचना की रचना इन्हीं अणु (Atom) होता है। अतः आठ प्रकार के स्वभावों की प्रकृति की रचना के लिए अणुओं की प्रकृति के भी आठ प्रकार के स्वभाव होने चाहियें। आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक इस तथ्य को गली प्रकार जानते हैं कि सभी तत्वों के अणुओं को क्रमबद्ध सारणी में रखने पर Periodic Table में प्रत्येक आठवें अणु का स्वभाव लगभग मिलता जुलता पाया जाता है। उससे रासायनिक गुणों में अधिकतर समानता पाई जाती है। अतः यह सत्य है कि अणुओं के स्वभाव के अनुसार आठ प्रकार की ही प्रकृतियाँ पाई जाती हैं। क्योंकि कि सभी तत्वों के अणु रासायनिक क्रिया करने के आठ प्रकार के ही परिणाम दे कर योग बनाते हैं। पृष्ठ 86 पर Periodic Table को देखें तथा तत्सम्बन्धी वर्णन देखें।

परन्तु आधुनिक विज्ञान और वैदिक विज्ञान अणुओं के स्वभावों की इन आठ प्रकृतियों के जो कारण बताते हैं, उसमें दोनों में भेद है। आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक इन प्रकृतियों के अष्ट रूप के लिए योग बनने पर अणुओं की नाभियों के चारों ओर उनके बाह्यतम अक्ष पर आठ इत् (Eight Electrons) की स्थापना मानते हैं, जिसे Octate Rule के नाम से जाना जाता है। परन्तु यह नियम कई स्थानों पर ठीक नहीं बैठता है। जैसे कि BCl_3 में Boron Halides में Boron के अणु के चारों ओर केवल छः ही Electrons स्थापित हो पाते हैं और उनका स्थायी योग BCl_3 का बन जाता है। इसी प्रकार PF_5 के योग में फॉस्फोरस के अणु के चारों ओर बाह्यतम अक्ष में दस इत् (Electrons) स्थापित होकर स्थायी योग बना देते हैं और SF_6 में सल्फर के अणु के चारों ओर बाह्यतम अक्ष में बारह इत् (Electrons) स्थापित होकर स्थायी योग बना देते हैं। अतः अणुओं के स्वभाव की प्रकृति की अष्टविविधता के लिए योग के अन्दर अणुओं के चारों ओर आठ इत् (Eight Electrons) की स्थापना के Octate Rule को पूर्ण रूप से श्रद्धा नहीं माना जा सकता है। यह ठीक है कि अधिकतर अणुओं का योग बनते समय यह Octate Rule सही बैठता है, परन्तु इसका कारण कहीं अन्य दिया है, जिसकी व्याख्या वैदिक विज्ञान करता है। यही सिद्धान्त अधिक ठीक बैठता है।

वैदिक विज्ञान के मतानुसार मृत की ईशानी चारा के सिलिल में जब संकल्प उदित हो जाता है और वह उस सिलिल की चारा में रुक

आवर्त (whirl) बना कर आबद्ध हो जाता है तो वह उस ईशानी
 चारा से शासित होने वाले अवयव को किसी विशेष प्रकार की
 क्रिया का कर्म करने को प्रेरित करता है। यही प्रेरणा उस शासित
 अवयव के स्वभाव को प्रकृति बन जाती है। सब अणु की रचनाओं में
 उसकी नाभि के केन्द्र 'अ' (विष्णु) से रुद्र की ईशानी मृत को
 चारा प्रस्फुटित हो कर अणु के बाहर तक आकर परम व्योम में
 सहस्र अक्षर भागों में विभाजित होकर समाहित हो जाती है। जैसा
 कि पृष्ठ नं. (695) पर बने चित्र में दिखाया गया है। इस ईशानी
 के सिलिल के बहाव के छः रूप बनते हैं। सब से बाहर का रूप
 तो सहस्र अक्षरों में विभाजित होकर विलय की प्रक्रिया को बताने
 वाला विनाश का अन्तिम रूप है। यह सभी में सब जैसा होता है।
 यह अपर गुण की प्रक्रिया के कारण होता है। सभी अणुओं में
 सब समान विनाश की प्रक्रिया होने के कारण यह किसी स्वभाव
 की अलग प्रकार की प्रकृति को प्रकट नहीं करता। अतः इस
 भाग की क्रिया को प्रकृतियों की अष्ट विविधता का कारण नहीं
 माना जा सकता। दूसरे यह परम व्योम में क्रिया होती है अतः
 इसके द्वारा प्रकृति के किसी अवयव का योग नहीं बनता है।
 योग बनने के लिए स्थायत्व का होना आवश्यक है। विनाश के
 क्रम में स्थायत्व नहीं होता। इस कारण भी इस छोटे भाग की क्रिया
 को प्रकृति निर्माण का उत्तरदायी नहीं माना जा सकता।

इसके पश्चात अणु के बाह्य भाग में उद्घाणम् का
 जवपदी प्रवाह का भाग ईशानी की मृत की चारा का आता है।
 उद्घाणम् के भाग में भी उस मृत की चारा के सिलिल में आबद्ध संकल्प
 की ऊर्जा का क्षरण हो कर विकिरण उत्पन्न करता हुआ क्षय होता है।
 इस कारण यह भाग भी आबद्ध संकल्प की ऊर्जा के द्वारा अणु को
 किसी विशेष क्रिया करने की प्रकृति का स्वभाव बनाने में अक्षम
 होता है। विकिरण द्वारा आबद्ध संकल्प की ऊर्जा क्षीण हो जाती
 है। अतः पूर्ण अणु अपने व्यवहार में इस भाग से भी शासित नहीं
 हो पाता है, क्योंकि इस भाग में भी विनाश के द्वारा अस्थायत्व
 उत्पन्न करने का कार्य होता है। इस कारण यह भाग भी आठ
 प्रकार की प्रकृतियों के निर्माण का जिम्मेदार नहीं माना जा सकता
 है।

इसके पश्चात् अणु में नाभिके बाहर स्थित संयोजकताल लोको का 'इत' (Electrons) गणों का वह भाग आता है जहाँ पर 'इगनी' मृत की चारा के सीलल का प्रवाह अष्टापदी होता है। इस भाग में मृत की चारा का बना शुद्ध अष्टापदी रूप होता है जो अपने अन्दर स्थायी रूप से अपने अन्दर उदित संकल्पों को सुव्यवस्थित रूप से बाँध कर रखता है तथा प्रत्येक संकल्प को बाँध कर उसीके अनुसार एक आवर्त बना कर मृत में विद्यमान इत के अन्दर बाँध कर रखता है। अब क्यों कि मृत की चारा के सीलल के प्रवाह में आठ पद एक-एक तरंग दीर्घता (wavelength) के संयुक्त चान्त के बनते हैं, जिसके कारण यह प्रवाह अष्टापदी कहलाता है और एक पद में एक प्रकार का संकल्प ही उदित होकर आबद्ध होकर एक आवर्त की रचना कर सकता है, इस प्रकार आठों पदों में केवल आठ प्रकार के संकल्प ही आबद्ध हो सकते हैं। अतः वे आठ प्रकार के आबद्ध संकल्प केवल आठ प्रकार के स्वभावों की प्रकृतियाँ अणुओं में उत्पन्न कर सकते हैं। इन आठ पदों में जिस पद के अन्दर उदित संकल्प अधिक ऊर्जा से युक्त होगा, वही संकल्प शेष सात पदों में उदित संकल्पों को शासित करता हुआ अपना प्रभाव दिखायेगा और उस अणु की प्रकृति का निर्माण अपने अनुसार कर देगा। जब आठों पदों में समान ऊर्जा के संकल्प विद्यमान होते हैं तो वह अणु 0 group के अणुओं की निष्क्रियता की प्रकृति को प्रकट करने लग जाता है। जैसे कि Ne, Ar, Kr, Xe, Rn के अणुओं में होता है। He के अणु में दो संकल्प समान रूप से विरोधी स्वभाव के बनने के कारण निष्क्रियता का गुण आ जाता है। इस अष्टापदी भाग में कोई विकीरण नहीं होता है और यह संकल्पों को स्थायी रूप से बाँध कर रखता है। इसी कारण यह नाभिक (Nucleus) को स्थायी रूप से बाँध कर सुरक्षित रखता है। बाहर से आने वाले नाभिक के ऊपर किसी भी आक्रमण को यह पहले अपने ऊपर लेता है। जब इसकी शक्ति को वह पार कर जाये तभी वह नाभिक के दृढ़ पृष्ठ के चतुष्पदी स्वरूप में प्रवेश कर पाता है। ऐसा करने पर वह या तो नाभिक में विस्फोट (nuclear explosion)

कर देता है, अथवा नीम के स्वरूप को ही बदल देता है और वह अणु किसी अन्य जैसे तत्व का अणु बन जाता है। इस प्रकार एक तत्व के अणु का स्वरूप दूसरे प्रकार के तत्व के अणु के स्वरूप में बदलने को प्रक्रिया को तत्वांतरण (Transmutation) का नाम दिया जाता है। इस से उस अणु को प्रकृति ही बदल जाती है। अतः इससे सिद्ध होता है कि किसी अणु की स्वाधी स्वभाव की प्रकृति की रचना का कारण ईशानी मृत की चारा के सीलल के अष्टापदी प्रवाह में निहित है।

एक अणु की मृत की चारा के सीलल के अष्टापदी प्रवाह के साथ दूसरे अणु के अष्टापदी प्रवाह के साथ सामञ्जस्य हो जाये तो उनका एक स्वाधी योग बन जाता है, अन्यथा नहीं। जब तक एक अणु की ईशानी मृत की चारा के अष्टापदी सीलल के प्रवाह की तरंग का योग दूसरे अणु की ईशानी मृत की चारा के अष्टापदी सीलल के प्रवाह की तरंग के संचुकोचान्त की दीर्घता (flow of the wave length) के साथ सम्यक् रूप से नहीं मिलता तब तक उन दोनों चाराओं की मिलकर एक चारा नहीं बनती और उन दोनों अणुओं का मिलकर एक नया योग नहीं बनता और नये योग की नये प्रकार की स्वभाव की प्रकृति नहीं बनती। जब दोनों अणुओं के अन्दर से चलने वाली मृत के प्रवाह की चारा ग्रीधत होकर एक आवर्त में ग्रीधत हो जाती है तो वह आवर्त उन दोनों अणुओं को बाँध कर एक योग बना देता है। यह आवर्त इत् (Electrons) के अष्टापदी रूप के मृत की चारा के प्रवाह में ही बनता है। इस आवर्त के बने में एक अणु की मृत की चारा के अष्टापदी प्रवाह के ओं पदों में से जिस पद का मेल दूसरे अणु की मृत की चारा के अष्टापदी प्रवाह

के जिस पद के साथ रखा कर मेल खाता है और उनका आवर्त बन कर नीचे के चारों ओर के जितने क्षेत्र को प्रभावित करता हुआ अपना स्थान घेरता है, उसी के अनुसार उनका रक्त योग बन जाता है। अतः रक्त अणु के चारों ओर कभी रक्त अणु कभी दो अणु कभी तीन अणु आदि मिल कर कितनी भी संख्या में अणु यथा स्थिति के अनुसार मिल जाते हैं। हाँ पञ्चावर्त में यह बता दिया गया है कि नीचैकतावर्त में अधिकतम बारह घेरो के चक्र ही बनते हैं। इन्हीं घेरों के चक्रों में दो अणुओं की श्रुत को चारों ओर के अष्टापदी प्रवाहों के मेल से बने आवर्त बनते हैं। ये आवर्त ही दो या अधिक अणुओं को रक्त पाश में बाँध कर योग (Molecule) का निर्माण करते हैं। इस प्रकार रक्त घेरे का आवर्त रक्त योग में रक्त अणु की पीरीधि में रक्त इत (Electron) का स्वरूप प्रकट कर देता है। इसी प्रकार की स्थिति में SF_6 में सल्फर के रक्त अणु के चारों ओर बारह घेरे बन कर बारह इत (Electron) अपनी उपस्थिति को प्रकट करते हैं। इस विधि से योग बनने की प्रक्रिया का चित्र पृष्ठ (106) पर देखें।

यहाँ रक्त बात ध्यान देने योग्य है कि योग में स्थायत्व आते समय रक्त अणु के चारों ओर इन आवर्तों के घेरों की संख्या सम संख्या में 2, अथवा 6, अथवा 8, अथवा 10 अथवा 12 ही होती है। चार कभी नहीं होती है।

इस प्रकार योग बनने में पञ्चावर्त के अन्दर बने वाले बारह घेरों का समायोजन भी अपना कार्य करता है। रक्त अणु के पञ्चावर्त के बारह घेरों में से कुछ का समायोजन यदि दूसरे अणु के पञ्चावर्त के घेरों की कुछ संख्या के साथ हो जाता है तो उन अणुओं का योग बन जाता है, अन्यथा नहीं। इसी कारण इस मन्त्र में रक्त तत्त्व के अंश अणु को दूसरे तत्त्व के अंश अणु के पास सम्यक् रूप से लाने की बात कही गई है और उन के पञ्चावर्तों के पूर्व कर्म को करने के उपरान्त उनके घेरों के विनिवर्तन के विषय में कहा गया है। विनिवर्तन का अर्थ करते समय विनिवर्तन शब्द का पदच्छेद वि+नि+वर्तन करने पर

अर्थात् इस प्रकार निष्कलता है - वि = विशेष रूप से - विशेषण
नि = निशेषण = पूर्ण रूप से समाहित होकर, वर्तन = घूमना
अर्थात् एक पञ्चावर्त के एक घेरे का दूसरे पञ्चावर्त के घेरे के
एक घेरे में विशेष रूप से पास आकर उसमें पूर्ण रूप से
समाहित होकर घूमना। इस प्रकार होने से उन दोनों अणुओं के
पञ्चावर्त एक पाश में बंध जाते हैं। परिणामस्वरूप वे अणु भी
एक पाश में बंध कर नये योग की रचना कर देते हैं।

इस प्रकार बहुत से अणुओं से मिल कर अनेकों प्रकार के
योगों के अनेकों प्रकार के अर्थपिण्ड इस सृष्टि में बन जाते हैं।
अर्थपिण्डों से जाना प्रकार के शरीरों का योग बन जाता है। उन
शरीरों में पञ्चावर्तों का योग बन कर उन पञ्चावर्तों के अन्दर
ऋत की चारा के प्रवाह की ऊर्जा का स्तर यदि ऊँचा होकर
सत्प्रमहामास्वरा स्तर का हो जाता है तो वही उच्च स्तर की ऊर्जा
का आवेष्टा उस अर्थपिण्ड के शरीर में जीवात्मा का स्वरूप बन जाता
है, जिसमें जाना प्रकार के चिच की वृत्तियों के संकल्प आवद्ध रहते हैं।
इस प्रकार प्रकृति और जीवात्मा का योग बन जाता है।

इस प्रकार के स्थायी योग बनने से सृष्टि की स्थापना हो
जाती है और सृष्टि का स्थायी स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार
सम्भूति के उपरान्त स्थापना का काल चलता है।

परन्तु अपर गुण के कारण ऋत में जो भी संकल्प उद्भूत
होकर एक आवर्त की स्थापना करता है, उस आवर्त के घूर्णन में
ऋत में प्रतिरोध (Resistance) स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि
वि सद्-ब्रह्म का मूलरूप तो निर्गुण निराकार शान्त और समरस है।
अतः जो संकल्प उद्भूत होने से बने ऋत के आवर्त में गति की उग्रता
आती है, जिससे सारा द्यौ उग्र अवस्था में रहता है [येन द्यौः उग्रः],
वह उग्रता उस प्रतिरोध के कारण धीरे धीरे शान्त होती जाती है। इसी
प्रक्रिया के उस संकल्प की विलय की अवस्था कहा जाता है। संकल्पों
के विलीन होने पर उनके द्वारा बने ऋत में आवर्त और उन आवर्तों के
द्वारा बने अर्थपिण्डों के योग भी विनष्ट होने लग जाते हैं। इस प्रकार
यह विनाश की प्रक्रिया उस स्थापना की प्रक्रिया के उपरान्त प्रारम्भ हो

जाती हैं। इस विनाश की प्रक्रिया में भी काल की प्रक्रिया तथा आत्मगुण की सूक्ष्म प्रक्रिया के द्वारा पुनः योग बनने लग जाते हैं। प्रकृति के अर्थापिण्डों के स्वरूप विनष्ट हो कर छोटे-छोटे योगों (molecules) में विलीन होने लग जाते हैं। उन का योग अपने-अपने प्रकृति में विद्यमान तत्सम्बन्धी योगों में होने लग जाता है। इसके उपरान्त योग भी विच्छेदित हो कर अपने-अपने तत्सम्बन्धी अणुओं के तत्त्वों में जुड़ने लग जाते हैं। उसके उपरान्त अणु भी विच्छेदित हो कर अवयवों में विभाजित हो कर आव्वाश महाभूत की स्थिति में आ जाते हैं। अन्त में आव्वाश में स्थित भूतों के अवयव भी मौलिक अर्थों में बदल कर द्यौ के अन्तर विद्यमान अणुओं तथा क्षीरों की ऊर्जा में बदल जाते हैं। आव्वाश से द्यौ का स्वरूप बन जाता है। [Matter converts fully into energy.] द्यौ में विद्यमान अणु भी क्षीरों में विघटित हो जाते हैं। क्षीरों के द्वारा असत् का शुद्ध स्वरूप बन जाता है। असत् से पुनः सत् बन जाता है। सत् का स्वरूप बनने पर योग के इष्ट की सिद्धि पूर्ण हो जाती है। क्योंकि जिस सत् से सम्भूति की प्रक्रिया द्वारा सृष्टि का प्रारम्भ हुआ विनाश की प्रक्रिया द्वारा उसी सत् के साथ उसका योग हो गया। इसमें काल की प्रक्रिया और ऋतु में उदित होने वाली संकल्पों की आत्मगुण की प्रक्रिया सम्भूति काल, स्थापना काल और विनाशकाल इन तीनों कालों में योग के हेतु के कारण बनते हैं।

ऋतु में प्रथम पञ्चावर्त बनते हैं, पञ्चावर्तों के ऊपर सप्तलोकों की रचना द्वारा अणु के स्वरूप का योग बनता है, उन अणुओं से प्रकृति बन जाती है। परन्तु जब अनेकों पञ्चावर्तों का ही शुद्ध रूप में योग हो कर एक बड़े आवर्त का स्वरूप बनता है, जिसमें बहुत सारे संकल्प उस ऋतु के बड़े आवर्त में छोटे-छोटे आवर्त बना कर सुनियोजित रूप में आवद्ध होते हैं तो उस बड़े आवर्त के ऋतु की ऊर्जा के स्वरूप को ही 'आत्मा' कह दिया जाता है। 'पुरुष' का स्वरूप भी इस आत्मा के स्वरूप जैसा ही होता है। इस 'आत्मा' के स्वरूप के ऋतु के आवर्त में ऋतु के प्रवाह का स्तर विशेष संकल्पों के आवद्ध होने के कारण सामान्य से अधिक होता है। यही उच्चस्तर का प्रवाह उसमें चेतना का आवेश कहलाता है। इस आत्मा के आवर्त के ऊपर बने

अर्धपिण्ड के शरीर में इसी के आवेश की चेतना होती है। इसी चेतना के कारण उस आवर्त में आवद्ध संकल्पों के अनुसार वह शरीर चेतना प्राणी के रूप में चिन्तन मनन का कार्य करने लग जाता है। जब इस बड़े आवर्त के ऋतु के प्रवाह की चारा का तथा शरीर के अर्धपिण्ड के अणुओं के पञ्चावर्तों के ऋतु की चाराओं का सामञ्जस्य यदि किसी प्रकार की भी क्रिया से टूट जाता है, तो आत्मा की रचना करने वाला ऋतु का बड़ा आवर्त उस शरीर के अर्धपिण्ड के अणुओं के पञ्चावर्तों के आवर्त से गति में असमानता होने के कारण अलग हो जाता है। उस शरीर के अर्धपिण्ड से आत्मा बाहर निकल जाती है, जिससे उसमें आत्मा की चेतना का आवेश समाप्त हो जाता है और उस शरीर के अणुओं के पञ्चावर्तों में प्रवाहित ऋतु की चारा की गति पुनः उसी सामान्य स्तर की हो जाती है। आत्मा के आवर्त से जो शरीर के अणुओं के पञ्चावर्तों में ऋतु के बहाव की गति सामान्य से अधीक हो गई थी, वह अब पुनः मन्द होकर अपने सामान्य स्तर पर आ जाती है। इस प्रकार उस शरीर की मृत्यु हो जाती है और उस शरीर में बने पूर्व के अणुओं के योग विच्छेदित होकर बिखरने लग जाते हैं और वह शरीर सड़ने लग जाता है। विनष्ट हो कर शरीर के अणुओं के योग पञ्चमहाभूतों के योगों में विलीन हो जाते हैं।

परन्तु जो आत्मा का एक बड़ा आवर्त ऋतु का बना हुआ उस शरीर में से निकलता है, वह उसका सूक्ष्म शरीर का रूप होता है। सूक्ष्म शरीर उसे इस कारण कहा जाता है कि स्थूल शरीर को चारण करने की अवस्था में जितने भी व्यामनाओं के संकल्प उसके मन में उदित हुए थे, वे सभी संकल्प इस सूक्ष्म शरीर के ऋतु के बड़े आवर्त में छोटे-छोटे आवर्तों के रूप में समाहित होकर आवद्ध रहते हैं। जब तक ये छोटे-छोटे आवर्त उन संकल्पों को आवद्ध करके इस बड़े आवर्त में विद्यमान रहेंगे तब तक वह सूक्ष्म शरीर उस आत्मा का बना रहेगा। जब उन संकल्पों द्वारा बने आवर्तों के अनुरूप यदि उसे कोई स्थूल शरीर रचित होता हुआ मिल जायेगा तो वह सूक्ष्म शरीर उस स्थूल शरीर में पुनः प्रवेश पाकर पुनर्जीवन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जिस-जिस भाव के संकल्पों का अनुस्मरण करता हुआ प्राणी शरीर को त्यागता है, उसी-उसी भाव के अनुरूप वह नया शरीर चारण कर लेता है।

इस प्रकार वह जीवात्मा नये-नये शरीर चारण करेगा और पुरानों के प्राणों के जीवन मरण के भँवर-चक्र में इन चित्त की वृत्तियों में उदित संकल्पों के द्वारा बने श्रुत के आवर्तों के कारण जँसा रहता है और उस जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर का योग अपने मूल रूप श्रुत के असत् तथा सत् स्वरूप के ब्रह्म के साथ नहीं हो पाता है। इसी संकट के निवारण के लिए वैदिक विज्ञान के मनीषी तत्त्ववेत्ता ब्रह्मर्षियों ने योगशास्त्र की रचना की। जिस में इस ब्रह्मविद्या के नियमों के अनुसार आचरण करके जीवात्मा सद्-ब्रह्म में विलीन होकर योग के अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है।

इस योग की प्रक्रियाओं की लड़ी में सर्वप्रथम सम्प्रज्ञात समाधि की प्रक्रिया आती है। 'सम्प्रज्ञात' शब्द से ही अर्थ का बोध हो जाता है। 'सम्' का अर्थ है सम्यक् रूप से, 'प्र' का अर्थ है प्रकर्षण अर्थात् प्रयत्न पूर्वक की गई कठिन प्रक्रिया द्वारा तथा 'ज्ञात' का अर्थ है सत्य स्वरूप की जानकारी होना। अतः सर्वप्रथम योगी को किसी ब्रह्मवेत्ता गुरु के द्वारा सत्य स्वरूप की इन प्रक्रियाओं को कठिन परिश्रम करके सम्यक् रूप से जान लेना चाहिए। यही सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि कहलाती है। पूर्ण रूप से जानने के लिए कठिन परिश्रम करके अभ्यास द्वारा योग की सभी प्रक्रियाओं को आत्मसात करना होता है। तभी सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि मानी जाती है।

पूर्ण ज्ञान होने पर आत्मा के सूक्ष्म शरीर में बने श्रुत के बड़े आवर्त में संकल्पों के आवच्छ करने वाले जो छोटे-छोटे आवर्त बने होते हैं, जिनके कारण आत्मा का शुद्ध स्वरूप इस सूक्ष्म शरीर में आवच्छ होकर बँधा होता है, उन से मुक्ति पाने के लिए पुनः असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि करनी होती है। इस सिद्धि के अर्थ को इस प्रकार समझना चाहिए। अ = नहीं = निषेध करना, सम् = सम्यक् प्रकार से मली मँति, प्र = प्रयत्न पूर्वक, ज्ञात = जो कुछ ज्ञात है, अर्थात् चित्त की जिस वृत्ति का संकल्प उदित होकर सूक्ष्म शरीर की आत्मा के बड़े आवर्त में एक छोटा सा आवर्त बनाकर अपना स्थायी स्वरूप चारण कर चुका है।

अतः असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि का अर्थ है कि सूक्ष्म

शरीर के ऋतु के बने बड़े आवर्त में जितने भी अब तक के उदित संकल्पों के छोटे-छोटे आवर्त बने हुए हैं, उन सब की मन की शक्ति से चलने की प्रक्रिया का प्रयत्न पूर्वक पूर्ण निरोध करना तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार सूक्ष्म शरीर के बन्धन से मुक्त करना। अतः इस समाधि की सिद्धि के लिए मन को सज्जा करके सभी प्रकार के चिन्तन से मुक्त करना। इसके लिए सब से पहले जो मन को चंचलता के कारण मनोवृत्तियों के निरन्तर मन में संकल्प उदित होते रहते हैं, पहले उन संकल्पों के उदय होने की प्रक्रिया का पूर्ण निरोध करना, जिससे कि सूक्ष्म शरीर के ऋतु के बड़े आवर्त में उदित हुए किसी नये संकल्प द्वारा बना नया छोटा आवर्त और न जुड़ सके। जब सूक्ष्म शरीर के आवर्त में कोई नया छोटा आवर्त बन कर नहीं जुड़ेगा तो उस सूक्ष्म शरीर में पूर्व बने हुए ही छोटे आवर्तों का समूह शेष रह जायेगा। मन में नये उदित होने वाले प्रत्येक संकल्प का पूर्ण रूप से निरोध करने की क्षमता को प्राप्त करने को 'निर्बीज समाधि' की सिद्धि कहा जाता है। पातञ्जल योग शास्त्र में इसे, "तस्योऽपि निरोधः सर्वनिरोधात् निर्बीज समाधिः" - कह कर बताया है। इस का अर्थ है कि चित्त की वृत्तियों में मन के अन्दर जो भी कामना का संकल्प उदित होता है, उसका ही निरोध करो। जब सभी प्रकार के सारे संकल्पों का उदित होने का निरोध हो जाता है तो उस सिद्धि को निर्बीज समाधि की सिद्धि कहा जाता है।

इस प्रकार जब निर्बीज समाधि सिद्ध करने के उपरान्त सूक्ष्म शरीर के आवर्त में पूर्व उदित हुए संकल्पों के आवर्त ही आबद्ध हुए शेष रह जाते हैं तो वे भी अपर गुण द्वारा ऋतु के प्रवाह में स्वाभाविक प्रतिरोध के उत्पन्न होने के कारण धीरे-धीरे विलीन होते चले जाते हैं। यही राज्ञि की प्रक्रिया है। संग्रामी योगी इसी प्रक्रिया में निरन्तर जागृत रहता है। इस प्रक्रिया में निरन्तर प्रयत्न पूर्वक लगे रहने से योगी को जो भी संकल्पों के आवर्त बनने की प्रक्रिया द्वारा ज्ञात होता है, वह सब भूल जाता है। अतः पूर्व में बने हुए सूक्ष्म शरीर में सभी संकल्पों के आवर्त आत्मा के आवर्त के ऋतु के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं। उस समय जो भी सम्भव रूप से प्रयत्न पूर्वक ज्ञात किया हुआ होता है, वह सब

समाप्त हो जाता है। उस समय साधक योगी अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से ईश्वर के लिए समर्पित कर देता है। इसी को 'ईश्वर प्रीणधान' की प्रक्रिया कहते हैं। भक्ति मार्ग में यह 'ईश्वर प्रीणधान' की प्रमुख प्रक्रिया ही शीघ्रता से भक्त को उसके सूक्ष्म शरीर के बन्धन से मुक्ति दिला देती है।

साधारण प्राणी नाना प्रकार की कामनाओं में अपने को बाँध कर उनकी पूर्ति के प्रयत्न में सदैव जागृत रहता है। उसने लिए नाना प्रकार के संकल्पों को उदित करने की प्रक्रिया ही दिन की प्रक्रिया कहलाती है और संकल्पों के विलीन होने और मूलने की प्रक्रिया रात्रि कहलाती है। परन्तु संयमी योगी ठीक इसके विपरीत कार्य करता है। वह नये संकल्प उदित नहीं होने देता और पूर्व उदित संकल्पों को मूल कर विलीन करने की प्रक्रिया में जागृत रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से प्रयत्न करके वह सभी प्रकार के संकल्पों के आवर्तों से अपनी आत्मा को शुद्ध करके मुक्त कर लेता है। इसी को 'असम्प्रज्ञात समाधि' की सिद्धि कहा जाता है। गीता में इसी भाव को इस प्रकार कहा है —

या निशा सर्वभूतानां तस्याम् जागर्ति संयमी।

तस्याम् जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः (गीता अध्याय-२ श्लोक-६९)

अर्थात् सभी प्राणियों के लिए मनीषामना के संकल्पों को मूलने की और विलीन करने की जो रात्रि वही गई है, उसमें संयमी योगी सदैव जागृत रहता है और अपने संकल्पों को सदैव विलीन करता रहता है और मिटाता रहता है। सभी प्राणी मनीषामना के संकल्पों को उदित करने की पूर्ति के प्रयास के दिन में जो सदैव प्रयासरत रह कर जागते रहते हैं, मन्मथशील मुनि के लिए वह उन संकल्पों को मूलने की रात्रि दिखाई देती है। वह मुनि उन संकल्पों को मूलने के लिए सदैव प्रयासरत रहता है।

इस प्रकार सभी संकल्पों से नये पुरानों से मुक्त होने को असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि कहा जाता है। इस सिद्धि के उपरान्त आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। उस रूप में असत् - ब्रह्म के अन्दर उस आत्मा के स्वरूप का त्रुट में आवर्त बनाने वाला केवल रूप 'अहम्' के संस्कार का संकल्प शेष रह जाता है। उस 'अहम्' के संस्कार के संकल्प का विलय 'धर्ममेव समाधि' की सिद्धि के द्वारा होता है। 'ईश्वर प्रीणधान' की प्रक्रिया के निरन्तर

अभ्यास में लगे रहने पर साध्यत्व प्रोत्ती अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। उसे केवल ईश्वर का स्वरूप ही उस समय अपने सामने दिखाई देता है। वह उस समय अपने-आप को भी भूल जाता है कि कहीं पर विश्व में उसकी अपनी भी सत्ता है। अपनी सत्ता को पूर्ण रूप से भूलने को ही 'अहम्' के संस्कार का विलय कहते हैं। इस 'अहम्' के संस्कार के पूर्ण रूप से विलीन होने को ही 'चर्ममेघ' समाधि की सिद्धि कहा जाता है। अहम् के संस्कार को चारण करने को आत्मा का चर्म कहा जाता है। उस चर्म को मिटा कर समाप्त करने को 'मेघ' कहा जाता है। अतः 'चर्ममेघ' का अर्थ होता है कि 'अहम्' के संस्कार के चारण जिस हृत् चर्म का पूर्ण रूप से नाश करना। जब 'अहम्' का संस्कार आत्मा में से हट जाता है तो वह आत्मा अपने स्वरूप को मिटा कर असत् के स्वरूप में पहले मिलती है और फिर वह असत् का स्वरूप सत् स्वरूप में स्वयमेव मिल जाता है। यही आत्मा की यात्रा का परमधाम है। इसी को पूर्ण योग कहा जाता है। काल की प्रक्रिया तथा आत्मगुण के संकल्पों को बद्ध करने तथा विलीन करने के सूक्ष्म गुणों के द्वारा यह योग सिद्ध होता है। विचारों को दूर करने के कर्म को करने के उपरान्त पुनः शुद्ध ब्रह्मतत्त्व के पास आत्मतत्त्व को सम्यक् रूप से लाकर यह योग बनाया जाता है। सत् के स्व स्वरूप द्वारा अथवा सत्, असत् के दो स्वरूपों द्वारा या सत्-असत्-प्रकृति के तीन रूपों द्वारा तथा आठ प्रकार की प्रकृतियों के द्वारा काल की प्रक्रिया और सूक्ष्म आत्मगुण की प्रक्रिया द्वारा इस योग को सम्पन्न किया जाता है।

सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में जहाँ तब अणु के अवयवों का सृजन करके अणु की नाभि में उनके आन्तरिक योग का प्रश्न है, वहाँ पर प्रत्येक अणु के प्रत्येक अवयव ने अपने स्वरूप को चारण करने के लिए जो कर्म करना है, उस कर्म को करके वह पुनः अपना योग बनाने के लिए अपने से अगले बने वाले अवयव के साथ मिलने का प्रयास करता जाता है। अतः पहले यह प्रयास प्रथम बने वाले स्व अवयव के द्वारा दूसरा नया अवयव बनाने के लिए किया जाता है। अतः स्व अवयव का यह प्रयास प्रथम कारण बनता है। जब दूसरा अवयव बन कर पूरा तैयार हो जाता है तो वे दोनों अवयव

एक दूसरे के पास सम्यक् रूप से आकर जुड़ जाते हैं। एक अवयव का तत्त्व दूसरे अवयव के तत्त्व के साथ अपना योग बना लेता है। प्रथम अवयव के तत्त्व का प्रवाह दूसरे अवयव के तत्त्व में सम्यक् रूप से आकर समाहित होने लग जाता है। इस प्रकार एक अवयव के तत्त्व के प्रवाह के द्वारा दूसरे अवयव के तत्त्व के साथ योग बन जाता है। इसी कारण यहाँ 'एकैक' शब्द प्रयुक्त किया गया है।

दो अवयवों के तत्त्वों का योग बनने के उपरान्त उन दोनों अवयवों का मिश्रित तत्त्व तीसरे अगले अवयव का निर्माण करता हुआ उसमें अन्दर प्रवाहित होता हुआ सम्यक् रूप से समाहित होने लग जाता है। इस प्रकार दोनों तत्त्वों के प्रवाह के द्वारा तीसरे अवयव के तत्त्व के साथ योग बन जाता है। 'द्वाभ्याम्' शब्द का यहाँ यह अर्थ बनता है।

जब तीन अवयवों का एक योग बन जाता है तो तीसरे अवयव का मिश्रित तत्त्व उससे अगले अवयव के तत्त्व में प्रवाहित होकर उसकी रचना करता हुआ उसमें समाहित हो जाता है। इस प्रकार चारों अवयवों का योग तीन अवयवों के तत्त्व के प्रवाह के द्वारा बन जाता है। इसी कारण यहाँ 'त्रिभिः' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार यह प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। अन्त में आठ अवयवों के योग का तत्त्व जब अवयव में प्रवाहित होकर उसकी रचना करता है तथा उसमें समाहित होकर सभी नौ अवयवों को एक सूत्र में बाँध देता है। अतः एक अणु का पूर्ण स्वरूप अपने आठ अवयवों के तत्त्व के प्रवाह द्वारा बनता है। इसी कारण अन्त में 'अष्टाभिर्वा' कहा गया है। तीसरे अध्याय के अष्टादशवें मन्त्र, "नवद्वारे पुरे दीहि हंसो लेलायते बहिः।" की व्याख्या पृष्ठ (413) से प्रारम्भ करके पृष्ठ (439) तक की गई है। इसमें नौ सूत्रों द्वारा बताया गया है। प्रथम द्वार सत्यलोक का बनता है और नवों द्वार नीचैतागिन की रचना करने वाला भूः लोक तथा सप्त पाताल लोकों का बताया गया है। सत्यलोक से भुवः लोक तक आठ द्वार बनते हैं। प्रत्येक द्वार पर पीढ़े के आगे तत्त्व के प्रवाह के द्वारा वे एक छोटे आवर्तद्वारा एक देव निष्पन्न बन जाता है। इस प्रकार आठ द्वारों पर से बहकर आगे मिश्रित तत्त्व के प्रवाह से नवों द्वार पर आकर नीचैतागिन की रचना हो कर अणु के बनने का योग पूरा हो जाता है। इस कारण योग के अन्तिम हेतु के लिए यहाँ 'अष्टाभिर्वा' कह कर बताया गया है। 'एकैक' एक पलित के प्रवाह के हेतु बताने के लिए कहा गया है, 'द्वाभ्याम्' - पलित और अश्न - इन दोनों के हेतु बताने के लिए कहा गया है। 'त्रिभिः' का

प्रयोग पीलत, अश्न, घृतपृष्ठ इन तीनों को अणु की रचना का हेतु बताने के लिये कहा गया है। अष्टाभिः का प्रयोग सब अणु की आठों प्रकार की प्रकृतिओं के द्वारा के लिये किया गया है।
लोक दो प्रकार के होते हैं। (१) सूर्य लोक, (२) असूर्य लोक।

सूर्य का अर्थ सरण गति वाली प्रवाह की अवस्था से लिया जाता है। "सरणात् सूर्यः" इसी अर्थ को बताता है। इसके कारण ही जिन लोकों की रचना सरण गति [Linear motion] वाले प्रवाह के ऋतु के पथ को बताने के लिये होती है, वे ही लोक सूर्य लोक कहलाते हैं। इसके विपरीत जिन लोकों में ऋतु के प्रवाह की गति रुक जाती है, तो वहाँ पर सरण गति विहीन ऋतु का स्थान रुक सेसा लोक बन जाता है, जिसका नाम असूर्य लोक कहलाता है। इसमें गति विहीनता के कारण कोई भी जन्म संकल्प उदित नहीं हो पाता है। उल्टे पूर्व उदित संकल्प भी इस असूर्य नाम के लोक में विलीन होने लगते हैं। अतः यहाँ पर उदित संकल्पों को विलीन करने वाला गहन रात्रि का गहन अन्धकार वाला तमस् होता है। जो साधक योगी इस गहन अन्धकार वाले तमस् को धर्ममेव समीध की सिद्धि द्वारा प्राप्त कर लेते हैं, वे अपनी आत्मा के स्वरूप का भी हनन कर देते हैं। वे मर कर सद्-ब्रह्म के स्वरूप वाले इस गहन रात्रि के तमस् के असूर्य लोक को प्राप्त कर लेते हैं। ईशोपनिषद् में कहा है—

असूर्यो नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः।

ताँस्तै प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महन्ते जनाः॥

अर्थात् जो असूर्य नाम के लोक हैं, जहाँ पर ऋतु का प्रवाह पूर्ण रूप से थम जाता है और उसमें उदित सौर संकल्प गहन रात्रि के तमस् में विलीन हो जाते हैं, इस प्रकार के जो गहन अंधकार से ढका हुआ है, उन लोकों को मरने के उपरान्त वे लोग प्राप्त कर लेते हैं, जो योग की प्रक्रिया की सिद्धि द्वारा धर्ममेव समीध को सिद्ध करके अपनी आत्मा के स्वरूप का भी हनन सदा के लिये

कर देते हैं और उसे 'सद् ब्रह्म' के निर्वाण निराकार शान्त संकल्प विहीन रूप में विलीन करके निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार अपनी आत्मा के स्वरूप का इकन करने वाले लोग ही सद् ब्रह्म के इस असूया नाम के रात्रि की प्रक्रिया के गहन अन्धकार के तमस् से ठीके हुए लोका को प्राप्त कर पाते हैं। ऐसा तभी हो पाता है जब वे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर इन तीनों शरीरों से अपनी आत्मा के स्वरूप को मुक्त करने की प्रक्रिया 'अतिमृत्यु' को प्राप्त कर लेते हैं। आत्मा और शरीर के सम्बन्ध विच्छेद को ही मृत्यु कहा जाता है। जब यह विच्छेद अन्तिम रूप से हो जाये और पुनः इनका योग बने की कोई सम्भावना न रहे तो वह अति-मृत्यु कहलाती है। अतिमृत्यु के उपरान्त ही विशुद्ध आत्मा का असत् रूप देवों के पूर्व युग के बने हुए अपने मूल 'सत्' स्वरूप में मिल पाता है और असूया लोक को प्राप्त कर पाता है। [देवानाम् पूर्व्ये युगे ऽसतः सदजायत] (ऋग्वेद-1-72-2) असत्-ब्रह्म में आत्मा का विशुद्ध रूप मिलने की प्रक्रिया तब का युग ही देवताओं से पूर्व का युग माना जाता है। उसी युग में सत् से असत् तथा असत् से सत् का जन्म लेने का चक्र चलता है। सत् में सृष्टि सृजन की कामना का संकल्प उदित होने से क्षरण उत्पन्न हो कर क्षीरों का बना 'असत्' बन जाता है और उस संकल्प के पूर्ण रूप से रात्रि की प्रक्रिया द्वारा विलीन होने से वह क्षरण समाप्त हो कर पुनः उन क्षीरों का अपने मूल रूप 'सत्' में योग हो जाता है और असूया नाम के गहन रात्रि के तमस् से ठीके सत् के लोक में प्रवेश कर जाता है।

'लोकः' का अर्थ पहले समझाया जा चुका है। जिस स्थान पर एक बिन्दु रहता है, वह स्थान उस बिन्दु का 'लोकः' (Locus = लोकस्) कहलाता है। वैदिक विज्ञान में वह बिन्दु देव कहलाता है, ज्यों कि वह किसी स्वरूप को द्योतित करने वाला होता है। अब यह बिन्दु अपनी दो प्रकार की अवस्थाओं में रह सकता है। एक चल अवस्था और दूसरी अचल अवस्था। चल अवस्था से उस बिन्दु के रहने के अलग-अलग समय के अलग-अलग स्थानों के द्वारा उस बिन्दु का पथ निर्धारित हो जाता है। उस अवस्था में वह बिन्दु पथ (Locus of a moving point) ही उस देव का लोक बन जाता है। यदि बिन्दु अचल अवस्था में है तो वह स्थान ही

हर समय का उस दैव का लोव बन जाता है, जहाँ पर वह सदा के लिए टिका रहता है। इस प्रकार देवों के स्थापना चल तथा अचल रूप में होने के कारण सूर्य तथा असूर्य नाम के दो प्रकार के लोव बनते हैं। सूर्य लोव देवों की सरण गति (Linear motion) वाले लोव होते हैं और असूर्य लोव देवों के अच्युत रूप में एक स्थान पर स्थित रहने वाले अवस्था के देवों के होते हैं। इसी कारण देवों की प्रतिमाओं का भी विधान वैदिक विज्ञान में चल स्थापना तथा अचल स्थापना का बनाया गया है तथा दोनों के पूजा करने के महत्ता समान रूप से बताई गई है।

मनुष्य की जीवात्मा तथा शरीर का दैव रूप में स्थान चल अवस्था में होता है। वह चल अवस्था के देवों के स्वरूप में पीवत्रता उत्पन्न करके अपने को विशुद्ध बनाता है। विशुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करके देवों के पूर्व युग के स्वरूप को प्राप्त करता है। अन्त में अपनी आत्मा के असत् रूप को सत् में विलीन करके अच्युत अवस्था के परम धाम को प्राप्त करता है और सत् के अचल रूप में स्थापित हो कर समाहित हो जाता है। यही चल तथा अचल स्थापना के देवों की उपासना का स्वरूप तथा लक्ष्य है।

इस प्रकार पूर्ण रूप से आन्तरिक योग बाल की प्रक्रिया तथा आत्मगुण की सूक्ष्म प्रक्रिया के द्वारा हो जाता है। प्रत्येक तत्त्व पहले अपने स्वरूप को धारण करने का कर्म करता है। फिर एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के समीप सम्यक् रूप से आवर पुनः कर्म करने की प्रक्रिया में विनिर्वातित होता है और दोनों मिल कर एक योग की स्थापना करते हैं। इस योग में उपरोक्त विधि से एक अवयव, दो अवयव, तीन अवयव अथवा आठों अवयव कारण बनते हैं।

इसके अतिरिक्त योग की प्रक्रिया में सर्व प्रथम एक सत् के स्वरूप द्वारा सृष्टि सृजन की कामना के संकल्प को उदित करने का कर्म करके असत् का स्वरूप धारण किया जाता है। पुनः उस असत् के क्षीरों के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करके ऋत की पिण्डी के रूप में 'रुद्र' का रूप धारण किया जाता है। इसके पश्चात् रुद्र की पिण्डी में से असत् के ऋत की

चाराओं के योग से 'पुरुष' की रचना का योग बनता है।
 'पुरुष' की रचना में असत् का ऋत और रुद्र के पिण्डी का
 स्वरूप दोनों कारण बनते हैं। रुद्र के स्वरूप में भी रुद्र और
 का तत्त्व दूसरे क्षीर के तत्त्व के पास सम्बन्ध रूप से आकर
 पुनः 'पर' रूप में विनिर्वात (बदल कर) हो कर रुद्र के स्वरूप
 का योग बनाता है। यह रुद्र का योग क्षीर के रूप तत्त्व के
 द्वारा ही बनता है। अतः यह 'सन्धेन' शब्द का अर्थ प्रकट करता है।
 'पुरुष' का स्वरूप असत् के क्षीरों के तत्त्व के प्रवाह से बनी
 ईशानी ऋत की चाराओं और 'रुद्र' की ऋत की पिण्डी के द्वारा
 बनता है। अतः यह 'क्षाम्याम्' का अर्थ प्रकट करता है। 'पुरुष'
 के दशांगुल स्वरूप द्वारा पुनः दशमौलिक अर्थों की रचना
 होती है। इन्हीं दशमौलिक अर्थों के योग से 'क' कण (इन्द्र) की
 रचना का योग बनता है। अतः 'क' कण का स्वरूप 'असत्'
 के क्षीरों द्वारा, 'रुद्र' की पिण्डी द्वारा और 'पुरुष' के स्वरूप
 द्वारा, इन तीनों के योग द्वारा बनता है। यह योग तीन हेतु
 होने के लिये 'त्रिभिः' शब्द का अर्थ प्रकट करता है।

'क' कण की रचना के उपरान्त प्रकृति के आवारा
 महाभूत के भूतों की रचना हो कर अनुमानसार वायु, अग्नि,
 जल तथा पृथिवी महाभूतों की रचना हो जाती हो जाती है।
 'क' कण प्रकृति के अन्दर सभी प्रीतिमाओं के पदार्थों की मात्रा
 की रूप इकाई बनता है। [क आसीत् प्रमा प्रीतिमा---" (मृग्वेद)]
 अतः वह एक अणु का योग बनाता
 समय उस अणु के स्वभावों की आठ प्रकार की प्रकृतियों की
 रचना करता है। (अष्टौ प्रकृतयः)। अतः आठ प्रकृतियों वाले
 अणु का योग का योग भी 'क' कण में निहित 'असत्', रुद्र,
 'पुरुष' इन तीनों के हेतु बनने के कारण ही होता है। इस हेतु
 को बताने के लिये 'त्रिभिः' शब्द का प्रयोग हुआ है।

पुनः पञ्चमहाभूतों के बड़े-बड़े अर्थ पिण्डों का स्वरूप
 बनाने के लिये इन आठ स्वभावों वाले प्रकृतियों के अणुओं का योग

(भूमिरापोऽनलो वायुः तं मनो बुद्धिरिव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरुच्यते ॥)

(गीता-7-4) हो कर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है । अतः अन्त में पूर्ण सृष्टि के सृजन के योग का, हेतु बताने के लिए अणुओं के आठ प्रकृतियों के उद्देश्य के रूप में निर्दिष्ट करने के लिए "अष्टाभिर्वा" शब्द का प्रयोग किया गया है । ये सभी योग तभी बनते हैं जब पहले प्रत्येक अवयव अपने स्वरूप को चारण करने का कर्म करता है । अपने स्वरूप को चारण करने के कर्म को करके वह पुनः ओग के कर्म को करने के लिए विनवर्तित होता है । (विशेष रूप से अपने नये काम में नियोजित हो कर लगता है ।)

यह नियोजन रूप अवयव के तत्त्व का दूसरे अवयव के तत्त्व के पास सम्यक् रूप से आने से होता है । तभी वह योग बनता है । उपरोक्त विधि से इसमें सूक्ष्म-असत्, सूक्ष्म-असत्, सूक्ष्म, तीन-असत्, सूक्ष्म तथा पुरुष, तथा आठ - 'व्य' व्योमों द्वारा बने अणुओं के प्रतिमाओं की आठ प्रकृतियाँ (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार), इस योग बनने में हेतु बनती हैं । इस हेतु बनने में काल की प्रक्रिया और अवयवों के अपने सूक्ष्म आत्म गुण हेतु बनने के रूप में विशेष रूप से प्रभावी होते हैं । आत्म गुण में 'परा' प्रकृति 'पर' रूप बनने की समाहित हो जाती है और काल में मृत के प्रवाह को 'सम्बत्सर' समाहित हो जाता है ।

योग बनने की यह प्रक्रिया वैदिक विज्ञान में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । व्योम कि इस योग की प्रक्रिया में ही सृष्टि का मूल रहस्य, मूल तत्त्व का ज्ञान, ब्रह्म, जीवात्मा, प्रकृति का समानेश तथा सभी स्वरूपों की अन्तिम परिणति का सत्य स्वरूप और उसका रहस्य छिपा हुआ है । जीवन का अन्तिम लक्ष्य का ज्ञान भी इसी प्रक्रिया में छिपा है । वेद, पुराणों, शास्त्रों के जोटिल प्रश्नों का उत्तर भी इसी प्रक्रिया में छिपा है । सार्वभ्य तथा योग सारा इसी में आवच्छ है । अतः यह मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसी कारण यहाँ संक्षिप्त रूप में इस मन्त्र की अलग-अलग

विषयों से व्याख्या करने की कोशिश की गई है। इस व्याख्या का विस्तार तो बहुत से ग्रन्थों द्वारा भी पूर्ण नहीं हो सकता, परन्तु संक्षिप्त रूप से थोड़े से शब्दों में इसे यहाँ पर समझाने का प्रयास किया गया है। अब अगला मन्त्र देखें।

पूर्ण अणु निर्मित होने पर आठों प्रकार के स्वभावों की प्रकृतियों की रचना का कार्य पूर्ण हो जाता है। क्योंकि एक एक अणु के स्वरूप में ही इन आठों प्रकार की प्रकृतियों का स्वरूप आबच्छ हो जाता है। उससे पश्चात् ही इन अणुओं के द्वारा योग बनाने की प्रक्रिया (Molecule formation process) द्वारा ही बड़े-बड़े अर्धपिण्डों का सम्पूर्ण सृष्टि में निर्माण हो जाता है। अतः अगला मन्त्र अब पूर्ण अणु (Full Atom) के कार्यों को बताने के लिए ही लिखा गया है। मन्त्र देखें—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विजियोजयेद्यः।
तेषमभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ (4)

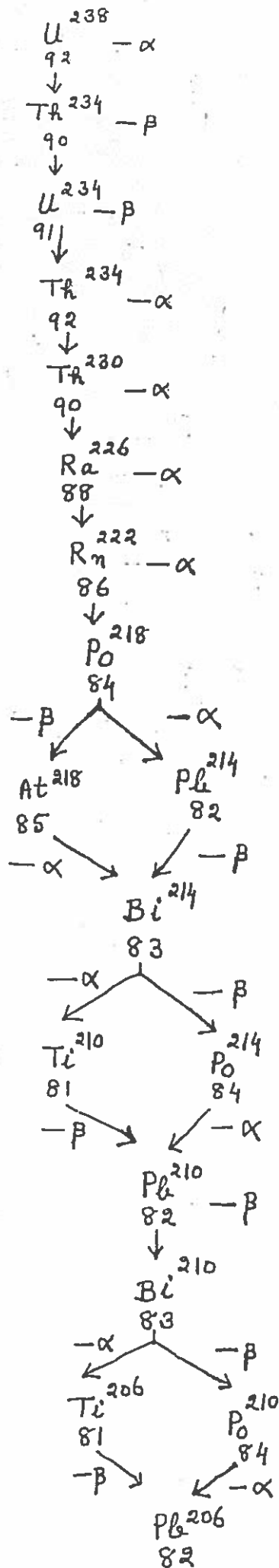
अनेकों प्रकार के गुणों को अपने अन्दर समन्वित करने के कर्मों को आरम्भ करके जो अणु स्वभाव के जिन सारे भावों को विशेष रूप से पूर्ण रूप से अपनी रचना में अपने अन्दर योजित कर लेता है, वह उसी स्वभाव के गुण चर्मों को प्रकट करने वाले तत्त्व (Element) की रचना करता है। यदि उस अणु में उस अणु के अवयवों के द्वारा धारित पूर्व के गुणों अथवा स्वभावों में से किसी एक गुण चर्म अथवा स्वभाव वाले अवयव का अभाव हो जाये तो उस तत्त्व सम्बन्धी गुण चर्म तथा स्वभाव के द्वारा किये जाने वाले कर्म का भी नाश हो जाता है। उस अवयव के एक भी कर्म का नाश होने पर वह अणु तत्त्व रूप में अन्य तत्त्व के अन्दर चला जाता है। अर्थात् उस अणु का तत्त्व ही बदल जाता है।

योग की प्रक्रिया में जब एक अवयव से दूसरे अवयव का रूप बदलता है तो उसमें आत्मा के द्वारा धारित बहुत से सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर के रूपों को धारण करने का हेतु—'क्रिया गुण', 'आत्म गुण' तथा 'अपर गुण'— ये तीन गुण पाँचवें अध्याय के बारहवें मन्त्र "स्थूलाणि सूक्ष्माणि बहूनि चैव----" में बताये गये थे।

अपने स्वरूप की रचना में अणु की नीम के अन्दर तथा बाहर स्थित प्रत्येक अवयव अपने किसी न किसी विशेष गुण को धारण करने का कर्म करता है। फिर उसी गुण के अनुसार वह अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। अणु की एक पूर्ण इकाई के अन्दर जितने भी अवयव होते हैं, उनका प्रत्येक का कार्य दूसरे प्रत्येक अवयव के कार्य के साथ सुनियोजित रूप से पूर्ण तालमेल बैठा कर पूर्ण अणु के कार्य करने का एक विशेष प्रकार का स्वभाव बनाता है। इस स्वभाव निर्माण में बहुत से अवयवों के द्वारा प्रकट किये जाने वाले बहुत से भावों का अणु की एक इकाई के स्वभाव में विनियोजन होता है। तब जाकर उस अणु का अपना एक विशेष प्रकार का स्वभाव बनता है। उस विशेष स्वभाव को प्रकट करने के कारण उस अणु के तत्व का कोई एक विशेष नाम रख दिया जाता है। जैसे कि यूरेनियम, लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी, कार्बन, गंधक, फास्फोरस, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि। कुल मिलाकर ये 110 तत्व बनते हैं।

यदि किसी एक तत्व के अणु के किसी भी अवयव में किसी गुण का अथवा किसी भाव (कार्य करने का स्वभाव) का नाश हो जाता है तो उस गुण के अथवा भाव के प्रभाव से उस अणु द्वारा जो कर्म होता है, उसका भी नाश हो जाता है। स्वभाव के किसी एक कर्म का नाश होने के कारण उस पूर्ण अणु का स्वभाव ही बदल जाता है और वह पूर्ण अणु किसी अन्य नये तत्व का अणु बन जाता है। अर्थात् अणुओं के स्वभाव के अनुसार ही तत्वों की अलग-अलग प्रकार की पहचान स्थापित होती है तथा उस पहचान के अनुसार ही उनके अलग-अलग नाम रखे जाते हैं।

आगे दी गई तत्त्वान्तरण (तत्व बदलने की प्रक्रिया) की सारणी द्वारा यह तथ्य पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है।



अणु की क्षतिग्रस्त द्वारा
 नष्ट की और के क्रम में धीरे-धीरे के रूप में बदलते हैं। अणु का स्वभाव बदलता - बदलता अन्य तत्वों के रूप में बदलते हैं। अणु में क्षतिग्रस्त के रूप में बदलते हैं। अणु नष्ट तत्व का बन जाता है।

चित्र = 83

इस सारणी की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि अणु के स्वः लोका के अन्दर 'पुरुष' की श्रुत की चाराओं में उदित संकल्पों के जिन गुणों को चारण कर के अदिति की पञ्चप्राणोर्मियों में आवद्ध करता है तथा उन्हीं गुणों से युक्त करके वह अदिति अपने पुत्र 'क' कणों को उत्पन्न करती है। उन गुणों को चारण करके जिन कर्मों का प्रारम्भ 'क' कण करता है, उनसे अणु के विभिन्न अवयवों में उनके सब प्रकार के भावों का विनियोजन करता है। इन्हीं भावों से पूरे अणु के गुण, कर्म, स्वभाव निर्धारित कर देता है। 'क' कणों के गुण स्वभावों के अनुरूप अश्विनौ के गुण, स्वभाव बनते हैं, अश्विनौ के गुण, कर्मों से षड्-वृन्दारकों के गुण, स्वभाव बनते हैं, षड्-वृन्दारकों के कर्मों से त्रिवर्त्माओं के गुण, स्वभाव बनते हैं, त्रिवर्त्माओं के कर्मों से ज, चिक् तथा इत् के गुण, कर्म, स्वभाव बनते हैं। इन्हीं के अनुसार पूरा अणु कर्म करता हुआ अपने स्वभाव, गुणों को प्रकट करता है।

स्वः लोक में 'पुरुष' की दशांगुल ईशानी श्रुत की चाराओं के प्रवाह की गति के अति रूप से एक स्थान पर ठहरने के कारण बने दशमौलिक अर्थों की रचना के द्वारा सत्ता में आई पञ्चप्राणोर्मि 'अदिति' से जन्मे उसके पुत्र 'क' कणों का ज्वार जब समूह बना कर विभिन्न प्रकार की रचनाएँ करता हुआ भूः लोक को पार कर भूः लोक में आता है तो भूः लोक में निर्मित 'ज', 'चिक्' कणों में अपने कर्मों को करता हुआ पाताल लोको में चला जाता है और वहाँ भी 'इत्' (Electrons) की रचना करता हुआ उनमें अपना कार्य करता हुआ उद्घाणम् (Radiation) के नागलोक के भाग में चला जाता है। वहाँ से विक्षीरित हो कर परम मोक्ष में समाहित हो जाता है। परन्तु इस बहिर्गमन की 'सञ्चरः' प्रक्रिया में जब 'क' कणों का ज्वार भूः लोक में आकर 'ज' तथा 'चिक्' कणों की रचना करता है और वहाँ से निकल कर पाताल लोक में जा कर 'इत्' की रचना करता है तो कभी-कभी यह रचना करने का वेग काल क्रम के अनुसार उस अणु के आत्मगुण की क्षमता से अधिक हो जाता है। अर्थात् जितने 'ज' अथवा 'चिक्' कण उस अणु में भूः लोक में समाहित करने की क्षमता है, तथा जितने 'इत्' उसी अणु में पाताल लोको में समाहित करने की क्षमता का अपना आत्मगुण किसी विशेष काल

में है, उस क्षमता से अधिष्ठा उस काल में कभी 'ज' कण की रचना सामान्य से अधिष्ठा हो जाती है, कभी 'चिष्ठा' कण की रचना सामान्य से अधिष्ठा हो जाती है, कभी 'ज' तथा 'चिष्ठा' दोनों कणों की रचना सामान्य से अधिष्ठा हो जाती है और कभी पाताल लोकों में 'इत्' की रचना सामान्य से अधिष्ठा हो जाता है। [भाषा के अनुसार 'इत्' शब्द अव्यय है अतः यह सभी रूपों में 'इत्' ही रहता है, इसमें विकार नहीं आता, एकवचन, बहुवचन में कोई परिवर्तन नहीं आता है।] उस अवस्था में सामान्य से अधिष्ठा रचना के द्वारा बने वे अवयव उस अणु के पाश में से अपना द्वार बना कर बाहर निकल जाते हैं। परन्तु यह बाहर निकलने की गति इतनी अधिष्ठा तीव्र होती है कि जितने काल में वह द्वार पुनः बन्द होता है, उतने काल में उन फालतू बने अवयवों के बाहर निकलने के साथ-साथ उनके पीछे चलते हुए उसी प्रकार के कुछ और भी अवयव निकल जाते हैं। इस प्रकार उस समय उस अणु में उन अवयवों की संख्या उस अणु के आत्मगुण की समीहित करने की क्षमता के सामान्य स्तर से कम हो जाती है। अतः उस अणु ने अपने पूर्ण संख्या के अवयवों के धारण करके अपने गुण, स्वभाव की पूर्णता के अनुसार जो कर्म करने की प्रक्रिया पूर्व में प्रारम्भ की हुई थी, उन कुछ अवयवों के बाहर निकल जाने के कारण उनके गुणों और कर्मों की क्षमता भी उसमें कमी आ जाती है। अतः उस पूर्ण अणु का वह पूर्व का गुण और स्वभाव बदल कर नये रूप के गुण और स्वभाव के अनुसार कार्य करने लग जाता है। अणु के मूल पदार्थ में भी परिवर्तन आ जाता है। अतः वह अणु पहले जिस तत्त्व का था, उससे मूल रूप में परिवर्तन होने के कारण अब वही अणु किसी दूसरे तत्त्व का बन जाता है।

इस बाहर निकलने की प्रक्रिया (सञ्चरः) में जो अवयव अणु से बाहर निकलते हैं, आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों ने उनके नाम इस विधि से निकलने वाले अवयवों के रूप में α , β , γ रखे हुए हैं। जब एक 'ज' कण (Neutron) की कभी किसी अणु के पदार्थ के सामान्य स्तर से निकल कर हो जाती है तो उस अवयव का नाम γ (गामा) कण बैला जाता है। जब दो 'ज' कण तथा दो 'चिष्ठा' कण एक साथ अपना समूह बना कर निकलते हैं और

उस अणु की पदार्थ की मात्रा के सामान्य स्तर में उन चार रजःकों (दो 'न' + दो 'चि' = 2 Neutrons + 2 Protons) कणों की कमी हो जाती है तो उस चार अवयवों के समूह को α (अल्फा) कण का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार यदि नाभिके अन्दर से ही एक 'इत्' सामान्य स्तर की क्षमता से अधिक बन कर पाताल लोकों में अपना स्थान न बना पाने के कारण अणु के परिमित क्षेत्र से बाहर निकल कर स्वतन्त्र रूप से परम व्योम में गति करने लग जाता है तो उसे β (बीटा) कण का नाम दिया जाता है।

ये α, β, γ कण के विकिरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ स्वः लोक के वृन्दारकों (Quarks) में ही हो जाता है। इस क्षमता को बनाने का सामर्थ्य महर्षि वैदव्यास द्वारा षड् वृन्दारकों में ही बताया गया है। पातञ्जल योग शास्त्र के विभूति पाद के छब्बीसवें सूत्र "भुवन-ज्ञानं सूर्ये संग्रह्यमानात्" - की व्याख्या करते समय जब वे सप्तलोकों के प्रसार और उनमें बनने वाले दैवनिष्कायों की एक अणु की रचना के संस्थान के मध्य वर्णन करते हैं तो वे लिखते हैं - "सा हेन्द्र-निवासिनः षड् दैवनिष्कायाः - त्रिदशाः, अग्निष्वात्ताः, याम्याः, तुषिताः, अपरिनिर्मितवशवर्तिनः, परिनिर्मितवशवर्तिनः च इति। ते सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादकदेहा उत्तमानुल्लाभिरत्सरौभिः कृतपरिवाराः।" इस कथन का अर्थ निम्न प्रकार बनता है। महान इन्द्र-के स्वः लोक में रहने वाले ये छः प्रकार के देवों के वर्ग हैं। जिनके नाम (1) त्रिदशाः, (2) अग्निष्वात्ताः, (3) याम्या, (4) तुषिताः, (5) अपरिनिर्मितवशवर्तिनः और (6) परिनिर्मितवशवर्तिनः हैं। वे सारे देव सिद्ध संकल्प हैं। अर्थात् जिस प्रकार के अगले अवयव त्रिवर्ती (Seven hypercircle of the three persons m^0, m^+, m^-) की रचना करना चाहें, वे अपनी कामना के संकल्प के उदय के द्वारा वैसा करने में सिद्ध सामर्थ्यवाले हैं। वे जैसा चाहें, वैसा कर सकते हैं और पूर्ण अणु के स्वरूप

की रचना को अपना मनचाहा रूप दे सकते हैं। अर्थात् महींपि विशाल की कामधेनु की विशेषता का गुण इन बड़-वृन्दारकों में विद्यमान है जो मनचाही वस्तु की तुरन्त रचना करने में समर्थ हैं।

ये वृन्दारक (Quarks) अणुमा आदि आठ रेश्वर्यों की सिद्धि को प्रदान करने वाले हैं। ये अणुमादि आठ रेश्वर्यों की आठ प्रकार की सिद्धियों निम्न प्रकार बताई गई हैं —

(1) अणुमा = अणुमा की सिद्धि के अनुसार ये वृन्दारक (Quarks) सभी अणुओं की अपनी-अपनी इकाई का अपने अपने गुण, चर्म और स्वभावों वाला किसी एक तत्त्व के सर्वाधिक सूक्ष्म अंश का रूप प्रदान करते हैं। इस सिद्धि को प्राप्त करने के उपरान्त एक योगी भी इस प्रकार के सूक्ष्म रूप धारण करने में समर्थ हो जाता है। अतः प्रत्येक अणु को उसका अपना पूर्ण रूप प्रदान करने की अणुमा की सिद्धि केवल वृन्दारकों (Quarks) में ही होती है। इस तथ्य को आधुनिक विज्ञान वैज्ञानी अभी कुछ समय पूर्व ही जान पाये हैं। पदार्थ की रचना के लिए वे इन छः प्रकार के वृन्दारकों (Quarks) का होना अत्यावश्यक मानते हैं।

(2) लीचिमा = लीचिमा की सिद्धि से अणु के अपने धनत्व में अन्तर आता है। इससे वह अत्यन्त हल्के तत्त्व का अणु अथवा अत्यन्त भारी तत्त्व का अणु बन जाता है। इस 'लीचिमा' की सिद्धि का कार्य करने की क्षमता भी बड़-वृन्दारकों में है। वे अणु को सघन पदार्थ की मात्रा वाला अथवा विरल पदार्थ की मात्रा वाला बना देते हैं। इसी प्रकार की सिद्धि को सिद्ध करने के उपरान्त योगी भी अपने शरीर को अत्यन्त हल्का अथवा अत्यन्त भारी बनाने में समर्थ हो जाता है।

(3) मीहसा = इस सिद्धि का सम्बन्ध आकार की वृद्धि से है। इस सिद्धि के द्वारा वृन्दारक किसी अणु के आकार को अथवा अणुओं के योग से बने अर्धीपण्ड के आकार को कितना भी महान बनाने में समर्थ हो जाते हैं। इस सिद्धि को प्राप्त योगी भी अपने शरीर को कितना भी बड़ा महान आकार का बनाने में समर्थ हो जाता है। यह अणुओं के योग बनाने की क्षमता में वृद्धि करना है।

(4) प्राप्ति = इस सिद्धि में अणु का प्रत्येक अवयव एक दूसरे को छू कर तथा एक दूसरे में अपने तत्व के प्रवाह का संचार करके और दूसरे के तत्व के प्रवाह को प्राप्त करके उसके स्पर्श की अनुभूति को अनुभव करने की सामर्थ्य रखता है। इस सिद्धि को यदि कोई गोली प्राप्त कर लेता है तो वह पृथ्वी पर बैठा हुआ ही अपनी अंगुली के अंगुलांग द्वारा — चन्द्रमा के स्पर्श की अनुभूति को प्राप्त कर लेता है। यही प्राप्ति की सिद्धि है। इसे हम दूरस्थ स्पर्श की अनुभूति की सिद्धि की प्राप्ति भी कह सकते हैं। यह सब कुछ एक एक अवयव से दूसरे अवयव में जाने वाले ऋतु के प्रवाह के द्वारा तथा उस ऋतु के प्रवाह में उदित होने वाले संकल्पों के प्रवाह के द्वारा होता है। ये संकल्प एक अवयव में उदित होकर ऋतु के प्रवाह की धारा में बहते हुए दूसरे अवयव के ऋतु के आवर्त में प्रवेश कर जाते हैं और वहाँ जा कर अपने पूर्व के अवयव के संकल्प के स्पर्श की अनुभूति उस आवर्त के ऊपर बजने वाले पदार्थ के भूत की इन्द्रियों को करा देते हैं। इस प्रकार उस दूरस्थ अवयव के गुण, चर्म तथा स्वभाव का परिचय प्रदान कर देते हैं। यही प्राप्ति की सिद्धि है। राडार, दूरदर्शन प्रणालियाँ इसी प्रकार कार्य करती हैं।

(5) प्राक्काम्य = इस सिद्धि का अर्थ है कि षड्वृन्दारकों में जिस प्रकार की भी कामना का संकल्प उदित होता है, उनकी वही कामना तुरन्त निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो जाती है। अर्थात् ऐसी कामना का संकल्प उनमें उदित होता है, उनके द्वारा की जाने वाली आगे की सभी रचनाओं तुरन्त उनके अनुकूल ही होने लग जाती हैं। एक भोगी को 'प्राक्काम्य' सिद्धि के सिद्ध होने के उपरान्त उसकी भी सभी कामनाओं तुरन्त पूर्ण होने लग जाती हैं। उससे शरीर से निकलने वाले षड्वृन्दारकों (six quarks) का पुञ्ज उससे चारों ओर के वातावरण में फैल कर उस भोगी की मनोकामना के अनुरूप पदार्थों की रचना करके उस की इच्छाओं की पूर्ति कर देता है। वह जब चाहे अपने स्वरूप को जहाँ चाहे प्रकट कर देता है और जब चाहे जहाँ से अपने स्वरूप को लुप्त कर देता है। वह भोगी भूमि के अन्दर उसी प्रकार तैरता तथा डूबता हुआ दिखाई पड़ता है जैसे कि एक साधारण मनुष्य जल में तैरता हुआ तथा डूबने में लगाता हुआ दिखाई देता है। सभी पानी के अन्दर छुप जाता है तथा सभी पानी के ऊपर प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार ये षड्वृन्दारक वहीं पर अपने आवेश की स्थिति को अणु में प्रकट कर देते हैं और वहीं पर लुप्त कर देते हैं। त्रिवर्त्माओं (म, म', म' mesons) में आवेशों की तीन स्थितियों पैदा करना अणु के अन्दर इन षड्वृन्दारकों के वृन्द की श्लारवा का ही कार्य होता है। यह प्रक्रिया त्रिवर्त्माओं की रचना को स्पष्ट करते समय पीछे समझा दी गई है। त्रिवर्त्माओं में वर्त्मा की वृन्दारकों की बनी श्लारवा का त्रिज्या के साथ व्युत्पन्न का बना न्यूज क्लोन, ऑप्क क्लोन अथवा समक्लोन ही वर्त्माओं में चनात्मक, ऋणात्मक अथवा समरसता के आवेश को उत्पन्न करता है। उसी के अनुसार न, चिक्, इत् की रचना होकर अणु का उसके गुण चर्म तथा स्वभाव वाला विशेष प्रकार का स्वरूप बनता है। यही प्राक्काम्य सिद्धि है। *double decomposition*

⑥ वीशित्व = इस सिद्धि के अनुसार ये षड्वृन्दारण्य सभी प्रकार के अणुओं के पदार्थ को अपने वश में करके अपने अनुसार उन्हीं अणुओं, धर्म, स्वभाव उत्पन्न करके अपने अनुसार कार्य कराने वाले होते हैं। ये षड्वृन्दारण्य स्वयं इन विभिन्न प्रकार के अणुओं के वश में हो कर कार्य करने वाले नहीं होते अपितु ये विभिन्न प्रकार के अणु ही इन षड्वृन्दारण्यों के वश में होकर कार्य करते हैं। षड्वृन्दारण्य स्वयं अपना कार्य करने में स्वतन्त्र होते हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के सारे भूत तथा उन भूतों से बने सभी भौतिक पदार्थ इन षड्वृन्दारण्यों के आधीन कार्य करने वाले होते हैं और इनके वश में रहते हैं। स्वयं ये षड्वृन्दारण्य इनके वश में न रह कर स्वतन्त्र रूप से रहते हैं। इनकी इस सिद्धि को यदि कोई योगी प्राप्त कर लेता है तो वह भी सभी भूतों के भौतिक पदार्थों में स्वतन्त्र हो जाता है। वह स्वयं किसी अन्य के आधीन नहीं रह जाता है।

⑦ ईशित्व = इस सिद्धि के अनुसार षड्वृन्दारण्य किसी भी भूत के तत्त्व के अणु अथवा अर्धपिण्ड अथवा योगों के भौतिक पदार्थों के उत्पादन, विनाश स्वम् स्थापना के विषय में समर्थ होता है। वह जब चाहे किसी भी भूत के अणुओं की रचना का योग बना दे, जब चाहे बने हुए अणुओं की रचना के योग को विनष्ट कर दे और चाहे तो किसी बने हुए रचना के योग को सुचारु रूप से निरन्तर दम्बी अवधि तक उसी अवस्था में रखते हुए चलने दे। इस सिद्धि को कोई योगी प्राप्त कर लेता है तो वह भी अपने शरीर से निष्कलने वाले वृन्दारण्यों के पुञ्ज के बल के द्वारा इन कार्यों को करने में समर्थ हो जाता है। अतः इस प्रकार की योगसिद्धियों में इस प्रकार के चमत्कारिक कार्य करने की असौम्य शक्ति होती है। परन्तु वे सदैव समरस रहते हैं। क्योंकि वे अपनी समरसता को भंग करके इन असामान्य कार्यों को करने से उनमें नये संकल्पों का उदय होता है, जिससे उनके सूक्ष्म शरीर में अनेकों नये संकल्पों के आवर्त बनने से विवृति उत्पन्न हो जाती है और उनका आत्मशुद्धि के लिए बिगड़ा गया तप क्षीण हो जाता है। अतः अपने तप को भंग होने से बचाने के लिए वे कभी भी इस प्रकार के अनावश्यक चमत्कारिक कार्य नहीं करते। यह दूसरी बात है कि योग विद्या सीखते तथा सिखाते समय किसी ब्रह्मचारी योगी अथवा किसी वानप्रस्थी गुरु द्वारा

अभ्यास के समग्र क्षीणक रूप में इस प्रकार की क्रिया का स्वरूप प्रकट हो जाये। परन्तु वह योग के अभ्यास के लिए क्रिया का क्षीणक प्रयोग तब के मंग नहीं करता। क्योंकि उसमें किसी कामना का वास नहीं होता है। वह निष्काम भाव से निष्कृत होकर सतोगुणी समरसता के प्रभाव के अन्तर ही रह कर प्रयोग किया जाता है। उससे सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उससे संकल्प के भिद्यो का भाव ^{उन योगियों में पहले से ही अपने तीव्र रूप में विद्यमान होता है। अतः यह क्षीणक प्रक्रिया होती है।} यत्र कामावसायित्व = इस सिद्धि के अनुसार जैसा संकल्प उद्दिष्ट होता है, वैसी ही भूतों की प्रकृतियों की व्यवस्था बदल कर हो जाती है। प्रत्येक भूत की प्रकृति का निर्धारण उसके गुण चर्मों के अनुसार कार्य करने का उसकी प्रथम रचना के काल में ही स्थायी रूप से हो जाता है। वही उस भूत के जीवन-पर्यन्त चलता रहता है। परन्तु इन षड्-वृन्दार्यों के वृन्द में अपने अन्तर उद्दिष्ट संकल्प के अनुसार तुरन्त ही उस भूत की पूर्व प्रकृति को बदलने की सामर्थ्य होती है, जिससे अन्तर रहते हुए उससे ऊपर उनका पूर्ण वश में करने का नियन्त्रण होता है। वे अपने उस उद्दिष्ट संकल्प के अनुसार तुरन्त उस भूत की प्रकृति के स्वभाव को बदल देते हैं और वह भूत उनके उस संकल्प के वश में होकर उसी के अनुसार कार्य करने लग जाता है। अतः भूतों की प्रकृति को अपने संकल्पों के अनुसार बदलने की इस सिद्धि को 'यत्र कामावसायित्व' की सिद्धि कहा जाता है। जिस योगी को यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो वह योगी भी अपने मन के संकल्पों के अनुसार अन्य भूतों की प्रकृति तथा उनके कार्य करने के स्वभाव को बदलने में समर्थ हो जाता है। परन्तु कोई भी योगी समर्थ होने पर भी कभी भी किसी भूत की प्रकृति को उल्टा नहीं करता है। क्योंकि वह दूसरे सत्यसंकल्प सिद्ध भूत जो ईश्वर ने निर्मित किये हैं, उनके पदार्थों में उस ईश्वर द्वारा उद्दिष्ट संकल्प हैं। उस ईश्वर के संकल्पों के विरुद्ध उल्टी प्रकृति के भूतों की रचना करना - ईश्वर के विरुद्ध चलने का पाप बन जाता है। फिर ईश्वर प्रीणधान की प्रक्रिया द्वारा योगी को असम्प्रज्ञात समाधि तथा चर्ममेघ समाधि की सिद्धियाँ करना लगभग असम्भव हो जाता है। अतः अपने निर्वीण के लक्ष्य की प्राप्ति में सब बड़ी बाधा उत्पन्न करने का कार्य - भूतों की मूल प्रकृति को उल्टा करने का, वह साध्य योगी कभी भी कार्य नहीं करता है। वह ऐसा विचार कभी भी अपने मन में नहीं लाता है। दूसरे ऐसा करने से अनेकों प्राणियों की हानि भी होती है। अन्य प्राणी भूतों के जिस स्वभाव को देखते आये हैं, वे उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। सब जानते हैं कि पानी पीने से गला तर हो कर प्यास बुझ जाती है। यदि वही पानी गले को उल्टा सूखा कर प्यास को और बढ़ा कर प्राणी के प्राण हर ले और अपनी

पूर्व प्रकृति के बिलुप्त उल्टे स्वभाव का कार्य करने लगे तो पता नहीं चितने प्राणी उसे अपनी पूर्व जानकारी के आधार पर पीकर अपने प्राण गवाँ बैठेंगे। प्रकृति के विधान में इस प्रकार विघ्न उत्पन्न करने से पता नहीं कितना बड़ा पाप हो जायेगा। अतः कोई ईश्वर उपासक गौरी समर्थ होते हुए भी ऐसा नहीं करता है। वह ऐसा करने की अपेक्षा अपने प्राणों को त्यागना इससे उत्तम समझेगा। क्योंकि प्राण त्यागने से ईश्वर प्रीणधान की प्रीति या द्वारा सत्-स्वरूप की प्राप्ति का जो यत्न प्रारम्भ कर दिया है, वह निरन्तर चलता रहेगा और प्राण त्यागने से उसमें कोई विघ्न उत्पन्न नहीं होगा। ब्रह्म के अपरगुण द्वारा अन्त में उसे सत्-स्वरूप की प्राप्ति हो ही जायेगी। परन्तु वह स्वयं अपनी इच्छा से प्राण त्याग कर आत्महत्या करी नहीं करता है। क्योंकि इस प्रकार आत्महत्या करने का संकल्प उसके सूक्ष्म शरीर के बड़े आवर्त में एक स्थायी छोटा आवर्त बना देगा, जो आगे न तो उसे कोई अन्य स्थूल शरीर की यौनि चरण करने देगा और न ही उसे उसके सूक्ष्म शरीर से मुक्त होने देगा। उस समय वह एक प्रेत की यौनि में लष्ट भुगतता हुआ नारकीय जीवन जीने को उस सूक्ष्म शरीर की यौनि में रहने की ही विवश हो जायेगा। अतः आत्महत्या करना तो महापाप है। अपने जीवन का पूर्ण भोग भोगते हुए निष्काम बन कर नित्य-तृप्त की अवस्था को प्राप्त करके सभी प्रकार के संकल्पों से विहीन हो कर अन्त समय में स्वभाविक विधि-ईश्वर के विधान के अनुसार प्राण त्यागना ही सर्वोत्तम है। उसी से निर्वाण की प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार की अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों के ऐश्वर्य से युक्त इन षट्पुन्दारकों को कहा गया है।

ये पुन्दारक 'कल्पाशुषः' भी कहे गये हैं। 'कल्पाशुषः' का अर्थ है कल्प की आयु वाले। कल्प का अर्थ है किसी भी रचना का उसके जन्म से लेकर उसके अन्तिम रूप से विलीन होकर मिलने तक का काल। मृत की ईशानी चारा में जब भी कोई संकल्प उद्भूत होकर मौलिक अर्थों में आबद्ध हो कर 'क' कणों के स्वभाव की रचना करके अश्वनी के अन्दर सोलह प्रकार के विचारों को उत्पन्न करके इन षट्पुन्दारकों के स्वभाव की रचना करता है तो उसी स्वभाव के

अनुसार कार्य करते हुए ये वृन्दारव्य त्रिवर्त्माओं तथा नीचवैतागिन का स्वरूप बनाते हुए विभिन्न प्रकार के गुण, चर्म, स्वभाव वाले भूतों की रचना कर देते हैं। जब तक ये भूत विद्यमान रहते हैं और अपने द्वारा चारित गुण, चर्म, स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं, तब तक का काल उस भूत के कल्प का काल कहलाता है। उस भूत के उस कल्प के काल तक वे वृन्दारव्य उसी रूप में उस भूत के पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। जब उस भूत का पदार्थ ही प्रलय अवस्था को प्राप्त करके ब्रह्म के सत् स्वरूप में मिलने के लिए अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से विनष्ट कर देता है तो उसके साथ ही उन वृन्दारव्यों का स्वरूप भी विनष्ट हो जाता है। ये वृन्दारव्य अपने आधार के कल्प की आयु तक ही जीवित रहते हैं, अपने आधार से अलग होते ही तुरन्त ये भी अपने स्वरूप को नष्ट कर देते हैं। इसी कारण जब रुब अणु के इत् (Electrons) में से उच्च शक्ति के चुम्बकीय बल द्वारा इन वृन्दारव्यों की श्रृंखला को अलग करने का प्रयास किया जाता है तो इन षड्वृन्दारव्यों की श्रृंखला अपने पीरपथ से हट कर थोड़ी दूर उछल कर चलती है और उसके तुरन्त बाद अपने स्वरूप को विनष्ट करके परम व्योम में विलीन हो जाती है। आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों के परीक्षणों द्वारा यह तथ्य स्क्रीन पर ओमे फोटो के कारण प्रकट होता है। विज्ञान की किसी भी पुस्तक में वृन्दारव्यों (Quarks) के इस गुण (Property) को देखा जा सकता है। इस प्रकार ये वृन्दारव्य अपने आधार के कल्प की आयु वाले 'कल्पायुधः' कहे गये हैं।

इन्हें 'वृन्दारव्यः' कहा गया है। वृन्दारव्यः का अर्थ है कि रुब वृन्द बना कर अपने पूरे वृन्द के साथ चलने वाले। वृन्द का अर्थ है रुब गुप। यह वृन्द इन वृन्दारव्यों की रुब श्रेणी वृद्ध रूप में व्यवस्थित होने (Chained linked) से बनता है। इस व्यवस्था से इनके वृन्द से रुब 'श्रृंखला' (segment) बन जाती है। अतः ये रुब श्रृंखला बना कर वृन्द में चलते हैं। इस श्रृंखला के कारण ही त्रिवर्त्माओं में ये वृन्दारव्य m^0 , m^+ , m^- में समरसता, चनात्मक, तथा त्रुणात्मक आवेश उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

इन वृन्दारकों (Quarks) को "कामभोगिनः" कहा गया है। अर्थात् पुरुष को ज्ञात की ईशानी चाराओं में विभिन्न प्रकार की कामनाओं के जो संकल्प उद्भूत होते हैं वे मौलिक अर्थों में बद्ध होकर 'क' वृण में आजाते हैं, फिर 'क' वृण के सौलह विचारों से युक्त हो कर अश्विनो में आजाते हैं। अश्विनो इन षड्वृन्दारकों के आवर्तों में घूमता हुआ प्रथम वृन्दारक से चलकर अन्तिम छठे वृन्दारक तक घूमता रहता है और अपने अन्दर बद्ध सभी प्रकार की कामनाओं के संकल्पों का भोग इन छः वृन्दारकों की बनी शलाखा को कराता रहता है। ये षड्वृन्दारक अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए अपने भोग की सासरी और त्रिवर्तीओं, 'न', 'चि' इत' में बनाकर पूरे अणु तथा उन अणुओं से मिलकर बने अर्थपिण्डों में बना देते हैं। इस कारण इनको "कामभोगिनः" कहा गया है।

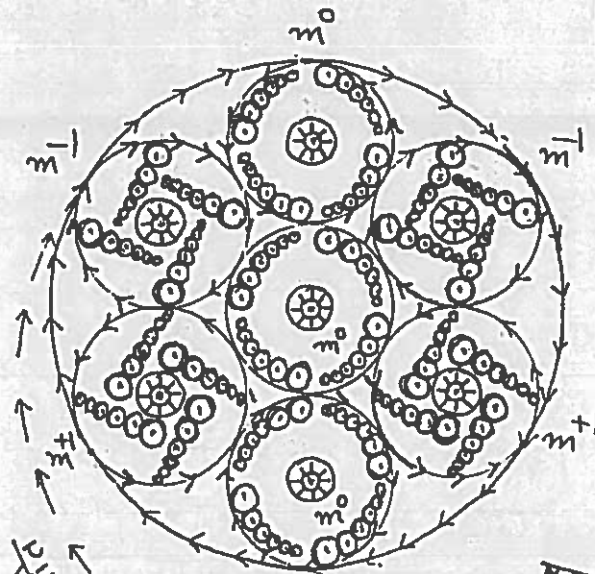
इन्हें "औपपादिक देहा" कहा गया है। अर्थात् ये अपनी इच्छा के अनुसार देह को धारण करने वाले हैं। इन षड्वृन्दारकों की शलाखा में जिन इच्छाओं के संकल्प उद्भूत हो जाते हैं, उसी के अनुसार इनकी शलाखा अपनी रचना कर आगे चलाती है और उसके अनुसार त्रिवर्तीओं, 'न', 'चि', इत' के स्वरूपों की विभिन्न प्रकार की देहों (शरीरों) का रूप धारण कर लेती है। इन सभी अलग-अलग प्रकार के शरीरों में इस षड्वृन्दारकों की शलाखा की गति की चेतना बहती है। इसी कारण चुम्बकीय तरंगों में भी चुम्बकीय ऊर्जा की बलरेखाओं में सब दूसरे को न काटते हुए सब दूसरे के साथ-साथ चलने का स्वभाव पाया जाता है। २, ३, ४ क्रिणो भी पुञ्ज में इन्हीं के कारण साथ-साथ सब दूसरे को न काटते हुए साथ-साथ चलती हैं। ये वृताकार पथ में भी चलते हुए वर्त्माओं के, न, चि, इत' के आवर्त बनाते हैं तथा स्क्रीन पर वृताकार स्पेक्ट्रा की छाप छोड़ते हैं। अर्थात् जहाँ जैसा शरीर चाहे, वहाँ वैसा ही शरीर धारण करने में ये समर्थ होते हैं और अपना ईच्छित अर्थपिण्ड का रूप बना देते हैं। अतः इन्हें "औपपादिक देहा" कहा गया है।

इन वृन्दारकों (Quarks) को, "उत्तमानुल्लामिरप्सरोभिः कृतपातवाराः" भी कहा गया है। इस का अर्थ है कि उत्तम और अनुल्ल अवस्था वाले आद्र रूप में बहने वाले तत्वों के अम्भ (अप् - सरोभिः) की चाराओं

के द्वारा इन छः वृन्दारकों के परिवार की रचना होती है। अर्थात् उत्तम और अनुत्तम दशा में बहने वाली अश्विनो के आभा की चाराओं के द्वारा ये षड्वृन्दारक अपने छः वृन्दारकों के परिवार की रचना करते हैं और उससे अपना वृन्द और अपने वृन्द की इलाखा बनाते हैं। ये सभी गुण धर्म महीष व्यास द्वारा इन वृन्दारकों (Quarks) के बताये गये हैं।

इन षड्वृन्दारकों की इलाखाओं के द्वारा सर्वप्रथम त्रिवर्त्ता का सप्तचक्र (Seven hypercircle) बनता है। इस सप्तचक्र का चित्र नीचे देखें।

चित्र = 84



[Seven hypercircle made of the three mesons m^0, m^+, m^-]

त्रिवर्त्ता का सप्तचक्र

●●● एक अश्विनो की प्रतिमा का गति युक्त प्रतीक चिन्ह है।

षड्वृन्दारकों के वृन्द की बनी एक इलाखा।

(Top) पौरी निर्मित वशवर्त्तनः

(Bottom) अपर निर्मित वशवर्त्तनः

(Row n) लुपिताः

(44) गाम्या

(Strange) अग्निष्वातोः

(Charm) त्रिदशाः

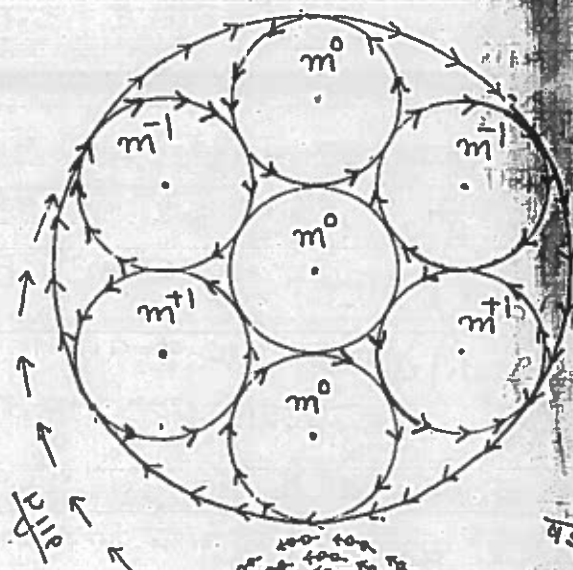
इन वृन्दारकों (Bundarks) को "कामभोगिनः" कहा गया है। अर्थात् पुरुष को प्रतुत को ईशानी चाराओं में विभिन्न प्रकार की कामजाओं के जो संकल्प उदित होते हैं वे मौलिक अर्थों में बद्ध होकर 'कण' में आ जाते हैं, फिर 'क' कण के शैलह विचारों से युक्त हो कर अश्विनो में आ जाते हैं। अश्विनो इन षड्वृन्दारकों के आवर्तों में घूमता हुआ प्रथम वृन्दारक से चल कर अन्तिम छठे वृन्दारक तक घूमता रहता है और अपने अन्दर बद्ध सभी प्रकार की कामजाओं के संकल्पों का भोग इन छः वृन्दारकों की बनी श्लारवा को कराता रहता है। ये षड्वृन्दारक अपनी कामजाओं की पूर्ति के लिए अपने भोग की सामग्री जो त्रिवर्त्माओं, 'ज', 'चि' 'इत्' में बना कर पूरे अणु तथा उन अणुओं से मिल कर बने अर्धपिण्डों में बना देते हैं। इस कारण इन को "कामभोगिनः" कहा गया है।

इन्हे "औपपादिक देहा" कहा गया है। अर्थात् ये अपनी इच्छा के अनुसार देह को धारण करने वाले हैं। इन षड्वृन्दारकों की श्लारवा में जिन इच्छाओं के संकल्प उदित हो जाते हैं, उसी के अनुसार इनकी श्लारवा अपना रूप बना कर आगे चलती है और उसी अनुसार त्रिवर्त्माओं, ज, चि, इत् के स्वरूपों की विभिन्न प्रकार की देहों (शरीरों) का रूप धारण कर लेती है। इन सभी अलग-अलग प्रकार के शरीरों में इन षड्वृन्दारकों की श्लारवा की गति की चेतना रहती है। इसी कारण चुम्बकीय तरंगों में भी चुम्बकीय ऊर्जा की बलरेखाओं में एक दूसरे को न काटते हुए एक दूसरे के साथ-साथ चलने का स्वभाव पाया जाता है। α, β, γ किरणों भी पुञ्ज में इन्हीं के कारण साथ-साथ एक दूसरे को न काटते हुए साथ-साथ चलती हैं। ये वृताकार पथ में भी चलते हुए वर्त्माओं के, ज, चि, इत् के आवर्त बनाते हैं तथा स्त्रीन पर वृताकार स्पेक्ट्रा की छाप छोड़ते हैं। अर्थात् जहाँ जैसा शरीर चाहें, वहाँ वैसा ही शरीर धारण करने में ये समर्थ होते हैं और अपना इच्छित अर्धपिण्ड का रूप बना देते हैं। अतः इन्हे "औपपादिक देहा" कहा गया है।

इन वृन्दारकों (Bundarks) को, "उत्तमानुबूलाभिरप्सरोभिः कृतपौरवाराः" भी कहा गया है। इस का अर्थ है कि उत्तम और अनुबूल अवस्था वाले आदर रूप में बहने वाले तत्वों के अम्भ (अप् - सरोभिः) की चाराओं

के द्वारा इन छः वृन्दारकों के परिवार की रचना होती है। अर्थात् उत्तम और अनुप्लव दशा में बहने वाली आश्विनो के आम्भ की चाराओं के द्वारा ये षड्वृन्दारक अपने छः वृन्दारकों के परिवार की रचना करते हैं और उससे अपना वृन्द और अपने वृन्द की इलाखा बनाते हैं। ये सभी गुण चर्म महीष व्यास द्वारा इन वृन्दारकों (Quarks) के बताये गये हैं।

इन षड्वृन्दारकों की इलाखामों के द्वारा सर्वप्रथम त्रिवर्ती का सप्तचक्र (Seven hypercircle) बनता है। इस सप्तचक्र का चित्र नीचे देखें।



चित्र 84

[Seven hypercircle made of the three masses m^0, m^+, m^-]

त्रिवर्ती का सप्तचक्र

षड्वृन्दारकों के वृन्द की बनी एक इलाखा।
एक आश्विनो की प्रतिमा का गति युक्त प्रतीक चिन्ह।

(Top) परिवर्तित वक्रावर्तनः

(Bottom) अपरिवर्तित वक्रावर्तनः

(Row n) लुपिताः

(YK) याचना

(Strange) अविवाताः

त्रिवर्ताः

इस त्रिवर्ती के सप्तचक्र में तीन चक्र m^0 वर्ती के 'न' कण (Neutrons) के समरस गुण धर्म के स्वभाव की रचना करने वाले बनते हैं। इसी कारण जब किसी अणु का नाभिकीय विस्फोट होता है तो उसमें से इन तीन m^0 के वर्तीओं से तुरन्त निर्मित तीन 'न' कण (Neutrons) ही बाहर निकलते हैं जो अगले तीन अणुओं में विस्फोट करने के कारण बनते हैं। इस प्रकार सभी अणुओं में जो इस प्रकार की नाभिकीय क्रिया के सम्पर्क में आते हैं श्रृंखलाबद्ध विधि से विस्फोट हो जाते हैं। [Chain Nuclear explosion.]

इस त्रिवर्ती के सप्तचक्र में दो m^0 के वर्ती तो घूर्णन (spin) करने वाले रूप में हैं परन्तु उनके मध्य का m^0 का वर्ती घूर्णन के बलों को सन्तुलित करते हुए स्थिर अवस्था में है। इसी कारण 8 किरणों के विक्षीरण में एक-एक 8 कण श्रृंखलाबद्ध विधि से निकल पाता है। इसी लिए एक 8 कण में एक ही 'न' कण (Neutron) निहित होता है जो घूर्णन करता हुआ बड़ी तीव्र गति से चलता है और अन्य अणुओं की नाभ के अन्दर तक प्रवेश कर जाता है। इसी कारण उस स्थान के अणुओं को, जहाँ पर यह पड़ता है, काटता हुआ चला जाता है।

परन्तु जब 8 कण किसी अणु में से बाहर निकलता है तो इस त्रिवर्ती के सप्तचक्र में विद्यमान m^+ के दो वर्ती घूर्णन करते हुए तथा उनके साथ m^0 के दो वर्ती घूर्णन करते हुए मिल कर चार कणों का बना 4 कण विक्षीरित होता है। अतः 8 कण में दो m^0 वर्तीओं से तुरन्त बने दो 'न' कण (Neutrons) तथा दो m^+ वर्तीओं से तुरन्त बने चिक्क कण (Protons) होते हैं। इसी कारण 8 कण He^2 (हीलियम) अणु की नाभ (Nucleus) कहलाता है। यह 8 कण अपने वातावरण में से दो इत् (Electrons) के m^- वर्ती के द्वारा बने अवयवों के साथ मिला कर He^2 (हीलियम) गैस के निष्क्रिय सन्तुलित अणु की रचना कर लेता है।

8 कण के विक्षीरण में m^- वर्ती के द्वारा तुरन्त बना एक इत् (Electron) होता है। इसमें भी एक-एक इत् श्रृंखलाबद्ध विधि से निकलता हुआ 8 कणों की किरण के पुञ्ज को बनाता है। इसके आवेग का बल 8 कण के आवेग से कम होता है। 8 कण का आवेग सबसे अधिक होता है। इसी कारण 8 कण जब कहीं पर टकराता है तो वह

वहाँ उस माध्यम में सब से अधिक दूरी तक अन्दर घुस जाता है। उससे कम दूरी तक उसी माध्यम में टकराने पर ३ ळण घुस जाता है और सब से कम दूरी तक उसी माध्यम में टकराने पर ५ ळण घुस पाता है। ५ ळण की चलने की चाल सब से कम होती है, उससे अधिक तेज चलने की चाल ३ ळण की होती है और सब से अधिक तेज चलने की चाल ४ ळण की होती है। ५ ळण भारी भ्रम होने के कारण धीरे-धीरे चलता है।

इस मन्त्र, "आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः। तेषाम् अभावे कृतकर्म नाशः कर्म क्षये प्राप्ति स तत्त्वतो ऽन्यः॥" में दो प्रक्रियाएँ साध साध बताई गई हैं। प्रथम प्रक्रिया 'भाव' की "भावांश्च सर्वान् विनियोजयेत् यः" - वह कर बताई गई है और दूसरी प्रक्रिया 'अभाव' की - "तेषाम् अभावे कृतकर्म नाशः" वह कर बताई गई है। एक-एक गुण के चयन के कर्मों को आरम्भ करके उन सभी गुणों को अपने अन्दर मिला कर समीहित करते हुए सारे भावों को जो वृन्दारक विशेष रूप से पूर्णता के साथ एक तत्त्व के अणुओं (Atoms) में योजित कर देता है तो उन गुणों के सारे भावों के एक अणु की इकाई में जुड़ने के उपरान्त उस तत्त्व का अणु उन विशेष गुणों और स्वभावों को प्रकट करने वाले कर्मों को करने लग जाता है। परन्तु उन गुणों और भावों को प्रकट करने वाले अवयवों का यदि उस अणु की इकाई के स्वरूप में से अभाव हो जाये, वे अवयव उस अणु में से बाहर निकल जायें, तो उन अवयवों के होने से वह अणु जिन कार्यों को कर रहा था, उन कर्मों का अब उसमें नाश हो जाता है। उन कर्मों के स्वभाव का नाश होने पर उस अणु का स्वभाव ही बदल जाता है। गुण, कर्म, स्वभाव बदलने पर वह अणु ही किसी दूसरे तत्त्व के अणु में बदल जाता है।

अब पहले हम भाव के विनियोजन का उदाहरण देते हैं, जिससे अन्दर एक अणु अपने अन्दर किसी दूसरे अणु में से कुछ गुणों और भावों का अपने अन्दर विनियोजन करके दूसरे प्रकार का कर्म करना आरम्भ करके दूसरे तत्त्व के अणु में बदल जाता है।



इस प्रयोग की प्रक्रिया में नाइट्रोजन तत्व के एक अणु ${}^{14}_7\text{N}$ में हीलियम तत्व के एक अणु ${}^4_2\text{He}$ के द्वारा नाइट्रोजन के अणु की नीम में α कण का विनियोजन करके नाइट्रोजन के अणु में नये प्रकार के गुणों और भावों को सम्पूर्ण रूप से समाहित करके जोड़ा गया। जिससे उस नाइट्रोजन के अणु ने नये प्रकार के गुण चर्मों के भावों को प्रकट करने वाले कर्मों को करना प्रारम्भ कर दिया। इससे वह दूसरे तत्व के गुण चर्मों के स्वभाव को प्रकट करने वाला ऑक्सीजन तत्व का ${}^{17}_8\text{O}$ अणु बन गया। इससे साथ ही हीलियम तत्व के अणु ${}^4_2\text{He}$ में से दो 'न' कण, एक 'चि' कण तथा एक 'इ' निष्कल गये। उन चारों के बाहर निष्कलने पर हीलियम के एक अणु में उनका अभाव हो गया। अतः हीलियम के अणु में वे चारों अवयव मिल कर जिन गुण, चर्मों के भावों को प्रकट करने वाले कर्मों को कर रहे थे, अब उनका उसमें नाश हो गया। अतः अब वह दूसरे प्रकार के गुण, चर्मों के भावों को प्रकट करने वाला दूसरे तत्व नाइट्रोजन का ${}^{14}_7\text{N}$ अणु बन जाता है। उस अणु का नया तत्व बन जाता है।

इस प्रकार एक ओर बहुत से गुणों से अन्वित सारे भावों को विनियोजित कर के जो अणु नये कर्मों को करना आरम्भ कर देता है, वहीं दूसरे अणु में उन गुणों से अन्वित भावों के अवयवों का अभाव होने पर उनके द्वारा किये जाने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। एक अणु में नये भाव जुड़ने से नये कर्मों को करना आरम्भ करने से तथा दूसरे अणु में से उन गुण चर्मों वाले भावों के अवयवों के निष्कल होने से अभाव होने के कारण उनके कर्मों का नाश होने के कारण उनके कर्म भी बदल जाते हैं। अतः उन दोनों अणुओं के कर्मों के गुण, चर्म, स्वभाव बदलने के कारण वे दोनों अणु नये तत्वों के अणु में बदल जाते हैं। जैसे कि ऊपर दिये उदाहरण में नाइट्रोजन का अणु ऑक्सीजन के तत्व के अणु में बदल जाता है और हीलियम का अणु नाइट्रोजन तत्व के अणु में बदल जाता है। नाइट्रोजन तत्व से ऑक्सीजन तत्व में बदलने के अन्तर भावों के विनियोजन की क्रिया होती है परन्तु हीलियम तत्व से

हाईड्रोजन तत्त्व में बदलने की प्रक्रिया 'अभाव' की विधि से होती है।

दूसरा उदाहरण कैवल अभाव की प्रक्रिया के द्वारा रुबिड अणु का तत्त्व दूसरे प्रकार के तत्त्व के अणु में बदलने की प्रक्रिया का पृष्ठ (646) पर दी गई सारणी का है। इस सारणी में - α का चिन्ह α कण के अभाव का तथा - β का चिन्ह β कण के अभाव का सूचक बनते हैं। अर्थात् ये कण उन अणुओं के अन्दर से बाहर निकल जाते हैं।

सर्व प्रथम यूरेनियम के U_{92}^{238} के अणु में से α कण निकलने पर उसका अभाव होने से Th_{90}^{234} थोरियम तत्त्व का अणु बन जाता है।

अर्थात् $U_{92}^{238} - \alpha \rightarrow Th_{90}^{234}$ की प्रक्रिया तत्त्वान्तरण की होती है। रुबिड तत्त्व से दूसरे तत्त्व में बदलने की प्रक्रिया को तत्त्वान्तरण कहा जाता है।

उपरोक्त प्रक्रिया को $U_{92}^{238} - He_2^4 \rightarrow Th_{90}^{234}$ की विधि से भी प्रकट किया जा सकता है। यह अभाव करने की विधि है। α कण का चिन्ह - किसी अवयव के अभाव को सूचित करता है।

यह भावों के विनियोजन की प्रक्रिया Fusion और अभाव की प्रक्रिया Fission की प्रक्रिया को प्रकट करते हैं। Fusion और Fission ये दो नाम इन प्रक्रियाओं के आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिकों के द्वारा रखे हुए हैं। Fusion में कुछ अवयव रुबिड अणु की नाभि के साथ जुड़ते हैं और Fission में कुछ अवयव अणु की नाभि में से टूट कर बाहर निकल जाते हैं। Fusion भावों का विनियोजन करता है और Fission पूर्व में विद्यमान भावों का अभाव करता है। भाव, अभाव की प्रक्रिया के ही ये दो आधुनिक विज्ञान के नाम Fusion और Fission हैं।

इस अभाव की प्रक्रिया को पृष्ठ (646) पर दी गई सारणी के अनुसार U_{92}^{238} में से α कण निकल जाने से Th_{90}^{234} का थोरियम का अणु बन जाता है। फिर Th_{90}^{234} के थोरियम के अणु में से α कण निकलने पर Ra_{88}^{226} का अणु बन जाता है। फिर Ra_{88}^{226} के अणु में से α कण बाहर निकलने पर Rn_{86}^{222} का अणु बन जाता है। फिर Rn_{86}^{222} के अणु में से फिर α कण बाहर निकलने पर Po_{84}^{218} का अणु बन जाता है। उसके पश्चात्

P_0^{218} के अणु के साथ दो प्रकार की प्रक्रियाएँ अभाव के रूप में होती हैं।
 84 प्रथम अवस्था में α कण उससे बाहर निकलता है और दूसरी अवस्था में β कण उससे बाहर निकलता है। प्रथम अवस्था में P_0^{218} के अणु में से α कण बाहर निकलने पर Pd^{214} का शीशे का अणु बन जाता है।
 82 दूसरी अवस्था में P_0^{218} के अणु में से β कण बाहर निकलने पर At^{218} का अणु बन जाता है। इसके पश्चात् Pd^{214} के अणु में से β कण निकलने पर और At^{218} के अणु से α कण बाहर निकलने पर Bi^{214} का विसमय तत्व का अणु बन जाता है। उसके बाद Bi^{214} के अणु में से β कण बाहर निकलने पर Po^{214} का अणु बन जाता है और उसी तत्व विसमय के Bi^{214} के अणु में से α कण बाहर निकलने पर Tl^{210} का अणु बन जाता है।
 83 फिर Po^{214} के अणु में से α कण बाहर निकलने पर तथा Tl^{210} के अणु में से β कण बाहर निकलने पर Pb^{210} का शीशे का अणु बन जाता है।
 82 Pb^{210} के अणु में से β कण बाहर निकलने पर Bi^{210} का अणु बन जाता है। फिर Bi^{210} में से β कण निकलने पर Po^{210} का अणु बन जाता है तथा उसी तत्व के Bi^{210} के अणु में से α कण बाहर निकलने पर Tl^{206} का अणु बन जाता है। इसके बाद Po^{210} के अणु में से α कण बाहर निकलने पर तथा Tl^{206} के अणु में से β कण बाहर निकलने पर Pb^{206} का शीशे का अणु बन जाता है। इसके पश्चात् आगे अभाव की प्रक्रिया नहीं चलती और शीशे के Pb^{206} के अणु के रूप में स्थायित्व आ जाता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया के द्वारा इस मन्त्र के, "तेषाम् अभावो कृतकर्म नाशः, कर्मक्षये धाति स तत्त्वतोऽन्यः" - भोग के व्यय का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

भूः लौह किसी अणु की नीम के अन्दर सब से ऊपर का घृतपृष्ठ का भाग होता है जिसमें 'ज' तथा 'चिच' कण स्थापित रहते हैं तथा उसमें से 'ज' कण में से इतना बाहर निकल कर पाताल लौहों में स्थापित हो जाता है। अतः भाव तथा अभाव दोनों प्रकार की नीम की प्रक्रियाएँ इस भूः लौह के अन्दर ही होती हैं। परन्तु किसी अणु के स्वाभाविक

रूप से α अथवा β अथवा γ का जो विकारित करने का स्वभाव बनने की प्रक्रिया स्वः लोका में वृन्दारकों के संकल्पों के अनुरार ही प्रारम्भ होती है और फिर भुव तथा भूः लोका में भी उस गुणों, चर्मों तथा स्वभावों को चारण करते हुए यह विवरण को अभाव की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। भाव की प्रक्रिया का प्रभाव भी पहले भूः लोक पर फिर भुवः लोक पर और अन्त में स्वः लोक में वृन्दारकों के द्वारा कामनाओं के संकल्पों का उपभोग करने पर पूर्ण होती है। इस प्रकार भूः भुवः और स्वः इन तीन लोकों में भाव तथा अभाव की दोनों प्रकार की क्रियाओं के द्वारा गुणों और स्वभावों को चारण करके तत्त्वों के रूपान्तरण तथा पोषण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसी कारण गाथत्री मन्त्र में भी इन्हीं तीनों लोकों भूः, भुवः तथा स्वः लोकों में स्थित सीवता देव की वरण करने योग्य 'सव' शक्ति तथा इन लोकों में स्थित प्रत्येक देव का भरण पोषण करने वाली 'सव' शक्ति को चारण करने के लिए कहा गया है जो हमारे गुण, चर्म और स्वभावों का निर्माण करने वाली बुद्धि को प्रचण्ड करे। मन्त्र इस प्रकार है— "ॐ भूः भुवः स्वः तत् सवितुः वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात् ।" इसका अर्थ बनता है कि हम सब प्राणी भूः, भुवः, स्वः लोक में स्थित जो सीवता देव की वरण करने योग्य और प्रत्येक देव की भरण पोषण करने वाली 'सव' शक्ति की श्रुत की चारा का प्रवाह है, उसे हम चारण करें, जो सीवता देव की सव शक्ति वाली श्रुत की चारा अपने प्रवाह से हमारी बुद्धियों को प्रचण्ड करे।

सीवता देव की तपः लोका से 'सव' शक्ति वाली पोषण करने की श्रुत की चारा आभास्वरा, महाभास्वरा तथा सत्प्रमहाभास्वरा इन तीन स्तरों के प्रवाह की ऊर्जा वाली निकलती है जो सभी लोकों में प्रवाहित होती हुई उन लोकों के सभी देवों का पोषण करती है। पोषण करने वाली सीवता देव की श्रुत की चारा की शक्ति को ही 'सव' शक्ति कहा जाता है, जिसका वर्णन इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय के दूसरे मन्त्र— "युक्तेन मनसा वयम् देवस्य सवितुः सवे सुवर्गे याय शक्यता ॥" में किया गया है। इस मन्त्र का अर्थ दूसरे अध्याय में ही वहाँ पर देखें।

इन मन्त्रों में अणुओं के योग बनने में chemical reaction में chemical bond बनने की प्रक्रिया का तथा तत्त्वान्तरण की प्रक्रिया

(Transmutation) में नाभिकीय प्रक्रिया (Nuclear reaction) का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। थोड़े से शब्दों का इतना बड़ा विस्तार वाला अर्थ प्रकट होता है। ऋषियों की मन्त्रों में गागर में सागर भरने की यही अद्भुत कला है। अगला मन्त्र देखें।

आदिः स संयोग निमित्त हेतुः परस्त्रिज्वालादकलोऽपि दृष्टः।

तम् विश्वरूपम् भवभूतमीड्यम् देवम् स्वीचिच्छमुपास्य पूर्वम्॥ (5)

[एक अणु जब अपने सारे गुणों को, धर्मों को तथा विशेष प्रकार से कार्य करने के स्वभाव को चारण करके एक तत्त्व विशेष की रचना पूर्वोक्त विधियों से कर देता है, तो वह पूर्ण अणु का स्वरूप ही] आगे विभिन्न प्रकार के सम्यक् रूप से निष्पादित योग (well stabilised molecule formation) बनने का निमित्त कारण का आदि (प्रारम्भ) का स्वरूप बनता है। [अर्थात् उन पूर्ण अणुओं से मिलकर ही आगे स्थायी रूप के सम्यक् योग (सम् + योग = संयोग) बनने प्रारम्भ होते हैं।] परन्तु तीनों कालों में—(1) योग बनने के प्रारम्भिक काल में, (2) योग बनने के उपरान्त उसके स्थायी रूप से रहने के काल में, (3) योग का किसी कारण वश किसी समय विच्छेदन होकर पुनः अणुओं का अपने-अलग-अलग स्वरूपों में स्वतन्त्र अवस्था को चारण करने के काल में— प्रत्येक अणु का भूत के द्वारा बना पञ्चावर्त का पर-रूप (परः = point of very high intensity of energy of B.T.A.) कला विहीन देखा गया है। [अर्थात् एक अणु की रचना में जिस प्रकार का जितने आवर्तों वाला जैसा स्वरूप पञ्चावर्त का प्रारम्भ में बना होता है, वह योग बनने की प्रारम्भ अवस्था के काल में, योग की स्थापना के काल में तथा योग के विच्छेद काल में भी वैसा ही रहता है। उसके किसी भी अवयव की किसी भी कला (अंश) में कोई परिवर्तन नहीं आता है। ऐसा क्रान्त दृष्टा ऋषियों ने देखा है।] उस योग के पूरे स्वरूप को, उसके अणुओं के पञ्चावर्तों तथा सप्तलोकों की रचना के पूरे भवभूत स्वरूप (सृष्टि-सृजन में बनने वाले प्रत्येक भूत के स्वरूप को—स्थूल तथा सूक्ष्म सभी प्रकार के स्वरूपों को) तथा इन भवभूतों के स्वरूपों के बनने से पहले के उस देव को जो हमारे चित्त के अन्दर स्थित होकर बैठा है, जो

स्तुति करने योग्य है, जो उपासना करने के योग्य है, उस रुद्र भगवान की उपासना करनी चाहिए। वही रुद्र भगवान ब्रह्म, जीव, प्रकृति के संयोग का सबसे पहले की आदि की अवस्था का निमित्त कारण है तथा वह सृष्टि के सृजन, स्थापना तथा प्रलय के तीनों कालों में अपरिवर्तनीय अवस्था वाला कलाविहीन देखा गया है। उस सारी सृष्टि के भवसागर के सारे भूतों के रूपों को शासित करने वाले तथा स्तुति करने योग्य देव की 'रुद्र' की उपासना करनी चाहिए जो हमारे सब के चित्त में स्थित होकर बैठा हुआ है और जो सब देवों से पहले का बना पूर्व का आदि देव है। जो देवाधिदेव महादेव है। जो मृत के सब बिन्दु पर सद्यः रूप में सञ्चित होकर बनी मृत की पिण्डी का 'पर' रूप (परः) है। [आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद् इ अन्यज परः विम च न आस"। (ऋग्वेद-10, 129, 2)] इस मन्त्र का अर्थ पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। जो रुद्र देव ईश्वरी चाराओं के द्वारा ईशान बना हुआ है।

इस प्रकार इस मन्त्र में सभी प्रकार के सृष्टि सृजन के निमित्त कारणों में आदि कारण रुद्र देव को ही बताया गया है और अपने चित्त में उसकी उपस्थिति समझ कर उसी की उपासना का संदेश दिया गया है। साथ में प्रत्येक योग (molecule) के बनते समय प्रत्येक अणु के रचना के स्वरूप में भी किसी प्रकार के परिवर्तन का निषेध किया गया है और उसे तीनों कालों में कलाविहीन बताया गया है। 'पर' रूप से पञ्चावर्त की 'परा' प्रकृति और 'अवर' रूप से अणु के पदार्थ की आठ प्रकार की अपरा प्रकृति बनती है। स वृक्षकालाकृतिभिः परो ऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्तते ऽयम्।

चर्मावहं पापनुदं भगैशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ (6)

इस मन्त्र का अन्वय निम्न प्रकार बनता है —

स अन्यः वृक्षकालाकृतिभिः परः यस्मात् अयम् प्रपञ्चः

परिवर्तते। तस्मात् आत्मस्थम् चर्मावहम् पापनुदम् भगैशम् ज्ञात्वा अमृतम् विश्वधामं (प्राप्ति)।

इसका अर्थ निम्न प्रकार बनता है — (इसमें प्रकृति के परा तथा अपरा रूप का ग्रहण बताया गया है) वह अन्य (जो इस अणु के दिखाई देने वाले स्वरूप से भिन्न परा रूप में परा प्रकृति स्थित है, परा का जो मृत के प्रवाह के द्वारा बना पञ्चावर्त है

और उस पञ्चावर्त में स्थित मृत की पिण्डी का बना 'रुद्र' का 'पर' रूप है।) वह वृक्ष की कालाकृतियों के द्वारा बना 'पर' रूप है, जिससे यह अणु के सप्त लोको में बना पदार्थ का प्रपञ्च अथवा पञ्च महाभूतों के द्वारा बना

‘अपरा’ प्रकृति की सृष्टि का सारा प्रयत्न अपने सृजन, स्थापन, प्रलय के चक्र में घूम रहा है। आत्मा में स्थित, सभी धर्मों को वहन करने वाले, पापों को नष्ट करने वाले, सभी प्रकार के ऐश्वर्य और सभी प्रकार की सम्पदाओं को प्रदान करने वाले ‘भग’ देवता के स्वामी उस ईशान के रूप सद्रूप को जानकर (ज्ञानी) उस सारे स्वरूपों के आधार भूत मूलतत्त्व-सुद्ब्रह्म-के अमृत परम धाम को जाता है।

व्याख्या = स अन्यः वृक्षकालाकृतिभः परः = वह ‘पर’ रूप को धारण करने वाला तो कोई अन्य ही है जिसने वृक्ष की जैसी कालाकृतियों के द्वारा यह दिखाई देने वाला रूप धारण कर रखा है। अर्थात् इस संसार का पदार्थ वाला रूप जो अणुओं की रचना के द्वारा बना हुआ है और जो हमें दिखाई दे रहा है, यह सारा मिथ्या रूप है। यह वृक्ष की कालाकृतियों के द्वारा बना अणु (Atom) का स्वरूप है, जो पदार्थ के रूप में हमें दिखाई देता है। उससे भिन्न वह अन्य श्रुत को धाराओं के द्वारा बना पञ्चावर्त का ‘पर’ रूप है जिसमें श्रुत सद्यन्, गहन तथा गम्भीर हो कर ‘पर’ रूप बनाता हुआ गीतमान है। इस पञ्चावर्त में भी श्रुत को सद्यन् पिण्डी में पहले रुद्र का ‘पर’ रूप बनता है, फिर उसमें श्रुत को और नई बनी धाराओं के द्वारा पञ्चावर्त का स्वरूप बनता है। उस पञ्चावर्त के स्वरूप में केन्द्र में विष्णु का स्वरूप बन कर रुद्र के सद्यन् रूप से घिरा हुआ रहता है। विष्णु के केन्द्र बिन्दु से विष्णु के रेत की श्रुत की धारा प्रस्फुटित हो कर निकलती है जो रुद्र की ईशानी श्रुत की धारा के साथ मिलकर पोषण करने की अतिरिक्त ऊर्जा के प्रवाह को ग्रहण कर लेती है। रुद्र को यह रूप ईशानी रोश्म तपः लौक में सीवृ की ‘सव’ शक्ति की धारा बन कर सप्ताधियों के सप्त चक्र का निर्माण करके ऊर्जा के पुर्ण ‘सप्त’ नाम के अक्षर की रचना कर देती है। यही ‘सप्त’ नाम का अक्षर आगे चलकर सभी लौकों के देवों की तथा पुरुष की रचना करता है। सप्त प्रथम इस ‘सप्त’ की रूप धारा से रुद्र की रूप ईशान रोश्म बनती है। विष्णु के चारों ओर सहस्र ईशान रोश्मियाँ सहस्र अक्षरों के शीर्षों सहस्र अक्षरों

पर चलती है। उससे पश्चात् सब अक्ष की कला पर चलता हुआ वह अक्ष सहस्र पादों में बंट जाता है। उससे पश्चात् सब पाद का अक्ष चलता हुआ दशांगुल रूप के दश पथों पर चलने लग जाता है। इस प्रकार विष्णु के चारों ओर के सारी वहाँ तक की भूमि पर छा कर जहाँ तक अब यह पहुँच जाता है, यह अतीत रूप से रुक जाता है। इस 'सप्त' नाम के अक्ष के वहाँ अतीत रूप से रुकने पर ऋत का प्रवाह भी वहाँ अतीत रूप से रुक जाता है और दश बिन्दुओं पर ऋत का सचन, गहन, गम्भीर रूप बना कर आर्द्र रूप के दश मौलिक अर्थों का रूप बना देता है। इस प्रकार उस पुरुष की रचना के चारों ओर मौलिक अर्थों के आवरण का बना सब 'पुर्' बन जाता है। उस दशमौलिक अर्थों के ऋत के प्रवाह के निरन्तर बने रहने के कारण सब के बाद सब कड़ी बनती हुई - पाँच कड़ियों के जुड़ी हुई पञ्चप्राणों में 'अदिति' नाम की देवमाता बनती है जो 'क' कणों के चारा के छोड़ती हुई अपने पुत्रों के जन्म देती है। आठ 'क' कणों के सब श्रृंखला छोड़ने के उपरान्त यह दूसरे आठ 'क' कणों के श्रृंखला छोड़ती है। पहले आठ 'क' कणों के श्रृंखला के 'क' कण सात तो सप्तपरावृत में संयोजित होते हैं और आठवाँ उस सप्तपरावृत से बाहर केवल दिया जाता है। सब-सब करके जब आठों 'क' कण पहली श्रृंखला के बाहर आ जाते हैं तो वे अष्टापरावृत बना कर संयोजित हो जाते हैं और दूसरी श्रृंखला के आठ 'क' कण नये रूप से उस सप्तपरावृत के पूर्व जैसी आवृत्ति में समायोजित हो जाते हैं, जिनमें सात तो सप्तपरावृत के अन्दर और सब बाहर केका हुआ रहता है। इस प्रकार सोलह 'क' कणों के संयोजन से बने सप्तपरावृत तथा अष्टापरावृत के द्वारा जो सब 'क' कण के द्वारा बने धुरे के द्वारा जुड़े रहते हैं - सब "अश्विनो" का स्वरूप बन जाता है। 'अश्विनो' के अश्वों द्वारा आवर्त बना कर फिर षड् वृन्दारकों की रचना हो जाती है। षड् वृन्दारकों के प्रवाह से आगे त्रिवर्त्माओं का सप्तचक्र बन जाता है। त्रिवर्त्माओं के प्रवाह से आगे 'न', 'चि' तथा 'इत्' की रचना पूरी हो कर रुद्र के सब ईशान रूप पर ईशानी ऋत के चाराओं के प्रवाह के द्वारा नये-नये रचना के उपरोक्त संकल्पों के उदित करने से सब वृक्ष की सी कालावृत्ति बन जाती है। इसी के यहाँ 'वृक्षकालावृत्ति' कहा है। [पृष्ठ 676 पर बना चित्र देखें।]

इस वृक्ष की जैसी आकृति को कालाकृति इस कारण कहा है कि यह रुद्र की ईशानी मृत की चारा के प्रवाह की गति के कारण बनता है। जहाँ पर प्रवाह की गति है और जैसे-जैसे संकल्पों के उदय का दिग्ग और उनके विलय की रात्रि विद्यमान है। इन अहोरात्रि के संयोजनों से संवत्सर का प्रवाह बन जाता है जिसका सम्बन्ध काल से बन जाता है। किस काल में किस स्थान पर मृत के किस अंश का प्रवाह विद्यमान था और उसमें किस प्रकार का संकल्प उद्भूत था जिससे किस अवयव की रचना का स्वरूप बन रहा था। इस प्रकार काल के द्वारा निर्धारित होने वाली इस आकृति का नाम 'कालाकृति' दिया गया। जिस प्रकार रुद्र वृक्ष में रुद्र तने का रुद्र शीर्ष रुद्र अक्ष पर ऊपर उठता है और उसमें फिर अनेक पाद (शाखाएँ) बन जाती हैं, फिर उन शाखाओं में अँगुलियों जैसी पतली-पतली ठहिनियाँ बन जाती हैं। उसके बाद ठहिनियों में से आगे प्रवाह के द्वारा पत्ते बन जाते हैं और पत्तों पर जा कर वह प्रवाह अति रूप से रुद्र जाता है तथा वे पत्ते उस वृक्ष के ऊपर की भूमि पर छा कर उसे ढक लेते हैं, इसी प्रकार पुरुष का स्वरूप भी पहले विष्णु के चारों ओर सहस्र शीर्षों में सहस्र अक्षों पर ईशानी मृत की चाराओं के प्रवाह में 'सप्त' नाम के अक्षों के शीर्ष के रूप में चलता है। आगे सहस्र पादों में प्रत्येक शीर्ष का अक्ष विभाजित हो जाता है और फिर रुद्र पाद की दश अँगुलियाँ बन जाती हैं। प्रत्येक अँगुली के रूप में पत्तों के समान मौलिक अर्थ मृत के प्रवाह के अति रूप से ठहरने के कारण बन जाते हैं। आगे भी सभी आकृतियों इन्हीं मौलिक अर्थों से बन जाती हैं और इनकी आकृति रुद्र वृक्ष जैसी बन जाती है। इसी वृक्ष जैसी अणु के रुद्र और के रुद्र भाग की आकृति को वृक्षकालाकृति कहा है। जिसका मूल का भाग जड़ और तना तथा शाखाएँ तो मृत के प्रवाह की ईशानी मृत की चाराओं के द्वारा बना हुआ है जो मृत रचना के पूर्व के भाग मृत द्वारा बनता है। उसके पश्चात् उत्तर का भाग मौलिक अर्थों के पदार्थ से बनता है। इस कारण इस वृक्ष के लिए "ऊर्ध्वमूलमधः शारवं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गीता 15,1) अर्थात् 'ऊर्ध्व-ऊपर का रूप जो मृत का है, उस मृत की चारा के द्वारा तो इस वृक्ष का मूल बना हुआ है।

‘पुरुष’ के सहस्र शीर्षों में सहस्र अक्षों पर सप्त नाम के अक्ष की गति के शीर्ष के द्वारा एक ईशान रश्मि की श्रुत की चारा का रुद्र के ऊपर का ऊर्ध्व रूप बनता है, वह इस वृक्ष का गुला बनता है। उस एक ईशान की चारा के अक्ष के आगे सहस्र पादों का सहस्र शाखाओं में चलने का उसी ‘सप्त’ नाम के अक्ष पर स्थित अर्जा के पुञ्ज का ईशान की अर्जा के पूर्व रूप से नीचे का रूप (अधः शारवम् अववत्थम्) ‘दश मौलिक अर्थों की अपरा’ प्रकृति के द्रव्य का बनता है। इसमें जो ‘पुरुष’ का रूप बनता है, उस रूप को ‘अव्यय’ कहा जाता है। क्योंकि ‘पुरुष’ का रूप ही ‘आत्मा’ का ‘अव्यय’ रूप होता है।

आगे इस वृक्ष के विषय में कहा है कि, “छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।” — इस वृक्ष के पत्ते छन्द के हैं। छन्दों के विषय में यजुर्वेद में — “माचछन्दः, प्रमाचछन्दः, प्रतिमाचछन्दः” (यजुर्वेद-14, 18) कहा गया है। यहाँ मा, प्रमा, प्रतिमा, ये तीन शब्द छन्दों के साथ विशेषण के रूप में आये हैं। ‘मा’ का अर्थ पदार्थ (matter) होता है, ‘प्रमा’ का अर्थ मापने की इकाई की मात्रा (The quantity measured) द्वारा मापी गई पदार्थ की मात्रा होता है तथा ‘प्रतिमा’ का अर्थ किसी निर्धारित रूप की आवृत्ति के कारण किन्हीं हुए कोई अर्थपिण्ड का रूप (The model) होता है। अतः इनकी ओमव्यक्ति के नाद के उत्पन्न करने वाला मौलिक अर्थों की चारा का प्रवाह ‘छन्द’ नाम से कहा जाता है। इसी कारण इस पुरुष की आवृत्ति के वृक्ष पर दशांगुल रूप की शाखाओं पर जो मौलिक अर्थों के रूप बनते हैं तो उनसे प्रवाह से आगे के ‘व’ वगैरह के पदार्थ के संयोजनों से ‘माचछन्दः’, ‘प्रमाचछन्दः’, ‘प्रतिमाचछन्दः’ के रूप में अश्विनी, वृन्दारव, त्रिवर्त्मा, ज, चिन्म, इत् आदि पत्तों की रचना हो जाती है। इसी कारण यहाँ “छन्दांसि यस्य पर्णानि” — अर्थात् छन्द जिसके पत्ते हैं — कहा गया है।

“व आसीत् प्रमा प्रतिमा” — (ऋग्वेद-10, 130, 3) में भी दशमौलिक अर्थों से बने ‘व’ वगैरह को किसी भी प्रतिमा के पदार्थ की मौलिक इकाई के पदार्थ के रूप में एक मात्रा (the quantity) के रूप में बताया गया है।

इस प्रकार के वृक्ष की आलायति विष्णु के सब और चलने वाले सब ईशान नाम के पुरुष के सब शीर्ष पर बताई गई है। परन्तु ऐसी-आकृतियों उस विष्णु के चारों ओर स्थित सभी सहस्र शीर्षों पर बनती हैं और उस विष्णु के सभी ओर अपनी रचना के आयाम के व्योम में आवर्तित हो कर ये सब सब पूर्ण अणु की रचना करती हैं। इसी कारण आगे इस वृक्ष के विषय में गीता में कहा है

अधश्चोर्ध्वम् प्रसृतास्तस्य शारवा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ॥ (गीता-15-2)

अधः च ऊर्ध्वम् प्रसृताः तस्य शारवा = नीचे और ऊपर सर्वत्र उसकी शारवायें फैली हुई हैं। अर्थात् अणु की रचना में सप्तलोकों का जो सब केन्द्र विष्णु बनता है, उस विष्णु के सभी ओर के स्थित व्योम में इस वृक्ष की शारवायें फैली हुई हैं। अर्थात् जो 'पुरुष', जो सहस्र शीर्षों में सहस्र अक्षों पर शारवायें निकलती हैं, वे उस विष्णु के सभी ओर के व्योम में फैल कर स्थित होती हैं। ऊपर नीचे सभी ओर वे शीर्ष अपने तत्सम्बन्धी अक्षों पर निकले होते हैं, परन्तु उनके कुल संख्या मिला कर सब हजार हो बनती हैं।

तस्य प्रसृताः शारवा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः (च) =

उस वृक्ष की फैली हुई शारवायें उदित संकल्पों के द्वारा धारित विशेष गुणों के प्रयत्न से बढ़ने वाली होती हैं और विशेष प्रकार के भावों को निर्मित करके तत्सम्बन्धी विषयों को कोमल कलियों बन जाती हैं। अर्थात् जो पीछे इसी अध्याय के चौथे मन्त्र में, "आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि भावाश्च सर्वान् विनियोजयेत्" में बताया गया है, उसी के अनुसार ये शारवायें गुणों को अन्वित करती हुई बढ़ती चली जाती हैं और सारे भावों को अपने अन्दर विनियोजित कर लेती हैं। उन भावों को आवृद्ध करने वाले जो मौलिक अक्ष बनते हैं, वे ही विषयों की प्रकृति की कच्ची कोपलें होती हैं।

अधः च मूलानि अनुसंततानि = मौलिक अक्षों की विषयों की प्रकृति को आवृद्ध करने वाली इसी ऋतु से नीचे की कोटि की स्थूल पदार्थों की रचनाओं के द्वारा पुनः उनके आगे की निरन्तर

पैदा होकर बनने वाली रचनाओं उससे चारों ओर के लोको में व्याप्त हो जाती है और दशमौलिक अर्थों की रचना उनका मूल कारण पैदा होने का बन जाती है। पदार्थों में अथः रूप की रचनाओं किस प्रकार की

विशेषता को चारण किये हुए होती है और व्यापक प्रदान करती है ? इससे विषय में अगले भाग में बताया गया है । —

कर्म अनुबन्धीनि = पदार्थों में अथः रूप की रचनाओं जब गुणों को आवृत्त करके विशेष प्रकार के भावों को विनिर्गोहित करके किसी विशेष प्रकार के विषय के कर्म को उनमें रचना कर देती है तो उससे पश्चात् पूर्ण अणु उन गुण चर्मों के अनुसार किसी विशेष प्रकार के कर्मों को करना प्रारम्भ कर देता है । [आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि] उन विशेष प्रकार के कर्मों को प्रवृत्ति को अपने पीछे लाये जाने वाली में अणु में पदार्थों में अथः रूप की रचनाओं होती है ।

अनुबन्धीनि मनुष्य लोके = मनुष्य को भी इस लोक में अपने पीछे लाये कर रखती है । अथः रूप के पदार्थों में रजःको की रचना का अन्तिम रूप भूः लोक में जाकर जल रूप में पूरा होता है । पालित, अश्न, धृतपृष्ठ इन तीनों नामचक्रों की तीनों माताओं को और तीनों पिताओं को चारण करता हुआ जल रूप सब से ऊपर भूः लोक में स्थित होता है और उन तीनों माताओं से विभिन्न प्रकार के देवों के द्वारा जो सृजन धर्म खला बनती आती है, उन सारे स्वरूपों को अपने अन्दर अवगलापित (गला कर हضم) करके अपने स्वरूप को बनाता है । [तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् तिस्रो देवैर्गुणैर्ध्वस्तस्थौ न ईम् अत्र गन्ताप्यन्ति । (सृग्वेद - 1, 164, 10)] उस 'न' गुण की रचना के उपरान्त नीचकेतामिन् का स्वरूप बन कर अणु का रूप पूरा हो जाता है ।

अणु के रूप की रचना में सृष्ट के अर्ध रूप की रचना के द्वारा पहले पञ्चावर्त की रचना होती है, इसके पश्चात् सृष्ट के अथः रूप की रचना के द्वारा उस पञ्चावर्त के ऊपर सप्तचक्रों की

सप्त लौक्यों को पदार्थीय अधः रूप की रचना होती है। अतः इस अधः रूप की रचना में पञ्चावर्त के पाँचों आवर्तों का तथा पदार्थीय रचना के सातों लौक्यों का स्वरूप निहित होता है।

पञ्चावर्त की रचना का स्वरूप केन्द्र में बने विष्णु (अ) का विस्तारित विराट रूप होता है अतः 'अ' के दीर्घ रूप 'आ' से इसे सम्बोधित किया जाता है। इसी कारण इसको स्वरूप को 'आ' का वर्तन बताने के लिए 'आवर्त' कहा जाता है। इसी 'आ' के तन्वन् के ताने बाने से बना रुक् बड़ा आवर्त बनता है, जिसमें बहुत से पञ्चावर्त समाहित होते हैं। इस बड़े, रुक् व्योम के आग्राम में परिमित बंधे हुए ऋत के बड़े आवर्त को ही 'आत्मा' कहा जाता है। 'आ' = आवर्त, त् = तन्वन् से बना, मा = परिमित व्योम के आग्राम में बंधी मात्रा का बड़ा रूप ही आ + त् + मा = 'आत्मा' कहलाता है।

इस प्रकार ऋत के ऊर्ध्व रूप पञ्चावर्तों से 'आत्मा' का स्वरूप बनता है और ऋत के अधः रूप से पञ्चावर्तों के ऊपर पदार्थीय सप्तलौक्यों का रूप बनता है, जिस से पूर्ण अणु का स्वरूप बनता है और उन पूर्ण अणुओं से शरीर का बड़ा अर्धपिण्ड का स्वरूप बनता है, जिसमें पञ्चावर्तों के आवर्तों से मिल कर बनी बड़े आवर्त की आत्मा का भी वास होता है। इस प्रकार इस अधः पदार्थीय रचना के द्वारा मनुष्य अपनी जीवात्मा के साथ इस भौतिक शरीर के भूः लौक्य में बंध जाता है। यह अधः रूप की पदार्थीय रचना मनुष्य को अपने पीछे भूः लौक्य में बंधने वाली बन जाती है। अतः यह पञ्चावर्त 'आत्मस्थम्' कहा है।

गीता के पूर्वश्लोक में इस वृक्ष के विषय में जो, "ऊर्ध्वमूलम् अधः शारवम् अश्वत्थम् प्र आहुः अव्ययम्" (गीता-15-1) कहा गया है, उसमें इसे 'अव्ययम्' कह कर तो 'ऋत' के अविध्वंस्य रूप द्वारा निर्मित बताया गया है। 'प्र' का अर्थ 'प्रयत्न पूर्वक' है तथा 'अश्वत्थम्' शब्द के दो अर्थ बनते हैं, (1) 'अश्व' की प्रक्रिया पर आधार बना कर ऊपर उठ कर अपने स्वरूप में स्थित हुआ,

(2) पीपल का वृक्ष । इन दोनों अर्थों को एक ही अर्थ में समझाया करने पर अतः 'अश्वत्थम्' शब्द का अर्थ बनता है कि ऋतु के सात चक्रों के योग से बने एक सप्तचक्र की संज्ञित अर्थात् पुञ्ज (Quantum of energy of a seven hypercircle made of RTA) को जिसका नाम 'सप्त' नाम का 'अश्व' रखा गया है, जो सातों लोकों के बने एक चक्र को वहन करता है, [सप्त पुंलिंगित रथमेकचक्रमेवो अश्वो वहति सप्त नामा] (ऋग्वेद-1, 164, 1)] उस अश्व की प्रक्रिया को आधार बना कर, उस आधार पर ही तथा उसी अश्व की चलने की प्रक्रिया द्वारा ऊपर उठ कर खड़ा हुआ पीपल के वृक्ष की तरह का यह कालावृत्ति का वृक्ष ।

अतः "स वृक्षकालावृत्तिमि; परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्तते अग्रम्" की व्याख्या इस प्रकार बनती है कि जिस 'सप्त' नाम के अश्व के आधार पर उस अश्व के चलने की प्रक्रिया द्वारा उठ कर बनी हुई पीपल के वृक्ष जैसी आकृतियों के द्वारा जो यह पञ्चमहामूर्तियों के द्वारा सृष्टि के सृजन् का यह प्रपञ्च (सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या) द्युमता रहता है, उस पदार्थीय रचना से भिन्न वह कोई अन्य है, जिसका यह ऋतु के सञ्च का 'पर' रूप बना हुआ है । यह 'पर' रूप को एकलिंग पर ऋतु को उसकी स्वप्ना के साथ लाकर बनी ऋतु के सधन सञ्च की पिण्डी ही महादेव 'रुद्र' का रूप कहलाती है । इस रुद्र की ऋतु के सधन सञ्च की पिण्डी के अन्दर ही पञ्चावर्ती का स्वरूप और जीवात्मा का स्वरूप बनता है । अतः वह अन्य 'पर' रूप की रचना और कोई न होकर केवल 'रुद्र' की ऋतु की पिण्डी का स्वरूप ही बनता है । उस रुद्र की उस 'पर' रूप की शीवत के द्वारा ही इस सृष्टि के पञ्चभौतिक प्रपञ्च का चक्र द्युमता है, जिसमें जन्म, स्थापन, मरण की अवस्थाएँ होती हैं । [यही अपरा तथा परा प्रकृतियों का वर्णन है] ।

इस कालावृत्ति के वृक्ष की शाखाओं को 'गुणप्रवृद्धा' गीता में पीछे दिये श्लोक में बता कर गुणों को अपने अन्दर अन्वित करते हुए प्रसरित हो कर बढ़ने वाली बताया गया है । इन गुणों के समायोजन से ही

कोई विशेष स्वभाव बन जाता है जिसके अनुसार वह पूरा अणु विशेष प्रकार के कर्म करता है। इन्हीं विशेष प्रकार के स्वभावों को चारण करने को 'धर्म' कहा जाता है। इनके अनुसार कोई भी अर्थापि उक्त स्वभावविषय रूप से आचरण करता है। जैसे कि अग्नि का धर्म जलाना, जल का धर्म गलाना, वायु का धर्म सुखाना है। इत्यादि।

ऐसे धर्मों को वहन करने वाला वह कालाकृति वाला वृक्ष बन जाता है। उस कालाकृति वाले वृक्ष को 'पापनुदम्' अर्थात् पापों को नष्ट करने वाला भी कहा है। व्यास ऋषि ने परीपत्राण को 'पुण्ड्र' तथा 'परपीडन' को 'पाप' कहा है। इस कालाकृति वृक्ष वाले स्वरूप में से जो ऋतु की धाराएँ निकलती हैं, वे दूसरी को व्यवस्था से विच्छेद डालने का कर्म नहीं करती हैं। दूसरी के धर्मों में विच्छेद उत्पन्न होने से उन्हें नष्ट होता है। यही परपीडन है। यही पाप है। वे ऋतु की धाराएँ जहाँ जिस माध्यम में जाती हैं, वहाँ उसी के अनुकूल अपनी शक्ति को गीत का स्वरूप बना लेती हैं। इससे उन माध्यमों के धर्मों के धर्मों में कोई विच्छेद नहीं होता है। साथ में यदि इन ऋतु की धाराओं में कोई ऐसा आवर्त उत्पन्न हुआ है, जो इनकी गीत में विच्छेद उत्पन्न कर रहा है, जिसने अपने पाप का फल मानती है, तो उस अनिष्ट आवर्त को ये अपनी अन्दर की शक्तियों का प्रयत्न करती हैं। तभी तो जोड़े पुन्सी शरीर में से मलदा बनें और स्वयमेव बाहर निकल जाते हैं और उनका समाज यम नियम आस बन कर वे दीव हो जाते हैं। वह पाप कुछ बल दे कर मिट जाता है। इस प्रकार ऋतु की धाराओं के अन्तः रूप से बना यह कालाकृति का वृक्ष पापों को नष्ट करने वाला बनता है। यह हमारे पापों को हमारी दूर करने का प्रयास करता है। उन्हें नष्ट करता है। अतः यह 'पापनुदम्' वृक्ष है, अर्थात् पापों को नष्ट करने वाला वृक्ष है।

पुराणों में इसी वृक्ष के अनुसार 'पीपल' को वृक्ष को देवता मान कर पूजनीय बताया गया है। इसी कारण पीपल के वृक्ष को जल देना देव पूजा का अंग माना गया है तथा पीपल के वृक्ष को पापों को नष्ट करने वाला वृक्ष कहा गया है। यह प्राण वायु का प्रसार तथा अश्व की ऊर्जा का प्रसार अत्यधिक रूप में करता है। इसी कालाकृति वाले वृक्ष को 'सिरोमणि' भी कहा गया है। 'सिरोमणि' का अर्थ है भगवन्ता को शासित करने वाला। 'सिरोमणि' देवता ऋग्वेद में वर्णित वह देवता है जो हमें सभी प्रकार के सिद्धार्थ तथा धन सम्पदाएँ प्रदान करता है। सभी प्रकार के कर्मों को नष्ट करने में प्रयत्न करता है। इन सब प्रकार के धर्म सम्पदाओं पर हमारे अर्थ पापों का स्वरूप विभिन्न

प्रकार के अणुओं के योग से बनता है। ये योग (molecule) के अणु (atom) अपने द्वारा चारित गुण, धर्म, स्वभावों के अनुसार बनते हैं। अतः इन गुण धर्म स्वभावों का तालमेल बिठा कर उनको प्रकार के अणुओं के विभिन्न प्रकार के योग बना कर जाना प्रकार की चन सम्प्रदाओं के स्वरूपों को प्रकट करने वाले देवता को 'भग' देवता कहा जाता है।

इस 'भग' देवता के कार्य का शासन अणुओं के द्वारा चारित गुण, धर्म, स्वभावों के अनुसार होता है। परन्तु अणुओं के ये गुण, धर्म तथा सभी स्वभाव उस आलापृति वाले वृक्ष की शाखा की वृद्धि में आवृद्ध होते हैं। अतः यह 'आलापृति' वाला वृक्ष उस 'भग' देवता के कार्य को भी शासित करने वाला बन जाता है। इस प्रकार वह इस 'भग' देवता का भी ईश बन कर "भगेश्वर" कहलाता है।

इस सारे आलापृति वाले वृक्ष के स्वरूप को जान कर ज्ञानी पुरुष जीवात्मा और शरीर के ग्रन्थन को समझ जाता है। अतः वह इस ग्रन्थन के बन्धन से छूटने का उपाय भी समझ जाता है। उस उपाय के अनुसार वह ज्ञानी कार्य करता हुआ इस सारे विश्व के आधार बनने वाले उस अमृत सद्-ब्रह्म के परम धाम को प्राप्त कर लेता है, जिसको प्राप्त करना प्रत्येक जीवात्मा का लक्ष्य माना गया है।

जिन-जिन संकल्पों के उदय से इस आलापृति वृक्ष की शाखाओं में जो जो वृक्ष आवर्त बना कर इसमें अन्तर गुणों को जोड़ते हुए इसकी शाखाओं की वृद्धि करते हैं, वे ही माया के आवरण बनते हैं जो अमृत के सत्य स्वरूप को ढक लेते हैं। अतः यदि उन संकल्पों के द्वारा बनने वाले आवर्तों का पूर्ण रूप से निरोध कर दिया जाये तो इस आलापृति वृक्ष की शाखाओं की वृद्धि रुक जाती है और पदार्थों की रचना का मिथ्या स्वरूप मिटने लग जाता है। आत्मा का स्वरूप पूर्ण रूप से इन संकल्पों के आवर्तों से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है और अन्त में सद्-ब्रह्म के उस अमृत स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

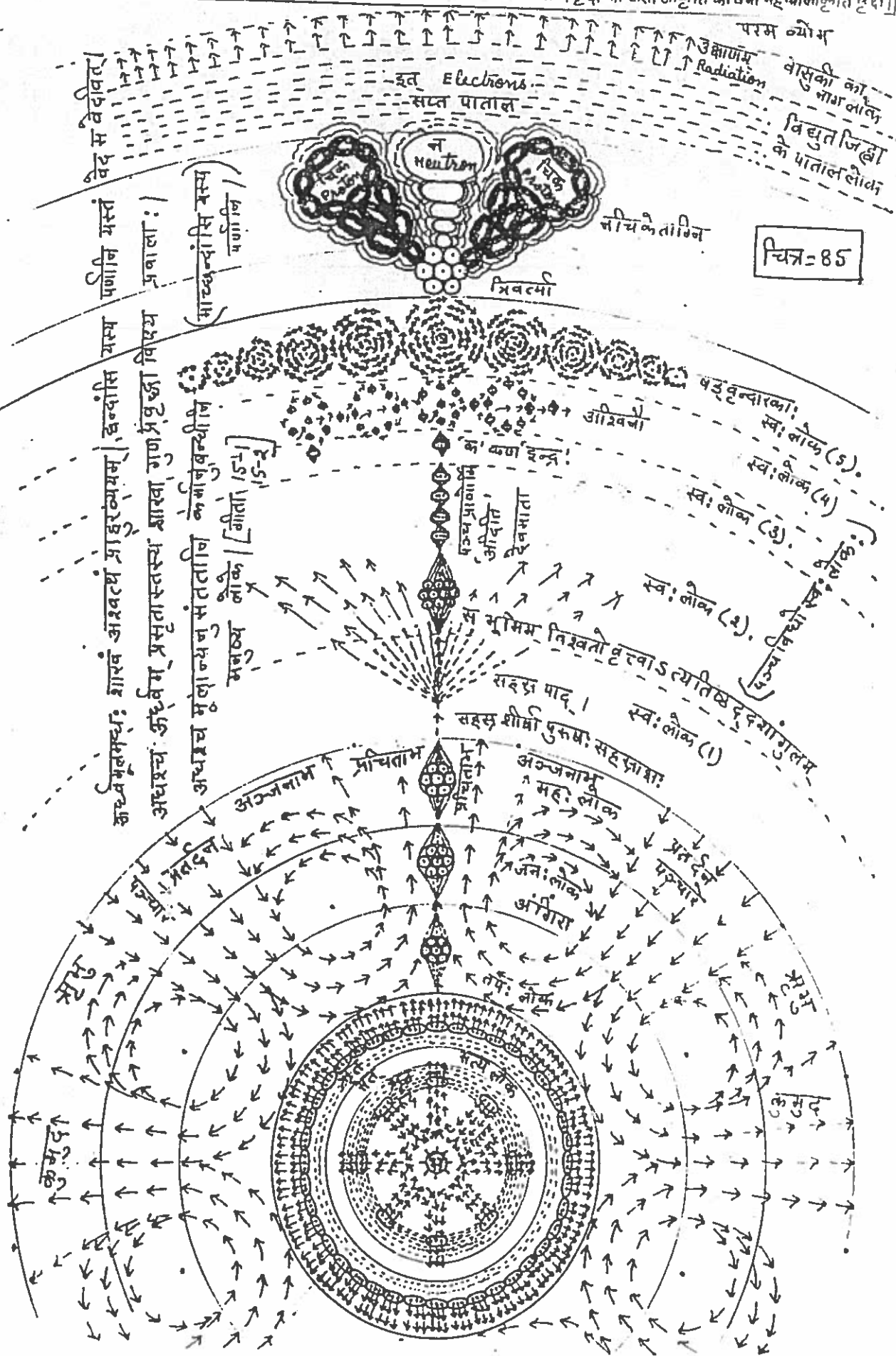
यही सद्-ब्रह्म का धाम इस सारे विश्व का वह धाम माना गया है जो कभी भी नहीं मरता है। वह सदैव अमर रहता है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता है। इसी कारण उसे 'अमृत' धाम कहा है। यह 'अमृत' सद्-ब्रह्म का स्वरूप ही बनता है।

अगले पृष्ठ पर इस आलापृति वाले वृक्ष के स्वरूप का चित्र देखें।

स वृक्षाकालावृत्तिभिः परौ ऽन्यौ यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्तते ऽग्रम् ।

चमावहम् पापजुद्धम् भगेशम् सात्वात्मस्थमगृह्णत विश्वधाम ॥ (6)

['परा' प्रकृति के ऊर्ध्वरूप तथा 'अपरा' प्रकृति के अधः रूप से बना पीपल के वृक्ष की ऐसी आकृति का बना यह काना कूता है।]



तमीश्वराणाम् परमम् महेश्वरम् तम् देवतानाम् परमम् च देवतम् ।
पतिम् पतीनाम् परमम् परस्ताद्भिदाम् देवम् भुवनेशमीड्यम् ॥ (7)

[पिछले मन्त्र, "स वृक्षकालाकृतिभिः परः अन्यः..." - मन्त्र में जो यह बताया गया था कि 'सप्त' नाम के अश्व की प्रक्रिया को आधार बना कर बने तथा सप्त लोकों के अन्दर खड़े, मूल तैले में ऋतु के ऊर्ध्व रूप ईशान के पुरुष द्वारा बने तथा शाखाओं, पत्तों में ऋतु के अधः रूप पदार्थीय मौलिक अर्थों के राजवर्णों (Mats-particles) द्वारा बने उस कालाकृति वाले पीपल जैसे वृक्षों के द्वारा बने भूतों के अणुओं के उस स्वरूप से जिससे द्वारा यह पञ्च-महाभूतों के द्वारा बना सृष्टि का भौतिक प्रपञ्च का सृजन, स्थापना तथा विनाश का चक्र घूम रहा है, उस अणु (Atom) के 'पर' रूप से भिन्न अन्य पर रूप 'पञ्चावर्त' का है। उस पञ्चावर्त के अर्जित बल के द्वारा ही अणु के अन्दर की सृष्टि के सप्त लोकों के स्वरूप में उस कालाकृति वाले वृक्षों के द्वारा इस पञ्चमहाभूतों की सृष्टि के प्रपञ्च का यह चक्र घूम रहा है। उस 'पञ्चावर्त' के उस 'पर' रूप को जानकर जो चर्मों का वहन करने वाला, पापों को नष्ट करने वाला और 'भग' देवता का भी स्वामी है, वह बाता योग की प्रक्रिया को अपना कर विनाश की प्रक्रिया के द्वारा [विनाशो न मृत्युं तीर्त्वा] किन-किन सारे अमृत स्वरूप चामों को प्राप्त करता है? यह इस मन्त्र में बताया जा रहा है]

[हम सब योगी साधक ऋषि योग की प्रक्रिया को अपना कर विनाश की प्रक्रिया के द्वारा पिछले मन्त्र के प्रसंगानुसार निम्न स्वरूपों के विश्वधार चामों को प्राप्त करते हैं - विदामः = विद् प्राप्तये ।]

"तम् ईश्वराणाम् परमम् महेश्वरम्..." = योगी साधक अपने सूक्ष्म शरीर के ऋतु के बड़े आवर्त को बनाने वाले अणुओं के पञ्चावर्तों का विनाश करके पहले ईश्वरों के सब से बड़े महान ईश्वर 'रुद्र' के उस ऋतु की पिण्डी के चाम को प्राप्त कर लेता है। उसके बाद देवताओं के सब से बड़े परम देवता देवाधिदेव 'रुद्र' के 'पर' रूप के स्वरूप के विश्वधार के चाम-ऋतु के क्षीरों के स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं जिस में 'विष्णु' का सब 'पर' रूपों से अधिक बड़ा 'पर' रूप विद्यमान है। [पहले रुद्र का 'पर' रूप बनता है फिर रुद्र के आलिंगन के बीच में विष्णु का और अधिक सच्चन, गहन पर रूप 'अ' स्थित होता है।

पृष्ठ (619) पर बना चित्र देखें जिसमें रुद्र के 'पर' रूप के अन्दर बना 'अ' का 'पर' रूप दिखाया गया है।]

'अ' = विष्णु आवरणों का देवता है। यह अपने रेत की ऊर्जा के बल द्वारा पंचों आवर्तों और सातों लोकों की रचना करता है और उन आवर्तों तथा लोकों में स्थित तत्सम्बन्धी देवीदेवताओं की रचना करता है। विष्णु स्वयं केन्द्र में स्थित होकर अच्युत रूप में बना रहता है और अपने चारों ओर सभी लोकों, देवताओं, भुवनों के आवरण बनाकर पूरी सृष्टि का सृजन कर डालता है और फिर उसकी स्थापना करते हुए उसका पालन भी उसी रेत की ऊर्जा की प्रीति द्वारा करता रहता है। अतः इसी विष्णु को नारायण अथवा सब से बड़ा देवताओं का भी देवता कहा जाता है। 'पर' रूप की शीघ्र विष्णु में सर्वाधिक होती है। इसी कारण वह सर्वाधिक शक्तिशाली रूप में सभी रचनाओं के केन्द्र में सभी के बलों को सहन करता हुआ 'अच्युत' रूप में स्थिर रहता है। अतः महेश्वर रुद्र के परम चाम को प्राप्त करने के उपरान्त विष्णु के क्षीर सागर के शान्ताकार विश्वाधार सब क्षीर के चाम को प्राप्त करते हैं। [जिस व्योम में जो स्वरूप विद्यमान होता है, वही व्योम उस स्वरूप का चाम होता है।] [तम-देवतानाम्-परमम्-च देवतम्-]

विश्व के चामों के उन पतियों (स्वामियों) के भी सब से बड़े पति विष्णु ('अ') के सब से अधिक सधन, गहन, गम्भीर अम्भ के 'पर' रूप के अच्युतस्वरूप को तथा सारे भुवनों के स्वामी, स्तुति करने योग्य उस विष्णुदेव के स्वरूप को हम ऋषि प्राप्त करते हैं, जो सब का आदिमूल देव का स्वरूप है, जो सगुण, साकार, अच्युत परम देव है। अतः यहाँ- " पतिम् पतीनाम् परमम् परस्तात् विदाम देवम् भुवनेशम् ईड्यम्- " कहा गया है। क्यों कि 'पर' रूप की स्थापना सब से पहले असत् के सब क्षीर में होती है। यह क्षीर तब बनता है जब 'सत्' अपने अन्दर सृष्टि को रचने की इच्छा का संकल्प अपने अन्दर उदित करता हुआ अपने सब रूप को अनेकों रूपों में क्षरण करके बाँटता है। वह अक्षर 'सत्' से क्षर असत् का रूप धारण कर लेता है। उस क्षर असत् के सब इकाई के सक्रिय अवयव को ही सब 'क्षीर' कहा जाता है। अतः सभी पतियों के पति का सब से बड़ा रूप सब क्षीर के केन्द्र में बैठा विष्णु का 'पर' रूप ही है। उस क्षीरत क्षीर में स्थित 'पर' रूप के उपरान्त तो विनाश की प्रीति में

देवताओं के पूर्व के युग में असत् से सत् उत्पन्न होने की ही स्थिति आती है। [“देवानाम् पूर्व्ये युगे ऽसत् : सदजायत ।” (ऋग्वेद-1-72-2)]

अतः परम्पर 'पर' रूप के देव के उपरान्त तो केवल 'सत्' का स्वरूप ही आता है। अतः अन्त में हम उस सद-ब्रह्म के विश्वधाम को प्राप्त करते हैं। 'विश्वधाम' यहाँ उस सद-ब्रह्म के धाम को इस कारण कहा है कि वह 'सद्' का स्वरूप सर्वत्र अनन्त सीमा तक विद्यमान है। अतः यह असौम्य अनन्त ब्रह्माण्ड सारा का सारा उस सद-ब्रह्म का ही धाम है। भुवनों का ईश भुवनेश तो विष्णु ही है। सारे देव जन्म में सदब्रह्म में ही विद्यमान होते हैं। वही सातों लोकों में बने भुवनों का स्वामी विष्णु जो सातों लोकों के केन्द्र में अच्युत बनकर बैठा है, स्तुति के योग्य है। सदब्रह्म का, "ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः" - यह मन्त्र भी सबसे बड़ा सर्वाधिक शक्तिशाली अमोघ माना गया है। सभी ऋषि इसी का जप करते हुए सद-ब्रह्म के परम धाम को प्राप्त करते हैं और सद-ब्रह्म में लीन होने के अपने जीवन यात्रा के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। सभी प्रकार की योग साधना, ज्ञान, भक्ति, तप, जप इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं। विष्णु के देव स्वरूप के उपरान्त इसी सदब्रह्म का स्वरूप अन्तिम स्वरूप के रूप में आता है। अतः यदि ईद-शासन धातु से 'ईदृशम्' शब्द सिद्ध किया जाये तो भुवनेश का शासन यह सद-ब्रह्म ही बनता है। विष्णु के स्वरूप के विषय में अगले मन्त्र में बताया जा रहा है। -

न तस्य कार्य करणम् च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥८॥
उस सद-ब्रह्म के असद् रूप में बदलने पर 'विष्णु' का रूप धारण करने के उपरान्त कार्य करने के लिए उसे न तो कोई साधन (करण) आवश्यक होता है और न ही श्रुत की पिण्डों के 'रुद्र' के केन्द्र में स्थित विष्णु के रेत की धाराओं के द्वारा बल अर्जित करने में उसके समान बल वाला या उससे अधिक बलवाला कोई भी देव दिखवाई देता है। श्रुत की पिण्डों में श्रुत का अति सघन, गहन, गम्भीर अम्भ का 'पर' रूप धारण करके अर्जित 'परा' शक्ति (Force acquired by getting highly intense at one point) इस विष्णु की श्रुतिग्रन्थों में, वेदों में विविध रूपों वाली सुनी जाती है। एक ही 'सद्' को इन विविध रूपों को धारण करने के उपरान्त विष्णु

बहुत प्रकार का कहते हैं। [“एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति” — (ऋग्वेद - 1-164-46)] कोई उसे अग्नि का रूप कहता है, कोई उसे ‘यम’ का रूप कहता है, कोई उसे मातृरश्वा कहता है। परन्तु विष्णु सब में होता है। विष्णु का रेत सद्-ब्रह्म में संकल्पों को उदित करके रुद्र को ‘ईशानी’ श्रुत की धाराओं में प्रवाहित होते हुए मौलिक अर्थों को आवच्छ करके जाना प्रकार के गुणों को अपने अन्दर गूँथने को क्षमता रखता है। उन गुणों को गूँथ कर (अन्वित करके) जाना प्रकार के भावों के समायोजन से एक स्वभाव को निर्मित करने की क्षमता भी उसमें होती है। इसी स्वभाव से नियन्त्रित होकर इसके द्वारा निर्मित अर्ध पिण्ड अपना कार्य करता रहता है। विष्णु(अ) की इस स्वभाव निर्माण की ‘परा’ शक्ति को “स्वभाविकी-परा शक्ति” कहा जाता है।

विष्णु द्वारा जो संकल्प रुद्र को ‘ईशानी’ श्रुत की धारा में उदित होकर मौलिक अर्थों में आवच्छ हो जाते हैं, वे अपने संकल्प की स्थायी छाप उन मौलिक अर्थों के द्वारा उन मौलिक अर्थों से बने अर्ध पिण्ड में बना देते हैं। संकल्पों को चेतना को इस स्थायी छाप को, जिसे विवेचनात्मक बुद्धि द्वारा प्राणी समझ लेता है, ‘ज्ञान’ कहा जाता है। अतः इस सद् ब्रह्म के ‘पर’ रूप ‘विष्णु’ की इस पराशक्ति को ‘ज्ञान’ की परा शक्ति कहा जाता है।

असत् के क्षीरों के प्रवाह को अवच्छ करके जो श्रुत की पोटली एक पिण्ड के रूप में सघन रूप में बंध कर बन जाती है और उसमें श्रुत का प्रवाह श्रुत को अपने अन्दर समाहित करने का निरन्तर बना रहता है तो उससे रुद्र को पिण्ड में श्रुत की सघनता का दबाव केन्द्र ‘अ’ में बहुत अधिक बढ़ जाता है। जितना अधिक दबाव उसके अन्दर बढ़ जाता है तो उतने ही अधिक बल से वह रुद्र की श्रुत की पिण्ड अपने अन्दर से विष्णु के रेत को अपने तीन अक्षों के छिद्रों द्वारा बाहर फेंकती है, जिससे श्रुत के प्रवाह के बल को चारण किये हुए उसको ‘ईशानी’ श्रुत की धारायें बन जाती हैं। अतः इस श्रुत के ‘पर’ रूप विष्णु की ‘परा’ शक्ति के इस रूप को ‘बल की पराशक्ति’ कहा जाता है। रुद्र के बल को ‘उ’ के द्वारा वेदों में बताया है।

विष्णु के रेत से रुद्र की ‘ईशानी’ श्रुत की धारा बल को चारण करके अपने प्रवाह के पथ पर चलती है तो स्थान-स्थान पर उसमें अलग अलग कालावीध में अलग-अलग प्रकार के संकल्प उदित होते हैं। उन संकल्पों को मौलिक अर्थों में

आबद्ध करके उनके राजयोगों के स्वभाव के अनुसार वह सृष्टि सृजन, स्थापना तथा विनाश की क्रिया करती है। अतः 'रुद्र' की ऋतु की पिण्डी में विष्णु की 'पर' रूप की इस 'परा' शक्ति का नाम "क्रिया परा शक्ति" कहा जाता है। इस प्रकार सद्-ब्रह्म से अवतरित होकर विष्णु के रूप में बने इस विष्णु देव की - "स्वाभाविकी परा शक्ति", "ज्ञान परा शक्ति", "बल परा शक्ति" और "क्रिया परा शक्ति" नाम की विविध परा शक्तियाँ सुनी गई हैं। इन शक्तियों से वह स्वयमेव ही बिना किसी साधन के अपना कार्य करता रहता है। उसकी इन परा शक्तियों में अन्य कोई न तो उसके समान है और न ही उससे कोई अधिक है। सभी देव उसकी परा शक्ति से कम हैं। ये सभी परा शक्तियाँ रुद्र की ऋतु की पिण्डी के केन्द्र में स्थित विष्णु की ही होती हैं। विष्णु जब अपने रेत को बाहर फैकता है तो वह रेत रुद्र के अन्दर से गुजरते समय उस रुद्र की ईशानी ऋतु की धाराओं के प्रवाह के साथ मिल जाता है। इस प्रकार विष्णु के रेत में रुद्र की ईशानी ऋतु की धाराओं के प्रवाह के मिलने से उस 'विष्णु' की परा शक्ति सब से अधिक हो जाती है। यद्यपि यह रुद्र की ईशानी ऋतु की धारा के साथ मिल कर सारे कार्य करती है, और कई बार यह अभावश रुद्र की ही परा शक्ति जैसी जान पड़ती है, परन्तु वास्तव में यह विष्णु की ही परा शक्ति होती है। यह विष्णु की परा शक्ति ही रुद्र की ऋतु की पिण्डी में रुद्र (क्षिद्र) करके ईशानी ऋतु की धाराओं को अपने रेत के बल से प्रवाहित करती है और उनको बल प्रदान करती है। ऋतु की पिण्डी में रुद्र का स्वरूप ऊपर होता है तथा केन्द्र में विष्णु का स्वरूप होता है। ऋतु की पिण्डी के केन्द्र में ऋतु की सद्यनता ऊपर की अपेक्षा अधिक होती है। अतः केन्द्र में ऋतु की सद्यनता अधिक होने के कारण विष्णु की परा शक्ति तुलना में अधिक होती है और रुद्र की कम होती है। अतः सर्वाधिक परा शक्ति के रूप में यहाँ ये विष्णु की ही परा शक्तियाँ बताई गई हैं।

इसी विष्णु देव के विषय में अगले मन्त्र में बताया जा रहा है।

न तस्य कश्चित् पीतरस्ति लोके न चेक्षिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणम् करणाधिपाधिपौ न चास्य कश्चिज्जानिता न चाधिपः ॥ (9)

[उस विष्णु देव की पराशक्ति सर्वाधिक होने के कारण] न तो उस (विष्णु) का इस बैकुण्ठ लोक में या उस विष्णु के सत्य लोक में कोई निगमना करने वाला तथा शोषित करने वाला स्वामी है और न कोई इसका लिङ्ग है। लिङ्ग का अर्थ यहाँ पर पुल्लिंग, स्त्रीलिंग अथवा नपुंसकलिंग में से किसी एक लिंग में होने से है। यह इन में से किसी भी एक लिंग में बँध कर नहीं रहता है, अपितु सभी लिंगों में विद्यमान रहता है। जिस लिंग के अर्धपिण्ड के शरीर को अणु (Atom) बनाते हैं, यह उन अणुओं के केन्द्रों में अच्युत रूप में रहता हुआ उसी लिङ्ग को प्रकट करने लग जाता है।

[नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाग्रं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्षयते ॥ (श्वेताश्वतर उपाधिषद् 5-10)]

इस प्रकार विष्णु देव लिङ्गों को बनावे वाला है, जैसा चाहे वैसा लिङ्ग बना देता है और उसका आवरण अपने ऊपर चढ़ा कर उससे रक्षित रहता है। अतः इस विष्णु का अपना कोई लिङ्ग नहीं है। पौराणिक कथाओं में इसी कारण विष्णु देव कहीं पर तो विश्वमोहिनी अत्यन्त सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लेते हैं और कहीं पर चतुर्धारी वीर पुरुष का रूप धारण कर लेते हैं कहीं पर सद्-ब्रह्म का स्वरूप बन कर नपुंसक लिंगी बन जाते हैं। अतः इनका अपना कोई एक विशेष लिंग नहीं है।

इस सृष्टि सृजन में पुरुष, अणु, अणु के अन्दर स्थित अन्य अवयव दशमौलिक अर्थ, 'क' कण, वैश्वानराग्नि आदि जो सब कारण बनते हैं, वह उन कारण बनने वाले साधनों के स्वामियों का भी स्वामी है। अर्थात् सृष्टि के आदि स्वरूप में सर्वप्रथम एक क्षीर के केन्द्र में विष्णु का ही अवतरण सद्-ब्रह्म प्रथम होता है। 'विष्णु' उस सत् की स्वधा को अपने स्थान के बिन्दु पर खींच कर लाता है और अच्युत रूप में रह कर अपना 'पर' रूप धारण करता है। 'पर' रूप धारण करने के उपरान्त ही वह विविध प्रकार की पीछे बताई गई पराशक्तियों को अर्जित करता है। इस प्रकार वह विष्णु देव सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में कारण

बनने में सबसे पहले रहता है। कारण बनने के उपरान्त सृष्टि - सृजन के उपकरणों के साधन जुटाने में उन साधनों के जो स्वामी हैं, उन स्वामियों का भी स्वामी वह विष्णु देव स्वयं बनता है। उसकी विविध प्रकार की पराशक्तियों ही उसके सर्वसमर्थ साधन बन जाते हैं जिनके द्वारा वह सभी कार्यों को करने में समर्थ हो जाता है।

उस विष्णु देव का पैदा करने वाला माता पिता भी कोई नहीं है। जब भी सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उद्भूत होता है तो वह विष्णु देव उस सद्-ब्रह्म में स्वयमेव अवतरित हो जाते हैं। सद् जब अपने को बहुत रूपों में बाँट कर बहुत रूपों वाला होता है तो उसके प्रत्येक रूप के केन्द्र में अच्युत रूप में विष्णु देव विराजमान होता है। उस विष्णु देव की अच्युत रूप में केन्द्र में सन्ता बने बिना कोई भी देव अपने स्वरूप को इस सृष्टि में धौतित नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक स्वरूप के केन्द्र में सर्वप्रथम विष्णु ही सद् के स्वरूप से अवतरित होकर अपना रूप धारण करते हैं। इस प्रकार उनका कोई भी पैदा करने वाला नहीं बनता है, अपितु विष्णु देव स्वयं अवतरित होकर सब को पैदा करने वाले स्वयं बनते हैं।

जब इसका कोई पैदा करने वाला ही नहीं होता है, न ही पराशक्ति में इसके समान या इससे अधिष्ठ शक्ति वाला कोई होता है, तो इसका स्वामी भी कोई नहीं बन पाता। उसके विपरीत विष्णु देव ही सबके स्वामी बन जाते हैं। क्योंकि विष्णु ही सब का सृजक, सब का पालक और सब का संहारक बनता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का समावेश विष्णु देव के रूप में समाहित हो जाता है। अतः विष्णु देव का कोई भी स्वामी नहीं बन पाता है।

वह विष्णु देव सभी स्वरूपों के केन्द्र में अच्युत रूप में स्थापित होकर किस प्रकार उन देवों का सृजन करता है और उनको किस प्रकार उनके तत्सम्बन्धी लोको में स्थापित करता है? किस प्रकार उन सारे देवों का पोषण करता है और अन्त में किस प्रकार उनका संहार करता है? यह प्रक्रिया अगले मन्त्र में बताई जा रही है। —

प्रस्तन्तुनाम इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो ।

देव रुक्मः स्वमावृणोत् । स जो दधाद् ब्रह्मा व्ययम् ॥ 10

प्रधानजैः = प्रधान तत्त्व सद्-ब्रह्म से उत्पन्न हुए असत् के क्षीरों, क्षीरों से बने सप्तचक्रों (सप्तर्षि तथा सप्तनामा अश्वों), पञ्चावर्तों, पञ्चावर्तों के ऊपर बने सप्तलोकों तथा उनमें स्थित देवलोकियों के क्रमिक सृजन से बने तन्तुओं के आवरणों के द्वारा । प्रधान तत्त्व सद्-ब्रह्म से जन्मे आवरणों के द्वारा ।

स्वभावतः = स्वाभाविक रूप से, अथवा अपने विशेष गुण धर्मों के द्वारा बने स्वभाव के कारण । [आवरणों में अपने आप को लपेटना विष्णु देव का विशेष स्वभाव है ।]

यः देवः रुक्मः = जो रुक्म विष्णु देव । [व्यों कि विष्णु ही आवरणों का देवता कहलाता है और रुक्म अकेला ही सभी लोकों के आवरणों को अपने ऊपर लपेटता है ।]

स्वम् आवृणोत् = स्वयम् अपने आप को अपने द्वारा बनाये गये आवरणों के द्वारा ढक लेता है ।

तन्तुनाम इव तन्तुभिः = जैसे कि रुक्म मक्खड़ी अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए जाले के तन्तुओं के द्वारा बने आवरणों से अपने आप को ढक लेती है ।

सः = वह आवरणों से युक्त विष्णु का रूप ।

अयम् ब्रह्मा नः अपि = इस ब्रह्मा और 'न' कण (Neutron) (गणेश) का स्वरूप भी ।

दधात् = धारण कर लेता है ।

प्रधान तत्त्व तो सद्-ब्रह्म ही माना गया है जो निर्गुण, निराकार और शान्त तथा सर्वव्यापी, अनन्त है । उस प्रधान तत्त्व में जब सृष्टि सृजन की इच्छा उत्पन्न होती है तो वह विकारी असत् का रूप धारण कर लेता है और क्षर कर अनेकों क्षीरों में बंट जाता है । वह रुक्म से अनेक रूपों में बंट जाता है । क्षीरों के गतिमान होने पर वह 'ऋत' का रूप धारण कर लेता है । उसमें ऋत की धारा की अनेकों सिलिल बहने लग जाती हैं जिससे उसमें सात क्षीरों का रुक्म सप्तचक्र (seven hypercircle) बन जाता है । उन सप्तचक्रों की धाराओं से सप्तनामा अश्व की गति ऊर्जा के रुक्म पुञ्ज

[Quantum of energy] के रूप में द्यौ में उड़ कर चलने लग जाती हैं। जिससे पञ्चावर्त की रचना हो जाती है और फिर उस पञ्चावर्त के ऊपर सप्तलोकों की रचना हो जाती है। उन सप्तलोकों में देवीनकायों का क्रमिक सृजन होता है जिससे उन सभी देवों के क्रमिक सृजन का रुक तन्तु बन जाता है। रुक देव विष्णु जो रुक क्षीर के केन्द्र में स्थित होता है, वह अपनी सर्वाधिक 'परा' शक्ति के बल से अन्य रुक 'परा' शक्ति के क्षीरों के द्वारा अपने चारों ओर इन पञ्चावर्तों, सप्तलोकों और उनमें स्थित देवीनकायों का आवरण बना लेता है और अपने आप को उन आवरणों से ढक लेता है। ये आवरण रुक विष्णु के सभी ओर निकलने वाले सहस्र अक्षों (Axis) के तन्तुओं के द्वारा बनते हैं। ये ही 'पुरुष' की रचना के सहस्र अक्ष बनते हैं। इन अक्षों पर चलने वाले सप्तनामा अक्ष के अन्दर विष्णु के रेत के प्रवाह की श्रुत की ऊर्जा निहित होती है। उसी श्रुत की ऊर्जा से पञ्चावर्तों तथा उन पञ्चावर्तों के ऊपर बने सप्तलोकों के सप्तचक्र का निर्माण होता है। इस प्रकार सप्तनामा अक्ष के प्रवाह से बने सीललों के अनेकों तन्तुओं से उस रुक विष्णु देव के ऊपर इन पञ्चावर्तों तथा सप्तलोकों और उनमें स्थित देवीनकायों के आवरण बन जाते हैं। उन आवरणों से वह विष्णु देव अपने विशेष स्वभाव के कारण अपने आप को लपेट कर ढक लेता है, जैसे कि रुक मक्खड़ी अपने स्वभाव के कारण अपने द्वारा उत्पन्न फिर हुर जाले के तन्तुओं के द्वारा बने आवरणों से अपने आप को ढक लेती है। इसी कारण विष्णु देव आवरणों का देवता कहलाता है। 'रुद्र' महादेव की श्रुत की पिण्डी के केन्द्र में विष्णु का निवास होता है। इसी तथ्य को पुराणों में रुद्र के द्वारा विष्णु का आलिंगन बताया गया है। आदि देव रुद्र हैं और उनके केन्द्र में विष्णु का स्थान है, जिसका रुद्र भगवान आलिंगन कर रहे हैं। पृष्ठ (619) पर बना चित्र देखें। पृष्ठ (606) पर बना चित्र भी देखें। श्रुत की पिण्डी के केन्द्र में स्थित विष्णु भगवान अपने रेत का प्रसार 'सप्तार्द्धगर्भा' के रूप में करते हैं, जिससे सातों लोकों का और उनमें स्थित सभी देवीनकायों का सृजन हो जाता है। यह विष्णु के रेत का प्रसार सात क्षीरों के संयोजन से बने सप्तचक्र की ऊर्जा के पुञ्ज के प्रवाह के द्वारा होता है। विष्णु की नीति के केन्द्र से यह ऊर्जा का प्रवाह निकल कर तपः लोक में सविता देव की 'सव' शक्ति की (पौषण करने की शक्ति की) चारा बन कर जनः लोक में जा कर चतुर्मुखी ब्रह्मा का रूप धारण करता है।

इस प्रकार विष्णु के सत्यलोक, सविता के तपः लोक तथा ब्रह्मा के जनः लोक का मिल कर एक इकाई का स्वरूप बन जाता है, जिसे एक "अणु" कहा जाता है। बहुत से ऐसे अणुओं से "अणुवसमुद्र" की रचना हो जाती है। इन्हीं अणुओं से द्यौं में पञ्चावर्त तथा अन्य रचनाएँ बनती हैं। 'अणु' द्यौं की एक मूल इकाई की रचना है जिससे आगे अन्य लोकों में मौलिक अर्थों के द्वारा भूतों के रजकणों (धूलि के कणों = Mass particles) की रचना होती है। अन्तिम 'भूः' लोक में जा कर इन रजकणों से 'न' कण (Neutron) की रचना हो जाती है, जिसमें सभी लोकों में सृजित देवनिष्ठाओं के सभी स्वरूपों का समावेश होता है। अतः यह 'न' कण सभी देवगणों का स्वामी-ईश-बन्धु और 'गणेश' भी कहलाता है। अतः वैदिक शब्दावली में 'न' का अर्थ 'गणेश' भी लिया जाता है। 'गणेश' की प्रीति का स्वरूप सभी सात ब्रह्मलोकों - "सत्य, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः" तथा सभी सात पाताल लोकों -

"पाताल, तलातल, वितल, सुतल, अतल, रसातल, महातल" के सभी देवनिष्ठाओं के गणों से मिल कर बनता है। [पृष्ठ (103) पर बनी गणेश की प्रीति का चित्र देखें तथा पृष्ठ (101), (102) पर बने सबसे बड़े अणु (Atom) $\times 10^{300}$ का चित्र भी देखें।] विष्णु के रेत के प्रवाह के द्वारा सारे देव निष्ठाओं का स्वरूप जो सप्त ब्रह्म लोकों में बनता है, भूः लोक में आ कर 'न' कण (Neutron) में समाहित हो जाता है। इस कारण 'न' का अर्थ आधुनिक विज्ञान द्वारा बताये गये Neutron से भी ले लिया जाता है।

इस प्रकार जो एक विष्णु देव है, वह अपने ऊपर जये-जये आवरण चढ़ा कर ब्रह्मा का रूप सूक्ष्म द्यौं में तथा 'न' कण का भी स्थूल रूप पृथिवी के पञ्चमहाभूतों के भूतों के रजकणों के रूप में चारण कर लेता है। पृष्ठ (605), (606) पर बने चित्रों को देखें। पृष्ठ (605) पर बने चित्र में प्रधान तत्त्व से उत्पन्न उस कालाकृतिवृक्ष के तन्तु की रचना का चित्र दिखाया गया है जो विष्णु देव (= अ') के ऊपर सात ब्रह्मलोकों तथा सात पाताल लोकों के चौदह आवरणों की रचना करता है। इसी में चतुर्मुखी ब्रह्मा तथा 'न' कणों का बना आवरण भी दिखाया गया है। पृष्ठ (607) पर बने एक हाइड्रोजन के अणु (Atom) के चित्र में ये सभी आवरण स्पष्ट रूप से बने हुए दिखाई पड़ते हैं। उस चित्र को ध्यान से देखें। पृष्ठ (32) पर बने चित्र में ब्रह्मा के चतुर्मुखी रूप - "ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक, तथा अमर" नाम के चार मुखों वाला दिखाया गया है। प्रत्येक मुख में ब्रह्मा

को पाँच जिह्वायें - "ऋमुद, त्रुमु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रोचताभ -" नाम
को दिरवाई गई हैं। विष्णु (= 'अ') ही अपने ऊपर सत्य, तपः, जपः, महः
लोकों का आवरण चढ़ा कर इस ब्रह्मा के स्वरूप को चारण करता है।
वही विष्णु का ब्रह्म का रूप हमारी आत्मा को अपने स्वरूप में विलीन करके हमको चारण करे।
इस विष्णु देव के विषय में अगल मन्त्र में और आगे बताया गया है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माद्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ॥

एकः देवः = एक देव। कौन सा एक देव? द्यौतजात् देवाः।

जो सृजन की प्रक्रिया में किसी भी रचना के स्वरूप को द्यौतित करते हैं,
वे ही-देव- कहलाते हैं। तब एक देव कौन सा है? वह एक देव -
सृष्टि के प्रारम्भ में अपने स्वरूप को चारण करने वाला आदि देव है।
वह आदि देव कौन सा है? सत् में सृष्टि सृजन की इच्छा के काम का
विष्कार उत्पन्न होने से जो क्षरण की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है, उससे क्षर
कर उस सत् का एक अंश 'क्षीर' बन जाता है जो सत् की एक पिण्डी
के रूप में आदि देव 'रुद्र' का रूप बन जाता है। उस क्षीर के केन्द्र में
सत् की स्वधा का रूप अच्युत अवस्था में लाया जा कर अति सघन,
गहन, गम्भीर रूप की परा शक्ति से युक्त 'पर' रूप का विष्णु (= अ)
का रूप बन जाता है। वही 'अ' (= विष्णु) का स्वरूप एक क्षीर में सत् की
बनी उस रुद्र की पिण्डी को अपने स्वरूप में बाँध कर स्थिर स्थापना में रखता
है। इस प्रकार प्रत्येक रचना के केन्द्र में स्थित वही एक देव - विष्णु देव है
जिससे 'अकार' के नाम से सभी रचना के देवों के वर्गों में सब से अग्र और
परम कल्याणकारी प्रकाश में आने वाला देव माना जाता है। इसी कारण
"अकारः सर्ववर्णी गर्यः प्रकाशः परमः शिवः" - कहा गया है। यह
अकार इसी विष्णु के लिए बताया गया है। इस प्रकार वह एक देव
विष्णु ही है। वह एक देव 'विष्णु-देव' ही सभी के केन्द्र में अच्युत रूप में स्थित है।

सर्वभूतेषु गूढः = प्रधान तत्त्व सद्-ब्रह्म से उत्पन्न हुए सभी भूतों
में उनके केन्द्र में स्थित सर्वाधिक सघन, गहन, गम्भीर बन कर 'पर' रूप
में स्थित सब से अधिक गूढ (छिपा हुआ) वह एक देव 'विष्णु' (= अ) का ही
स्वरूप है। क्योंकि सब के केन्द्र में वही विद्यमान है।
सर्वव्यापी = सत् में क्षरण उत्पन्न होने से बना क्षीरों का असत् का वह
स्वरूप भी सर्वत्र विद्यमान है जो सत् से बनता है। सत् सर्वत्र विद्यमान है अतः उससे
बनने वाला असत् भी सर्वत्र विद्यमान है। असत् के क्षीरों में विद्यमान विष्णु

का अकार (अ) का स्वरूप भी अतः सर्वत्र विद्यमान है। जब असत् सर्वत्र विद्यमान है तो असत् में विद्यमान 'अ' भी सर्वत्र विद्यमान है। अतः वह विष्णु सर्व व्यापी है।

सर्वभूतान्तरात्मा = वह विष्णु का अकार का स्वरूप सत् से उत्पन्न होने वाले सभी भूतों के क्षीरों के केन्द्र में परा शक्ति से युक्त हो कर 'पर' रूप में रहने वाला और अपने सप्तार्द्धगर्भा रेत से प्रत्येक अणु को चेतना के आवेश से आवेशित करने वाला सभी भूतों की अन्तरात्मा है। वह सभी भूतों के अन्दर रहने वाली आत्मा का स्वरूप है। वह अपने सप्तार्द्धगर्भा रेत के प्रसारण के प्रवाह से प्रत्येक अणु (Atom) के प्रत्येक परमाणु (Nucleus) में आत्मा की चेतना का आवेश जागृत कर देता है।

जब सत्यलोक में विद्यमान विष्णु का रेत सत्यलोक से प्रवाहित होकर तपः लोक में आता है और सप्तर्षियों के सप्तचक्र में ग्रथित हो कर सप्तनामा अश्व का रूप धारण करके सविता देव की 'सव' शक्ति का वाहक बन कर आगे के लोकों - जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः लोकों और सात पाताल लोकों में जाता है तो उस समय वह अपनी गति की तीन प्रकार की अवस्थाओं में से किसी एक प्रकार की अवस्था को धारण करता है।

इन तीन प्रकार की गति की अवस्थाओं के नाम हैं - (1) आभास्वरा,

(2) महाभास्वरा, (3) सत्यमहाभास्वरा। जब वह सप्तनामा 'अश्व' प्रथम प्रकार की आभास्वरा गति को धारण करता है तो उस निम्न गति से वह जड़ अणुओं (Atoms) के परमाणुओं (Nucleus) को गति प्रदान करता हुआ उन्हें अपनी गति की चेतना के आवेश से आवेशित करता हुआ उन भूतों की अन्तरात्मा के रूप को धारण कर लेता है। जब वह 'अश्व' मध्यम प्रकार की महाभास्वरा गति को धारण करता है तो वह अर्धचेतन अवस्था के बनस्पति जगत् के पौधों की कोशिकाओं की रचना करने वाले अणुओं के परमाणुओं को अपनी गति के आवेश से आवेशित करता हुआ उन भूतों की अन्तरात्मा का रूप धारण कर लेता है। जब वह 'अश्व' उत्तम प्रकार की सत्यमहाभास्वरा तीसरी प्रकार की गति को धारण करता है तो अणुओं के परमाणुओं में अपनी गति के तीव्रतम वेग के आवेश को भर देता है और उन्हें गति के इस तीव्रतम आवेश से आवेशित करता हुआ अणुओं के परमाणुओं में पूर्ण रूप से चेतन प्राणी की अन्तरात्मा का आवेश भर देता है। इससे वे अणु (Atoms) मिल कर प्राणी वर्ग की कोशिकाओं के योग (Molecules of the animal cells) बना देते हैं।

इस प्रकार जड़ जगत्, बनस्पति जगत्, प्राणी जगत् की त्रिस्तरीय जगत् की रचना हो जाती है और वह विष्णु अपने रेत के प्रसार की शक्ति की चेतना के आवेश द्वारा सभी भूतों की अन्तरात्मा का रूप धारण कर लेता है। वह

विष्णु सभी भूतों की उनके अन्दर रहने वाली आत्मा का स्वरूप बन जाता है। इसी कारण यहाँ उस विष्णु - स्वयं देव सर्वव्यापी को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा गया है।

कर्मोपदेशः = प्रत्येक भूत जो भी कर्म करता है, वह अपनी चेतना की शक्ति के द्वारा ही करता है। यदि उस भूत में उसको चेतना की शक्ति ही न रहे तो वह कोई भी कर्म नहीं कर सकता। यह चेतना की शक्ति उस भूत को उसकी अन्तरात्मा के आवेश से प्राप्त होती है। यह अन्तरात्मा का आवेश प्रत्येक भूत में विष्णु के रेत के प्रसार है। यह अन्तरात्मा का आवेश प्रत्येक भूत के कीर्ति द्वारा प्राप्त होता है। अतः वह विष्णु स्वयं प्रत्येक भूत के कर्मों का अध्यक्ष बन जाता है। वह अपने रेत के प्रसार की गति के द्वारा प्रत्येक भूत के कर्म का निर्धारण करता है कि उस भूत के अवयव ने जड़जगत् के सृजन का अथवा अर्धचेतन बनस्पति जगत् के सृजन का अथवा पूर्ण चेतन प्राणी जगत् के सृजन का कर्म करना है। साथ में किस जगत् के किस भूत का कौन सा कर्म करना है? इसका निर्धारण भी विष्णु के रेत के सीलन की ईशानी धाराओं में उदित संकल्पों के द्वारा हो जाता है। इस प्रकार वह विष्णु सभी भूतों के कर्मों का अध्यक्ष बन जाता है।

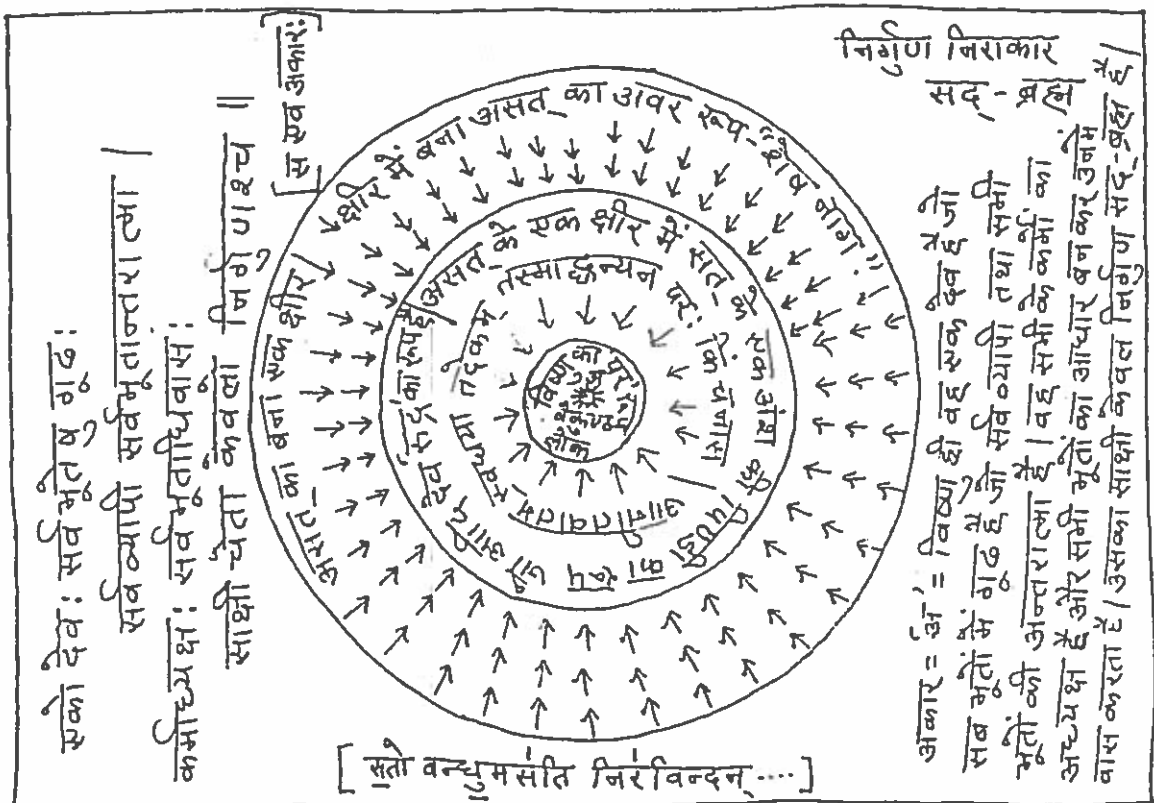
सर्वभूताधिवासः = वह विष्णु सभी भूतों के अन्दर विद्यमान रहता हुआ उनकी रचना का आधार बन कर रहता हुआ वास करता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रत्येक भूत के अणु (Aksh) की रचना होते समय पहले द्यौ के अन्दर ऋतु के प्रवाह द्वारा पञ्चावर्त की रचना होती है जिसमें पाँचों आवर्त (1) विष्णु आवर्त, (2) सीवतृ आवर्त, (3) ईशान आवर्त, (4) कीललावर्त, (5) नीचकैतावर्त "विष्णु के केन्द्र बिन्दु पर सन्निवृत्त (circumcycles) आवर्त होते हैं। इसी पञ्चावर्त के ऊपर सातलोकों - "सत्य, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः" की भूत रचना होती है, जिससे किसी भूत का एक अणु (Aksh) बन जाता है। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में विष्णु आवर्त और सत्यलोक की रचनाएँ उभयनिष्ठ होती हैं। विष्णु आवर्त ही प्रथम सत्यलोक बन जाता है। यह विष्णु आवर्त, विष्णु की पराशक्ति के द्वारा ही सुदर्शन चक्र के रूप में घूमता हुआ भूत रचना के अधिकरण का आधार बनता है। इसी कारण इस विष्णु के अकार (अ) के स्वरूप को

यहाँ-“सर्वभूत अधिवासः”- कहा गया है। अर्थात् वह विष्णु प्रत्येक भूत की रचना का केन्द्र बन कर अधिकरण के रूप में उसके अन्दर वास करने वाला (रहने वाला) है।

साक्षी चैता केवलो निर्गुणश्च = इस विष्णु के अवतरण को देखने वाला साक्षी केवल निर्गुण सद्-ब्रह्म है। अर्थात् सत् से धर कर जब असत् का रूढ़ क्षीर बनता है तो उस क्षीर की पिण्डी के केन्द्र में परा-शक्ति से युक्त विष्णु का 'पर' रूप तुरन्त अवतरित हो जाता है जो उस क्षीर में विद्यमान सत् के रूढ़ अंश को रूढ़ पिण्डी के रूप में बाँध कर अपने चारों ओर आवरण बना कर स्थित रखता है। इस प्रकार क्षीर की पिण्डी में स्थित निर्गुण सत् का अंश जो उस विष्णु का आवरण बनता है, उस विष्णु के 'पर' रूप के अवतरण को देखने वाला साक्षी बन जाता है। [सतो बन्धुमसीति निरविन्दन्-... (श्रुवेद-10-129-4)]

दूसरे भाव के अनुसार सत् से धर कर क्षीरों का बना असत् बनता है। असत् के क्षीरों में ही विष्णु का अवतरण होता है। अतः उस विष्णु का असत् में अवतरित होने का साक्षी केवल निर्गुण निराकार सद्-ब्रह्म ही बनता है। वही निर्गुण सद्-ब्रह्म उस विष्णु के अवतरण को असत् में देखने वाला साक्षी बनता है। नीचे के चित्र में इस मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट किया जा रहा है।

चित्र = 86



सकौ वशी जिच्छि या गाम् बहूनामेकम् बीजम् बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थम् येऽनुपश्यन्ति चिरास्तेषाम् सुखम् शाश्वतम् नेतरेषाम् ॥

(12)

बहुत से जिच्छि जड़ भूतों को अपने रेत के प्रसार की गति के आवेश से आवेशित कर के चेतना मुक्त बना कर सक्रिय करने वाला तथा सक्रिय बना कर उन बहुत से भूतों को अपने वश में करने वाला 'वशीकार' एक देव वही विष्णु है। वही विष्णु जो सत्यलोक के केन्द्र में स्थित है, अपने 'पर' रूप के बीज को अपने रेत के प्रसार की विधि के द्वारा सप्तनामा अश्व की ऊर्जा के पुञ्ज के रूप में बहुत प्रकार के रूपों वाला कृष्ण के नियान के अश्वों (हरयः सुपर्णाः) के रूप में बना देता है। विष्णु का ऊपर में अवतार कृष्ण के दूसरे 'पर' रूप में होता है। सत्यलोक से सत्याभा की तरंग का प्रसारण जब तपःलोक में आता है तो वह उसी विष्णु का दूसरा 'पर' रूप तपःलोक में प्रकट कर देता है। उस दूसरे 'पर' रूप का आवर्त ऊपर के कृष्ण का नियान कहलाता है जो सुडील पंखों वाला 'अश्व' का रूप धारण कर लेता है। [कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। (ऋग्वेद-1, 164, 47)] ये अश्व द्यौ में उड़ते हुए एक विष्णु के 'पर' रूप के बीज के बहुत से 'पर' रूप बना देते हैं और उन 'पर' रूपों पर आवरण चढ़ा कर सप्तलोकों में स्थित देवों के रूप बना देते हैं। 'ब्रह्मा' तथा 'न' कण का रूप भी इसी प्रकार बनता है। यही उनका अपः का वसन बनता है।
उस आत्मा में स्थित विष्णु देव के 'पर' रूप को जो चिर पुरुष देख लेते हैं, उनको शाश्वत काल तक सुख प्राप्त होता है और जो इस विष्णु के 'पर' रूप को नहीं देख पाते, उनको सुख प्राप्त नहीं होता है।

शाश्वत काल तक का सुख केवल मोक्ष की प्राप्ति में ही निहित होता है। जीवन मरण के चक्र में फँसे हुए जीव को तो बार-बार मरण की अवस्था में असीम दुःख भोगना पड़ता है। भौतिक जीवन काल में भी सुख दुःख समय-समय पर भोगने के मिलते हैं। शाश्वत काल का सुख नहीं मिल पाता। परन्तु यदि जीव इस जीवन मरण के चक्र से मुक्त हो कर त्रिविध

बन्धनों से मुक्त होकर त्रिविध मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तो उसे अपनी आत्मा के शुद्ध रूप में अवस्थित होने पर शाश्वत काल तक का सुख प्राप्त होता है। [त्रिविधो बन्धः । त्रिविधो मोक्षः । (सांख्य - पञ्चविंशति तत्त्वसमास सूत्राः - 19, 20)] त्रिविध बन्ध आत्मा के शुद्ध स्वरूप के ऊपर कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर के तीन प्रकार के माया के चढ़े हुए आवरण हैं। स्थूल शरीर का आवरण तो हमें जन्म और मृत्यु के समय बार-बार चढ़ता और उतरता दिखाई देता है, परन्तु सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का ज्ञान न होने के कारण उनका आवरण हमें दिखाई नहीं देता है। जब तक सूक्ष्म शरीर का आवरण आत्मा के शुद्ध रूप पर चढ़ा होता है, तब तक स्थूल शरीर का आवरण उस पर बार-बार चढ़ता उतरता रहता है। यह सूक्ष्म शरीर का आवरण हमारे मन में उदित होने वाले काम के नाचा प्रकार के संकल्पों और विकल्पों को बाँधने वाले 'पञ्चावर्तों' में कलिल आवर्त के अन्दर बनने वाले नये-नये छोटे आवर्तों के ग्रथन द्वारा बना होता है। अतः मन को निर्बीज बना कर निर्बीजसमाधि की सिद्धि प्राप्त करने पर ही इस सूक्ष्म शरीर का आवरण आत्मा के विशुद्ध रूप के ऊपर से हट पाता है। यह सूक्ष्म शरीर द्यौ तथा आकाश में विद्यमान रहता है और ऋतु के आवर्तों द्वारा ग्रथित होता है। इस सूक्ष्म शरीर चारी जीव को ही 'प्रेत' कहा जाता है। स्थूल शरीर के मरने पर इसी 'प्रेत' की सन्तुष्टि के लिए पिण्डदान, श्राद्ध, तर्पण आदि विभिन्न प्रकार के संस्कार किये जाते हैं।

जब सूक्ष्म शरीर के आवरण के बन्धन से आत्मा का शुद्ध रूप मुक्त हो जाता है तो उसके पश्चात् 'अहम्' के संस्कार के संकल्प को बाँधने वाला ऋतु में बना आवर्त उस आत्मा के विशुद्ध रूप के ऊपर कारण शरीर का आवरण बनता है जो उस आत्मा के शुद्ध रूप को अपने अन्दर बाँध कर रखता है। इस प्रकार आत्मा के विशुद्ध रूप को अपने आवरणों द्वारा बाँध कर रखने वाले स्थूल शरीर का, सूक्ष्म शरीर का, कारण शरीर का, ये तीन प्रकार के बन्धन होते हैं। इनमें स्थूल शरीर का बन्धन तो सम्प्रज्ञात समाधि

तथा असम्प्रज्ञात समाधि को योगाभ्यास द्वारा सिद्धियों प्राप्त करने पर शाश्वत काल तक के लिए छूट जाता है। सूक्ष्म शरीर के आवरण का बन्धन निर्बीज समाधि के सिद्ध होने पर हट जाता है। परन्तु कारण शरीर का बन्धन ईश्वर प्रणिधान की प्रक्रिया द्वारा अपने आप को भक्तिभाव द्वारा ईश्वर को पूर्ण रूप से समर्पित करके धर्ममैद्य समाधि को सिद्धि द्वारा ही हट पाता है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति के योग द्वारा योगाभ्यास करने पर ही अन्तिम स्थिति का निर्वाण प्राप्त हो पाता है और तीनों प्रकार के शरीरों के तीनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो कर तीनों प्रकार के मोक्षों को प्राप्त करके आत्मा अपने विशुद्ध रूप में अवीर्यत हो पाती है।

आत्मा का विशुद्ध रूप पञ्चावर्ती के विशुद्ध रूप से बना हुआ होता है। उन पञ्चावर्ती का एक विशेष परिमित व्योम में विस्तार एक विशेष आत्मा के स्वरूप को द्यौ के अन्दर द्योतित करता है। जब आत्मा का विशुद्ध रूप अपने परिमित व्योम में अवीर्यत हो जाता है तो उस समय सद्-ब्रह्म का अपरगुण क्रियाशील होकर अपना कार्य करने लग जाता है। उस अपरगुण के द्वारा पञ्चावर्ती को चलाने वाली ऊर्जा उनके केन्द्र में स्थित विष्णु के 'पर' रूप में समाहित होने लग जाती है। इस प्रकार उन पञ्चावर्ती की शक्ति विष्णु में समाहित होने के कारण उनकी परिधि में बने बारह घेरों [द्वादश प्रधयः --- (ऋग्वेद-1, 164, 48)] की ऊर्जा समाप्त होने लग जाती है। अतः वे पञ्चावर्त आपस के बन्धन से विच्छेदित होकर विष्णु के केन्द्र पर सिमट कर इस प्रकार लिपटने लग जाते हैं जैसे कि एक ऋषि फैली हुई मृगछाला के चर्म को लपेट कर एक छोटे से बंडल के रूप में बना देता है। इसी भाव को इस उपनिषद् के इसी अध्याय के अगले बीसवें मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। वहाँ पर इसकी पूर्ण व्याख्या की जायेगी।

इस प्रकार आत्मा का विशुद्ध रूप विष्णु के रूप में समाविष्ट हो जाता है। उसके पश्चात् सद्-ब्रह्म के इसी अपरगुण की प्रक्रिया

द्वारा विष्णु का 'पर' रूप भी क्षीर में विद्यमान सद्-ब्रह्म के अंश से बनी पिण्डी के रुद्र के रूप में समाहित हो कर अन्तरध्यान होने लग जाता है और उस क्षीर का असत् का स्वरूप भी विच्छिन्न होकर सद्-ब्रह्म के स्वरूप में विलीन हो जाता है। इस प्रकार अन्तिम अवस्था में देवों के पूर्व युग में असत् से पुनः सत्-उत्पन्न हो जाता है। इस परमधाम को प्राप्त करने पर ही आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को पूर्ण मोक्ष प्राप्त होता है। इस पूर्ण मोक्ष के प्राप्त होने पर ही जीवात्मा को शाश्वत काल तक का सुख प्राप्त होता है। जो जीव इस प्रक्रिया से इतर (अन्य) प्रक्रिया के मार्ग पर चलते हैं उन्हें न तो किसी प्रकार का मोक्ष प्राप्त हो पाता है और न ही कोई शाश्वत काल तक का सुख प्राप्त हो पाता है। वे जीवन मरण के चक्र में फँसे हुए जाना प्रकार की योनियों के स्थूल शरीरों को धारण करते हुए जाना प्रकार के दुःखों को समय-समय पर भोगते रहते हैं। उनको यह शाश्वत काल तक का सुख प्राप्त नहीं हो पाता है। यहाँ "अनुपश्यन्ति" शब्द का अर्थ विष्णु की सक के बाद सक क्रमिक प्रक्रिया के अनुक्रम को देखना है। यह अनुक्रम यहाँ पर बता दिया गया है।

नित्यो नित्यानाम् चैतनश्चैतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तत्कारणम् सांख्ययोगाधिगम्यम् ज्ञात्वा देवम् मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (13)

[प्रसंग से] जो विष्णु का स्वरूप असत् ब्रह्म के नित्य रहने वाले क्षीरों में नित्य रूप से विद्यमान है, जो चैतना से युक्त भूतों में विद्यमान अन्तरात्मा को चैतना प्रदान करने वाला स्वरूप है। यह चैतना वह विष्णु अपने रेत के प्रसार की सत्तामा की शक्ति के द्वारा प्रदान करता है। विष्णु के देव निष्ठा के चार स्वरूप—(1) अच्युताः, (2) शुद्ध निवासाः, (3) सत्तामाः, (4) संज्ञा संज्ञिनः— बताये गये हैं। सत्तामा के प्रसार द्वारा वह जीव को संज्ञा को चैतना प्रदान करता है तथा उस जीव की आत्मा के पञ्चावर्ती के स्वरूपों को अपने में समेट कर उस आत्मा को चैतना का 'संज्ञिन' बन जाता है। उस आत्मा को चैतना को वह स्वयम् अनुभव करने लग जाता है। इस प्रकार वह 'संज्ञी' बन जाता है।

जब पञ्चावर्त के केन्द्र में अच्युत रूप में स्थिर होकर विष्णु अपने सप्ताक्षरगर्भा रेत की तरंगों का प्रसारण अपने चहुँ ओर के व्योम में करता है तो उस रेत की धारा में बने प्रत्येक सञ्चुकोचान्त (wave length) के सञ्च के बिन्दु (point of high intensity) पर विष्णु का दूसरा 'पर' रूप क्षापर के कृष्ण के घोंघले का रूप बन जाता है। यह कृष्ण का घोंघला विष्णु के रेत की धारा में बना हुआ उस रेत की तरंग के संचुकोचान्त के सञ्च के बिन्दु के चारों ओर बना एक छोटा सा ऋतु का आवर्त होता है जो किसी विशेष प्रकार की कामना वाले संकल्प के उदय को अपने अन्दर आबद्ध करके रखने वाला होता है। उस विष्णु के रेत की तरंगों की धारा में स्थित बहुत सारे संचुकोचान्तों (wave lengths) के अन्दर इस प्रकार के बहुत से आवर्त बन कर बहुत सारी कामनाओं के संकल्पों को आबद्ध करने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार एक देव विष्णु ही अकेला बहुत सारे कामनाओं के स्वरूपों के आवर्तों को बना देता है। इस प्रकार एक विष्णु अपने बहुत सारे कामनाओं वाले रूपों को बना देता है।

इस एक विष्णु से उसके बहुत सारे कामनाओं वाले रूपों के बनने का कारण सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र के अध्ययन द्वारा तथा उनके प्रक्रियाओं के अभ्यास द्वारा समझा जा सकता है। सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र की उन प्रक्रियाओं को जान कर वह योगी इस एक देव विष्णु के अवतरण के कारण को जान जाता है। इस प्रक्रिया को जान कर वह योगी साधक स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर के तीनों प्रकार के आवरणों के बन्धनों से मुक्त होकर सब प्रकार के बाँधने वाले पाशों (बन्धनों) से छूट जाता है।

सांख्यशास्त्र में तत्त्व समास के अध्ययन द्वारा तो साधक-योगी सृजन की प्रक्रिया में बनने वाले विभिन्न प्रकार के पाशों के बन्धनों को जान जाता है जिन के बन्धन से विभिन्न प्रकार के योगी (molecules) के द्वारा विभिन्न प्रकार के अर्थपिण्डों के शरीर बनते हैं। उन बन्धनों को जान कर योग का अध्ययन करके उन बन्धनों से मुक्त होने का उपाय जान जाता है तथा योगाभ्यास द्वारा उन सभी प्रकार के

बन्धनों से छूट जाता है। इस प्रकार सांख्य शास्त्र तथा योग शास्त्र का अध्ययन करके उन्हें समझने से इस विष्णु के स्वरूप की रचना के कारण को समझ जाता है तथा उस कारण को दूर करने के उपाय को भी समझ जाता है। इस प्रकार उस एक विष्णु देव को जान कर साधक ज्ञानी सभी प्रकार के बन्धनों के पाशों से छूट जाता है। वह भूत रचना से लेकर असत् के स्वरूप तक की प्रक्रिया का अनुसरण करता हुआ तथा सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होता हुआ असत् से सत् में विलीन हो जाता है और अपने अन्तिम लक्ष्य के परम धाम को प्राप्त कर लेता है। सत् का स्वरूप ही परम धाम कहलाता है।

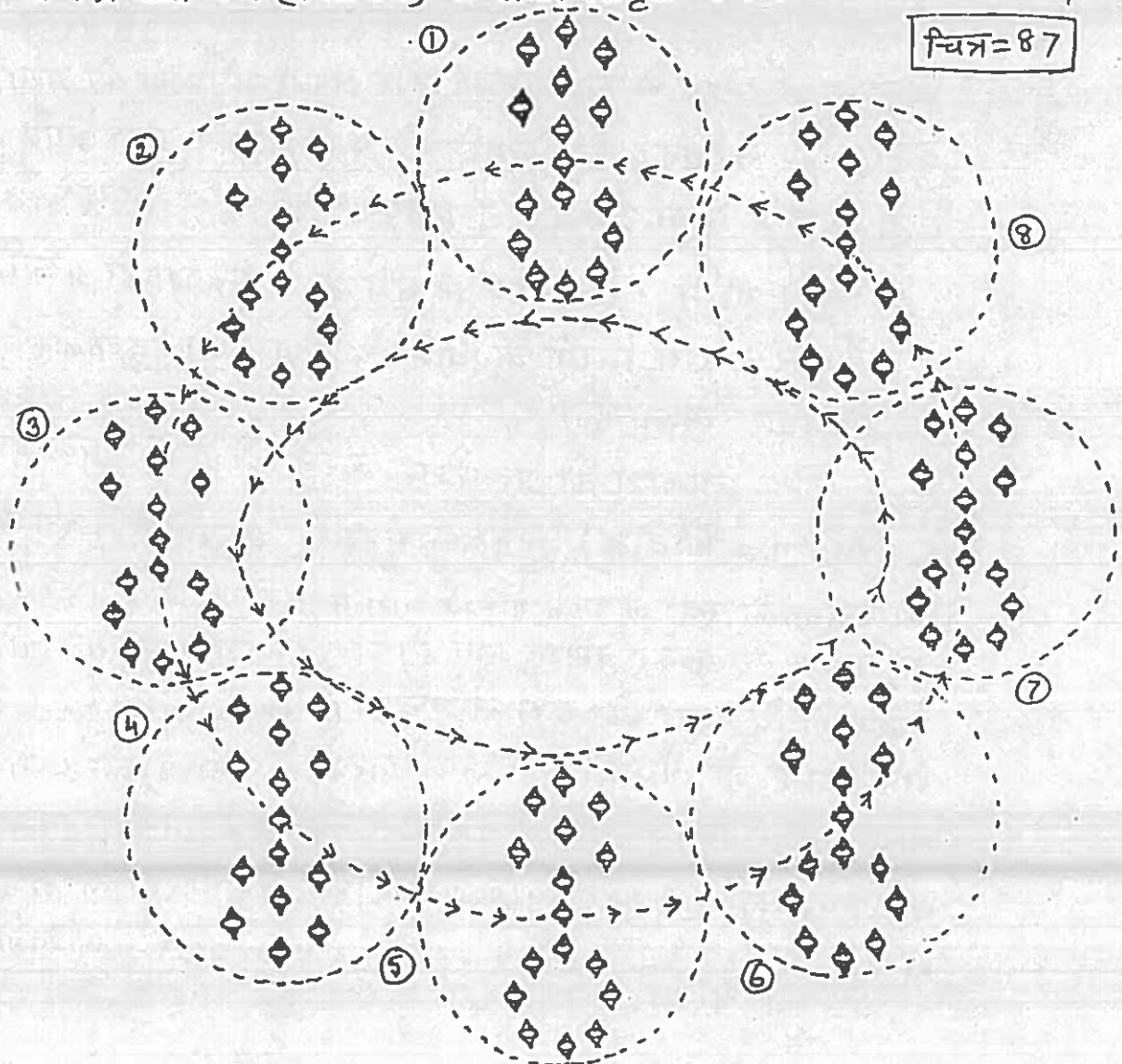
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति ॥ (14)

तत्र = वहाँ पर। कहाँ पर? जहाँ पर सत्य लोक में एक क्षीर के सदृश ब्रह्म के अंश की पिण्डों के केन्द्र में वह एक देव विष्णु अपने 'पर' रूप में अच्युत अवस्था में रहता हुआ और अपनी सत्यामा को प्रसारित करता हुआ संज्ञा संज्ञिनः की अनुभूति को प्रकट करता हुआ अपने शुद्ध ब्रह्म रूप में निवास करता है। सत्य लोक के अन्दर स्थित विष्णु के बैकुण्ठ लोक में।

न सूर्यो भाति = वहाँ पर न सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है और न उस विष्णु के धाम के स्थान को बैकुण्ठ लोक को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है।

प्रकाश को प्रकाशित करने की क्रिया प्रकाश का कण (Photon = फोटोन) "सूर्य का चक्षुरजस्" करता है। इस प्रकाश कण की रचना को स्वः लोक के पाँचवें भाग में षड्वृन्दारकों (six quarks) की रचना के अन्दर बताया गया है। यह प्रकाश कण सात अश्विनो के रजकणों के द्वारा बने एक सप्तचक्र (seven hypercircle) के रूप में बनता है जो तीव्र गति से अपनी तरंगों (waves) को प्रसारित करता हुआ परम धाम में तीव्र गति से दौड़ता रहता है। जब यह अपने अष्टापरावृत (Eight hypercircle) रूप को धारण करता है तो इसमें से $\frac{16}{15}\pi^3 - \frac{1}{3}\pi^4 = 1.067\pi^3 - 1.047\pi^3 = 0.02\pi^3$ अश्विनो की ऊर्जा

प्रकाश के रूप में बाहर निकल जाती है। इस प्रकार यह प्रकाश कण अपनी इस ऊर्जा के प्रक्षेपण के द्वारा सभी को प्रकाशित करता है। जब यह प्रकाश कण सप्तपरावृत (seven hypercircle) के रूप में रहता है तो यह केवल अपनी तरंगों को प्रसारित करता हुआ परम व्योम में दौड़ता रहता है, परन्तु प्रकाश की ऊर्जा का प्रक्षेपण नहीं करता। केवल अष्टापरावृत (Eight hypercircle) बनने पर ही प्रकाश का प्रक्षेपण करता है। अष्टापरावृत बनते समय पहले बने सात अश्विनो के सप्तपरावृत में स्पष्ट और आठवाँ अश्विनो का रज कण प्रवेश करता है, तभी वह आठ अश्विनो के रज कणों का अष्टापरावृत बनता है। पृष्ठ (82) पर चित्र में सप्तपरावृत के रूप में बना प्रकाश कण (Photon) का स्वरूप देखें। जब यह अष्टापरावृत बनता है तो इसकी परिमिति सप्तपरावृत की परिमिति $\frac{16}{15} \pi^3$ इकाई से घट कर $\frac{1}{3} \pi^4$ इकाई के बराबर हो जाती है। अतः इसमें से $0.02 \pi^3$ अश्विनो की इकाई परिमिति के समान ऊर्जा प्रकाश के रूप में बाहर निकलती है जो ऊर्जा की तरंगों के रूप में सरल रेखा में चलती है। नीचे प्रकाश कण (Photon) का अष्टापरावृत के रूप में बना चित्र देखें।



इस प्रकाश कण (Photon) को ऋग्वेद में "सूर्य के चक्षु रजस्" के नाम से निम्न मन्त्र में बताया गया है ।

स॒नै॒मि॒च॒क्र॒म॒ज॒रं॒ वि॒वा॒वृ॒त॒ उ॒त्ता॒ना॒यां॒ द॒श॒ यु॒क्ता॒ व॒ह॒न्ति॒ ।

सूर्य॑स्य॒ चक्षु॑ रज॒सै॒त्या॒वृ॒तं॒ तस्मि॒न्ना॒र्पि॒ता॒ भुव॒ना॒नि॒वि॒श॒वा॒ ॥ [ऋग्वेद
1-164-14]

इस मन्त्र का पदपाठ तथा अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं—

सऽनैमि = [अणु (= Atom) की नाभि (= Nucleus) की] नैमि के सहित ।

चक्रम् = पञ्चावर्त का तथा उस पञ्चावर्त के ऊपर बना सात लोको का चक्र ।

अजरम् = जो चक्र क्षीण होने वाला नहीं है ।

वि = विशेष विधि पूर्वक ।

ववृते = घूमता है ।

उत्तानायां = ऊपर तनी हुई अवस्था में ।

दश = दश (मौलिक अर्थ) ।

युक्ता = युक्त हो कर । दश मौलिक अर्थ युक्त होकर एक 'क' कण की रचना करते हैं । अतः यहाँ पर अर्थ—'क' कण के रज का होता है ।

वहन्ति = [इस अणु की नाभि के पूरे चक्र को गतिमान बना कर] वहन करते हैं ।

सूर्यस्य = [सरण गति करने वाले] सूर्य का ।

चक्षुः = नेत्र [जिस से प्रकाश में देखता है] ।

रजसा = रज कण के द्वारा । अर्थात् सूर्य के चक्षु रजस् के द्वारा ।
अर्थात् Photon के द्वारा ।

सति = चलता है ।

आऽवृतम् = घिरा हुआ, अथवा घूमता हुआ [षड्वृन्दारकों (six quarks) वाला नाभि की नैमि का चक्र] ।

तस्मिन् = उस अणु की नाभि की नैमि के चक्र में ।

अर्पिता = अर्पित है । नाभि की नैमि से युक्त चक्र में जुड़े हुए है ।

भुवनानि = भुवन ।

विशवा = सारे । सभी ।

इस प्रकार यहाँ इस मन्त्र में प्रकाश कण (Photon) को वैदिक विज्ञान की शब्दावली में सूर्य के चक्षु के रूप में, रजकण कहा गया है। अतः सूर्य का चक्षु रजस् नाम प्रकाश कण के लिए उचित है।

अब यह सूर्य का चक्षु रजस् मौलिक अर्थों के अश्विनो द्वारा बना रज रजकण है जो स्वः लोक में निर्मित होता है, अतः यह प्रथम सत्य लोक में स्थित विष्णु के बैकुण्ठ धाम को कैसे प्रकाशित कर सकता है। सत्य लोक में तो शुद्ध ब्रह्म का निवास है, वहाँ पर कोई भी मौलिक अर्थ का पिण्ड प्रवेश नहीं कर सकता। अतः विष्णु के धाम बैकुण्ठ लोक को सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकता। सूर्य वहाँ पर प्रकाश नहीं करता।

न चन्द्र तारकम् = ये चन्द्र और तारे भी वहाँ अपना प्रकाश नहीं कर सकते। प्रकाश तो प्रकाश कणों के द्वारा ही चलता है, चाहे वह सूर्य का प्रकाश हो अथवा चन्द्र तारों का प्रकाश हो। चन्द्र और तारों का प्रकाश भी सूर्य से ही निकल कर आता है और चन्द्र तथा तारों से टकरा कर प्रत्यावर्तित होकर लौट कर वापिस हमारे पास आता है। इसी से ये चन्द्र और तारे हमें दिखाई देते हैं। कुछ तारे स्वयं सूर्य के प्रतिरूप हैं, वे सूर्य की भाँति अपना प्रकाश छोड़ते हैं। परन्तु सभी का प्रकाश photons के द्वारा ही गति करता है। अतः किसी का भी प्रकाश विष्णु के धाम बैकुण्ठ तथा सत्यलोक को अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं कर सकता।

नैमा विद्युतो भान्ति = इस सत्य लोक को विद्युत भी प्रकाशित नहीं कर सकती। विद्युत का प्रकाश भी photons के द्वारा निर्मित तरंगों के द्वारा ही चलता है। सत्य लोक तो शान्त और स्थिर है। वहाँ विद्युत की तरंगों का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः विद्युत भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती।

कुतोऽयमग्निः = फिर यह साधारण जलने वाली आगिन उसे वहाँ प्रकाशित कर सकती है। अर्थात् आगिन का प्रकाश भी उस सत्यलोक में नहीं पहुँच सकता, क्योंकि आगिन का प्रकाश भी photons

के द्वारा ही गति करता है। जब सत्यलोक में की प्रकाश नहीं पहुँच सकता तो फिर बैकुण्ठ लोक में भी नहीं पहुँच सकता, जो बैकुण्ठ लोक सत्यलोक के अन्दर केन्द्र में स्थित है। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् = ये सब सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत,

अग्नि उस सत्यलोक की सत्याभा के चमकने के कारण ही चमकते हैं। अर्थात् इन प्रकाश छोड़ने वाले अर्धपिण्डों के प्रकाश कणों (photons) से प्रकाश तभी आता है जब इनके प्रकाश कणों में स्थित मौलिक अर्थों में सत्यलोक की सत्याभा की तरंग अपना प्रकाश करती हैं। उस तरंग के बिना इन प्रकाश कणों में चेतना नहीं आ सकती और वे अपना प्रकाश छोड़ने का कार्य नहीं कर सकते।

तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति = उस बैकुण्ठलोक की विष्णुकी सत्याभा के प्रकाशित होने और तरंगों के प्रसारण से ही यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित होकर वैदोप्यमान होता है। उसी की तरंगों के प्रसारण से यह सारा ब्रह्माण्ड अपने अन्दर चेतना प्राप्त करके अपना कार्य करता है।

ऐसा है वह विष्णु का चाम बैकुण्ठलोक।

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स खवाग्निः सीलले संनिविष्टः।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति जान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय ॥ (15)

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये = इस बैकुण्ठलोक के भुवन के मध्य में 'पर' रूप का 'परा' शक्ति से युक्त एक-विष्णु देव की अर्जा के पुञ्ज के रूप में एक हंस विद्यमान है। इसी हंस की सत्याभा की तरंगों के प्रसारण की गति तपःलोक में जा कर आभास्वरा, महाभास्वरा अथवा सत्यमहाभास्वरा रूपों में से किसी एक रूप को प्राप्त करती है। यही वह हंस है जो प्रत्येक अर्धपिण्ड की अन्तरात्मा को अपनी चेतना प्रदान करता है।

स ख अग्निः सीलले संनिविष्टः = वह सत्यलोक की सत्याभा की तरंगों से युक्त ऋतु की अग्नि ही एक 'सीलल' नाम की ऋतु की चारा में संनिविष्ट है। अर्थात् प्रत्येक ऋतु की चारा के अन्दर वह सत्यलोक की सत्याभा की तरंग ही प्रवेश पाकर सम्यक् अवस्था में पूर्ण रूप से स्थित होकर विद्यमान है। इस 'सीलल' नाम की ऋतु की चारा का वर्णन पृष्ठ (623)

पर लिखते मन्त्र - “ गौरीर्ममाय सलिलानि तक्षत्येकपदी - - - ” की सचित्र व्याख्या में पृष्ठ (625) पर देखें। यह सलिल सत्यलोक की सत्धाभा से एकपदी रूप में प्रारम्भ हो कर सप्त ब्रह्म लोकों, सप्त पाताल लोकों को पार करती हुई सहस्राक्षरा बन कर परम व्योम में समाहित हो जाती है। इस सलिल की ऋतु की चारा की प्रत्येक तरंग के संचुकोचान्त के सञ्चुकोच (point of high intensity) के केन्द्र में वह 'पर' रूप का एक हंस विद्यमान रहता है। अतः वह हंस अग्नि के रूप में प्रत्येक सलिल में संनिविष्ट है। ऋतु के सक्रिय 'पर' रूप को यहाँ अग्नि कहा गया है।

तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति = उसी एक हंस को जान कर साधक पुरुष अतिमृत्यु को प्राप्त करता है। वह एक हंस सत्यलोक के केन्द्र में विद्यमान विष्णु का स्वरूप है। वही हंस एक वह देव है जो सब भूतों में गूढ़ है, सर्वव्यापी है, सब भूतों की अन्तरात्मा है, सब के कर्मों का अध्यक्ष है, सभी भूतों का आधार बन कर उनमें वास करता है और जिसका साक्षी केवल निर्गुण सद्-ब्रह्म है।

उस एक गूढ़ देव हंस को जान कर ज्ञाता साधक अतिमृत्यु को प्राप्त करता है। अतिमृत्यु क्या है? जैसा पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक जीव के तीन प्रकार के शरीर होते हैं। (1) स्थूल शरीर, (2) सूक्ष्म शरीर, (3) कारण शरीर। इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। स्थूल शरीर की मृत्यु तो बार-बार जन्म लेने के उपरान्त हर बार होती है। वह केवल मृत्यु कहलाती है। परन्तु जब स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की भी मृत्यु हो जाती है और आत्मा के विशुद्ध रूप में बने पञ्चावर्त अपने केन्द्र में स्थित विष्णु देव के 'पर' रूप में सिमट कर इकट्ठे होने लग जाते हैं तो वह अन्तिम मृत्यु होती है। उसको ही अतिमृत्यु कहा जाता है। अतिमृत्यु होने पर जीवात्मा का विशुद्ध रूप विष्णु भगवान में विलीन हो जाता है और उस आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उसके पश्चात् वह आत्मा किसी भी प्रकार के कारण शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर अथवा स्थूल शरीर को चारण करके इस भौतिक जगत् में पुनर्जन्म को चारण नहीं करती। अतः जब जीव रूप में उसका किसी योनि में जन्म ही नहीं होता तो फिर उसकी कभी मृत्यु भी नहीं होती। अतः मोक्ष प्रदान करने वाली वह अन्तिम मृत्यु ही होती है।

यही अन्तिम मृत्यु 'अतिमृत्यु' कहलाती है।

जब विष्णु के अवतरण का तथा अन्तर्ध्यान होने का कारण सहित ज्ञान हो जाता है तो साधक विष्णु के पूर्ण स्वरूप को जान जाता है। अतः जो मन में उदित होने वाले ज्ञाना प्रकार की कामनाओं के संकल्प आत्मा के स्वरूप में बनेने वाले पञ्चावर्तों के कारण बनते हैं तो उन संकल्पों के उदय का पूर्ण रूप से निरोध करके ज्ञाता साधक निर्बीज समाधि में अविस्थित हो जाता है। वह धर्मभेद समाधि को सिद्ध करके अपनी आत्मा के स्वरूप को विष्णु भगवान में ईश्वर प्रणिधान की प्रक्रिया द्वारा विलीन कर देता है और अपनी चिरप्रतीक्षित- 'अतिमृत्यु' को प्राप्त कर लेता है।

नान्यः पन्था विद्यते ऽ यन्नाथ = विष्णु के 'पर' रूप की पराशक्ति के आवेश से आवेशित अयन के लिए अतिमृत्यु प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करने का इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता विद्यमान नहीं है।

प्रत्येक भूत में उसकी अन्तरात्मा निवास करती है। अतः अपनी उस अन्तरात्मा के आवेश से आवेशित प्रत्येक भूत 'अयन' कहलाता है। यह आवेश उस अयन में आभास्वरा, महाभास्वरा अथवा सत्प्रमहाभास्वरा के इन तीन स्तरों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है जिसके अनुसार वह भूत जड़ जगत् के पञ्चमहाभूतों का एक अवयव अथवा बनस्पतिजगत् के भूतों का एक अवयव अथवा प्राणीजगत् के भूतों का एक अवयव बन जाता है। यह उस भूत के अयन की अन्तरात्मा का आवेश उस भूत के पञ्चावर्तों के केन्द्र में स्थित विष्णु के रेत के प्रसारण की गति द्वारा आता है। अतः यह विष्णु ही उस भूत की अन्तरात्मा की चेतनता का कारण बनता है। अतः वह अन्तरात्मा का आवेश कुछ और न होकर विष्णु के रेत के प्रसार की गति का ही चेतना प्रदान करने वाला आवेश होता है। अतः यदि उस भूत के अयन को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अतिमृत्यु को पाना है और अपनी ज्ञाना प्रकार की होने वाली यौनियों से छुटकारा पाना है तो विष्णु के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त उसके लिए

कोई अन्य रास्ता विद्यमान नहीं है / आधुनिक विज्ञान का 38th शब्द लगता है इस 'अग्रज' शब्द से ही लिया गया है / दोनों शब्द समानार्थक हैं / 'अग्रज' का विखण्डन तभी होता है, जब उसमें से उसका आवेश निकल जाये तथा उसका अर्धपिण्ड का कण बिना आवेश का बन जाये / परन्तु वैदिक विज्ञान के मतानुसार प्रत्येक अर्धपिण्ड के कण में विष्णु के रेत के प्रसार (Flow) का आवेश निरन्तर रहता है जिसके कारण उसके अणुओं के पञ्चावर्त गतिशील रहते हैं और उन पञ्चावर्तों की गति के आवेश के द्वारा अणु (Atom) को नाभि (Nucleus) का प्रत्येक अवग्रव उस नाभि के बन्धन (Internal bonding of nucleons of the nucleus) में बँधा रहता है / अतः प्रत्येक भूत का अर्धपिण्ड वैदिक विज्ञान के मतानुसार एक 'अग्रज' (आवेशित कण) होता है / उसके अर्धपिण्ड का विखण्डन हो कर ऊर्जा में बदल कर सद्-ब्रह्म में विलीन होने से ही उस भूत को अपने स्वरूप से मुक्ति मिलती है / वही उसको वह 'अतिमृत्यु' होती है / मुक्ति के लिए उस भूत के अग्रज के लिए अतिमृत्यु प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता विद्यमान नहीं है /

अहम् के संस्कार के अंश से बँधा हुआ सत् का अंश - "विष्णु का रूप" ही यहाँ 'हंस' कहा गया है / अहम् का हं + अंश = हंस / मकार पूर्व के कारण 'श' का स् हो गया / स विश्वकृद् विश्वविदात्म योनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः /

प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिगुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ (16)

वह [सत्यलोक के केन्द्र में स्थित संज्ञासंज्ञिनः चेतनायुक्त विष्णु का स्वरूप] विश्व की रचना करने वाला "विश्वकृत्" है / प्रत्येक रचनाकार अपनी रचना की कृति के विषय में पूर्ण रूप से जानकार होता है / अतः वह विष्णु भगवान भी जो इस विश्व का रचना-कार है, इस विश्व के विषय में पूर्ण रूप से जानता है / अतः वह विष्णु भगवान-विश्वविद्- है /

वह विष्णु भगवान आत्मा की योनि को चारण करता है तथा वह प्रत्येक आत्मा की योनि के विषय में पूर्ण रूप से जानता है / अतः वह विष्णु भगवान- "आत्मयोनिर्ज्ञः" है / अर्थात् प्रत्येक आत्मा की योनि को जानने वाला है /

वह विष्णु भगवान-काल-की रचना करने वाला-कालकार- भी है /

‘काल’ को संवत्सर की गति के द्वारा जाना जाता है। संवत्सर की रचना अहोरात्रि के योगों द्वारा होती है। विष्णु के रेत के प्रसार (Flow) की ऋतु की धारा में जो रुद्र की ईशानी ऋतु की धारा बण जाती है, उसमें जैसे किसी प्रकार के संकल्प के उदय को अहः (=दिन) कहा जाता है और कुछ समय पश्चात् उस उदित संकल्प के पुनः उसी ऋतु की धारा में विलीन हो कर लुप्त होने को रात्रि कहा जाता है।
 त्रे-‘अहोरात्रि’- वैदिक विज्ञान के पारिभाषिक शब्द है। इन्हीं अहोरात्रि के ऋतु की धारा में क्रमिक निरन्तर संयोगों के प्रवाह को संवत्सर कहा जाता है। इस ऋतु की धारा के प्रवाह को बनाने वाला विष्णु भगवान् ही हैं। वह अपने रेत के प्रसार से इस ऋतु की धारा के प्रवाह को प्रवाहित करता है। इसी ऋतु की धारा के प्रवाह की गति से अहोरात्रि के संयोगों द्वारा ‘काल’ का सम्बन्ध बनता है। इस प्रकार वह विष्णु भगवान् इस संवत्सर के काल का रचनाकार-“कालकार”- बन जाता है।

‘संवत्सर’ की रचना ‘अर्णवसमुद्र’ में होती है। पृष्ठ (14) पर बना चित्र देखें। इस चित्र में अर्णव समुद्र में संवत्सर की प्रक्रिया के द्वारा ऋतु की धारा के प्रवाह से ‘पुरुष’ की रचना ‘सहस्रशीर्षा’ के रूप में दिख गई है।

‘संवत्सर’ की रचना को बताने वाले ऋग्वेद के मन्त्र निम्न प्रकार हैं-

- ① ॐ ऋतं च सत्यञ्चाभीच्छात्तपसो ऽध्यजायत ।
 ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ [ऋग्वेद-10-190-1]
- ② समुद्रादर्णवादीध संवत्सरो अजायत ।
 अहो रात्राणि विदधद्भिश्च स्वस्य मिषतो वशी ॥ [ऋग्वेद-10-190-2]
- ③ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
 दिवम् च पृथिवीम् चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ [ऋग्वेद-10-190-3]

इन मन्त्रों के अर्थ निम्न प्रकार बने हैं -

- ① ॐ तौ सर्वशक्तिमान् परमात्मा का नाम हैं जिसके अन्दर सत्, असत्, पुरुष, प्रकृति सभी समाहित हैं। अतः प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का नाम स्मरण करने का विधान है। उसी के लिए यहाँ यह ॐ का उच्चारण करना विधि सम्मत है।

जब सत् में सृष्टि सृजन की इच्छा जागृत होती है तो उस इच्छा के संकल्प के उदय के अहः के विकार के कारण उसमें क्षरण उत्पन्न हो जाता है और वह क्षर कर रूढ़ रूप से अनेक रूपों के क्षीरों में विभक्त हो जाता है। [स्वोऽहम् बहुस्याम।] इन्हीं बहुत सारे क्षीरों से अनन्त व्योम में सर्वव्यापी क्षीरसागर स्थापित हो जाता है। प्रत्येक क्षीर के केन्द्र में विष्णु अपने अकार (= 'अ') के नाम से स्थापित हो जाता है। इस प्रकार अक्षर सत् से क्षर असत् बन जाता है। 'अ' की रचना से पुनः सत् का स्वरूप ही 'असत्' कहलाता है।

इस असत् के क्षीरों में विष्णु के 'पर' रूप द्वारा अपने रेत का प्रसारण प्रारम्भ हो जाता है। इस रेत के प्रसारण की तरंगों से प्रत्येक क्षीर के सत्-अंश में कम्पन की गति प्रारम्भ हो जाती है। [तदैजात तन्नेजात-(यजुर्वेद का ईशोपनिषद्- 5)] उस कम्पन की गति में प्रत्येक क्षीर में भिन्नता होती है। इसी कारण ये अनेकों प्रकार के क्षीर कहें गये हैं। अतः अधिक कम्पन की शक्ति वाला क्षीर कम कम्पन की शक्ति वाले क्षीर को धक्का दे कर आगे की ओर सरका देता है। इस प्रकार उस क्षीर सागर में सभी क्षीर इधर उधर बह कर चलने लग जाते हैं। इस गतिशील बहने वाले क्षीरों के क्षीर सागर में भरे हुए सारे स्वरूप को 'ऋत' कहा जाता है।

इस 'ऋत' के क्रियाशील होने पर अधिक 'पराशक्ति' वाले 'पर' रूप के विष्णु के क्षीर के चारों ओर उससे कम 'पराशक्ति' वाले 'पर' रूप के विष्णु के क्षीर अधिक पराशक्ति वाले विष्णु के रेत के प्रसारण की क्रिया द्वारा संग्रहित होने लग जाते हैं। इनके संयोजन के द्वारा सर्वाधिक माप के सप्तपरावृत्तों (Seven Hypercircles) की इकाइयों का स्वरूप एक परिमित व्योम (space) में बनता है जिसे 'सत्यलोक' कहा जाता है। इस सत्यलोक के चारों ओर ऋत के अष्टपरावृत्तों (Eight Hypercircles) का रूप संग्रहित होता है। अष्टपरावृत्तों का माप सप्तपरावृत्तों के माप से कम होता है। (पृष्ठ 23 पर चित्र नं. 4)। अतः इस प्रक्रिया में कुछ ऋत उन अष्टपरावृत्तों से बाहर निकल कर जलने लग जाता है। इस ज्वलन प्रक्रिया से ऋताग्नि का स्वरूप बन कर उच्च स्तर की तपः उत्पन्न हो जाती है। अतः इन अष्ट (Eight Hypercircles) के जलते हुए लोक को 'तपः लोक' कहा जाता है। 'तपः लोक' की रचना 'सत्यलोक' के चारों ओर ऋत के जलने से होती है। इसी को "ऋतं च सत्यं च अभि-इक्ष्वात् तपसोऽद्यजायत" कहा गया है। 'सत्य लोक' के केन्द्र में स्थित सर्वाधिक पराशक्ति वाले विष्णु के क्षीर से जब विष्णु के रेत की धारा प्रस्फुटित होकर 'प्रयति' के रूप में [स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्] (ऋग्वेद-10,12)

बहती हुई सत्यलोक से बाहर आती है तो सत्यलोक के बाहर स्थित ऋत के द्वारा उस चारा के प्रवाह का प्रतिरोध (रुकावट) होता है। इस प्रतिरोध के अवरोध (Resistance) के कारण सत्यलोक से बाहर आकर क्षीर आपस में बड़ी जोर से टकराते हैं। जिससे उनमें टूट फूट होती है और उनके अंश विकरित होकर बड़ी तेजी से उछट कर इधर-उधर भागते हैं। इन्हीं अंशों की ऊर्जा से बहुत ही उच्च स्तर का ताप उत्पन्न हो जाता है। यही ताप की ऊर्जा (Heat energy) है। इसी प्रक्रिया से अष्टापरवृत्त (Eight hypercircle) बनते हैं तथा तपस् उत्पन्न करते हैं। अतः सत्यलोक के ऊपर बना यह आवरण जो उच्च ताप उत्पन्न करता है, 'तपः लोक' कहलाता है। इस प्रकार ऋत के तथा सत्यलोक के बनने के उपरान्त उस सत्यलोक के चारों ओर सत्यलोक की अधिकरण का आधार बनाकर ऋत के जल उठने से 'तपः लोक' उत्पन्न हो जाता है। अतः "ॐ ऋतम् च सत्यम् च अभि ईक्ष्वात् तपसः अधि अजायत्" का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

जब तपः लोक में क्षीरों के टकराने से उनके अंश टूट कर तपस् की ऊर्जा के रूप में इधर उधर उछट कर चलने लग जाते हैं तो वे तपः लोक से बाहर आकर तपः लोक के ऊपर के आवरण में स्थित ऋत के क्षीरों में समाहित होने लग जाते हैं। इस प्रकार तपः लोक के ऊपर के आवरण के क्षीर उनकी तपस् की ऊर्जा को अपने अन्दर समाहित करते हुए उन्हें ठंडा करते चले जाते हैं। परन्तु इस प्रक्रिया से तपः लोक के ऊपर के आवरण के क्षीरों में अतिरिक्त ऊर्जा का संचार हो जाता है जिससे वे नये प्रकार के सृजन के जगनों में समर्थ हो जाते हैं। इस नये प्रकार के सृजन के जनन में समर्थ क्षीरों के नये आवरण को 'जनः' लोक कहा जाता है। इस 'जनः' लोक की रचना तपः लोक में उत्पन्न तपस् को विलीन करने की प्रक्रिया द्वारा होती है। किसी संकल्प के उदय को विलीन करने की प्रक्रिया वैदिक विज्ञान में 'रात्रि' कहलाती है। इसी कारण इस मन्त्र में 'तपस्' के उत्पन्न होने के उपरान्त - "ततो रात्रि अजायत" कहा गया है। उसी रात्रि के उत्पन्न होने पर 'जनः' लोक की रचना हो जाती है।

इस प्रकार सत्यलोक, तपः लोक, जनः लोक, इन तीन लोकों की रचना से बनी रुक् इकाई का नाम रुक् - "अर्णु" यहाँ बताया

गया है। ऐसे बहुत से अर्णव जब उस क्षीरसागर के श्रुत में बन जाते हैं तो उस समुद्र को "अर्णव समुद्र" कहा जाता है। इस प्रकार तपः लोका के उपरान्त 'रात्रि' की प्रक्रिया द्वारा "अर्णव समुद्र" उत्पन्न हो जाता है। यह इस प्रथम मन्त्र का अर्थ है।

(2) इस अर्णव समुद्र को अपने अधिष्ठाता का आधार (Base to support) बना कर 'सम्बत्सर' - उत्पन्न होता है। 'सम्बत्सर' शब्द में "सम् + वत् + सर" - इन तीन शब्दों का योग है। सम् का अर्थ होता है एक दूसरे के साथ पूर्ण रूप से सामञ्जस्य स्थापित कर के दोनों की संयुक्त क्रिया को सम्प्रक्षेप प्रदर्शित करना। 'वत्' का अर्थ 'की तरह' - होता है और 'सर' का अर्थ 'आगे सरकना' या 'गति करना' अथवा 'बहना' होता है। अतः इन तीनों शब्दों के समायोग से जो अर्थ प्रकट होता है, वही 'सम्बत्सर' कहलाता है। अतः 'सम्बत्सर' का अर्थ निम्न प्रकार दिया जाता है।

अर्णव समुद्र के आधार में स्थित अर्णवों में विष्णु के रेत के प्रसार (Flow) के कारण श्रुत की तरंगों को प्रसारित (Transmit) करने की क्षमता बनी रहती है और वे कम्पन करते हुए इन श्रुत की तरंगों को प्रसारित करते रहते हैं। इस कम्पन की गति में दोलनों के अन्दर एक अर्णु को दूसरे अर्णु के साथ सामञ्जस्य बनाना पड़ता है इस सामञ्जस्य के अन्दर जब एक अर्णु अपने दोलन में कम्पन के अन्दर एक और सरक कर हटता है तो उस अर्णु के साथ सामञ्जस्य करने वाला दूसरा अर्णु भी उसके साथ-साथ चलता हुआ उसी और उतनी ही दूर सरक जाता है। फिर तीसरा अर्णु उस दूसरे अर्णु का इसी प्रकार अनुकरण करता हुआ गति करता है और इस प्रकार आपस में अपनी कम्पन की गति में सामञ्जस्य बनाने वाले अर्णवों की एक लम्बी श्रृंखला बन जाती है। यही बनी हुई अर्णवों की श्रृंखला एक चारा बन कर अपनी ऊर्जा के प्रवाह के सम्प्रक्षेप रूप द्वारा - "सम्बत्सर" का स्वरूप प्रकट करती है। इस अर्णवों की श्रृंखला की चारा के ऊर्जा के प्रवाह के चोरे में प्रत्येक अर्णु में स्थान-स्थान पर नये-नये संकल्पों का उदय होता रहता है। जिन्हें 'अहः' के नाम से जाना जाता है। उन उदित संकल्पों का

समय-समय पर किसी भी स्थान पर विलय भी हो जाता है। इस विलीनीकरण की प्रक्रिया को 'रात्रि' का नाम दिया जाता है। इन्हीं अहो रात्रि के योग से यह 'सम्बत्सर' के प्रवाह की गति चलती रहती है। इसी 'सम्बत्सर' के प्रवाह की गति को इन्काई को 'काल' कहा जाता है।

इस प्रकार इस 'सम्बत्सर' के प्रवाह की गति में किसी नये संकल्प के उदय से किसी नई रचना का सृजन काल, संकल्प के स्थित रहने की अवधि तक उसका स्थापना काल और अन्त में उस संकल्प के विलय होने पर उस का अन्त काल भी स्थित हो जाता है। प्रवाह की इस प्रत्येक क्रिया में समय की जो अवधि लगती है वह अवधि भी उस काल का एक अंश बन जाती है। इस प्रवाह की प्रक्रिया में किसी संकल्प की वर्तमान अवस्था की अवधि उसका वर्तमान काल और पूर्व की अवधि उसका भूत काल और आगे आने वाली अवधि उसका भविष्यत् काल बन जाती है। इस प्रकार इस सम्बत्सर की प्रक्रिया द्वारा 'काल' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

यह 'सम्बत्सर' का प्रवाह अणुओं की श्रृंखला की चारा में पूर्व वर्णित 'अहोरात्रि' की रचना करता हुआ और प्रत्येक अणु में तरंग के प्रसारण की प्रक्रिया में एक और एक के मिचमिचाने जैसी (मिश्रित) क्रिया करता हुआ सारे अणुव समुद्र को वक्ष में करने वाला (= वशी) बन जाता है।

इस प्रकार विष्णु भगवान अपने रेत के प्रसार द्वारा 'सम्बत्सर' को उत्पन्न करते हुए 'काल' की रचना करने वाले 'कालकार' बन जाते हैं।

(3) यही 'सम्बत्सर' का प्रवाह अपने द्वारा पूर्व में बनाये गये सूर्य और चन्द्रमा को द्यौ में चारण करने वाला 'द्याता' बन जाता है। वह द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और 'स्वः' लोक को भी चारण करने वाला द्याता बन जाता है। दधान रहे स्वः लोक पंच प्रकार का होता है। जिसमें (1) 'पुरुष', (2) अदिती, (3) 'क' वृण इन्द्र, (4) अश्विनौ, (5) षड्वृन्दारकाः (six quarks) की रचना होती है। स्वः लोक यहाँ सभी सात लोकों का प्रतीकात्मक अर्थ प्रकट कर रहा है। यही इस तीसरे मन्त्र का अर्थ है।

इस प्रकार विष्णु भगवान का 'कालकार' होने का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

वह विष्णु भगवान सर्वगुण सम्पन्न हो कर 'गुणी' है। जितने भी संकल्प सम्बत्सर की चारा में अहो रात्रि के मध्य स्थित रहते हैं, उन सब का अपने रेत में चारण कर्ता विष्णु भगवान ही बनता है। अतः वह उन सब संकल्पों की रचनाओं के सभी गुणों से सम्पन्न हो कर रहता है। अतः वह यहाँ - 'गुणी' - कहलाया है।

सर्वविद्यः = वह विष्णु भगवान सारी सृष्टि का सृजक तथा पालन अपने रेत के प्रसार में उदित होने वाले संकल्पों के द्वारा करता है। अतः वह सृष्टि की प्रत्येक छोटी-बड़ी रचना के विषय में पूर्ण रूप से जानता है। अतः वह सर्वविद्य [= सब को जानने वाला] है।

प्रधान = प्रत्येक संकल्प की रचना के केन्द्र में विष्णु भगवान उसके केन्द्रिय क्षीर के केन्द्र में सर्वाधिक पराशक्ति वाले बन कर सर्वाधिक 'पर' रूप में 'प्रधान' बन कर विद्यमान रहते हैं और उस रचना की प्रत्येक क्रिया का सुसंचालन अपनी शक्ति के द्वारा करते हैं।

क्षेत्रज्ञ = जितने भी परिमित ज्योम के क्षेत्र में कोई भी रचना विद्यमान रहती है, उस क्षेत्र की प्रत्येक क्रिया का पूर्ण ज्ञाता विष्णु भगवान होता है। उस सारे क्षेत्र में विष्णु के रेत का प्रसार विद्यमान होता है। अतः उस रेत के प्रसार द्वारा उस क्षेत्र की प्रत्येक संज्ञा का संज्ञितः बन कर विष्णु भगवान रहता है। यहाँ संज्ञा का अर्थ चेतना है और संज्ञितः का अर्थ उस चेतना की अनुभूति करने वाला है। किसी रचना के परिमित ज्योम के क्षेत्र में उदित प्रत्येक संकल्प की चेतना की अनुभूति को अनुभव करने वाले को ही उस क्षेत्र का ज्ञाता कहा जाता है। अतः वह विष्णु-क्षेत्रज्ञ - है।

पतिः = वह विष्णु भगवान प्रत्येक रचना के केन्द्र में विद्यमान रह कर उसका रक्षायता तथा पालक बनता है। वह अपने रेत के प्रसार के संकल्पों द्वारा उस रचना की प्रत्येक क्रिया का संचालन तथा नियन्त्रण करता है। वह उस रचना का पूर्ण रूप से स्वामी बन कर उसका 'पति' कहलाता है। सभी रचनाओं का 'पति' होने के कारण वह पूर्ण सृष्टि का पति बन जाता है। अतः यहाँ उस विष्णु भगवान को सृष्टि का 'पति' कहा गया है।

गुणेशः = किसी भी रचना में विभिन्न प्रकार के संकल्पों के उदय के कारण जितने भी गुण उत्पन्न हो जाते हैं, उन सभी गुणों का सृजनकर्ता, स्थापनकर्ता वह विष्णु भगवान ही अपने रेत के प्रसार द्वारा बनाता है। अतः वह उस रचना के सभी गुणों का नियन्ता बन कर उनका ईश बन जाता है। इसी कारण प्रत्येक रचना के गुणों का ईश (= गुणेश) उस विष्णु भगवान को बताया गया है। सृष्टि की प्रत्येक रचना के गुणों का ईश बनने के कारण वह सारी सृष्टि के गुणों का भी ईश बन जाता है।

संसार मोक्ष स्थिति बन्धन हेतुः = यह विष्णु का स्वरूप ही संसार से मोक्ष प्राप्त करने का हेतु, संसार में स्थित रहने का हेतु और संसार में जीवन मरण के चक्र में फँस कर बँधे रहने का हेतु एक जीव के लिए बनता है।

जब जीव अपने मन में उदित होने वाले सभी संकल्पों का निरोध करके अपने चित्त की सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध कर देता है और अपनी आत्मा के विशुद्ध रूप में अविस्थित हो जाता है तो उसे इस संसार के भौतिक रूप से मोक्ष प्राप्त हो जाता है और वह सद्-ब्रह्म में विलीन होकर सद्-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह अवस्था तभी उपस्थित होती है जब जीवात्मा के स्वरूप में स्थित सभी पञ्चावर्त सिमट कर विष्णु के स्वरूप में पहले विलीन हो जाते हैं। उसके पश्चात् विष्णु भगवान अन्तर्धान हो कर सद्-ब्रह्म में विलीन होते हैं। अतः जब तक जीवात्मा के अन्दर स्थित सभी पञ्चावर्तों को विष्णु भगवान अपने में विलीन नहीं करते, तब तक उस जीवात्मा को संसार से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है और तब तक सद्-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार विष्णु भगवान मोक्ष प्राप्त करने में बीच की व्यड़ी बन कर संसार से मोक्ष प्राप्त करने का हेतु बनते हैं। जीवात्मा को अपने अन्दर खींच कर सद्-ब्रह्म में विलीन करने वाला विष्णु भगवान ही बनाता है।

जब अर्धपिण्ड के केन्द्र में स्थित हो कर विष्णु भगवान अपने रेत के प्रसार की ऊर्जा से उस अर्धपिण्ड को पोषित करता रहता है और उस अर्धपिण्ड में स्थित उसकी अन्तरात्मा को चेतन स्वरूप में स्थिर रखता है तो वही विष्णु भगवान संसार में उस अर्धपिण्ड की स्थिति का कारण बन जाता है। जब तक विष्णु के रेत द्वारा प्राप्त पोषण के द्वारा

वह पुष्ट होता रहता है तब तब वह अर्धपिण्ड अपनी स्थिति को संसार में बनाये रखता है। तब तब उसकी अन्तरात्मा भी उसमें निहित रहती है। परन्तु जैसे ही विष्णु भगवान् अपने रेत के इस पौषण को उस अर्धपिण्ड को देना बन्द कर देता है तो तुरन्त उस अर्धपिण्ड का अर्ध विखीण्डित हो कर ऋतु की ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है और उस अर्धपिण्ड की स्थिति उस संसार में से मिट जाती है। [Matter converts into energy at that time and the mass of that particle vanishes immediately.] इस प्रकार विष्णु भगवान् अर्धपिण्डों के बने इस संसार की स्थिति का हेतु बनता है।

जब तब विष्णु के प्रसारित रेत की चारा में नये-नये संकल्प उदित होते रहते हैं तब तब जीवात्मा के बने पञ्चावर्ती के कलिलवर्ती में उन संकल्पों को कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर में बाँध कर रखने वाले छोटे-छोटे आवर्त निर्मित होते रहते हैं और पुराने आवर्त काल की प्रक्रिया द्वारा विस्मृत होने के कारण विलीन होते रहते हैं। इस प्रकार नये-नये संकल्पों के उदित होने पर बने नये-नये कलिलों के आवर्त उस जीवात्मा के शुद्ध पञ्चावर्ती को सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर के आवर्ती के अन्दर बाँध कर रखते हैं, जिनके कारण वह जीवात्मा बार-बार स्थूल शरीरों को धारण करती हुई बार-बार मृत्यु के दुःख से जीव को त्रस्त करती है। इस प्रकार वह जीवात्मा जीवन मरण के चक्र में फँस कर संसार में बँधी रहती है। अतः विष्णु भगवान् अपने रेत के प्रसार में इन नये-नये संकल्पों को उदित करके जीवात्मा के लिए संसार में बँधने का हेतु बनता है।

इस प्रकार विष्णु भगवान् जीवात्मा के लिए संसार में मोक्ष, स्थिति और बन्ध इन तीनों अवस्थाओं का हेतु बनता है। अतः यह जीवात्मा युक्त जीव का कार्य है कि वह किस हेतु का चयन करके किस अवस्था को प्राप्त करता है।

इस चयन की प्रक्रिया के सही पथ को बताने के लिए वेद का वचन है कि - "असतो मा सद् गमयः। तमसो मा ज्योतिर्गमयः।" अर्थात् असत् की ओर जा कर संसार के बन्धन में मत बँधो अपितु सत् की ओर जा कर मोक्ष प्राप्त करो। असत् के अन्धकारमय संसार में मत जाओ अपितु सद्-ब्रह्म के ज्योतिर्मय स्वरूप की ओर जाओ।

अज्ञान के अन्धकार में फँस कर अज्ञानी संसार के भँवरचक्र में फँस जाता है और असत् स्वरूप में ही लीज रहता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष सद्-ब्रह्म के ज्योतिर्मय स्वरूप को जान कर उसको प्राप्त करने का प्रयास करता है और योगाभ्यास द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष की गति सदैव असत् से सत् की ओर तथा अज्ञान के अन्धकार से ज्ञान की ज्योति की ओर ही होती है।

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।

य ईशो अस्य जगतो नित्यमेव ज्ञान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाम ॥ (17)

स तन्मयो = सः तत् मयः = वह विष्णु भगवान् उस सद्-ब्रह्म से युक्त है। सद्-ब्रह्म का 'पर' रूप में बना सच्च ही विष्णु के स्वरूप की रज्जु क्षीर के सत् के अंश के केन्द्र में प्रकट करता है। क्षीर का सत् का अंश सत् की रज्जु पिण्डी के रूप में आदिदेव 'सद्र' के प्रथम स्वरूप को प्रकट करता है और उसके आलिङ्गन के केन्द्र में हरि-विष्णु का प्रथम स्वरूप प्रकट होता है। इस प्रकार वह विष्णु उस आदिदेव सद्र की सत् की पिण्डी के केन्द्र में 'पर' रूप में स्थित हो कर अपनी पराशक्ति के सहित उस सद्-ब्रह्म के स्वरूप-मय है। अर्थात् सद्-ब्रह्म के स्वरूप से ही बना हुआ है। यहाँ पर 'सः' शब्द विष्णु के लिए सर्वनाम के रूप में और 'तत्' शब्द सद्-ब्रह्म के लिए सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः इसका उपरोक्त अर्थ बनता है।

हि अमृत = वह विष्णु भगवान् निश्चय पूर्वक अमृत स्वरूप है। अर्थात् वह अमर है। सत्यलोक के देव निष्ठा के रूप में विष्णु के चार स्वरूप बताये गये हैं। (1) अच्युताः, (2) शुद्ध निवासाः, (3) सत्यामाः, (4) संज्ञा सञ्ज्ञिनः। इनमें 'शुद्ध निवासाः' की व्याख्या तो - "स तत् मयः" की व्याख्या से सद्-ब्रह्म के शुद्ध रूप के विष्णु में निवास के कारण हो जाती है। "अच्युताः" कहने से उसका सदैव अपने स्थान पर स्थिर रूप में रहने का अर्थ प्रकट होता है। अतः वह कभी भी मृत अवस्था को प्राप्त करके अपने स्थान के स्वरूप से नहीं हटता है। सद्-ब्रह्म का सीधा प्रथम अंश होने के कारण वह 'अमृत' स्वरूप है।

जब तक सत् में क्षरण होकर बना असत् का क्षीर रहेगा तब तक विष्णु की सत्ता विद्यमान रहेगी। सत् तथा असत् दोनों ब्रह्म के अमृत स्वरूप हैं। सत् से असत् और असत् से सत् उत्पन्न होने का चक्र दोनों के पूर्व युग में सदैव चलता रहता है। इसी में दोनों की सत् की तथा असत् की अमरता निहित है। इसी कारण सत् के अंश क्षीर में निहित 'अ' (=विष्णु) का स्वरूप निश्चय पूर्वक अमृत स्वरूप है।

ईश संस्थो = महान ईश तो महेश रुद्र है जो आदि देव है और जो सृष्टि सृजन की इच्छा के काम के संकल्प द्वारा सत् में क्षरण उत्पन्न होने से बने असत् के रूप क्षीर की सत् के अंश की बनी एक पिण्डी के रूप में महान देव के रूप में विद्यमान होते हैं। इसी कारण उसे महोदेव, महेश्वर, देवाधिदेव आदि नामों से कहा जाता है। उस 'ईश' क्षीर की सत् के अंश की पिण्डी के केन्द्र में संस्थापित विष्णु भगवान हैं जो अपने 'पर' रूप में पराशक्ति से युक्त होकर विद्यमान हैं। इसी कारण यहाँ पर विष्णु भगवान के स्थित रहने के स्थान को बताने के लिए उसे महेश में स्थित बताने के कारण "ईश संस्थः" - कहा है। "ईश संस्थः" का अर्थ है ईश के अन्दर स्थित। सब से बड़ा 'ईश' महेश है। आदि देव महेश की सत् के अंश की पिण्डी एक क्षीर के रूप में असत् के अन्दर बनती है। वही रुद्र का प्रथम अवतरण है। उसके केन्द्र में विष्णु के स्थित रहने के कारण विष्णु को 'ईश संस्थः' - कहा गया है।

ज्ञः = वह विष्णु सब कुछ जानने वाला है। अतः उसे 'ज्ञः' कहा गया है।

सर्वगो = विष्णु भगवान का निवास क्षीर सागर के एक क्षीर के केन्द्र में बताया गया है। क्षीर सागर सर्वत्र भरा हुआ है। अतः उसके क्षीर सर्वत्र विद्यमान हैं। अतः उन क्षीरों के केन्द्र में स्थित विष्णु भगवान भी सर्वत्र विद्यमान हैं। अतः विष्णु भगवान सर्वत्र गये हुए हैं। इसी कारण उन्हें यहाँ "सर्वगो" - कहा गया है। 'सर्वगो' का अर्थ सर्वत्र गया हुआ - होता है।

भुवनस्य अस्य गोप्ता = वह विष्णु भगवान इस समस्त सृष्टि के भुवन का रक्षक हैं।

संख्य शास्त्र में चौदह प्रकार के भूत सर्ग - "चतुर्दशधा भूतसर्गः" - कहकर बताये गये हैं। ये चौदह भूत सर्ग सप्त ब्रह्म लोकों में विष्णु के 'सप्तार्द्धगर्भा' रैत के प्रसार से बनते हैं। जब विष्णु का रैत प्रसारित होता हुआ आगे चलता है तो प्रत्येक लोक में वामावर्त में तथा दक्षिणावर्त में अर्ध वूर्णन ($\pm \frac{1}{2}$ spin) करता हुआ दो-दो भूत सर्ग बना देता है। प्रत्येक भूत सर्ग में एक देव निष्ठा का स्वरूप उद्भव पाकर स्थापित हो जाता है। इस प्रकार सातों लोकों में एक अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) के अन्दर चौदह प्रकार के भूत सर्ग बनते हैं। उन भूत सर्गों में स्थित देवों के निष्ठा का रहने का एक भुवन (orbital) बनता है। अतः चौदह भूत सर्गों के देव निष्ठाओं (Group of DEVA's) के चौदह ही भुवन बनते हैं। उन चौदह भुवनों को मिला कर अणु (Atom) की नाभ (Nucleus) का एक भुवन बनता है जो प्रत्येक भूत की रचना करने के लिए पदार्थ की मात्रा की एक इकाई बनता है। इस नाभ के एक भुवन का रक्षक विष्णु भगवान ही बनता है जो अपने सप्तार्द्धगर्भा रैत के प्रसार की शक्ति के द्वारा पूरी नाभ के स्वरूप को पुष्ट करता हुआ उसे एक इकाई में बाँध कर स्थापित करके अपने स्वरूप में स्थित रखता है। इसी कारण यहाँ विष्णु भगवान को "इस भूत के भुवन का रक्षक" कहा गया है। क्योंकि वह भुवन एक उत्पन्न हुए भूत का ही बनता है - चाहे वह सूक्ष्म रूप में भूत हो अथवा स्थूल रूप का भूत हो।

यहाँ तपस्वी साधक का शरीर भी एक भुवन है। उसका रक्षक भी वह विष्णु भगवान ही है।

पूर्व प्रसंग के अनुसार एक क्षीर में स्थित सत् के अंश की पिण्डी के रुद्र के स्वरूप का भी एक भुवन है, जिस में वह विष्णु स्थित है। उस एक भुवन का भी वह विष्णु रक्षक है। क्योंकि उस क्षीर के केन्द्र में स्थित विष्णु के 'पर' रूप के लुप्त होने पर उस क्षीर की सत्ता ही समाप्त हो जाती है और उस क्षीर का असत् का स्वरूप सत् में बदल जाता है। उस समय असत् से सत् उत्पन्न हो जाता है। अतः एक क्षीर के भुवन का रक्षक बन कर विष्णु भगवान विद्यमान

रहते हैं। इसी कारण यहाँ पर इस शीर के भुवन का रक्षक बताने के लिए विष्णु भगवान के लिए - "भुवनस्य अस्य गोप्ता" कहा गया है।

य ईशो अस्य जगतो नित्यमेव = जो विष्णु भगवान इस जगत् के शासन करने में नित्य ही (सदैव ही) समर्थ हैं। जो इस जगत् के शासन करने में नित्य रूप से ही विद्यमान रहता है।

इस जगत् की रचना पञ्चमहाभूतों के भौतिक रूप द्वारा भूतों के निर्माण से तथा उन भूतों में स्थित उनकी अन्तरात्माओं के द्वारा होती है। उन भूतों के पदार्थ की रचना की इकाई एक अणु (Atom) होता है। उस अणु की रचना द्विस्तरीय होती है। प्रथम स्तर की रचना में पञ्चारेचक्र के द्वारा "पञ्चावर्त" की रचना पूर्ण रूप से विशुद्ध ऋतु के द्वारा ही होती है। उसके उपरान्त उस पञ्चावर्त के ऊपर सप्तचक्र के रूप में सात ब्रह्म लोकों - "सत्यं, तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः, भूः" के रूपों में होती है। इन सातों लोकों के केन्द्र में तथा उस पूर्व बने पञ्चावर्त के केन्द्र में समान रूप से एक ही बिन्दु पर विष्णु भगवान की सत्ता 'पर' रूप में स्थापित रहती है। ये दोनों रचनाएँ - पञ्चावर्त की और सप्तलोकों की उस एक ही विष्णु के नियन्त्रण में रहती हैं। ये दोनों रचनाएँ विष्णु के रेत में विभिन्न प्रकार से उदित संकल्पों के द्वारा होती हैं। विष्णु के रेत द्वारा पहले पञ्चावर्त का स्वरूप नियन्त्रित होता है और उस पञ्चावर्त के स्वरूप द्वारा सप्त लोकों का स्वरूप नियन्त्रित होता है। इस प्रकार अणु (Atom) का पूर्ण स्वरूप विष्णु द्वारा उसके रेत के प्रसार की शक्ति से नियन्त्रित होता है। अणु तथा अणु में स्थित उसके अन्तरात्मा दोनों विष्णु के रेत के प्रसार से नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अणु को नियन्त्रित करता हुआ विष्णु सारे जगत् का शासक नित्य रूप में बन जाता है। क्यों कि जगत् की रचना की इकाई एक अणु है। अतः एक अणु के स्वरूप के शासित होने पर सारा जगत् शासित हो जाता है और उसका शासक नित्य रूप में विष्णु भगवान बन जाता है। अणु की द्विस्तरीय उपरोक्त रचना ही 'परा' प्रकृति तथा अपरा प्रकृति कहलाती है।

नान्यो हेतुर्विद्यत ईशानाय = यह जगत् जो नियमित रूप से किसी नियन्त्रण के आधीन रह कर व्यवस्थित रूप से कार्य कर रहा है, उसका यह प्रमाण है कि कोई एक परा शक्ति इसकी शासक है। यह

परा शक्ति किसी सर्वाधिक 'पर' रूप में स्थित देव की होती है। यह सब देव पीछे के मन्त्रों में विष्णु देव बताया जा चुका है। इस विष्णु देव के अतिरिक्त इस जगत् के शासन करने का कोई अन्य हेतु विद्यमान नहीं है। यह विष्णु भगवान का परा शक्ति से युक्त 'पर' रूप ही निश्चय पूर्वक इस जगत् के शासन का हेतु बनता है।

यो ब्रह्माणम् विदधाति पूर्वम् यो वै वेदांश्च प्रीदोति तस्मै ।
तम् ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशम् मुमुक्षुर्वै शरणमहम् प्रपद्ये ॥ (18)

यो ब्रह्माणम् विदधाति पूर्वम् = जो विष्णु भगवान पहले अपनी नाभि के केन्द्र से प्रसारित होकर प्रवाहित होने वाले रेत की जाल में जनः लोक में देव के रूप में ऋत के बने अष्टापरावृत के अष्टादल कमल पुष्प के ऊपर चतुर्मुखी ब्रह्मा की रचना करता है। सब से पहले सत्य लोक के केन्द्र में विष्णु की स्थापना 'पर' रूप में होती है। फिर विष्णु के केन्द्रिय बिन्दु उसकी नाभि से उसका रेत प्रसारित हो कर बाहर की ओर बहता है। वह सत्यलोक से बाहर आ कर बाह्य ऋत से टकराता हुआ और तपस् को उत्पन्न करता हुआ अंगिरा आदि सप्त ऋषियों के सप्त परावृत की ऋत में रचना करता है। उसके पश्चात् तपस् की ऊर्जा को लेकर उछट कर चलते हुए क्षीर विष्णु के रेत के प्रवाह के साथ जनः लोक में प्रवेश करते हैं। वहाँ पर पहले से बने क्षीरों के ऋत के सप्त परावृत में तपस् को चारण किये हुए क्षीर प्रवेश करके अष्टदलीय अष्टापरावृत की रचना करता है जो अष्टदलीय कमल पुष्प की भाँति बनता है। उन ऋत के अष्टापरावृतों के आधार के ऊपर जनः लोक में चतुर्मुखी ब्रह्मा की सब देव के रूप में रचना होती है। इस चतुर्मुखी ब्रह्मा के चार स्वरूपों के नाम हैं - (1) ब्रह्म पुरोहित, (2) ब्रह्म कायिक (3) ब्रह्म महा कायिक, (4) अमर । ब्रह्म पुरोहित का स्वरूप ऋत की चाराओं की अग्नि को आगे के लोकों - महः लोक, स्वः लोक, भुवः लोक

और मूल लोक के पुरों की रचना के लिए उन पुरों के अन्दर स्थापित करता है। ब्रह्म का प्रिय उस ऋत की अग्नि को उन लोकों में स्थापित देवों की काया के रूप में स्थित करता है। ब्रह्म महाकाय प्रिय स्वरूप पूर्व लोक में रचित देवों के स्वरूप द्वारा अगले लोक में स्थापित देव की महाकाया की रचना करता है। इस महाकाया वाले देव के स्वरूप में नये गुण चर्म लाने के लिए उन देवों की काया का यज्ञ के द्वारा समायोजन किया जाता है जिनमें वे चर्म पहले से ही विद्यमान थे। अमर स्वरूप इन देवों को विष्णु के रेत द्वारा निरन्तर ऋत की अग्नि के प्रवाह का प्रोषण प्रदान करता हुआ अमरत्व प्रदान करता है। जिसके कारण प्रत्येक लोक में स्थापित देव अमर हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को ऋग्वेद में निम्न प्रकार बताया गया है —

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि चर्माणि प्रयमान्यासन् ।
ते ह जाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
(ऋग्वेद - 1-164-50)

इस मन्त्र का पदपाठ और अर्थ निम्न प्रकार बनते हैं —

यज्ञेन = यज्ञ की प्रक्रिया के द्वारा। यह यज्ञ सृष्टि सृजन की प्रक्रिया में किया जाने वाला विशेष प्रकार का यत्न है। किसी विशेष लक्ष्य का साध्य सफलता पूर्वक प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला विशेष प्रायोजित यत्न 'यज्ञ' कहलाता है। यज्ञ यत्ने च्यातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। जिससे इसका पूर्वोक्त अर्थ बनता है। अतः यज्ञ के इस प्रायोजित यत्न के द्वारा अर्थात् पूर्व देव के सृजन के यज्ञ के द्वारा।

यज्ञम् = किसी अगले प्रायोजित लक्ष्य की साधना के लिए किये गये विशेष यत्न के यज्ञ को। अर्थात् दूसरे नये देव के सृजन के लिए किये गये विशेष यत्न के यज्ञ को।

अयजन्त = क्रमानुसार बहुत से यज्ञों को इसी क्रम से किया।

देवाः = सभी देवताओं ने।

तानि = वे सब।

चर्माणि = गुण तथा स्वभावों के धारण किये हुए सभी चर्म।

प्रद्युमानि = पहले से ही विद्यमान ।

आसन् = थे ।

ते = वे (देव) ।

ह = सचमुच रूप में ।

जाकम् = स्वर्ग लोक को । विष्णु के रेत के प्रसार के प्रक्षेपण के बल से प्रक्षेपित होकर कोई देव जिस लोक में जा कर अपनी स्थायी साम्य गति (stationary state of motion set up in a particular locus of an orbit) को प्राप्त कर लेता है और अपनी अर्जित ऊर्जा द्वारा समाज रूप को गति करने लग जाता है वही लोक उस देव का स्वर्ग लोक कहलाता है । सु+शृक् + सुप् से 'स्वर्ग' शब्द की निष्पत्ति होती है । अतः इसका इस प्रकार का अर्थ बनता है ।

मीहमानः = एक देव के सृजन के यज्ञ की आहुति के द्वारा दूसरे देव के सृजन के यज्ञ को सम्पन्न करने की प्रक्रिया द्वारा निरन्तर देवों के स्वरूप को महाकायिक बनाते हुए मीहमा से युक्त होते हुए देव गण ।

सचन्तः = (अपनी उचित स्थिति को) प्राप्त हुए ।

यत्र = जहाँ पर पूर्व वर्णित स्वर्ग लोक में ।

पूर्वे = जो देव पहले से ही स्वर्ग लोक में उचित स्थान पर उचित अवस्था में स्थित हो चुके हैं ।

साध्याः = किसी विशेष धर्म को चरण करने वाले देव के स्वरूप को प्राप्त करने वाले देवों के रूप की प्राप्ति के अनेकों लक्ष्य ।

सन्ति = हैं ।

देवाः = अन्तिम रूप में प्राप्त देवों के स्वरूप ।

अर्थात् पूर्व देव के सृजन के लिए किये गये सृष्टि सृजन के यज्ञ के द्वारा अगले देव के सृजन के लिए किये गये यज्ञ को सभी देवता यज्ञ करते हुए सम्पन्न करते हैं । जिस अन्तिम साध्य देव की प्राप्ति के लिए इस क्रम से यज्ञ किये जाते हैं, उस साध्य देव के गुण, स्वभावों

के सभी चर्म उन पूर्व के सृजित देवों में पहले से ही विद्यमान थे, जिन पूर्व देवों के यज्ञ की दीव के द्वारा अन्तिम साध्य देव के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए यज्ञ किया जाता है। इस प्रकार एक देव के यज्ञ से दूसरे देव के यज्ञ को सम्पन्न करने की प्रक्रिया के अनुक्रम से सचमुच ही वे देव महाज स्वरूप को प्राप्त करते हुए उस अपने स्वर्ग लोक को प्राप्त हुए जहाँ पर उन साध्य बनाये गये गुणों और स्वभावों के चर्मों को धारण करने वाले बहुत से देव पहले ही विद्यमान थे।

किसी देव का वह लोक उसका स्वर्ग लोक कहलाता है जिस लोक में वह देव अपनी अर्जित ऊर्जा के अनुसार अपनी गति की साम्य अवस्था को प्राप्त करता है। उसी लोक में वह देव स्थायी रूप से निवास करता है।

इसी प्रक्रिया से ब्रह्मा जी ब्रह्मपुरोहित बन कर सृष्टि सृजन के इस यज्ञ को करते रहते हैं और देवों की ब्रह्म काया को ब्रह्म महाकाया बनाते हुए अमर बनाते रहते हैं। इस प्रकार के ब्रह्मा को जो विष्णु देव सृष्टि सृजन की प्रक्रिया के संचालन के लिए पहले बनाते हैं।

“यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै” जो विष्णु भगवान् अपने उस पुत्र ब्रह्मा के लिए वेदों को प्रवृत्त करता है। वेदों में जो संहित ज्ञान है, उसे ब्रह्मा की रचना के स्वरूप में भर देते हैं। वेदों के ज्ञान के सभी संकल्प उसमें उद्भूत हो जाते हैं।

विष्णु भगवान् अपने रेत के प्रसार द्वारा सारी सृष्टि के सृजन कर्ता और पालक बनते हैं। इस कारण वे सारी सृष्टि के सभी प्रकार के ज्ञान के ज्ञाता [ज्ञः] कहलाते हैं। उस सारे ज्ञान को वे वेदों में निहित करते हैं तथा उन वेदों को पाठ करने तथा भाष्य करने के लिए अपने पुत्र ब्रह्मा के ब्रह्म-पुरोहित स्वरूप के लिए प्रवृत्त करते हैं। उन वेदों में निहित ज्ञान के अनुरूप ब्रह्मा जी सारी सृष्टि का आगे का सृजन तथा पालन करते हैं। ब्रह्मा जी इस सृष्टि सृजन के विधान में वेदों के अन्दर दिये गये विधान के अनुरूप ही चलेते हैं तथा उसके विरुद्ध नहीं जा सकते। ब्रह्मा जी सृष्टि सृजन के कार्य में स्वतन्त्र नहीं हैं।

अपितु वे स्रष्टा विद्यान के नियमों के द्वारा बंधे हुए हैं। यह विद्यान वेदों में निहित है और इससे रचयिता स्वयं विष्णु भगवान् हैं। सृष्टियों को तो उस विद्यान के किसी नियम के ज्ञान की कभी-कभी अनुभूति होती है जिसे वे मन्त्र बद्ध करके साधारण जन के लोगों के सामने व्यक्त कर देते हैं। इस प्रकार सृष्टि तो वेदों के मन्त्रों के मन्त्र दृष्टा बनते हैं, वास्तव में उन मन्त्रों में निहित ज्ञान के रचयिता तो स्वयम् विष्णु भगवान् ही बनते हैं। उस ज्ञान को अपने पुत्र ब्रह्मा को देने के लिए उन वेदों को उस ब्रह्मा के लिए प्रवृत्त करते हैं। सृष्टि सृजन के सभी संकल्पों को वे ब्रह्मा की रचना में बद्ध कर देते हैं।

कर्मोद्घोष विष्णु भगवान् ही बनते हैं। ब्रह्मा के कर्मों के उद्घोष भी विष्णु भगवान् ही बनते हैं। ऐसा वे ब्रह्मा को वेदों का विद्यान सृष्टि सृजन के लिए प्रदान करके करते हैं।

तम् ह वैवर्मात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहम् प्रपद्ये =

जो विष्णु भगवान् अपने रेत के प्रसार की द्युति से देवताओं को, आत्माओं को तथा बुद्धियों को प्रकाशित करता है, मैं मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक-मुमुक्षु - उस विष्णु भगवान् की शरण में जाता हूँ। उन्हीं की शरण में जाने से ईश्वर प्रणिधान - की प्रीति या द्वारा मुझे मोक्ष प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

विष्णु अपने रेत के प्रसार की ऊर्जा द्वारा सातों लोकों में देवों के निवासों को प्रकाशित करते हैं। उसी अपने रेत के प्रसार की ऊर्जा द्वारा आत्मा के अन्दर बसने वाले पञ्चावर्ती का प्रकाश करते हैं। इन्हीं पञ्चावर्ती के प्रकाश द्वारा प्रत्येक भूत के अणुओं में उस भूत की अन्तरात्मा का प्रकाश होता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत की आत्मा का प्रकाश करने वाले भी विष्णु भगवान् ही होते हैं।

एवम् वह विष्णु भगवान् अपने रेत के प्रसार के प्रवाह की धाराओं के द्वारा रुद्र की ईशानी श्रुति की धाराओं की रचना

करके 'पुरुष' की रचना करता है। 'पुरुष' की रचना ही-आत्मा का प्रकाश कहलाती है। क्योंकि जो यह 'पुरुष' है, वही मैं अपनी 'आत्मा' के रूप में हूँ, ऐसा यजुर्वेद में बताया गया है। [यौ-
५ सावसौ पुरुषः सौऽहमस्मि "(ईशोपनिषद्-16)]

रुद्र की इन ईशानी श्रुत की चाराओं में विभिन्न प्रकार के मन के संकल्प उदित होते हैं और उस ईशानी के किसी सञ्चुकोच में रुक छोटा सा आवर्त बना कर उस में स्थित हो जाते हैं। वह उस संकल्प का आवर्त ईशानी चारा में प्रवाहित होता हुआ 'पुरुष' के दशांगुल माध्यम द्वारा जब दशमौलिक अर्धों में जा कर स्थायी रूप से आवच्छ हो जाता है तो वही बुद्धि की रचना कहलाती है। इस प्रकार विष्णु भगवान रुद्र की ईशानी श्रुत की चाराओं में अपने रेत का प्रसार करके जीव की बुद्धि का भी प्रकाश करते हैं।

इस प्रकार विष्णु भगवान अपने रेत के प्रसार की ऊर्जा से देवों का, आत्मा का और बुद्धि का प्रकाश करने वाले बनते हैं। जो विष्णु का तेज देवों का, आत्मा का और बुद्धि का प्रकाश बनता है उसी विष्णु के तेज के स्वरूप की शरण में मैं-मुमुक्षु-मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ जाता हूँ। वही विष्णु का 'पर' रूप का तेज मेरी आत्मा में स्थित पञ्चावर्तों के स्वरूप को समेट कर अपने 'पर' रूप में स्थापित कर ले और मेरी आत्मा को मेरे 'पुरुष' के स्वरूप से मुक्ति प्रदान कर दे। मैं 'ईश्वर प्रणिधान' की प्रक्रिया को अपना कर अपने आप को उस विष्णु भगवान के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित करता हूँ और उस विष्णु देव भगवान की शरण में जाता हूँ।

"आत्मबुद्धिप्रकाशम्" का अर्थ-अपनी आत्मा का बोध कराने वाली बुद्धि के प्रकाश को- भी करते हैं। विष्णु भगवान का 'पर' रूप ही उस विष्णु देव की आत्मा है। उस आत्मा का बोध

कराने वाली बुद्धि ही ज्योतिर्मय बुद्धि है। उस ज्योतिर्मय बुद्धि का प्रकाश ही सही ज्ञान का प्रकाश है। उसी ज्ञान के प्रकाश की शरण में मैं 'मुमुक्षु' मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ जाता हूँ। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा मैं मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करता हूँ। साथ में विष्णु देव की शरण में जा कर भक्ति मार्ग को अपना कर भी मैं मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता हूँ। इस प्रकार यहाँ ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग दोनों का बड़े ही विवेक पूर्ण ढंग से सामञ्जस्य करके मोक्ष प्राप्त करने का उपाय बताया है। इसी ज्ञान के द्वारा मैं अपनी आत्मा के बोध को कराने वाली बुद्धि के प्रकाश को प्राप्त करता हूँ।

मोक्ष प्राप्ति केवल ज्ञान मार्ग के द्वारा अथवा केवल भक्ति मार्ग के द्वारा एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। अकेले एक मार्ग पर चलने से कहीं पर भी विचलित होने का अवसर बना रहता है। परन्तु जब ज्ञान पूर्वक भक्ति मार्ग पर चला जाता है तो साध्य सुदृढ मति बन कर एक-एक कदम अपने पथ पर बढ़ता ही चला जाता है। ज्ञान उसे अपने उचित पथ से कभी भी विचलित नहीं होने देता और भक्ति उसे उचित सिद्धियों का फल प्रदान करती चली जाती है। अतः वह साध्य सुगमता से अपने मोक्ष के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवाजलम् ॥ (16)

[विष्णु देव के 'पर' रूप में अपनी आत्मा के स्वरूप का प्रवेश करा कर मोक्ष प्राप्त करने के ज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त उस विष्णु देव के सद-ब्रह्म में अन्तर्ध्यान होकर विलीन होने से सद-ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वही आत्मा के लिए अन्तिम लक्ष्य का धाम है जिसे उसने प्राप्त करना है। अतः इस मन्त्र में अब उस सद-ब्रह्म का वर्णन किया जाता है। सद-ब्रह्म के सभी सर्वनाम अथवा विशेषण जपुंसक लिंग में होते हैं। अब उपरोक्त मन्त्र का आगे अर्थ करते हैं।]

[वह सद् ब्रह्म अपने मूल रूप के विशुद्ध रूप में] कलाहीन है, निष्क्रिय है, शान्त है, निर्दोष है, निर्मल तथा निर्लेप है, अमृत स्वरूप को प्राप्त करने का परम स्रोत है और (असत् से उत्पन्न होने के कारण और सभी प्रकार के संकल्पों को अपने में विलीन करके उनकी सक्रियता को समाप्त करने के कारण) उस अभिन के समान है जिसका सारा ईंधन जल चुका हो और अब वह विशुद्ध रूप से केवल अंगारों में विद्यमान हो और ईंधन के जलने से उसकी उग्रता की सक्रियता समाप्त हो गई हो।

सद् ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण निराकार और सभी प्रकार के विचारों से मुक्त तथा शान्त और सर्वव्यापी तथा अनन्त बताया जाता है। जब उसमें कोई विचार या संकल्प किसी प्रकार का है ही नहीं तो उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया की या स्वरूप की कला के होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः वह सद्-ब्रह्म कला से विहीन यहाँ-‘निष्कलं’- बताया गया है। इसी कारण सद्-ब्रह्म के स्वरूप को धारण विहीन-‘अक्षर’- भी बताया जाता है।

जब सद्-ब्रह्म के विशुद्ध रूप में किसी भी प्रकार के किसी संकल्प के उदय का विचार ही नहीं है तो वह फिर अपने मूल रूप में रहता हुआ निष्क्रिय रहता है। अन्य असत् में उदित हुए संकल्प उस में अपने आप विलीन होते रहते हैं। इसके लिए उसे सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं होती है।

जब सद् ब्रह्म में किसी प्रकार के संकल्प का उदय हो कर विचार उत्पन्न हो जाता है तो फिर उस सक्रिय ब्रह्म को सद्-ब्रह्म नहीं कहा जाता है। उसका नाम तब असद्-ब्रह्म हो जाता है और असत् से ऋत बन जाता है। सद्-ब्रह्म तो सदैव निष्क्रिय और शान्त रूप में स्थिर रहता है। असत् सदैव सक्रिय रहता है। सत्, शुद्ध है तथा असत् अर्द्ध है।

जब वह सद् ब्रह्म विलम्बल शान्त अवस्था में निष्क्रिय रहता है और सभी प्रकार की कलाओं से विहीन रहता है, कुछ करता ही नहीं है, तो फिर उससे किसी दोष को भी नहीं बताया जाता। दोष या गुण उसी में होंगे जो कुछ करेगा। जो कुछ करेगा ही नहीं तो उसके किसी गुण अथवा दोष को भी नहीं बताया जा सकता है।

इस प्रकार शुद्ध सद्-ब्रह्म का स्वरूप निर्दोष [निरवद्यं] है।
इसके किसी भी दोष को बताया नहीं जा सकता। क्योंकि उसमें
कोई दोष है ही नहीं। अतः वह पूर्ण रूप से अनिर्वचनीय है।

जब उसमें कोई विचार है ही नहीं तो वह निर्मल और निर्लेप
है। उसमें न तो किसी प्रकार का मल विद्यमान है और न वह किसी
प्रकार के विचार में लिप्यग्रमान होता है।

प्रत्येक जीवात्मा अमृतमृत्यु को प्राप्त करके अपने अमृत स्वरूप
में तभी स्थापित होती है जब वह पहले विष्णु देव के 'पर' रूप में
समाहित हो कर सद्-ब्रह्म में विलीन हो जाती है। सद्-ब्रह्म में
विलीन होकर सद्-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करके ही वह अपने
अमृत स्वरूप में स्थापित होती है। इस कारण सद्-ब्रह्म उस
जीवात्मा के लिए अमृत स्वरूप को प्राप्त करने का एक सेतु
(पुल) बन जाता है। उस जीवात्मा के लिए इस पुल के एक ओर क्षरणयुक्त
असत् के स्वरूप में विद्यमान उसे ढक कर रखने वाले उसके
आवरण बनने वाले कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर
रहते हैं जो मरणशील हैं, तथा दूसरी ओर सदैव एक ही स्वरूप
में शान्त अवस्था में निर्विकार रूप में रहने वाला सत् का अमृत स्वरूप
है जिसे उस जीव की आत्मा प्राप्त करती है। अतः यह सद्-ब्रह्म
का स्वरूप जीवात्मा के लिए अमृत स्वरूप को प्राप्त करने का
सेतु बन जाता है।

“देवानां पूर्वे युगे ऽसतः सदजायत” (ऋग्वेद - 1-72-2)

ऋग्वेद के इस कथन से कि देवों के पूर्व के युग में असत् से सत्
उत्पन्न होता है, इस बात का प्रमाण मिलता है कि जब अरात-
में विद्यमान और निर्मित सृष्टि के सृजन के सभी संकल्पों का
एक-एक करके विलय सद्-ब्रह्म में अथवा ऋत में होने लग जाता
है तो उन संकल्पों के उदय से सृजित देवों का भी विलय उस
असत् में होता रहता है। जब सभी देवों का असत् में विलय हो
जाता है तो उस समय देवों के पूर्व का युग उपस्थित हो जाता है।
उस समय कोई भी देव विद्यमान नहीं रहता। केवल असत् और

और सत् का स्वरूप रह जाता है। जिस समय देवों के युग में असत् में देवों को उपस्थित विद्यमान रहती है तो प्रत्येक देव अपने स्वरूप को द्योतित करता हुआ उस असत् में उसी प्रकार सक्रिय रहता है जिस प्रकार जलती हुई आग्न में ईंधन विद्यमान रहने पर जलती हुई आग्न उग्र रूप में सक्रिय रहती है। परन्तु जब उस आग्न का सारा ईंधन जल कर समाप्त हो जाता है तो वह आग्न उस ईंधन के जले हुए अंगारों में सिमट कर शान्त हो जाती है। इसी प्रकार जब सारे देवों का उनके तत्सम्बन्धी (Respective) संकल्पों का विलय होने के कारण असत् में विलय हो जाता है तो उस समय असत् के क्षीर भी अपने संकल्पों का सद-ब्रह्म में विलय करके उस सद-ब्रह्म में विलीन होने लग जाते हैं। उस समय असत् से सत् उन देवों के पूर्व के युग में उत्पन्न होने लग जाता है और उस पूर्ण रूप से शान्त सद-ब्रह्म की जो असत् से उत्पन्न होता है, इस प्रकार की अवस्था हो जाती है, जिस प्रकार की उस आग्न की होती है, जिस का सारा ईंधन जल चुका होता है।

यदा चर्मवदाकाशम् वैष्टयिष्यन्ति मानवाः।

तदा देवमविज्ञाय दुःस्वस्थान्तो भविष्यति ॥ (२०)

जब मनुष्य (योग साधना करने वाले योगी जन मृगछाला के) चर्मड़े के समान आकाश को लपेट लेंगे तब उस देव (सद-ब्रह्म) को जाने बिना भी उनके दुःस्वों का अन्त हो जायेगा।

सृजन की प्रक्रिया में पञ्चमहाभूतों के स्वरूप को स्थापना को पहले प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है। सब अणु (Atom) के पदावत रचना के स्वरूप द्वारा तथा उनके यौगों (Molecules) द्वारा ये पदार्थ की पाँच अवस्थाएँ पञ्चमहाभूतों के रूप में बनती हैं। ये पञ्चमहाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, के नामों से जाने जाते हैं। इनमें सब से पहले सब से अधिक सूक्ष्म रूप में रहने वाले आकाश महाभूत का सृजन होता है। फिर उस

आकाश के माध्यम में बहने वाले वायु का सृजन होता है। फिर वायु के वर्षण से ताप उत्पन्न करने वाली अग्नि का सृजन होता है। अग्नि को शान्त करने के लिए जल का सृजन होता है और अन्त में सभी महाभूतों को आपस में आपस में समाविष्ट करके पृथिवी महाभूत का सृजन होता है। ये पाँचो महाभूत बहुत से भूतों का वर्गी विभाजन हैं। एक महाभूत के वर्ग में बहुत से भूत आते हैं। [These are five states of matter]
[तस्माद् वा सतस्मादात्मन आकाशः समूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।] (तैत्तिरीयोपनिषद्-२-१-१)

सृष्टि सृजन का प्रारम्भ अणु (Atom) के सृजन की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने से होता है। यदि एक अणु (Atom) के सृजन की प्रक्रिया का चक्र पूरा हो जाता है तो उन अणुओं के योगों के द्वारा बने अर्धपिण्डों (Blocks of matter made by the molecules.) के द्वारा पूरी सृष्टि का सृजन हो जाता है और सभी पञ्चमहाभूत उस सृष्टि में विद्यमान हो जाते हैं। इस अणु (Atom) का मूलतत्त्व तो वह सद्-ब्रह्म ही है। उसी से सारी जगत् उत्पन्न होता है। शंकराचार्य जी का कथन - "सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या" पूर्ण रूप से सत्य है।

सद्-ब्रह्म में सृष्टि सृजन की इच्छा का संकल्प उदित होने से विचार उत्पन्न होता है जिससे उसके अक्षर रूप में क्षरण उत्पन्न हो जाता है। इस क्षरण से सत् के अनेकों अंशों के रूप में पिण्डों की आवृत्ति के अनेकों क्षीर बन जाते हैं। इन क्षीरों के समुद्र को क्षीर सागर कहा जाता है। क्षीरों के केन्द्र में विष्णु का स्वरूप 'पर' रूप में अवतीरित हो जाता है। इन क्षीरों में कम्पन की गति विष्णु के रेत के प्रसार के कारण उत्पन्न हो जाती है। जिससे क्षीर विभिन्न प्रकार की चाराओं में बहने लग जाते हैं। इसी क्षीरों के गतिमान स्वरूप को 'मृत' कहा जाता है। एक सर्वाधिक शक्ति वाले विष्णु के क्षीर के चारों ओर कुछ कम शक्ति वाले विष्णु के क्षीर गतिमान रहते हुए संयोजित होकर एक विष्णु-आवर्त की रचना कर देते हैं। उस विष्णु आवर्त के ऊपर सात क्षीर सप्तचक्र में संयोजित होकर तपः लोक में

गृध्रवाङ्मनरादि साप्त ऋषीषयो का स्वरूप बना कर सविता देव की 'सव' शक्ति (होषण प्रदान करने की सवज शक्ति) को चारण करके सविता देव की सरण गति वाली सूर्य की चारा में बहने लगते हैं। उससे विष्णु आवर्त के ऊपर सवितृ आवर्त बन जाता है। उसके बाद सविता देव की 'सव' शक्ति वाली ऋतु की चारा रुद्र की ईशानी चारा का रूप चारण करके 'पुरुष' के 'सहस्र शीर्ष' रूप की रचना करने लग जाती है। रुद्र चारा सहस्र पादों में फटने लग जाती है। उस आवर्त को 'ईशान-आवर्त' का नाम दिया जाता है। ईशान आवर्त के पश्चात पुरुष का दक्षांगुल रूप अपनी सारी भूमि को ढकता हुआ रुद्र वृत्त में घूमने लग जाता है, जिससे रुद्र कलिल का रूप बन जाता है। इन कलिलों के आवरण के आवर्त को जो ईशान आवर्त के ऊपर बनता है, 'कलिलवर्त' का नाम दिया जाता है। उन कलिलों से आगे बारह चैरों का रुद्र चक्र बनता है। यह वैश्वानर नाम की ऋतु की अग्नि का बना सब से बाहर का अन्तिम पाँचवों आवर्त होता है। इसको 'नीचवैतावर्त' नाम दिया जाता है। इस प्रकार पहले चोँ में ऋतु के पाँच प्रकार के सवैन्द्रिय आवर्तों के द्वारा रुद्र पञ्चावर्त बनता है। यह ऋतु की शुद्ध रूप से बनी ऊर्जा में अणु के सृजन की क्रिया का प्रथम चक्र है।

दूसरे चक्र में इस पञ्चावर्त के ऊपर सात सवैन्द्रिय ब्रह्मलोकों की रचना की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। सर्व प्रथम विष्णु आवर्त के केन्द्र में स्थित विष्णु के रेत के प्रसार की चारा द्वारा सत्यलोक का सृजन होता है। फिर सत्यलोक के ऊपर तपः लोक, तपः लोक के ऊपर जनः लोक, जनः लोक के ऊपर महः लोक, महः लोक के ऊपर पाँच प्रकार का स्वः लोक, स्वः लोक के ऊपर भुवः लोक, भुवः लोक के ऊपर भूः लोक बनता है। भूः लोक की रचना पूर्ण होने पर रुद्र अणु की नीम की रचना पूर्ण हो जाती है और नीम के बने इस पृष्ठतल का नाम 'वृत्तपृष्ठ ऋग्वेद' में बताया गया है।

नीम के पृष्ठतल की रचना पूर्ण होने पर नाभ्यंतर भाग में दूसरे तल की रचना प्रारम्भ होती है जिसे 'पाताल' कहा जाता है। 'पाताल' शब्द

‘पर-तल’ का अपभ्रंश रूप का बना शब्द है जिसका अर्थ दूसरा ऊपर का तल होता है।

ये पाताल भी रुक् के ऊपर रुक् सात प्रकार के तल बन जाते हैं। सातवें सब से ऊपर के तल को ‘महातल’ कहा जाता है। इनके नाम - ‘महातल, रसातल, अतल, सुतल, तलातल, वितल, पाताल’ बताये गये हैं।

सात ब्रह्म लोकों और सात पाताल लोकों के पूर्ण संस्थान को रचना से प्रत्येक अणु (Atom) के संस्थान का पूर्ण रूप बन जाता है। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकार के अणु अपने योग (Molecules) बना कर विभिन्न प्रकार के अर्धपिण्डों की रचना कर देते हैं और इस प्रकार अर्धपिण्डों द्वारा बने इस जगत् की रचना का कार्य पूरा हो जाता है।

पहले बने हुए पञ्चावर्त भी आपस में योग बना कर विभिन्न स्वरूपों की ग्रहणियों को धारण करने वाले भूतों की अन्तरात्माओं को चेतन रूप में रचना करते हैं। इस प्रकार जड़, चैतन दोनों प्रकार के जगत् की रचना उस रुक् सद-ब्रह्म से हो जाती है। इसी को अद्वैत वाद की विचारधारा कहा जाता है। ये अन्तरात्मायें पञ्चावर्तों के विशेष स्तर के चेतना के आवेश के रूप में प्रत्येक अणु के प्रत्येक अवयव में समाहित होती हैं। जब इस आवेश का स्तर कम होता है तो उस जीवात्मा का आवेश भूत के प्रत्येक अणु के प्रत्येक अवयव में से समान रूप से कम हो जाता है और उन सभी अणुओं में व्याप्त पञ्चावर्तों के संयोजन से बना रुक् बड़ा ऋतु का आवर्त उस भूत के शरीर में से उसकी जीवात्मा का रूप धारण करके द्यौ में बाहर निकल जाता है। यही बड़ा ऋतु का आवर्त जीवात्मा का स्वरूप होता है।

जब सप्तलोकों की रचना का पदावत क्रम चलता है तो स्वः लोक के प्रथम भाग में पहले सहस्रशीर्षी पुरुष का भाग स्थापित होता है। उसके दूसरे भाग में दशमौलिक अर्थों के द्वारा बने पाँच श्रृंखलाबद्ध रजःशृंगों की तरंग के द्वारा अदीत देव माता की रचना होती है। तीसरे भाग में उस अदीत से उत्पन्न हुए ‘अ’ काण इन्द्र की रचना होती है। चौथे भाग में अश्विनी और पाँचवें भाग में षड्वृन्दारकों

(Six quarks) की रचना होती है। उसके बाद भुवः लौक में त्रिवर्त्माओं की रचना होती है। भुवः लौक तक रुक अणु की रचना अधूरी रहती है। इस अधूरी रचना में दशमौलिक अर्थों के रूप में पदार्थ के प्रथम ऋणों की रचना हो जाती है और वहीं से भूतों की सत्ता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार अदिति, 'क' ऋण, अश्विनौ, वृन्दारब्ध (quarks) तथा त्रिवर्त्मा (The three messons मं, मं, मं) के रूपों में भूतों के परमाणुओं (Nucleons) की रचना हो जाती है जो द्यौ में स्वतन्त्र रूप से विचरण करने लग जाते हैं। इन्हीं अधूरे अणुओं के भूतों के परमाणुओं (Nucleons) के पदार्थ से आव्वाश महाभूत की रचना होती है। आव्वाश में ये भूत सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। अश्विनौ की दीड़ने की गति से आव्वाश (space) में चुम्बकीय तरंगों विद्यमान पाई जाती है। इन सभी परमाणुओं की विद्यमानता के कारण आव्वाश में विचरण करने वाले अर्धपिण्ड में रेडियो सक्रियता का आवेश आ जाता है। इस प्रकार पञ्चावर्तों में उदित विभिन्न प्रकार के संकल्पों के द्वारा सर्वप्रथम सूक्ष्म रूप के आव्वाश महाभूत का सृजन होता है।

इस आव्वाश महाभूत के भूत जब बहने लग जाते हैं और सघन हो कर अपने बहने के वेग की अनुभूति अन्य भूतों को कराने लग जाते हैं तो उसे 'वायु' महाभूत का नाम दे दिया जाता है। वायु महाभूत के अन्दर अधूरे तथा पूरे तथा पूरे अणुओं से बने उन गैरों के स्वरूप भी होते हैं जो आव्वाश में स्वतन्त्र गति से बहते रहते हैं।

इस वायु महाभूत में बहने की गति से दक्षिण द्वारा परमाणुओं, अणुओं और गैरों में आवेश उत्पन्न होकर 'अग्रजों' की सत्ता स्थापित हो जाती है। इन्हीं अग्रजों के द्वारा अग्नि महाभूत की रचना होती है। ये अग्रज जब आपस में टकराते हैं तो ताप की ऊर्जा उत्पन्न करते हुए अपने गैरे गैरों (molecules) बनाते हैं। इन्हीं अग्रजों के भूतों के वर्ग को अग्नि महाभूत कहा जाता है। ये अग्रज कहीं पर गैरों बनाते समय उच्च ताप और कहीं पर निम्न ताप उत्पन्न करते हैं। परन्तु ताप अवश्य उत्पन्न करते हैं। परन्तु कहीं कहीं पर ये अपने गैरों बनाते समय ताप की ऊर्जा का अभिशोषण भी करते हैं और अपने वातावरण को ठंडा बना देते हैं।

इस अग्नि के अग्रजों के भूतों द्वारा जब आवेश रहित गैरों बनाते हैं

तो उन योगों के अणुओं का आपस में बंधा आबन्ध (Bond) दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का आबन्ध कुछ कमजोर और इतना ढीला होता है कि वह दो या दो से अधिक अणुओं को एक अर्धपिण्ड के योगों में इस प्रकार मजबूती से बंध कर नहीं रख पाता कि वे एक दूसरे से अलग होकर आपस में एक दूसरे का साथ न छोड़ सकें। कमजोर आबन्ध के कारण एक अणुओं का योग दूसरे अणुओं के योग के साथ से फिसल कर उसका साथ छोड़ कर अपने गुरुत्वाकर्षण बल की इच्छा दिशा में बह कर चल देता है। इस प्रकार बहने वाले भूतों को 'जल' महाभूत के नाम से कहा जाता है। इन महाभूतों में एक अणु भी दूसरे अणु के साथ से फिसल कर किसी भूत के तत्व का बहने लग जाता है। ये जलीय महाभूत आर्द्र कहलाते हैं।

दूसरी प्रकार का अणुओं के मध्य बना आबन्ध इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि वह किसी अर्धपिण्ड के सभी अणुओं को मजबूती से पकड़ कर उस अर्धपिण्ड में एक ही स्थान पर चिपकाये रखता है। इस अवस्था में कोई भी अणु किसी दूसरे अणु के साथ से अपने स्थान से फिसल नहीं पाता। ये अणु काफ़ी बल लगाने पर एक अणु से दूसरे अणु का साथ छोड़ पाते हैं। ऐसे अणुओं के बने ठोस शुद्ध भूत को पृथिवी महाभूत के अन्दर माना जाता है। इस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, पदार्थ के इन पञ्च महाभूतों की रचना अणु की रचना की प्रक्रिया द्वारा हो जाती है।

जब एक अणु में स्थित सात ब्रह्मलोकों के देवों की रचना होती है तो उनमें सत्यलोक, तपःलोक, जनःलोक और महःलोकों में तो विशुद्ध रूप से ऋत की उर्जा के बने देव ही निर्मित होते हैं। विष्णु के रेत के प्रवाह द्वारा जो ऋत की चाराये बजती हैं उनमें उदित विभिन्न प्रकार के संकल्पों द्वारा इन चार लोकों में ऋत के बने छोटे-छोटे आवर्तों के रूप में ये देव निर्मित होते हैं। शेष तीन लोकों - स्वः, भुवः, मूः लोकों में मौलिक अर्थों से निर्मित स्थूल पदार्थ के देव निर्मित होते हैं। परन्तु इन स्थूल देवों के निर्मित होने का आधार स्वःलोक के प्रथम भाग में स्थित 'पुरुष' की ऋत की सहस्रशीर्षी तथा सहस्र पादों की ऋत की चाराओं में बह कर आये पीढ़ी के इन चार लोकों - सत्य, तपः, जनः, महः के संकल्प ही होते हैं जो स्वःलोक के मौलिक अर्थों में आवद्ध

हो कर इन भूः, भुवः, स्वः लोकों में स्थित स्थूल पदार्थों यि देवों की रचना करते हैं। ये स्थूल पदार्थों यि देव, 'क' कण, अश्विनो, षड्-वृन्दारब्ध, त्रिवर्त्मा और देवमाता आदिती आदि ही मिल कर 'न' कणों के साथ आकाश महाभूत की रचना करते हैं। यदि सत्य, तपः, जनः, महः लोकों से आई ऋत की चाराओं में उदित होने वाले संकल्प ही स्वः लोक में 'पुरुष' की ऋत की चारा को प्राप्त नहीं होंगे तो आकाश महाभूत के इन भूतों की रचना ही नहीं होगी और आकाश इस प्रकार लिपटता चला जायेगा जैसे कि रुक् तपस्वी अपनी मृगछाला के चर्म को लपेटता चला जाता है।

सत्यलोक, तपः लोक, जनः लोक, महः लोक और स्वः लोक के 'पुरुष' की ऋत की चाराओं में मनुष्यों के अन्दर के अणुओं में वे ही संकल्प उदित होते हैं जो उन मनुष्यों के मन में उदित होने वाली इच्छाओं के कारण चित्त की वृत्तियों में उदित होते हैं। यदि रुक् मनुष्य योग साधना और तप के द्वारा अपने मन को निर्बीज बना कर निर्बीज समाधि को सिद्ध कर के चित्त की वृत्तियों को संकल्पों से पूर्ण रूप से शून्य कर लेता है तो उसके स्थूल शरीर के त्यागने पर उसके सूक्ष्म शरीर में विद्यमान आकाश महाभूत भी उसी प्रकार लिपटता हुआ सिमट कर उसके कारण शरीर के पञ्चावर्तों के चक्र से दूर हो जाता है जैसे रुक् तपस्वी उठ कर अपने नीचे की बिछी हुई मृगछाला के चर्म को लपेट कर अलग कर के रख देता है। सूक्ष्म शरीर आकाश महाभूत में विद्यमान भूतों के द्वारा ही बना होता है। 'प्रेत' का स्वरूप सूक्ष्म शरीर के रूप में आकाश में ही स्थित होता है जो कभी कभी भौतिक रूप में साक्षात् मनुष्यों को दिखाई दे जाता है। इस सूक्ष्म शरीर के प्रेत यौनि के स्वरूप के आकाश को जब मनुष्य निर्बीज समाधि को सिद्ध कर के चमड़े की तरह लपेट लेते हैं तो कारण शरीर भी अपने आप ब्रह्म के अपर गुण की क्रिया द्वारा आत्मा के पञ्चावर्तों को छोड़ देता है और उस मनुष्य को जीवात्मा अपने विशुद्ध रूप में अवस्थित हो कर तीनों प्रकार के शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों) के बन्धनों

से मुक्त हो कर मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। उस अवस्था में उस तपस्वी को विष्णुदेव का तथा सद्ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो अथवा प्राप्त न हो, उससे उसको कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि आत्मा के विशुद्ध रूप में अविस्थित होने पर सत् तथा असत् दोनों प्रकार का ब्रह्म अपर गुण के द्वारा अपनी स्वाभाविक क्रियायें अवश्य पूरी करता है। पहले असत् ब्रह्म उस आत्मा के विशुद्ध रूप को स्वयमेव विष्णु देव के 'पर' रूप में विलीन कर देता है और फिर विष्णु देव अन्तर्धान होकर उसे सद् ब्रह्म में विलीन कर देता है। इस प्रकार सद्-ब्रह्म का ज्ञान न होने पर भी सूक्ष्म शरीर के आकाश के चमड़े की तरह लिपटने पर उस मनुष्य की आत्मा को सद्-ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति स्वयमेव ही हो जाती है और उसके दुःखों का अन्त सदैव के लिए हो जाता है। यही इस संज्ञा का अर्थ है।

चमड़े की भाँति मनुष्य अपने सूक्ष्म शरीर के आकाश को लिपटी सन्तान को सिद्ध करके लपेटता है। ऐसा वह ईश्वर प्रीतिमान को प्रीति अपना कर भक्ति मार्ग के द्वारा भी कर सकता है। उस अवस्था में उसे सद्-ब्रह्म के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। इसी कारण तो कहा है कि भगवान सदा से भक्तों के वश में होते आये हैं। भगवान को भक्त इस प्रकार वश में करके अपने दुःखों का सदा के लिए अन्त कर लेता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भक्ति तभी सिद्ध होती है जब भक्त अपना सर्वस्व अपने भगवान को समर्पित कर देता है और अपने पास अपना मन च्यन कुछ भी नहीं रखता। इसी कारण भक्ति बड़ी कठिन बताई जाती है। भक्त को भगवान में पागल हुआ सांसारिक लोग कहते हैं। परन्तु वह पागल नहीं होता अपितु अपने भगवान के लिए पूर्ण रूप से समर्पित होता है। जैसे कि भक्त प्रह्लाद हुआ है।

तपः प्रसादाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह वैताश्चतरोऽथ विद्वान् ।

आद्याग्निमिन्द्रः परमम् पवित्रम् प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥३॥

तप के प्रभाव से और विष्णुदेव के द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रसाद से निश्चय पूर्वक श्वेताश्वतर ऋषि ने ब्रह्म के श्वेताश्वतर इरा उपनिषद् के ज्ञान को जाना और ऋषि समुदाय से सैवित परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान को सम्यक् प्रकार से परम हंस सन्यासियों को कह कर सुनाया ।

श्वेत + अश्व + तर = श्वेताश्वतर । अतः श्वेत, अश्व, तर इन तीन शब्दों के योग से यह 'श्वेताश्वतर' शब्द बनता है । इसमें 'श्वेत' शब्द अणु की नाभि के तीन चक्रों के बताये गये नामों (१) पलित, (२) अश्न, (३) द्यूतपृष्ठ-में से 'पलित' का सूचक है । पलित तथा श्वेत समानार्थक शब्द हैं । ऋग्वेद (१-१६५-१) के ५० अस्य वामस्य पलितस्य ---- " मन्त्र में - इस वामावर्त के भगाये गये विष्णु आवर्त के शुद्ध ब्रह्म के बने श्वेत 'पलित' के मध्यम आता 'अश्न' और तृतीय आता 'द्यूतपृष्ठ' अणु की नाभि के तीन चक्रों के रूप में [= "त्रिनाभिचक्रम्" (ऋग्वेद-१-१६५-१) बताये गये हैं । यह श्वेत 'पलित' का नाभि का चक्र सत्य लोका, तपः लोक और जनः लोक के तीन ब्रह्म लोकों की बनी एक इकाई के द्वारा बनता है । इसमें विशुद्ध रूप से असत्-ब्रह्म का बना ऋत ही अपने श्वेत रूप में क्रियाशील रहता है । इस के अवयव सत्य लोक के केन्द्र में स्थित विष्णु (= अ) के चारों ओर वामावर्त बनाते हुए विष्णु के रैत के प्रसार के प्रवाह के बल द्वारा सुदर्शन चक्र के रूप में भगाये जाते रहते हैं । अतः पलायन क्रिया जाता हुआ यह 'पलित' कहलाता है । इसी को यहाँ 'श्वेत' कहा गया है । यह 'श्वेत' शब्द क्रियाशील शुद्ध ब्रह्म का सूचक बनता है । इसी की तीन ब्रह्म लोकों की इकाई को 'अणु' कहा जाता है, जिनके द्वारा अणुव समुद्र बनता है । द्यौ का विशुद्ध रूप इसी अणुव समुद्र से भरा हुआ कहलाता है, जिसमें क्षीरों के द्वारा बने ऊर्जा के पुञ्ज तथा अणुवों के द्वारा बने ऊर्जा के पुञ्ज विभिन्न प्रकार के अश्व तथा अणुवों के द्वारा बने ऊर्जा के पुञ्ज विभिन्न प्रकार के अश्व बन कर सुडील पंखों को चारण करते हुए (= सुपर्णाः) उड़ कर गति करते रहते हैं । अतः 'श्वेत' पलित में अश्वों का योग हो कर सारा द्यौ उग्र बन कर क्रियाशील होता है ।

द्यौं के इन सत्य, तपः, जनः लोकों में निर्मित अश्वों की गीत अर्णवों को वहन करती हुई जब महः, स्वः, भुवः लोकों में जाती है तो उनमें स्थित देव निष्काश उन अश्वों द्वारा वहन किये गये अर्णवों को खाकर अपने स्वरूपों को अति सघन, गहन तथा गम्भीर बनाते हुए अर्ध पिण्डों के रूप में पुष्ट करते हैं। अतः इस पालित के मध्यम आता दूसरे नाभि के चक्र का नाम रखने वाला - 'अश्न' - रखा गया है। इस 'अश्न' में आधा भाग श्वेत ऋतु के अर्णवों का बना हुआ और आधा भाग काले अर्ध पिण्डों के रजःकणों - मौलिक अर्ध, 'क' कण, अश्विनो, षड्वृन्दारकाः और त्रिवर्त्माओं का बना होता है। तीसरे भाई धृतपृष्ठ के तीसरे चक्र का स्वरूप पूर्ण रूप से अर्धपिण्डों के रजःकणों द्वारा निर्मित होता है। इसमें भूः लोक में स्थित 'न' कण (Nucleons) तथा 'चिक्' कण (Protons) होते हैं और सप्त पाताल लोकों में स्थित पाताल लोकों के राजा 'विद्युतजिह्वा' के 'इत्' कण (Electrons) होते हैं।

इस प्रकार द्यौं में स्थित 'श्वेत' अर्णव तथा 'अश्व' मिल कर अपने से ऊपर पृथिवी के रजःकणों मौलिक अर्धों के द्वारा बने कणों का निर्माण 'श्वेताश्वतर' के रूप में करते हैं। जैसे "उच्च, उच्चतर, उच्चतम" शब्दों में 'तर' प्रत्यय उच्च से ऊपर के स्तर का द्योतक है, उसी प्रकार 'श्वेताश्वतर' शब्द में भी 'तर' प्रत्यय श्वेत और अश्व से ऊपर की रचना का द्योतक है। यह पञ्चमहाभूतों के भूतों के रजःकणों का ही प्रतीक बनता है, जिसमें श्वेत ब्रह्म के ऋतु का स्वरूप और उसमें उदित अश्वों की ऊर्जा समाहित है। अतः 'श्वेताश्वतर' शब्द जड़-चेतन पूर्ण जगत की सृष्टि के सृजन, स्थापना तथा विलय की क्रिया के ज्ञान का द्योतक है। इसी कारण इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि के मूल कारण ब्रह्म को बताते हुए - "किम् कारणम् ब्रह्म, कुतः स्मृतां, जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठताः केन सुखेतरैषु वर्तमाने ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥" इस मन्त्र के प्रश्नों द्वारा प्रारम्भ करते हुए, सद् ब्रह्म में विलीन होने पर मोक्ष प्राप्त करने पर, दुःखों

का अन्त बताते हुए - “दुःखस्मान्तो भविष्यति” - (6-20) पर पूरा कर दिया गया है। इसी कारण ऋग्वेद में वर्णित श्वेत ऋत की संक्रियाओं, उसके अश्व सूक्तों में वर्णित अश्वों की संक्रियाओं और सृष्टि सृजन के नासदीय आदि सूक्तों के अन्तः खण्डों के ज्ञान की कड़ियों को एक दूसरे के पास लाकर मिलाते हुए एक इकाई के ज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए ऋषियों के समूह ने इस ‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् के वेदान्त भाग की रचना की। नासदीय आदि सूक्तों में असत् के गहन गम्भीर स्वरूप द्वारा अम्भ के राजाओं की रचना का वर्णन है। अतः वह ‘श्वेताश्व’ का ‘तर’ भाग है।

इस ‘श्वेताश्वतर’ उपनिषद् के ज्ञान के वर्णन करने में ऋषियों के संघ में जो ऋषि अग्रणी नेता बन कर रहा वह इस ‘श्वेताश्वतर’ ब्रह्म के ज्ञान का पूर्ण ज्ञाता कहलाया। अतः उसका नाम ऋषियों के समूह ने ‘श्वेताश्वतर’ विद्वान् रख दिया। उसी को ‘श्वेताश्वतर’ ऋषि कहा जाने लगा। वैसे सब से पहले यह ज्ञान विष्णु भगवान् के तप के प्रसाद द्वारा कीपल ऋषि में भरा गया था, जिसका वर्णन इस उपनिषद् के पाँचवें अध्याय के दूसरे मन्त्र - “यो योनिं योनिमीधतिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कीपलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥” में कर दिया गया है। यही ज्ञान की परम्परा कीपल ऋषि के आश्रम में स्थित इन ऋषियों के रांघ तब चली आई जिसका सुव्यवस्थित रूप से प्रवचन ऋषियों के संघ के अन्दर इस ‘श्वेताश्वतर’ विद्वान् ऋषि ने किया।

‘श्वेताश्वतर’ ऋषि ने कठोर तप कर के उस तपस्या के अन्दर इस ज्ञान की प्रक्रियाओं को अनुभव किया। विष्णु देव को जैसे कि पिछले मन्त्रों में ‘सर्वज्ञ’ बताया गया है, अतः वही सच्चे ज्ञान का दाता बन सकने में समर्थ है। अतः उस विष्णु देव की शरण में मोक्ष की इच्छा करते हुए अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित करने पर

उस विष्णु देव की भक्ति के प्रसाद के रूप में इस ब्रह्मज्ञान को अर्जित कर के उस इवेताश्वतर ऋषि ने विद्वान बन कर इस परमपवित्र इवेताश्वतर उपनिषद् के ज्ञान को आश्रम के अन्दर सन्मग्न प्रकार से ज्ञान प्राप्ति के लिए आये हुए ऋषियों के सन्ध को अपने मुख से बोल कर सुनाया ।

अब इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी कौन है ? इसका ज्ञापन अगले मन्त्र में ऋषि द्वारा किया जा रहा है ।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम् ।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाश्शिष्याय वा पुनः ॥ (३२)

वेदान्त में यह 'इवेताश्वतर' उपनिषद् का परम गुह्य ब्रह्मज्ञान पूर्व कल्प में ही भली भाँति (कपिल ऋषि के काल में ही) प्रकट दिया गया था । यह परम गुह्य ब्रह्म ज्ञान न तो अज्ञान्त चित्त वाले व्यक्त को देना चाहिये, न ऐसे व्यक्त को देना चाहिये जो इस ज्ञानदाता गुरु का अपना पुत्र न हो अथवा उसका विधिवत बनाया गया अपना शिष्य न हो ।

यह अज्ञान्त चित्त का विशेषण उसके अपने पुत्र तथा शिष्य के साथ भी लगता है । अतः चाहे वह व्यक्त ज्ञानदाता गुरु का अपना पुत्र ही क्यों न हो, यदि वह अज्ञान्त चित्त वाला है, तो उसे यह परम गुह्य ब्रह्म ज्ञान नहीं देना चाहिये । किसी प्रकार पुत्र मोह में बँध कर यदि अपने कुपात्र पुत्र को यह ब्रह्म ज्ञान देता है तो उससे उस पुत्र को, उस गुरु का और उस समय उपस्थित सारे समाज का अनिष्ट ही होता है, भला नहीं । जिस प्रकार पुत्र मोह में बँध कर मति के अंधे धृतराष्ट्र ने अपने कुपात्र पुत्र को हस्तिनापुर का राजा देने का प्रयास किया और दुर्योधन ने युवराज बन कर अपने पूर्ण कुल का तथा तत्कालीन समाज में विद्यमान प्रतीष्ठित व्यक्तियों - द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्मपितामह आदि का सर्वनाश कर दिया ।

यही स्थिति विधिवत बनाने वाले शिष्य की होती है। जो विधिवत सब गुरु द्वारा शिष्य तो बना लिया गया है, परन्तु अभी तक उसका चित्त शान्त नहीं हुआ है। उससे चित्त की वृत्तियों में नाना प्रकार के कामनाओं से युक्त संकल्प उदित हो कर उससे चित्त को अशान्त और उग्र बनाते रहते हैं, उस शिष्य को यह परमगुह्य ब्रह्म ज्ञान देने का प्रयत्न नृचा ही जाता है। क्योंकि जब तक चित्त शान्त नहीं होता तब तक वह शिष्य योगसाधना की प्रथम सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ पाता है। इसी कारण महर्षि पतञ्जालि ने अपने योगशास्त्र का प्रथम सूत्र ही योगानुशासन प्रारम्भ करने के उपरान्त - "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" - योग की परिभाषा बताने के लिए दिया है। शान्त चित्त में ही चित्त की वृत्तियों का निरोध हो सकता है, अशान्त में नहीं। चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर ही योगसाधना के पथ पर आरम्भ हुआ जाता है और तभी इस ब्रह्मज्ञान की अनुभूति होती है। अन्यथा नहीं। इसी कारण अशान्त चित्त का चाहे पुत्र हो अथवा शिष्य हो दोनों के लिए इस ब्रह्मज्ञान को देना वर्जित किया गया है।

कौड़ी भी व्यक्ति अपने गुरु का शिष्य तभी बनता है, जब वह अपने गुरु से कुछ सीख कर शिक्षा प्राप्त करता है। अतः जिसने अपने गुरु से कुछ सीख लिया है और कुछ स्तर तक उसने अपने गुरु से शिक्षा प्राप्त कर ली है, वह अपने गुरु का शिष्य बन गया है। जिसने अपने गुरु से कुछ भी नहीं सीखा है, वह अपने गुरु का शिष्य नहीं बन पाया है।

ज्ञान के सीखने के भी सीढ़ी दर सीढ़ी स्तर होते हैं। जब प्रथम सीढ़ी के ज्ञान को प्राप्त कर लिया जाता है तो उसके आधार पर चढ़ कर उससे ऊपर की सीढ़ी का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वेदान्त में दिया गया यह परमगुह्य ज्ञान सर्वोच्च सीढ़ी के स्तर का ज्ञान है। इसी कारण इस ज्ञान के लिए 'परमगुह्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अतः इसे समझने के लिए इससे नीचे की सीढ़ी के स्तर का ज्ञान होना आवश्यक

हैं। उस नीचे की सीढ़ी के स्तर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस जिज्ञासु का किसी ब्रह्म वेत्ता सद्गुरु का शिष्य बनना आवश्यक है, ताकि उस सद्गुरु से उस ज्ञान को सीख सके। इसी कारण जो इस परमगुह्य ज्ञान को सीखने के लिए इससे नीचे की सीढ़ी के ज्ञान को सीखने के लिए किसी सद्गुरु ब्रह्म वेत्ता का शिष्य अभी तक नहीं बना है और उसने अभी तक उस नीचे की सीढ़ी के स्तर के ज्ञान को नहीं सीखा है और अपने चित्त को अभी तक योगाभ्यास के द्वारा शान्त नहीं किया है, ऐसे अज्ञान्त चित्त वाले शिष्य के लिए यह परमगुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए। उसकी यह ज्ञान समझ में ही नहीं आयेगा। जहाँ तक गुरु के पुत्र का प्रश्न है, वहाँ परम्परा के कारण तथा गुरु के रक्त में सञ्चित संस्कारों के आदित्य के कारण पुत्र में भी गुरु के उन्हीं गुणों के होने की सम्भावना सर्वाधिक होती है। परन्तु यदि रावण की भाँति पुत्र में माता के राक्षसी गुणों का प्रभाव अधिक होने के कारण उसका चित्त अज्ञान्त रहे और अपने पिता गुरु की भाँति शान्त चित्त न होने पाये तो उसे भी यह ब्रह्म ज्ञान नहीं देना चाहिए। अन्यथा वह बलशाली राक्षस बन कर रावण की भाँति ही अपना और अपने कुल का विनाश कर लेगा। विश्व में भी वह विघ्न उत्पन्न करके हाहाकार मचा देगा। अतः अपने ऐसे पुत्र को भी यह ज्ञान नहीं देना चाहिए। जो अपना पुत्र नहीं है, उस ऐसे अज्ञान्त को तो इस ज्ञान को देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उसे तो इस ज्ञान की एक झलक दिखाना भी पाप कर्म के समान है।

दूसरे ज्ञान की एक निश्चित सीढ़ी के स्तर तक गुरु द्वारा शिक्षित होने के उपरान्त और शान्त चित्त होने के उपरान्त उस शिष्य में परमदेव भगवान् की भक्ति और अपने सद्गुरु के प्रति भी भगवान् की ही तरह भक्ति का भाव होना चाहिए। अतः ज्ञान और भक्ति इन दोनों का समावेश उस शिष्य में होना चाहिए। आगे मन्त्र देव —

यस्य देव परा भक्ति र्थया देवै तथा गुरौ ।

तस्यैते कीयता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।

प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ 23

जिस साधक की विष्णु देव के 'पर' रूप में परमोत्कृष्ट भक्ति का भाव है, और जिस प्रकार की परमोत्कृष्ट भक्ति उस विष्णु देव में है, उसी प्रकार की भक्ति उस साधक की अपने गुरुदेव में है, ऐसे उस महान आत्मा वाले साधक के लिए ज्ञान देने पर ये अर्थ स्वयमेव ही प्रकाशित हो जाते हैं।

भक्ति तभी सिद्ध होती है जब साधक अपने आप को पूर्ण रूप से अपने इष्ट देव के प्रति समर्पित कर देता है। ऐसा तभी होता है जब वह अपनी सारी चित्त की वृत्तियों को खड़ाग मन से अपने इष्ट देव की आराधना में लगा देता है। ऐसा करने पर उसकी चित्त की वृत्तियों का सभी ओर से निरोध हो कर उसके इष्ट देव के बिन्दु पर रुकी करण हो जाता है। वह इष्ट देव सद-गुरु द्वारा ईश्वर ही निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार 'ईश्वर प्राणिधान' की योग की प्रक्रिया उस महान आत्मा वाले साधक द्वारा स्वयमेव ही सिद्ध हो जाती है। अतः उसकी आत्मा को ब्रह्म के अपर गुण की प्रिया द्वारा स्वयमेव ही उस भक्ति मार्ग पर चलने के कारण उसके स्थूल शरीर को मृत्यु के साथ-साथ उसके सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के बन्धन से भी मुक्ति मिल जाती है और अनजाने में ही उसकी आत्मा का विशुद्ध रूप बन जाता है जो तुरन्त विष्णु देव के 'पर' रूप में समाहित हो जाता है और उसके उपरान्त सद-ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार उस भक्त महात्मा को भी सद्गति प्राप्त हो जाती है।

परन्तु इस भक्ति मार्ग पर चलते समय अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, उस पर बार-बार आक्रमण करके उसे अपने भीठे जाल में फँसा कर उसके भक्ति मार्ग से उसे विचलित करने का प्रयास करते हैं। उस समय उसकी रक्षा करने वाला ज्ञान उसके पास होता नहीं है। अतः ऐसे आड़े वक्त पर उसके उसका गुरु काम आता है। परन्तु वह साधक उस

आड़े समय पर अपने गुरु की शरण में तभी जायेंगा जब उसकी भक्ति उस गुरु में भी उतनी ही होगी जितनी कि उसके इष्टदेव में है। इष्टदेव तो बोल नहीं सकता और उसे सद्-मार्ग पर चलने का प्रवचन नहीं दे सकता। अतः वह इष्टदेव उस समय उस भक्त की रक्षा नहीं कर पाता। परन्तु उसका सद्-गुरु बोल सकता है। उसने मन में उठे संशयों का वह तुरन्त निवारण कर सकता है और उसे सद्-मार्ग की दिशा कर उस पर चलने के लिए उसे प्रवृत्त कर सकता है। इस प्रकार वह सद्-गुरु अपने भक्त साधक को सद्-मार्ग से विचलित होने से बचा कर उसकी रक्षा कर सकता है। अतः उस सद्-गुरु के संरक्षण में वह भक्त अपनी भक्ति साधना के द्वारा अपने अन्तिम लक्ष्य सद्-ब्रह्म को प्राप्त करने में तब भी सफल हो जाता है जब कि वह सद्-ब्रह्म के विषय में कुछ भी नहीं जानता है। केवल अपने इष्टदेव की भक्ति के विषय में ही अपने सद्-गुरु द्वारा दिखाये गये मार्ग को ही जानता है। परन्तु वह सद्-गुरु जिसकी शरण में वह भक्ति पूर्वक जाता है, वास्तव में सद्-ब्रह्म का ज्ञाता होकर बना हुआ सद्-गुरु ही हो, कोई नसेड़ी ढोंगी बाबा कामी क्रोधी लालची, अहंकारी अथवा मोहग्रस्त न हो। वह संतमी, तपस्वी, योगी तथा ज्ञानी होना चाहिये।

जिस महान आत्मा की विष्णु भगवान् जैसे 'पर' रूप वाले परा भक्ति से युक्त इष्टदेव में पूर्ण भक्ति सिद्ध हो जाती है, और उसी प्रकार की पूर्ण भक्ति उस विष्णु से गुरुतर सद्-ब्रह्म के प्रति स्थापित हो जाती है तथा उसी प्रकार की भक्ति उसके उस गुरु के प्रति स्थापित हो जाती है जो उसे सद्-ब्रह्म का ज्ञान देता है, तो उस महान आत्मा वाले साधक के लिए यौग साधना करते समय इस उपनिषद् के मन्त्रों के अर्थ स्वयमेव ही प्रकाशित होकर स्पष्ट होने लग जाते हैं और वह इस ब्रह्म ज्ञान की सुगमता पूर्वक समझ जाता है। दो बार यह कहना कि उस महात्मा को इस उपनिषद् के मन्त्रों के अर्थ स्वयमेव ही प्रकाशित हो जाते हैं, इस उपनिषद् की पूर्णता को सूचित करता है।

जहाँ तक देव भक्ति और गुरु भक्ति इन दोनों का महात्मा शिष्य के अन्दर सामञ्जस्य करने का प्रश्न है, उसका समाधान

सद्-ब्रह्म के ज्ञाता सद्-गुरुओं ने निम्न कथन के द्वारा किया है -

गुरु ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवी महेश्वरः ।

गुरु साक्षात् परम ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

अर्थात् सद्-गुरु ब्रह्मा जी का रूप है, सद्-गुरु विष्णु जी का रूप है, सद्-गुरु महेश्वर रुद्र का स्वरूप है। सद्-गुरु साक्षात् परम ब्रह्म सत् का स्वरूप है। इस कारण जिस सद्-गुरु में सभी देवों का स्वरूप समाहित है, मैं उस कारण से उस सद्-गुरु को नमस्कार करता हूँ।

अतः जहाँ पर इष्ट देव और सद्-गुरु दोनों की समान रूप से भक्ति करने का प्रश्न उठता हो, वहाँ पर इष्ट देव की स्थापना सद्-गुरु में करके उसके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होकर उसकी आराधना पूर्ण भक्ति करनी चाहिए और समय-समय पर सद्-मार्ग पर चलने के लिए गुरु के प्रवचन सुन कर उसका मार्ग-दर्शन का आदेश ग्रहण करना चाहिए।

साक्षात् परम ब्रह्म - 'सद्-ब्रह्म' ही सब से बड़ा गुरु है। कुछ महान सन्त इस प्रकार का अर्थ भी करते हैं और उसके साक्ष्य के लिए - "ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः" - मन्त्र का जाप करते हैं।

॥ हरि ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥

टीकाकार - पं० खेमचन्द शर्मा

सं० बी०-२०३ शालीमार बाग

दिल्ली ॥००५२.

फोन नं. ७४४५५७९. (C)

दिनांक = २६-९-९३ [copyright reserved.]

टीका करने का चौथा संशोधित प्रयास।

परम पूज्य दिव्यात्मा दीक्षणाभ्याय शृंगेरी शारदा पीठाधीश्वर
जगद्गुरु शंकराचार्य श्री-श्री भारती तीर्थ महारत्नाभिना - 'श्री'
शब्देन आशीर्वाद प्रदत्त ग्रन्थम्। दिनांक - २५-७-९५, दिल्ली स्थाने।